अन्तर्राष्ट्रीय विधि

[शान्ति, युद्ध तथा तटस्थता की विधियों का विश्लेषण]

लेखक

महेश प्रसाद टण्डन

एम० ए० एल० एल० बी०

(परिशोधित एवं परिवर्धित)

तृतीय संस्करण

इलाहाबाद लॉ एजेन्सी

लॉ पब्लिशर्स

६, यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद

प्रकाशक
इलाहाबाद लॉ एजेन्सी,
इलाहाबाद।

समर्पण

अपने उस परम पूज्य भ्राता की स्मृति में जिसके स्नेह की
रश्मियाँ मेरे मानस-पटल पर चल-चित्र की भाँति दौड़
जाया करती हैं और जिसकी आत्मा अनजाने में
ही आकर मेरे रोम-रोम में निरन्तर आगे
बढ़ते रहने का आत्म-विश्वास
पैदा कर जाती है!

तृतीय संस्करण की भूमिका

मुझे 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' के तीसरे संस्करण को राष्ट्रभाषा के माध्यम से पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने मे हर्ष का अनुभव हो रहा है। वस्तुतः इस पुस्तक के प्रथम और द्वितीय संस्करण को पाठको ने जिस उदारता के साथ अपनाया उससे मेरा उत्साह बढ़ा है और युग की बदलती हुई परिस्थितियों का पुनः समावेश करते हुये पुस्तक के तीसरे संस्करण को प्रस्तुत करने की शीघ्र आवश्यकता का अनुभव हुआ है।

संसार के रंगमंच पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र को प्रभावित करने वाली घटनायें तीव्रता से घटती जा रही हैं और उन सबका अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर आनुपातिक प्रभाव पड़ रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि उनमे से प्रत्येक को दृष्टि में रखते हुये अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पुनरीक्षण किया जाय और सार्वदेशिक सिद्धान्तों को मान्यता दी जाय।

भारतीय दर्शन के 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सूत्र को आज के प्रगतिशील विज्ञान ने सार्थक कर दिया है और आज का विश्व पृथक् पृथक् राष्ट्रों का एक विशृंखलित समूह नहीं, एक संयुक्त परिवार है। प्रत्येक राष्ट्र उस बृहत्तर परिवार का एक अभिन्न अंग है। राष्ट्र ही क्यों, आज की परिभाषा में व्यक्ति भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए एक महत्वपूर्ण आधार है। प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक व्यक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय विधि में कुछ कर्तव्य है, कुछ दायित्व है और निस्संदेह प्रत्येक राष्ट्र किंवा व्यक्ति का उस विधि में अन्तर्गत कुछ अधिकार है, कुछ अस्तित्व है। आज कोई भी राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र पर निरंकुश रूप से हावी नहीं हो सकता। बड़ा से बड़ा और शक्तिशाली राज्य भी आज की परिस्थितियों में छोटे से छोटे और निर्बल राज्य की तुलना में समान है। वियतनाम जैसे छोटे राज्य और अमेरिका जैसे बड़े और शक्तिशाली राज्य का लम्बे समय तक का चलने वाला सशस्त्र संघर्ष इस बात के लिए सबसे बड़ा प्रमाण है कि आज किसी भी राष्ट्र का अस्तित्व उसकी विशालता और साधन-सम्पन्नता पर नहीं निर्भर करता।

विज्ञान की आधुनिकतम प्रगति ने मानव-मात्र के सम्बन्धों के लिये एक नया क्षेत्र खोल दिया है। आज मनुष्य चन्द्रलोक तक की खोज कर ले रहा है और

है कि निकट भविष्य में उसके चरण उस लोक तक भी पहुँच जायेंगे। उस लोक से जब मनुष्य इस पृथ्वी की ओर देखेगा, तब सम्भवतः आज की रही-सही दूरी भी समाप्त हो जायेगी और मानव के नये-नये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का श्रीगणेश होगा।

आज विश्व को ऐसी विधियों की अधिक आवश्यकता है जो सार्वदेशिक हों, अन्तर्राष्ट्रीय हों। विश्व में एक ओर निर्माण हो रहा है, किन्तु दूसरी ओर विध्वंस का ताण्डव नर्तन भी होता जा रहा है। न्यष्टि के प्रयोगों और मानव-विनाश के यत्नों की ओर भी वृद्धि हुई है, या यों कहें कि निर्माण की तुलना में आज हम विध्वंस के अधिक निकट हैं तो इसमें कोई अयुक्ति नहीं है। अभी तक सोवियत संघ और संयुक्त राज्य द्वारा 'परस्पर आतंक-संतुलन' बनाये रखने के आश्वासनों पर विश्व को अपने अस्तित्व के प्रति कुछ भरोसा भी था किन्तु पिछले वर्षों में साम्यवादी चीन के न्यूक्लियर-शिविर में प्रवेश कर जाने तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों द्वारा निरंतर विरोध प्रकट किये जाने के उपरान्त भी निरंकुश रूप से विस्फोटक प्रयोगों को करते रहने के कारण विश्व को एक नये खतरे की आशंका हो गयी है। आज के विश्व का अस्तित्व कल के विश्व के अस्तित्व और शान्ति की अपेक्षा अधिक खतरे में है। जहाँ एक ओर मनुष्य को भूख, बीमारी, अशिक्षा, अस्वास्थ्य, असमानता, दासत्व आदि को दूर करते हुये सहअस्तित्व को बनाये रखने का प्रयत्न करना है, वहाँ दूसरी ओर मानव-विनाश के उपक्रमों को स्थगित करते हुये विश्व में शान्ति स्थापित करने और युद्ध के बढ़ते हुये तनाव को रोकने के प्रयत्न भी करने हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ घन तिमिर के बीच एक ज्योति-रेखा के समान है। उस ज्योति-रेखा को प्रस्फुटित करने के लिए राष्ट्रों के परस्पर सौजन्य और स्नेह के तेल की आवश्यकता है। इस तेल के अभाव में वह कभी-कभी बुझता-सा प्रतीत होने लगता है, किन्तु फिर, किसी कोने से कुछ स्निग्धता मिल जाने के कारण ज्योतिर्मान हो उठता है।

भारत सदैव से 'पंचशील' और 'विश्वशान्ति' और 'सह-अस्तित्व' का पोषक रहा है और इस बात के समर्थकों में अग्रणी रहा है कि बिना किसी गुटबन्दी या भेदभाव के विश्व के सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हों। लाल चीन के प्रति भी भारत की उदारता और संयुक्त राष्ट्र में उसका समर्थन सर्व-विदित है। फिर भी, १९६२ में चीन द्वारा भारत की उत्तरी सीमा पर बर्बर आक्रमण किये गये। चीन और पाकिस्तान ने दुरभिसंधि में प्रविष्ट होकर भारतीय क्षेत्रों को हड़प लेने का कुचक्र किया, किन्तु आज भी भारत विश्व के परिवार में चीन की सदस्यता का पोषक है। यद्यपि साधारण सभा के बीसवें अधिवेशन में भी चीन इस सदस्यता के लिये निर्धारित तीन-चौथाई बहुमत नहीं प्राप्त कर सका, फिर भी विश्व के राष्ट्र

ने यह अनुभव कर लिया है कि चीन की निरंकुशता को रोकने के लिये उसे अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घ के नियन्त्रण में लाना ही विश्व-शान्ति की दृष्टि से उपयोगी होगा।

सितम्बर १९६५ में पाकिस्तान ने अप्रत्याशित रूप से भारत के ऊपर बहुत बडा सशस्त्र आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के उन उपबन्धो के सर्वथा अतिलंघन-स्वरूप था जिनमे कि यह स्थापित किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का निपटारा अवश्य ही शान्तिपूर्ण उपायो से किया जाना चाहिये। ब्रिटेन से जो कि कामनवेल्थ का प्रस्थापक सदस्य है, अपेक्षा की जाती थी कि वह पाकिस्तान के ऐसे अनियन्त्रित कार्य की भर्त्सना करेगा, और यदि वह ऐसा नहीं करता तो कम से कम तटस्थ अवश्य रहेगा। किन्तु वह परोक्षतः पाकिस्तान के पक्ष का ही समर्थन करता रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका की भी लगभग यही स्थिति थी। वह अपने गुट मे सम्मिलित होने के कारण पाकिस्तान की निन्दा न कर सका और उसने आक्रामक और आक्रमित दोनो को समान तुला पर तौलते हुये दोनो की सैनिक सहायता तथा पुनश्च, नागरिक और खाद्यान्न-सहायता भी बन्द करने की घोषणा की। पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध उन भयावह और अजेय अमरीकी शस्त्रो का प्रयोग किया, जिन्हे कि उसने साम्यवादी देशों से अपनी रक्षा के बहाने प्राप्त किया था। अमेरिका इसको भी भर्त्सना न कर पाया। विश्व के किसी भी शान्तिप्रिय और सभ्य देश के लिए यह चिन्ता और निराशा की बात थी। भारत ने पाकिस्तान के विरुद्ध किये गये युद्ध मे कभी भी शान्त नगरो, अस्पतालो या नागरिक जीवन के महत्वपूर्ण स्थलों पर बमवर्षा नही की, किन्तु पाकिस्तान औपचारिक युद्ध की घोषणा न की जाने के उपरान्त भी भारत के शान्त नगरो, अस्पतालो, गिरजाघरों और मस्जिदो पर भयंकर रूप से बमवर्षा करता रहा।

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारत के ऐसे संकट के समय संयुक्त राष्ट्र सङ्घ बहुत-कुछ दौड धूप करने के उपरान्त भी केवल युद्ध-विराम के प्रस्ताव पारित करता रहा, और यहाँ तक कि वास्तविक आक्रामक कौन है, इसकी भी स्पष्ट घोषणा न कर पाया। यहाँ तक कि ताशकन्द-घोषणा के उपरान्त भी पाकिस्तान हठधर्मी और युद्ध-उत्प्रेरणा के कार्य करता रहा। पूर्ण शान्ति के समय भी १९६७ में उसका एक युद्ध-अन्वेषक यान भारत के क्षेत्र मे भीतर उडान भरता हुआ पाया गया और भारतीय नभ-शक्ति का शिकार हुआ। प्रश्न है, ऐसी कार्यवाहियों को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रोके कौन?

वियतनाम पर अमेरिकी बमवर्षा निरन्तर जारी है। संसार के सभ्य कहे जाने वाले बहुधा राष्ट्रो ने इस कार्यवाही की निन्दा की है और बमवर्षा तत्काल

रोक देने की अपील की है। सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की ओर से भी ऐसे ही प्रस्ताव आये हैं। किन्तु शक्ति सम्पन्न सयुक्त राज्य पर ऐसी अपीलो और ऐसे प्रस्तावो का कोई स्पष्ट प्रभाव नही दिखायी पडता।

१९६५ मे पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने के प्रश्न पर विचार के समय पाकिस्तान क तत्कालीन परराष्ट्र मन्त्री श्री भुट्टो ने स्पष्ट धमकी दी कि यदि काश्मीर प्रश्न का निर्णय पाकिस्तान के पक्ष मे नही किया जाता तो वह सयुक्त राष्ट्र सङ्घ छोड देगा। इसी प्रकार इन्डोनेशिया न सुरक्षा परिषद् मे मलायेशिया की सदस्यता के प्रश्न पर सयुक्त राष्ट्र सङ्घ से अपना सबध विच्छेद कर देने की घोषणा कर दी। कालान्तर मे वह साधारण सभा के बीसव अधिवेशन मे पुन सम्मिलित हो गया। सयुक्त राष्ट्र सङ्घ इन दोनो कार्यवाहियो पर कोई प्रभावकारी प्रतिक्रिया न उपबन्धित कर पाया।

दक्षिण अफ्रीका मे काले गोरे के प्रश्न के निपटारे और मानव-मात्र को भेद-रहित समानता प्रदान करने के प्रश्न पर सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के उल्लेखनीय प्रयत्नो के उपरान्त भी व्यावहारिक मान्यता नही मिल सकी है।

पूरब से लेकर पश्चिम तक विश्व के रगमच पर पिछले वर्षों मे कुछ और भी घटनाये घटित हुई है जिनसे इस बात पर पुन विचार होने लगा है कि क्या सयुक्त राष्ट्र सङ्घ अ तर्राष्ट्रीय विधि के प्रवर्तन मे पूर्णतया सफल नही हो पा रहा है ? यदि उसकी यह असफलता बढती रही तो क्या उसे भी लीग आफ नेशन्स के ही भाग्य का सामना करना होगा ? आदि। इधर नये स्वतन्त्र होने वाले देश लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था की अपेक्षा सैन्य तन्त्र की ओर अधिक झुक रहे हैं। यह एक और भी चिन्तनीय बात है। अस्तु, आज इस बात की आवश्यकता और भी बढ गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का गहनतम अध्ययन किया जाय।

इन्ही दृष्टियो से इस सस्करण मे यथाप्रसग और भी प्रकरण बढा दिये गये हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं —

अध्याय ८ मे राज्यो की मान्यता के साथ ही इस प्रश्न पर भी प्रकरण बढा दिये गये हैं कि क्या मान्यता एक वैध या राजनीतिक समस्या है। इसके साथ ही मान्यता के भेद, एव मा यता सम्बन्धित अन्य वाछित प्रकरण भी सयुक्त कर दिये गये हैं।

अध्याय ९ में राज्य के उत्तराधिकार के प्रकरण मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे उत्तराधिकार, यू० ए० आर० और यू० ए० एस० के गठन की वैध समस्या, सयुक्त अरब गणतन्त्र, सयुक्त अरब राज्य, आदि के प्रसग बढाये गये हैं।

अध्याय १३ में राज्य क्षेत्र का अर्जन तथा अपहरण, काश्मीर समस्या की आधुनिकतम प्रगति फारमूसा (तैवान) की वैध स्थिति, चन्द्र और ग्रहों पर मानव-विजय, आदि के प्रसङ्ग समस्याओं के स्पष्ट विवेचन सहित संयुक्त कर दिये गये हैं।

इसी प्रकार अध्याय १६ में समुद्री डाका के लिए आवश्यक तथ्य, अध्याय २० में राजनयिक अभिकर्ता, राजनयिक उन्मुक्तियाँ तथा उनका स्वभाव और प्रवर्तन, आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति, आदि के प्रसंग जोड़े गये हैं।

अध्याय २६ संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रकरण में चीन का भारत आक्रमण, दक्षिण पश्चिम अफ्रीका का प्रश्न, १६५० में न्यायालय की सम्मति, इथियोपिया और लाइबेरिया का मामला, अफ्रीका में राजनीतिक जागृति, चार्टर के अनुच्छेदों में संशोधन, आदि का भी विवेचन कर दिया गया है।

अध्याय ३३ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, के प्रकरण में ऐंग्लो-ईरानियन तेल की कम्पनी का मामला, भारत के कतिपय क्षेत्रों पर पुर्तगालियों के आधिपत्य के अधिकार का मामला, मंत्रणा परामर्श, आदि के प्रसंग बढ़ाये गये हैं।

इसी प्रकार अध्याय ४२ में हवाई युद्ध की विधियाँ और अणुबम प्रयोग की नैतिकता पर विचार, अध्याय ४३ में युद्ध सम्बन्धी अपराध, बन्धक व्यक्तियों का वध एक युद्धापराध, युद्ध अपराधियों, विवर्जनिष्ठ और राजद्रोहियों के लिए शरण-स्थान, अध्याय ४८ में संरोध या नाकाबन्दी, और नाकाबन्दी के प्रकार और अध्याय ४६ में विनिषिद्ध, विनिषिद्ध और नाकाबन्दी में सम्बन्ध तथा निरन्तर समुद्र यात्रा के वाद, आदि के प्रसंग और भी बढ़ाये गये हैं।

इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण को और भी पूर्ण आधुनिकतम और प्रामाणिक बनाने के प्रयत्न किये गये हैं। भाषा को और भी प्रांजल, शुद्ध और सरल करने की ओर भी यत्न किये गये हैं। विश्वास है कि यह संस्करण छात्रों, प्रतियोगियों और जिज्ञासुओं के लिये और भी उपयोगी हो सकेगा।

'गणेश' भवन,
इलाहाबाद।

महेश प्रसाद टण्डन

विषय-सूची

अध्याय   पृष्ठ संख्या

भाग १—प्रारम्भिक

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की विधि

परस्पर समाज में जीवन-यापन नही कर सकता, उसी प्रकार एक राष्ट्र भी अपने आचरण को नियमित करने वाली परम्पराओं और रूढियो के बिना परस्पर संसर्ग स्थापित नही कर सकता। जहाँ व्यक्तियो तथा राष्ट्र की जनता का आचरण नागरिक विधि द्वारा शासित होता है, वहाँ राष्ट्रो का, या राष्ट्रो के कुटुम्ब के सदस्यो, या राष्ट्रो के समाज का परस्पर आचरण अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा नियमित होता है।

इसकी उत्पत्ति:—अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) का यह शब्द सर्वप्रथम जेरेमी बेन्थेम (Jeremy Bentham) द्वारा १७८० में रचा गया। यह राष्ट्रो की विधि (Law of Nations) का पर्यायवाची है और इसके समानार्थक फ्रांसीसी तथा जर्मन भाषा में क्रमश. 'driot des gens' 'Volkerrecht' शब्द प्रचलित है। बिंकरशूक (Bynkershoek) ने राष्ट्रो की विधि की उत्पत्ति को तर्क और प्रथा (reason और usage) अथवा ex ratione et usu के कारण माना है और प्रथा को सधियो और अध्यादेशो (pacta et edicta) पर आधारित कहा है। दूसरे प्रसग मे उनका कहना है कि—

"Reason commands me to be equally friendly to two of my friends who are enemies to each other; and hence it follows that I am not to prefer either in war".

तात्पर्य यह है कि तर्क यही कहता है कि हम अपने ऐसे दो दोस्तो से बराबर दोस्ती का सम्बन्ध बनाये रखे जो आपस मे एक दूसरे के शत्रु हैं और परिणामतः हम दोनो के बीच किसी को युद्ध मे प्राथमिकता न दें।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि (International Law) की यथार्थता पर विचार करने के पूर्व यह अधिक उपयोगी होगा कि कुछ प्रसिद्ध लेखको, विधि-शास्त्रियो और प्रकाशको तथा इस विषय पर कुछ प्रसिद्ध कानूनी नजीरो या मुकदमो के दृष्टान्तो मे दी हुई परिभाषाओं पर विचार कर लिया जाय।

परिभाषायें

लॉरेंस (Lawrence)—अंग्रेजी के प्रसिद्ध विधि-शास्त्री लॉरेंस ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की इस प्रकार परिभाषा की है :—"वे नियम जो सभ्य राज्यो के सामान्य और सामूहिक आचरण को उनके पारस्परिक व्यवहार मे निर्धारित करते हैं, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय विधि कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधिकांश भाग मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे पृथक् युद्ध के प्रबन्ध के नियम सन्निहित हैं। स्वतंत्र संप्रभु राज्यो के बीच असमानता उनके पारस्परिक व्यवहार मे बाधा उत्पन्न करती है; उनका अनियंत्रित सम्बन्ध मानवीय समाज मे एक ऐसा कारण है जिससे युद्ध का सूत्रपात हो जाता है।

अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रो के पारस्परिक व्यवहार मे उनके आचरण को नियमित करती है चाहे वे शत्रु-रूप म हो अथवा शान्त की स्थिति मे हो।

ओपेनहेम (Oppenheim)—राष्ट्रो की विधि या अन्तर्राष्ट्रीय विधि परपरागत तथा सधियो से उत्पन्न नियम हैं जो कि सभ्य राज्यो द्वारा परस्पर के व्यवहार मे वैध रूप म एक-दूसरे पर बाधित माने जाते है।

हॉल (Hall)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि आचरण के उन कतिपय नियमो मे निहित है जो कि वर्तमान सभ्य राज्य एक-दूसरे के सम्बन्ध में अपने ऊपर उसी शक्ति और मात्रा मे बाधित मानते हैं जितनी कि अपने देश के कानूनो को मानने की बाध्यता सचेतन व्यक्तियो पर मानी जाती है और यह भी मानते है कि यदि उन नियमो का उल्लघन किया गया तो उपयुक्त माध्यम द्वारा उनका प्रवर्तन अवश्य किया जायेगा।

ह्यूग्स (Hughes)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन सिद्धान्तो और नियमो का समूह है जिन्हे सभ्य राज्य परस्पर के सम्बन्ध मे अपने ऊपर बाधित मानते हैं, और ये संप्रभु राज्यो की सहमति पर आधारित होते है।

हन्स केल्सन (Hans Kelsen)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि या राष्ट्रो की विधि उन नियमो के समूह का नाम है जो कि साधारण परिभाषा के अनुसार राज्यो के व्यवहारो को एक-दूसरे के सम्पर्क मे नियमित करते हैं। (International Law or the Law of Nations is the name of a body of rules which—according to the usual definition—regulate the conduct of two states in their intercourse with one another)

कैण्ट (Kent)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि सार्वजनिक निर्देशोकी वह संहिता है जो अधिकारो की व्याख्या करती है और राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो के प्रसग मे उनके कर्तव्यो का निर्धारण करती है।

सर सेसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमो का समुदाय है जो उन अधिकारो का निर्धारण करते हैं जिन्हे एक राज्य दूसरे राज्य से अपने अथवा अपने नागरिको की ओर से माँगने का अधिकारी है। (International Law is the aggregate of the rules which determine the rights which one State is entitled to claim on behalf of itself or its nationals against another State)

ब्लैक्स्टन (Blockstone)—राष्ट्रो की विधि नियमो की एक व्यवस्था है जो प्राकृतिक तर्क द्वारा अनुमानित है और विश्व के सभ्य नागरिको को सार्वभौमिक सहमति से प्रचलित है। इसका उद्देश्य सभी झगडो को तय करना, सभी नागरिक औपचारिकताओं को नियमित करना और अपने उस व्यवहार में जिसे दो या दो से अधिक स्वतत्र राज्यों के बीच निरन्तर होना चाहिए, न्याय और सद्भावना को अधिक

सुनिश्चित करना और दोनो के व्यक्तियो के बीच न्याय और सद्भावना उत्पन्न करना हुआ करता है।

गाउल्ड (Gould)—"अन्तर्राष्ट्रीय विधि यहाँ तक कि व्यक्तियो से सम्बन्धित प्रसगो मे भी सार्वजनिक विधि है।"

ब्रायर्ले (Brierly)—राष्ट्रो की विधि या अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि यह उन नियमो तथा कार्यों के सिद्धान्तो का समूह है जो कि सभ्य राज्यो पर उनके एक दूसरे के सम्बन्ध मे बाधित हैं।

पिट काबेट (Pitt Cobbett)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि इस प्रकार वर्णित की जा सकती है कि यह उन नियमो का योग है जो कि सभ्य राज्यो द्वारा एक दूसरे के प्रति तथा एक दूसरे की जनता के प्रति अपना आचरण निर्धारित करने के लिए स्वीकार किए गए हैं।

सर हैनरी मैन (Sir Henry Maine)–राष्ट्रो की विधि भिन्न-भिन्न अशो से रचित एक मिश्रित व्यवस्था है। इसमे नैसर्गिक प्रकार से निष्पक्ष राष्ट्र के व्यक्तियो के आचरण के लिये तथा राष्ट्रो के सम्बन्ध और आचरण के लिए सामान्यतया उपयुक्त अधिकार तथा न्याय के सामान्य सिद्धान्त, प्रथाओ, लोकरीतियो और सम्मतियो का सग्रह, सभ्यता तथा व्यापार की वृद्धि और निश्चित अथवा पौजिटिव विधि (Positive Law) की सहिता सम्मिलित हैं।

स्टार्क (Starke)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि को यो परिभाषित किया जा सकता है कि यह उन विधियो का समूह है जिनका अधिकाश भाग उन आचारण के सिद्धान्तो तथा नियमो का बना हुआ है जिनको राज्य अपने परस्पर सम्बन्धो मे पालन करने के लिये अपने को बाध्य समझते हैं, अतः साधारणतया पालन करते है, और जिनमे कि निम्नलिखित भी सम्मिलित हैं :

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ या सगठनो के सचालन-सम्बन्धी विधि के नियम, उनके एक-दूसरे के प्रति सम्बन्ध तथा उनके राज्यों और व्यक्तियो के प्रति सम्बन्ध, और

(आ) व्यक्तियों से सम्बन्धित कुछ विधि-नियम जो कि ऐसे व्यक्तियो के अधिकार या कर्तव्य को निर्धारित करते हो जो अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के विषय हो।

स्टार्क की उपरोक्त परिभाषा जो कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर अमेरिका के प्रमाण पुरुष प्रोफेसर चार्ल्स छेनी हाईड (*Professor Charles Cheney Hyde*) द्वारा दी हुई परिभाषा का ही रूपान्तर है, हमारे समक्ष एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करती है। परम्परागत परिभाषाओ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि वह पद्धति है जिसमें राज्यो के परस्पर सम्बन्ध को निश्चित करने वाले नियम ही आते हैं; युद्धोत्तर प्रगतियो को देखते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ तथा सगठनों की आत्यतिक आवश्यकता और भी बढ़

गई है, और संयुक्त राष्ट्र संघ, अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ, विश्व-स्वास्थ्य संघ आदि प्रकट हो गए हैं। इनका अन्तर्राष्ट्रीय वैध व्यक्तित्व मान लिया गया है और ये संस्थायें एक दूसरे से तथा राज्यो से सम्बन्ध स्थापित करती तथा मानवीय अधिकारों की रक्षा करने और व्यक्तियों की मौलिक स्वतन्त्रता की सुरक्षा हेतु कार्यवाही करती हैं। इस बात को ध्यान मे रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधि की पुरानी परिभाषाये अब प्रचलित नही हैं तथापि सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि की पुरानी परिभाषाओ मे भी सत्य का एक अंश हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रमुख रूप से एक व्यवस्था है जिसके द्वारा राज्यो के अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर नियमित किये जाते हैं और इसी कारण यह राष्ट्रो की विधि (Law of Nations) भी कही जाती है।

फ्रैंकोनिया-विवाद—R. v. Keyn (The Franconia) (१८७६) मे लार्ड कॉलरिज (Lord Coleridge), मुख्य न्यायाधीश, का कथन है कि राष्ट्रों की विधि उन रूढियों या परम्पराओं का समूह है, जिनको कि सभ्य राज्यो ने एक दूसरे के प्रति अपने व्यवहारो मे मानना स्वीकार कर लिया है। ये रूढियाँ क्या हैं, कोई विशेष रूढि स्वीकृत की गई है अथवा नही, ये बातें अवश्य साक्ष्य पर निर्भर होनी चाहिये।

वेस्ट रैन्ड गोल्ड माइनिंग कम्पनी लिमिटेड सम्बन्धित विवाद (West Rand Gold Mining Co. Ltd. v. The King) (१६०५) वाले प्रसिद्ध विवाद में लार्ड अलवर्स्टन (Lord Alverstone) मुख्य न्यायाधीश ने किलोवन के लॉर्ड रसेल (Lord Russell of Killowen) द्वारा सन् १८६६ मे सेराटोगा मे दिये गये भाषण मे दी गई परिभाषा को इस कथन द्वारा स्वीकार किया था, कि वह इससे उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा नही जानते कि "यह उन नियमो तथा रूढ़ियों का योग है जो कि सभ्य राज्यो द्वारा एक दूसरे के प्रति अपने व्यवहारों मे अपने ऊपर बाध्य मान लिये गये हैं।"

एस० एस० लोटस विवाद (S. S. Lotus)—एस० एस० लोटस (१९२७) सम्बन्धित विवाद में जो कि फ्रांस और टर्की के बीच में हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की परिभाषा निम्न रूप से दी थी :—

"International Law was defined as meaning the principles which are in force between all independent nations" तात्पर्य यह है कि ये वे सिद्धान्त हैं जो सभी स्वतंत्र राष्ट्रो के बीच प्रवर्तित हैं।

यह परिभाषा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दो महत्वपूर्ण तथ्यों पर बल देती है—एक तो इसकी सार्वभौमिकता पर और दूसरे इसकी अनन्यता पर। इसमें अधिक बल

'स्वतन्त्र राष्ट्रों' शब्द पर है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय के अनुसार वही सिद्धान्त प्रवर्तित किये जाते हैं, जिनका सम्बन्ध सभी राष्ट्रों से नहीं, अपितु सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों से हुआ करता है।

पैकट हवाना विवाद (The Paquete Habana Case) – न्यायाधीश ग्रे (Gray, J.) ने यह अवलोकन किया था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि संयुक्त राज्य (अमेरिका) की विधि का भाग है और उचित क्षेत्राधिकार वाले न्यायालयों द्वारा प्रशासित होना चाहिए। इस प्रयोजन के लिए उस अवस्था में, जहाँ कि कोई सन्धि अथवा कोई शासकीय अथवा विधायनिक अधिनियम (Act) या न्यायिक निर्णय न हो, सभ्य राष्ट्रों की ऐसी रीतियों तथा रूढ़ियों का साक्ष्य रूप में सहारा लेना चाहिये जिन्हें न्याय-प्रवीणों तथा भाष्यकारों ने वर्षों के परिश्रम, अनुसंधान और अनुभव के आधार पर अपने ग्रन्थों में इस विषय पर लिखा है।

ऊपर दी गई बहुत-सी परिभाषाएँ यह व्यक्त करती हैं कि भिन्न-भिन्न लेखकों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोतों की विविधता पर किस प्रकार बल दिया है। प्रारम्भिक विद्वान् प्राकृतिक कानून, प्राकृतिक तर्क और न्याय के सिद्धान्त पर बल देते थे जब कि आधुनिक लेखक विधि के नियमों की सीमा को व्यक्तियों और राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रति अधिकारों और कर्तव्यों के निर्धारण तक फैला हुआ मानते हैं। आधुनिक विद्वान् रूढ़ियों (रीतियों) और सन्धियों को विधि का मुख्य स्रोत मानते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को आज हम विधि-शास्त्र का असहाय शिशु नहीं कह सकते। इसका एक न्यायिक आधार है और इसका उद्देश्य समन्यायिक और न्यायपूर्ण ढंग से विश्व समुदाय के अन्तर्युनिट सम्बन्धों (equitable and just regulation of inter-unit relations within the world community) को नियमित करना है।

सार्वजनिक और वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Public International Law and Private International Law) :—ऊपर दी गई परिभाषाएँ सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि से साधारणतया सम्बन्धित हैं। "व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि" उन सिद्धान्तों का समूह है जो क्षेत्राधिकार और उपयुक्त विधि के चुनाव सम्बन्धी प्रश्नों का निर्धारण करते हैं। ये प्रश्न नागरिक विवाद के होते हैं जो निर्णय हेतु किसी एक राज्य या देश के न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत होते हैं, किन्तु जिनमें कोई न कोई विदेशी तत्व (foreign element) अवश्य सन्निहित होता है। तात्पर्य यह है कि वह प्रश्न विदेशी व्यक्तियों, वस्तुओं या आंशिक या पूर्ण रूप से किये गये विदेशी व्यापारों, या किसी विदेशी कानून-व्यवस्था आदि पर प्रभाव अवश्य डालते हैं।" (Pitt Cobbett's Leading Cases on International Law).

"वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उद्देश्य निम्नलिखित हैं —

"प्रथम—उन शर्तों को निश्चित करना जिनके अनुसार न्यायालय को कोई वाद प्रतिग्रहण करने के लिए उचित क्षेत्राधिकार प्राप्त हो,

"द्वितीय—प्रत्येक श्रेणी के वाद के लिए विशिष्ट वैधानिक व्यवस्था निर्धारित करना जिसके अनुसार पक्षकारो के अधिकारो का पता लगाया जा सके; और

"तृतीय—उन परिस्थितियो का विस्तारपूर्वक वर्णन करना जिनमे कि (अ) कोई विदेशी निर्णय किसी विवादास्पद प्रश्न के निश्चित करने के लिए प्रमाण मान लिया जाय। और (आ) किसी महाजन को किसी विदेशीय निर्णय द्वारा दिये गये अधिकार को कार्यवाही द्वारा इगलैंड मे प्रवर्तित कराया जा सके।"

वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रत्येक देश मे भिन्न होती हैं, अत वैयक्तिक और सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे कोई सादृश्य नही है।

डाइसी महोदय (Dicey) इसे 'विधि-सघर्ष' (Conflict of Laws) कहते हैं क्योकि यह उन मामलो से सम्बन्धित नियमो की व्यवस्था करता है जिनमे भिन्न-भिन्न राष्ट्रो की नागरिक विधियाँ (Municipal Laws) एक दूसरे के विरोध रूप मे उपस्थित होती हैं। ऐसे विधि-सघर्ष नागरीकरण, विवाह, तलाक, इच्छापत्र और सविदाओं की वैधता आदि के प्रसग में उठ सकते हैं। इसको 'अन्तर-नागरिक राष्ट्रीय विधि' (Inter-Municipal Laws), 'अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य' (International Comity) इत्यादि भी कहते हैं।

उपरोक्त से स्पष्ट होगा कि सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि मुख्य रूप से एक शान्ति का कानून है जो कि राज्यो के एक-दूसरे के व्यवहारो और सम्बन्धो को नियन्त्रित करता है। केवल दो राष्ट्रो में सघर्ष छिड़ जाने अथवा युद्ध की घोषणा हो जाने के पश्चात् ही युद्ध के कानूनो और युद्ध मे लगे हुये और तटस्थ राष्ट्रो के अधिकारो और आभारों का आरम्भ होता है। वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमो का समूह है जो क्षेत्राधिकार के प्रश्नो के निर्णय करने के लिये हैं जो कि किसी राष्ट्र अथवा देश के न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने वाले व्यवहार-वादो में जिनमें कोई विदेशीय तत्व भी सम्मिलित हो, उचित विधि चुनने के सम्बन्ध मे उपस्थित होते हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि यथार्थ मे विधि (Law) है ?

'राष्ट्रों की विधि' के विज्ञान के विकास के प्रारम्भिक काल से ही यह प्रश्न कि क्या 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' यथार्थ मे विधि है एक विवादास्पद विषय रहा है। क्या इसमें बाध्यता की शक्ति है, इस प्रश्न पर विभिन्न सम्मतियाँ है। विधिशास्त्र (Jurisprudence) पर प्रमुख अग्रेजी लेखक जॉन ऑस्टिन (John Austin) ने यह प्रतिपादन किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि यथार्थ मे विधि नही है बल्कि यह आचरण सम्बन्धी नियमों की सहिता है जिनका बल केवल नैतिक है। हाब्स (Hobbes) तथा

पफेनडार्फ (Pufendorf) ने भी इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर दिया है और कहा है कि राष्ट्रो की कोई ऐसी विधि नही है जो कि उचित रूप से सच्चे और वैध बल से युक्त हो और अपने से वरिष्ठ की आज्ञा के समान बाधित हो। वाटेल (Vattel) के अनुसार 'राष्ट्रो की विधि' (Law of Nations) मूल मे और कुछ नही वरन् केवल प्रकृति के नियम है जो राष्ट्रो पर लगाये गये हैं। हालैंड (Holland) ने यह समर्थन किया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि साधारण विधि से इस बात मे भिन्न है कि इसे राज्य की प्राधिकार शक्ति का समर्थन नही प्राप्त है। उनके अनुसार यह केवल वैयक्तिक विधि है जिसे विस्मृत रूप मे लिख दिया गया है। इस दृष्टिकोण से देखने पर उन्होने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को विधि-शास्त्र को लोप करने वाला बिन्दु (vanishing point of Jurisprudence) कह कर वर्णन किया है। बेन्थम (Bentham) ने भी अन्तर्राष्टीय विधि को उचित रूप से विधि मानने के सम्बन्ध मे आपत्ति की है।

इसके विपरीत हाल (Hall) तथा लॉरेन्स (Lawrence) जैसे प्रसिद्ध विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि न केवल विधि के समान कार्य ही करती है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता से अपने नियमो तथा अनुशासित दोनों रूपो द्वारा स्पष्टतया पूर्ण रूप से भिन्न है। हाल महोदय यह कहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्वभावत: विधि मानी जाती है और जो कुछ इस समय विधि के रूप मे स्वीकृत है उसका कुछ भाग प्रकृति से ही उनसे पृथक नहीं किया जा सकता। लॉरेन्स महोदय इस बात पर विशेष महत्व देते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि साधारणत: राज्यो द्वारा व्यवहृत की जाती है, यद्यपि यत्र-तत्र अन्य विधियो के समान ही इसके भी कुछ आदेशो की उपेक्षा की जाती है और यदा-कदा की इस उपेक्षा से हम उसे प्रकृति या अस्तित्वहीनता को सीमा तक नही कह सकते।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उपरोक्त प्रश्न को हल करना कानून की उस परिभाषा पर निर्भर करता है, जिसे हम अपना लें।

ऑस्टिन (Austin) का यह मत है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि कोई विधि ही नही है क्योंकि यह किसी ऐसे प्राधिकारी से उत्पन्न नही होती जो विधि सृजित करता हो और इसके पीछे कोई अनुशास्ति (sanction) नहो है। उनका कथन है कि वह विधि जो राष्ट्रों के बीच में मानी जाती है निश्चयात्मक विधि नहीं है क्योंकि प्रत्येक निश्चयात्मक विधि एक सम्प्रभु द्वारा अपने अधीन राज्य के व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के लिए निर्धारित की जाती है। उनके अनुसार राष्ट्रों के बीच प्रचलित कानून केवल सामान्य सम्मति के आधार पर निर्धारित विधि है और जिन कर्तव्यो को वह आरोपित करता है वह नैतिक शक्ति द्वारा लागू किये जाते हैं। कोई बलपूर्वक कार्य कराने वाली शक्ति जो कि वरिष्ठ मत्ता से प्राप्त हो यहाँ संलग्न नहीं है, क्योंकि विवाद करने वाले राष्ट्रों के ऊपर कोई संप्रभु सत्ता नहीं है। उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को 'निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय

नैतिकता' (positive international morality) कहा है जिसमे सम्मतियाँ या भाव जो कि राष्ट्रों के बीच साधारणत प्रचलित हैं (opinions or sentiments current among nations generally) सम्मिलित हैं।

हालैंड जैसा कि ऊपर कहा गया है ऑस्टिन की सम्मति से सहमत हैं। उनका कथन है कि ऐसे नियम जो कि स्वेच्छा से, यद्यपि स्वभावत, प्रत्येक राष्ट्र, अन्य के साथ व्यवहार करने मे पालन करते हैं, केवल शिष्टाचार के नाते ही विधि कहे जा सकते हैं— Such rules as are voluntarily, though habitually, observed by every State in its dealings with the rest can be called law only by courtesy" ये किसी राज्य के प्राधिकार द्वारा समर्थित नही होते। उनके अनुसार यह विधिशास्त्र का लोप-विन्दु है, क्योकि इसमे किसी संघर्ष की स्थिति में जनता की राय के अतिरिक्त अन्य कोई विवाचक नही होता।

लार्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि किसी न्यायाधिकरण द्वारा प्रवर्तित नही होती, इसलिये उसे साधारण अर्थों मे कानून या विधि कहना भ्रमात्मक है।

भारत के पूर्व प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू की गणना सर्वश्रेष्ठ राजनीतिज्ञो मे है। वे भी इसी सम्मति से सहमत हैं। अन्तर्राष्ट्रीय-विधि-परिषद् की भारतीय शाखा की बैठक में जो कि दिल्ली मे मार्च ३१ सन् १९५१ को हुई थी, भाषण करने हुये उन्होने कहा था कि विश्लेषण के द्वारा अन्त मे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधि नही है। किसी प्रकार एकमत होने के लिये उद्योग किया गया था, परन्तु व्यवहारत देखा गया है कि अन्त मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि अथवा उस विषय मे कोई विधि इस प्रकार की एक वस्तु हो जाती है जिसमें किसी वरिष्ठ शक्ति अथवा अधिक शक्ति रखने वाले किसी समुदाय द्वारा शास्ति का प्रवर्तन होने लगता है। उन्होंने अपने भाषण मे आगे कहा कि जब कोई संकट, जैसे कि युद्ध, उत्पन्न होता है तो सब विधियाँ समाप्त हो जाती हैं, और अनुमानत. वे केवल वकीलो के वाद-विवाद का विषय मात्र बनकर रह जाती हैं।

इसमे कोई सन्देह नही है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रीय विधि से कम शास्ति-सूचक तथा कम स्पष्ट है, तथापि यह विधि है। विधि के पीछे केवल दबाव ही शास्ति नहीं है। इसकी प्रवृत्ति के अन्तर्गत जितना ही अधिक बल महत्वपूर्ण है उतना ही अधिक न्याय भी। इसमे भय की मात्रा भी अनुपस्थित नही है। राष्ट्रों को यह भय रहता है कि यदि वे अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के नियमो का प्रकट उल्लंघन करेंगे तो इसका परिणाम उनके लिये अनुचित होगा। साधारण विधि के समान अन्तर्राष्ट्रीय विधि की भी कभी-कभी उपेक्षा की जाती है परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि विधि का अस्तित्व ही नही है, या विधि सर्वथा अकृति तक पहुँच गई है।

सर हेनरी मेन ने ऑस्टिन के विधि-सम्बन्धी विचारो की समालोचना करते हुये कहा है कि मनुष्य अवश्य कभी-कभी नियमो को दड के भय से मानता है परन्तु प्रत्येक समाज के अधिकाश मनुष्यो के साथ ऐसे मनुष्यो की तुलना करने पर यह प्रकट होता है कि इस श्रेणी के मनुष्यो की सख्या कम होती है और सभवत उन्ही लोगो की श्रेणी तक सीमित है जिन्हे हम अपराधी जाति के कहते हैं। अधिकतर नियमो का पालन मनुष्यो द्वारा अनजान में ही मानसिक स्वभाव के कारण होता है।

स्टार्क (Starke) ने ऑस्टिन (Austin) के सिद्धान्त का निम्नलिखित आधार पर विरोध किया है —

(क) आधुनिक विधि-शास्त्र ने विधि के सामान्य सिद्धान्त को कम कर दिया है। यह देखा जाता है कि बहुत से समुदाय ऐसे होते हैं जहाँ कोई प्राधिकारिक वैध शक्ति नही होती, फिर भी विधि की एक रीति प्रचलित रही है, और उसका पालन पूर्ण रूप से होता रहा है और ऐसी विधि की बाध्यता मे किसी वैध शक्ति-सम्पन्न राज्य की वैधता मे कोई अन्तर नही रहा है।

(ख) ऑस्टिन के विचार भले ही उन दिनो ठीक रहे हो, किन्तु उन्हे हम आज की परिस्थितियो मे लागू नही कर सकते।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्नो को उन लोगो द्वारा सदैव वैध प्रश्नो के रूप मे माना गया है जो वैदेशिक पदा 'foreign offices' पर विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों को करते रहे है।

किलोवेन के लॉर्ड रसेल (Lord Russel of Killowen) भी इस विचार से सहमत हैं क्योकि उन्होने कहा है कि उन समाजो मे भी, जिनमे ऑस्टिन (Austin) द्वारा दिये गये अर्थ के अनुसार विधि बनाने की व्यवस्था उपस्थित है ऐसे नियम और ऐसी रूढियाँ विकसित होती हैं जो यथार्थ मे 'विधि' हैं। अधिकाशत जनमत पर निर्भर रहते हुये ज्यो-ज्यो शासन व्यवस्थायें स्पष्टतया अधिकाधिक लोकतन्त्रात्मक होती जाती हैं त्यो-त्यो विधियाँ क्रूर सत्ता द्वारा प्रतिस्थापित अनुज्ञाओं के रूप को छोडती जाती हैं और अधिकतया स्वभावत स्वीकृति पर निर्भर प्रथागत विधि (customary law) का रूप धारण करती हैं और इस विचार से उन नियमो के योग को, जिन पर अपना आचरण निर्भर करने के लिये राष्ट्र एक दूसरे के प्रति सहमत हैं उचित रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि कहा जा सकता है।

आधुनिक लेखक जैसे हॉल और लॉरेन्स, अन्तर्राष्ट्रीय विधि को यथार्थ विधि मानते हैं। उनके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्वभावत विधि रूप में मानी

तथा प्रवर्तित समझी जाती है । कुछ निश्चित विधियों के समान यह भी रूढ़ि से उत्पन्न हुई है । पूर्ववर्ती दृष्टान्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भी उतना ही स्रोत माना जाता है जितना कि यह निश्चयात्मक (positive) नियम का और इसके नियमों का पालन करना अनिवार्य है ।

इसके अनन्तर अन्तर्राष्ट्रीय नियम अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा लागू किये जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध मे अनुशास्ति (sanction) का विचार एक संस्था अर्थात् संयुक्त राष्ट्र-संघ मे एक निश्चित रूप ग्रहण कर रहा है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियों, संधियों और मध्यस्थ निर्णय के करार (agreements) ने कई ऐसे सुनिश्चित सिद्धान्तो को जन्म दिया है जो कि राष्ट्रों के प्राकृतिक और पारस्परिक सम्बन्धों मे उनके कार्यों को उसी प्रकार सीमित कर देते हैं जिस प्रकार कि इगलैंड की विधियाँ उनके नागरिकों के कार्यों को सीमित कर देती हैं ।

प्रोफेसर ओपेनहेम (Professor Oppenheim) विधि को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—यह किसी समाज के भीतर मनुष्यों के आचरण के लिये उन नियमों का समूह है जो कि उस समाज की सर्वमान्य सम्मति से एक बाह्य शक्ति द्वारा प्रवर्तित किये जायेंगे—"a body of rules for human conduct within a community which by common consent of this community shall be enforced by external power" इस परिभाषा मे विधि के अस्तित्व के लिए निम्नलिखित अभिधारणाएँ मानी गई हैं:—प्रथम एक समुदाय (community), द्वितीय, उनमे मनुष्यों के आचरण के लिए नियमों का एक समूह, तृतीय उन नियमों को एक बाह्य शक्ति द्वारा प्रवर्तित करने के लिए उस समाज की सर्वमान्य सम्मति । ओपेनहेम महोदय का कथन है कि "एक समुदाय कई व्यक्तियों का समूह है जो कि आपस मे ऐसे सर्वमान्य हितों से कुछ न कुछ सम्बद्ध हो जो कि उन प्रत्येक व्यक्तियों के बीच मे निरन्तर तथा बहुविधि संसर्ग उत्पन्न करते हो ।" इस परिभाषा मे 'समुदाय' शब्द मे केवल व्यक्तिगत मनुष्य द्वारा बना हुआ समाज ही सम्मिलित नही है वरन् इसमे व्यक्तिगत समाज के समूह भी सम्मिलित हैं जैसे व्यक्तिगत राष्ट्र । अब राष्ट्रों के कुटुम्ब को अन्तर्राष्ट्रीय समाज समझ लिया जाय जिसमे कि उसके सदस्य राष्ट्रों के आचरण के लिये नियम विकसित हो गये हैं जिनका आधार अशतः रूढ़ियों और अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकार-पत्र (करार) जैसे पेरिस की उद्घोषणा, १८९६, (Declaration of Paris, 1856) भूमि-युद्ध सम्बन्धी हेग अभिसमय १८९९ और १९०७ (Hague Conventions relating ot Land Warfare, 1899 and 1907), पेरिस की सन्धि, १९२८ (Pact of Paris, 1928) तथा संयुक्त राष्ट्रों का अधिकार-पत्र १९४५ (Charter of the United Nations, 1945) हैं । इन नियमों के प्रवर्तन की अनुशास्ति अन्त-

र्राष्ट्रीय समाज की सहमति द्वारा दी गई है। सुरक्षा परिषद् (Security Council) को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह वायु, जल तथा स्थल सेना से ऐसा कार्य ले जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिए आवश्यक हो; और इस प्रयोजन के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यो ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे सुरक्षा-परिषद् की माँग पर सेना, सहायता तथा सुविधायें, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिये उपस्थित करेंगे। सयुक्त राष्ट्र सघ का मुख्य कर्त्तव्य है कि वह आक्रमण तथा शांति-भङ्ग के विरुद्ध प्रभावकारी सामूहिक शक्ति का उपयोग करे।

सुरक्षा-परिषद् के जून २७ और जुलाई ७, १९५०, के प्रस्तावो से जिनके द्वारा यह संस्तुति की गई थी कि सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य गणतन्त्र कोरिया को ऐसी सहायता दे जो कि सशस्त्र आक्रमण को पीछे हटाने के उपयुक्त हो और वे उस क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को पुन॰ स्थापित करें, और यह कि सभी सदस्य-राष्ट्र अपनी सहायता एव सेना संयुक्त राष्ट्र के सार्वभौमिक नियन्त्रण में कोरिया की सहायता हेतु प्रस्तुत करे; विश्व के इतिहास मे सबसे पहला एक दृष्टान्त उपस्थित हुआ जिसमे किसी अन्तर्राष्ट्रीय सगठन ने सामूहिक सैनिक कार्यवाही का प्रयोग किया था। इस दृष्टान्त ने सर्वप्रथम इस बात का सबसे बडा प्रमाण उपस्थित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि वास्तव मे अपने सही अर्थों मे विधि है।

इस अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रवर्तन भी ठीक निर्मित और निश्चयात्मक विधि के रूप मे किया गया। सयुक्त राज्य अमेरिका ने १६ राष्ट्रो द्वारा दी गई सैनिक सहायता का कोरिया मे सयुक्त राष्ट्र सघ की ओर से नेतृत्व किया और ४० राष्ट्रो ने इसी प्रसग में आर्थिक सहायता पहुँचायी। यही नही, बल्कि सयुक्त राष्ट्र महासभा ने १२ दिसम्बर १९५० को अन्तर्राष्ट्रीय रूढियो का खडन करने वाले व्यक्तियो को दड निर्धारित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय (International Criminal Court) की स्थापना की भी सहमति दे दी, और १७ राष्ट्रो की समिति ने इसके प्रारूप को तैयार किया जो कि आगे चलकर १९५३ मे पुन. 'इण्टरनेशनल क्रिमिनल ज्यूरिसडिक्शन' अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक क्षेत्राधिकार की समिति की बैठक के समय पुनः परिशोधित किया गया।

इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राष्ट्रो के बीच ऐसी अनेक घटनायें घटी हैं, और आज भी घट रही हैं, जिनमें सयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा प्रवर्तित विधियो को पूर्ण रूप से निश्चयात्मक विधि के रूप में माना गया है।

इस विषय पर स्टीमशिप प्रोमेथ्यूस (S. S. Prometheus) में विचार किया गया। सर हेनरी बर्कले, प्रधान न्यायाधीश, ने कहा, "मेरी सम्मति मे विधि स्थापित

की जा सकती है और वह अन्तर्राष्ट्रीय हो सकती है, अर्थात् सब राष्ट्रों पर बाध्य हो सकती है, यदि वे राष्ट्र जो अपने को उससे बाध्य करना चाहें आपस मे सहमत हों, यद्यपि उसकी आज्ञा का पालन कराना किसी राष्ट्र द्वारा जो कि उस स्वीकारपत्र पर पक्षकार रहा हो सम्भव न होगा। किसी राष्ट्र का अवरोध उस विधि के लिए जिसके लिये कि वह सहमत हो गया है विधि की अधिकार शक्ति को लघु नही करता क्योंकि वह अवरोध सम्भवतः विजित नही किया जा सकता। इस प्रकार का अवरोध केवल उस अवरोधक राष्ट्र को उस विधि का भंगकर्ता बनाता है जिसके लिए वह अपनी मान्यता प्रदान कर चुका था, पर वह विधि जिसके स्थापित करने मे अवरोध करने वाला राष्ट्र पक्षकार रहा है, उसी प्रकार बनी रहती है। क्या यह सफलतापूर्वक प्रतिपादित किया जा सकता है कि चूंकि कोई मान्य व्यक्ति या व्यक्तियो का समूह तत्समय के लिये किसी स्थापित नागरिक विधि को अवरोध करने की शक्ति रखते तो ऐसी दशा में विधि का अस्तित्व ही नही है ? इस प्रतिपादन का उत्तर यही होगा कि विधि का अब भी अस्तित्व है भले ही तत्समय इसकी आज्ञापालन का प्रवर्तन कराना सम्भव न हो।

जे० एल० ब्रायरले (J. L. Brierly) के मतानुसार "किसी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अस्तित्व केवल इस बात का अवश्यभावी परिणाम है कि इस ससार मे बहुत से राष्ट्र हैं और वे अनिवार्यतः एक दूसरे के सम्बन्ध में आते हैं और एक साथ रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व का सर्वोत्तम साक्ष्य यह है कि प्रत्येक राष्ट्र, जो वास्तव में अस्तित्व रखता है यह मानता है कि इसका (अन्तर्राष्ट्रीय विधि का) अस्तित्व है, और वह अपने को इसके पालन के लिए बाध्य समझता है। राष्ट्र बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन कर सकते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे कि व्यक्ति बहुधा नागरिक विधियो का उल्लघन करते हैं। परन्तु वे भी अपनी प्रतिरक्षा इस आधार पर नही करते हैं कि वे कानून के बन्धन से परे हैं।"

इस प्रसग मे सर फ्रेडरिक पोलॉक (Sir Frederick Pollock) का निम्नलिखित कथन बहुत ही महत्वपूर्ण है —

"यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल एक प्रकार की नैतिकता होती तो राज्य की वैदेशिक नीति को बनाने वाले लोगों ने अपने तर्क बहुधा नैतिकता पर ही आधारित रखे होते। बल्कि वास्तव मे वे ऐसा नही करते।" (They appeal not to the general feeling of moral rightness, but to precedents, to treaties, and to opinions of specialists. They assume the existence among statesmen and publicists of a series of legal as distinguished from moral obligations in the affairs of nations"—Pollock, Oxford Lectures, 1890, p. 18). अर्थात् वे किसी औचित्य के लिए नैतिकता की सामान्य

भावनाओं का सहारा नही लेते बल्कि राष्ट्रो के प्रसंग मे पूर्व दृष्टान्तो, सन्धियं और विशेषज्ञो की सम्मतियो का आश्रय ग्रहण करते हैं।

सर सेसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst) का भी कहना है कि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अधीनता से परे नही हो सकता—"A state cannot escape from subjection to International Law."

पुनः ओपेनहेम के शब्दो मे—"विज्ञान और कला ने जो कि स्वभावतः अधिक सीमा तक अन्तर्राष्ट्रीय हैं, भिन्न-भिन्न राज्यो की प्रजाओं के बीच विचारो तथा सम्मतियो का निरन्तर आदान-प्रदान स्थापित कर दिया है। इनमे सबसे अधिक महत्व के कृषि-उद्योग और विशेषतः व्यापार हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही या जिसने कि भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के मध्य से प्रवाहित होने वाले महासागरो तथा नदियो पर यातायात स्थापित कर दिया। सास्कृतिक, वैज्ञानिक तथा मानवीय हितो ने अन्तर्राष्ट्रीय एकीकरण तथा संगठन की माग की है। लीग आफ नेशन्स (राष्ट्रसंघ), संयुक्त राष्ट्र सघ और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ के स्थायी अगो तथा सस्थाओ के अतिरिक्त बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय कार्यालय और अन्तर्राष्ट्रीय आयोग (कमीशन) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रकाशन के लिए स्थापित कर दिये गये हैं और हेग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित कर दिया गया है। यद्यपि राज्य व्यक्तिगत रूप से सार्वभौम सत्ता रखते हैं, एक दूसरे से स्वतंत्र हैं और उनके ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय शासन नही है तथापि उन्हें एकता के सूत्र मे बाँधने वाले कुछ समान हित अवश्य हैं जिनमे वे बँधे रहते है।"

यह बात सत्य है कि पंडित जवाहरलाल नेहरू कहते हैं कि जब कोई संकट जैसे युद्ध, उपस्थित होता है, सब विधियाँ समाप्त हो जाती हैं और अनुमानतः वे केवल वकीलों के वाद-विवाद मे रह जाती हैं। ओपेनहेम ने इस विषय पर समुचित प्रकाश डाला है। उनका कथन है कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन अवश्यमेव प्रायः किया जाता है, विशेषतः युद्ध के बीच मे। परन्तु अपराधी सर्वदा यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि उनके कार्य उल्लघन की सीमा तक नहीं पहुँचते, और उनको राज्यो की विधि द्वारा इस प्रकार कार्य करने का अधिकार है, अथवा राज्यो की विधि का कोई नियम उनके कार्यो के विरुद्ध नही जाता। वास्तव मे यह बात है कि राज्य जब 'राष्ट्रो की विधि' को भग करते हैं तो वे इसके अस्तित्व को कभी अस्वीकार नही करते, बल्कि वे 'राष्ट्रो की विधि' की इस प्रकार व्याख्या करने का प्रयास करते हैं कि जिससे उनका आचरण न्याय्य ठहरे और ऐसा करने मे उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पुनः-पुनः उल्लंघन इसके वैध प्रभाव को प्रायः समाप्त ही कर देता है तथापि यह साधारणतः बहुधा चिढ पैदा करने वाला—कथन है कि इसका प्रभाव बाध्यात्मक है, निरर्थक नही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दोष—इसमे सदह नही है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि एक कमजोर विधि है क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय विधान-व्यवस्था ऐसी शक्ति-सम्पन्न नही है जैसी कि किसी राज्य की विधान-व्यवस्था हुआ करती है। नियमित अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय-विधि का न तो कोई विधान-मडल है और न कोई अधिशासीवग। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय जो कि इसके न्यायाधिकारी वग का प्रतिनिधि स्वरूप है, का न तो कोई ऐसा अधिकार-क्षेत्र है जो सम्पूर्ण विश्व मे प्रभावशाली हो और न उसके निर्णय ही राष्ट्रो के बीच के झगडो को पूर्णरूप से निपटाने के लिए निश्चित मान जाते है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधान-मडल की बनाई हुई विधि नही है बल्कि यह उन रूढियो का समूह है जिनको सभ्य राष्ट्रो ने अपने एक दूसरे से व्यवहार मे पालन करने के लिए स्वीकार कर लिया है। पिट कॉबेट (Pitt Cobbett) महोदय ने तो यहाँ तक लिखा है कि "It is not only less imperative and less explicit than State Law, but it also lacks the coercive force of State Law." अर्थात् यह राज्यो द्वारा निर्मित विधियो से केवल कम प्रभावकारी या बाधित ही नही है बल्कि यह राज्य-निर्मित विधि की अवपीडक शक्ति (coercive force) मे भी पीछे रह जाती है। पेटन साहब के कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि सम्बन्धी पक्ष बहुत ही बलहीन है — कोई विधान-मडल नही है और यद्यपि एक न्यायालय वर्तमान है तथापि यह पक्षकारो की सम्मति से ही कार्य कर सकता है और इसमे अपने निर्णयो के प्रवर्तन की वास्तविक शक्ति नही है। यह बात सत्य है कि शान्ति के समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि कदाचित् ही भग की जाती हो। परन्तु ज्योही गभीर स्थितियाँ उत्पन्न होती है हम देखते हैं कि स्वीकृत नियमो की स्पष्ट रूप से उपेक्षा की जाने लगती है। ससार का लोकमत एक ऐसा विषय हो सकता है जिसकी हम सहज ही उपेक्षा न कर सके। तथापि किसी नियम भग करने वाले राष्ट्र से व्यवहार करना एक असभ्य पुरुष को उसके समुदाय से बहिष्कृत करने से ही कही अधिक कठिन है। अत यद्यपि आदिकालीन तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि दोनो मे विधि सम्बन्धी व्यवस्था का अभाव है तथापि आदिकालीन विधि की अनुशास्तियाँ वस्तुत. अधिक प्रभावपूर्ण होती हैं क्योकि ये व्यक्ति पर प्रवर्तित की जाती हैं न कि राष्ट्र पर। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की बलहीनता प्रधान न्यायाधीश लार्ड कालरिज (Lord Coleridge) द्वारा भी फ्रैंकोनियाँ विवाद (R. v. Keyn : The Franconia) मे इस प्रकार उल्लिखित की गई है :

"अपने कथन को नियमित करने पर 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' एक यथार्थरहित कथन हो जाता है और यदि हम इसकी निर्मूलता को ध्यान मे न रक्खें तो हम धोखे मे पड सकते हैं। 'विधि' शब्द से विधि का दाता और एक न्यायाधिकरण जो कि

इसे प्रवृत्त कराने तथा इसके उल्लंघन करने वालो को दंडित करने मे समर्थ हो, लक्षित होते हैं। सप्रभु राष्ट्रो के लिये न तो कोई समान विधि का दाता है और न कोई ऐसा न्यायाधिकरण है जो ऐसी शक्ति रखता हो कि अपनी डिगरियो द्वारा उन्हे बाध्य कर सके, या यदि कोई उल्लंघन करे तो उसे दंडित कर सके। राष्ट्रों की विधि उन रूढियो का समूह है जिसको सभ्य राष्ट्रो ने अपने एक दूसरे के प्रति व्यवहारो मे पालन करना स्वीकार कर लिया है। ये रूढियां क्या हैं अथवा कोई विशेष प्रथा स्वीकृत की गई है या नही यह साक्ष्य का विषय होना चाहिए। सन्धियो तथा राष्ट्र के अधिनियम कवल राष्ट्रो की स्वीकृति के साक्ष्य हैं और कम से कम इस देश मे स्वय न्यायाधिकरणो पर बाध्य नही हैं।"

उपरोक्त बातो के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि की निर्बलता इस बात से भी प्रकट होती है कि यह "राष्ट्रो के कुटुम्ब" को अथवा उसके अनुरूप किसी अन्तर्राष्ट्रीय सघ को उन विषयो मे हस्तक्षेप करने को अधिकृत नही करती जो कि प्रधानत किसी राष्ट्र के घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत हो और इस प्रकार इसका अधिकार क्षेत्र तथा प्रभाव सीमित हो जाता है। सयुक्तराष्ट्र-सघ को अन्तर्राष्ट्रीय विधि अधिशासन करने वाली सर्वोच्च सस्था के रूप मे अधिकार होना चाहिये कि वह किसी राज्य के घरेलू अधिकार क्षेत्र मे भी उस दशा में हस्तक्षेप कर सके जबकि कोई राज्य ऐसी बात का उल्लंघन करे जिससे मनुष्य का गौरव न्यून होता हो अथवा उसकी सामाजिक स्थिति के घटने की सभावना हो। इसके पश्चात् बहुत से विषय जैसे शुल्कदर (tariffs), अधिदान (bounties), व्यापार और बाजार इत्यादि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सीमा के बाहर पड़ते हैं और इसके स्वाभाविक कार्यों मे रुकावट डालते हैं। इन दोषो के अतिरिक्त कुछ लोग, राज्यों की राष्ट्रीयता की प्रबल भावना के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्वीकार करने को अब भी उद्यत नहीं हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि की असफलता का कारण विशेषत. यह भी है कि मनुष्य तथा राष्ट्रो में, जिनके विचार अभी प्रादेशिक हैं एक अन्तर्राष्ट्रीय नमूने का जीवन लादने का प्रयत्न किया जा रहा हैं। श्वर्जनबर्जर (Schwarzenberger) महोदय का कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीनस्थ लोग अत्यधिक स्वार्थ-केन्द्रित हैं और अन्तर्राष्ट्रीय समाज को कर्तव्यो को सौंपने के लिए वे उद्यत नही हैं, या वे उनको उचित रूप से पालन करने मे समर्थ न हो। उनका अन्त मे अपनी ही शक्ति पर निर्भर रहना एक सर्वागीण अथवा प्रभावशाली वैध व्यवस्था (legal system) के विकास के लिए बाधक है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नया झुकाव (New Trend in International Law)—एक नई अन्तर्राष्ट्रीय विधि तीव्रता से विकसित हो रही है। इसकी

नींव १९वी शताब्दी के मध्य से पडी। इस काल को हम एक दूसरे पर आश्रित रहने की प्रवृत्ति का काल कह सकते हैं। इस सुझाव की स्थिति की बहुत ही उपयुक्त व्याख्या अल्वरेज (M Alvarez) महोदय द्वारा की गई है। यह व्याख्या उन्होने अपने मतभेद जो कि 'Competence of the General Assembly for the Admission of a State to the United Nations' 'किसी राज्य को सयुक्त राष्ट्रो मे प्रविष्टि के संबध मे साधारण सभा के सामर्थ्य' मे प्रकट किया था, मे की गई है। उनका कथन है :—

'पहले विधि के नियम दृढ़ स्थापित अभिसमय (conventions) तथा रूढियो (customs) के अनुसार धीरे-धीरे विकसित किये गये अथवा ये नियम विधिकुशलो (jurists) द्वारा धीरे-धीरे विकसित किये गये। आजकल सामाजिक उलट-फेर के कारण जिसको हमने अभी पार किया है तथा लोगो के जीवन मे अद्भुत परिवर्तनशीलता के कारण तथा नये अन्तर्राष्ट्रीय सघ तथा उसके द्वारा बनायी गई संस्थाओ और उनके अगो के कारण और अन्त मे लोगो की आकाक्षायें तथा आधुनिक जीवन की आवश्यकताओ के कारण इन नियमो का विस्तार तीव्र गति से किया जा रहा है तथा कभी-कभी यह आकस्मिक भी हो जाता है। इस विस्तार के साधन पूर्वकालीन साधनो से भिन्न हैं और इस रीति मे ये कारण जिनका कि हमने अभी उल्लेख किया है अपना प्रभाव डालते हैं।

"यह साधारण सम्मति कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल राज्यो द्वारा ही बनाई जानी चाहिये, आज वैध नही है और न यह कभी वैध रही है।" उन्ही के शब्दो में— "The common view that the International Law must be created solely by States is, therefore, not valid to-day—nor indeed has it ever been."

"वास्तव में अभिसमयात्मक विधि (conventional law) के साथ-साथ रूढि विधि (customary law) भी है और इन सब के ऊपर उन विधि-वेत्ताओं के सिद्धान्त हैं, जिनको न केवल रूढियो के ही प्रतिपादन का अवसर है बल्कि जिन्होंने वे नियम बनाये हैं जिनको राष्ट्रो ने मान्यता दी है।

"भविष्य मे नये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिये हम किसी ओर से अधिक संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा विधि-वेत्ताओ की ओर देखेंगे।"

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार
(Basis of International Law)

परम्परा से दो प्रतिद्वन्द्वी सिद्धान्त हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार की विवेचना करते हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) मूल अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Fundamental Rights)—ब्रायर्ली (Brierly) का कथन है कि मूल अधिकारो का सिद्धान्त प्राकृतिक अवस्था (state of nature) के सिद्धान्त के साम्य मे है। इस सिद्धान्त मे स्वीकार किया गया है कि मनुष्य बिना किसी राजनीतिक समुदाय या राज्य के निर्माण के पूर्व भी भलीभाँति जीवन-निर्वाह किया करता था और उस समय भी मनुष्य की यही स्थिति थी जब कि राज्यो के ऊपर किसी बड़े राज्य की कल्पना नहीं की गई थी। अतः प्रत्येक राज्य के स्वत्व मे कुछ मूल, जन्मजात या प्राकृतिक अधिकार हुआ करते है—जैसे आत्म-रक्षा, स्वतन्त्रता, समानता, सम्मान और पारस्परिक सम्बन्ध।

ब्रायर्ली ने इस सिद्धान्त पर निम्नलिखित आधार पर अभ्याक्रमण किया है :—

(क) इस सिद्धान्त मे यह माना गया है कि मनुष्य या राज्य समाज मे अपने साथ कुछ स्वाभाविक अधिकार लेकर उत्पन्न होते हैं, जो कि समाज की सदस्यता के कारण उन्हे नही प्राप्त होते अपितु वे अधिकार उनके व्यक्तित्व मे निहित होते हैं, और इन्ही अधिकारो के द्वारा एक वैध व्यवस्था का निर्माण होता है; जब कि सत्य यह है कि वैध अधिकार (legal right) या वैध-व्यवस्था उस समय तक एक अर्थहीन शब्द है जब तक कि हम पहले उस वैध-व्यवस्था के अस्तित्व की कल्पना न कर ले जहाँ से इन्हे वैधता प्राप्त होती है।

(ख) राज्यो के समाज मे व्यष्टि-राज्य की स्वतन्त्रता की उतनी आवश्यकता नही है, जितनी कि उनमे एक सामाजिक संबंध को मजबूत करने की आवश्यकता है।

(ग) यह सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का अस्तित्व ही समाप्त कर देता है, क्योकि इसके अन्तर्गत राज्यो की प्रकृति मे ही स्वतन्त्रता की कल्पना की जाती है और इस बात की अवज्ञा हो जाती है कि राज्यो का मिलन केवल ऐतिहासिक विकास की अवस्था का परिणाम है।

(२) सहमति सिद्धान्त (Consent Theory)—ओपेनहेम कुछ अन्य विधि-वेत्ताओं के विचारो के अनुकूल यह विचार प्रकट करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूढ़ि नियम राष्ट्रों की सहमति से विकसित हुए हैं अर्थात् भिन्न-भिन्न राज्यो ने इस रूप मे कार्य किया है कि उससे उनकी अप्रकट सहमति इन नियमों के लिये प्रकट होती है। वे कहते हैं कि नये राज्य जिनका जन्म हुआ और जो प्रकट अथवा परोक्ष रूप मे स्वीकृति द्वारा राष्ट्रों के कुटुम्ब में प्रविष्ट किये गये उन्होंने अपने प्रवेश के समय अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के समूह को स्वीकृत कर लिया।

राज्यों की समान सहमति पर स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार पर कई कारणों से अभ्याक्रमण हो सकता है। सर्वप्रथम जैसा कि फेनविक (Fenwick) महोदय ने कहा है कि यह सिद्धान्त उन सहमतियों की विवेचना के लिये पर्याप्त नहीं है जिन पर कि सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आरम्भ से ही कार्य करती हुई प्रतीत होती हैं। लेखकों ने चाहे कैसी ही स्थिति स्वीकार की हो, लेकिन सरकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि को सर्वदा बाह्य विषयक प्रकृति के रूप में देखा है और इसे बाध्य इसलिए स्वीकृत किया है कि यह 'विधि' थी; उन्होंने इसलिए नहीं स्वीकार किया कि इसके पालन करने में उन्हें सुविधा मिली।

दूसरा यह कि समान सहमति का सिद्धान्त वास्तविक सहमति की एक प्रकार की कल्पना पर स्थित है। केलसन (Kelsen) महोदय का कथन है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि से अपनी इच्छा के बिना या अपनी इच्छा के विरुद्ध भी बाध्य हैं। उदाहरण के लिए ज्यों ही किसी नये राज्य का जन्म होता है त्यों ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा नियत सब अधिकार तथा कर्त्तव्य प्राप्त हो जाते हैं और उस राज्य के लिए यह आवश्यक नहीं होता कि वह सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्वीकृतिसूचक कोई कार्य करे। जिस प्रकार एक व्यक्ति स्वेच्छा से किसी राज्य की विधि के अधीन नहीं होता, वह तो उसकी इच्छा के न रहते हुए भी, उसकी इच्छा के विरुद्ध, उस पर बाध्य हो जाती है उसी प्रकार राज्य भी स्वेच्छापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन नहीं होता, वह तो उस पर स्वयम् बाध्य हो जाती है, चाहे वह उसको स्वीकार करे अथवा नहीं।

तीसरा यह तर्क है कि किसी राज्य को जिसे मान्यता दी गई है प्रकट अथवा परोक्ष स्वीकृति द्वारा राष्ट्रों के कुटुम्ब में प्रवेश करना यह व्यक्त करता है कि उस राज्य ने उस समय के प्रवर्तित सब नियमों के अधीन रहना स्वीकार कर लिया है, भ्रमोत्पादक है। कारण स्पष्ट है कि "मान्यता प्रदान करने का कार्य अन्य राज्यों का कार्य है न कि उस राज्य का जिसे मान्यता प्रदान की जा रही है।" मान्यता के प्रदान करने में राजनीति तथा राजनैतिक आवश्यकता का विचार अन्य बातों से अधिक प्रबल रहता है और इन्हीं के आधार पर यह प्रदत्त की जाती है। मान्यता-प्रदत्त राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की अन्य राष्ट्रों द्वारा नियमानुसार स्वीकृति यह प्रकट नहीं करती कि उस राष्ट्र ने सहमति दे दी है।

चौथा तर्क यह कि जैसा कि स्टार्क (Starke) महोदय ने कहा है "प्रयोग में जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय विधि या कोई विशिष्ट नियम विशिष्ट राज्य के विरुद्ध लगाये जाने की मांग की जाती है तो यह आवश्यक नहीं होता कि वह दिखलाया जाय

कि उस राज्य ने उस नियम को राजनैतिक रूप से स्वीकार कर लिया है। परीक्षण करने की कसोटी यह है कि"क्या वह नियम एक ऐसा नियम है जिसे राष्ट्रों के समाज ने साधारणतः स्वीकृत कर लिया है ?" स्मिथ (Smith) महोदय के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय विधि रूप से सब सभ्य राज्यो पर उनकी व्यक्तिगत स्वीकृति की अपेक्षा बिना ही बाधित है।" ("International Law as a whole is binding upon all civilised states irrespective of their individual consent. No state can by its own act release itself from the obligation either of the general law or of any well-established rule.")

अन्तिम रूप मे आयर्ली के शब्दो मे कहा जाता है कि सहमति के द्वारा आभार नही उत्पन्न किये जा सकते, यह केवल वहाँ तक बाध्य हो सकते हैं, जहाँ तक कि पक्षकार ने संधि या संविदा के रूप मे अपनी बाध्यता की सहमति प्रकट की है।

वास्तविक आधार :—अन्तर्राष्ट्रीय विधि का वास्तविक आधार जैसा कि ऊपर लिखा गया है यह है कि ससार की वर्तमान घटनाओं की स्थिति मे जब कि राजनैतिक विचारो, कला, साहित्य तथा वैज्ञानिक आविष्कारों मे अत्यधिक उन्नति हो गई है, कोई आधुनिक राज्य सबसे सम्बन्ध-विच्छेद करके अलग जीवन व्यतीत नही कर सकता है। यातायात के साधनो मे असाधारण उन्नति तथा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाओ के स्थापित होने के कारण सारा विश्व एक कुटुम्ब के रूप मे बँध गया है ; और इस पृथ्वी के किसी कोने मे होने वाली घटना का प्रभाव संसार के दूसरे भागो मे अवश्य पड़ता है। इसका परिणाम सर सिसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst) महोदय के कथनानुसार यह होता है कि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन से मुक्त नही हो सकता। इसी बात को कुछ भेद से हम इस प्रकार कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्यो पर बाधित इसलिए है कि वे राज्य हैं। कदाचित यह एक विचित्र स्थिति नही है जिस पर कि हम पहुँच जाते हैं, क्योंकि यह स्मरण रखना चाहिये कि राज्य के बारे में हमारी आधुनिक धारणा ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उत्पन्न की हुई है और वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के ही नियम हैं जिनके द्वारा राज्यों के अधिकार तथा कर्तव्य परिभाषित किये जाते हैं।

———

अध्याय २

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत

(Sources of International Law)

लारेंस के अनुसार यदि हम विधि के स्रोत का अर्थ विधि के आरंभ से लें और उसे सम्पूर्ण बाध्यता की शक्ति से अभिकृत मानें तो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के संबन्ध में विधि का केवल एक ही स्रोत है और वह है राष्ट्रों की सहमति। यह सहमति या तो अप्रकट हो सकती है अथवा परोक्ष। सहमति रूढ़ि द्वारा व्यक्त होती है अर्थात् आचरण के कुछ नियत नियम ऐसे हैं जिनको राज्य अपने पारस्परिक व्यवहारों में स्वभावतः प्रयोग करते हैं, भले ही उन्होंने ऐसा करने के लिए अपने को प्रतिज्ञा द्वारा शब्दों में बाध्य न किया हो। प्रकट सहमति सन्धियों द्वारा अथवा अन्तर्राष्ट्रीय प्रलेखों (international documents) द्वारा जिनका प्रभाव सन्धियों के ही समान होता है दी जाती है। परोक्ष सहमति अन्तर्राष्ट्रीय आचरण में सन्निहित होती है।

विधि के स्रोत के सम्बन्ध में ओपेनहेम महोदय की सम्मति भी वही है जो लारेन्स महोदय की है। वह कहते हैं कि कोई राज्य ठीक एक व्यक्ति के समान अपनी सहमति या तो सीधे प्रकट रूप में घोषणा द्वारा व्यक्त कर सकता है अथवा अप्रकट रूप में ऐसे आचरण द्वारा जिसे कि वह यदि सहमत न होता तो न करता। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत निम्नलिखित दो हैं :—

(१) प्रकट सहमति—यह उस अवस्था में दी जाती है जब कि राज्यों के बीच में कोई सन्धि होती है जिसमें पक्षकारों के भविष्य में आचरण सम्बन्धी कुछ नियम निर्धारित किये जाते हैं।

(२) परोक्ष सहमति—अर्थात् उपलक्षित सहमति अथवा आचरण द्वारा सहमति। यह उस दशा में दी जाती है जब राज्य अन्तर्राष्ट्रीय आचरण सम्बन्धी कुछ नियमों के अधीन रहने की रूढ़ि को अंगीकार कर लेते हैं।

ओपेनहेम महोदय के मतानुसार राज्यों की विधि के स्रोत केवल सन्धियाँ (treaties) तथा रूढ़ियाँ (customs) ही मानी जानी चाहिये।

प्रोफेसर ब्रायरले (Brierly) रूढ़ियों तथा युक्तियों (reasons) को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मुख्य स्रोत बताते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (संयुक्तराष्ट्र संघ के अधिपत्र द्वारा स्थापित) की सविधि के अनुच्छेद ३८ (१) में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत की परिभाषा निम्न प्रकार से दी गई है :—

१ अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (international conventions) चाहे सामान्य हो अथवा विशिष्ट; किन्तु जिनके द्वारा वे नियम स्थापित किये जायें उनको प्रतिस्पर्धी राज्यो ने प्रकट रूप से स्वीकर कर लिया हो (वे शुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुरूप हैं) ।

२. अन्तर्राष्ट्रीय रूढियाँ (international customs) विधि के समान स्वीकृत सामान्य रीति के साक्ष्य के रूप मे ।

३. सभ्य राज्यो द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त ।

४. अनुच्छेद ५६ के उपबधो के अधीन न्यायिक निर्णय और भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के उत्कृष्ट योग्यता वाले लेख-कुशलो की शिक्षाये, विधि के नियमो के निर्धारण करने के लिये सहायक साधनो के रूप मे ।

अनुच्छेद ५६ मे यह उपबन्धित है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का निर्णय पक्षकारो के मध्य मे तथा किसी विशिष्ट मामले मे ही बाध्यकारी प्रभाव रखता है, इनको छोडकर और किसी मे नही ।

उपर्युक्त कथन के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य स्रोत जिनका कि उल्लेख किया जा सकता है वे यह हैं :—

अन्तर्राष्ट्रीय शिष्टाचार, सधियो के अतिरिक्त राज्यो के प्रलेख (documents), राज्यो के अपन पदाधिकारियो तथा न्यायाधिकरणो के मार्गप्रदर्शन के लिए आदेश, अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो के प्रस्ताव, पार्लियामेटो के नागरिक अधिनियम, नागरिक न्यायालयो के निर्णय और न्याय-परामर्शदाताओ या सिद्धान्त-विषयक पुस्तक-लेखकों की सम्मतियाँ ।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मुख्य स्रोत की यथाक्रम गणना के उपरान्त यह उचित होगा कि उनमे से प्रत्येक की कुछ विस्तारपूर्वक व्याख्या कर ली जाय ।

१. सन्धियाँ (Treaties)—ये अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सबसे मुख्य स्रोत हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र मे, एक राज्य के भीतरी विधान-मडलो के समान, कोई ऐसा विधायी अग नही है जिसके बनाये अधिनियम सब राष्ट्रो पर बाध्य हो सकें। तथापि पक्षकार सन्धि द्वारा सविदा करके कोई ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सगठन स्थापित कर सकते हैं और उसे प्राधिकृत कर सकते हैं कि उसके प्रस्ताव उन पर बाध्य हों अथवा वे अपने पारस्परिक आचरण के लिये नियम भी निर्धारित कर सकते हैं। इस अर्थ मे बहुपक्षी सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय विधान के लिये एक बहुत ही दुर्बल साधन हैं ।

सन्धियो को दो वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है :—(१) विधि-विधायक सन्धियाँ जो ऐसे सामान्य नियम निर्धारित करती हैं जो राज्यो पर बाध्य

होते हैं अथवा राज्यो को भविष्य मे मार्गप्रदर्शन के लिये या उनके भावी अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के लिये नये सामान्य नियम घोषित करती है।

(२) सन्धि संविदाये जो सविदा करने वाले राज्यो के बीच किसी विशेष विषय का ही निपटारा करती हैं।

केवल विधि निर्मित करने वाली सन्धियां ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्रोत हैं और अन्य प्रकार की द्विपक्षी सन्धियां नही।

विधि निर्मित करने वाली सन्धि मे स्पष्ट रूप से दो भिन्न क्रियायें होती हैं :—

(अ) एक वैधानिक कार्य जिसके द्वारा नियम निर्धारित किये जाते हैं; और

(आ) उन नियमो के अनुरूप कार्य करने के सविदाकर्त्ता पक्षकारो के वचन।

विधि निर्मित करने वाली सन्धियो के उदाहरण निम्नलिखित हैं :—

(क) भिन्न-भिन्न शान्ति-सन्धियां, उदाहरणार्थ वेस्टफेलिया की सन्धि (१६४८), पेरिस की सन्धि (१८१५) और वर्सलीज की सन्धि (१६१६); जिन्होंने वैधानिक चार्टर को जन्म दिया।

(ख) पेरिस की घोषणा (१८५६), जेनेवा कन्वेन्शन्स, १८६४, १६०६, १६२६ और १६४६, स्वेज नहर की प्रतिज्ञा, (१८८८), हेग कन्वेन्शन १८६६ तथा १६०७, लीग आफ नेशन्स का प्रसविदा (१६२०), पोत-चालन योग्य जल-मार्ग तथा सक्रमण स्वतन्त्रता सम्बन्धी बार्सिलोना की प्रतिज्ञाये (१६२१), केलोग-ब्रिआण्ड पैक्ट (१६२८), युद्ध-त्यागार्थ सामान्य सन्धि तथा स्ट्रेट्स सम्बन्धी मैन्ट्रो प्रतिज्ञायें (१६३६) तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का शासपत्र (Charter) (१६४५); जो कि शुद्धरूप मे विधि निर्मित करने वाली सधियां हैं।

इस विषय में कोई सन्देह नही है कि सन्धि की शर्तें अन्तर्राष्ट्रीय रूढि विधि के नियमो से कही अधिक मान्य हैं। रूढ विधि के नियम संधि की शर्तों की तुलना नही कर सकते हैं। यह बात विम्बलेडन (S. S. Wimbledon) सम्बन्धी निर्णय मे स्वीकार की गई है। उस निर्णय मे अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने यह राय प्रकट की है कि रूढि-विहित विधि के आगे सन्धिविहित विधि की प्रधानता है।

२. रूढ़ियां (Customs)—ये विधि के प्राचीन और मौलिक स्रोत हैं, यद्यपि गत शताब्दी के मध्य से रूढियो ने अपनी प्रधानता अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो के समक्ष खो दी है। ऐसी दशा में भी ये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वितीय मुख्य स्रोत उस सीमा तक हैं जहाँ तक कि ये विधि रूप मे स्वीकृत किसी सामान्य रीति के साक्ष्य हो। सन्धियो की व्याख्या मे भी सदिग्धावस्था मे रूढ़ियो का बहुधा निर्देश किया जाता

है । रूढियाँ इस प्रकार के नियम सदृश् हैं जो कि एक दीर्घकालीन ऐतिहासिक क्रम के उपरान्त विकसित हुए हैं और जिनको अन्त मे अन्तर्राष्ट्रीय समाज ने स्वीकार करके विधि का स्थान दिया है ।

रूढ़ि तथा प्रथा (Custom and Usage)—दो शब्द 'रूढि' तथा 'प्रथा' प्राय. एक दूसरे के बदले प्रयोग मे लाये जाते हैं परन्तु इन दोनो के बीच एक स्पष्ट पारिभाषिक अन्तर है । जिस प्रकार प्रात सूर्योदय से पहिले का धुँधला प्रकाश दिन के प्रकाश मे तथा सन्ध्या का धुँधला प्रकाश रात्रि के अन्धकार मे विलीन हो जाता है उसी प्रकार प्रथा रूढि मे विलीन हो जाती है । प्रथा का अन्त रूढि का प्रारभ है । प्रथा अन्तर्राष्ट्रीय आचरण की एक प्रकृति है जिसे अभी पूर्णवैध साक्ष्यकन या प्रमाणन (attestation) न मिला हो । प्रथाये परस्पर विरोधी हो सकती हैं किन्तु रूढि एकरूप तथा आत्मसगत होनी चाहिए । ओपेनहेम महोदय भी रूढि तथा प्रथा के भेद को इन्ही शब्दो मे वर्णन करते हैं । वे कहते हैं—"अन्तर्राष्ट्रीय विधि-वेत्ता कहते हैं कि जब कुछ कार्यों को करने की एक स्पष्ट तथा अप्रतिहत प्रवृत्ति इस दृढ विश्वास की छत्रछाया मे विकसित हो जाती है कि वे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार बाध्य हैं अथवा उचित हैं तो इसे रूढि कहते हैं।" (International jurists speak of a *custom* when a clear and continuous habit of doing certain actions has grown up under the aegis of the conviction that these actions are, according to International Law, obligatory or right.) "इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय विधिवेत्ता कहते हैं कि जब कुछ कार्यों को करने की प्रवृत्ति इस दृढ विश्वास के बिना विकसित होती है कि वे कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार बाध्य हैं अथवा उचित है तो इसे प्रथा कहा जा सकता है । अत अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र की भाषा मे 'रूढि' शब्द से जो अर्थ प्रकट होता है वह 'प्रथा' शब्द द्वारा प्रकटित भाव से अधिक सकुचित है क्योंकि कोई दी हुई आचरण विधि (तरीका) रूढि हुए बिना भी सामान्यतया व्यवहृत की जा सकती है ।"

आजकल इस प्रकार की विचारधारा बढती जा रही है कि रूढि की प्रवृत्ति केवल घोषणात्मक है न कि सगठनात्मक । यह दृष्टिकोण भी अपना अधिक प्रभाव रखता है और यह प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान के अनुच्छेद ३८ के उपबध से और भी अधिक बढ जाता है । उसमें विधि के एक स्रोत की परिभाषा दी गई है—"अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि, विधि-रूप मे अगीकृत किसी सामान्य रीति व साक्ष्य के रूप मे ।"

किसी अन्तर्राष्ट्रीय रूढि को राज्य पर बाधित बनाने के लिए आवश्यक नहीं है कि वह राज्य उस रूढि के विकास का एक पक्षकार रहा हो। जब कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का स्वेच्छया सदस्य बन जाता है, तो वह अन्य-मान्य राष्ट्रों व रूढि-कानूनों के अधीनस्थ कर देता है । किन्तु, यदि परिस्थिति-विशेष मे कोई राज्य

अन्य राज्यों द्वारा निर्मित रूढ़ियों का पालन न करना चाहे, या उसके विरुद्ध करना चाहे, तो उसे बाध्य नहीं किया जा सकता है।

३. विधि के सामान्य सिद्धांत (The General Principles of Law)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (statute) न्यायालय को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दो मुख्य स्रोत 'अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय लोकरीतियों तथा रूढ़ियों' के अतिरिक्त, सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त भी लागू करने को प्राधिकृत करता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इस सहायक स्रोत से उन दशाओं में, जहाँ कि सन्धियों का प्रमाण देना अथवा इस बात का साक्ष्य देना कठिन होता है कि विधि का कोई सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि-विधि का अंग बन जाता है, न्यायालय को तुल्य दृष्टान्त के रूप में सम्बद्ध की जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय विधि के शुद्ध अर्थ तथा विकास को पूर्णतया विचार में रखते हुए, न्याय तथा समता के सिद्धान्तों पर विश्वास करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान में इस खंड के समावेश से स्थिर नियम द्वारा लगाये हुए अर्थ का खंडन हो जाता है जिसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों को अपने निर्णय निर्धारित कर सकने के लिए केवल सन्धियाँ तथा रूढ़ियाँ ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मान्य स्रोत हैं। यह बात इस पक्ष के भी विरुद्ध पड़ती है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को मौलिक वैध सिद्धान्तों के अनुसार निर्णय करने के लिये लचीलापन नहीं है।

फिलिमूर (Phillimore) महोदय द्वारा रेग० बनाम केईन (Reg v. Keyn) में यह मत प्रकट किया गया है कि "राष्ट्रों की विधि न्याय, साम्य, सुविधा तथा विषय-हेतु पर स्थापित की गई है और दीर्घकालीन प्रथा द्वारा पुष्टीकृत कही जाती है"। (The law of nations is said to be founded upon justice, equity, convenience and the reason of the thing, and confirmed by long usage.)

४. न्यायिक निर्णय, न्यायाधिकरण, समुद्र में अभिगृहीत सम्पत्ति सम्बन्धी समुद्री सेना विभाग के नौ-जितमाल न्यायालय (Prize Courts)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि विधान के अनुच्छेद ३८ में यह निर्देशित किया गया है कि विधि के नियमों को निर्धारित करने के लिए न्यायाधिकरणों के न्यायिक निर्णय सहायक साधनों के रूप में है। तर्क-वितर्क में तथा निर्णय में अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि के साक्ष्य के रूप में उनपर बहुधा विश्वास किया जाता है और तथ्यत: उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उन्नति में अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की है। परस्पर विरोधी राज्यों की संयुक्त सहमति द्वारा नियुक्त मिश्रित न्यायाधिकरणों के निर्णयों को केवल एक राज्य द्वारा नियुक्त समुद्री सेना-विभाग के न्यायालयों के निर्णयों से अधिक गौरव (मान्यता) प्रदान किया जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि के ५९वे अनुच्छेद

मे जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है यह उपबन्धित है कि न्यायालय के निर्णय पक्षकारों तथा उस विशिष्ट विषय को छोडकर अन्यत्र बाध्य नही हैं, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के प्रथम स्थायी न्यायालय तथा उसके उत्तराधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, दोनो मे ससार को मुख्य विधायी पद्धतियो का विस्तृत प्रदर्शन किया गया है तथा न्यायालयों के न्यायाधीशो की उच्चकोटि की ख्याति एव निष्पक्षता की दृष्टि से उनके निर्णयो को न्यायिक पूर्व दृष्टान्त के वास्तविक गुणो से युक्त माना गया है।

राष्ट्र-न्यायालयों के निर्णय (Decisions of Municipal Courts)—विधि के स्रोत के रूप मे राष्ट्र-न्यायालयो (Municipal Courts) के निर्णयो को वैसी ही मान्यता नही प्रदान की जाती जैसी कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयो के तथा न्यायाधिकरणो के निर्णयो को। ऐसे न्यायालय सामान्यतया लिखित सविधान के स्पष्ट उपबन्धो के विरुद्ध पडने वाली अन्तर्राष्ट्रीय विधि को लागू नही करते। ब्रिटिश न्यायालयो की यह रीति है कि वे सरकार तथा विदेशीय राज्यो के बीच में हुई, परन्तु पालियामेन्ट से अप्राप्त स्वीकृत सन्धियो को यदि उनके द्वारा सामान्य अथवा वैधानिक विधि का रूपभेद होता हो, तो स्वतः लागू नही करते। बहुत से देशो मे जहाँ न्यायालयो के समक्ष राजनीति विषयक प्रश्न उपस्थित होते हैं, कार्यपालिका को बहुत बडे अधिकार होते हैं।

थर्टी हॉग्सहेड्स बनाम बॉयल (Thirty Hogsheads v. Boyle) वाले वाद मे मुख्य न्यायाधीश मार्शल (Chief Justice Marshall) द्वारा यह मत प्रकट किया गया था कि "प्रत्येक देश के न्यायालयो के निर्णय जहाँ तक वे एक ऐसी विधि पर स्थापित हैं जो कि प्रत्येक देश के लिए समान है प्रमाण रूप मे नही, बल्कि सम्मान की दृष्टि पर स्वीकार किये जायेगे।"

प्राइज कोर्टस (Prize Courts)—इन्हें नौजित माल न्यायालय या समुद्री लूट न्यायालय भी कह सकते हैं। ये न्यायालय योद्धा-राष्ट्रो द्वारा अपने क्रूज़रो के अभिग्रहण की वैधता को निर्णय करने के प्रयोजन से स्थापित किये जाते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि को किसी विशिष्ट राज्य द्वारा निर्धारित विधि के रूप मे नहीं, बल्कि एक ऐसी विधि के रूप मे प्रयुक्त और कार्यान्वित करते हैं जिसका कि प्रारम सभ्य-राष्ट्रो द्वारा अपने पारस्परिक व्यवहारो मे दीर्घकाल तक पालित रीति-रिवाजो अथवा प्रकट अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृतियो मे होता है। इसमे सन्देह नही है कि वे पालियामेन्ट के अधिनियमो से बाध्य हैं, परन्तु यदि वे (अधिनियम) राष्ट्रो की विधि से असगत हो तो ऐसे अनुबन्धो को प्रभावयुक्त करने मे प्राइज कोर्ट्स के तत्समय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रयोग समाप्त हो जायेगा। ऐसे उपबन्धो से व्याप्त क्षेत्र में उनका प्राइज-कोर्ट के रूप मे अधिकार अपहृत हो जायेगा। लॉरेंस महोदय का मत है कि

सौभाग्यवश राष्ट्रो द्वारा ऐसी संधियाँ कदाचित् ही की जाती हैं। अत: प्राइज कोर्ट्स के निर्णय, उनके न्यायाधीशो को विद्वत्ता, योग्यता तथा निष्पक्षता की ख्याति के अनुसार मान्य किये जाते हैं। लॉर्ड स्टॉवेल, डॉ० लुशिंगटन, केन्ट तथा स्टोरी (Lord Stowell, Dr. Lushington, Kent and Story) के समान प्रमुख विद्वानों द्वारा दिये गये निर्णयो की जिनसे उत्कृष्ट योग्यता प्रकट होती है अंग्रेजी तथा अमरीकी विधि-दृष्टान्त-पुस्तिकाओ ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है।

५. मूल पाठ के लेखक (Text-writers), विधि-वेत्ताओं के कार्य (Acts of Jurists) और टीकाकार (Commentators)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि अनुच्छेद ३८ न्यायालय को विधि के नियम निर्धारण करने के लिए इस विषय पर भिन्न-भिन्न राष्ट्रो के सर्वोत्कृष्ट योग्यता रखने वाले प्रवीण लेखको की शिक्षाओ को सहायक साधन के रूप मे लागू करने को प्राधिकृत करती है। पहली बात तो यह है कि लेखको की कृतियो का अन्तर्राष्ट्रीय विधियो के निर्माण मे एक महत्वपूर्ण स्थान रहता है। "वैज्ञानिक महत्व, निष्पक्षता और राज्यो के कार्यों की वैध सिद्धान्तो पर आलोचना करने का उनका दृढ निश्चय," इस महत्व को और भी बढा देता है। दूसरी बात यह है कि लेखको की रचनाएँ स्वतन्त्र रूप से विधि के लिए स्रोत नही हैं। यह सही है कि वे कालान्तर मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के रूप-निर्धारण में सहायक होती हैं क्योकि उनके द्वारा ऐसे साक्ष्य उपस्थित किये जाते हैं कि वस्तुत विधि क्या है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधिशास्त्र सम्बन्धी लेखको के महत्व पर संयुक्त राष्ट्र के सुप्रीम कोर्ट के मिस्टर जस्टिस ग्रे द्वारा पैकीट हवाना (The Paquete Habana) वाले मामले मे निम्नलिखित शब्दो मे बल दिया गया .

"उन स्थानो मे जहाँ कोई सन्धि नही है और कोई नियन्त्रक प्रशासकीय अथवा वैधानिक अधिनियम या न्यायिक निर्णय नही है, उन दशाओ मे इनके साक्ष्य के रूप मे सभ्य राष्ट्रो की रूढियो तथा प्रथाओ और विधिशास्त्र-विशारदो और टीकाकारो की कृतियो का जिन्होंने वर्षों के परिश्रम, अनुसन्धान और अनुभव द्वारा अपने लक्ष्य विषयो का विशेष ज्ञान प्राप्त कर लिया है, आश्रय लिया गया होगा। न्यायाधिकरणो द्वारा उनका आश्रय, विधि क्या होनी चाहिये इस सम्बन्ध मे उनके लेखको की कल्पना के लिए नहीं बल्कि विधि वास्तव में क्या है इसके विश्वासनीय साक्ष्य के लिये लिया जाता है।"

जुडिशल कमेटी के न्यायाधीशो ने भी पायरेसी जूरे जेण्टियम (Re. Piracy Jure Gentium) वाले मामले मे यह निर्धारित किया कि मूलपाठ लेखको के

कृतित्व अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोतो मे से सबसे अन्तिम स्रोत हैं लेकिन उनका महत्व किसी से कम नही है।

अयाला, जेंटिलिस, ग्रोशस, वेटल, केन्ट, जाउचे (Ayala, Gentilis, Grotius, Vattel, Kent, Zouche) इत्यादि ये लेखको ने कम समय मे ही प्रथा का झुकाव रूढि की ओर कर दिया है, और रूढि ने विधि के एकीकरण मे प्रबल साधक का काम किया है।

लॉरेन्स महोदय को यह सम्मति है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का लेखक एक अर्थ मे स्वय विधि-निर्माता है क्योकि वह उस सम्मति को जन्म देता है जो वास्तव मे श्रेष्ठ है। उसके तर्कों की प्रबलता के कारण कोई नियम समय आने पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि का भाग हो सकता है, परन्तु जब तक उसे सामान्य स्वीकृति प्राप्त न हो और वह राज्यो की प्रथाओ म सम्मिलित न कर लिया जाय लेखक को यह नही कहना चाहिये कि यह विधि है।

क्वीन बनाम कयन (Queen v Keyn) म ब्रेट् (Brett J A) ने यह प्रश्न उठाया कि विधि-वेत्ताओंकी समान सहमति अथवा मौन स्वीकृति का प्राधिकार क्या है—"What is the authority of a common agreement or acquiescence of jurists ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा गया है कि लेखको तथा राजनीतिज्ञो का प्रमाण राष्ट्रो की विधि के सिद्धान्तो के रूप तथा लक्षण वर्णन करने मे ग्रहण करना चाहिये और यदि ऐसे लेखक और राजनीतिज्ञ विभिन्न राष्ट्रो के और भिन्न भिन्न समय के हो और वे किसी सामान्य सिद्धान्त पर सहमत हो जो अनुचित न हो तो ऐसी सहमति राष्ट्रो की समान सहमति के साक्ष्य के रूप मे ग्रहण की जा सकती है और उसके द्वारा राष्ट्रो की विधि बनती है।"

ग्रोशस ने राष्ट्रो की विधि का विकास दार्शनिको, इतिहासकारो, कवियो और यहाँ तक कि वक्ताओ का भी प्रमाण दे कर किया, इसलिए नही कि उन पर बिना विवेक के भरोसा किया जाय, वरन् इसलिए कि जहाँ भिन्न-भिन्न युगो तथा देशो के व्यक्ति एक ही कथन मे सहमत हुये हो तो ऐसा भाव अथवा कर्त्तव्य निर्देश किसी सामान्य हित के लिए कहा जा सकता है।

व्हीटन (Wheaton) का तो यहाँ तक कहना है कि "Without wishing to exaggerate the importance of these writers, or to substitute, in any case, their authority for the principles of reason, it may be affirmed that they are generally impartial in ther judgment They are witnesses of the sentiments and uages of civilised nations, and the weight of their testimony increases every time that their authority is invoked by statesmen, and every year that passes without the rules laid down in their works being impugned by the avowal of contrary principles"

६. अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य (International Comity)—ओपेनहेम का मत है कि एक विशेष प्रकार का तत्व जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि को प्रभावित करता है वह तथाकथित सौजन्य है। अपने पारस्परिक सहयोग मे राज्य केवल ऐसे ही नियमो का पालन नही करते जिससे वे वैध रूप से बाध्य हो अथवा प्रथाओ का लक्षण रखते हो, किन्तु ऐसे नियमों का भी जिनसे विनय (Politeness), सुविधा (Convenience) और कीतित्व या सद्भावना (Goodwill) प्रकट होती हो। अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के ऐसे नियम विधि के नियम नही हैं बल्कि वे सौजन्य के नियम हैं। राष्ट्रो का सौजन्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्रोत नही है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य क बहुत से पहले के नियम आजकल अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम हैं।

७. सन्धियों के अतिरिक्त अन्य अन्तर्राष्ट्रीय राज पत्र (State Papers)—राज्यो के बीच उत्पन्न होने वाले विवादो की सरकारी न्याय-विशारदो द्वारा उत्कृष्ट विद्वत्ता तथा योग्यता से राज-पत्रो (State Papers) मे प्राय. विवेचना की जाती है। वे अपनी लिखित सम्मतिया अपनी-अपनी सरकारों को गुप्त रीति से देते हैं। कभी कभी अन्तर्राष्ट्रीय विवाद किसी विवादग्रस्त वैध विषय को स्पष्ट कर देता है अथवा उन सिद्धान्तो का उपयोग बढा देता है जिनको पहिले एक अव्यावहारिक स्वीकृति से अधिक और कुछ न मिला हो। प्रत्येक देश के विदेशीय कारोबार विभाग के अभ्यरक्षागृहो मे विशेषज्ञो की अमूल्य सम्मति का ढेर पडा है जो यदि प्रकाशित किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य मे विशेष रूप से वृद्धि हो सके।

८. अपने अधिकारियों के निर्देश के लिए राष्ट्रों के अनुदेश—विद्वानो द्वारा की गई घोषणाएँ या उनके कार्य, राज्य सरकारो को दी गई वैध सलाह और राज्य की सरकार द्वारा किये गये विवादो के सम्बन्ध मे विधि-अधिकारियों के परामर्श अथवा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के अन्य राज्यिक पत्रो, इन सबके द्वारा उन प्रथाओ का साक्ष्य मिलता है जो समयानुसार वे अन्य राज्यो द्वारा ज्यो-ज्यो अगीकृत होती गई रूढ़ि मे परिणत हो जाती हैं।

६. आधुनिक विधि व्यवस्था मे तर्क का स्थान (Place of 'Reason' in the modern system)—न्यायिक तर्क जो कि "पूर्ववर्ती दृष्टान्तो, विवेचनाओ के परिणामो, और प्रवर्तित कानूनो के भीतर पाये जाने वाले सिद्धान्तो की आकस्मिक उपेक्षा" आदि पर निर्भर हैं, "वैध माने जाते है और राज्यो मे अनवरत-रूप से व्यवहृत होते हैं—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के निर्णयो मे और वैदेशिक कार्यालयो द्वारा एक दूसरे के प्रसग मे दिये गये तर्कों मे दोनो रूपो मे ये मान्य हैं।" यदि कोई ऐसा विवाद उठ खडा होता है जिसके नियन्त्रण करने के नियम नही हैं, तो फिर यह कार्य विधि-शास्त्र का हो जाता है कि वह सामान्य सिद्धान्तो और उपस्थित प्रसग के तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए विवादग्रस्त अधिकारों और हितो का निपटारा करे।

अध्याय ३

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का इतिहास

(History of International Law)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि किसी न किसी रूप मे प्राय. सब देशो और सब युगो मे विद्यमान रही है। ऐसी दशा मे इसकी उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन है। यह सत्य है कि 'राष्ट्रो के कुटुम्ब' अथवा 'एक ससार' की धारणा प्राचीन जगत के लिये विदेशी थी किन्तु राष्ट्र एक-दूसरे के सपर्क मे आये और इस सपर्क के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होने लगे तथा सन्धियाँ, युद्ध की घोषणाये तथा उनके सचलान सम्बन्धी नियम, सन्धियाँ तथा राजनैतिक विशेषाधिकार उत्पन्न हुए। भारतीयो, यहूदियो, यूनानियो, तथा रोम देशवासियो का इतिहास ऐसे उदाहरणो से भरा हुआ है। ज्यो-ज्यो सभ्यता मे उन्नति होती गई त्यो त्यो सभ्य राष्ट्रो के पारस्परिक व्यवहारो को नियन्त्रित करने वाले नियम अधिकाधिक स्पष्ट होते गये, यहाँ तक कि अब राष्ट्रो के लिये चाहे वे बडे हो या छोटे, सबसे सम्बन्ध-विच्छेद करके एकाकी रहना असम्भव हो गया है।

हिन्दू—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के चिह्न, राजदूतो के विशेषाधिकार, सन्धियाँ तथा युद्ध की घोषणाये और उनके सचालन-सम्बन्धी नियमो के रूप मे प्राचीन भारत के इतिहास मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध हैं। रामायण तथा महाभारत के महाकाव्यो मे यद्यपि प्रधानरूप से धार्मिक विवेचन प्रधान विषय है तथापि उनमे युद्ध, शान्ति तथा तटस्थता के नियमो और प्रथाओ को लक्ष्य करके बारबार निर्देश किया गया है। वे राजदूतो अथवा युद्ध के मध्य मे सदेशवाहक दूतो की अवाध्यता को उचित महत्व देते हैं। हिन्दुओ की धर्म-पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता मे जिसकी शिक्षाओं को भारत से बहुत दूर के देशो ने भी ग्रहण कर लिया है धर्म तथा अधर्म-युद्धो का पूर्ण रूप से वर्णन है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन से, जो कातरतावश कर्तव्य-च्युत हो रहे थे, कहा है—'क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त से अधिक और कोई वस्तु अभिमत नही है और क्षत्रियों मे कोई बिरले ही ऐसे होते हैं जिनको युद्ध के लिये, जो कि स्वर्गप्राप्ति का खुला द्वार है ऐसा अवसर बिना मांगे प्राप्त हो जाता है। यदि तुम यह धर्मयुद्ध न करोगे तो तुम कर्तव्य-च्युत हो जाओगे, अपनी कीर्ति को खो दोगे और तुम्हें पाप लगेगा (अध्याय २. श्लोक ३१—३३)।" इसी स्थान पर इस बात की आवश्यकता पर भी महत्व दिया गया है कि युद्ध की घोषणा पहले उभय पक्ष मे योद्धाओ द्वारा शंख बजाकर होनी चाहिये।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा कामन्दकीय नीतिशास्त्र मे सरकारी तथा विदेशी कार्यों के सचालनार्थ विस्तृत नियम निर्धारित किये गये हैं। कौटिल्य इस पक्ष के समर्थक हैं कि युद्ध मे नीति के सिद्धान्त अथवा धर्म का पालन त्याग देना चाहिये।

मनु ने धर्मयुद्ध तथा अधर्मयुद्ध के भेद का वर्णन किया है। उन्होने कहा है कि एक वीर क्षत्रिय के लिये धर्मयुद्ध मे प्राण देने से अधिक और कोई पुण्य का कार्य नही है। उन्होने युद्ध मे गुप्त अथवा विषैले शस्त्रो का उपयोग, शत्रु की सम्पत्ति का मर्यादाहीन विनाश तथा घायल योद्धा का वध वर्जित किया है। आत्म-समर्पण करने वाले शत्रुपक्षीय व्यक्तियो का वध करना अथवा उनको घायल करना वर्जित था। उन्होने मन्दिरो की अभग्नता स्वीकार की है तथा युद्धबन्दियो और लडाई मे भाग न लेने वालों को उन्मुक्ति प्रदान की है। प्राचीन हिन्दू सन्धियो को बडे आदर की दृष्टि से देखते थे।

मुसलमान—भारत के मुसलमान-बादशाहो ने भी कुछ विदेशी राष्ट्रो से सम्बन्ध स्थापित किया था। उन्होने यूरोपीय देशो के राजदूतो का सत्कार किया और सन्धियाँ भी की परन्तु उनके अन्तर्राष्ट्रीय विधि-सम्बन्धी विचार अविकसित थे। उनके यहाँ केवल वे ही नियम परिभाषित हैं जिनमे मुसलमान राज्यो का तथा जनता का सम्बन्ध उन राज्यो से तथा जनता से जो मुसलमान नही हैं कैसा होना चाहिये परन्तु उनका भी आधार कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था अथवा सौजन्य नही है। मुसलमानो का राज्यकाल ऐसे उदाहरणो से परिपूर्ण है जब इस्लाम की रक्षाके लिये किसी विदेशी अथवा शत्रु अमुसलमान राष्ट्र म लडाई लडी गई जिसे जेहाद कह कर पुकारा जाता है। परन्तु यदि अमुसलमान विदेशी राज्य अथवा उसकी प्रजा इस्लाम ग्रहण कर लेती थी तो कोई लडाई नही की जाती थी।

यहूदी—यहूदी लोगों की विधियाँ उनके राज्य में रहने वाले विदेशियो के लिये भी वही थी जो अपने लिये थी, यथा "विदेशियो से प्रेम करो क्योकि मिश्र देश मे तुम भी विदेशी थे।" *Love... the stranger for ye were strangers in* the land of Egypt." (Deuteronomy अध्याय १०, श्लोक १६)। तथापि बाइबिल को एक बार पढने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहूदी लोग एकश्वरवाद के कारण दूसरे लोगो को, जो कि अनेक देवताओ मे विश्वास रखते थे अपने बराबर का नही स्वीकार करते थे। युद्ध के सब नियमों को धूल मे फेंक कर उन्होने उनके साथ निर्दयता से लडाइयाँ लडी। यहूदी लोग मित्र-राष्ट्रो से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध रखते थे। उन्हो ने सधियो का निष्कपटता से पालन किया और राजदूतों को पवित्र आत्मा के समान समझा।

यूनानी—यूनानी लोग अपने पडोसियो से अधिक सभ्य थे और वे उ जगली जातियो के समान समझते थे । अहकार के कारण उनको अपने पडोसी राष्ट्रो के साथ पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करने मे बाधा पडती थी । यूनानी लोग असख्य छोटे नगर-राज्यो मे रहते थे जो कि एक दूसरे से स्वतन्त्र थे । इन राज्यो के निवासी एक ही जाति, रक्त तथा धर्म के थे । इस घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण समय की गति ने इन स्वतन्त्र इकाइयो को राज्यो के एक समुदाय मे जोड दिया जो कि युद्ध तथा शान्ति के समय परस्पर कुछ नियमो का पालन करते थे । अपने झगडो को निपटाने के लिये वे प्राय पञ्चायतो का आश्रय लेते थे, सदेशवाहक दूतो तथा पवित्र अग्नि ले जाने वाले पुरोहितो को पूज्य मानते थे, बिना पहले घोषणा किये कोई युद्ध प्रारम्भ नही करते थे, युद्धक्षेत्र मे मरे हुये योद्धाओ के शवो को गाडते थे, युद्धबन्दियो का विनिमय करते थे, अपालो देवता के मन्दिर को स्थायी रूप से अनुल्लघनीय मानते थे और राजदूतो को असाधारण विशेषाधिकार देते थे तथा उनके शरीर को अनुल्लघनीय मानते थे ।

आपेनहेम का मत है कि यूनानी लोगो ने इतिहास के लिये यह उदाहरण रक्खा कि स्वतन्त्र सर्वोच्चसत्ताधारी राज्य एक ऐसे समुदाय मे रह सकते हैं जो कि अपने सदस्य राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के लिये विधि निर्धारित करता हो परन्तु अनुबन्ध यह है कि इन राज्यो को एक सूत्र मे बाँधने वाले कोई समान हित तथा लक्ष्य विद्यमान हो ।

रोमन—रोम देशवासियो के विचार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में अधिक प्रगतिशील थे । उनके यहाँ २० पुरोहितो की एक श्रेणी होती थी जिनको फिटायल्स (fetiales) कहा जाता था । वे विदेशी राज्यो के सम्बन्धो की व्यवस्था उन विधियो के अनुसार करते थे जिनको जस फिटायल्स (jus fetiales) अथवा जस सैक्रेल (jus sacrale) कहा जाता था । रोम देशवासियो की *विधि दो श्रेणियो* में विभाजित थी एक अर्थात् दीवानी विधि (*jus civile*) यह जो केवल उन्ही लोगो म लागू होती थी और दूसरी अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विधि (jus gentium) जो विदेशियो के लिये थी और वह ऐसी विधि थी जो उनके और अन्य राष्ट्रो के बीच समान थी । अन्तर्राष्ट्रीय विधि (jus gentium) बाद में प्राकृतिक विधि (jus naturale) में अन्तर्गत करके और भी दृढ़ कर दी गई । यह वह विधि थी जो उन युक्तियो पर स्थापित थी जिनको प्रकृति तथा मनुष्य में समानता प्रकट होती थी । अन्त में इसी विधि अर्थात् जस फिटायल्स (jus fetiales) के अनुसार रोम-देशवासियो के सम्बन्ध विदेशों के साथ शान्ति और युद्ध के समय में तथा उनके साथ मित्रता की सन्धि स्थापित करने के समय में निर्धारित होने लगे । ऐसी सन्धियाँ

तीन प्रकार की होती थी अर्थात् मित्रता सन्धि (amicitia), आतिथ्य-सन्धि (hospitium) और सहयोग-सन्धि (foedus)।

रोम-देशवासियों की विधि के अन्तर्गत लडाई के चार उचित कारण माने जाते थे :—(अ) रूमी राज्य का उल्लंघन, (आ) राजदूत सम्बन्धी विशेषाधिकारों का उल्लंघन, (इ) सन्धियों का उल्लंघन और (ई) मित्र-राष्ट्र का युद्ध के समय किसी विपक्षी को सहायता प्रदान करना। रोम-देशवासियों के अनुसार लडाई की समाप्ति (१) शान्ति-स्थापन सन्धि द्वारा, (२) आत्मसमर्पण (deditio) द्वारा अथवा (३) शत्रु के देश की विजय-प्राप्ति द्वारा हो सकती थी।

सन्धियाँ तीन वर्गों में विभाजित थी —(१) मित्रता-सन्धि, (२) सहयोग-सन्धि और (३) आतिथ्य-सन्धि। रोम-देशवासी सन्धियों की बडी प्रतिष्ठा करते थे और वे सूचना द्वारा समाप्त की जा सकती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इतिहास का तीन युगों मे विभाजन—स्थूल दृष्टि से लॉरेन्स अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इतिहास को तीन युगो मे विभाजित करते हैं। प्रथम युग का मान आदिकाल से सीजरो के अधीन रोम राज्य के स्थापन तक है। इस युग का विशिष्ट लक्षण यह विश्वास है कि राष्ट्रो के एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य उसी दशा मे होते हैं जब वे एक ही जाति के हो अन्यथा नही। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का मूलभूत सिद्धान्त, यथा किसी बन्धन द्वारा एक सूत्र मे सम्बद्ध होना ग्रीस-देशवासियो मे विद्यमान था, क्योंकि एक ही जाति तथा धर्म के सब यूनानी लोगो का आपस मे ऐसा सम्बन्ध था जैसा उनका शेष ससार के अन्य लोगों के साथ नहीं। इस युग की विशेष बात रोडियावासियो की समुद्रीय संहिता (Maritime Code of Rhodians) का विकास है। इसी से ग्रीस-देशवासियो का व्यापार नियन्त्रित होता था और यही वह आधार था जिस पर मध्ययुग की बडी समुद्रीय संहिता अर्थात् कॉन्सोलेटो डेल मेयर (Consolato del Mare) स्थापित है।

द्वितीय युग—यह युग सीजरो के अधीन रोमराज्य की स्थापना होने से सोलहवी शताब्दी के धार्मिक विप्लव तक विस्तृत है। लॉरेन्स का कथन है कि इस युग की विशेषता इस धारणा मे थी कि कही न कही सर्वसाधारण प्रवर सत्ता-प्राप्त हो जाती है जो साधारण राजनैतिक समुदायो के पारस्परिक व्यवहारो को नियन्त्रित करती है। रोमन-साम्राज्य यूरोप के बसे हुये भाग पर तथा एशिया और अफ्रीका के अधिकांश भाग पर विस्तृत था। सीजर अपने अधीनस्थ बहुत से राजाओं का राजनैतिक श्रेष्ठ पुरुष था और उनके झगडो का निपटारा अपील के आधार पर होता था। उसने अपने साम्राज्य के लोगों से कर्तव्य का पालन पूर्णरूप

से कराया और वे यह विश्वास करने लगे कि सब राज्यो के ऊपर एक सर्वसामान्य प्रभुसत्ता का अस्तित्व भी संसार की प्राकृतिक व्यवस्था का एक अंग है। ऑस्टिन की विचारधारा के अनुसार 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' का आधार वास्तव मे एक सप्रभुसत्ता की आज्ञायें ही हैं। रोमन विधि विदेशी राज्यो के माल तथा सम्पत्ति के सरक्षण की गारटी उस दशा मे लेती थी जब कि रोम तथा उस विदेशी राज्य के बीच मित्रता की सन्धि रहती थी परन्तु यदि इस प्रकार की सन्धि नही रहती थी तो माल का बन्दीकरण किया जा सकता था और व्यक्तियो को दास बनाया जा सकता था।

पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दी मे रोम की सभ्यता का प्रभाव प्राचीन समूचे सभ्य देशो पर पडा और व्यक्तिगत राजाओ के भिन्न-भिन्न प्रभाव साम्राज्य पर पडते रहे। शासक और पोप अपने को राजनीतिक और आध्यात्मिक प्रधान के रूप में मानते रहे। परिणामत. मध्य युग मे राष्ट्रो के कानून की आवश्यकता न रही। यह स्थिति उस समय तक रही जब तक कि छोटे-छोटे राज्य उत्पन्न होने लगे और अधिकार-विवेचन की प्रतिद्वन्द्विता शासक और पोप मे अत्यन्त गहरी नही हो गई।

तीसरा युग—इसके अनन्तर हम तीसरे युग मे पहुँचते हैं। यह युग सोलहवी शताब्दी के धर्म-सुधार (Reformation) से वर्तमान काल तक माना जाता है। लॉरेन्स का कथन है कि इस युग मे हमें वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय विधि मिलती है जिसका आधार यह सिद्धान्त है कि राज्य एक बड़े समाज के पृथक् और स्वतन्त्र सदस्य हैं और यद्यपि वे किसी सामान्य वरिष्ठ सत्ता द्वारा नियन्त्रित नही किये जाते तथापि वे स्वेच्छाचारी नही हैं बल्कि आचरण के ऐसे नियमो से शासित हैं जो सब सदस्यो पर बाधित है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधुनिक अर्थ मे आरम्भ ग्रोशस (Grotius) के समय से (१५८३–१६४५) मानना चाहिये जिसने अपना ग्रथ 'डी जूरे बेली ऐक् पैसिस' (De Jure Belli ac Pacis) सन् १६२५ मे पेरिस में प्रकाशित किया। उसके पूर्वकालीन थे—(१) बल्थेजार अयाला (Balthazar Ayala) जिसने अपनी पुस्तक *'डी जूरे एट् आफिसिस बेलिसिस' (De Jure et Officis Bellicis)* सन् १५८२ मे 'दो आई' मे प्रकाशित की और इस सामान्य मत का खडन किया कि लडाई कोई नियम नही जानती। (२) 'अल्बेरिकस जेंटिलिस' (Albericus Gentilis) (१५५२–१६०८) जिसको अपने धार्मिक विचारो के परिणामस्वरूप अपनी जन्मभूमि इटली छोडनी पडी। वह सन् १५८७ मे ऑक्सफोर्ड मे विधि-शास्त्र का प्रोफेसर था और उसने सन् १५९८ मे अपना महान् ग्रन्थ 'डी जूरे बेली लिब्रि ट्रेस' (De Jure Belli Libri Tres) प्रकाशित किया और इस पक्ष का समर्थन किया कि लडाई का एक

नियम होता है जिसका आधार प्राकृतिक युक्ति है। यद्यपि ग्रोशस ने जेण्टिलिस की उसके लोपो, शैली तथा रचना के लिये समालोचना की तथापि अपने ग्रंथ का अधिकाश उसने उसी जेटिलिस (Gentilis) से ही लिया है। (३) फ्रासिस सुआरेज (Francis Suarez) (१५४८-१६१७) स्पेन का एक पादरी था जिसने अपनी पुस्तक 'ट्रैक्टेसस डी लेजिबस एट् डिओ लेजिस्लेटोर' (Tractatus de Legibus et Deo Legislatore) सन् १६१२ मे प्रकाशित की जिसमे उसने मनुष्य जाति के नैतिक ऐक्य पर महत्व दिया।

ग्रोशस (Grotius)—ह्विग वैन ग्रूट (Huig Van Groot), जो कि ह्यूगो ग्रोशस (Hugo Grotius) के नाम से प्रसिद्ध है अप्रैल १० सन् १५८३ ई० मे हॉलैंड मे डेल्फ (Delft) में पैदा हुआ था। शीघ्र ही उसने ग्रन्थकार, विधिवेत्ता और कवि के रूप मे ख्याति प्राप्त कर ली। प्रथम उसने वकालत आरम्भ की परन्तु शीघ्र ही उसने राजनैतिक झगड़ो मे भाग लिया जिसके परिणामस्वरूप वह १६१८ में गिरफ्तार किया गया और उसे आजन्म कारावास का दड मिला। सन् १६२१ ई० मे वह अपनी स्त्री की सहायता से एक सन्दूक मे, जो कि उसके द्वारा अपने मित्रो से उधार ली हुई पुस्तको को रखने के उद्देश्य से बना था, निकल भागा। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है उसका सब से प्रसिद्ध 'ग्रन्थ डी जूरे बेली एक् पैसिस' (De Jure Belli ac Pacis) (शान्ति तथा युद्ध की विधि) पेरिस मे सन् १६२५ मे प्रकाशित हुई थी। उसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Jus Gentium) अर्थात् राष्ट्रो की व्यावहारिक विधि तथा प्राकृतिक विधि (Jus Naturale) अर्थात् राज्यो के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो से संयुक्त विधि को पृथक् किया और राज्यों के प्राकृतिक विधि-सम्बन्धी नियमो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया। उसने कहा कि अधिकार जो सब के लिये समान हैं वे किसी विशेष राज्य के लिखित विधियो अथवा अध्यादेशो द्वारा नही प्रदत्त किये जा सकते। वे प्राकृतिक विधि बुद्धि की आज्ञायें हैं। उसके अनुसार प्राकृतिक समाज केवल ईश्वर को ही अपनी प्रभुसत्ता करके जानता है और मनुष्य के हृदय मे केवल ईश्वरीय विधि ही अधिक अंकित है। वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राज्य परस्पर इस अन्योन्याश्रित दशा में रहते हुये उसी विधि का अनुसरण करते हैं। उसने राज्यो के स्थिर नियम का आधार यह माना कि राज्य अपने पारस्परिक व्यवहारो मे कुछ निश्चित नियमो के सग्रह को पालन करने के लिये इच्छापूर्वक सहमति देते हैं।

उसने 'युद्ध से घृणा' इस कथन द्वारा प्रकट किया है कि वह देखता है कि सपूर्ण ईसाई ससार मे इस प्रकार के युद्ध करने की अनुमति है जिसको देख कर जगली जातियाँ भी अपना सर लज्जा से नीचा कर लेती हैं। उसका कहना है कि

मनुष्य बहुत ही थोड़े कारणों पर युद्ध के लिए दौड़ पड़ता है, और जब हाथ में शस्त्र एक बार ले लिये जाते हैं, तब कानून के प्रति कोई सम्मान नहीं रह जाता, मते ही वह कानून देवी हो अथवा मनुष्यकृत। वह प्रभुसत्ता को प्रादेशिक रूप में मानता था। उसकी सफलता की कुंजी यह रही कि उसने पहिले से ही स्वीकृत विषयों तथा सिद्धान्तों का विवेकपूर्ण प्रयोग किया।

उसके पुस्तक की ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक फैल गई और उसके मुख्य सिद्धान्तों का ही यूरोप के कांग्रेस ने अपने विचारों में अनुसरण किया। परिणाम स्वरूप सन् १६४८ में वेस्टफालिया की शान्ति सन्धि हुई और तीस वर्ष के युद्ध का अन्त हुआ।

जाउचे (Zouche)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में थोड़ा सा हाथ Richard Zouche (१५६०–१६६०) का भी है। वह ऑक्सफोर्ड में दीवानी विधि का प्रोफेसर था और नौ-अधिकरण न्यायालय (Admiralty Court) का जज था। उसने अपने महान् ग्रंथ 'जूरिस एट् जुडिसी फिसियालिस, सिवि जूरिस इंटर जेंटिटस' (Juris et Judicv fecialis, sive Juris inter Gentes) १६५० ई० मे प्रकाशित किया। इस पुस्तक को राष्ट्रो के स्थिर नियमो की प्रथम पुस्तक कहा गया है। उसमे और ग्रोशस मे यह अन्तर है कि उसने राज्यो की शान्ति-विधि पर अधिक महत्व दिया यद्यपि उसने राज्यो की प्राकृतिक विधि के अस्तित्व को अस्वीकार नही किया।

तीन सम्प्रदाय (Three Schools)—सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियो ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर तीन विभिन्न सम्प्रदाय के लेखको को जन्म दिया, अर्थात् प्रकृतिवादी (Naturalists), स्थिर व्यवहारवादी (Positivists) और ग्रोशस मतावलम्बी (Grotians)।

प्रकृतिवादी यह नही मानते कि रूढियो अथवा सन्धियो के आधार पर स्थापित राष्ट्रो की कोई निश्चयात्मक विधि (Positive Laws) है, वरन्, उनकी धारणा यह है कि वे प्राकृतिक नियम के एक अंश हैं सेमुअल पफेनडार्फ (Samuel Pufendorf) (१६३२ १६६४) इस सम्प्रदाय का अगुआ था। उसने यह प्रतिपादन किया कि राष्ट्र अपने पारस्परिक आचरण को प्राकृतिक नियम के अनुसार नियंत्रित करते हैं क्योंकि उनके ऊपर कोई सामान्य प्रभुसत्ता नहीं है। जर्मन दार्शनिक Christian Thomasius (१६५५-१७२८) पफेनडार्फ (Pufendorf) का परम अनुयायी था। इसी प्रकार उसके अन्य अनुयायी अंग्रेजी दार्शनिक फान्सिस हचसन (Francis Hutcheson) और टामस रूथरफोर्ड (Thomas Rutherford), फांसीसी

दार्शनिक जीन बरबेयरेक (Jean Barbeyrac) (१६७४-१७४४) तथा जेनेवा का दार्शनिक जीन जैक्स बरलैमाकी (Jean Jacques Burlamaqui) भी थे।

निश्चयात्मक विधि वालो का प्राकृतिक सिद्धान्त वालो से मूलरूप मे ही अन्तर था और वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास का कारण रूढि तथा अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो को बताते थे। वे प्राकृतिक नियम पर कोई महत्व नही देते थे लेकिन संधियो तथा रूढियो पर आधारित रूढि विधि को निश्चयात्मक अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Positive International Law) मानते हैं और इसे सबसे अधिक महत्व देते हैं। इनका प्रभाव अठारहवीं शताब्दी मे बढ गया। इस सम्प्रदाय के प्रमुख टीकाकार डेनमार्क के विधिवेत्ता बिन्करशोक (Bynkorshoek) (१६७३-१७४३), जर्मन लेखक जॉन जैकब मूसोर (John Jacob Moser) (१७०१-१७८५) और जोर्ज फ्रेडरिक डी मारटेन्स (George Friedrich de Martens) (१७५६ १८२१) थे। यह सम्प्रदाय अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर आधुनिक विचारो को प्रकट करता है।

ग्रोशस (Grotius) मतावलम्बी प्राकृतिक सिद्धान्तवादियो तथा निश्चयात्मक नियमवादियों के बीच का स्थान ग्रहण करते थे। उन्होने ग्रोशस (Grotius) द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रो की प्राकृतिक तथा ऐच्छिक विधि के अन्तर को स्वीकार किया और दोनों को विधि का स्रोत माना परन्तु ग्रोशस (Grotius) के विपरीत उनकी यह धारणा थी कि राज्यो के स्थिर अथवा ऐच्छिक नियम भी उतना ही महत्व रखते हैं जितना राष्ट्रो के प्राकृतिक नियम। सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियों में उनका महत्व बहुत ही बढ गया। इस सम्प्रदाय के दो प्रभावशाली प्रतिपादक क्रिश्चियन वुल्फ (Christian Wolff) (१६७९-१७५४) और वेतेल (Emerich de Vattel) (१७१४-१७६७) थे। पहला एक जर्मन दार्शनिक था और दूसरा एक स्विटजरलैंड का विधिवेत्ता था जिसने कि अपना महान् ग्रन्थ 'ली ड्रॉयट डी जेन्स' (Les droit des gens) १७५८ मे प्रकाशित किया और यह प्रतिपादन किया कि राष्ट्रों की विधि प्रकृति के नियम हैं जो राष्ट्रो पर लागू किये गये हैं।

उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी —उन्नीसवी तथा बीसवी शताब्दियो में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास के कई कारण बताये जा सकते हैं। प्रथम—वियना (Vienna) की कांग्रेस के उपरान्त राष्ट्रों की ओर से यह प्रयत्न किया गया कि राष्ट्रो की विधि के नियमो का पालन किया जाय। यह कांग्रेस यूरोप की पहली अन्तर्राष्ट्रीय सभा थी जिसने अन्तर्राष्ट्रीय नदियो में नौचालन सम्बन्धी नियम बनाये और राजदूतो की कोटि (rank) तथा उनकी पूर्ववर्तिता (precedence) निश्चित की। द्वितीय—यह काल बहुत-सी विधिकारी सन्धियो के होने के कारण अधिक महत्व रखता है, अर्थात् पेरिस की घोषणा (१८५६) जिसमे राष्ट्रों के लिये समुद्री

युद्ध मे मार्ग-प्रदर्शनार्थ नियमो का समावेश किया गया है, जेनेवा का अभिसमय (१८६४) भूमियुद्ध मे रुग्णो तथा घायलो की दशा सुधारने के लिये, सेंट पीटर्सबर्ग की घोषणा (१८६८) युद्ध मे विस्फोटक गोलियो का प्रयोग निषेध करने के लिये, सन् १६०६ का जेनेवा का अभिसमय (Convention) जिसके द्वारा भूमियुद्ध के बीमारो तथा घायलो वाली व्यवस्था समुद्री लडाई वालो के लिये भी लागू कर दी गई। अन्त मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के निश्चित (Positive) सिद्धान्तो पर डी मारटेन्स, हेफ्तर, फिलिमूर, मेन तथा वेस्टलेक (De Martens, Heffter, Phillimore, Maine तथा Westlake) जैसे लेखको द्वारा अधिक महत्व दिया। हॉल, ओपेनहेम, लॉरेन्स, हाइड, ह्वीटन और ब्लशली (Hall, Oppenheim, Lawrence, Hyde, Wheaton और Bluntschli) ऐसे अन्य लेखको ने भी घोषणात्मक (Declaratory) ग्रन्थकारो के रूप मे अपने लेखो द्वारा अधिकाश मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास मे सहायता प्रदान की।

यह स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रो का समाज क्रिस्तानी देशो की सीमाओ को पार करके सभ्यता के साथ समानरूप से विस्तृत हो गया, और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियम राष्ट्रो की सहमति से विकसित हुये।

हेग सम्मेलन—हेग सम्मेलन १८६६ और १६०७ मे जिन अन्तर्राष्ट्रीय महान सभाओ का कार्य अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को शान्तिपूर्वक निपटाने का था, उन्होंने राष्ट्रो के कुटुम्ब के लिये सम्पूर्ण रूप से नियमो को बनाने का प्रयत्न किया। १८६६ के पहले हेग-सम्मेलन ने भूमियुद्ध के लिये एक सहिता निकाली। सन् १६०७ के दूसरे हेग-सम्मेलन ने बमवर्षा-निषेध-सम्बन्धी प्रतिज्ञायें स्वीकृत की—अरक्षित गृहो पर बम बरसाने का निषेध, सम्पर्क विस्फोटक सुरङ्गो का बिछाना, समुद्री-युद्ध मे तटस्थो के अधिकार तथा कर्तव्य, व्यापारी जहाजो का जङ्गी जहाजो मे परिवर्तन, समुद्री-युद्ध, सैनिक अस्पताली जहाज, युद्धविश्राम-सन्धि के झडे इत्यादि। इन सम्मेलनो के परिणाम-स्वरूप पञ्चायत का स्थायी न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) स्थापित हुआ।

लीग आफ नेशन्स की प्रतिज्ञा—मित्र तथा सम्बद्ध राष्ट्रो और जर्मनी के बीच वार्सलीज की सन्धि प्रथम महायुद्ध के बाद जून २८, सन् १६१६ को हुई। इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास के लिये लीग आफ नेशन्स की नीव पडी। पहले तो यह प्रतीत हुआ कि लीग अपने भिन्न-भिन्न अगो द्वारा एक सच्चे अन्तर्राष्ट्रीय सघ का रूप धारण करेगी और राष्ट्रो के बीच की भिन्नताओ को हटा कर शान्ति तथा मित्रता का युग लायगी परन्तु ये सब आशायें शीघ्र ही मिट्टी मे मिल गई।

लीग आफ नेशन्स के प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १४ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय सन् १९२१ में स्थापित किया गया।

लोकार्नो की सन्धि—यह सन्धि नवम्बर १६ सन् १९२५ को फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, जर्मनी, इटली और बेलजियम के बीच हुई और इसके द्वारा जर्मनी, फ्रांस और बेलजियम ने अपने पारस्परिक सीमाओं को बनाये रखने का तथा एक-दूसरे के विरुद्ध बलप्रयोग न करने का प्रण किया। ब्रिटेन तथा इटली ने इस समझौते (Pact) की गारंटी ली और विश्वास दिलाया कि उल्लंघन की स्थिति में वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। इस सन्धि ने राष्ट्रों के इस विश्वास को दृढ़ किया कि वे अपने झगड़ों का लीग आफ नेशन्स के प्रतिज्ञा के अनुसार शांतिपूर्वक निपटारा कर लेंगे। १९३६ में जर्मनी ने इस सन्धि को इस कथन पर त्याग दिया कि फ्रांस और सोवियत रूस के बीच पारस्परिक सहायता का पैक्ट लोकार्नो के पैक्ट के साथ असंगत है।

केलोग-ब्रिआंड-समझौता (Kellogg-Briand Pact)—लोकार्नो की सन्धि के थोड़े समय बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका के परराष्ट्रसचिव फ्रैंक बी० केलॉग (Frank B. Kellogg) के आगे बढ़ने पर एक अन्तर्राष्ट्रीय इकरारनामे पर हस्ताक्षर किये गये जिसके द्वारा संसार के प्रायः सभी राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निर्णय के लिये युद्ध को साधन बनाने की निन्दा की और प्रण किया कि वे अपने झगड़ों को तय करने के लिये शान्तिपूर्ण उपायों का सहारा लेंगे।

१९२९ की जेनेवा का अभिसमय—स्विटजरलैंड की सरकार की प्रेरणा पर ४७ सरकारों के प्रतिनिधियों ने जेनेवा में युद्धबन्दियों से व्यवहार-सम्बन्धी तथा रणक्षेत्र में घायल और बीमार सैनिकों की दशा सुधारने की प्रतिज्ञायें कीं। युद्ध-बन्दियों के प्रति व्यवहार वाली प्रतिज्ञा द्वारा प्रतिकार, बन्दियों से अमानुषिक व्यवहार तथा कुछ व्यक्तियों के कार्य के निमित्त औरों पर सामूहिक दंड निषिद्ध किये गये। दूसरी प्रतिज्ञा द्वारा डाक्टरी दलों (units) तथा बीमारों और घायलों की सेवा में लगे हुये व्यक्तियों को उन्मुक्ति प्रदान की गई।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण (Codification of International Law)—प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तथा लीग आफ नेशन्स के स्थापन के उपरान्त हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के लिये सच्चे प्रयत्न किये गये। उसका विस्तारपूर्वक वर्णन संहिताकरण के अगले अध्याय में किया गया है।

द्वितीय विश्व युद्ध—द्वितीय विश्वव्यापी महायुद्ध के अन्त में एक-दूसरे राष्ट्रीय संघ अर्थात् संयुक्त राष्ट्र संघ (United Nations Organisation) का जन्म हुआ। इसके चार्टर पर पचास राष्ट्रों द्वारा सैन फ्रान्सिस्को में २६ जून सन्

१९४५ को हस्ताक्षर किये गये। सयुक्त राष्ट्र का जन्म २४ अक्टूबर, १९४५ को हुआ जब इसका चार्टर पाँच मूल सदस्यो तथा बहुसख्यक अन्य हस्ताक्षर करने वालों द्वारा सत्याकित (ratified) किया गया। इस विश्व-सघ पर मानव-मात्र की आशा लगी हुई है और इसमे ससार की व्यवस्था के वह बीज निहित हैं जो "एक ससार" (One World) की भावना पर स्थापित हैं। यह वह आधार है जिस पर एक ऐसे नये ससार का निर्माण किया जाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखे और मनुष्य-जाति के कल्याण की वृद्धि करे।

राष्ट्रो को अपने पारस्परिक सम्बन्धो मे बाधित करने वाले विधि के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के महत्व को इन दो विश्वव्यापी युद्धो द्वारा बहुत ही धक्का लगा, परन्तु शान्ति-स्थापन के अनन्तर इसका महत्व पुन पहले की अवस्था को प्राप्त हो गया क्योंकि पराजित राष्ट्रो और युद्ध के अपराधियो ने अपने कार्यों को न्यायोचित ठहराने तथा दोषो से मुक्त होने के लिये बार-बार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमो की शरण ली। फिर भी, हम कह सकते हैं कि सयुक्त राष्ट्र सघ की स्थापना, सभ्य राष्ट्रो के अपने पारस्परिक व्यवहारों को नियन्त्रण करनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास मे, एक कीर्तिस्तम्भ है।

मानवीय अधिकारो की सार्वभौमिक घोषणा (१९४८), मानवीय अधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओ की रक्षा हेतु यूरोपीय अभिसमय (European Convention for the Protetction of Human Rights) (१९५०), जनवध (Genocide) तथा शरणार्थियो की सामाजिक स्थिति पर सयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा अगीकृत विभिन्न अभिसमय वास्तव मे सन्धियाँ हैं जो विधि द्वारा नियत्रित अन्तर्राष्ट्रीय आचरण के नियमों के समूह में वृद्धि करते हैं।

,अभिसमय (Conventions), निर्णयो, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रमाणित व्याख्याओ तथा सहिताकरण द्वारा एक विश्व विधि-व्यवस्था बनाने के दीर्घकालीन कार्य के लिये सयुक्त राष्ट्र-सघ द्वारा क्रमानुसार प्रयत्न किये जा रहे हैं।

अध्याय ४

प्रकृति-विधि और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास पर इसका प्रभाव

Law of Nature and Its Influence on the Development of International Law

प्रकृति-विधि नीतिशास्त्र का वह भाग है जिससे मनुष्य जाति को अपने प्रकट कार्यों को अनुशासित करने के लिये अधिक आवश्यक तथा सार्वभौमिक नियम प्राप्त होते हैं। यह प्रकृति की अगुलियो द्वारा मनुष्य के हृदय-पट पर लिखा गया है। इसमे वे नियम सम्मिलित हैं जिनके सम्बन्ध मे यह विश्वास किया जाता है कि उनको प्रकृति ने पथ-प्रदर्शक के रूप में प्रकट कर उन पर चलने की आज्ञा दी। ऐसे नियम प्राकृत औचित्य एव दोष के सिद्धान्त होते हैं या अपने व्यापक अर्थ मे न्याय के सिद्धान्त होते हैं। यूनानी दार्शनिकों का विचार था कि ससार के भौतिक तथा नैतिक विषयों को कुछ साधारण तथा सामान्य नियमो मे स्थिर किया जा सकता है और इनको वे प्रकृति के नियम कहते थे।

प्रकृति-विधि को दैवी विधि (Divine Law) भी कहते हैं (क्योंकि यह मनुष्यो पर लगाई गई ईश्वर की आज्ञा है) तथा अलिखित विधि (Unwritten Law) (क्योंकि यह ताम्रपत्रो अथवा स्तम्भो पर नही लिखी हुई है), सार्वभौमिक अथवा सामान्य विधि (क्योंकि यह सब लोगो के लिये समान रूप से न्याय है), तर्क-विधि (Law of Reason) (क्योंकि यह उस युक्ति पर स्थापित है जिससे सारा ससार अनुशासित होता है) और शाश्वत विधि (Eternal Law) (क्योंकि यह किसी की बनाई हुई नही है और अचल है) भी कहते हैं। "प्रकृति-विधि" का वास्तविक अर्थ नीचे लिखे श्रेष्ठ विचारको की सम्मितियो से प्रकट होगा।

जस्टीनियन (Justinian)—प्रकृति विधि, जिसे जूरा नैचुरैलिया (jura naturalia) भी कहते हैं और जिसका पालन समान रूप से सभी राष्ट्रों मे होता है, दैवी शक्ति द्वारा लागू किये जाने के पश्चात् सदा के लिए निश्चित हो जाती हैं और फिर बहुत ही दृढ़ हो जाती हैं, किन्तु वह विधि जिसे प्रत्येक राज्य ने अपने लिए स्थिर किया है वे प्राय या तो विधायन अथवा लोकमत द्वारा परिवर्तित होती रहती हैं।

हूकर (Hooker)—हूकर महोदय का कहना है कि "The law of reason or human nature is that which men by discourse of natural reason

have rightly found out themselves to be all for ever bound unto in their actions." अर्थात् तर्क-विधि या मानव-प्रकृति उसे कहते हैं जिसे मनुष्यो ने प्राकृत तर्क द्वारा अपने लिए सदैव के लिए उचित पाया है और सदा के लिए उनमे अपने कार्यों को बाँध दिया है।

इसमे कोई सन्देह नही है कि राष्ट्रो की विधि के विकास के आदिकाल में प्रकृति के नियम का उस पर अधिक प्रभाव रहा है। यूनानियो के समय से सत्रहवीं शताब्दी तक व्यक्तिगत रूप मे राष्ट्रो के सम्बन्ध अधिकतर प्राकृतिक नियम द्वारा अनुशासित होते थे। यह नियम उचित-अनुचित के तर्क पर स्थापित था और उसको शक्ति-राष्ट्रो के बीच मे हुए किसी विशिष्ट स्वीकार-पत्रो से नही वरन्, उचित तथा अनुचित सम्बन्धी उन सार्वभौमिक सिद्धान्तो से प्राप्त होता था जिसका उदय मनुष्य के हृदय मे भीतर से होता है और जो अचल तथा सनातन हैं। इसमे सन्देह नही कि नीति तथा अनीति के नियम स्पष्ट नही थे और न वे ऐसे सारभूत सिद्धान्तो में परिणित किये जा सकते थे जो कठिनाई के बिना हमेशा प्रयोग किये जा सकते थे, तथापि ऐसे शाश्वत न्याय का अस्तित्व सामान्यतः स्वीकृत किया जाता था और अन्ततः इसी से आधुनिक राष्ट्रों की विधि के विकास का बीज बोया गया।

यूनानी विचारधारा—यूनानी लोग अपने पडोसियो से जिन्हे वे जगली समझते थे अधिक सभ्य थे। इन्होने यूनानी मडल (Hellenic Circle) के तथा उससे बाहर के राज्यो मे अन्तर रक्खा। उनका विश्वास था कि अ-यूनानी लोग प्रकृति द्वारा ही यूनानी लोगो की दासता के लिये रचे गये हैं। यूनानियो की विधियाँ तर्क के नियम अर्थात् दैवी नियम से प्राप्त की गई थी और उनको मनुष्य जाति की प्रकृति के अनुसार, जो कि स्वभावत विवेकपूर्ण होती है, कार्य करने को बाध्य करती थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप मे यूनानी नगर-राष्ट्रो ने इतिहास के लिए एक ऐसे सामुदायिक जीवन का उदाहरण रक्खा जो एक समान जाति, धर्म, रूढ़ियाँ तथा भाषा पर स्थापित था। उन्होने प्राकृतिक विधि (Jus naturale) की भावना को और दृढ किया और सारे विश्व को एक मौलिक सिद्धांत से, जिसे वे प्रकृति का नियम कहते थे, अनुशासित देखा। सर हेनरी मेन (Sir Henry Maine) का कहना है कि "ससार के भौतिक तथा नैतिक तत्व कुछ साधारण तथा सामान्य नियमो में स्थिर किये जा सकते हैं और इनको वे प्रकृति के नियम कहते थे। ये वे नियम हैं जिनको प्रकृति ने पथ-निर्देशक शक्ति के रूप में प्रकट किया और उन पर चलने की आज्ञा दी।" "They thought that the material and moral phenomena of the world could be resolved into simple and general rules and they called

them the Laws of Nature They are the rules which Nature, personified as a guiding power, is deemed to have evolved and prescribed"

रोमन विचार-धारा—रोम-वासियों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिये एक बहुत ही प्रगतिशील धारणा थी जिसका विकास उन्होने प्राकृतिक नियम की सहायता से किया। उनके यहाँ दो प्रकार की विधियाँ थी —

(१) जस सिवइली (Jus Civile) अथवा दीवानी विधि जो इस प्रकार की विधि तथा रूढियाँ थी जो रोमन निवासियो पर लागू होती थी, तथा

(२) जस जेन्टियम (Jus Gentium) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि वह विधि थी जो उनमे और अन्य राष्ट्रों मे समान थी। वह विधि प्राकृतिक तर्क पर आधारित थी और मनुष्यमात्र के लिए बनाई गई थी। इसी जस जेन्टियम को आगे चलकर जस नेचुरेल (Jus Naturale) अर्थात् प्राकृतिक विधि कहने लगे।

सिसरो (Cicero)—सिसरो महोदय का कथन है कि सच्चा कानून (lex) वह होता है जिसमे उचित तर्क और प्रकृति का साम्य हो जाता है और जो मनुष्य-मात्र मे अपरिवर्तित रूप से निरन्तर के लिए व्याप्त हो जाता है। न तो इस कानून का परिवर्तन हो सकता है, न इसका महत्व कम किया जा सकता है और न कोई इसकी उपेक्षा ही कर सकता है।

प्राकृतिक नियम पर मेन (Maine) महोदय का मत—सर हेनरी मेन आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे प्राकृतिक नियम के विचार की महत्ता पर जोर देते हुये अपने 'ऐंसियेंट लॉ' "Ancient Law" मे कहते हैं कि प्राकृतिक नियम का सबसे महत्वपूर्ण कार्य आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा आधुनिक युद्ध-विधि को जन्म देने मे पूर्ण हुआ। जैसा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मूल निर्माताओं ने लिखा है, उन स्वय-सिद्ध प्रमाणों में से, जो इसकी अभिधारणा है, तीन सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं। वह अभिधारणा जो कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का आधार है, प्रथम यह है कि निर्धारित किये जाने वाला एक प्राकृतिक नियम ग्रोशस (Grotius) महोदय तथा उनके अनुयायियों ने सीधे रोम निवासियो से लिया, परन्तु उनके निर्धारित करने की रीति के विषय मे उनके विचार आपस मे एक दूसरे से तथा रोम के विधि-वेत्ताओ से बिल्कुल भिन्न थे। इन्ही ग्रोशस महोदय को आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रवर्तक माना जाता है।

द्वितीय अभिधारणा यह है कि राष्ट्रीय विधि राज्यो पर आपस मे बाध्य है। प्रकृति के राज्य मे राष्ट्र मडल एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, अत प्राकृतिक नियम राज्यो पर परस्पर बाध्य हैं। वास्तव मे सत्य यह है कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि

यद्यपि रोमन विधि (Roman Law) की वराज है तथापि यह उससे उल्टे ढग से सम्बद्ध है । उपरोक्त से जो साध्य निकलता है वह यह है कि स्वतन्त्र जातियाँ आकार तथा शक्ति मे चाहे कितनी ही भिन्न हो किन्तु राष्ट्रो की विधि की दृष्टि में सब समान हैं ।

तीसरी अभिधारणा यह है कि प्रभुसत्ता (sovereignty) प्रादेशिक होती है और सम्पूर्ण प्रभुत्व-सपन्न व्यक्तियो (sovereigns) की परस्पर सार्वभौमिकता (paramount) पर विचार न किया जाय वरन् उन्हे राष्ट्र रूपी प्रदेश का निरकुश स्वामी समझा जाय ।

ग्रोशस के पूर्व प्राकृतिक नियम—इसमे कोई सन्देह नही है कि पवित्र रोमन साम्राज्य का टुकडो-टुकडो मे विभाजन तथा पोप-समूह के प्रभुत्व के धीरे-धीरे कम होने का प्रभाव प्राकृतिक नियम पर बहुत अधिक पडा परन्तु प्राकृतिक नियम के अकुर जो अपनी जड जमा चुके थे पूर्णत' मुरझा नही गये। पन्द्रहवी शताब्दी मे हम देखते हैं कि कला तथा साहित्य का पुनरुत्थान हुआ । यह एक मध्य युग से आधुनिक ससार मे प्रवेश करने का लक्षण था । नई दुनिया का भी अन्वेषण हो गया था । इन सब तथ्यो के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्रो के बीच पारस्परिक सह-संबध का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो गया । स्पेन के अध्यात्मवादी विटोरिया (१४८०-१५४६) ने स्पष्ट शब्दो म यह सिद्धान्त घोषित किया कि ससार के राष्ट्र मिलकर एक समुदाय बनाते हैं जो प्राकृतिक तर्क तथा सामाजिक सह-सबध पर आधारित हैं। १५८२ मे बल्थेजार अयाला (Balthazar Ayala) (१५४८-१५८४) ने डोआई (Douai) मे अपनी पुस्तक 'De Jure et Officis Bellicis' प्रकाशित की और समान सहमति द्वारा स्थापित 'Jus Naturale' और 'Jus Gentium' के पक्ष का समर्थन किया। उसका अनुवर्ती अल्बेरिकस जेटिलिस (Albericus Gentilis) (१५५२-१६०८) एक इटली निवासी प्रोटेस्टेन्ट था । उसे अपने प्रोटेस्टेन्ट विचारो के कारण इगलैंड भागना पडा था । उसने अपना ग्रन्थ 'De Jure Belli Libri Tres' सन् १५९८ मे प्रकाशित किया और प्राकृतिक तर्क तथा सहमति पर आधारित युद्ध के अस्तित्व पर बल दिया। सबसे अन्त मे स्पेन-निवासी सुआरेज (Jesuit Francis Suarez) (१५४८-१६१७) आता है। उसने अपना ग्रन्थ 'Tractatus de Legibus et Deo Legislatore' १६१२ मे प्रकाशित किया। उसने इस बात पर महत्व दिया कि 'Jus Gentium' नैतिक रूप से बाध्य है और यह कहा कि भिन्न-भिन्न राज्य यद्यपि स्वतन्त्र हैं फिर भी वे मनुष्य जाति के सदस्य हैं, अतः प्राकृतिक तर्क तथा रूढि पर आधारित आचरण की विधि से बाध्य हैं। उसने मनुष्य जाति के नैतिक ऐक्य तथा प्राकृतिक तर्क और साधारण रूढि द्वारा अनुशासित राष्ट्रों के समाज पर महत्व दिया जो अन्तिम विश्लेपण के आधार पर ईश्वरेच्छा पर निर्भर माना गया है ।

ग्रोशस (Grotius) (१५८३-१६४५)—ह्विग वैन ग्रूट (Huig van Groot) जो जनसाधारण में ह्यूगो ग्रोशस (Hugo Grotius) के नाम से प्रसिद्ध है, का जन्म हालैंड मे डेल्फ (Delft) नामक स्थान में १५८३ मे हुआ। उसको 'राष्ट्रों की विधि का पिता' (Father of the Law of Nations) की उपाधि दी जाती है। उसका सबसे प्रमुख 'ग्रन्थ डी जूरे बेली ऐक् पेसिस' (De Jure Belli ac Pacis) फ्रांस मे प्रकाशित हुआ। व्हीटन (Wheaton) कहते है कि "ग्रोशस (Grotius) तथा उसके निकटवर्ती शिष्यों तथा अनुयायियों का उस विज्ञान मे जिसका वह सस्थापक था, प्रमुख उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि, प्रथम तो न्याय के उन नियमो को निर्धारित किया जाय जिससे सामाजिक स्थिति में रहने वाले अथवा जैसा साधारण रूप से कहा जाता है 'प्राकृतिक अवस्था मे साथ रहने वाले' मनुष्य पर मानवीय सस्थाओ के स्थिर नियमो से स्वतन्त्र रूप से बाध्य हो, तथा दूसरे यह कि उन नियमो को, प्राकृतिक नियम के नाम से भिन्न-भिन्न समुदायो के जो कि आपस मे समान दशा मे रहते हैं, पारस्परिक सम्बन्धो मे लागू करना किया जाय।"

ग्रोशस ने राष्ट्रों की विधि तथा प्राकृतिक विधि मे यह भेद बतलाया कि उनकी उत्पत्ति पृथक है और राष्ट्रों की विधि का यह गुण बतलाया कि इसमे राष्ट्रों की सामान्य सहमति है। उसने दार्शनिको, इतिहासकारो, कवियों तथा वक्ताओ के साक्ष्य का भी प्रयोग अपने द्वारा प्रतिपादित विधि के पक्ष मे किया, इसलिए नहीं कि उस पर निष्पक्ष प्रमाण के रूप मे विश्वास कर लिया जाय, क्योंकि वे अपने-अपने सम्प्रदाय के पक्षपात मे अपने तर्क को अथवा अपने उद्देश्य के लक्ष्य को मोड देते थे, परन्तु इसलिए, कि जहाँ भिन्न-भिन्न युगो के तथा देशो मे लोग एक ही बात पर सहमत हो वहाँ पर यह कहा जा सकता है कि अवश्य ही कोई सामान्य कारण है जिसके कारण सभी उन्हे विधि-रूप मे मानते हैं।

रिचर्ड जाउचे (Richard Zouche) (१५९०-१६६०)—एक और अंग्रेजी विद्वान जाउचे (Richard Zouche) हैं, जिनको 'राष्ट्रों की विधि का द्वितीय सस्थापक' (Second Founder of the Law of Nations) की उपाधि दी जाती है। उसने राष्ट्रों की रूढ-विधि के पक्ष का समर्थन किया और ऐसा करने में उसका ग्रोशस से अत्यन्त मतभेद हो गया, परन्तु उसने राष्ट्रों के प्राकृतिक नियम का पूर्णतया परित्याग नहीं किया।

हॉब्स और पफेनडॉर्फ (Hobbes and Pufendorf)—हॉब्स (Hobbes) ने प्राकृतिक नियम को दो भागो में विभाजित किया—(१) मनुष्यो का प्राकृतिक नियम और (२) राज्यो का प्राकृतिक नियम, जिसे सामान्यतः राष्ट्रों की

विधि कहते हैं। उनका कथन है कि 'दोनो की धारणाएँ एक ही हैं, परन्तु राज्य ज्यो ही स्थापित होता है मनुष्य के व्यक्तिगत गुणो का समावेश कर लेता है। अत यह विधि जो व्यक्तिगत मनुष्यो के सम्बन्ध मे 'प्राकृतिक नियम' कह कर सम्बोधित की जाती है जब सम्पूर्ण राज्यो, जातियो तथा लोगो मे लागू की जाती है तो 'राष्ट्रों की विधि' के नाम से सम्बोधित होने लगती है। पफेनडॉर्फ (Pufendorf) (१६३२-१६६४) ने हॉब्स (Hobbes) के मत को स्वीकार किया और इतना और कहा कि "वरिष्ठ शक्ति की आज्ञाओ मे जितनी बाध्यता है, उतनी अन्य किसी भी राष्ट्र की ऐच्छिक अथवा निश्चयात्मक विधि मे, जिसे कि हम सही और वैध रूप मे प्रवर्तित कह सकें, नही पायी जाती।" "There is no other voluntary or positive law of nations properly invested with a true and legal force, and binding as the command of a superior power" उन्होने राष्ट्रो की व्यवहारिकता को बाध्यता की शक्ति से सम्पन्न कदापि स्वीकार नही किया।

बिंकरशौक (Bynkershoek)—इन्होंने राष्ट्रो की विधि का आधार तर्क तथा रीतियो को माना और सन्धियो तथा अध्यादेशो (आर्डिनेन्सो) के साक्ष्य को रीतियो का उद्भव बताया।

वेटेल (Vattel)—इनका कथन है कि राष्ट्रो की विधि मूल मे राष्ट्रो मे लागू किये गये प्रकृति के नियमो के अतिरिक्त अन्य कुछ नही थी। उन्होंने कहा कि सब नागरिक समाजो (civitas) का यह स्वत्व है कि उसका प्रत्येक सदस्य अपने अधिकारो का कुछ भाग समाज के समुदाय को त्याग दे और एक ऐसी वरिष्ठ सत्ता विद्मान रहे जो अपने सब सदस्यो को आज्ञा देने मे समर्थ हो, उनको विधि दे सके तथा जो आज्ञा न मानें उनको दण्डित कर सके। राष्ट्रो के बीच मे ऐसी किसी बात का अस्तित्व न तो विचारा जा सकता है न उनकी कल्पना की जा सकती है। प्रत्येक प्रभुसत्ता-धारी राष्ट्र अपने को पूर्णत स्वतन्त्र दिखाते हैं और वास्तव मे ऐसा है भी।

आधुनिक युग मे प्राकृतिक विधि—ओपेनहेम (Oppenheim) ने ठीक ही कहा है कि प्रकृति के नियम ने वह बैसाखी (crutches) दी जिनकी सहायता से इतिहास ने मनुष्य-जाति को मध्ययुग की संस्थाओ से निकाल कर आधुनिक युग की संस्थाओ में आना सिखाया। आधुनिक राष्ट्रो की विधि अपने अस्तित्व के लिये ही प्राकृतिक विधि के सिद्धान्त की ऋणी है। ग्रोशस ने प्राकृतिक नियम को असाम्प्रदायिक बनाने तथा इसको शुद्ध धार्मिक पथ से मुक्त करने का दृढ कदम उठाया।

यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि यद्यपि प्राकृतिक विधि का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में बहुत बड़ा हाथ है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता

कि यह सिद्धान्त आलोचना से रहित है। ग्रोशस ने 'क्या होना चाहिये' इस आदर्श विचार को 'यह वास्तव में क्या है' इसको साथ मिला कर स्वयं भ्रम मे पड़ गया। लारेंस कहते हैं कि "यदि उसका विचार ठीक होता तो प्राकृतिक नियम के मूलभूत सिद्धान्तो तथा अधिक प्रमुख नियमो के सम्बन्ध मे सर्वदा सामान्य सहमति रही होती। परन्तु इस प्रकार की किसी वस्तु का कभी अस्तित्व ही नही रहा है। विधिवेत्ताओ तथा दार्शनिको मे आपस मे बहुत मतभेद रहा है क्योकि मनुष्यजाति के विशाल जनसमूह ने मिथ्या रूप से भी यह नही दर्शाया कि वे इस विषय को समझते हैं।" जैसा कि ब्रायर्ली (Brierly) महोदय ने कहा है कि मध्ययुग के लेखको ने यह घोषणा करके कि विरोध की दशा मे प्राकृतिक विधि निश्चयात्मक नियमो को रद्द कर सकती है, एक प्रतिकूल सिद्धान्त को प्रवृत्त कर दिया है, जो भयानक है। उन्होंने विधान के कार्य को वर्तमान विधि क्या है इसे ढूंढने के कार्य के साथ मिलाकर गड़बड़ी उत्पन्न कर दी जब कि उनका यह मत था कि विधि के नियम का युक्तिसंगत न होना उसको अवैध कर सकता है।

अध्याय ५

राष्ट्रों की विधि का संहिताकरण

(Codification of the Law of Nations)

परिभाषा :—संहिता सविधियो का एक संकलित रूप है (A code is a consolidation of the statute law.); अथवा यह एक संग्रह है जिसमे किसी विशेष विषय सम्बन्धी सभी सविधियो का संग्रह है। संहिताकरण वह क्रिया है जिसके द्वारा सविधियो (statutes), अभिसमय (conventions) रूढ़-विधि (customary laws) अथवा न्यायाधिकरणो के निर्णयो से उत्पन्न होने वाले नियम स्वल्प अथवा बिना किसी परिवर्तन के लेखबद्ध विधियो के रूप मे बदल दिये जाते हैं। यह सामान्य अभिसमय द्वारा राज्यो के बीच में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषयो के बारे में करार प्राप्त करता है तथा एक अंकुश के समान कार्य करता है जिससे किसी विशेष विधि का निर्णय केवल न्यायाधीशो के मन पर ही न छोड़ दिया जाय। यह विरोधी विचारों को समाधान करने की प्रवृत्ति रखता है और भिन्न-भिन्न राज्यो के बीच में सहमति या सौहार्द संभव करता है।

लाभ—संहिताकरण द्वारा किसी विशेष विषय में क्या विधि है इसका शीघ्र ही पता लगाया जा सकता है और एक विशाल क्षेत्र में एकता लाई जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का दोष यह है कि यह अनिश्चित है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय मशीन इतनी कुशल नहीं है जितनी राज्य की विधानकारी मशीन। संहिताकरण विभिन्न राज्यों के बीच के विरोधी विचारों का सामाधान करके उन विभिन्न इकाइयों को विधि के एक बड़े भाग को एक सूत्र में बाँध देता है जो कि अन्यथा विभिन्न तथा विरोधी सम्मतियों के विषय बने रहते हैं।

यत्नपूर्वक संकलित संहिता न्यायाधीश को न्याय करने में बड़ी सहायता पहुँचाती है। न्यायाधीश लोग व्याख्या की क्रिया द्वारा बहुत से दोषों का समाधान कर सकते हैं जिनका प्रायः संहिताकरण में समावेश हो जाता है।

रूढ़ि द्वारा विधि के विकास की गति बहुत ही मन्द रहती है। सभ्यता का विकास, नये हितों का प्रादुर्भाव तथा नये अविष्कारों के साथ समाज का ढाँचा दिन प्रतिदिन जटिल होता जा रहा है। स्थितियों तथा वातावरण में प्रायः इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा है कि किसी राष्ट्र की निश्चयात्मक विधि को उनके साथ चलना कठिन हो जाता है। अतः संहिताकरण इन उन्नतियों तथा विकासों से उत्पन्न हुई समस्याओं को सुलझाने के लिये आवश्यक हो जाता है और विधि के विज्ञान को प्रोत्साहित करता है।

बहुत से आवश्यक विषयों के सम्बन्ध में जो मतभेद तथा गड़बड़ी उत्पन्न हो जाती है विधि के संहिताकरण से लुप्त हो जावेगी।

विभिन्न विधि के संहिता में एक संकलित रूप में उपस्थित होने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा अन्य न्यायाधिकरणों को, प्रस्तुत विवादों का निर्णय करने में अत्यन्त सहायता पहुँचेगी।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण इसकी स्पष्टता तथा प्रामाणिकता में वृद्धि करता है और इसके फलस्वरूप राष्ट्रों को अपने को न्यायिक अथवा पंचायती निर्णयों के अधीनस्थ करने को कुछ सीमा तक बाध्य करता है।

संक्षिप्त इतिहास—राष्ट्रों की विधियों के संहिताकरण के विचार पर सब से प्रथम अठारहवीं शताब्दी के अन्त में बेन्थम द्वारा तर्क-वितर्क किया गया। उसने एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि की कल्पना की जो सभ्य राष्ट्रों के बीच निरन्तर शान्ति का आधार हो सकती थी।

वास्तविक संहिताकरण का प्रयत्न पेरिस की घोषणा पर सन् १८५६ में किया गया। क्रीमियाँ के युद्ध के अन्त में इस घोषणा पर ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रान्स, ऑस्ट्रिया,

रूस, प्रशा, सार्डीनिया तथा टर्की द्वारा हस्ताक्षर किये गये। चार सिद्धान्त निर्धारित हुये :—

(१) शत्रुओ के जहाजो का लूटना बन्द कर दिया जाय ;

(२) तटस्थ झडे के आवरण मे शत्रु के माल का संरक्षण, युद्ध सम्बन्धी प्रतिषिद्ध पदार्थों को छोड़कर, रहता है।

(३) शत्रु के झडे के नीचे तटस्थ राष्ट्रो का युद्ध सम्बन्धी प्रतिषिद्ध पदार्थों को छोड़कर अन्य माल ज़ब्त न किया जाय।

(४) नाकाबन्दी वास्तविक तथा बाध्य होने के लिये कार्य के साधन के रूप मे की जानी चाहिये।

वाशिंगटन की सन्धि जो ८ मई सन् १८७१ को सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के मध्य मे हुई उसमे उनके मतभेदो को तय करने के अतिरिक्त तटस्थ राष्ट्र के समुद्र मे जहाजो को सुरक्षित करने तथा उसके बन्दरगाहो के उपयोग करने पर उसके क्या कर्तव्य हैं इस सम्बन्ध मे भी निर्णय किया गया।

सन् १८७२ मे डडले फ़ील्ड (Dudley Field) ने "अन्तर्राष्ट्रीय विधि की रूपरेखा का मसौदा" (Draft Outlines of an International Code) प्रकाशित किया।

सन् १८७४ मे रूस के अलक्षेन्द्र द्वितीय (Alexander II) की प्रेरणा पर ब्रसेल्स सम्मेलन (Brussels Conference) ने साठ अनुच्छेदो के समूह का मसौदा 'ब्रसेल्स की घोषणा' के नाम से किया परन्तु वे अनुच्छेद शक्तियो द्वारा सत्यांकित नही किये गये।

हेग सम्मेलन—सन् १८९९ मे हेग सम्मेलन मे जो रूस के निकोलस द्वितीय के अभिमन्त्रण पर बुलाई गई थी, दो प्रमुख अभिसमय सहिता के रूप में बनाये गये :—

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो का शान्तिपूर्वक निपटारा करने के लिये अभिसमय (Convention for the Pacific Settlement of International Disputes), और

(आ) भूमियुद्ध सबधी विधि तथा उसके रूढि सम्बन्धी अभिसमय (Convention with respect to the Laws and Customs of War on Land)।

सम्मेलन मे २६ शक्तियो ने भाग लिया। इसकी प्रतिज्ञायें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सहिताकरण की सीमाचिह्न हैं।

१९०७ के हेग सम्मेलन ने तेरह अभिसमय निर्मित किये जिनमें से कुछ समुद्री विधि के भागो के सहिताकरण हैं। उनमे भूमि तथा समुद्र पर युद्ध और तटस्थता

सम्बन्धी नियमो की भी व्यवस्था की गई है। सम्मेलन मे ४४ स्वतन्त्र प्रभु सत्ताधारी राष्ट्रो ने भाग लिया।

लंदन की घोषणा (Declaration of London)—सन् १९०९ के लदन के समुद्रीय सम्मेलन मे प्रतिषिद्ध करने के प्रयोजन से वस्तुग्रो की एक संमत सूची बनाने का प्रयत्न किया गया। इसके निर्णय लदन की घोषणा (१९०९) मे सम्मिलित किये गये, परन्तु घोषणा पुष्टीकृत न होने के कारण लागू नही हुई। प्रथम विश्वव्यापी महायुद्ध सन् १९१४, और तदनन्तर १९३९, के सघात ने लदन की घोषणा को प्राधिकार के शेष अश से भी वचित कर दिया।

लीग आफ नेशन्स (The League of Nations):—दि लीग आफ नेशन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण मे तीव्र रुचि दिखलाई। सन् १९२४ मे लीग की परिषद् (Council) ने सभा (Assembly) के क्रम मे विशेषज्ञो की एक समिति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण पर प्रतिवदन करने के लिये तथा संहिताकरण के लिये परिपक्व विषयो को छाटने के लिये नियुक्त की। सन् १९२७ में अपने प्रतिवेदन मे समिति ने निम्नलिखित विषयो को संहिताकरण के योग्य मान कर प्रस्तुत किया : (१) राष्ट्रिकता, (२) प्रादेशिक समुद्र, (३) किसी राष्ट्र की उसके प्रदेश मे विदेशियो के शरीर अथवा सम्पत्ति को पहुँचाई गई हानि के लिये उत्तरदायित्व, (४) राजनैतिक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ, (५) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो तथा सन्धियो के मसौदा तैयार करने की प्रक्रिया, (६) समुद्री डकैती, तथा (७) समुद्र के उत्पन्न पदार्थों का उपयोग।

सितम्बर १९२७, मे सभा (Assembly) ने समिति द्वारा परिषद् (Council) को दिये गये प्रतिवेदन तथा परिषद् के उस पर कथन का परीक्षण किया और निम्नलिखित तीन विषयो पर विधि के संहिताकरण के प्रयोजन के लिये हेग में एक सम्मेलन बुलाया :—

(१) राष्ट्रिकता,
(२) प्रादेशिक समुद्र,
(३) किसी राष्ट्र की उसके प्रदेश मे विदेशियो के शरीर तथा सम्पत्ति को पहुँचाई गई हानि के लिये उत्तरदायित्व।

इसके अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उत्तरोत्तर संहिताकरण के लिए प्रथम सम्मेलन हेग मे सन् १९३० मे मार्च १३ से अप्रैल १२ तक हुआ। इसमे तीन समितियाँ उपरोक्त तीन विषयो में से प्रत्येक के लिये एक-एक बनी। राष्ट्रिकता सम्बन्धी प्रथम समिति के विचारों के परिणामस्वरूप परिषद् ने निम्नलिखित बातों को स्वीकृत किया :

(अ) राष्ट्रिक विधियो (Nationality Laws) के सघर्ष सम्बन्धी कुछ प्रश्नो के सम्बन्ध मे एक अभिसमय।

(आ) दोहरी राष्ट्रिकता के (Double Nationality) कुछ मामलो मे सैनिक आभार सम्बन्धी सलेख (Protocol)।

(इ) ऐसा कोई मामला जिसमे कोई राष्ट्रीयता ही न हो तत्सम्बन्धी सलेख (Protocol)।

(ई) राष्ट्रिकतारहित मामला सम्बन्धी एक विशेष सलेख (Protocol)।

बाद में ये अभिसमय कई राष्ट्रो द्वारा सत्यांकित किये गये। प्रादेशिक समुद्रो के बारे मे कोई अभिसमय उस समिति द्वारा स्वीकृत नही किया जा सका जिसको यह कार्यभार सौंपा गया था क्योकि प्रादेशिक समुद्रो की चौडाई के प्रश्न के सम्बन्ध में तथा उसके निकटवर्ती मिले हुए भूमडल की समस्या के सम्बन्ध में कोई संविदा नही हो सकी। सम्मेलन मे राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे विशेषत अन्य देशीय निवासियो के साथ व्यवहार के सम्बन्ध मे भी कोई सहमति न हो सकी।

लीग के सरक्षण में युद्ध की विधि के क्षेत्र मे भी बहुत से अभिसमय बनाये गये। वर्साई की सन्धि के अनुच्छेद १७१ द्वारा दम घोटने वाली विषैली अथवा अन्य गैसो का उपयोग निषिद्ध किया गया और जर्मनी में इसका निर्माण रोक दिया गया। १९२१-१९२२ के वाशिंगटन सम्मेलन में यह यत्न किया गया कि शस्त्रीकरण की परिसीमन पर एक सविदा हो जाय परन्तु सम्मेलन अपने प्रारम्भिक कार्य से दूर चला गया और उसने युद्ध सम्बन्धी नियमो को बनाया जिनके द्वारा विषैली गैसो के प्रयोग को रोका और पनडुब्बी जहाजो की युद्ध की रीतियो को निर्धारित किया। इस क्षेत्र में इसके परिश्रम को वर्तमान विधि की सहिताकरण की श्रेणी में नही वरन् एक नये विधान की श्रेणी मे रक्खा जाना चाहिये।

सन् १९२३ में न्यायविशारदो के एक आयोग ने वायु-युद्ध सम्बन्धी नियमो को बनाया।

सन् १९२५ में लीग की परिषद् के निमन्त्रण पर कई राष्ट्रों का एक विशेष अधिवेशन हुआ जिन्होने दम घोटनेवाली विषैली अथवा अन्य गैसो को निषिद्ध करने वाले एक सलेख (protocol) पर हस्ताक्षर किये। जुलाई १९२९ मे स्विटजरलैंड की सरकार के निमन्त्रण पर ४७ राष्ट्रो के प्रतिनिधियो ने युद्ध-क्षेत्र मे पडे हुए सेनाओ के बीमारो तथा घायलो और युद्धबन्दियो के प्रबन्ध सम्बन्धी सशोधित अभिसमय को बनाया।

संयुक्त राष्ट्र संघ का अधिकार-पत्र (Charter) तथा संहिताकरण :— संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकार-पत्र के अनुच्छेद १३ मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सहिताकरण के लिये पर्याप्त अवसर दिया गया है। उसमे कहा गया है कि—

(१) सामान्य सभा निम्नलिखित प्रयोजन के लिये अध्ययन प्रारम्भ करावेगी तथा प्रतिवेदन करेगी,

(अ) राजनैतिक क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि और इसके संहिताकरण का उत्तरोत्तर विकास।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (The International Law Commission) :—

संयुक्त राष्ट्र संघ का अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग सामान्य सभा के दिनांक नवम्बर २१, सन् १९४७, के प्रस्ताव द्वारा अधिपत्र (चार्टर) के अनुच्छेद १३ (१) (अ) को पूर्ण करने के लिये नियुक्त किया गया जिसके द्वारा सामान्य सभा को यह भार सौंपा गया है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा इसके संहिताकरण के उत्तरोत्तर विकास को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से अध्ययन आरंभ करावे और सिफारिश करे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग की संविधि (Statute) के अनुच्छेद १ मे यह व्यवस्था की गई है कि कमीशन का लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उत्तरोत्तर वृद्धि तथा इसका संहिताकरण होगा। यह मुख्यतः सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि से सम्बन्धित है परन्तु इसके लिये वैयक्तिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र मे प्रवेश करने में कोई प्रतिबन्ध नही है।

संविधि (Statute) :— आयोग (Commission) १५ सदस्यो का बना है जिसमे अनुच्छेद २ के अनुसार ऐसे व्यक्ति होने चाहिये जिनको अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे योग्यता के लिये मान्यता प्रदान की गई हो। आयोग के कोई भी दो सदस्य एक ही राज्य के न होने चाहिये। आयोग के सदस्य सामान्य सभा द्वारा तीन वर्ष की अवधि के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यो की सरकारो द्वारा नामनिर्दिष्ट उम्मीदवारो की सूची में से निर्वाचित होते हैं। (अनुच्छेद ३)

अनुच्छेद १८ के अन्तर्गत आयोग को इस कार्य का भार सौंपा गया है कि वह संहिताकरण के विषयो का संकलन करने के उद्देश्य से वर्तमान मसौदो (Drafts) को, चाहे वे सरकारी हो अथवा नही, ध्यान मे रखते हुये अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्पूर्ण क्षेत्र का पर्यवेक्षण करे। जब आयोग समझता है कि किसी विशिष्ट विषय का संहिताकरण आवश्यक है अथवा वांछनीय है तो इसे अपनी सिफारिशों को सामान्य सभा के समक्ष प्रस्तुत करना पड़ता है।

नवम्बर २१ सन् १९४७ को सामान्य सभा ने आयोग को यह निर्देश किया कि (अ) अन्तर्राष्ट्रीय विधि जिसका वि नूरम्बर्ग न्यायाधिकरण के चार्टर तथा उस निर्णय मे मान्यता प्रदान की गई है, उसके सिद्धान्तो को सूत्रित करे, (आ) मनुष्य जाति की शान्ति तथा सुरक्षा के विरुद्ध अपराधो की संहिता का मसौदा तैयार क

और उसमें यह स्पष्ट रूप से दिखलावे कि उपरोक्त उप-अनुच्छेद (अ) में कथित सिद्धान्तों को क्या स्थान दिया जाय। आयोग से यह भी कहा गया कि यह राष्ट्रों के अधिकार तथा कर्तव्यों की घोषणा का मसौदा तैयार करे और जनवध (genocide) तथा कुछ अन्य अपराधों के परीक्षण के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक संस्था के स्थापन की संभावनाओं का अध्ययन करे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सर्वेक्षण तथा संहिताकरण के लिए विषयों का चुनाव:— आयोग ने निम्नलिखित तीन विषयों का प्राथमिकता देने का निर्णय किया :—

(१) सन्धियों की विधि (Law of Treaties), (२) पंचायती प्रक्रिया (Arbitral Procedure), (३) समुद्रों की शासन-पद्धति (Regime of the High Seas)।

राज्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों की घोषणा का मसौदा (Draft Declaration on Rights and Duties of States) :—

आयोग ने राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की घोषणा का मसौदा तैयार करने का कार्यभार अपने ऊपर लिया और इसकी विवेचना का आधार पनामा द्वारा प्रस्तुत किये गये राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की घोषणा का मसौदा रक्खा और इसके साथ ही इस विषय पर अन्य लेखों तथा मसौदों को भी ध्यान में रक्खा गया। इसने न कि बंधनकारी नियमों (binding rules) को पद्धति के रूप में वरन् आचरण के स्तर के रूप में सामान्य सभा द्वारा ग्रहण तथा घोषित किये जाने के लिये एक घोषणा तैयार की। भिन्न-भिन्न धाराओं के द्वारा जो कि संख्या में १४ थे राष्ट्रों के चार अधिकारी घोषित किये—स्वतन्त्रता के अधिकार, राष्ट्रीय प्रदेश के ऊपर क्षेत्राधिकार और अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा स्वीकृत उन्मुक्तियों के अधीन व्यक्तियों तथा वस्तुओं के ऊपर अधिकार, समानता के अधिकार और सैनिक आक्रमण होने पर व्यक्तिगत तथा सामूहिक-सुरक्षा के अधिकार।

अक्टूबर १९५२ तक १८ सदस्य राष्ट्रों ने अपनी-अपनी टिप्पणियाँ भेज दीं। सभा के पाँचवें अधिवेशन की छठी विधिक समिति ने यह निर्णय किया कि राज्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की घोषणा के मसौदा पर विचार करने के पूर्व अन्तिम प्रतिवेदनों (रिपोर्टों) की प्रतीक्षा की जाय।

नूरम्बर्ग सिद्धान्तों का निरूपण (Formulation of Nuremberg Principles) :— अपने दूसरे अधिवेशन में (जून ५—जुलाई २९, १९५०) आयोग ने उन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सात सिद्धान्तों की एक श्रेणी बनाई जो कि

न्यायाधिकरण के चार्टर तथा उसके निर्णय मे स्वीकृत किये गये थे। वे निम्नलिखित हैं :—

(१) कोई व्यक्ति जो ऐसा कार्य करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत एक अपराध है वह उसके लिये उत्तरदायी है और दंड का भागी है।

(२) यदि कोई कार्य जिसकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपराध मे है, पर आन्तरिक विधि के अन्तर्गत दंडनीय नही है, किसी व्यक्ति द्वारा किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत वह व्यक्ति उत्तरदायित्व से मुक्त नही होता।

(३) यदि कोई कार्य जिसकी गणना अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपराध मे है, किसी व्यक्ति द्वारा राज्य के अध्यक्ष अथवा उत्तरदायी सरकारी पदाधिकारी के रूप मे किया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत वह व्यक्ति उत्तरदायित्व से मुक्त नही होता।

(४) यदि कोई कार्य किसी व्यक्ति द्वारा अपनी सरकार अथवा अपने से सर्वोच्च के आदेशानुसार किया जाय तो वह व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत इस अनुबन्ध के साथ कि उस व्यक्ति के लिये नैतिक विकल्प (moral choice) संभव रहा हो, दायित्व से मुक्त नही होता।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपराध के लिये आरोपित किसी व्यक्ति को तथ्य तथा न्यायानुसार उचित विचारण (trial) का अधिकार है।

(६) यथाक्रम रक्खे हुये अपराध अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपराधो के रूप मे दंडनीय हैं (अ) शान्ति के विरुद्ध अपराध, (आ) युद्धापराध, (इ) मानवता के विरुद्ध अपराध।

(७) सिद्धान्त ६ मे यथोल्लिखित शान्ति के विरुद्ध अपराध, युद्धापराध अथवा मानवता के विरुद्ध अपराध मे भाग लेना भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपराध है।

सभा ने अपने १९५० के अधिवेशन मे आयोग की सिफारिशों को सदस्य-राष्ट्रों की सरकारो के पास उनकी टिप्पणी के लिए भेजा।

प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि (Customary International Law)—आयोग ने अपने दूसरे अधिवेशन मे यह प्रतिवेदित किया कि संयुक्तराष्ट्रों के दर्शों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध मे किये गये प्रकाशनो का यथासंभव विस्तृत रूप मे वितरण किया जाय, और यह कि सभा अपने सचिवालय (secretariat) को यह अधिकृत करे कि वह प्रकाशनो का आठ समूह बनाये और उनको विस्तृत रूप से वितरण करे जिससे प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि का साक्ष्य अधिक सुगमता से

प्राप्त हो सके और यह कि सभा सरकारों का ध्यान अपने राजनैतिक पत्र-व्यवहार के संक्षिप्त संग्रह के प्रकाशन की उपादेयता की ओर आकर्षित करे ।

अग्रघर्षण (Aggression) की परिभाषा :—यद्यपि आयोग ने अपने तीसरे अधिवेशन में जेनेवा में (मई १६ से जुलाई २७ सन् १६५१ तक) प्रथमतः अग्रघर्षण को परिभाषित नहीं किया था क्योंकि इसकी परिगणना करना कठिन था तथापि इसने पुनर्विचार पर यह निश्चित किया कि अग्रघर्षण की सामान्य परिभाषा का समावेश मनुष्यजाति की शांति तथा सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की संहिता के मसौदे में कर दिया जाय । शब्द 'अग्रघर्षण' में कोई अग्रघर्षण का कार्य जिसमें किसी राष्ट्र के अधिकारियों द्वारा राष्ट्रीय अथवा सामूहिक आत्मरक्षा में अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सक्षम अंग के निर्णय अथवा सिफारिश (recommendation) के अनुसार किये गये बलप्रयोग से भिन्न किसी अन्य प्रयोजन के लिये किसी दूसरे राज्य के विरुद्ध सैनिक बल का उपयोग भी सम्मिलित था ।

मनुष्य जाति की शांति तथा सुरक्षा के विरुद्ध अपराधों की संहिता का मसौदा (Draft Code of Offences against the Peace and Security of Mankind) :—आयोग ने अपने दूसरे अधिवेशन में इस विषय पर एक मसौदा तैयार किया जो सभा के समक्ष उसके १६५० के अधिवेशन में उपस्थित किया गया । सभा ने अपने सदस्य-राज्यों से टिप्पणियाँ माँगी ।

अपने तीसरे अधिवेशन में आयोग ने एक संहिता का मसौदा तैयार किया और अपना तात्पर्य उन्हीं अपराधों तक सीमित रक्खा जिनमें कोई राजनैतिक तत्व सम्मिलित था तथा जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा के अनुपालन में सङ्कट और बाधा उत्पन्न होती थी । संहिता में परिगणित अपराधों को 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपराध' के रूप में परिभाषित किया गया । आयोग ने निश्चय किया कि केवल व्यक्तियों को ही ऐसे अपराधों के लिये दंडित किया जाना चाहिये और भाव-वाचक नामों से सूचित अपराधों के लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई ।

संहिता के मसौदे में अन्य अपराधों के अतिरिक्त निम्नलिखित अपराध भी सम्मिलित थे, अर्थात् अग्रघर्षण का कार्य, अग्रघर्षण की धमकी, किसी राज्य के अधिकारियों द्वारा किसी अन्य राज्य के विरुद्ध बल-प्रयोग की तैयारी, आत्म-संरक्षण में अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सक्षम अंग के निर्णय अथवा सिफारिशों के अनुसरण में किये गये प्रयोजनों से भिन्न किसी और प्रयोजन के लिये किसी राज्य का सैन्यदलों द्वारा राजनैतिक प्रयोजन से दूसरे राज्य के प्रदेश में आक्रमण, किसी राज्य के अधिकारियों का किसी अन्य राज्य में राजनैतिक झगड़ों के भड़काने अथवा भय

उत्पन्न करने वाले कार्य करने से सम्बन्धित कार्य, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रतिक्रमण करके किसी प्रदेश का समामेलन (annexation), राज्य के अधिकारियों द्वारा अथवा वैयक्तिक रूप मे जनवध, नागरिक जनता के विरुद्ध अमानुषिक कार्य, युद्ध-नियमो के प्रतिक्रमण मे कार्य। आयोग ने यह मत प्रकट किया कि किसी व्यक्ति का किसी राज्य के अध्यक्ष के रूप मे अथवा एक उत्तरदायी सरकारी पदाधिकारी के रूप मे कार्य करना उसको उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं करता। यदि कोई व्यक्ति अपने सरकार अथवा प्रवर के आदेशानुसार कार्य करे तो केवल उसी दशा मे उत्तरदायी माना जा सकता है जब उसके लिये नैतिक विकल्प वास्तव मे सम्भव रहा हो।

एक अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड न्यायालय के स्थापन के आलम्बित रहने तक आयोग ने कोई लेख-पत्र संहिता के कार्यान्वित करने के लिये नहीं बनाया और प्रत्येक अपराध के लिये एक निश्चित दण्ड की व्यवस्था किये बिना उसका प्रयोग राष्ट्रीय न्यायालयो के ऊपर छोड़ दिया।

प्रधान समुद्रों की शासन-पद्धति (Regime of the High Seas) किनारे का राज्य समुद्र मे बलुई किनारे तथा उभरे हुये चट्टान पर (shelf) प्राकृतिक साधनो को उपयोग करने का नियन्त्रण तथा क्षेत्राधिकार रख सकेगा किन्तु निकटवर्ती ऊपर के समुद्र की तथा वायुमण्डल की वैधिक स्थिति पर उसका कोई प्रभाव नहीं रहेगा।

सन्धियों की विधि (Law of Treaties) :—यह विषय आयोग के प्रथम अधिवेशन मे संहिताकरण के लिये चुना गया। सन्धियों की तैयारी, सन्धि करने की योग्यता, सत्याकन, स्वीकृति तथा सन्धियो मे प्रवेश सम्बन्धी बहुत सी धाराओ के मसौदे आयोग के विचाराधीन थे।

अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक क्षेत्राधिकार (International Criminal Jurisdiction) :—आयोग ने अपने दूसरे अधिवेशन मे जनवध तथा कुछ अन्य अपराधों के विचार के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक अग के स्थापना की आवश्यकता की परीक्षा की। इसके विचार मे एक पृथक अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय की स्थापना सम्भव तथा वाछनीय दोनो थी, पर वह ऐसे न्यायालय के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को चैम्बर (chamber) के रूप मे स्थापित किये जाने के विरुद्ध था।

अपने पाँचवें अधिवेशन में सभा (Assembly) ने एक अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय के स्थापन तथा संविधि (statute) सम्बन्धी अभिसमय का मसौदा

तैयार करने के लिये एक विशेष समिति नियुक्त की। समिति की बैठक जेनेवा में अगस्त सन् १६५१ में हुई और इसने अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय के लिये संविधि (statute) का मसौदा तैयार किया।

समिति की रिपोर्ट संविधि (statute) के सहित सरकारों को टिप्पणी तथा अवलोकन के लिये भेजी गई।

मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा :—सन् १६४८ मे संयुक्त राष्ट्र संघ ने मनुष्य के अधिकारो का पहला अन्तर्राष्ट्रीय वक्तव्य अर्थात् 'मानवीय अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा' घोषित की। अप्रेल ६ सन् १६५० को मानवीय अधिकारों के आयोग ने प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार का विधि द्वारा संरक्षण तथा इसके एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (Convention) मे सम्मेलन के सिद्धान्त को स्वीकृत किया।

अन्य अभिसमय (Other Conventions) :—संयुक्त राष्ट्र संघ ने जन-वध (genocide) पर एक अभिसमय तैयार किया है जिसके अनुसार किसी प्रकार के राष्ट्रीय, जातीय अथवा वंशीय समूहों के विनाश के उपलक्ष्य मे किये गये अन्तर्राष्ट्रीय अपराध के कार्य दंडनीय माने गये हैं, उनके लिये उत्तरदायी व्यक्ति चाहे राजा हो, राष्ट्र हो, सरकारी पदाधिकारी हो अथवा सामान्य व्यक्ति हो, सभी माने गये हैं। ३१ जनवरी, १६५६, तक ५६ राज्यो ने इसका अनुसमर्थन किया।

एक अभिसमय का मसौदा सूचना की स्वतन्त्रता तथा समाचारो के अन्तर्राष्ट्रीय प्रेषण (भेजने) के सम्बन्ध मे भी तैयार किया गया है जिस पर साधारण सभा की सामाजिक समिति द्वारा विवेचना हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में विशेषज्ञों के एक समुदाय ने एक नीति-संहिता का मसौदा तैयार किया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के भिन्न-भिन्न दल विश्व के सामाजिक समस्याओ के सुलझाने मे लगे हुये हैं जिनमे बलात् श्रम, दासता, श्रमिक संघो के अधिकारो का संरक्षण, जनसंख्या का अध्ययन, इत्यादि सम्मिलित हैं।

जुलाई सन् १६५१ मे शरणार्थियो की प्रास्थिति (status) पर एक अभिसमय संयुक्तराष्ट्र संघ की अध्यक्षता मे स्वीकृत की गई जो शरणार्थियो के अधिकारो पर सबसे अधिक विस्तृत लिखित अधिकारपत्र है। संयुक्त राष्ट्र संघ का एक आयोग जिसमे विधिवेत्ता प्रमाणिक व्यक्ति हैं, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण तथा विकास के प्रयत्न मे लगा हुआ है।

अध्याय ६
अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्र-विधि में परस्पर सम्बन्ध
(Relation between International Law and Municipal Law)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार-भूत सिद्धान्तो के अध्ययन करने के पूर्व यह आवश्यक है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्र-विधि मे क्या सम्बन्ध है इसका संक्षेप मे अध्ययन किया जाय। हमने इससे पूर्व यह देख लिया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि प्रभु-सत्ताधारी स्वतन्त्र राज्यो के पारस्परिक सम्बन्धो को अनुशासित करती है। राष्ट्र-विधि (*Municipal Law*), राज्य-विधि (*State Law*) अथवा राष्ट्रीय-विधि (National Law) किसी राष्ट्र अथवा देश की विधि है और इस सम्बन्ध में वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध है। केलसेन का कहना है कि राष्ट्रीय विधि व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करती है और अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्यो के व्यवहार को, अथवा जैसा कहा जाता है कि राष्ट्रीय विधि के नियम राज्य के 'आन्तरिक सम्बन्ध' अथवा तथाकथित 'घरेलू मामले' हैं। और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय राज्यो के 'बाह्य' सम्बन्ध अर्थात् उनके 'विदेशीय मामले' हैं।

क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्र-विधि या विभिन्न राष्ट्रीय विधियों को एक ही वस्तु, अर्थात् विधि के ही एक विचार के भिन्न-भिन्न रूप कहा जा सकता है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि विधि की एक स्वतन्त्र पद्धति है जो राष्ट्र-विधि से प्रधानत भिन्न है। इस प्रश्न पर बहुत-सा साहित्य निकल चुका है। प्रथम सिद्धान्त को एकात्मक (Monistic) और द्वितीय सिद्धान्त को द्वैतात्मक (Dualistic) कहा जाता है।

एकात्मक *सिद्धान्त (Monistic Theory)*:—एकात्मक सिद्धान्त के विचार वाले यह प्रतिपादित करते हैं कि विधि की दोनो पद्धतियो अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्र-विधि के विषय प्रधानतः एक ही है क्योकि पहला राज्यो के आचरण को निरूपित करता है और दूसरा व्यक्तियो के आचरण को। इस मत के अनुसार विधि प्रधानरूप मे एक आज्ञा है जो इसके (विधि के) अधीनस्थ विषयो पर उनकी स्वतन्त्र इच्छा से बधनकारी है जो (अधीनस्थ विषय) एक दशा मे राज्य है और दूसरी दशा मे व्यक्ति। इस मत के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्र-विधि एक ही वस्तु के दो रूप हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि यद्यपि सीधे राज्यो को निगम (corporate bodies) के रूप मे सम्बोधित है, तथापि वह व्यक्तियो पर भी लागू है क्योकि राज्य अन्ततो-

गत्या केवल व्यक्तियों के ही संगठन हैं। इस सिद्धान्त (doctrine) के पक्ष का समर्थन वियेना स्कूल के केलसन (Kelsen) महोदय द्वारा किया गया है जिनके मतानुसार राष्ट्र-विधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि में एकता है और इसके विरुद्ध कोई विचार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वैध लक्षण का ही उल्लंघन करता है। ड्यूगी (Duguit) महोदय एक पग और आगे बढ गये और उन्होने इस मत का अवलम्बन किया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन राष्ट्र नहीं बल्कि राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य है। (The subjects of International Law are not States but the individual members of States.—Duguit).

द्वैतात्मक सिद्धान्त (Dualistic Theory) :—द्वैतात्मक सिद्धान्त के विचारों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्र-विधि की पद्धतियाँ यहाँ तक पृथक् तथा स्वयं परिपूर्ण हैं जहाँ तक एक के नियम दूसरे में ग्रहण नहीं किये जाते। ओपेनहेम का कथन है कि इस विचार के अनुसार राष्ट्रों की विधि (Law of Nations) तथा राष्ट्र-विधि (Municipal Laws) प्रधानत. एक दूसरे से भिन्न हैं। सब से प्रथम तो उनके स्रोतों में ही अन्तर है। राष्ट्र विधि के स्रोत सम्बन्धित राष्ट्रों की सीमाओं के भीतर विकसित रूढ़ियाँ तथा उनमें बनायी गई सविधियाँ (statute) हैं और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत राष्ट्रों के कुटुम्ब के भीतर विकसित रूढ़ियाँ तथा इसके सदस्यों द्वारा की गई विधि-विधायक सन्धियाँ हैं। दूसरे यह कि, राष्ट्र-विधि राज्य के प्रभुत्व के अधीन व्यक्तियों के अथवा व्यक्तियों तथा राज्य के बीच के सम्बन्धों को नियमित करती है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्यों के कुटुम्ब के सदस्य-राष्ट्रों के बीच के सम्बन्धों को नियमित करती है। अन्त में विधि के सार के सम्बन्ध में भेद है क्योंकि राष्ट्र-विधि व्यक्तियों के ऊपर एक सर्वोच्च सत्ता की विधि है जब कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि सर्वोच्चसत्ताधारी राज्यों के बीच की विधि है जो उनके मतैक्य होने से बनी है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि निर्बल विधि है। इस सिद्धान्त के पक्ष का समर्थन प्रधानतः ट्रिपेल (Triepel), (जर्मनी) तथा अंजिलोटी (Anzilotti) (इटली) द्वारा किया गया है।

रूपान्तर सिद्धान्त (Transformation Theory) :—उपरोक्त दो सिद्धान्तों के अतिरिक्त स्टार्क (Starke) महोदय एक अन्य सिद्धान्त को निर्देशित करते हैं जिसे हम रूपान्तर सिद्धान्त (Transformation Theory) के नाम से पुकारते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार "यह सन्धि का राष्ट्रीय विधान में रूपान्तर ही है जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय सविदाओं मे उल्लिखित नियमों का विस्तार व्यक्तियों के लिये भी वैध होता है। रूपान्तर एक केवल नियमानुसार ही नहीं बल्कि एक वास्तविक सारपूर्ण आवश्यकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रीय अथवा

राष्ट्र-विधि मे तब तक स्थान नही पा सकती जब तक वे अपने यन्त्र उस प्रयोजन के लिये उपयोग मे लाये जाने के लिय न दें। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का राष्ट्रीय विधान मे रूपान्तर का उदाहरण ग्रेटब्रिटेन द्वारा की गई प्रत्यर्पण (extradition) सन्धियों से मिलता है। अंग्रेजी विधि मे प्रत्यर्पण कार्यवाहियो द्वारा भागे हुए अपराधी को प्रकट सविधिक प्राधिकार (express statutory authority) बिना विदेशो देश को समर्पण करने की शक्ति नही है। एसा प्राधिकार प्रत्यर्पण अधिनियमो के अधीन परिषद् आदेशो (Orders-in Council) द्वारा दिया जाता है और केवल उन्ही में निर्दिष्ट अपराधो से सम्बद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य सन्धियो तथा अभिसमयों को लागू करन के लिये भी राष्ट्रीय विधान अपेक्षित है।

यह सिद्धान्त कई बातो मे भ्रान्तिपूर्ण है। प्रथम तो इसका यह पक्ष कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राष्ट्र विधि दो स्पष्टतया भिन्न-भिन्न पद्धतियाँ हैं, अशुद्ध है। दूसरे यह पक्ष कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल राज्यो के लिए बधनकारी है और राष्ट्र-विधि व्यक्तियो को लागू होती है यह भी सही नही है क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि उन नियमो का समूह है जो सभ्य राज्यो द्वारा अपने पारस्परिक आचरण तथा एक दूसरे की प्रजा के प्रति आचरण को निर्धारित करने के लिये स्वीकार किये गये हैं। तीसरे यह कि इस सिद्धान्त द्वारा सन्धियो के लागू होने के लिये राष्ट्रीय विधि मे रूपान्तर अपेक्षित है। यह बात विधि-विधायक सन्धियो की दशा मे निश्चय ही असत्य है। कुछ सन्धियाँ तो स्वय ही लागू होती हैं और रूपान्तर की अपेक्षा नही करतीं। उन सन्धियो के सम्बन्ध मे जो अपने पूर्ण होने के लिये वैध कार्य की अपेक्षा करती हैं यह पूर्ण होने का कार्य रूपान्तर नही कहा जा सकता जब तक कि हम इस पूर्ण होने के कार्य को ही रूपान्तर न मान लें।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि को राष्ट्रिक क्षेत्र में लागू करने के सम्बन्ध में राज्यों के प्रचलन—परस्पर विरोधी सिद्धान्तो को जिनकी विवेचना ऊपर की गई है दृष्टि मे रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय विधि को राष्ट्रिक क्षेत्र मे लागू करने के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न राज्यो के प्रचलनो की अब परीक्षा की जावेगी।

ग्रेट ब्रिटेन (Great Britain).—ग्रेट-ब्रिटेन मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि को प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधियो तथा सन्धि द्वारा निर्धारित विधियो मे उनकी प्रवृत्ति के सम्बन्ध मे भेद मानते हैं। प्रथागत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के ऐसे नियम जिनकी स्वीकृति सार्वभौमिक मान ली गई है, और जिनको देश की सम्मति प्राप्त हो गई है, देश की विधि के अश समझे जाते हैं। न्यायाधीश Blackstone के विचार जिनके द्वारा उन्होंने सन् १७६५ मे यह स्थापित किया कि राज्यो की विधि "यहाँ पूर्णतया सामान्य विधि द्वारा अङ्गीकृत की गई है और देश की विधि का भाग मानी जाती

है" (Law of Nations 'is here adopted in its full extent by the common law and is held to be a part of the law of the land') यह आजकल भी ठीक मानी जाती है। इससे पूर्व १७६४ के त्रिकेट बनाम बाथ (Triquet v. Bath) मे लॉर्ड मैन्सफील्ड Lord Mansfield ने अनुमोदन सहित लॉर्ड तालबॉट (Lord Talbot) की सम्मति को एक इससे पूर्व के बारबून (Barbuit) के मामले से उद्धृत करते हुए कहा है कि "राष्ट्रों की विधि पूर्णतया इगलैंड की विधि का भाग है।"

यह परम्परागत विचार वेस्ट रैंड सेण्ट्रल गोल्ड माइनिंग कम्पनी लिमिटेड बनाम किंग (West Rand Central Gold Mining Co Ltd v The King) वाले मामले मे पक्का करके कहा गया था। उसमे मुख्याधीश लॉर्ड अल्वस्टोन (Lord Alverstone, C J) द्वारा यह मत प्रकट किया गया कि जिस किसी बात को सभ्य राज्यो की सामान्य सम्मति प्राप्त हो गई हो उसे हमारे देश की भी सम्मति अवश्य प्राप्त हो गई होगी और जिस किसी बात मे हम सामान्यत अन्य राज्यो से सहमत हो गये हो वह उचित रीति से अन्तर्राष्ट्रीय विधि कही जा सकती है। ऐसी दशा मे वह हमारे नागरिक न्यायाधिकरणो द्वारा जब कभी उनको ऐसे प्रश्नो का निर्णय करने के लिये यथायोग्य अवसर प्राप्त हो जिनमें कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्त सगत हो स्वीकृत तथा लागू की जावेगी। चुग ची च्वांग बनाम किंग (Chung Chi Cheung v. The King) वाले मामले मे लॉर्ड अट्किन (Lord Atkin) ने यह कहा कि न्यायालय नियमो के एक समूह के अस्तित्व को मानते हैं जिनको कि राज्यो ने परस्पर स्वीकृत कर लिया है। किसी न्यायिक विवाद-प्रश्न मे वे अपेक्षित नियम का पता लगाने का यत्न करते हैं और उसको पा जाने पर ये उसे घरेलू विधि में समावेशित मानेगे जहाँ तक कि यह सिफारिशों (recommendations) द्वारा अधिनियमित अथवा उनके न्यायाधिकरणों द्वारा घोषित नियमो से असगत न हो।

अमेरिका (America) :—सयुक्त राज्य अमेरिका ने इस सिद्धान्त को कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधि देश की विधि का भाग है" ("International Law is part of the law of the land") बिना किसी सदिग्धता के लागू किया है। सब अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ जो सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सत्यांकित की गई हैं तथा ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़िविधि जिसे सयुक्त राज्य की स्वीकृति प्राप्त हो गई है अमेरिका के न्यायालयो पर बधनकारी हैं चाहे वे सविधियो के अनुबन्धो के प्रतिकूल ही क्यो न हो। जिन मामलों में झगड़ा रहता है उन मामलो में यह मान लिया जाता है कि सयुक्त राज्य की कांग्रेस का यह आशय कदापि न रहा होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को नष्ट

कर दिया जाय। अत इस सम्बन्ध मे अमेरिका तथा ब्रिटेन द्वारा प्रयुक्त प्रचलनों में घनिष्ठ समता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका का सविधान सन्धियो को सबसे अधिक महत्व देता है। उसके अनुच्छेद ६ मे से यह विशेष रूप से व्यवस्थित है कि "सयुक्त राज्य के प्राधिकार के अधीन की गई सब सन्धियां अथवा जो भविष्य मे की जावेगी देश की सबसे श्रेष्ठ विधि होगी और प्रत्येक राज्य (State) का न्यायाधीश उनसे बाध्य होगा चाहे किसी राज्य के सविधान मे अथवा विधियों मे उसके विरुद्ध कुछ भी हो।" इसका परिणाम यह होता है कि ज्यो ही प्रेसीडेंट किसी सन्धि को सत्यांकित करता है, यह अमरीकी विधि मे परिवर्तित हो जाती है। यदि सन्धियां स्वय निष्पादित होने वाली होती हैं तो वे न्यायालयो पर देश की विधि के अश के रूप मे बन्धनकारी होती हैं। यदि वे ऐसी हुई कि उनको प्रवृत्त करने के लिये क्षमता प्रदान करने वाले विधान की आवश्यकता हो तो वे देश की विधि तब तक नही होती जब तक कि वे आवश्यक विधान द्वारा प्रवर्तित न की जायें।

महाद्वीप वालों की रीति .—फ्रांस में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की प्रथागत विधि, उस समय तक राष्ट्र विधि का अश मानी जाती है जब तक वे देश के विधान के विरुद्ध न आती हो। सन्धियो के सम्बन्ध मे फ्रांस के न्यायालयो के निर्णयो मे कोई एकरूपता नही है। कभी-कभी तो न्यायालयों ने सन्धि को सविधियों से प्रबल माना है और प्रायः उन्होने इसके विपरीत अपना दृष्टिकोण रखा है। सन्धियो के लागू करने के सम्बन्ध मे भी फ्रांस मे स्थिति अस्थिर है। कुछ सन्धियो मे विधियों के समान घोषणा अपेक्षित है और कुछ केवल प्रकाशित की जाती हैं। बेल्जियम तथा पोलैंड मे यह आवश्यक है कि सन्धियो को लागू होने के लिए पार्लियामेंट की स्वीकृति लेनी चाहिए। डेनमार्क की विधि भी सामान्यत स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को मान्यता प्रदान करती है और इसके विरुद्ध कार्य अवैध माने जाते हैं।

स्पेन के सविधान (१९३१) के अनुच्छेद में यह उपबन्धित है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि देश की विधि का अश है।

जर्मनी के वीमर सविधान (१९१९) के अनुच्छेद ४ में यह निर्धारित किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सार्वभौमिक मान्य नियम जर्मन सघ के बाध्यकारी प्रभागों के समान वैध हैं, परन्तु इस अनुच्छेद के स्पष्ट व्यवस्थाओं के होते हुए भी जर्मन न्यायालयो ने इस अनुच्छेद का बहुत सकुचित अर्थ ग्रहण किया है। सन् १९२८ में जर्मन Reichsgericht ने यह मत ग्रहण किया कि वह lex posterior derogat priori (उत्तरवर्ती अधिनियम पूर्ववर्ती को रद्द कर देता है) सिद्धान्त के अनु-

सार कार्य करने को बाध्य है और एक उत्तरवर्ती सविधि (statute) को वर्साई की सन्धि की व्यवस्थाओ के विरुद्ध लागू कर दिया। एक दूसरे मामले मे जर्मनी के सर्वोच्च न्यायालय ने सन् १९३३ मे यह मत प्रकट किया कि केवल जर्मनी ही अपनी आन्तरिक बातो मे सर्वोच्च सत्ता होने के कारण यह निर्णय कर सकता है कि सविधान के अनुच्छेद ४ के अर्थ के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्यतः मान्य नियमो मे क्या-क्या आता है, अत. यह उसकी इच्छा पर निर्भर है कि ऐसा विधान बनावे जो सन्धि की व्यवस्था के विरुद्ध होता हो। सक्षेप मे न्यायालयो की प्रवृत्ति सविधान के अनुच्छेद को केवल उन्ही नियमो मे लागू करने की रही है जिनको कि जर्मनी की विशेष सम्मति प्राप्त हो गई हो।

भाग २

शान्ति की विधि

अध्याय ७

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय

(Subjects of International Law)

"विधि के विषय" क्या हैं? वे वस्तुत वह विषय हैं जिन पर विधि के नियम 'Rules of Law" लागू किये जाते हैं, अथवा यो कह ले कि वे सीधे विधि के नियमो से बाधित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधिकारो और कर्तव्यो से युक्त होते हैं, और अन्तर्राष्ट्रीय अधिकरण के समक्ष अपने अधिकारो के अतिक्रमण का दावा कर सकते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख विषय राज्य हैं। उन्ही को केवल राष्ट्रो की विधि मे प्रवेश करने का अधिकार है और वे ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का रूप धारण किये हुये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे प्रत्येक सभ्य राज्य राष्ट्रो के कुटुम्ब का सदस्य है और वैध परिभाषा मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। राज्य वे व्यक्ति हैं जिनको विधि के अनुसार अधिकार तथा कर्तव्य प्रदान किये जाते हैं यद्यपि यह सत्य है कि वे स्वभावत. पृथक्-पृथक् विभागो से निर्मित होने के कारण एक व्यक्ति की इकाई के रूप मे कार्य नही कर सकते और उनको इसके लिये नियुक्त कार्यकर्ताओ अथवा लोकसेवको द्वारा कार्य करना पडता है।

कट्टर व्यवहारवादियो (Orthodox Positivists) के मतानुसार, केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय बन सकते हैं और वैयक्तिक रूप से व्यक्ति उसके आधार हैं। इसका तात्पर्य यह होता है कि राष्ट्रो की विधि को ध्यान मे रखते हुए, व्यक्ति का कोई वैध अस्तित्व नही हुआ करता, उसका अस्तित्व तो केवल उसके राज्य के द्वारा ही सिद्ध होता है।

किन्तु आज इस सिद्धान्त पर अनेक तर्क किये जाते है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के परिणाम-स्वरूप और संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के प्रतिफल-रूप मे व्यक्तियों को भी वैध अस्तित्व प्राप्त हो गया है। अब व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के समक्ष "an object of international compassion a subject of international right" का रूपान्तर हो गया है, और वह केवल अन्तर्राष्ट्रीय अनुकम्पा का विषय नही रह गया है, बल्कि उसे स्वतन्त्र अस्तित्व भी प्राप्त हो चुका है। व्यक्ति के आधार-भूत अधिकारो को स्वीकार करके उसे राज्यो के अस्तित्व से पृथक् रूप से व्यक्तित्व प्रदान किया गया है और सीधे व्यक्ति पर अधिकारो और कर्तव्यो का दायित्व सौंपा गया है। इस प्रकार सयुक्त राष्ट्र के चार्टर एव अन्य विधि-नियामक सधियो के द्वारा व्यक्ति के अधिकारो को स्वीकार करने की दिशा मे एक नया कदम उठाया गया है। इससे व्यक्ति सीधे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय बन गया है।

राज्य की परिभाषायें (Definitions of State) :—राज्य (State) की परिभाषा भिन्न-भिन्न लेखको ने अपने-अपने मत के अनुसार निर्धारित की है। राज्य की विशेषताओ को भली प्रकार समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम कुछ प्रमुख लेखको के विचारो को जान ले :—

लॉरेंस :—लॉरेंस के मतानुसार राज्य एक राजनैतिक समाज (a political community) है जिसके सदस्य किसी केन्द्रीय सत्ता के समानरूप से अधीनस्थ होने के नाते आपस मे बँधे हुए हैं और उनमे से अधिकतर उसकी आज्ञाओ का पालन स्वभावतः करते हैं।

सॉमंड :—सामड की परिभाषानुसार राज्य मनुष्यो का एक समाज (a society of men) है जो कुछ उद्देश्यो की पूर्ति जैसे आन्तरिक सुव्यवस्था तथा बाह्य सुरक्षा के लिए स्थापित किया गया है।

हॉलैंड :—हॉलैंड के कथनानुसार राज्य मनुष्यो का एक अनेक जन समूह (a numerous assemblage of human beings organized for law, generally occupying a certain territory) है जो कानून के लिए सगठित हुए हों और जो साधारणतः एक विशिष्ट प्रदेश मे बसे हों।

हॉलैंड के मतानुसार राष्ट्र के पाँच लक्षण ये हैं—(१) बहुत से मनुष्य, (२) एक ऐसा स्थायी राजनैतिक सगठन कि जिसके द्वारा नागरिको का स्वाभाविक आज्ञा-पालन सुरक्षित रह सके, (३) एक प्रदेश जिसकी सीमा स्थिर हो, (४) स्वतन्त्रता और (५) सभ्यता का वह स्तर जिससे कि इसका प्रवेश राष्ट्रो के कुटुम्ब मे हो सके।

ओपनहेम —ओपनहेम के मतानुसार उपनिवेशो तथा अधिराज्यो के विपरीत दशा मे एक राज्य का अस्तित्व तभी होता है जब कि किसी जाति अथवा समाज के लोग किसी देश मे अपनी ही सर्वोच्चसत्ताधारी सरकार की अधीनता मे बस गये हो।

राज्य के अस्तित्व के लिए चार बातें होनी चाहिये —

(१) लोगों का एक समुदाय होना चाहिए। लोगों का समुदाय व्यक्तियो (पुरुषो तथा स्त्रियो दोनो) की एक समष्टि है जो एक जाति के समान साथ मे रहते हो चाहे वे भिन्न-भिन्न वश, धर्म अथवा रग के क्यो न हो।

(२) एक देश होना चाहिये जिसमे लोगो का समुदाय बस गया हो।

(३) एक सरकार होनी चाहिये अर्थात् एक या अधिक व्यक्ति जो उन लोगो के समुदाय के प्रतिनिधि हो और देश की विधि के अनुसार शासन करते हो, अराजक-जाति-राज्य नही।

(४) एक सर्वोच्चसत्ताधारी सरकार होनी चाहिये। सर्वोच्चसत्ता सर्वोच्च प्राधिकार है—अर्थात् ऐसा प्राधिकार कि जो ससार के किसी भी अन्य प्रभाव से स्वतन्त्र हो।

मौंटविडो अभिसमय (Montevideo Convention) —राज्यो के अधिकार तथा कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे सन् १६३३ मे किया गया मौंटविडो अभिसमय (जिस पर सयुक्तराज्य अमेरिका तथा कुछ लैटिन अमेरीकीय देशो ने हस्ताक्षर किए हैं) के अनुच्छेद १ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के व्यक्ति के रूप म राज्य के निम्नलिखित लक्षण हैं —

(अ) एक स्थायी जनसमुदाय (a permanent population), (आ) एक प्रदेश जिसकी सीमा स्थिर हो (a defined territory), (इ) एक सरकार (a government), (ई) अन्य राज्या से सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता (capacity to enter into relations with other states)।

सर्वोच्चसत्ता तथा राज्यों की स्वतन्त्रता —सर्वोच्चसत्ता एक वैध शब्द है जिसके द्वारा वह सर्वोच्च अधिकार व्यक्त होता है जिससे कोई राज्य शासित होता है। साधारण बोलचाल में यह एक राज्य द्वारा बाह्य तथा आन्तरिक मामलो मे आत्म-

निश्चय करने का असीमित अधिकार है। जान ऑस्टिन ने सर्वोच्चसत्ता को आवश्यक, अविभाज्य तथा अपरिमित कहा है। सर्वोच्चसत्ताधिकार के प्रयोग के परिणामस्वरूप दो वैध कल्पनायें अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में आती हैं अर्थात् प्रत्येक सर्वोच्चसत्ताधारी राज्य की विधि के समक्ष स्वतन्त्रता तथा समानता और प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य की वाह्य तथा आन्तरिक सर्वोच्चसत्ता में बाधा डालने का निषेध।

परम्परागत प्रभुसत्ता की विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये हैं। सर्वोच्चसत्ताधारी राज्य के परमाधिकारों में से यह भी एक अधिकार है कि वह अन्य राज्यों से पारस्परिक लाभ तथा सामान्य हितों के लिये सन्धि करे। किन्तु, विषम सम्बन्ध अथवा असमानतदारी स्थापित करने वाली सन्धियों के परिणामस्वरूप सर्वोच्चसत्ताधिकार का प्रयोग निर्बल पक्ष पर एकपक्षीय भार डालने के कारण संमित हो जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ यद्यपि अपने सब सदस्यों की सर्वोच्चसत्ता की समानता के सिद्धान्त पर स्थापित हुआ है तथापि इसने महत्व राज्यों की स्वतन्त्रता से उनके अन्योयाश्रय में बदल दिया है। अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले सब लोगों ने अपनी शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बनाये रखने में तथा अपनी मशीन को सब जातियों की आर्थिक और सामाजिक उन्नति की उत्तरोत्तर वृद्धि में लगाये रहने को संयुक्त कर दिया है।

स्वतन्त्र राज्यों का अपने पारस्परिक आचरण में अपने राष्ट्र-विधि की अपेक्षा के बिना अन्तर्राष्ट्रीय विधि से बाध्य होने का विचार ही उनके सीमारहित सर्वोच्चसत्ता के विपरीत है। जैसा ओपनहेम कहते हैं "यह धीरे-धीरे अनुभव किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उन्नति, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा इसके साथ ही स्वतन्त्र जातीय राज्यों का बनाये रखना अन्त में राज्यों द्वारा अपने सर्वोच्चसत्ताधिकार के आंशिक आत्मसमर्पण पर प्रतिबन्धित है जिससे कि एक सीमित क्षेत्र के भीतर अन्तर्राष्ट्रीय विधान की क्रिया तथा एक आवश्यकीय असीमित क्षेत्र के भीतर बाध्यकारी क्षेत्राधिकार से सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों द्वारा यथानिश्चित विधि का शासन प्राप्त होना सम्भव हो सके।"

संसार के दो शक्तिशाली गुटों में, एक संयुक्तराज्य अमेरिका के नेतृत्व में तथा दूसरा रूसी सामाजिक गणतन्त्रवादी संघ के नेतृत्व में विभाजन के कारण, जिसे सामान्यतः शीतयुद्ध (cold war) कहा जाता है, राज्यों का व्यक्तित्व लुप्त होता जा रहा है और प्रत्येक पश्चिमीय तथा पूर्वीय गुटों के भीतर पारस्परिक आर्थिक, सैनिक तथा राजनैतिक सहयोग की उन्नति होती जा रही है। प्रत्येक गुट अपने-अपने प्रभाव के क्षेत्र को बढ़ाने का यत्न कर रहा है।

राज्यों का वर्गीकरण (Classification of States) —अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रयोजनों के लिये राज्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (१) स्वतन्त्र राष्ट्र, और (२) अधीनस्थ राज्य।

स्वतन्त्र राज्य (Independent States) —स्वतन्त्र राज्य राष्ट्रों के कुटुम्ब के पूर्णतः प्रभुसत्ताधारी सदस्य हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में वे प्रभुसत्ताधारी राज्य कह जाते हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रसामान्य विषय हैं और अपनी सीमाओं के भीतर स्थित सब व्यक्तियों तथा सम्पत्तियों पर अनन्य अधिकार का प्रयोग करते हैं। वे किसी अन्य शक्ति के प्रत्यक्ष नियन्त्रण से स्वतन्त्र हैं। अन्तर्राष्ट्रीय प्रथा के अनुसार प्रभुसत्ताधारी राज्य कुछ विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों के अधिकारी हैं। उनको अन्य राज्यों को कूटनीतिज्ञ अभिकर्ता को भेजने का तथा इनके स्थान से उनके प्रतिनिधियों को अपने यहाँ लेने का विशेषाधिकार प्राप्त है। वे अन्य राज्यों से अपने ही नाम में सन्धियाँ करते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में पूर्ण समानता के आधार पर मिलते हैं। संक्षेप में उनके अन्य राज्यों से सम्बन्धों के बीच में हस्तक्षेप करने वाला कोई तीसरा पक्षकार नहीं है। अपने घरेलू मामलों में भी उन्हें पूर्ण क्षमता प्राप्त है।

परतन्त्र राज्य (Dependent States) —परतन्त्र राज्य निस्सन्देह वैदेशिक सम्बन्धों में सीमित क्षमता रखते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अपूर्ण विषय हैं। उनकी यथार्थ स्थिति का लक्ष्य केवल सन्धियों के प्रसंग तथा इस बात का पता लगाने से हो सकता है कि अन्य राज्यों द्वारा उनकी अधीनता की स्थिति किस सीमा तक स्वीकृत की गई है। अन्य शब्दों में, वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय उनके स्वराज्यक्षेत्र की सीमा के भीतर हैं।

केवल राष्ट्रीयता ही राज्यों के कुटुम्ब की सदस्यता का चिह्न नहीं है और ऐसे गुण के अभाव के कारण यह आवश्यक नहीं है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र के बाहर पड़ जाय।

राज्यों की समानता (Equality of States) —यद्यपि राज्य विस्तार, जनसंख्या, शक्ति, सभ्यता की दशा, मात्रा, सम्पत्ति तथा अन्य गुणों में असमान होते हैं तथापि राष्ट्रों के कुटुम्ब में अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों के रूप में वे समान ही होते हैं। ओपनहेम के कथनानुसार इस वैध समानता के चार परिणाम निम्नलिखित हैं —

(१) जब कभी कोई ऐसा प्रश्न उठता है जिसका निर्णय सम्मति द्वारा करना हो तो प्रत्येक राज्यों को केवल एक मत का अधिकार होता है।

(२) नियमानुसार सबसे निर्बल तथा सबसे छोटे राज्य के मत का उतना ही प्रभाव होता है जितना कि सबसे बडे और सबसे शक्तिशाली राज्य का, भले ही राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली राज्यों के समक्ष उनके मत का उतना प्रभाव न माना जाय।

(३) कोई राज्य किसी दूसरे राज्य पर क्षेत्राधिकार नही रख सकता है। अत यद्यपि राज्य विदेशी न्यायालयो मे दावा कर सकते हैं तथापि उन पर नियमानुसार वहा दावा नही किया जा सकता जब तक कि वे अपने को सम्बन्धित विदेशी न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन स्वेच्छापूर्वक न कर लें : [Mighell v Sultan of Johore, The Parlement Belge and Duff Development Co Ltd v Government of Kelantan]।

(४) एक राज्य के न्यायालय अन्य प्रभुसत्ताधारी राज्य के सरकारी कार्यों अथवा उसके कार्यकर्ताओ के सरकारी अथवा सरकार द्वारा स्वीकृत कार्यों की वैधता पर, कम से कम इस परिणाम तक प्रश्न नही उठाते जहाँ तक उन कार्यों का आशय उस राज्य के क्षेत्राधिकार के भीतर हो।

यद्यपि सिद्धान्त के अनुसार राज्यो के समान अधिकार हैं और प्रत्येक राज्य को एक मत का अधिकार है तथापि व्यावहारिक रूप मे यह बडी ही शक्तियो के मत होते हैं जो अन्तत प्रभावकारी होते हैं। वे तराजू के पलडो को इधर उधर झुका देत हैं। वास्तविक व्यवहार मे राज्यो की असमानता का ज्वलन्त उदाहरण इस बात से प्रकट है कि पाँच बडी शक्तियाँ अर्थात् चीन का प्रजातन्त्र, फ्रान्स, रूसी समाजवादी गणतन्त्रीय सघ, ग्रेट ब्रिटेन तथा सयुक्तराज्य अमेरिका सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य हैं और उनको यह अधिकार है कि सारभूत विषयो मे सुरक्षा परिषद के किसी भी निर्णय को अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करके अस्वीकृत कर दे। साम्यवादी चीन की सयुक्तराष्ट्र सघ की सदस्यता का प्रश्न इसी प्रकार के प्रभावो के कारण एक समस्या का रूप ले चुका है।

असपूर्ण प्रभुसत्ताधारी राज्यों तथा राज्यों का सघ
(Non Sovereign and Union of Stats)

असपूर्ण प्रभुसत्ताधारी के मुख्य लक्षणो की विवेचना के उपरान्त अब हम कुछ विशेष प्रकार के राज्यों का वर्णन करेंगे जो यद्यपि पूर्णरूप से प्रभुसत्ताधारी नही हैं तथापि उनमे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के बहुत से लक्षण विद्यमान है —

सविदा (Compact) द्वारा परस्पर स्थायी रूप से सयुक्त प्रभुसत्ताधारी राज्य ता एक राज्यमडल (Confederation) का रूप धारण कर सकते हैं

अथवा एक सर्वोच्च सघीय सरकार का, जिसे प्रायः समष्टिक (Composite) राज्य कहा जाता है।

राज्यमंडल (Confedertion).—राज्यमडल अथवा (Staatenbund) (राज्यो का बन्धन) कई पूर्ण प्रभुसत्ताधारी राज्यो के एक अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि द्वारा परस्पर एक सघ मे बध जाने से बनता है जिसमे सरकारी अगो की प्रवृत्ति सदस्य राज्यो के ऊपर तो होती है परन्तु उनकी प्रजा के ऊपर नही। वे एक सविदा (Compact) द्वारा पारस्परिक सहयोग अथवा रक्षा के लिये सयुक्त होते हैं और इसका प्रत्येक मौलिक अंश अर्थात् सदस्य अपनी-अपनी प्रभुसत्ता तथा भिन्न सारूप्य बनाये रखता है। इस प्रकार का राज्यमडल राज्य नही है। राज्यमडल के उदाहरण हमको १५८० से १७६५ तक नीदरलैंड्स मे, १७७८ से १७८७ तक सयुक्तराज्य अमेरिका मे, १२६१ से १७६८ तथा १८१५ से १८४८ तक स्विटजरलैंड में और १८१५ से १८६६ तक जर्मनी मे प्राप्त होते हैं। वर्तमान युग में मडलित राज्य विद्यमान नही हैं।

वास्तविक संघ (Real Union):—एक विशेष प्रकार का सगठन 'वास्तविक सघ' है जिसका अस्तित्व उस दशा मे होता है जब दो या अधिक विभिन्न पूर्ण प्रभुसत्ताधारी राज्यो का एक ही सम्राट होता है और वे अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोजनो के लिये तथा बाह्य सम्बन्धो के लिये एक राज्य के समान कार्य करते हैं यद्यपि उसके मौलिक अश घरेलू विषयो मे अपनी अपनी भिन्नता बनाये रखते हैं। "वास्तविक सघ" स्वय एक राज्य नही है किन्तु यह केवल दो पूर्ण प्रभुसत्ताधारी राज्यो का सघ है जो मिलकर पृथक् भागो से निर्मित एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बनाते हैं। वर्तमान काल मे कोई वास्तविक सघ विद्यमान नही है। आस्ट्रिया तथा हगरी का "वास्तविक सघ" जो सन् १८६७ मे बनाया गया था सन् १६१८ मे युद्ध मे पराजय के कारण विघटित कर दिया गया। डेनमार्क तथा आइसलैंड का सघ भी सन् १६४४ मे समाप्त हो गया। इसका अन्य उदाहरण सन् १८१४ तथा १६०५ के मध्य मे नोर्वे तथा स्वीडन था।

व्यक्तिक संघ (Personal Union) :—व्यक्तिक सघ का अस्तित्व उस समय होता है जब दो संपूर्ण प्रभुसत्ताधारी राज्य तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति केवल इस आकस्मिक बात के कारण परस्पर सयुक्त हो जाते हैं कि उनका एक ही व्यक्ति सम्राट है। ये राज्य बाह्य प्रयोजनों के लिये अपना-अपना भिन्न-भिन्न स्वरूप बनाये रखते हैं। इस प्रकार का व्यक्तिक सघ १७१४ से १८३७ तक ग्रेट ब्रिटेन तथा हैनोवर के मध्य मे, १८१५ से १८६० तक नीदरलैंड्स तथा लक्समबर्ग के

मध्य मे तथा १८८५ से १९०८ तक बेल्जियम तथा कौंगो स्वतन्त्र राष्ट्र के मध्य में विद्यमान था।

संघराज्य (Federal State) :—संघराज्य अथवा 'Bundesstaat' बहुत से सपूर्ण प्रभुसत्ताधारी राज्यो का स्थायी संघ है जिसके अपने अंग होते हैं और जिसको अधिकार न केवल अपने सदस्य-राज्यो पर ही वरन् उनके नागरिकों पर भी होता है। प्रभुसत्ता की साधारण शक्तियाँ अंशत संघीय सरकार मे तथा अंशत विभिन्न राज्यों मे निहित होती हैं और दोनो प्राधिकारीगण अपने-अपने क्षेत्र में मिलकर कार्य करते हैं। इसको दी गई शक्तियो के क्षेत्र के भीतर यह एक वास्तविक तथा प्रभुसत्ताधारी राज्य है और राज्यमंडल के असदृश इसे केवल सदस्य-राज्यों के ऊपर ही नही, वरन् उन राज्यो के नागरिको पर भी सीधे अधिकार हैं। प्रभुसत्ता जैसा कि ऊपर कहा गया है सदस्य राज्यो तथा संघराज्य के मध्य मे विभाजित है। संघ सरकार को युद्ध की घोषणा करने, सुलह करने का तथा सन्धि करने का अधिकार होता है और सदस्य-राज्य अपने-अपने सूक्ष्म क्षेत्रो के भीतर अधिकार का प्रयोग करते हैं तथा नियन्त्रण रखते हैं, और स्वायत्तता (Autonomy) पर्याप्त मात्रा मे बनाये रखते हैं।

मुख्य संघराज्य निम्नलिखित है :—संयुक्त राज्य अमेरिका सन् १७८७ से स्विटजरलैंड १८४८ से, मेक्सिको, अर्जेन्टिना, कनाडा, ब्राजील, वेनेजुयेला, ऑस्ट्रेलिया, रूसी सोवियत गणतन्त्र-वर्ग, जर्मनी, भारतवर्ष, पाकिस्तान तथा इंडोनेशिया १९४९ से।

भारतीय संविधान अपने सब सामान्य लक्षणो से संघीय है यद्यपि यह संघीय सरकार अर्थात् केन्द्रीय संघ सरकार को अनुमति देता है कि संकटकालीन अवस्था मे यह अनुच्छेद ३५२ के अधीन राष्ट्रपति द्वारा घोषित किये जाने पर अपने को एकात्मक (unitary) मे परिणित कर ले।

सहराज्य (Condominium) :—यह दो या अधिक राज्यो का किसी एक प्रदेश मे समान राज्य है। इसमे यद्यपि जनता पर संयुक्त प्रभुसत्ताधिकार है तथापि संयुक्त प्रकार से शासन करने वाले राज्यो मे से प्रत्येक राज्य अपनी प्रजा के ऊपर भिन्न क्षेत्राधिकार रखता है। ऐंग्लो-इजिप्शियन सूडान (Anglo-Egyptian Sudan) दक्षिणी समुद्र (South Seas) मे फोयनिक्स द्वीप (Phoenix Islands) जो अंग्रेजो तथा अमेरिका वालो के समान प्रशासन मे रहे तथा न्यू हैब्रिडस (New Hebrides) जो अंग्रेज तथा फ्रांसवालो के समान प्रशासन मे रहे, सहराज्य के उदाहरण हैं।

राष्ट्रमंडल (Commonwealth) :—राष्ट्रो की कामनवेल्थ के सदस्यो की स्थिति मे द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त एक तीव्र परिवर्तन हो गया है। प्रथम महायुद्ध के पूर्व ब्रिटिश साम्राज्य मे उपनिवेश तथा अधीनस्थ राज्य थे और उस साम्राज्य के अंग कोई अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का दावा नही करते थे। उसके बाद उनको स्वराज्य वाले उपनिवेशों की पदवी प्राप्त हो गई और अन्त मे वे स्वराज्य वाले अधिराज्य हो गये।

कामनवेल्थ के सदस्य अब प्रभुसत्ताधारी राष्ट्र है और उनमे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व पूर्ण रूप से उपस्थित है। उनको बाह्य मामलों मे असीमित स्वायत्तता प्राप्त है। उनको सन्धि करने तथा दूतो को भी नियुक्त करने का अतिरिक्त अधिकार है। भारत, पाकिस्तान, लका तथा मलेशिया सघ को छोडकर अन्य सब सदस्य राष्ट्र नियमानुसार एक समान अध्यक्ष अर्थात् ब्रिटिश सम्राट् के अधीन हैं।

भारत की स्थिति:—अप्रेल १९४९, मे कामनवेल्थ सरकारो के प्रधान मंत्री लदन मे उस समस्या का विचार करने को एकत्रित हुए जो भारत के अपने को सम्पूर्ण प्रभुसत्ताधारी स्वतन्त्र प्रजातन्त्र घोषित करने के निर्णय तथा कामनवेल्थ की सदस्यता जारी रखने की उसकी इच्छा से उत्पन्न हुई थी। उस सम्मेलन में जो निर्णय हुए थे, निम्नलिखित है :—

(१) अन्य राज्यो ने जिनके कामनवेल्थ की सदस्यता के आधार में परिवर्तन नही हुआ था इस बात को अगीकृत तथा स्वीकार किया कि भारत कामनवेल्थ का सदस्य बना रहे।

(२) भारत ने अपनी ओर से सम्राट् को स्वतन्त्र सदस्य राष्ट्रों के स्वतन्त्र सम्मेलन का प्रतीक तथा इस रूप मे कामनवेल्थ का प्रधान अंगीकार किया। सब सदस्य देशों ने यह घोषणा की कि वे राष्ट्रो के कामनवेल्थ के स्वतन्त्र तथा समान सदस्यो के रूप से सयुक्त रहेंगे तथा शान्ति, स्वतन्त्रता और उन्नति के कार्यों मे स्वेच्छापूर्वक सहयोग करेंगे।

(३) भारत के साम्राज्यिक अधिमान (Imperial preferences) पूर्णत: जारी रहे।

(४) अधिराज्य या डोमीनियन (Dominion) शब्द का प्रयोग बन्द कर दिया गया।

(५) कामनवेल्थ के भीतर भारतीय नागरिको का उन सब अधिकारों का उपभोग करना जारी रहा जिनका वे पहले उपभोग करते थे।

(६) गवर्नर-जनरल का पद जो सम्राट् का प्रतिनिधि हुआ करता था समाप्त हो गया।

सामंत और संरक्षित राज्य (Vassal and Protectorates)

सामन्त राज्य (Vassal State) .—सामत राज्य वह है जिस पर दूसरे राज्य का पूर्ण रूप से आधिपत्य हो। अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे इसका कोई स्थान नहीं है। सामत राज्य के सब अधिकारो का समावेश अधिपति मे हो जाता है। तो भी ऐसे उदाहरण उपस्थित हैं जहाँ सामत राज्यो ने कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाये रक्खे हैं। प्रधीनस्थ राज्यो के उदाहरण १८७८ के पूर्व रूमानिया तथा सर्बिया, १८७८ तथा १९०८ के बीच मे बलगेरिया, इजिप्ट, ट्रान्सवाल, औरेञ्ज फ्री स्टेट, तिब्बत तथा बाहरी मगोलिया रहे हैं।

तिब्बत —कई शताब्दियो तक भारत का सम्बन्ध तिब्बत के साथ अस्थिर दशा मे रहा। अन्त मे सन् १९१४ मे शिमला मे एक सम्मेलन सर हेनरी मैकमोहन की अध्यक्षता मे हुआ जिसमे सुप्रसिद्ध शिमला के अभिसमय का मसौदा तैयार किया गया। इस अभिसमय द्वारा तिब्बत को स्वायत्तता चीन के प्राधिकार के अधीन स्वीकृत की गई। सिक्किम मे स्थित ब्रिटिश एजेन्ट तथा राजनैतिक पदाधिकारी भारत की ओर से तिब्बत सम्बन्धी कार्यों का सचालन करता था। परन्तु १९३६ मे चीन तथा तिब्बत के बीच जो घटनाये घटी और जिनके अनुसार चीन का आधिपत्य व्यावहारिकता से अधिक सिद्धान्त मे ही रह गया, उनको दृष्टि मे रखते हुए भारत सरकार ने तिब्बत से प्रत्यक्ष ससर्ग स्थापित किया।

चीन तथा तिब्बत की सन्धि पर पेकिंग मे २३ मई सन् १९५१ को हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार तिब्बत मे एक चीनी सैनिक तथा प्रशासकीय आयोग तथा सैनिक-क्षेत्र का प्रधान कार्यालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई तथा यह निर्धारित किया गया कि चीनी केन्द्रीय जनता की सरकार में तिब्बत के क्षेत्र के सम्पूर्ण बाह्य कार्यों का प्रबन्ध केन्द्रित होगा।

सितम्बर १९५२ मे भारत तथा चीन की सरकारो ने यह घोषणा प्रकाशित की कि वे इस बात पर सहमत हो गये हैं कि ल्हासा मिशन जो ल्हासा मे सोलह वर्ष से स्थित है, उसको अब ल्हासा मिशन के स्थान मे कोन्सूलेट जनरल कहा जाय। भारतीय मिशन की प्रास्थिति मे यह परिवर्तन ल्हासा की ही राजनैतिक स्थिति में परिवर्तन का परिणाम था। इसके अनुसार तिब्बत के बाह्य सम्बन्धों का पूर्ण नियन्त्रण अब चीनी सरकार के हाथ में है। इससे भारत का बाह्य मामलों में तिब्बत से प्रत्यक्ष सम्बन्ध समाप्त हो गया। तिब्बत के बाह्य सम्बन्धों का चीन द्वारा नियन्त्रण

स्वीकृत हो गया और उसी के अनुसार ल्हासा में भी स्थिति बदल दी गई। तिब्बत की सामान्य जनता के विरोध के उपरान्त भी इस समय तिब्बत चीन का एक अन्तरंग समझा जाता है और उसी द्वारा प्रशासित है।

नैपाल —ब्रिटिश सरकार तथा नैपाल के बीच हुई सन् १८१५ की सन्धि द्वारा नैपाल की प्रास्थिति एक सामंत राज्य में परिणित कर दी गई। उसके अनुसार नैपाल के वाह्य मामले ब्रिटिश सरकार को हस्तान्तरित कर दिये गये। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने नैपाल की स्वतन्त्रता उसको विदेशों में राजदूत नियुक्त करने का अधिकार देकर स्वीकृत कर ली। उसको अब पूर्णत प्रभुसत्ताधारी राज्य के अधिकार प्राप्त हैं और उसने भारत तथा तिब्बत से सन्धि-सम्बन्ध स्थापित किये हैं। चीन द्वारा भारत पर किये गये १९६२ के आक्रमण के समय नैपाल ने चीन तथा भारत दोनों से मैत्री सन्धि बनाये रखने का प्रयास किया।

भारतीय रियासतें (Indian States) —ब्रिटिश शासनकाल में भारतीय रियासतें इङ्गलैंड के सम्राट के अन्तर्गत सामन्त राज्य मात्र थी। वे केवल आन्तरिक बातों में ही प्रभुसत्ता का प्रयोग कर सकती थीं। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७ के पारित होने के उपरान्त भारतीय रियासतों के ऊपर सम्राट का आधिपत्य समाप्त हो गया। भारत सरकार के लिये इन प्रादेशिक इकाइयों को जिनकी संख्या ५५० से कम न थी ऐसे विस्तार का इकाइयों में परिणित करना पड़ा जो एक समान विधि तथा सरकार के अन्तर्गत रह सकें। यह एक कठिन समस्या थी, किन्तु रियासती विभाग ने सरदार वल्लभ भाई पटेल की अध्यक्षता में कुछ रियासतों को पार्श्ववर्ती प्रान्तों में मिलाकर, कुछ को रियासतों के संघ में सङ्गठित करके और कुछ को केन्द्रीय प्रशासन में लेकर तथा उनके शासकों द्वारा प्रवेश-पत्र प्राप्त करके इसमें पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली। ऐसी रियासतों ने अपना भिन्न व्यक्तित्व खो दिया है और वे अब भारतीय संघ की अभिन्न अङ्ग हैं।

काश्मीर के सम्बन्ध में एक जटिल समस्या उत्पन्न हो गई। काश्मीर की सरकार ने पाकिस्तान के साथ आर्थिक तथा प्रशासकीय सम्बन्ध तथा यातायात, रसद, डाक तथा तार-व्यवस्था जिस प्रकार भारत के विभाजन के पूर्व थी, वैसे ही बनाये रखने की दशा के लिये यथास्थिति करार (standstill agreement) कर ली। तो भी कुछ दिन के बाद पाकिस्तान ने काश्मीर पर आर्थिक दबाव डालना आरम्भ कर दिया जो कि बढ़ते-बढ़ते रियासत के विरुद्ध नाकाबन्दी में परिणित हो गया और बाद में कबालियों के दलों के सामूहिक आक्रमण आरम्भ हो गये। २७

अक्टूबर, १६४७ को काश्मीर के महाराजा की प्रार्थना पर भारत की सरकार ने जम्मू तथा काश्मीर का प्रवेश (accession) स्वीकार किया परन्तु भारत के प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की कि यह प्रवेश इस प्रतिबन्ध के साथ था कि रियासत की स्थिति मे सुधार होने के उपरान्त वहाँ जनमत संग्रह (plebiscite) भी किया जाय। यह बात ध्यान रखने के योग्य है कि जनमत गणना के सम्बन्ध मे भारत के प्रधान मन्त्री की घोषणा प्रवेश की स्वीकृति के उपरान्त की गई और प्रवेश इस प्रतिबन्ध के अधीन नही था तथा यह प्रतिज्ञा एकपक्षीय थी। रियासत के भारत मे प्रवेश करने पर भी आक्रमणकारी अपने पाकिस्तानी अड्डो से हमले करते ही रहे। ३१ दिसम्बर १६४७ को भारत की सरकार ने इस झगडे को सुरक्षा-परिषद् के सामने प्रस्तुत किया। इस समस्या को सुलझाने के लिए बहुत प्रयत्न हुये हैं, किन्तु कोई ऐसा सुझाव अभी तक उपस्थित नही हो सका है, जो भारत और पाकिस्तान दोनों देशो को मान्य हो। काश्मीर का एक बहुत बडा भाग अभी पाकिस्तानियों के कब्जे मे है, जिसे वे 'आजाद-कश्मीर' की संज्ञा देते हैं।

संरक्षित राज्य (Protectorate) :—संरक्षित होने की दशा में एक निर्बल राज्य एक प्रबल राज्य का संरक्षण उससे सन्धि करके प्राप्त करता है परिणाम यह होता है कि मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय कारबार संरक्षक राज्य के ऊपर छोड़ दिया जाता है। संरक्षक राज्य सन्धि के अनुबन्धो के अनुसार निर्बल राज्य के बाह्य सम्बन्धो तथा कभी-कभी उसके आन्तरिक मामलों मे भी कम या अधिक नियन्त्रण रखता है। ओपनहेम इस सबन्ध को एक प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षकत्व (international guardianship) कहते हैं।

इजिप्ट :—इजिप्ट ग्रेट ब्रिटेन तथा टर्की के बीच सन् १६१४ मे युद्ध छिड़ने के पूर्व टर्की का सामन्त राज्य रहा। तब ग्रेट ब्रिटेन ने जो इजिप्ट के कारबारों को सन् १८८३ से नियन्त्रण करता चला आ रहा था, अपने को इजिप्ट का संरक्षक उद्घोषित किया। १६२२ मे ग्रेट ब्रिटेन ने इजिप्ट को एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ताधारी राज्य घोषित किया। इजिप्ट के रक्षासम्बन्धी कुछ विषय, ब्रिटिश यातायात साधनों की सुरक्षा और इजिप्ट तथा सूडान मे अल्पसंख्यकों का संरक्षण अपने विवेकानुसार निश्चय किये जाने के लिये अस्थायी रूप से अपने हाथ मे अलग रख लिया। अगस्त २६ सन् १६३६ को ग्रेट ब्रिटेन तथा इजिप्ट के बीच एक मित्रता की सन्धि हुई जिसके अनुसार ब्रिटेन ने इजिप्ट की प्रभुसत्ता को स्वीकार करते हुये भी स्वेज नहर पर उसकी रक्षा के लिये सैनिक दलो को रखने का अधिकार अपने हाथ मे रखा। घटनाचक्र बडे वेग से घूमा। अक्टूबर सन् १६५१ में इजिप्ट की पार्लियामेंट

ने ब्रिटिश सैनिक दलों को स्वेज नहर में जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, समाप्त करके सन् १९३६ की सन्धि को भङ्ग कर दिया।

सिक्किम :—सिक्किम जो हिमालय पर्वत की श्रेणियों के मध्य बसा हुआ एक छोटा सा राज्य है, सन् १९०५ में भारतीय सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में लाया गया। इसके पूर्व वह ब्रिटिश संरक्षण में था।

सितम्बर ५ सन् १९५० को भारत की सरकार ने सिक्किम से एक सन्धि स्थापित कर ली जिसके द्वारा सिक्किम भारत का संरक्षित राज्य रहेगा और रक्षा, बाह्य मामले तथा यातायात को छोड़कर आन्तरिक मामलों में स्वायत्तता का उपभोग करेगा।

भूटान:—भूटान का भी भारतीय संघ के लिये एक बहुत बड़ा सैनिक महत्व है। यह राज्य भारत के उत्तर-पूर्वी सीमा पर है और सिक्किम, तिब्बत और नेफा (North East Frontier Agency) को तीन तरफ से स्पर्श करता है। १८६५ की संधि, जो कि भारत सरकार और भूटान के बीच हुई थी, के द्वारा भूटान को भारतीय रियासत का रूप प्रदान किया गया था, लेकिन सिक्कम की भाँति इसे भी एक विशेष स्थिति का राज्य माना गया। इस समय भूटान भारत का संरक्षित राज्य है। इस सम्बन्ध का आधार १९४९ की संधि है। इसके अनुसार भूटान के वैदेशिक नीतियों का नियन्त्रण भारत-सरकार करेगी, किन्तु आन्तरिक मामलों में सिक्किम की भाँति भूटान को पूर्ण स्वायत्तता प्राप्त है।

ब्रिटिश संरक्षित राज्य :—बासुटोलैंड, बेचुआनालैंड तथा स्वाजीलैंड तीन ब्रिटिश संरक्षित राज्य दक्षिणी अफ्रीका में हैं। दक्षिणी अफ्रीका उनका हस्तान्तरण ४० वर्षों से माँग रहा है, जबकि उनको दक्षिणी अफ्रीका को अन्तरित करने की ब्रिटिश इच्छा दक्षिणी अफ्रीका अधिनियम में अभिलिखित की गई। किन्तु ब्रिटेन का कहना यह है कि ये संरक्षित राज्य उनकी अफ्रीकी जनता तथा ब्रिटिश पार्लियामेंट की सम्मति के अतिरिक्त और किसी दशा मे संघ को हस्तान्तरित नहीं किये जा सकते।

फ्रांसीसी संरक्षित राज्य :—ट्यूनीशिया तथा फ्रांसीसी मोरक्को उत्तरी अफ्रीका में तथा अनाम, टोंकिन और कंबोडिया दक्षिण-पूर्वी एशिया में फ्रांसीसी संरक्षित राज्य है। वर्साई की सन्धि द्वारा मोरक्को के तीन टुकड़े कर दिये गये जिनमें से एक फ्रांस की ओर दूसरा स्पेन की संरक्षकता में आये और तीसरा टैंजियर तटस्थीकृत परिधि के भीतर पड़ा। फ्रांसीसी सरकार का यह दावा है कि उसके संरक्षित राज्यों में जो कुछ उन्नति हुई है वह फ्रांस के कारण हुई है, अतः ऐसी दशा

मे अपने सरक्षणाधीन प्रदेशो के प्रशासन मे किसी प्रकार के वाह्य हस्तक्षे
अपमान समझते हैं। ट्यूनीशिया तथा मोरक्को वाले बार-बार यह माँग पेश
हैं कि उनका यह जन्म-सिद्ध अधिकार है कि औपनिवेशिक शासन समाप्त क
जाय। एशिया तथा अफ्रीका सघ के प्रस्ताव पर ट्यूनीशिया तथा मोरक्को
१६ अक्टूबर सन् १९५२ को सयुक्तराष्ट्र सघ की साधारण सभा के का
रक्खा गया। फ्रास ने इसके विरुद्ध यह आपत्ति की कि ये दोनो प्रदेश फ्रा
उभयपक्षीय सन्धियो द्वारा सम्बद्ध हैं तथा यह विषय प्रधानत. फ्रास
क्षेत्राधिकार मे आता है।

जुलाई २० सन् १९५४ का नवराष्ट्रीय इडोचीन सम्मेलन इस
सहमत हो गया कि कम्बोडिया, लाओस तथा वीयतनाम की लडाई समा
जाय।

प्रादेशित तथा न्यासित प्रदेश (Mandated and Trust Territ

प्रादेशित क्षेत्र .—प्रादेशित प्रदेशो के प्रयोग का परीक्षण सन्
१९१९ तथा १९२० मे लीग आफ नशन्स की अध्यक्षता मे किया गया। ये
पहले शत्रु के अधिकार मे थे और उनके सम्बन्ध मे यह कहा जाता था कि वे
आधुनिक ससार की प्रगतिशील स्थिति मे अपने पैरो पर खडे नही हो सकते। लीग
आफ नेशन्स के प्रतिज्ञापत्र (Covenant) के अनुच्छेद २२ के अधीन ऐसे पूर्व शत्रु-
प्रदेश जो जर्मनी तथा टर्की द्वारा मित्र-राष्ट्रो को समर्पण किये गये थे, लीग के
अन्तिम उत्तरदायित्व के अधीन एक सरक्षक शासन के अधीनस्थ किये गये। लीग ने
इन प्रदेशो को प्रशासन के लिये प्रादेश (mandate) के अधीन सभ्यता मे उन्नत
ऐसे राष्ट्रो को सौपा जो अपने साधन, अनुभव अथवा भौगोलिक स्थिति के कारण
इस उत्तरदायित्व को उत्कृष्ट रूप से निभा सकते थे और जो इस भार को ग्रहण
करने को उद्यत थे। ऐसे राज्यो ने लीग आफ नेशन्स की देख भाल तथा अन्तिम
अधिकार के अधीन इन प्रदेशो का प्रशासन किया।

प्रादेश तीन प्रकार के थे :—(अ) कतिपय वे जातियाँ जो पहले तुर्की साम्राज्य
के अधीन थी और जो सतोषजनक रूप से उन्नति म आगे बढी हुई थी। आदेशक न
प्रशासन सम्बन्धी सम्मति तथा सहायता उस समय तक दी जब तक वे अपने ही
पैरो पर खडी न हो सकी। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा प्रशासित ईराक और फिलस्तीन
(तथा ट्रान्सजोर्डन) और फ्रान्स द्वारा प्रशासित सीरिया तथा लेबनान इस प्रकार
के उदाहरण थे।

(आ) अन्य जातियाँ, विशेषत. मध्य अफ्रीका की, जो ऐसी स्थिति मे थी कि आदेशक उस प्रदेश के प्रशासन का उत्तरदायी इस प्रतिबन्ध के साथ होता था कि वह इस बात का उत्तरदायित्व ले कि वहाँ विश्वास तथा धर्म की स्वतन्त्रता इस शर्त के अधीन बनी रहेगी कि सार्वजनिक सुव्यवस्था तथा नैतिक आचरण का अनुपालन हो तथा कुरीतियाँ जैसे दासो का व्यापार, शस्त्रो तथा शराब का यातायात इत्यादि समाप्त हो। ग्रेट ब्रिटेन द्वारा प्रशासित ब्रिटिश केमेरून्स, ब्रिटिश टोगोलैंड तथा टैंगैनिका, फ्रास द्वारा प्रशासित फ्रान्सीसी केमेरून्स तथा फ्रान्सीसी टोगोलैंड तथा बेल्जियम द्वारा प्रशासित रूआण्डा उरूण्डी इसके उदाहरण थे।

(इ) वे प्रदेश जैसे दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका तथा दक्षिणीय पैसिफिक समुद्र के कुछ द्वीप जो अपनी जनता की विरलता के कारण अथवा छोटे आकार के कारण अथवा उनके सभ्यता के केन्द्रो से अत्यधिक दूरी के कारण अथवा अपनी भौगोलिक स्थिति मे आदेशक के प्रदेश से मिले हुए होने के कारण आदेशक के प्रदेश के पूर्ण भागो के समान स्वदेशीय जनता के हितार्थ उपरोक्त सरक्षणार्थ प्रशासित होते थे। वे इस प्रकार हैं —दक्षिणी अफ्रीका सघ द्वारा प्रशासित दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका, न्यूजीलैंड द्वारा प्रशासित समोआ, ब्रिटिश साम्राज्य अर्थात् ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड द्वारा प्रशासित सयुक्तराष्ट्र नौरू, भूमध्यरेखा के उत्तर मे जापान तथा दक्षिण मे आस्ट्रेलिया द्वारा प्रशासित पैसिफिक समुद्र के द्वीप।

इस प्रादेश पद्धति का निरीक्षण लीग एक स्थायी प्रादेश आयोग द्वारा करती थी जिसमे प्रादेशित राज्यो के सदस्यो की सख्या अधिक होती थी।

न्यासित प्रदेश (Trust Territories) :—सयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर ने पुरानी समाज्ञा पद्धति के उप-सिद्धान्त के रूप में एक नयी पद्धति "न्यासित प्रदेश" को आरम्भ की। अनुच्छेद ७७ में यह व्यवस्था की गई कि यह न्यास पद्धति (trusteeship system) (अ) उन प्रदेशो को जो इस समय आदेशाधीन हैं, (आ) उन प्रदेशो को जो द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु राज्यों से पृथक कर दिये जायँ, तथा (इ) उन प्रदेशो को जो उनके प्रशासन के लिये उत्तरदायी राज्यो द्वारा स्वेच्छापूर्वक इस पद्धति के अधीन किये जाये, लागू होगी।

न्यासपद्धति के उद्देश्य चार्टर के अनुच्छेद ७६ मे लिखे हैं। वे हैं अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा को आगे बढ़ाना, न्यासित राष्ट्रों के निवासियों की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति तथा उनका स्वराज्य अथवा स्वतन्त्रता की ओर उत्तरोत्तर विकास; जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेद भाव को मिटाकर सबके समान हितार्थ मानवीय अधिकारों तथा स्वतन्त्रता के मूल

सिद्धान्तो के लिये आदर का प्रोत्साहन; तथा सामाजिक, आर्थिक तथा वाणिज्य-व्यवसाय सम्बन्धी मामलो मे सयुक्त राष्ट्र सघ के सब सदस्यो तथा उन राज्यो की जनता के साथ समान व्यवहार।

सयुक्त राष्ट्र सघ के सन् १९४६ के प्रथम अधिवेशन मे ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, वेल्जियम तथा कुछ निग्रहो के साथ फ्रान्स ने उद्घोषणाओ के द्वारा अपने आज्ञापित प्रदेशो का न्यास पद्धति के अधीन रखने का आशय प्रकट किया। दक्षिण अफ्रीका ने यह दावा किया कि उस प्रादेशित प्रदेशो को अपने में मिलाने का अधिकार है।

अपने आज्ञापित प्रदेश अर्थात् दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के सम्बन्ध में दक्षिण अफ्रीका द्वारा यह पक्ष ग्रहण किये जाने पर उसने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के निवासियो के प्रतिवेदन तथा प्रार्थना-पत्र सयुक्तराष्ट्र सघ को भेजना बन्द कर दिया। अत सयुक्त राष्ट्र सघ की सामान्य सभा ने एक प्रश्नावली अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को दी।

जुलाई ११ सन् १९५० को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने, जो कि ससार का उच्चतम न्यायाधिकरण है, हेग मे यह निर्णय किया कि दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका अब भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रादेश के अधीन एक प्रदेश है और दक्षिणी अफ्रीका इस सघ की अन्तर्राष्ट्रीय प्रास्थिति को भेदित करने का अधिकारी नही है। न्यायालय ने यह मत प्रकट किया कि दक्षिणी अफ्रीका उन अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यो से बाध्य है जो कि लीग आफ नेशन्स के अभिसमय के अनुच्छेद २२ मे तथा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के आदेश मे उल्लिखित है। उनमे प्रतिवेदनो को प्रत्यर्पित करना तथा उस प्रदेश के निवासियों का प्रार्थना-पत्र भेजना भी सम्मिलित है और यह भी कि निरीक्षण का कर्त्तव्य सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा किया जावेगा जिसको वार्षिक प्रतिवेदन तथा प्रार्थना-पत्र दिये जाने चाहिये। इसने यह निर्णय किया कि न्यासपद्धति सम्बन्धी सयुक्त राष्ट्र सघ अधिकार पत्र के अध्याय १२ के अनुबन्ध दक्षिण पश्चिमी अफ्रीका को इस अर्थ मे लागू हो सकते थे कि वे एक साधन उपस्थित करते थे जिसके द्वारा वह प्रदेश न्यास पद्धति के अधीन लाया जा सके। न्यायालय ने ८ और ६ के अनुपात मे बहुमत से यह निर्णय किया कि चार्टर के अध्याय १२ के अनुबन्ध दक्षिणी अफ्रीका सघ पर उस प्रदेश का न्यास पद्धति के अधीन करने के लिये कोई वैध कर्त्तव्य नही आरोपित करते। उपरोक्त न्यायालय ने यह भी मत प्रकट किया कि दक्षिण अफ्रीका सघ अकेले कार्य करते हुए दक्षिण पश्चिमी-अफ्रीका के प्रदेश की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को निश्चित करने तथा भेदित करने की क्षमता नही रखता और यह कि उस प्रदेश की

तर्राष्ट्रीय स्थिति को निश्चित करने तथा भेदित करने की क्षमता दक्षिणी अफ्रीका
ा को सयुक्त राष्ट्र सघ की सम्मति से कार्य करत हुए ही प्राप्त है ।

स्विटजरलैंड —स्विटजरलैंड न सन् १६४८ से तटस्थता की नीति का
ालम्बन किया है । मार्च २० सन् १८१५ का वियना की काग्रेस म ग्रेट ब्रिटेन,
स्ट्रिया, फ्रान्स, पोर्चुगाल, प्रशा, स्पेन, स्वीडन तथा रूस ने स्विटजरलैंड को स्थायी
ा म तटस्थ राष्ट्र की प्रास्थिति प्रदान की तथा सयुक्त रूप से उसको स्वतन्त्रता का
श्वास दिलाया । स्विटजरलैंड की यह स्थिति लीग की कौन्सिल द्वारा स्वीकृत की
ई और उसे एक मौलिक सदस्य क समान इस समझौते मे स्थान दिया गया कि
ह न तो किसी सैनिक कार्यवाही मे भाग लेने के लिये बाध्य किया जायगा, न तो
ह विदेशी सैनिक दलो को रास्ता देगा और न अपने प्रदेश मे सैनिक कार्यवाहिया
ी तैयारी करने देगा । दोनो युद्धो म युद्धकर्त्ताओ ने उसकी तटस्थता का सम्मान
िया ।

स्विटजरलैंड न सयुक्त राष्ट सघ मे सम्मिलित होना इस का रण स अस्वीकार
र दिया कि कही सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता स उसका तटस्थता भग न हो
ाय क्योकि चार्टर मे अपराधी राज्यो क विरुद्ध सैनिक समाशाओ द्वारा सब सदस्यो
लिये कर्त्तव्य नियत किया गया है । फिर भी, वह सयुक्त राष्ट्र सघ के सब विशिष्ट
ार्यों म भाग लेता है ।

तटस्थीकृत (Neutralised) तथा तटस्थ (Neutral) राज्यों मे
ेद —तटस्थीकृत राज्य तथा तटस्थ राज्य की स्थिति मे जो भेद है वह दृष्टि मे
खना बहुत आवश्यक है । तटस्थता शब्द स यह व्यक्त होता है कि दो राष्ट्रो के
ीच एक सधि है जिसके द्वारा व परस्पर इस बात पर सहमत हो गये है कि यदि
नम से किसी एक पर किसी तीसरे राज्य द्वारा आक्रमण किया जाय तो दूसरा उस
लह के सम्बन्ध मे तटस्थता का रूप धारण करेगा । अत तटस्थता मे दो आवश्यक
ातें है—(१) युद्ध के कार्यों से अलग रहना तथा (२) इस बात की स्वतन्त्रता कि
वेच्छानुसार अलग रहना अथवा न रहना । तटस्थीकरण में पहली बात अर्थात् युद्ध
े कार्यो स अलग रहना तो वही बनी रहती है परन्तु दूसरी बात के स्थान म या
ो नियत अर्थ म आत्मसरक्षण को छोडकर अन्य किसी भी दशा मे युद्ध न करने का
र्त्तव्य रहता है अथवा कुछ स्थाना तथा वस्तुओ का जिनपर अन्तर्राष्ट्रीय सविदा
ारा तटस्थता की मुहर लगी रहती है, युद्ध सहश प्रयोग म लाने से अलग रहने का
कर्त्तव्य रहता है । अत तटस्थता एक अस्थायी मामला है । तटस्थीकरण एक स्थायी
उपाय है जिसमे स्थिति का जिम्मा बडी शक्तियो की एक सीमित सख्या की स्पष्ट
सविदा द्वारा एव निश्चित अनुशास्ति के साथ किया जाता है । तदनुरूप तटस्थीकृत

राष्ट्र की ओर से भी यह कर्त्तव्य होता है कि वह उस प्रकार से रहेगा। अत तटस्थीकरण का तत्व यह है कि यह प्रेरित तटस्थता है। तटस्थीकरण मे तटस्थता सम्मिलित है परन्तु यह आवश्यक नही है कि तटस्थता मे तटस्थीकरण सम्मिलित हो। सक्षेप मे तटस्थीकरण स्थायी, सामान्य तथा अनैच्छिक होता है परन्तु तटस्थता अस्थायी, विशिष्ट तथा ऐच्छिक होती है। तटस्थीकरण तटस्थता से मूलरूप में भिन्न है। तटस्थता एक नीति है जिसका अवलम्बन अन्य शक्तियो से सम्बन्धित युद्ध की स्थिति मे अस्थायी रूप से किया जाता है। वह तटस्थता घोषणा करने वाले राष्ट्र द्वारा किसी समय मे भी समाप्त की जा सकती है। इसके विपरीत तटस्थीकरण एक स्थायी स्थिति है जो कि समान हितो वाली शक्तियो द्वारा प्रदान की जाती है और जो उनकी सम्मति के बिना त्याग नही की जा सकती।

होली सी (The Holy See) —चर्च तथा उसकी प्रधान संस्था होली सी (Holy See) ने बराबर लौकिक शक्तियो को अपनी स्वतन्त्रता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया है। यद्यपि सन् १८७० मे इटली द्वारा पोप की रियासतों को अपने राज्य मे सयुक्त करने के उपरान्त होली सी की प्रादेशिक प्रभुसत्ता समाप्त हो गई तथापि उसकी स्वतन्त्रता राज्य की विधियों द्वारा केवल मानी ही नही गई वरन् स्वीकार की गई। १८७० से १९२९ के मध्यकाल मे भी इटली ने होली सी पर कोई प्रभुसत्ता का दावा नही किया। इटली की प्रत्याभूति विधि (Law of Guarantee) पोप को वे व्यक्तिगत मुक्तियाँ तथा विशेषाधिकार प्रदान करती है जो कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा प्रभुसत्ताधारी राज्यो के प्रधानो को दी जाती हैं।

होली सी तथा इटली के बीच मे फरवरी ११ सन् १९२९ को हुई लेटरन सन्धि (Lateran Treaty) ने पोप नगर (Vatican city) को जन्म दिया जिसमे प्राय. १०० एकड़ भूमि सम्मिलित है और जो कि पोप की प्रादेशिक प्रभुसत्ता का प्रतीक है। इसमें होली सी को प्रादेशिक अधिकार अर्पित किया गया है जिसे उसने १८७० में खो दिया था।

इटली प्रजातन्त्र का नया सविधान भी इस बात का स्वीकार करता है कि राज्य तथा कैथोलिक चर्च अपने-अपने क्षेत्रो मे स्वतन्त्र तथा प्रभुसत्ताधारी हैं और यह कि उनके सम्बन्ध लेटरन गठबन्धन सविदा (Lateran Pacts) द्वारा निर्दिष्ट होते हैं।

अध्याय ८

राज्यों की मान्यता

(Recognition of States)

राज्य की मान्यता वह क्रिया है जिसके द्वारा अन्य राज्य यह स्वीकार करते हैं कि राजनैतिक सत्ता जिसे मान्यता प्रदान की जा रही है राज्यत्व के गुणों से युक्त है।

इसका लक्षण —मान्यता अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के एक वर्तमान सदस्य द्वारा अब तक उसके साथ अधिकारिक सम्बन्ध न रखनेवाले किसी राज्य अथवा राजनैतिक समुदाय के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की नियमानुसार स्वीकृति है। इससे यह उपलक्षित है कि स्वीकार करने वाले राज्य की सम्मति मे नवजात समुदाय मे राज्यत्व के आवश्यक गुण विद्यमान हैं और इसलिए वह अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारो तथा कर्त्तव्यो के अध्यधीन है।

मान्यता के सिद्धान्त —मान्यता के दो सिद्धान्त हैं —(१) निर्मायक सिद्धान्त (Constitutive Theory) तथा घोषणात्मक अथवा प्रमाणात्मक सिद्धान्त (Declartory or Evidentiary Theory)। पूर्ववर्ती सिद्धान्त के अनुसार यह केवल मान्यता का ही कार्य है जिससे राज्यत्व का जन्म होता है और एक नयी सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अधिकार का रूप दिया जाता है। हॉलैंड का झुकाव निर्मायक सिद्धान्त की ओर है और इस अर्थ मे उनका मत ओपनहेम के मत के समान है। उनका कहना है कि कोई राज्य तब तक परिपक्व नहीं कहा जा सकता जब तक वह मान्यता की मुद्रा से अंकित न हो जा कि उन अधिकारो के उपभोग के लिये परमावश्यक शब्द 'मान्यता' से व्यक्त होते हैं।

उत्तरवर्ती सिद्धान्त के अनुसार राज्यत्व अथवा नयी सरकार का प्राधिकार मान्यता के पूर्व ही से विद्यमान रहता है और मान्यता का कार्य पहले ही से स्थापित तथ्य की केवल नियमानुसार स्वीकृति है। अन्य शब्दों मे इस सिद्धान्त के टीकाकार यह प्रतिपादित करते हैं कि मान्यता केवल घोषणात्मक है न कि निर्मायक प्रभाव रखती है। मान्यता केवल इस विद्यमान तथ्य को उद्घोषित करती है कि कोई विशिष्ट समुदाय अथवा सरकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अपेक्षित राज्य के गुणों से युक्त है। इस सिद्धान्त के टीकाकार हॉल, वैगनर, फिशर और पिट कोबेट हैं।

ओपनहेम का मत :—ओपनहेम निर्णायक सिद्धान्त के पक्ष का समर्थन करते हुए यह मत प्रकट करते हैं कि राज्य अनन्य प्रकार से केवल मान्यता द्वारा ही एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है तथा हो जाता है। यह यद्यपि आंशिक रूप से सत्य है तथापि पूर्णतः सत्य नही है। इसमे संदेह नही कि मान्यता एक मुख्य पद्धति है जिसके द्वारा किसी राज्य के अस्तित्व पर स्वीकृति की मुद्रा अंकित की जाती है। परन्तु यदि यह मत स्वीकार किया जाय तो फिर यह कारण बतलाना कठिन हो जायगा कि किसी राज्य को कुछ राज्य मान्यता प्रदान करते हैं और कुछ उसे मान्यता प्रदान करने से अस्वीकार करते हैं। लाल चीन की मामोत्से तुङ्ग सरकार को यद्यपि भारत, ब्रिटेन, सोवियत रूस तथा एक दर्जन से अधिक अन्य राज्यो द्वारा मान्यता प्राप्त की गई है तथापि इसे संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देशो द्वारा मान्यता नही प्रदान की गई है और इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता नही प्राप्त हो सकी है। अमेरिका द्वारा मान्यता प्रदान न किये जाने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता न प्राप्त होने पर भी लाल चीन का राज्य अभी, बना ही हुआ है। किसी विशिष्ट प्रदेश के भीतर एक प्रभावशाली स्थिर सरकार का होना ही इस बात को निश्चित कर देता है कि एक नया राज्य विद्यमान है तथा वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन है।

जैसा कि डा० अल्फरॉस का इस प्रसंग मे कथन है, एक प्रभावकारी स्थिरीकृत सरकार, एक निश्चित भू-क्षेत्र के भीतर नये राज्य के उत्पन्न होने और उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन रहकर कार्य करने के लिए पूर्णतः निर्णायक है।

वुल्फशॉन बनाम रसियन सोशलिस्ट फेडरेटेड सोवियत रिपब्लिक के वाद में, यू० एस० कोर्ट ऑव अपील, न्यूयार्क (१९२२, २३४ एन० वाई० ३७२) का यहाँ तक अवलोकन था कि सोवियत-संघ, भले ही उसकी सरकार संयुक्त राज्य द्वारा मान्यता-प्राप्त नही थी फिर भी अमेरिकी न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से मुक्त थी। न्यायालय के ही शब्दो मे—"The Russian Federated Soviet Republic is the existing *de facto* government of Russia .. .. ..Whether or not a Government exists, clothed with the power to enforce its authority within its own territory, obeyed by the people over whom it rules, capable of performing the duties and fulfilling the obligations of an independent power, able to enforce its claims by military force is a fact, not a theory. For its recognition does not create the State, although it may be desirable." "रूसी फेडरेटेड सोवियत रिपब्लिक रूस की ...मान तथ्यतः सरकार है।......यह प्रश्न कि क्या एक सरकार ऐसे अस्तित्व मे

है, अथवा नहीं, या कि वह अपने क्षेत्र में ही अपनी शक्ति के प्रवर्तन की शक्ति से अभिभूत है, या कि उस जनता द्वारा उसकी आज्ञाओं का पालन किया जाता है जिस पर वह प्रशासन करता है, एक स्वतन्त्र शक्ति के कर्त्तव्यों को सपादित करने और उसके भारों का पूरा करने की क्षमता से युक्त है, अपने दावे को सैन्य शक्ति के बल पर प्रवर्तित कराने में सक्षम है, आदि, एक तथ्य का प्रश्न है, सिद्धान्त का नहीं। भले ही ये तथ्य किसी राज्य के अस्तित्व में होने के लिए आवश्यक हों, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि राज्य की सरचना इन तथ्यों की मान्यता पर अवलम्बित है।

किसी राज्य का राजनीतिक अस्तित्व अन्य राज्यों की मान्यता से इस ढंग का बँधा हुआ नहीं है कि उसकी मान्यता के बिना उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार किया जा सके। अपितु, यहाँ तक कहा जा सकता है कि इस अस्तित्व का उस मान्यता से कोई अन्योन्याश्रय सम्बन्ध नहीं है।

जर्मन पोलिश आर्बीट्रल ट्रिब्युनल (German Polish Arbitral Tribunal) (१९२९) के प्रसङ्ग मे कहा गया था कि किसी राज्य की मान्यता इसका निर्मायक तत्व नहीं, उसके अस्तित्व का घोषणात्मक तत्व है।

इसमें सन्देह नहीं कि मान्यता राज्य को अन्य राज्यों से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ बना देती है। परन्तु यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यदि किसी राज्य को मान्यता प्रदान नहीं की गई तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति प्राप्त नहीं होती। वास्तव मे राज्य जन्म से ही राज्यों के कुटुम्ब का सदस्य हो जाता है और मान्यता इसके स्वतन्त्र राज्य रूप में वर्तमान रहने के लिये मार्ग प्रशस्त कर देती है तथा साक्ष्य तैयार करती है। उपरोक्त मत इस तथ्य से और भी अधिक पुष्ट हो जाता है कि मान्यता बीती हुई घटनाओं पर पूर्वव्यापी (Retroactive) है, अर्थात् इसका समय उस पिछली तिथि से प्रारम्भ होता है जब से उस राज्य में, जिसे मान्यता प्रदान की गई है, राज्यत्व के आवश्यक तत्व वास्तव में आ गये जिससे यह प्रकट होता है कि राज्य मान्यता प्रदान की जाने वाली तिथि के बहुत पहले से ही विद्यमान था।

समन्वित विचार —इस प्रसग में ठीक ठीक विचार यह प्रतीत होता है कि 'मान्यता' (Recognition) शब्द के अन्तर्गत निर्मायक (Constitutive) और घोषणामूलक (Declaratory) दोनों प्रकार के तत्व उपस्थित हैं। जैसा कि लाउतरपैत (Lauterpacht) का कथन है, "यह किसी राजनीतिक समुदाय के अस्तित्व का सरल घोषणामूलक तत्व है और घोषणा इस तथ्य का निर्धारण कर लेने

के बाद की जाती है कि उस राजनीतिक समुदाय मे परपरागत राज्यत्व (Statehood) विद्यमान है। ऐसी घोषणा के उपरान्त मान्यता कतिपय वैध परिणामों की निर्मायक (constitutive of certain legal consequences) हो जाया करती है।" स्टार्क (Starke) की भी उपर्युक्त निष्कर्ष से सहमति है, क्योंकि उनका कथन है कि "सत्य इन दोनों सिद्धान्तो के कही बीच मे (the truth lies somewhere between the two theories) स्थिर करता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के तथ्यो के प्रसग मे दोनो मे से एक या दूसरे किसी भी सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय अभ्यास मे बहुधा साक्ष्यमूलक सिद्धान्त (evidentiary theory) का उस विस्तार तक प्रयोग होता है, जहाँ तक कि मान्यता राजनीतिक कारणो के आधार पर दी गई रहती है, और इसीलिए वह प्रकृति मे निर्मायक सिद्ध होती है। विविध देश यह मान्यता प्राय वैध सिद्धान्तो (legal principles) और पूर्ववर्ती दृष्टान्तो (precedents) के आधार पर प्रदान करते या उसे प्रदान करने से अस्वीकार करते हैं।··· यही नही, अपितु किसी एक राज्य द्वारा मान्यता प्रदान करने से अस्वीकृति मात्र उस परिस्थिति मे प्रभावकारी नही हो सकती, जब कि उससे पूर्व बडी सख्या मे अन्य राज्यो ने मान्यता प्रदान कर दी है।"

स्वैलिन (Svarlien) भी इसी विचार से सहमत हैं। उनका कथन है कि, "It might be said that recognition is always declaratory in that it confirms the existence of a State and recognizes its legal position in the international community But it may also, at times, be constitutive in so far as it has the effect of actually creating a State where none existed before." "यह कहा जा सकता है कि मान्यता सदैव घोषणामूलक होती है, क्योंकि यह किसी राज्य के अस्तित्व मे होने का पुष्टीकरण करती है और अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मे उसकी वैध स्थिति को स्वीकार करती है।"

मान्यता क्या एक वैध, राजनीतिक (a legal or a political problem) समस्या है ? —साधारणत मान्यता वैध सिद्धान्तो के आधार पर प्रदान की जाती, अथवा रोकी जाती है। फिर भी, जिन तथ्यो को मान्यता प्रदान करते या रोकते समय ध्यान मे रखा जाता है, वे हैं—आर्थिक, सैन्यिक या अन्य राजनीतिक हित। ऐसे प्रसगो मे वर्तमान तथ्यो की अपेक्षा नीति अथवा राजनीतिक कालोचितता से अधिक काम लिया जाता है। यदि इस मान्यता के प्रसग में प्रभावकारी गुटो का दबाव पडता है, जैसा कि इजरायल के प्रसग मे, तो मान्यता सबधी औपचारिकताओं की प्रक्रिया उतनी लबी नहीं रह जाती और मान्यता शीघ्र दिए जाती है। किन्तु जैसा कि कौरबेट (Corbett) का कथन है कि, "एक बार अ

कोई राजनीतिक समुदाय एक निश्चित अश तक विकास की स्थिति पा लेता है, तो उसे ऐसे अधिकार मिल जाते हैं जो कि वैध उपचार के सबध मे राज्यो मे हुआ करते हैं। इस अर्थ मे, और केवल इसी अर्थ मे उसे 'मान्यता प्राप्त' (recognised) होने का अधिकार है। औपचारिक मान्यता (formal recognition) का कोई अधिकार नही है।" इसके साथ ही कोरबेट का कथन है कि, "This is something which States grant or refuse at discretion. It is a counter in the harsh game of international politics." "यह कुछ ऐसी चीज है जिसे राज्य अपने विवेक पर या तो स्वीकृत करते अथवा स्वीकृति देने से इन्कार करते हैं। यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कठिन खेल का एक टिकटद्वार है।" तात्पर्य यह है कि इस मान्यता के मिल जाने के बाद ही कोई नव-उत्पन्न राज्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे प्रविष्ट हो पाता है। यहाँ तक कि ऐसी स्थिति मे, जहाँ राजनीतिक विचारो का प्राधान्य है, मान्यता की वैध प्रकृति पर कोई इस तथ्य का प्रभाव नही पडता, जबकि किसी तथ्य की घोषणात्मकता स्वय अपने प्रकृति से निर्णायक है।

बैंक आफ चाइना बनाम वेल्स फारगो बैंक और यूनियन ट्रस्ट कम्पनी [(१९५२) १०४ एफ० सु० ५९] के वाद मे 'स्टेट्स डिस्ट्रिक्ट कोर्ट' का अवलोकन था कि अभी निकट-पूर्व मे मान्यता की स्वीकृतियाँ और अस्वीकृतियाँ दोनो ही राजनयिक सौदे के समझौत के दृष्टिकोण से प्रभावित होकर प्रदान की गई हैं, और यह कि इस सम्बन्ध में सघर्ष रत विचारों का सतुलन कार्यपालिकीय निर्णयो में किया गया है।

प्रोफेसर लाउतरपैत (Lauterpacht) ने अपने नये निर्णायक सिद्धान्त के अन्तर्गत इस बात का सकेत किया है कि मान्यता इस प्रकार की नीति का कार्य (act of policy) नही है, जैसा कि परपरा से मान्य निर्णायक सिद्धान्त के अन्तर्गत माना जाता है, और यह कि प्रत्येक राज्य का अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रति यह एक कर्तव्य है कि वह किसी नये राज्य, या ऐसी नई सरकार को, जिसमें कि राज्यत्व की वाछनीयतायें पूरी हो, मान्यता प्रदान करें। यह सिद्धान्त 'अन्तर्राष्ट्रीय न्याय न्यायालय' (International Court of Justice) के बहुमत के उस निष्कर्ष के अनुसार है, जो कि सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता की शर्तों के सम्बन्ध मे न्यायालय ने अपनी परामर्शमूलक सम्मति देते समय व्यक्त किया था। न्यायालय का अवलोकन था कि 'चार्टर' के अनुच्छेद ४ के पैराग्राफ (१) के अन्तर्गत यह आशय है कि ऐसी शर्तें और आभार जो कि इन सिद्धान्तो के प्रतिकूल हैं, राज्यों को इस सदस्यता के सम्बन्ध मे बाधक हो सकते हैं।

स्टार्क (Starke) लाउतरपैत (Lauterpacht) के सिद्धान्त का इस आधार पर विरोध करते हैं कि दृष्टान्तो और व्यवहारो की कसौटी पर विधि के सम्बन्ध मे उनके विचार खरे नही उतरते। उनका कथन है कि इजरायल के नये राज्य (१९४८-४९) और चीन की साम्यवादी सरकार (१९४९-५७) की मान्यता के सम्बन्ध मे जो विभिन्नताये हैं, उनसे कठिनाई से समझौता किया जा सकता है। यही नहीं, अपितु उन्ही के शब्दो मे, "Moreover, if there were such a legal duty to recognise, as stated by him, how would it be enforced? To each duty, these must correspond a correlative right, and how would one define this right? Is it a right of the State claiming to be recognised, or a right of the international community, and how would such claims of right be presented? The answer to these questions must be that the practice of States—particularly of the Great Powers—does not support the existence of the duty or the right mentioned .... Recognition is treated, for the most part, as a matter of vital policy that each State is entitled to decide for itself" "इससे भी आगे, यदि मान्यता प्रदान करने का कोई ऐसा वैध कर्तव्य हुआ होता जैसा कि लाउतरपैत ने कहा है, तो उसका प्रवर्तन किस प्रकार हो सकता था? प्रत्येक कर्तव्य के साथ अवश्य ही सलग्न अधिकार का होना आवश्यक है, और तब कोई इस अधिकार की कैसे व्याख्या करता? क्या यह राज्य का अधिकार है कि वह इस बात का दावा करे कि उसे मान्यता मिल चुकी है, या यह कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का यह अधिकार मिल चुका है, और फिर इस दावे को किस प्रकार सामने लाया जा सकता था? इन प्रश्नो का उत्तर अवश्य ही यह होना चाहिए कि राज्यो मे—विशेष रूप से महान शक्तियो मे—जो प्रचलन है उससे इस बात का समर्थन नही होता कि इस प्रकार के कर्तव्य या अधिकार का कोई अस्तित्व है।.... अधिकाश भाग के लिए मान्यता एक ऐसे अनिवार्य नीति के विषय के रूप मे मानी जाती है, जिसे कि प्रत्येक राज्य अपने-आप के लिए निर्धारित करने का अधिकारी है।" किन्तु प्रत्येक राज्य ऐसी मान्यता प्रदान करते समय इस बात का पूर्ण निश्चय अवश्य कर लेता है कि नव-उत्पन्न राज्य उन सभी शर्तों को पूरा करता है, अथवा नही, जिससे कि उसे वैध रूप मे 'राज्य' की सज्ञा दी जा सके और एतद्विषयक 'मान्यता' प्रदान की जा सके। इस प्रश्न पर अवश्य ही 'मान्यता' वैध सिद्धान्तो को अपने वृत्त मे खींच लिया करती है।

इस विचार का समर्थन सयुक्त राष्ट्र सघ के महासचिव के निदेशन मे तैयार किये गये मार्च ८ १९५० के 'मेमोरेंडम' में भी किया गया है कि मान्यता प्रदान करना

एक वैध कार्य होने की अपेक्षा एक राजनीतिक कार्य (a political rather than a legal act) है। इस 'मेमोरेंडम' को महासचिव ने साम्यवादी चीन के इस प्रतिवेदन के सम्बन्ध मे कि सुरक्षा परिषद् एव संयुक्त राष्ट्र सघ के विविध अगो को उन सीटो पर जिन पर 'चीन की राष्ट्रवादी सरकार' आसीन है, साम्यवादी सरकार के प्रतिनिधि रखे जायें, सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष के सामने प्रस्तुत किये जाने के निमित्त तैयार कराया था। प्रसगगत मुख्य-मुख्य अवलोकन इस प्रकार हैं :—

(१) "वैध सिद्धान्त के दृष्टिकोण से, एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मे सम्बन्ध का जुड़ना और एक सरकार की मान्यता दो सस्थाओ का एक द्विविधाजनक संयोग है, जिसमे अनावश्यक समानतायें तो दिखाई पड़ती हैं, किन्तु अन्तरात्मा दोनो की भिन्न हैं।

(२) "किसी नये राज्य की मान्यता, या किसी अस्तित्व वाले राज्य के नई सरकार की मान्यता एकपक्षीय कृत्य है, जिसे कि मान्यता प्रदान करने वाली सरकार या तो स्वीकृति कर सकती है, या स्वीकृति रोक सकती है। यह सत्य है कि कुछ विधि-विद्वानो ने सबल भाषा मे यह लिखा है कि जब कभी कोई नई सरकार क्रान्तिकारी साधनो से शक्ति मे आती है, जिसके स्थायित्व की सम्भावना दिखाई पड़ती है, जनता के अधिकाश वर्ग की स्वभावेन आज्ञाकारिता उसे मिल जाती है, तो अन्य राज्य एक वैध कर्तव्य के अधीन हो जाते हैं कि वे उस राज्य को मान्यता प्रदान करें। फिर भी, राज्य मान्यता प्रदान करने अथवा रोकने मे कुछ वैध सिद्धान्तो का अनुसरण करना आवश्यक मान सकते हैं और राज्यो के इस सम्बन्ध के प्रचलनों से प्रकट होता है कि अब भी मान्यता प्रदान करने का कार्य अनिवार्यतः एक राजनीतिक निर्णय (essentially a politcal decision) माना जाता है, जिसे कि प्रत्येक राज्य प्रसंगगत परिस्थितियों पर अपनी व्याख्यानुसार स्वतन्त्र इच्छा से निर्णय लेने के लिए सक्षम हैं।"

किसी राज्य को मान्यता प्रदान करना या न करना, एक राजनीतिक विषय है—इसका स्पष्टीकरण और भी इस आधार पर हो जाता है कि इस प्रश्न के सम्बन्ध मे कार्यपालिकीय निर्णय (executive decisions) या अपने-अपने राज्य के वैदेशिक कार्यालय के प्रतिवेदनो को इस विषय मे अन्तिम और प्रभावकारी माना जाता है।

चूंकि किसी राज्य, या सरकार की मान्यता एक वैयक्तिक कार्य (Individual act) है, और संयुक्तराष्ट्र संघ मे सदस्यता के लिए प्रविष्टि या स्वीकृति या सगठन में प्रतिनिधित्व सामूहिक कृत्य (collective acts) है, अतः किसी राज्य

के लिए वैध रूप मे मान्य नही हो सकता कि उसे संगठन मे वैध रूप मे पूर्व-मान्यता प्राप्त ही हो जाय। यह पद्धति 'लीग आफ नेशन्स' और 'सयुक्त राष्ट्र संघ' दोनो की सदस्यता के लिए प्रवर्तित रही है।

नियमानुसार मान्यता अधिकाश दशाओ मे आर्थिक व युद्ध कौशल नीति अथवा अन्य राजनैतिक हितो की दृष्टि से निश्चित होती है। यह वर्तमान तथ्यों की स्वीकृति से अधिक कूटनीति तथा राजनैतिक औचित्य के आधार पर अनुशासित होती है। कौरबेट का कथन है कि जब कोई राजनैतिक समुदाय एक बार उन्नति की एक विशिष्ट स्थिति मे पहुँच जाता है तो उसको वैध व्यवहार के लिये ऐसे अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो कि राज्यो के बीच विद्यमान हैं। इस अर्थ मे और केवल इसी अर्थ मे इसको "मान्यता" का अधिकार प्राप्त होता है। नियमानुसार मान्यता के लिये कोई अधिकार नही है। इसे राज्य अपने विवेकानुसार देते हैं अथवा देना अस्वीकार करते है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कठोर दाँव का यह पाँसा है।

मान्यता के भेद :—मान्यता प्रकट (express) अथवा अप्रकट (implied) होती है। प्रकट मान्यता किसी नियमानुसार घोषणा द्वारा दी जाती है। अप्रकट मान्यता सन्धि-स्थापन द्वारा अथवा राजनैतिक प्रतिनिधियो के अधिकार-पत्र प्रदान करके दी जाती है। तथ्यतः मान्यता (De facto recognition) तथा विधितः मान्यता (De jure recognition) मे भेद बतलाते हैं। तथ्यत मान्यता का यह अर्थ है कि मान्यता प्रदान करने वाले राज्य की सम्मति मे नया प्राधिकारी यद्यपि वास्तव मे स्वतन्त्र है तथा अपने अधीन प्रदेश मे प्रभावपूर्ण अधिकार रखता है तथापि इसने अभी इतनी पर्याप्त स्थिरता नही प्राप्त की है जिससे यह प्रकट हो कि यह अपनी स्वतन्त्रता एक दीर्घकालीन अवधि तक बनाये रख सकेगा। यह फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा निर्धारित माँगो को पूरा करता है। विधित मान्यता का यह अर्थ होता है कि मान्यता प्रदत्त राज्य अथवा सरकार उन कसौटियो मे ठीक उतरती है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय मे प्रभावशाली भाग लेने के लिये निर्धारित किये गये हैं। इससे राजनैतिक प्रतिनिधियो का तथा जंगी जहाजो के बीच सलामी का आदान-प्रदान आवश्यक हो जाता है।

प्रतिबन्धयुक्त मान्यता (Conditional Recognition)—राज्यों को कभी-कभी कतिपय प्रतिबन्धो से युक्त भी मान्यता प्रदान की जाती है। १८७८ की बर्लिन कांग्रेस ने बुल्गारिया, रुमानिया, सर्विया और मॉंटिनिग्रो राज्यों को इस शर्त पर मान्यता प्रदान की थी कि उन्होंने अपनी प्रजा पर किसी प्रकार की धार्मिक अनर्हता (religious disability) आरोपित नही की थी। चूँकि एक बार मान्यता प्रदान

कर दी जाने पर साधारणतया वापस नही की जाती, अत इस शर्त की पूर्ति मे उन राज्यो का असफल होना मान्यता को शून्यकृत नही करता। मान्यता प्राप्त राज्य यदि किसी अपराध का दोषी हो सकता है, तो वह अपराध अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन (Violation of International Law) ही है। मान्यता प्रदान करने वाला राज्य भी अनुशास्ति (sanction) के रूप मे राजनयिक सम्बन्धो को दूर कर सकता है, इससे अधिक कोई वैध दड नही दे सकता।

प्रोफेसर लाउतरपैत ने राज्या क इस अभ्यास की भर्त्सना की है कि वे मान्यता प्रदान करन मे कुछ प्रत्याभूति (गारटी) या शर्तनामा (undertaking) आरोपित कर देते हैं। यह 'मान्यता' की ठीक-ठीक प्रकृति के विपरीत है, क्योकि मान्यता राज्यत्व अथवा सरकार की क्षमता की कतिपय वाञ्छनीयताओ के तथ्यो का विनिश्चय और उनकी उद्घोषणा का एक तत्व है। किन्तु स्टार्क इस विचार से सहमत नही है, और उनका कथन है कि न्यायमूर्ति लाउतरपैत प्रचलन की गुरुता को ही दृष्टि से ओझल नहीं कर देते, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर मान्यता के जो महत्वपूर्ण परिणाम होते है, उन पर भी दृष्टिपात नही करत, उदाहरण के लिए, जहा तक कि सपत्ति अधिकारो (property rights) का सम्बन्ध है प्रत्येक राज्य को अपने लिये इन अधिकारो पर विचार करने का अधिकार है।

न्यायमूर्ति लाउतरपैत इस विचार के भी हैं कि नये राज्य या नई सरकार को मान्यता देने मे यह कसौटी रखना कि वह अन्तर्राष्ट्रीय आभारो को पूरा करने के लिये इच्छुक है, 'सदिग्ध न्यायिक औचित्य' (doubtful juridical soundnes) से युक्त है, क्योकि इस कसौटी से मान्यता की वास्तविक प्रकृति और प्रयोजन का कोई सम्बन्ध नही है। यहां भी स्टार्क महोदय उपयुक्त विचार से सहमत नही हैं, और उनका कथन है कि उपयुक्त अवलोकन राज्या मे प्रचलित अभ्यास के विपरीत है। इस विचार मे असंगति की ओर इगित करत हुये उनका कथन है कि सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता किसी राज्य को राज्यत्व, या किसी सरकार को सरकारत्व के लिए प्रमाण है, क्योंकि चार्टर के अनुच्छेद ४ मे उपबन्धित है कि सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता ऐसे 'शान्ति-प्रिय राज्यो' (peace-loving States) के लिए खुली हुई है, जो कि सघ क निर्णयानुसार चार्टर क आभारो (obligations of the Charter) को पूरा करने और उसका अनुशालन करने क लिए समर्थ और इच्छुक (able and willing) हैं।[1]

---

१. स्टार्क 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु इन्टरनेशनल ला', चतुर्थ सस्करण पृ० १३.

के लिए वैध रूप में मान्य नहीं हो सकता कि उसे संगठन में वैध रूप में पूर्व-मान्यता प्राप्त ही हो जाय। यह पद्धति 'लीग आफ नेशन्स' और 'संयुक्त राष्ट्र संघ' दोनों की सदस्यता के लिए प्रर्वातत रही है।

नियमानुसार मान्यता अधिकाश दशाओं में आर्थिक व युद्ध कौशल नीति अथवा अन्य राजनैतिक हितों की दृष्टि से निश्चित होती है। यह वर्तमान तथ्यों की स्वीकृति से अधिक कूटनीति तथा राजनैतिक औचित्य के आधार पर अनुशासित होती है। कौरबेट का कथन है कि जब कोई राजनैतिक समुदाय एक बार उन्नति की एक विशिष्ट स्थिति में पहुँच जाता है तो उसको वैध व्यवहार के लिये ऐसे अधिकार प्राप्त हो जाते हैं जो कि राज्यों के बीच विद्यमान हैं। इस अर्थ में और केवल इसी अर्थ में इसको "मान्यता" का अधिकार प्राप्त होता है। नियमानुसार मान्यता के लिये कोई अधिकार नहीं है। इसे राज्य अपने विवेकानुसार देते हैं अथवा देना अस्वीकार करते है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के कठोर दाँव का यह पाँसा है।

मान्यता के भेद :—मान्यता प्रकट (express) अथवा अप्रकट (implied) होती है। प्रकट मान्यता किसी नियमानुसार घोषणा द्वारा दी जाती है। अप्रकट मान्यता सन्धि-स्थापन द्वारा अथवा राजनैतिक प्रतिनिधियों के अधिकार-पत्र प्रदान करके दी जाती है। तथ्यतः मान्यता (De facto recognition) तथा विधितः मान्यता (De jure recognition) में भेद बतलाते हैं। तथ्यत मान्यता का यह अर्थ है कि मान्यता प्रदान करने वाले राज्य की सम्मति में नया प्राधिकारी यद्यपि वास्तव में स्वतन्त्र है तथा अपने अधीन प्रदेश में प्रभावपूर्ण अधिकार रखता है तथापि इसने अभी इतनी पर्याप्त स्थिरता नहीं प्राप्त की है जिससे यह प्रकट हो कि यह अपनी स्वतन्त्रता एक दीर्घकालीन अवधि तक बनाये रख सकेगा। यह फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा निर्धारित माँगों को पूरा करता है। विधित मान्यता का यह अर्थ होता है कि मान्यता प्रदत्त राज्य अथवा सरकार उन कसौटियों में ठीक उतरती है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में प्रभावशाली भाग लेने के लिये निर्धारित किये गये हैं। इससे राजनैतिक प्रतिनिधियों का तथा जंगी जहाजों के बीच सलामी का आदान-प्रदान आवश्यक हो जाता है।

प्रतिबन्धयुक्त मान्यता (Conditional Recognition)—राज्यों को कभी-कभी कतिपय प्रतिबन्धों से युक्त भी मान्यता प्रदान की जाती है। १८७८ की बर्लिन कांग्रेस ने बुल्गारिया, रुमानिया, सर्विया और मॉंटिनिग्रो राज्यों को इस शर्त पर मान्यता प्रदान की थी कि उन्होंने अपनी प्रजा पर किसी प्रकार की धार्मिक अनर्हता (religious disability) आरोपित नहीं की थी। चूँकि एक बार मान्यता प्रदान

कर दी जाने पर साधारणतया वापस नहो की जाती, अतः इस शर्त की पूर्ति मे उन राज्यो का असफल होना मान्यता को शून्यकृत नहो करता। मान्यता प्राप्त राज्य यदि किसी अपराध का दोषी हो सकता है, तो वह अपराध अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन (Violation of International Law) ही है। मान्यता प्रदान करने वाला राज्य भी अनुशास्ति (sanction) के रूप मे राजनयिक सम्बन्धो को दूर कर सकता है, इससे अधिक कोई वैध दड नही दे सकता।

प्रोफेसर लाउतरपैत ने राज्यो के इस अभ्यास की भर्त्सना की है कि वे मान्यता प्रदान करत मे कुछ प्रत्याभूति (गारंटी) या शर्तनामा (undertaking) आरोपित कर देते हैं। यह 'मान्यता' की ठीक-ठीक प्रकृति के विपरीत है, क्योंकि मान्यता राज्यत्व अथवा सरकार की क्षमता की कतिपय वाछनीयताओ के तथ्यो का विनिश्चिय और उनकी उद्घोषणा का एक तत्व है। किन्तु स्टार्क इस विचार से सहमत नही है, और उनका कथन है कि न्यायमूर्ति लाउतरपैत प्रचलन की गुरुता को ही दृष्टि से ओझल नही कर देते, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर मान्यता के जो महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं, उन पर भी दृष्टिपात नही करते, उदाहरण के लिए, जहाँ तक कि संपत्ति अधिकारो (property rights) का सम्बन्ध है प्रत्येक राज्य को अपने लिये इन अधिकारो पर विचार करने का अधिकार है।

न्यायमूर्ति लाउतरपैत इस विचार के भी हैं कि नये राज्य या नई सरकार को मान्यता देने मे यह कसोटी रखना कि वह अन्तर्राष्ट्रीय आभारो को पूरा करने के लिये इच्छुक है, 'संदिग्ध न्यायिक औचित्य' (doubtful juridical soundnes) से युक्त है, क्योंकि इस कसोटी से मान्यता की वास्तविक प्रकृति और प्रयोजन का कोई सम्बन्ध नही है। यहाँ भी स्टार्क महोदय उपर्युक्त विचार से सहमत नहीं हैं, और उनका कथन है कि उपर्युक्त अवलोकन राज्यो मे प्रचलित अभ्यास के विपरीत है। इस विचार मे असंगति की ओर इंगित करते हुये उनका कथन है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता किसी राज्य को राजत्व, या किसी सरकार को सरकारत्व के लिए प्रमाण है, क्योंकि चार्टर के अनुच्छेद ४ मे उपबन्धित है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ऐसे 'शान्ति-प्रिय राज्यो' (peace-loving States) के लिए खुली हुई है, जो कि संघ के निर्णयानुसार चार्टर के आभारो (obligations of the Charter) को पूरा करने और उसका अनुशीलन करने के लिए समर्थ और इच्छुक (able and willing) हैं।[1]

१. स्टार्कः 'ऐन इण्ट्रोडक्शन टु इन्टरनेशनल ला', चतुर्थ संस्करण पृ० १३.

सामूहिक मान्यता (Collective Recogniton)—एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के माध्यम से सामूहिक मान्यता इस मतभेद या वैषम्य को दूर करती है कि कुछ राज्य उस नये राज्य को मान्यता प्रदान कर रहे हैं, और कुछ ऐसा करने से अस्वीकार कर रहे हैं। लदन की संधि (Treaty of London) ने १८३० में ग्रीस को और बेल्जियम को १८३१ मे मान्यता प्रदान की। १८७८ की बर्लिन कांग्रेस ने सामूहिक रूप से बुल्गारिया, माँण्टिनिग्रो, सर्विया और रूमानिया को मान्यता दी, जब कि 'सुप्रीम कौंसिल आफ दी एलाइड पावर्स' ने १९२१ मे येस्थोनिया और अल्बानिया को मान्यता दी। यह मान्यता फ्रान्स, इटली, जापान और ग्रेट ब्रिटेन की ओर से सामूहिक रूप मे दी गई थी और फिर इसके लिये इन राष्ट्रों की पृथक्-पृथक् मान्यता की आवश्यकता न पड़ी।

यह सामूहिक मान्यता मान्यता प्राप्त राज्य के लिए राष्ट्रों के परिवार मे सदस्य के रूप मे सामने आने का मार्ग प्रशस्त कर देती है। ऐसी सामूहिक मान्यता कतिपय लेखकों द्वारा 'simultaneous or general recognition' 'क्रमिक या साधारण मान्यता' के रूप मे मानी गई है और यह कहा गया है कि आज यदि कोई सामूहिक मान्यता सम्भव है तो केवल किसी राज्य का किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा मान्यता प्राप्त करना है, जैसे संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपनी सदस्यता के लिये स्वीकृति।

किन्तु यह भी कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ मे प्रविष्ट एक ऐसे प्राइवेट क्लब मे प्रविष्टि पाने के समान है जो कि प्रविष्टि मिल जाने के बाद 'राज्यत्व' (Statehood) नही प्रदान करता। इसके प्रमाण-स्वरूप यह कहा जाता है कि बाइलो-रूस (Byelo-Russia) और उक्रेन (Ukraine) को संयुक्त राष्ट्र संघ मे प्रविष्टि के उपरान्त भी राज्यत्व का उससे अधिक पद नही मिल पाया, जितना कि असदस्य राज्य स्विटजरलैंड का रहा। केवल इजरायल और लीबिया जैसे ही प्रसंगो मे कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनीतिक कार्यों ने राज्यत्व के गुण प्रदान किये, किन्तु राज्य का उत्पन्न होना ही इन कार्यों से निर्णायक रूप में मान्य हो सका, मान्यता का प्रदान किया जाना नही।

सामूहिक अमान्यता (Collective Non-recognition)—एक सांघिक अमान्यता, जैसे कि पहले 'लीग आफ नेशन्स' और अब संयुक्त राष्ट्र संघ से किसी वर्तमान स्थिति के विरुद्ध विरोध परिलक्षित होता है। 'लीग आफ नेशन्स' की संस्तुति पर मंचुकुओ की सामूहिक अमान्यता ऐसे ही सामूहिक विरोधी प्रक्रिया का एक प्रमाण है।

जैसा कि पैलेस्टाइन के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद में संयुक्त राज्य संघ के प्रतिनिधि ने अवलोकन किया था कि सामूहिक मान्यता के मार्ग में कठिनाई यह है कि एक सप्रभु राज्य की कुछ शक्तियाँ और कुछ अधिकार होते हैं, जो कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों द्वारा कम नहीं किये जा सकते हैं और विशेष रूप से एक तात्कालिक सरकार की तथ्यत स्वीकृति में कम नहीं किये गये हैं।

इससे आगे, यह भी उल्लेखनीय है कि राज्यों ने किसी एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के माध्यम से सामूहिक मान्यता प्राप्त करने के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया है, जैसे कि संयुक्त राष्ट्र संघ से सामूहिक मान्यता। संयुक्त राष्ट्र संघ को यह अधिकार नहीं प्राप्त है कि वह या तो किसी नये राज्य को, अथवा किसी अस्तित्व-पूर्ण राज्य की सरकार को मान्यता प्रदान कर सके। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा सामूहिक मान्यता के प्रश्न को स्थिर करने के प्रयोजन के लिये या तो चार्टर में संशोधन वांछित होगा, अथवा कोई ऐसी सन्धि करनी होगी जिसका सम्मान सभी राष्ट्र कर सकें।

तथ्यत. और विधित: मान्यता (De facto and De jure recogniton)—राजनीतिज्ञों ने मान्यता को 'तथ्यत' और 'विधित' मान्यता के वर्गों में भी बाँटा है। तथ्यत मान्यता का तात्पर्य है—मान्यता प्रदान करने वाले राज्य की सम्मति में नया प्राधिकारी, यद्यपि वह वस्तुत स्वतन्त्र है और अपने अधीनस्थ क्षेत्र में शक्ति-सम्पन्न है, फिर भी इतनी पर्याप्त दृढ़ता नहीं प्राप्त कर सका है कि उससे यह प्रकट हो कि वह लम्बी अवधि तक अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखेगा, किन्तु इतना होते हुये भी उसने इतनी क्षमता प्राप्त कर ली है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की वाछनाओं को पूरा करता है और चाहे तात्कालिक रूप से, या अस्थायी रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में प्रभावकारी रूप से भाग ले सकता है। विधित मान्यता का तात्पर्य है—मान्यता प्राप्त राज्य या सरकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत निर्धारित कसौटी को पूरा करती है जिससे कि वह अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय में प्रभावकारी रूप से भाग ले सके। इसके अनुसार उस राज्य द्वारा राजनयिक प्रतिनिधियों के आदान प्रदान और युद्ध की अवस्था में सैनिक औपचारिकताओं की पूर्ति करना आवश्यक है।

ब्रिटिश प्रचलन के अनुसार किसी नये राज्य या नई सरकार को विधित मान्यता स्वीकृत करने के लिए तीन पूर्ववर्ती शर्तों का होना आवश्यक है—(१) दृढ़ता और स्थायित्व का एक तर्कसंगत आश्वासन (a reasonable assurance of stability and permanence), (२) सरकार को जनता के सर्वसाधारण का

समर्थन प्राप्त है (The Government commands the general support of the population); और (३) वह अपने अन्तर्राष्ट्रीय आभारों (international obligations) को पूरा करने के योग्य और इच्छुक है (it is able and willing to fulfil its international obligations) ।[१]

राज्यों के प्रचलन के अनुसार 'तथ्यत:' मान्यता अन्तःकालीन (provisional) होती है और उसके परिणाम-स्वरूप सभव है कि पूर्ण राजनयिक अन्तर्-सम्बन्ध का निर्वाह न हो सके, किन्तु यह 'विधित:' मान्यता के लिए एक प्रथम सोपान है।

लाउतरपैत के अनुसार तथ्यतः मान्यता किसी राज्य की उस इच्छा की एक अभिव्यक्ति है कि वह प्रभुता वाले तन्त्र के सहित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रविष्ट करना चाहता है, किन्तु इस इच्छा के साथ सामान्य राजनयिक औपचारिकतायें नहीं सलग्न हैं।[२]

कुछ विद्वान् तथ्यतः मान्यता को राज्यत्व की मान्यता के लिए एक प्रति-बन्ध-युक्त निकाय मानते हैं। इससे नये निकाय की स्थिरता के सम्बन्ध में एक संदेह आभासित होता है और समय से पूर्व प्राप्त विधित: मान्यता से वह मौलिक राज्य के प्रति कोई अपराध कथित करने से बच जाता है।

गागरा (Gagara)[३] के वाद मे, जहाँ कि 'इस्थोनियन नेशनल कौंसिल' का प्रश्न उठाया गया था, विधि-अधिकारियों ने न्यायालय को सूचित किया था कि 'हिज़ मैजेस्टी की सरकार' ने अन्त.कालीन रूप मे 'इस्थोनियन कौंसिल' को तथ्यत-स्वतन्त्र निकाय के रूप मे मान्यता प्रदान की थी। 'कोर्ट आव अपील' का अवलोकन था कि इस प्रकार की अन्तःकालीन मान्यता, जो तात्कालिक समय के लिए प्रदान की गई है, 'इस्थोनियन नेशनल कौंसिल' को एक वैदेशिक सम्प्रभु (A foreign sovereign) की स्थिति प्रदान करती है।

एक विशृङ्खलित विधित: सरकार और एक तथ्यत नवगठित सरकार के बीच के सघर्ष मे अंग्रेजी विधि-न्यायालय का अवलोकन है कि तथ्यतः सरकार के अधिकार और पद विधित: सरकार के ऊपर अधिभावी होते हैं। इस सूत्र का प्रवर्तन दो वादो मे किया गया था, अर्थात् "बैंक ऑव यूथोपिया' बनाम 'नेशनल बैंक

१. स्मिथ: ग्रेट ब्रिटेन ऐंड दी लॉ ऑफ नेशन्स, वाल्यूम १, पृ० ७६.

२. लाउतरपैत (Lauterpacht) : रिकाग्निशन इन इंटरनेशनल लॉ, पृ० ३५८.

३. (१९१९) प्रोबेट ६५.

आव इजिप्ट'[1] और लिगर और एस० एस० अरन्तजाजू मेंडी बनाम स्पेन की रिपब्लिकन सरकार[2] के वाद में।

बैंक आफ यूथोपिया के वाद मे मान्यता के निर्धारण का प्रश्न १९३६ मे इटली द्वारा अबीसीनिया-विजय के परिणामस्वरूप उठा था। इटली की सरकार ने, अबीसीनिया की तथ्यत मान्यता के उपरान्त कुछ ऐसी विधियो का अधिनियमन किया जो कि अबीसीनिया के निष्कासित सम्राट की विधियों के सघर्ष मे थी, और जो कि निष्कासन मे रहते हुये भी अबीसीनियां का विधितः शासक माना जाता था। न्यायमूर्ति क्लाजन (Clauson J.) का अवलोकन था कि विधित शासक का प्राधिकार मात्र सैद्धान्तिक है और प्रवर्तन के योग्य नही है, जब कि इटली की सरकार अबीसीनिया के नियन्त्रण मे है और तथ्यतः मान्यता प्राप्त कर चुकी है। अतः इस सरकार को ही विधियां अधिनियमित करने का अधिकार है, विधित प्रशासक को नही।

एस० एस० अरन्तजाजू मेंडी के वाद मे जहां कि स्पेन के गृह युद्ध (१९३६-३८) मे वैधानिक और प्रभुत्व वाली सरकारो के बीच सघर्ष था, स्थिति यह थी कि नये प्रभुत्व वाली सरकार ने स्पेन के अधिकाश भाग को जीत लिया था। ग्रेट ब्रिटेन स्पेन की 'रिपब्लिकन गवर्नमेंट' को अब भी स्पेन की विधित सरकार के रूप में मान्यता दे रहा था, किन्तु साथ ही उसने स्पेन के जीते हुये क्षेत्रो के लिए नई सरकार को भी तथ्यत मान्यता प्रदान कर दी। जेनरल फ्रान्को की नव-गठित तथ्यतः सरकार के विरुद्ध स्पेन की विधित सरकार ने 'ब्रिटिश ऐडमिरैल्टी कोर्ट' के समक्ष विचारण हेतु मामला प्रस्तुत किया जिससे प्रसगगत पोत पर उसे कब्जा वापस मिल सके। पोत का पजीकरण बिलबाओ बन्दरगाह पर किया गया था, जो कि फ्रांको की सरकार द्वारा कब्जे मे कर लिया गया था। जेनरल फ्रांको की तथ्यतः सरकार ने एक विदेशी राज्य मे अपने विरुद्ध मुकदमे से उन्मुक्ति का दावा किया, क्योंकि वह अपने को एक पूर्णत मप्रभु राज्य उद्घोषित कर रहा था। प्रसगगत पोत बिलबाओ बन्दरगाह पर तथ्यत. सरकार के नियन्त्रण में [illegible] किया गया था और उसे अर्जन सम्बन्धी डिक्री (Requisition decree) के संदर्भ मे उस सरकार को इगलैंड मे हस्तान्तरित किया गया था। लॉर्ड ऍटकिन ने 'लार्ड्स सभा' मे स्मरणीय निर्णय उद्घोषित करते हुये कहा था कि तथ्यत. सरकार उन सभी कृत्यो का सपादन कर रही है जो कि विधि और व्यवस्था को बनाये रखने

---

1. (१९३७) च० ५१३.
2. (१९३९) ए० सी० २५६.

विधि-न्यायालयों के पोषण और प्रवर्तन को स्थिर रखने; विधियों को बनाने और लागू करने, आदि के प्रसंग में एक पूर्ण संप्रभु सरकार किया करती है : अतः इसके पोत, चाहे युद्ध-पोत हों या व्यापारिक पोत हों, उन पर स्वत्व तथ्यतः सरकार का ही है। विधितः सरकार का यह तर्क कि तथ्यतः प्रशासन संप्रभु राज्य गठित नहीं करता, अमान्य कर दिया गया और नवगठित राज्य को उसके दावे के अनुरूप उन्मुक्ति प्रदान कर दी गई।

वैदेशिक कार्यालय से सूचना (*Information from Foreign Office*)—सम्बंधित देशों के वैदेशिक कार्यालयों से उस देश को इस सूचना की प्राप्ति कि किसी नये राजनीतिक समुदाय ने ऐसे समुदाय का स्तर प्राप्त कर लिया है, उस देश के न्यायालयों के लिए निर्णायक तत्व है। यह विचार 'सिविल एयर ट्रान्सपोर्ट इनकारपोरेटेड' बनाम 'सेण्ट्रल एयर ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन'[1] के प्रसंग में व्यक्त किया गया था। इसी प्रकार का संदर्भ अरान्जाजू मेंडी के भी वाद में किया गया था, जिसका कि उल्लेख पहले किया जा चुका है।

किसी विदेशी राज्य या सरकार की मान्यता के सम्बन्ध में कार्यपालिका की घोषणा सदैव निर्णायक और निरपवादिक मानी जाती है और उस देश के न्यायालयों के लिए बाध्यतापूर्ण मानी जाती है; और ये उद्घोषणायें राज्य के कृत्यों के रूप में मानी जाती हैं, जो कि राज्य के प्रधान के विवेकाधीन हैं। [लूथर बनाम सागोर[1], ओटा[2], डफ डेवलपमेण्ट कम्पनी बनाम गवर्नमेंट आफ केलण्टन[3] और मुमताज आजार बनाम मयूरेश्वर ट्रस्ट[4]]

प्रश्न है, जिसका कि किसी सरकार के विधायी और कार्यपालिकीय विभागों का निर्धारण वहाँ के न्यायाधीशों के लिए बाध्यतापूर्ण है, साथ ही उस निर्धारण की उतनी ही बाध्यता वहाँ के अन्य अधिकारियों, नागरिकों और उस सरकार की प्रजाओं के लिए भी है।

न्यायालयों की मान्यता और अमान्यता के सम्बन्ध में विदेशी सरकारों के कार्यांग की नीति को निस्सार या निष्प्रयोजन नहीं समझना चाहिए। किसी भी विशिष्ट स्थिति में कार्याङ्ग की नीति महत्वपूर्ण हो सकती है। किन्तु यह एक तथ्य है जिस पर कि न्यायालय में अन्य तथ्यों के साथ ही अवश्य विचार कर लिया जाना चाहिये। (बैंक ऑव चाइना बनाम वेल्स फारगो बैंक और यूनियन ट्रस्ट कम्पनी।[1])।

तथ्यतः और विधितः मान्यता (Distinction between De Facto and De Jure Recognition)—तथ्यतः और विधितः मान्यताओं के बीच अन्तर स्पष्ट करते हुये स्वार्जेनबर्जर (Schwarzenberger) का निम्नलिखित अवतरण बहुत ही महत्वपूर्ण है—"De facto recognition is by nature provisional and may be made dependent on conditions with which the new entity has to comply It differs from de jure recognition of a State. There is not yet a formal exchange of diplomatic representatives The jurisdiction of the new international person is merely recognised to exist within its own territory and any extra territorial effects of such jurisdiction are ignored. Thus, if a State which has received de jure recognition, should nationalise companies within its territory, its ownership in the property of such companies abroad (securities, land or ships) cannot be denied. If, however, such a State had merely obtained de facto recognition, such acts are without effect if purporting to apply to property in the country that has granted such de facto recognition ....there is an increasing tendency, both in decisions of national courts and amongst writers, to assimilate the effects of de facto recognition of a State to those of de jure recognition.... ..In contrast to de facto recognition, de jure recognition is considered to be retrospective, that is to say, to date back to the time when the newly recognised entity actually came into existence."[2] अर्थात् "तथ्यतः

---

१. १०४ एफ० सुप्र० ५६.

२. जार्ज स्वार्जेनबर्जर : ए मैन्युअल ऑफ इटरनेशनल ला, पृ० २८-२९.

मान्यता स्वभावेन अन्त कालीन है और ऐसी शर्तों के अधीन की जा सकती है जिसे कि नई इकाई को पूरा करना है। यह किसी राज्य की विधित मान्यता से भिन्न है। इसमे अभी तक राजनयिक प्रतिनिधियो के आदान-प्रदान की औपचारिकता शेष रहती है। इसमे नये अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का क्षेत्राधिकार स्वय अपने क्षेत्र मे अस्तित्व मे होने की बात मान्य कर ली जाती है और ऐसे क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत किसी क्षेत्रेतर क्षेत्राधिकार की उपेक्षा कर दी जाती है। इस प्रकार यदि एक राज्य को, जिसने कि विधितः, मान्यता प्राप्त कर ली है, अधिकार है कि वह अपने क्षेत्र के भीतर की कंपनियो का, और देश के बाहर उन कपनियो की सपत्ति का राष्ट्रीयकरण करे (प्रतिभूति, स्थल अथवा पोत) और उसे इस अधिकार से वचित नही किया जा सकता। किन्तु, यदि ऐसे राज्य को केवल तथ्यत. मान्यता मिली है, तो उसके ऐसे कृत्य उस समय प्रभावशून्य होंगे यदि उस देश मे निहित सपत्ति के सदर्भ मे हैं, जिसने कि ऐसी तथ्यत मान्यता दी है। "......एक बढती हुई प्रवृत्ति राष्ट्रीय न्यायालयो और लेखको, दोनो मे दिखाई पड रही है कि किसी राज्य की तथ्यत मान्यता को विधितः मान्यता के प्रभावो से घुला-मिला दिया जाता है।" ...तथ्यत· मान्यता के विपरीत, विधितः मान्यता पूर्वलक्षी प्रभाव से युक्त मानी जाती है। तात्पर्य यह है कि इसका प्रभाव आज की तिथि से पीछे उस तिथि तक रहता है, जब कि नव-निर्मित इकाई वस्तुत. अस्तित्व मे प्रकट हुई थी।"

जैसा कि ऊपर कहा गया है, तथ्यतः मान्य स्वभाव से अन्त.कालीन या अन्तिमकालीन होती है और इससे व्यक्त होता है कि मान्यता प्रदान करने वाला राज्य मान्यता-प्राप्त राज्य को, "as an authority in fact, with disputed control within the territorial limits of that State" उस राज्य को एक तथ्यत ऐसे प्राधिकार के रूप मे मानता है जिसका नियत्रण उस क्षेत्रीय सीमा के भीतर ही निहित है। ऐसी तथ्यतः मान्यता व्यावहारिक कारणो से प्रदान की जाती है और इसमे राजनयिक सह-सबध की प्रतिभूति नही होती। न तो, ऐसी तथ्यतः मान्यता के अन्तर्गत यह प्रश्न ही अन्तर्ग्रस्त होता है कि तथ्यतः सरकार ने वैध साधनो से शक्ति प्राप्त की है, अथवा अवैध साधनो से। दूसरी ओर विधितः मान्यता अपने आप मे ही पूर्ण मान्यता है, और इसके अन्तर्गत पूर्ण और सामान्यत. सभी राजनयिक सम्बन्ध उपस्थित होने का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त रहता है। दोनो के वैध प्रभावो मे सामान्यतः कोई अन्तर इसलिए नही पडता कि विधितः मान्यता पूर्वलक्षी प्रभाव से युक्त होती है, और उसके मिल जाने पर अपने देश से बाहर स्थित अपनी सपत्ति पर भी पूर्वलक्षी प्रभाव मसग्र हो जाता है। दोनो को, युद्ध-स्थिति के अन्यथा, सामान्य सन्दर्भ से समान उन्मुक्ति प्राप्त है।

मान्यता के लिए विचारणीय तथ्य (Considerations for Recognition)—परंपरागत विचार यह रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि किसी राज्य पर यह कर्तव्य आरोपित नही करती कि वह नये राज्यो को मान्यता प्रदान करे। वास्तविकता तो यह है कि मान्यता अधिकाशतः एक नीति का प्रश्न है, विधि का नही। राज्यो ने बहुधा नव-गठित राज्य या सरकार को मान्यता प्रदान करने मे विलब किया है, इन्कार कर दिया है, या सहसा फिर प्रदान कर दिया है। कारण कूटनीतिक या राजनयिक रहे है। प्रथम विश्व महायुद्ध मे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स और सयुक्त राज्य और अन्य शक्तिया ने पोलैंड और जेकोस्लोवाकिया को उस समय से पहले ही मान्यता दे दी थी, जबकि वस्तुत इनका अस्तित्व स्वतन्त्र राज्य या सरकार के रूप मे सामने आया। रूस की सोवियत सरकार के प्रसग मे जिसकी स्थापना १९१७ मे हुई, सयुक्त राज्य और अन्य शक्तियो द्वारा कुछ वर्षों तक मान्यता देने से रोक लगा दिया गया। अशत. कारण यह था कि उस सरकार की अवधि और निरतरता के संबध मे कुछ भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता था और अशतः कारण यह था कि वे बोल्शेविक सिद्धान्तो के विरुद्ध थे।

इस प्रसग मे मार्च २१, १९२३ को सचिव ह्यूस ने कहा था कि, 'In the case of Russia we have a very easy test in a matter of fundamental importance, and that is of good faith in the discharge of international obligations I say that good faith is a matter of essential importance because words are easily spoken Of what avail to speak of assurances, if valid obligations and rights are repudiated and property confiscated." "रूस के प्रसंग मे हमारे समक्ष एक बहुत ही सरल, किन्तु मौलिक रूप से महत्वपूर्ण कसौटी है, और वह कसौटी है—अन्तर्राष्ट्रीय आभारों के निर्वहन मे सद्भावना की। मैं कहता हूँ कि सद्भावना एक नितान्त महत्व का विषय है क्योकि शब्द तो सरलता से कहे जा सकते हैं। किन्तु केवल आश्वासनो की बात करने से ही क्या लाभ, जब कि वैध कर्तव्य और अधिकार का खडन किया जाता रहे और सपत्ति जब्त की जाती रहे।"

लाउतरपैत के अनुसार किसी को राज्य या नई सरकार की मान्यता के लिए इस कसौटी को व्यवहृत करना कि वह अन्तर्राष्ट्रीय आभारो की पूर्ति के लिए कहाँ तक इच्छुक है, एक सदिग्ध न्यायिक औचित्य से युक्त है और मान्यता के प्रयोजन से असबध है।

मान्यता प्राय. अपरिपक्व स्थिति मे ही दे दी जाती है, या देने से रोक दी जाती है और कारण केवल राष्ट्रीय नीति (national policy) रहती है। तथ्यतः

और तदुपरान्त विधितः मान्यता, जो संयुक्त राज्य द्वारा पनामा को विद्रोह की अवधि के केवल तीन दिन के भीतर प्रदान की गई, राष्ट्रीय नीति के अग्रसरण हेतु अस्तित्व के पूर्व ही मान्यता प्रदान करने का एक अच्छा उदाहरण है। इन्हीं आधारों पर फ्रान्स ने १७७८ में केवल संयुक्त राज्य को मान्यता ही नहीं दी, अपितु इंगलैंड के विरुद्ध के विद्रोहों में सहायता भी की। इजरायल के नये राज्यों की मान्यता (१९४८-४९) के संबंध में मतों में अनैक्य राजनीति कालोचितता के ही विचार का परिणाम था। इन्हीं विचारों को दृष्टि में रखते हुये, अर्थात् राजनीतिक मतभेदों को देखते हुये संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राज्य चाऊ-एन-लाई की लाल-चीनी सरकार को मान्यता प्रदान करने से रुके। वे अब भी फारमूसा में स्थित राष्ट्रवादी सरकार को चीन की वैध सरकार मानते हैं; और अवास्तविकताओं के होते हुये भी कुओमिन्ताग वर्ग—एक चीनी राष्ट्रीय प्रत्यायुक्त को—सुरक्षा परिषद में स्थायी सीट मिली हुई है। फिर भी, ब्रिटेन ने चीन की जनवादी सरकार को अपने व्यापारिक हितों की दृष्टि से मान्यता प्रदान कर दी। यह मान्यता फिर भी राजनीतिक दृष्टिकोण को न बदल सकी और ग्रेट ब्रिटेन चीन की केन्द्रीय जनवादी सरकार की संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता में विरोध करता जा रहा है। विडबना यहाँ तक है कि अक्टूबर १९६२ में संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा के सत्रहवें अधिवेशन में ब्रिटेन ने रूस के इस प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया कि साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र में प्रविष्टि दे दी जाय, फिर भी प्रस्ताव अमान्य हो गया।

चीन की नई जनवादी सरकार को मान्यता प्रदान करते हुये स्वर्गीय प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि भारत ने जनवादी चीन को कई कारणों से मान्यता दी है। समुचित, दृढ़ और चिरस्थायी सरकार सम्पूर्ण महाद्वीपीय चीन पर अस्तित्व में है। उनका कथन कि देशों को मान्यता प्रदान करते समय किसी की किसी के प्रति रुचि या अरुचि का प्रश्न विचारणीय नहीं है, अपितु केवल इतना ही विचारणीय है कि उन्होंने एक दृढ़ सरकार गठित कर लिया है और उनके निकाल दिये जाने की कोई सम्भावना नहीं है।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये गये इस निवेदन पर कि 'पनामा ड्रैफ्ट डिक्लैरेशन' के अनुच्छेद २ पर जो कि राज्यों के कर्तव्यों और अधिकारों का निर्धारण करता है, अवलोकन कर लिया जाय, इसके उत्तर में 'युनाइटेड किंगडम' का अवलोकन था कि (१) जहाँ पर कोई इकाई राज्यत्व की शर्तों को पूरा करती है, अन्य सभी राज्यों का कर्तव्य है कि उसे मान्यता प्रदान करें; और (२) सभी राज्यों पर यह भी एक कर्तव्य आरोपित है कि वे किसी ऐसी इकाई को राज्य की मान्यता न दें, जो कि इन शर्तों को पूरा नहीं करती। वे इस बात से सहमत

थे कि राज्यों की मान्यता अथवा अमान्यता एक वैध कर्तव्य का प्रश्न है नीति का प्रश्न नहीं; और यह कि किसी राज्य का अस्तित्व मे होना उसकी मान्यता पर निर्भर नहीं करता, अपितु इस बात पर निर्भर करता है कि मान्यता का कर्तव्य उत्पन्न हो गया है। यह भी कहा गया था कि किसी इकाई की राज्य के रूप मे मान्यता उस इकाई के साथ राजनयिक सबध के लिए अनिवार्य शर्त नही है। यह तो विशुद्ध रूप मे राजनीतिक दृष्टिकोण का विषय है। दूसरी ओर किसी इकाई के साथ राजनयिक सबंधो मे प्रविष्टि के अन्तर्गत अन्तर्निहित है कि वह इकाई किसी अस्तित्व के रूप मे मान ली गई है। उस इकाई को विधितः या तथ्यतः राज्य की मान्यता मिली है, या युद्धसलग्न समुदाय, या यह कि उसे अधिभावी सरकार के रूप में मान्यता मिली है, आदि का प्रश्न उन विशिष्ट तथ्यो पर निर्भर करता है जिनके आधार पर उनकी प्रविष्टि हुई थी।

बैंक ऑव चाइना बनाम वेल्स फारगो बैंक ऐंड यूनियन ट्रस्ट कंपनी[1] के वाद मे अवलोकन था कि यहाँ तक कि न्यायालय भी हमारी कार्यपालिकीय वैदेशिक नीति से ही संबद्ध है, किसी मान्य सरकार के प्रत्येक कृत्य को अन्ध-प्रभाव-कारिता और अमान्य सरकार के प्रत्येक कृत्य को काल्पनिकता की संज्ञा देना भी समीचीन नही है।

राज्य के नये अध्यक्षों की मान्यता :—जब किसी राज्य का जो पहले ही से एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है अध्यक्ष साधारणतया वैध प्रकार से बदलता है तो ऐसा परिवर्तन अन्य राज्यो को अधिसूचित कर दिया जाता है जो राज्य के नये अध्यक्ष को बधाई के सन्देश भेज कर स्वीकार करते हैं। कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जब कि राज्य मे परिवर्तन क्रान्तिकारी उपायो से अर्थात् वर्तमान सरकार को उलट देने से होता है। ऐसी स्थितियों में इस प्रश्न के विचार के लिये दो कसौ-टियाँ हैं; अर्थात् क्या यह नयी सरकार वास्तव में एक ऐसी सरकार है जिसके नियन्त्रण मे राज्य प्रभावशाली रूप मे है और वह उस प्रदेश के एक पर्याप्त भाग पर बिना किसी प्रभावपूर्ण विरोध के प्राधिकार का प्रयोग कर रही है? इसे बाह्य आधार अथवा वस्तुनिष्ठ परीक्षण (objective test) कहा जाता है। दूसरा परी-क्षण यह है कि क्या नई सरकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर द्वारा नियत किये गये कर्तव्यों को पालन करने के लिये तैयार है? इसको अधिकरण सम्बन्धी अथवा आत्मनिष्ठ परीक्षण (subjective test) कहते हैं? यदि नई सर-कार स्थिर न हुई अथवा वहाँ बारम्बार क्रान्तियाँ हो रही हो जिससे सरकार मे

---

[1] यूनाइटेड स्टेट्स डिस्ट्रिक्ट कोर्ट १६५२,१०४ एफ० सप्प० ५६.

परिवर्तन आवश्यक हो जाता हो तो मान्यता प्रदान करने वाले राज्य मान्यता प्रदान करने मे विलम्ब करते हैं।

किसी सरकार द्वारा मान्यता प्रदान करने की बात स्वीकार कर ली जाय या इन्कार कर दी जाय उस राज्य की स्वयं मान्यता के लिये महत्वपूर्ण नहीं है। यदि कोई वैदेशिक राज्य किसी पहले से ही चले आने वाले राज्य की नई प्रकार की सरकार के प्रारूप मे होने वाले परिवर्तन को मान्यता प्रदान करने से इन्कार कर देता है, तो केवल इसी कारण वह पुराना राज्य अपना अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं समाप्त कर देता।[१]

किसी राज्य की सरकार कितनी ही हिंसक या उग्रवादी क्यों न हो गई हो किन्तु राज्य अस्तित्व मे बना रहता है। कहा जा सकता है कि किसी राज्य की अमान्यता किसी राज्य को सरकार के अनस्तित्व का द्योतक भी नहीं है। किसी अमान्य सरकार के कृत्य इस मान्यता के न होने के कारण अवैध नहीं हो जाते।[२]

गाउल्ड (Gould) का कथन है कि "Changes in the form of government of a State no more extinguish the international personality of the State than did military occupation and extinguish the existence of the statehood of Germany. Indeed, even a condition of state of anarchy does not remove a community from the roster of states. A parliamentary system may be replaced by a dictatorship of the proletariat, a monarchy by a military junta. But such changes do not involve the substitution of a new state for an old one." अर्थात् "किसी राज्य की सरकार के प्रारूप मे होने वाले परिवर्तनों, उस राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को उससे अधिक नहीं समाप्त कर सकते जितना कि मिलिट्री के कब्जा के उपरान्त भी जर्मनी के राज्यत्व का अस्तित्व बना रह गया था। वास्तव मे, अराजकता की भी कोई स्थिति किसी समुदाय को राज्यत्व पद से पृथक नहीं करती। लोकतांत्रिक व्यवस्था अधिनायकत्व मे और राजतन्त्र मिलिट्री शासन में बदल सकता है, किन्तु इन परिवर्तनों के कारण किसी पुराने राज्य के स्थान पर नया राज्य अस्तित्व मे नहीं आया करता।"

यह परिवर्तन इस बात पर निर्भर करता है कि नये परिवर्तन ने केवल सरकार के रूप में ही परिवर्तन किया है, अथवा परिस्थितियाँ ऐसी हैं कि पुराना

१ ले-हाई वैली रेल रोड कम्पनी बनाम रूस राज्य (१९२७), २१ एफ० ३९६

२ १८ ए० जे० आई० एल० (१९२४), पृ० १२७

राज्य मे से ही भू-क्षेत्र की कटौती, आदि करके, किसी नये राज्य या नई इकाई का प्रादुर्भाव हुआ है। १९४७ के पूर्व भारत अपने अखड रूप मे एक ही राज्य था और वे हिस्से जो अब पाकिस्तान के क्षेत्र मे हैं, भारत के ही क्षेत्र थे। किन्तु, स्वतत्रता-प्राप्ति के उपरान्त देश के भू-क्षेत्र, जनता और नैतिक साधनो का विभाजन करते हुये 'पाकिस्तान' नामक एक नये राज्य का गठन किया गया। 'पाकिस्तान' उस समय से राज्य की एक इकाई है। वहाँ सरकार के प्रकारो मे बीच-बीच मे परिवर्तन होते रहे, फिर भी उस 'राज्यत्व' के पद मे इन परिवर्तनो का कोई प्रभाव नही पड़ा।

'सर्व क्रोट स्लोवीन किंगडम' के बाद मे 'जर्मन युगोस्लेव सम्मिलित आर्बीट्रल ट्रिब्युनल' ने निर्णय किया था कि यह सर्विया-साम्राज्य की ही निरन्तरता का प्रश्न है, न कि वरसाइल्स की सधि के अनुच्छेद २९७ (एच) के अर्थों मे किसी नये राज्य के अभ्युदय का प्रश्न हो। इसी प्रकार से १९१७ की क्रान्ति के बाद रूसी राज्य वही राज्य माना गया जो कि वह १९१७ की क्रान्ति के पूर्व था। दूसरी ओर, ऑस्ट्रियन रिपब्लिक प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् शान्ति-सन्धियो के परिणाम-स्वरूप इतना विशृंखलित हो गया था कि ऑस्ट्रियन रिपब्लिक न्यायालयो ने उसे सम्राट् वाले ऑस्ट्रिया से भिन्न एक नया राज्य माना। इसके ठीक विपरीत दूसरा उदाहरण उस समय का है, जबकि 'ओटोमन डेट् आर्बीट्रेशन' (Ottoman Debt Arbitration), १९२५ के एकमात्र विवाचक यूर्जीन बोरेल (Eurgene Borel) का निष्कर्ष था कि टर्की का रिपब्लिक पूर्ववर्ती ओटोमन-साम्राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व को धारण किये हुये हैं। इस प्रकार की विपरीत परिस्थितियो मे इस प्रसग में कोई सामान्य परिभाषा देना कठिन है और जैसा कि गाउल्ड (Gould) का कथन है—"...Ordinarily, neither territorial changes nor changes in the form of government affect the continuity of the State. Only in exceptional cases when simultaneous territorial change and change in form of government are so fundamental that the new entity, even in the national and cultural make-up of the population, hardly resembles the old, is the continuity to be regarded as broken" "साधारणतया, न तो क्षेत्रीय परिवर्तन और न सरकार के प्रकार मे परिवर्तन ही राज्य की निरन्तरता को प्रभावित करते हैं। केवल अपवादपूर्ण स्थितियो मे, जबकि भू-क्षेत्र और सरकार के प्रकार मे साथ-साथ परिवर्तन होते हैं, और इतने आधारभूत रूप मे होते हैं कि नई इकाई, यहाँ तक कि जनता के राष्ट्रीय और सास्कृतिक क्षेत्र मे पुरानी स्थिति से भिन्नता आ जाने की स्थिति में रहती है तभी यह निरतरता टूटी

हुई कही जा सकती है।" उपर्युक्त 'पाकिस्तान' राज्य के सम्बन्ध मे यही बात कही जा सकती है।

निर्वासित सरकार की मान्यता (Recognition of Government in Exile) :—किसी राज्य की सरकार निर्वासित तब कही जाती है जब उस राज्य का प्रदेश शत्रु की सेना के अधिकार मे हो। शत्रु द्वारा किसी प्रदेश पर अधिकार यह नही व्यक्त करना कि निर्वासित सरकार का उस प्रदेश पर प्रभावशाली नियन्त्रण नही है। ऐसी सरकार उस समय तक अधिकृत प्रदेश की सरकार मानी जाती है जब तक वह खोये हुये प्रदेश पर पुन नियन्त्रण पाने मे प्रयत्नशील रहती है। यदि युद्ध की समाप्ति तथा सन्धि-स्थापना होने पर निर्वासित सरकार खोये हुए प्रदेश पर फिर स नियन्त्रण पाने मे असमर्थ रहती है तो यह अपना उस राज्य की सरकार मानी जाने का अधिकार खो देती है।

राज्यों की मान्यता (Recognition of States) :—पहले के स्वतन्त्र राज्य द्वारा यदि कोई नया राज्य-सघ बनाया जाता है, तो उस नये राज्य को अन्य राज्यो की मान्यता की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार राष्ट्रो क कुटुम्ब में सम्मिलित होने मे भी यह मान्यता आवश्यक होती है। यह आवश्यक नही है कि यदि किसी राज्य को एक राज्य मान्यता दे दे, तो अन्य राज्य भी अपनी मान्यता दे दें। इतना अवश्य है कि यदि किसी राज्य को किसी बडे और प्रभावशाली राज्य द्वारा मान्यता प्रदान कर दी जाती है, तो उससे प्रभावित होकर अन्य राज्य भी मान्यता प्रदान करने लगते है।

स्टिम्सन का अमान्यता सिद्धान्त (Stimson's Doctrine of Non recognition)—जून १६३२ मे चीन के मचूरिया प्रान्त पर जापान वालों का आक्रमण हो गया। उस समय सयुक्त राज्य के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट Mr. Henry L. Stimson थे। उन्होने यह कहा था कि सयुक्त राज्य अमेरिका तथ्यत (de facto) स्थिति की वैधता को नही स्वीकार करता और न तो यह किसी ऐसी सधि या समझौते को ही मान्यता देता है जो कि इन सरकारो या उनके अभिकर्त्ताओं के बीच हुआ है जो कि सयुक्त राज्य के सधि अधिकारो के बीच आवे और यह कि वे ऐसी भी किसी स्थिति, सधि या समझौते को मान्यता नहीं देते जो कि कवनेंट तथा पेरिस के पैक्ट (१६२८) के सिद्धान्तो के विपरीत हो जिनमे कि चीन, जापान और सयुक्त राज्य पक्षकार थे। उनका कहना था कि कोई भी परिस्थिति यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन करती है तो मान्यता प्रदान करने के कारण वैध नही कही जा सकती। उन्होने आगे कहा था कि "ऐसे कार्यों पर एक अवरोध लगा दिया जायेगा जो कि

हम विश्वास करते हैं कि किसी स्वत्व या अधिकार की वैधता को दबाव से भंग करने में अथवा संधि के उपबन्धो के अतिक्रमण पर प्रभावकारी रूप से बाधा उत्पन्न करेगा।" इस सिद्धान्त को मार्च ११, १६३२, को लीग आफ नेशन्स ने अपने प्रस्ताव द्वारा घोषित किया और प्रवर्तित किया।

यह सिद्धान्त राष्ट्रीय नीति का एक कथन-मात्र है और यद्यपि इसके सिद्धान्त लीग आफ नेशन्स द्वारा मार्च १६३२ के प्रस्ताव पारित होने के पश्चात् निम्नलिखित शब्दो मे मान लिये गये थे

"It is incumbent upon the members of the League of Nations not to recognize any situation, treaty or agreement which may be brought about by means contrary to the Covenants of the League of Nations or to the Pact of Paris"

द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् महान् शक्तियो ने सयुक्त राष्ट्र के चार्टर द्वारा इन मान्यताओं को जो कि चार्टर के उपबन्धो के विरुद्ध हैं, अस्वीकार कर दिया है।

स्ट्राडा का सिद्धान्त (The Estrada Doctrine).—यह सिद्धान्त मान्यता के अभ्यास को किसी न किसी रूप मे समाप्त कर देने का समर्थन करता है। सितम्बर २७, १६३०, को मैक्सिको के विदेश सम्बन्धी सचिव Senor Estrada ने एक घोषणा की जो कि उन्ही के नाम से पुकारी जाती है। यह घोषणा निम्न-लिखित थी :—"मैक्सिको की सरकार ने अपने मन्त्रियो को आदेश दे दिया है कि वर्तमान राजनीतिक उथल-पुथल से प्रभावित देशो मे इस आशय का आदेश भेज दिया गया है कि मैक्सिको की सरकार मान्यता के रूप मे कोई घोषणा नही कर रही है, क्योंकि राष्ट्र की यह व्याख्या है कि यह एक अपमानजनक अभ्यास है। इसके साथ ही साथ यह दूसरे राष्ट्रो की सम्प्रभुता पर घातक होता है। इसका अभिप्राय यह होता है कि उन राष्ट्रो के आन्तरिक मामलो मे कुछ निर्णय दूसरी सरकारें करें क्योंकि दूसरी सरकारें सम्भव है—मान्यता के पक्ष का समर्थन करें अथवा न करें और यदि समर्थन करने के स्थान पर आलोचना करती हैं तो यह प्रत्यक्षत एक हस्तक्षेप का रूप है जो कि बाहरी देशों की ओर से आता है इसलिये मैक्सिको की सरकार अपने आपको जहाँ तक उचित होगा राजनयिक अभिकर्त्ताओं की स्थापना और प्रत्याहरण तक सीमित रखेगी और जब तक यह उचित समझेगी इस तरह के राजनयिक अभिकर्त्तात्मक सवध उन देशो मे जारी रखेगी जो मैक्सिको से ऐसा सम्बन्ध बनाये रखते हैं। ऐसा करने में वह कोई निर्णय नही करेगी जो कि विदेशी राष्ट्र के अधिकार मे है कि वह अपनी सरकार या प्राधिकारियो को स्वीकार करेगी बनाये रखेगी या बदल देगी।

Briggs (ब्रिग्स) का कथन है कि यद्यपि 'स्ट्राडा सिद्धान्त' से सरकारो की मान्यता का अभ्यास समाप्त होने का सकेत है अपेक्षा इसके कि वह मान्यता के प्रवर्तित वैध अधिकारो के लिये एक प्रस्ताव सा करता है, किन्तु इससे राजनयिक तथ्यो की समाप्ति नहीं हो जाती। पहली बात तो यह है कि यह निश्चित करना आवश्यक है कि कौन से पदाधिकारी विदेशी राजनयिक आभारो को पूरा करने या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत दावा प्रस्तुत करने मे समर्थ हैं। दूसरी बात यह है कि कौन सी सरकार उन आभारो को स्वीकार करेगी और क्या ?

एस्ट्राडा के सिद्धान्त पर टिप्पणी करते हुये फेन्विक् (Fenwick) का कथन है कि यदि इसे इस रूप मे मे माना जाय कि मान्यता अभिप्राय तथ्यत राज्य की नई सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आभारो की पूर्ति करने की योग्यता और इच्छा से है, और इसलिए उसे मान्यता दी जाये, या यह कि इस मान्यता से राजनयिक सम्बन्ध अविच्छिन्न ढग से बना रहेगा, और इसके माध्यम से यह प्रकल्पना करना कि तथ्यत सरकार राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय आभारो को आवश्यकता के रूप मे पूरा करती रहेगी, सयुक्त राज्य की नीति के उस कथन से भिन्न नही है जहाँ कि पूरा महत्व तथ्यत प्रकार की सरकार को प्रदान किया गया था। दूसरी ओर, व्यवहार के रूप मे, अमेरिकी राज्यो म उत्पन्न होने वाली शक्तियो क बीच नई सरकारो ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आभारो को पूरा करने मे अपने आशय मे किसी कठिनाई की कभी भी उद्घोषणा नही की है, क्योंकि इनमे से प्रत्येक विषय सधियो की पूर्ति मे सद्भावना के विषय रहे हैं।[1]

यहाँ Svarlien के शब्दो मे—"The Estrada Doctrine of Recognition clearly assumes that diplomats are accredited to states than to Governments. It also recognises the clear proposition of International Law that states have a continuous existence, whereas Goverments do not." अर्थात् मान्यता का स्ट्राडा सिद्धान्त स्पष्टत. यह मानता है कि राजनयिकों का सम्बन्ध राज्यो से होता है, सरकारो से नही। यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इस सूत्र को भी स्पष्ट रूप से मानता है कि राज्यो का एक निरतर अस्तित्व होता है, जब कि सरकारो का नही।

मान्यता की पूर्व व्याप्ति (Retroactivity of Recognition)—जब कि कोई ऐसी सरकार किसी राज्य द्वारा उस देश की विधितः सरकार (de jure Government) के रूप मे मान्यता प्राप्त करती है, जो कि क्रान्ति या विद्रोह से

१. फेन्विक्. इटरनेशनल लॉ, पृ० १७१

परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है, तो ऐसी मान्यता प्रभाव मे पूर्व व्याप्ति के प्रभाव से युक्त होती है और उस राज्य के अस्तित्व मे आने की तिथि से, ऐसी मान्यता उसके समस्त कृत्यो और व्यवहारो का वैधकरण कर देती है।[१]

'सिविल एयर ट्रान्सपोर्ट इनकारपारेटेड' बनाम सेण्ट्रल एयर ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन[२] के वाद मे यह अवलोकन था कि प्रथम-दृष्ट्या मान्यता (prima facie recognition) पूर्वव्यापी रूप मे पूर्ववर्ती सरकार के कार्यों के अवैधकरण के लिए व्यवहृत नही होती, अपितु ऐसी तथ्यत सरकार के कार्यों के वैधकरण के लिए होती है जो कि अब नई विधित सरकार बन गई है।

मान्यता की पूर्व व्याप्ति के विषय पर सयुक्त राज्य के सुप्रीम कोर्ट मे 'गारटी-ट्रस्ट कपनी न्यूयार्क बनाम युनाइटेड स्टेट्स'[३] के वाद मे विचार-विमर्श किया गया था और यह अवलोकन था कि "सरकार का तर्क यह है कि सावियत सरकार के कार्य की मान्यता जिसने कि अनेक प्रयोजनो के लिए यहाँ वैधकरण कर दिया है कि सरकार के पूर्वव्यापी कार्य जो कि अपने ही क्षेत्र के अन्तर्गत किये गये हैं, सयुक्त राज्य द्वारा अन्त कालीन सरकार और उसके प्रतिनिधियो की पूर्व मान्यता के सभी वैध परिणामो को छूमन्तर कर देते हैं, क्योकि इस प्रकार की मान्यता कभी भी प्रदान नही की गई थी।···किन्तु इसका तात्पर्य यह नही है कि मान्यता पूर्व-मान्य सरकार के व्यवहारो को उस सीमा तक प्रभावित नही करती जहाँ तक कि हमारी सरकार की उद्घोषित नीति की अनुकूलता है। हमारी सरकार द्वारा मान्यता प्रदान करने का मात्र प्रयोजन यह है कि हमारे राष्ट्रीय नागरिको का परिणाममूलक ऐसा परामर्श दिया जा सके कि किन-किन सरकारो के साथ वे सुरक्षापूर्वक व्यापार-सबध स्थापित कर सकते हैं और उन सरकारो के समुचित प्रतिनिधि कौन है। यदि वे सह-सम्बन्ध, प्रविष्टि के समय वैध थे, किन्तु उत्तरवर्ती सरकार की मान्यता के उपरान्त अवैध हो जाये—तो मान्यता केवल एक ऐसी निष्क्रिय औपचारिकता के रूप मे रह जायेगी जो पूर्वस्थापित राजनीयक सम्बन्धो के प्रति लाभप्रद परिणाम नही दे पायेगी और न तो व्यापार सम्बन्ध ही आगे बढ़ सकेंगे और उन व्यापार-सम्बन्धो को चालू रखने मे हमारे राष्ट्रीय नागरिको को कोई सरक्षण नही मिल सकेगा।" तदनुसार यह निष्कर्ष था कि सोवियत-सरकार की नवीन मान्यता पहले की अन्त कालीन सरकार की मान्यता के वैध परिणामो पर या उसके प्रतिनिधियो

---

१ Oetjen v. Central Leather Co (1918) 246 U. S. 297, 302.

२. (१९५२) २ All E. R. 733

३. (१९३८), ३०४ यू० एस० १२६, १४०.

की मान्यता के वैध परिणामों पर किसी प्रकार से अन्यथा रूप में प्रभावकारी न होगी।

मान्यता के प्रकार (Methods of Recognition) :—तथ्यपूर्ण अथवा न्यायिक मान्यता निम्नलिखित रीतियों से दी जाती है :—

१—सन्धि में प्रवेश द्वारा।

२—संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता द्वारा।

३—राजनैतिक प्रतिनिधियों का 'आदान-प्रदान', भेजने तथा ग्रहण करने द्वारा।

४—एकपक्षीय अथवा सामूहिक घोषणा द्वारा।

५—अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में प्रवेश द्वारा।

६—अपने वाणिज्य दूत (Consul) की नियुक्ति द्वारा।

मान्यता के परिणाम :—नई सरकार की मान्यता से जो परिणाम होते हैं उनको ओपनहेम ने निम्नलिखित शब्दों में संक्षेप रूप में लिखा है :—

(१) इसके द्वारा यह अन्य राज्यों से राजनैतिक सम्बन्ध तथा सन्धि-स्थापन की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

(२) सीमाओं के भीतर दो राज्य (यह मानते हुए कि यह पुराना राज्य है, न कि एक नया राज्य) के बीच पूर्व-स्थापित संधियाँ स्वतः पुनर्जीवित तथा प्रवृत्त हो जाती हैं।

(३) इसको इसके द्वारा वह अधिकार प्राप्त हो जाता है जो इसे किसी प्रकार से अँग्रेजी विधि द्वारा पहले प्राप्त न था। वह मान्यता प्रदत्त करने वाले राज्य के न्यायालयों में दावा कर सकता है।

(४) इसके द्वारा यह अपने लिए तथा अपनी सम्पत्ति के लिए उसको मान्यता प्रदत्त करने वाले राज्य के न्यायाधिकारियों के अधिकार-क्षेत्र से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

(५) इसको मान्यता प्रदान करने वाले राज्य के क्षेत्राधिकार के भीतर स्थित सम्पत्ति पर जो कि पहले पूर्ववर्ती सरकार की उसके अलग होने के समय थी कब्जा माँगने तथा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(६) मान्यता बीती हुई घटना पर प्रभावकारी होने के कारण तथा उस क्षण से आरम्भ होने के कारण जिस तिथि को नई मान्यता प्रदत्त सरकार ने अपना अधिकार स्थापित किया, इसका प्रभाव यह होता है कि यह मान्यता प्रदान करने वाले राज्य के न्यायालयों को उस सरकार के पिछले तथा आगामी, वैध तथा

प्रशासकीय कार्यों की वैधता अथवा मान्यता पर प्रश्न उठाने से रोक देती है। अतः यह जहाँ तक उन न्यायालयों का सम्बन्ध है कुछ सम्पत्ति के हस्तान्तरणों तथा अन्य व्यापारों को वैध बना देती है जिनको वे मान्यता प्रदत्त होने के पूर्व कर सकते थे।

अमान्य राज्यों की अनर्हतायें (Disabilities of Unrecognised States) :—अमान्य राज्य अथवा सरकार की वैध अनर्हतायें निम्नलिखित हैं :

(१) जिस राज्य ने इनको मान्यता प्रदान न की हो उसके न्यायालयों में यह दावा नहीं कर सकता। Russian Socialist Federated Soviet Republic v. Cibrario (235 New York Court of Appeals, 255) में यह निरूपित है कि विदेशी शक्ति को अमेरिकन न्यायालयों में दावा करने का प्राकृतिक अधिकार नहीं है। ऐसा करने का इसका अधिकार शिष्टाचार से जनित है और जब तक ऐसी सरकार को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मान्यता प्रदान न की जाय कोई शिष्टाचार विद्यमान नहीं रहता।

(२) इसके प्रतिनिधि विदेशी राज्यों में वैध प्रवृत्ति से मुक्ति का दावा नहीं कर सकते।

(३) इसको अन्य राज्यों से राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने तथा उनसे सन्धि करने की क्षमता नहीं प्राप्त होती।

(४) मान्यता अप्रदत्त राज्य को देय सम्पत्ति उलटे हुए राज्य के प्रतिनिधियों द्वारा वास्तव में प्रत्युद्धृत की जा सकती है।

मान्यता और लीग (Recognition and the League)—यह स्वीकार किया गया था कि लीग ऑफ नेशन्स की सदस्यता के लिए किसी राज्य की प्रविष्टि से ही मान्यता अन्तर्निहित हो जाती है। वर्ष १९३५ में लक्षेमबर्ग के कामर्शियल ट्रिब्युनल का सोवियत संघ बनाम लक्षेमबर्ग और सार कम्पनी के वाद में अवलोकन था कि 'लीग आफ नेशन्स' में सोवियत रूस के प्रवेश पाने में ही लक्षेमबर्ग द्वारा सोवियत सरकार की मान्यता अन्तर्निहित है। किन्तु, इस नियम का अनुपालन समरूप में सभी प्रसंगों में नहीं किया गया और स्विटजरलैंड तथा बेल्जियम ने यहाँ तक कि रूस की सरकार को 'लीग आफ नेशन्स' में प्रवेश पा जाने के उपरान्त भी मान्यता प्रदान करने से इन्कार कर दिया। फिर भी बहुमत इस पक्ष का रहा कि एक बार यदि कोई राष्ट्र किसी अन्तर्राष्ट्रीय विश्वव्यापी संस्था का सदस्य मान लिया जाता है, तो उसमें राज्यत्व के पद का सामान्यतः आरोप किया जा सकता है।

मान्यता तथा संयुक्त राष्ट्र संघ :—सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के अनुच्छेद ४ के अनुसार सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता उन शान्तिप्रिय राज्यों के लिए खुली हुई है जो चार्टर के कर्त्तव्यो को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार का प्रवेश सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव पर सामान्य सभा के निर्णय द्वारा होता है। प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई मान्यता अप्रदत्त राज्य भी सदस्यता मे प्रविष्ट किया जा सकता है। इसका सक्षिप्त उत्तर यह है कि राज्य को सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता मे प्रविष्ट करने से ही वास्तविक अथवा न्यायानुसार मान्यता प्रदत्त हो जाती है। ज्यो ही कोई राज्य सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्यता ग्रहण करता है, चाहे अन्य राज्यों द्वारा उसे मान्यता प्रदत्त की गई हो अथवा नही, त्यो ही वह वास्तविक अधिपत्र द्वारा स्थापित सब कर्त्तव्यो तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य सिद्धान्तो के अधीन हो जाता है। सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर सामान्य सभा द्वारा राज्य के सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता मे प्रवेश किये जाने का परिणाम यह होता है कि उसको सयुक्त राष्ट्र सघ के सब सदस्य राज्यो द्वारा सामूहिक रूप से मान्यता मिल जाती है। इसमे सम्बन्धित राज्यो की सामूहिक इच्छा का समावेश है।

इस प्रकार की मान्यता के प्रत्याहरण के सम्बन्ध में चार्टर के अनुच्छेद ६ में यह व्यवस्था की गई है कि सयुक्तराष्ट्र संघ का जो सदस्य चार्टर के सिद्धान्तो का उल्लघन करने का हठ करे, उसे संघ की सदस्यता से बहिष्कृत कर दिया जाय।

युद्ध-संलग्नता (Belligerency) की दशा मे मान्यता :—जब किसी देश मे राज-विद्रोह अथवा विप्लव होता है तो बाह्य शक्तियाँ उस देश के घरेलू मामलो मे सामान्यतः तटस्थता का व्यवहार रखती हैं। फिर भी प्राय. ऐसा भी सम्भव है कि दूसरे राज्यो के लिए तटस्थता का व्यवहार रखना असम्भव हो जाय। इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो इस कारण से कि विप्लवकारी दैनिक मूल सरकार के प्रदेश के एक बड़े भाग पर प्रभावोत्पादक रीति से अधिकार प्राप्त कर चुके हों या उनके तथा मूल सरकार के मध्य युद्ध एक ऐसी स्थिति में पहुँच गया हो जब कि बाहरी शक्तियाँ इसे केवल परस्पर का कलह ही न मानें परन्तु उसमे उनके विनाश के लक्षण दिखाई पड़ते हों। कलह-स्थित राज्य तथा बाहरी शक्तियाँ या तो देश की स्थिति के कारण अथवा वाणिज्य या व्यापारिक सम्बन्धों के कारण परस्पर इतने सम्बद्ध हो सकते हैं कि एक देश का गृहयुद्ध अपना परिणाम दूसरे देश में अवश्य डालता हो। ऐसी दशाओं मे राजनैतिक समुदाय जो एक स्वतन्त्र राज्यत्व प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उनको वस्तुतः (De facto) मान्यता प्रदान कर दी जाती है किन्तु यह मान्यता युद्ध की स्थिति के लिए ही होती

है और बाद मे आवश्यक होता है कि या तो उनको नियमानुसार सदस्यता मे प्रविष्ट कराया जाय या फिर नियमानुसार अधीनस्थता मे वापिस लाया जाय।

युद्ध सलग्नता की मान्यता से केवल इस बात का निश्चय होता है कि राजद्रोही अपने द्वारा अधिकृत प्रदेश पर आधिपत्य प्रयोग करने की स्थिति मे हैं। इसमे मूल-राज्य को क्रुद्ध होने का कोई कारण उत्पन्न नही होता और न इस मान्यता से तटस्थता का ही उल्लघन होता है।

ब्रिटिश प्रचलन यह है कि विद्रोहियो द्वारा केवल इस बात की उद्घोषणा कर दिया जाना, कि उन्होंने एक अन्त कालीन सरकार (Provisional Government) का गठन कर लिया है युद्धसलग्न मान्यता के लिए पर्याप्त नही है। यह तभी सभव है जब कि नवगठित इकाई इतनी शक्ति और सरकार सयोजित कर ले कि वह विदेशी राज्यो से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध बनाये रख सके। मान्यता प्रदान करने वाला राज्य ऐसे तटस्थ अधिकारी के लिये अधिकृत हो जाता है जो कि प्रतिद्वन्दी पक्षकारो से मान्य होते हैं। इस प्रकार की मान्यता से युद्ध-सलग्न पक्ष भूमि, जल और नभ-क्षेत्र मे आक्रामक या घुसपैठ की सज्ञा से मुक्त हो जाते हैं।

युद्ध-सलग्नता की मान्यता युद्ध मे लगे हुये लोगो को युद्ध के प्रयोजनो के लिये अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति प्रदान करती है। यद्यपि राजदूतो का आदान-प्रदान अथवा सन्धि स्थापन नही होता तथापि वाणिज्य व्यापार सम्बन्धी हितो के सरक्षणार्थ वाणिज्य-दूतो का विनिमय होता है। मान्यता प्रदान करने वाला राज्य अपने क्षेत्राधिकार के भीतर विद्रोही सरकार के झडे को भी मान्यता प्रदान करता है।

परन्तु युद्ध-सलग्नता की मान्यता उस देश की वैध स्थापित सरकार की मान्यता से भिन्न है। युद्ध-सलग्नता की मान्यता से केवल उस मान्यता को देने वाले और उस मान्यता को प्राप्त करने वाले का परस्पर हित होता है। देश की वैध सरकार द्वारा दी गई मान्यता एक पूर्ण-कार्य है और इससे अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की वैध सदस्यता प्राप्त हो जाती है।

युद्ध सलग्नता की मान्यता का प्रश्न सरकार के उस प्रशासकीय विभाग से सम्बन्धित है जिसकी घोषणा न्यायालय पर बन्धनकारी है। ऐसी मान्यता एक नीति का प्रश्न हुआ करती है न कि विधि का। यह कई बातो पर आश्रित है जैसे क्या युद्ध मे प्रवृत्ति रखने वाले समुदाय मे एक सगठित सरकार है जिसमे युद्ध को स्वीकृत नियमो तथा रीति के अनुसार चालू रखने की क्षमता है? क्या उस समय वास्तव मे युद्ध वर्तमान है? और क्या मान्यता प्रदत्त करने वाले राज्य के हित युद्ध छिड़ने से प्रभावित हो रहे हैं?

विप्लवकरियो को युद्ध-संलग्नता की मान्यता केवल युद्ध के प्रयोजनों के लिए प्रदान की जाती है और यह उनको कोई अन्य अधिकार प्रदान नहीं करती।

युद्ध-संलग्नता वाले राज्य जब अपनी स्थिति संघटित कर लेते हैं तो उनको स्वतन्त्र-राज्य के रूप में मान्यता दे दी जाती है। चॉग काई शेक की राष्ट्रीय सरकार के फारमोसा को बहिष्कृत किये जाने के उपरान्त भारत, रूस, ग्रेट ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राज्यो द्वारा माम्रो से तुंग की लाल चीन की सरकार को मान्यता प्रदान किया जाना उपरोक्त का उदाहरण है।

युद्ध सलग्नता की मान्यता के सम्बन्ध मे एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। अमेरिका के कमिश्नर नेल्सेन (Commissioner Nielsen) ने Oriental Navigation Co. के विवाद में General Claims Commission के सामने अपने विचार व्यक्त किये थे। यह विवाद मैक्सिको और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच था। उनका कहना था कि तथाकथित रूप में युद्ध संलग्नता की दशा में सरकार की ओर से किसी राज्य की मान्यता यदि एक नये राज्य के रूप मे है तो इसके अन्तर्गत बहुत से राजनीतिक विचार उठ खड़े होते हैं। ऐसी स्थिति मे युद्ध-स्थित राज्यो के लिए वही मान्यता न्यायिक हो सकती है जिसे हम लोक युद्ध (Public War) कह सकते हैं। जब तक कि गृह-युद्ध को लोक-युद्ध न कह लें तब तक युद्ध-सलग्न पक्षकारो मे राजनीतिक समुदाय को वास्तविक (de facto) शक्ति का होना आवश्यक है और राज्य क्षेत्र जनता हित आदि के प्रसंग मे उसे एक स्वतन्त्र इकाई होना चाहिये। इतना ही नही बल्कि यह भी आवश्यक है कि तटस्थ राज्यो और उनके नागरिको के हित भी ऐसी मान्यता के पूर्व प्रभावित होने चाहिये।

युद्ध-संलग्नता की मान्यता मे एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय इकाई उत्पन्न करने की क्षमता है जिसमे स्वतन्त्र-राज्यो के सभी अधिकार और कर्तव्य सन्निहित होते हैं। किन्तु इसका सम्बन्ध युद्ध तक ही होता है। मान्यता-प्रदान करने वाला राज्य तटस्थता की स्थिति मे होते हुये भी युद्ध मे लगे हुए पक्षकारो को युद्ध-संलग्नता की मान्यता प्रदान करता है। इससे उस नये राज्य को मान्यता देने वाले राज्य की सीमा मे समुद्री जहाजो को ले जाने, समुद्र में दूसरे जहाजो का निरीक्षण करने और तलाशी लेने और अवैध सामानो के ले जाने से रोकने आदि के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। ऐसी मान्यता युद्ध मे लगे हुये समुदाय को और पैतृक राज्य को युद्ध के सम्बन्ध मे समान अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व प्रदान करते हैं।

हम कह सकते हैं कि युद्ध-संलग्नता के अधिकार द्वारा मान्यता देने वाले और मान्यता प्राप्त करने वाले दोनो को सुविधायें मिलती हैं।

राज्य प्रतिरोध (Insurgency)—ऐसा भी सम्भव है कि एक गृह-युद्ध बाहरी शक्तियों द्वारा युद्ध-सलग्नता की दशा तक न पहुँचे। सम्भव है कि क्रान्तिकारी दल किसी सगठित प्राधिकार के अन्तर्गत कार्य न कर रहा हो या युद्ध के लिए मान्य नियमो का पालन न कर रहा हो। ऐसी स्थिति मे अन्य राज्यो द्वारा उन क्रान्तिकारियो को एक विचित्र अथवा अनियत प्रकार को मान्यता (precarious form of recognition) प्रदान को जा सकती है, जैसे राज्य प्रतिरोधक की स्थिति, उन्हे कानून तोड़ने वालो के रूप मे न मान कर अधिकृत क्षेत्र के वास्तविक प्राधिकारी के रूप मे मानना।

राज्य प्रतिरोध की मान्यता के लिए निम्नलिखित शर्तें हो सकती हैं :—

(१) यह आवश्यक है कि राज्य प्रतिरोधक एक निश्चित भू-भाग पर अधिकार कर चुके हो।

(२) उस राज्य की बहुमत की जनता उस राज्य प्रतिरोधक शक्ति के पक्ष मे हो। यहाँ यह आवश्यक है कि जनता का यह सहयोग उनकी स्वतन्त्र इच्छा पर निर्भर हो न कि किसी दबाव पर।

(३) राज्य प्रतिरोधक शक्ति मे इस बात की क्षमता और इच्छा हो कि वे अन्तर्राष्ट्रीय आभारो को वहन कर सके।

युद्ध प्रतिरोधक स्थिति की मान्यता एक नये राज्य की मान्यता नही कही जा सकती और न उसे सभी प्रकार के वैध अधिकार ही दिये जा सकते हैं। इसे युद्ध-सलग्नता की स्थिति भी नही कह सकते।

गार्नर (Garner) के अनुसार राज्य प्रतिरोध की स्थिति सम्बन्धित मान्यता के निम्नलिखित परिणाम हो सकते हैं :—

युद्ध में सलग्न दोनो पक्षो को युद्ध संलग्नता की मान्यता दे दी जाती है और इस मान्यता से उन्हे कुछ ऐसे अतिरिक्त अधिकार मिल जाते हैं जो इसके पूर्व नही मिले होते किन्तु मान्यता प्रदान करने वाला राज्य, प्रतिरोध करने वाले दोनो पक्षो की ओर से कोई नया अधिकार नहीं प्राप्त करता। उसकी स्थिति दोनो पक्षो की ओर से तटस्थ की स्थिति हो जाती है। यही नही बल्कि उसे अपने एक अधिकार को खोना भी पड़ता है। मान्यता प्रदान करने के पूर्व वह उस सरकार का जिसे कि वैध मानता, दूसरे पक्ष के विरोध मे पहले सहायता कर सकता था किन्तु मान्यता प्रदान करने के बाद उसे इन दोनो पक्षो को समान रूप से देखना होगा। अब वह यदि किसी पक्ष को सहायता करता है तो वह तटस्थता की नीति का उल्लघन करता है।

स्वार्जेनवर्जर (Schwarzenberger) के अनुसार राज्य-प्रतिरोध (Insurgency) की मान्यता और युद्ध-सलग्नता (Belligerency) की मान्यता में इस आशय का अन्तर है कि युद्ध-सलग्न पक्षकारो को ही जल या नभ-क्षेत्र मे युद्धसलग्नता के कृत्यो को मान्यता मिल सकती है, इसके अन्यथा नही।

सह-युद्ध-संलग्नता (Co-belligerency):—प्रथम विश्व-युद्ध मे सहायक शक्तियो ने जेकोस्लोवाक् और पोलिश नेशनल आर्मीज को स्वायत्वपूर्ण की सहायक और सह-युद्ध सलग्न (Allied and Co-belligerent) की मान्यता दी। संयुक्त राष्ट्रो ने द्वितीय विश्वयुद्ध मे ऐसे इटालियन सैन्य को सह-युद्ध-सलग्नता के अधिकार स्वीकृत किये थे जो कि शत्रु के विरुद्ध सयुक्त राष्ट्रो के साथ युद्धरत थे। इस रूप मे उन्हे किसी भी मान्य राज्य के समस्त सैन्य-शक्ति सम्बन्धित अधिकार प्राप्त थे।

अध्याय ६

राज्य उत्तराधिकार

(State Succession)

जब एक राज्य का प्रदेश उसके प्रभुत्व से दूसरे के प्रभुत्व मे चला जाता है तो इसे राज्य का उत्तराधिकार कहा जाता है। वह राज्य जिसका प्रदेश अन्य राज्य को चला जाता है पूर्वाधिकार राज्य (Predecessor State) कहलाता है और जिसे यह उत्तराधिकार मे प्राप्त होता है उत्तराधिकारी राज्य (Successor State) कहलाता है। Oppenheim के शब्दो मे हम इस प्रकार से कह सकते है .—A succession of International Persons occurs when one or more International Persons take the place of another International Person in consequence of certain changes in the latter's condition" (International Law—8th Ed. p 157) अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों को उत्तराधिकार उस समय होता है जब कि एक या एक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का रूप ले लेते हैं और बाद के व्यक्ति म कुछ निश्चित परिवर्तन हो जाते हैं।

एक राज्य को दूसरे राज्य का उत्तराधिकार उसके कुछ निश्चित भू-भाग पर आधिपत्य प्राप्त कर लेने से मिल सकता है। एक राज्य एक से अन्य छोटे-छोटे दो या दो से अधिक राज्यो मे बट सकता है। या लुप्त होने वाले राज्य के स्थ

पर दूसरे नये राज्य उत्पन्न हो सकते हैं, जैसा कि प्रथम विश्वयुद्ध मे आस्ट्रो-हंगेरियन एकतन्त्र मे देखा गया था। इसी प्रकार का विभाजन द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मन रीश के भू-भाग मे भी देखा गया था। एक राज्य दूसरे राज्य में अपनी इच्छा से सन्धि के आधार पर प्रविष्ट हो सकता है, या किसी एक राज्य द्वारा उसका भू-भाग बल-पूर्वक छीना जा सकता है; या कई राज्य मिलकर किसी एक राज्य के भू-भाग का अपहरण कर सकते हैं। कांगो का स्वतन्त्र राज्य १९०८ मे अपनी स्वतन्त्रता खोकर बेल्जियम मे मिल गया था, १९१० मे कोरिया जापान का अंग बन गया था और इसी प्रकार १९०१ मे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा आरेंज के स्वतन्त्र राज्य और दक्षिणी अफ्रीका के गणराज्य पर विजय प्राप्त किया गया था। एक राज्य का भू-भाग किसी उत्पन्न होने वाले नये राज्य के सन्धि के द्वारा हो सकता है, या ऐसा भी सम्भव है कि किसी राज्य का कोई भू-भाग अलग होकर एक नये राज्य का रूप ले ले, जैसे स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत का भू-भाग पृथक् होकर पाकिस्तान के नये राज्य के रूप मे बदल गया।

उत्तराधिकार प्रारम्भिक रूप मे वैयक्तिक विधि (Private Law) का सिद्धांत है और इसके अन्तर्गत राज्य में राजनीतिक परिवर्तन भी होते हैं। उत्तराधिकार दो प्रकार के होते हैं :—

सार्वदेशिक उत्तराधिकार (Universal Succession)—सार्वदेशिक उत्तराधिकार उस दशा मे होता है :—

(१) जब एक राज्य अन्य राज्य द्वारा समामेलन अथवा विजय के परिणाम-स्वरूप अपने मे पूर्णरूप से समाविष्ट कर लिया जाता है, जैसे दक्षिणी अफ्रीका प्रजातन्त्र का समामेलन ग्रेट ब्रिटेन द्वारा सन् १९०१ मे, कोरिया का जापान द्वारा सन् १९१० मे तथा एबीसीनिया का इटली द्वारा सन् १९३६ मे।

(२) जब बहुत से राज्य एक संघीय राज्य अथवा संघ मे मिलने को सहमत हो जाते हैं जिस प्रकार सन् १८७१ मे जर्मनी के राज्य जर्मन साम्राज्य बनाने के लिए परस्पर संयुक्त हो गये, इसी प्रकार २२ फरवरी, १९५८ मे संयुक्त अरब गणतन्त्र बनाने के लिए इजिप्ट और सीरिया तथा बाद मे २ मार्च, १९५८ मे ईमेन विलयित हो गये, या जैसे १४ फरवरी १९५८ मे अरब संघ राज्य मे जार्डन और ईराक का विलयन हुआ था।

(३) जब एक या अधिक राज्य बनाये जाते हैं अथवा एक या अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति अन्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति का स्थान पहले एक राज्य अथवा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के विभाजन द्वारा ग्रहण करते हैं और प्रत्येक स्वतन्त्र राज्य उत्तराधिकारी राज्य होता है।

आंशिक उत्तराधिकार (Partial Succession)—आंशिक उत्तराधिकार निम्न दशा मे होता है :—

(१) उत्तराधिकार द्वारा, जब किसी प्रदेश का एक भू-भाग पैत्रिक राज्य से अलग हो कर अन्य राज्य बन जाता है और इसके द्वारा वह। अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका का पैत्रिक राज्य ग्रेट ब्रिटेन से सन् १७७६ मे पृथक होना।

(२) परित्याग अथवा विजय द्वारा, जब एक राज्य अन्य राज्य के प्रदेश के एक भाग को प्राप्त कर लेता है और उस परित्याग किये हुए भाग पर पूर्णसत्ताधिकार ग्रहण कर लेता है जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका के पक्ष में कैलीफोर्निया का परित्याग सन् १८४७ मे।

(३) अंग विच्छेद द्वारा, जब कि एक पूर्ण प्रभु-सत्ताधारी राज्य अपनी स्वतन्त्रता आंशिक रूप से संघीय राज्य मे संयुक्त किये जाने से अथवा एक अधिक शक्तिशाली शक्ति के आधिपत्य अथवा संरक्षण में आने से खो देता है, अथवा जब एक अपूर्ण सर्वोच्चसत्ताधारी राज्य अर्थात् एक अधिपति अथवा संरक्षित राज्य अथवा संघीय राज्य का कोई सदस्य पूर्ण सर्वोच्चसत्ताधारी हो जाता है। उदाहरणार्थ सन् १६३८ मे म्यूनिच नियमपत्र के परिणामस्वरूप जेकोस्लोवाकिया का विच्छेद।

राज्य उत्तराधिकार के परिणाम

संधि-अधिकार और कर्त्तव्य (Treaty Rights and Obligations):—अधिकार तथा कर्त्तव्य जो उत्तराधिकारी राज्य को प्राप्त होते हैं, उत्तराधिकार के ढंग पर निर्भर हैं। सर्वव्यापी उत्तराधिकार की दशा मे जब एक राज्य स्वेच्छा से दूसरे राज्य मे सम्मिलित हो जाता है अथवा जब वह अन्य राज्य द्वारा अधीनस्थ किया जाता है, तो उत्तराधिकारी राज्य वही अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति बना रहता है, परन्तु पूर्वाधिकारी राज्य जो सम्मिलित हुआ है अथवा अधीनस्थ किया गया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप मे पूर्णतः लुप्त हो जाता है। राजनैतिक सन्धियाँ तथा सम्बन्ध और उनके अन्तर्गत प्राप्त होने वाले अधिकार तथा कर्त्तव्य व्यक्तित्व की सारभूत अविच्छिन्नता के अभाव मे लुप्त तथा अवैध हो जाते हैं और उत्तराधिकारी राज्य अन्तर्धान हुए राज्य के ऐसे अधिकारो तथा कर्त्तव्यो को उत्तराधिकार में नहीं प्राप्त करता। वाणिज्य, नौचालन तथा प्रत्यर्पण सम्बन्धी सन्धियो के सम्बन्ध में मतैक्य यह है कि वे उत्तराधिकार के अधीन नहीं हैं। इसके विपरीत राज्य-समामेलन की सन्धियाँ पूर्ण प्रभाव के साथ उसके द्वारा प्राप्त नये क्षेत्रो पर लागू होती हैं।

दो राज्यो के सम्मिलन में प्रायः पूववर्ती सधियाँ अपने मूल रूप में प्रवर्तित मानी जाती हैं। इनका प्रवर्तन उस समय तक उचित माना जाता है, जब तक कि वे सघ राज्य के अधिकारो और कर्तव्यो के बीच द्वन्द्व नही उत्पन्न करती। किन्तु यदि समामेलन इस प्रकार का होता है कि प्रभुसत्ता के बँटवारा का प्रश्न नही आता, तो प्राय सधि-अधिकार और कर्तव्य लुप्त हो जाते हैं।

यदि बहुत से राज्य मिलकर एक सघ स्थापित करते हैं, तो सभी सधियाँ जिसके वे पक्षकार थे, समाप्त हो जाती हैं। इसी तरह का परिणाम उस समय भी होता है, जब कि एक राज्य को छिन्न-भिन्न करके अनेक राज्य उत्पन्न हो जाते हैं।

व्यक्तिगत सधियाँ जो कि अनन्य प्रकार से सविदा करने वाले पक्षकारो के व्यक्तित्व से सम्बन्धित हैं, जैसे सम्बन्ध स्थापन, पचायत अथवा तटस्थता की सधियाँ, आदि। ये सधियाँ उस कुटुम्ब के लुप्त होने पर समाप्त हो जाती हैं और इनके सम्बन्ध में कोई उत्तराधिकार नही होता।

व्यक्तिगत सधियाँ, जिनका कि एकान्तिक रूप से किसी सविदा मे सम्मिलित होने वाले पक्षकारा से व्यक्तिगत सबध है, जैसे मैत्री-सधियाँ (treaties of alliances), विवाचन (arbitration) या तटस्थता (neutrality), परिवार की समाप्ति और उत्तराधिकार की शून्यता की स्थिति में समाप्त हो जाती हैं। जहाँ तक वाणिज्य सधियो (Treaties of Commerce), नौचालन (navigation) और प्रत्यर्पण (extradition) का सम्बन्ध है, यह सर्वथा उस राज्य पर निर्भर करता है, जो कि उसे अपने मे मिला रहा है, कि क्या वह उन सधियो के उपबधो का अनुगमन करने को तैयार है, अथवा उसका प्रत्याख्यान (repudiate) करता है। इस बात पर मतैक्य है कि ये सधियाँ उत्तराधिकार के अधीन नही हैं।

तेरलिंडन बनाम एम्स[1] के वाद मे सयुक्त राज्य के सुप्रीम कोर्ट ने अवलोकन किया था कि सयुक्त राज्य एव प्रशा के बीच सपन्न की गई प्रत्यर्पण-सधि, जो कि जर्मन साम्राज्य के गठन के पूर्व की गई थी, इस गठन के उपरान्त भी इस आधार पर व्यवहार म प्रवर्तित रही कि सधि को जर्मनी ने आधिकारिक रूप से मान्य कर लिया।

विधि-नियामक संधियों के सम्बन्ध मे राज्य-उत्तराधिकार :—परपरागत विचार यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय का एक नया सदस्य सधि आभारो के सम्बन्ध में एक कोरी पटिया से आरम्भ करता है, छूट यदि है तो केवल उन सधियो के प्रसग मे जो स्थानीय आभार उत्पन्न करती हैं और अन्तर्राष्ट्रीय विधि की रूढ-विधियो के प्रवर्तन मे भी यही छूट रहती है।

---

१. Terlinden v. Ames, 184 U. S. 270.

संधियो के प्रसग मे, कोरी पटिया (clean slate) होने के प्रसग मे विद्वानों मे कुछ मतभेद है। कियातिबियन (Kiatibian) का विचार है कि वे सधियाँ जिनकी उपयोगिता समान है, प्रवर्तित रहती हैं, जैसे पोस्टल, टेलीग्राफिक, और टेलीफोन अभिसमय, घायलो को देखरेख सम्बन्धी जेनेवा कन्वेन्शन, गुलाम व्यापार के विनाश सम्बन्धित बुसेल्स कन्वेशन आदि।

ह्यूबर (Huber) का कथन है कि किसी पुराने राज्य से विभाजित होकर नये राज्य के बनने मे, सभी सधियाँ प्रत्यावर्तित हो जाती हैं, यहाँ तक कि वाणिज्य सधियो का भी प्रत्यावर्तन हो जाता है, किन्तु मैत्रियो तथा गारटियों मे ऐसा नहीं होता। ह्यूबर तो यहाँ तक कि एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य को जीत लेने के प्रसग मे भी सिद्धान्तत सन्धियो के प्रत्यावर्तन को स्वीकार करते हैं।

दूसरी ओर ऐसे भी विद्वान हैं जिनकी सम्मति है कि इस प्रकार की सधियों के लुप्त हो जाने के बहुत से साक्ष्य उपस्थित हैं कीथ (Keith) का विचार है कि विजेता अथवा उत्तराधिकारी राज्य को किसी भी सन्धि का उत्तराधिकार नही प्राप्त होता। जब कि नव-निर्मित राज्य अपने पूर्वाधिकारी राज्य की ही भाँति अन्य पक्षकारो से व्यवहार करने लगता है, तो वह परोक्ष या प्रकट रूप मे उन पक्षकारों से एक प्रकार की नई सन्धि मे प्रविष्ट होने लगता है। नया राज्य अपने पैतृक राज्य की सधियो पर ज्यो का त्यो चलने का अधिकारी नही है।

मैकनेयर (McNair) ब्रिटिश पद्धति को सक्षिप्त करते हुए लिखा है कि "It is believed to be the view of the United Kingdom Government that the general position governing the treaty position of truly new States is that newly established States which do not result from political dismemberment and cannot fairly be said to involve political continuity with any predecessor, start with a clean slate in the matter of treaty obligations' अर्थात् "ऐसा विश्वास किया जाता है कि युनाइटेड किंगडम की सरकार का यह विचार है कि वास्तविक नये राज्यो की सधि स्थिति को नियन्त्रित करने वाली सामान्य परिस्थिति यह है कि नये स्थापित राज्य, जो कि राजनीतिक असदस्यता के परिणाम से उत्पन्न है, और जिनके विषय मे यह स्पष्ट नही कहा जा सकता कि उनमे राजनीतिक निरतरता किसी पूर्ववर्ती राज्य से सधि-आभारो के प्रसग मे बिलकुल नये सिरे से आरम्भ करते हैं।"

क्रैंडल (Crandall) ने सयुक्त राज्य अमरिका मे प्रचलित पद्धति को निम्न प्रकार सक्षिप्तीकृत किया है—"A State formed by separation from another whether the personality of the original State still exists or is comp

tely lost by disintegration, succeeds to such treaty-burdens of the parent State as are permanent and attached to the territory embraced in the new State.' "कोई ऐसा राज्य, जो कि किसी दूसरे राज्य से पृथक होकर गठित हुआ है, तो भले ही पैतृक राज्य का अस्तित्व अब हो, या विभाजन के कारण सर्वथा लुप्त हो गया हो, पैतृक राज्य की ऐसी संधियों के आभारों का उत्तराधिकारी है जो कि स्थायी ढंग की रही हैं और नये राज्य के राज्य क्षेत्र से संलग्न हैं।"

अंग्रेजी विद्वानों, जैसे हॉल (Hall), हॉलैंड (Holland), आपनहेम (Oppenheim) और ब्रायर्ली (Brierly) ने कोरी पटिया (clean slate) के नियम का समर्थन किया है, किन्तु वेस्टलेक (Westlake) ने विपरीत विचार प्रकट किया है। अमेरिकी विद्वान ह्वीटन (Wheaton), टेयलर (Taylor), हरशी (Hershey) और फेनविक् (Fenwick) ने भी उपर्युक्त कोरी पटिया के नियम का समर्थन किया है, जब कि केन्त (Kent), फील्ड (Field), हैलेक् (Halleck) और वूल्से (Woolsey) ने विपरीत विचार अपनाया है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, संधियाँ प्रायः ऐसी सायोगिकताओं के लिए उपबंध करती हैं। जब कि बर्मा १९३७ में भारत से पृथक् हुआ था, यह स्वीकार किया गया था कि बर्मा ऐसे सभी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-अभिसमयों (International Labour Conventions) के आभारों को अपनाने के लिए बाध्य होगा जिनमें कि वह भारत के अंग के रूप में उपस्थित रहा है।

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७, में भी भारत और पाकिस्तान के बीच अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों और आभारों की नियुक्ति के उपबन्ध थे। समस्त अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता, समस्त अधिकारों और आभारों सहित भारत को प्राप्त हुई, ऐसे अधिकार और आभार जिसका कि एकान्तिक रूप से भारत या पाकिस्तान की क्षेत्रीय व्यवहारिता से सम्बन्ध था, क्रमशः भारत और पाकिस्तान अधिराज्यों को मिले। इनके अतिरिक्त अन्य सभी अवशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार और कर्तव्य दोनों अधिराज्यों को प्राप्त हुये।

सदस्यता (Membership) :—यह निश्चित है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सदस्यता और उनसे उत्पन्न प्रासंगिक आभार या कर्तव्य उत्तराधिकारी राज्य में प्रत्यावर्तित नहीं होते। उदाहरण के लिए जैसे, स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य पूर्ववत् बना रहा, किन्तु पाकिस्तान को ३० सितम्बर १९४७ को संयुक्त राष्ट्र संघ में एक नये राज्य के रूप में सदस्यता प्राप्त हुई।

भारत तथा पाकिस्तान का विभाजन (Separation of India and Pakistan) :—ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम

सन् १६४७ के विधायन के अनुसार भारत को दो स्वतन्त्र अधिराज्यों अर्थात् भारत तथा पाकिस्तान मे खडित कर दिया गया। दोनो राज्यो पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार तथा कर्त्तव्यों के अधिकार देने के सम्बन्ध मे यह स्वीकृत हुआ कि सब अन्तर्राष्ट्रीय सघो की सदस्यता ऐसी सदस्यता से सलग्न अधिकार तथा कर्त्तव्यो सहित केवल भारत के अधिराज्य पर अन्तरित होगी और यह कि अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय के अधीन अधिकार तथा कर्त्तव्य जो अनन्य प्रकार से प्रदेश के केवल एक विशिष्ट भाग पर ही लागू है, उस अधिराज्य पर अन्तरित होगे जिसमे वह क्षेत्र पड़ता है।

भारत के दो उपखंडो मे विभाजित होने के परिणामस्वरूप (भारत का एक भाग विभिन्न होकर एक नया राज्य होने पर) उत्पन्न हुए दो राज्यो की अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार स्थिति के सम्बन्ध मे भारत की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे कोई परिवर्तन नही हो सकता था। यह एक राज्य के रूप मे सन्धियो के सपूर्ण अधिकार तथा कर्त्तव्यो सहित बना रहा। विच्छिन्न होने वाला प्रदेश पाकिस्तान एक नये राज्य के रूप मे आया जिसको पुराने राज्य के कोई सन्धि के अधिकार तथा कर्त्तव्य नही थे। संयुक्त राष्ट्र सघ के ऐसिस्टेट सेक्रेटरी जनरल ने यह कहा कि उनकी सम्मति मे इस प्रश्न पर इसकी स्थिति आइरिश फ्री स्टेट के ग्रेट ब्रिटेन से और बेल्जियम के नीदरलैंड से पृथक् होने के अनुरूप है। इन अवस्थाओ मे वह भाग जो पृथक् हुआ एक नया राज्य माना गया और शेष वर्तमान राज्य के रूप मे अपने पूर्ववर्ती अधिकारो तथा कर्त्तव्यो के सहित बना रहा।

एसिस्टेन्ट सेक्रेटरी जनरल की इस स्पष्ट सम्मति के विचार से खडित होने की दशा मे भी भारत सयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना रहा और पाकिस्तान एक नये राज्य के रूप में सितम्बर ३०, सन् १६४७, को सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता मे प्रविष्ट हुआ।

किसी राज्य के संविधान या राज्य की सीमा के बदल जाने का प्रभाव:—यह एक सामान्य नियम है कि सयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य की सदस्यता केवल इसलिए नही लुप्त हो जाती कि उसका सविधान या उसकी भूमि-सीमाएँ बदल गई हैं। इसी प्रकार उनके अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार और कर्त्तव्य भी ज्यों के त्यो बने रहते हैं। नवीन सदस्यता उस राज्य को प्राप्त करनी होती है, जिसका नया निर्माण होता है।

लोक-सम्पत्ति तथा लोक अधिकार :—जब एक राज्य अन्य राज्य का वास्तविक रूप से उत्तराधिकारी होता है तो वह लुप्त हुए राज्य के सम्पूर्ण स्वामित्वाधिकारों को उत्तराधिकार द्वारा प्राप्त करता है। राज्य की सम्पति तथा

राजस्व कोष उत्तराधिकारी राज्य को चले जाते हैं। उत्तराधिकारी राज्य विजित राज्य के सब पावनो को लेता है जिनमे ऐसे पावने भी सम्मिलित हैं जैसे राजकीय कोष, बाहर लगाई हुई पूँजी और चल तथा अचल सम्पत्ति। यह बदले हुये सरकारो को देय करो से समाहरण का अधिकार भी प्राप्त कर लेता है। ऐसे स्थानीय विषयों जैसे नदियाँ, सड़क तथा रेल इत्यादि के सम्बन्ध मे भी अन्तर्हित राज्य के अधिकारो को उत्तराधिकार मे प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त रहता है। उत्तराधिकारी राज्य को पहले के अन्तर्हित राज्य की प्रजा से और जो लोग उसके प्रदेश मे रहते है, उनसे राजनिष्ठा अपेक्षित करने का अधिकार होता है।

वैयक्तिक सम्पत्ति (Private Property) :—किसी प्रदेश के एक राज्य से दूसरे मे चले जाने पर उत्तराधिकारी राज्य को उस भूमि मे कोई वैयक्तिक सम्पत्ति पर अधिकार प्राप्त नही होता क्योंकि उत्तराधिकार केवल सर्वोच्चसत्ता के सार्वजनिक अधिकारो से ही सम्बन्धित है न कि वैयक्तिक स्वामित्व के अधिकारो से। नागरिको के वैयक्तिक अधिकार और उनके पारस्परिक सम्बन्ध जब तक कि वे विजेता द्वारा विशेष रूप से परिवर्तित न कर दिये जायँ वही रहते हैं।

वैयक्तिक अधिकार (Private Rights) :—लोक विधि का यह एक सामान्य नियम है कि जब कभी किसी एक राज्य या प्रभुसत्ता का राजनैतिक क्षेत्राधिकार अथवा भूमि पर विधायन शक्ति दूसरे में हस्तान्तरित हो जाती है, तो देश की राष्ट्र-विधियाँ—अर्थात् वे कानून जो वैयक्तिक अधिकारो की रक्षा के लिए बनाये जाते हैं, उस समय तक प्रवर्तित रहते हैं, जब तक कि नई सरकार या प्रभुसत्ता द्वारा बदल नही दिये जाते।

पोलैंड मे व्यवस्थित जर्मन नागरिको[1] के प्रसग मे अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय (Permanent Court of International Justice) का अवलोकन था कि "Private rights acquired under existing law do not cease on a change of sovereignty. No one denies that the German Civil Law, both substantive and adjective, has continued without interruption to operate in the territory in question. It can hardly be maintained that, although the law survives, private rights acquired under it have perished. Such a convention is based on

1. (१६२३) पी० सी० आई० जे० सिरीज बी नं० ६

no principle and would be contrary to an almost universal opinion and practice.

"A cession of territory does not operate as a cession of the property belonging to its inhabitants."

अर्थात् "वर्तमान विधि के अन्तर्गत अर्जित किया गया अधिकार एक सम्प्रभुता के परिवर्तित होने के साथ ही समाप्त नहीं हो जाता। कोई भी अस्वीकार नहीं करता कि जर्मन-नागरिक-विधि, सारभूत और गुणात्मक दोनो रूपों में प्रसंगत क्षेत्र मे, बिना किसी विघ्न के निरंतर व्यवहारिता मे रही है अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भले ही विधि अस्तित्व मे बनी रहे और उसके अन्तर्गत अर्जित व्यक्तिगत अधिकार समाप्त हो गये। इस प्रकार की अवधारणा किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है और प्राय. सार्वदेशिक सम्मति और अभ्यास के विपरीत होगी।

"किसी क्षेत्र का अधिमिलन नागरिकों की संपत्ति के भी अधिमिलन के रूप मे व्यवहार्य नहीं है।"

लोक-विधि का यह एक सामान्य नियम है कि जब कभी राजनीतिक क्षेत्राधिकार और किसी भी क्षेत्र के ऊपर विधायिनी शक्ति का हस्तान्तरण किसी एक राष्ट्र या सम्प्रभु से किसी दूसरे राष्ट्र या सम्प्रभु के हाथ किया जाता है तो देश की नागरिक विधि, अर्थात् ऐसी विधियाँ जो वैयक्तिक अधिकारों के सरक्षण के लिए निमित है, उस समय तक प्रभावकारी रहती हैं जब तक कि उन्हें नयी सम्प्रभु सरकार द्वारा रद्द न कर दिया जाय, या परिवर्तित न कर दिया जाय।[1]

संविदात्मक दायित्व (Contractual Liability) — अधिकांशतः प्रमाणिक लेखक इस विचार के समर्थक हैं कि उत्तराधिकारी राज्य अन्तर्धान हुये राज्य की संविदाओं से बाध्य हैं। नया राज्य सब स्थानीय ऋणों तथा संविदा सम्बन्धी कर्तव्यो के लिये उत्तरदायी हो जाता है। फिर भी उत्तराधिकारी राज्य के लिये यह न्यायसंगत है कि वह उस समय पूर्ववर्ती राज्य के बन्धनों को मानना अस्वीकार कर दे यदि वे उसके विरुद्ध युद्ध के प्रयोजनो के लिये किये गये हों।

सुविधाजनक अधिकार जो राज्य द्वारा अपने अन्तर्धान होने के पूर्व दिये गये हैं, वे सामान्यतः अन्तर्धान के बाद भी जीवित रहते हैं। समावेश करने वाले राज्य के ऊपर वे बन्धनकारी भी होते हैं। उत्तराधिकारी राज्य का यह कर्तव्य होता है

१. शिकागो रॉक आईलैंड एंड पैसिफिक रेलवे कंपनी बनाम मैक्ग्लिन, ११४ यू० एस० ५४२।

कि उसके पूर्वाधिकारी द्वारा जो अधिकार न्यायोचित रीति से किसी विदेशी को दिये गये हो उनका आदर करें।

ऐसी संविदायें जो अन्तर्हित राज्य की वैयक्तिक होती हैं, प्राय जीवित नही रहती।

वेस्ट रैंड सेंट्रल माइनिंग कंपनी, लिमिटेड बनाम रेक्स[1] के वाद मे अंग्रेजी न्यायालय ने इस बात को स्थिर किया है कि यह पूर्ववर्ती विचार कि किसी विजेता राज्य का सप्रभु विजित देश के आभारो के प्रति बंधा हुआ नही है, सारभूत रूप मे परिवर्तित हो गया है और वर्तमान प्रचलनो ने अनुत्तराधिकार के सिद्धान्त की रूढि को सशोधित कर दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने पोलैंड मे जर्मन-नागरिको के व्यवस्थित होने के वाद[2] मे अवलोकन किया था कि वर्तमान विधि के अन्तर्गत अर्जित वैयक्तिक अधिकार, सहित उन अधिकारो के, जो कि राज्य से सपत्ति के स्वामी के रूप मे अर्जित किये गये हैं, सप्रभुता के किसी उत्तरवर्ती उत्तराधिकारी के प्रति वैध हैं, अर्थात् सप्रभुता मे परिवर्तन होने पर वे अधिकार समाप्त नही हो जाते। फिर भी उत्तराधिकारी राज्य अधिमिलित राज्य के ऐसे आभारो को स्वीकार करने मे न्यायोचित हैं जिन्हे कि उसने इस उत्तराधिकारी राज्य के विरुद्ध युद्ध करने के प्रयोजन से स्थिर किया था।

किसी राज्य की समाप्ति के पहले जहाँ तक कि उसके द्वारा सुविधाजनक अधिकार, स्वीकृत किये गये हैं, सामान्यतया ऐसी समाप्ति के बाद भी बाध्यतापूर्ण रहते हैं। उत्तराधिकारी राज्य ऐसे अधिकारो के प्रति बाधित हैं जो कि पूर्ववर्ती राज्य द्वारा किसी विदेशी व्यक्ति को वैध ढग पर प्रदान किये गये हैं। मैव्रोम्मैटिस पैलेस्टाइन कनसेशन के वाद मे अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने अवलोकन किया था कि पैलेस्टाइन, जिसने कि टर्की के एक क्षेत्र का उत्तराधिकार पाया, ग्रीक-प्रजा पर दिये गये सुविधा अधिकारो को, जो कि जेरूसलम मे किये गये कार्यों के प्रति हैं, स्वीकृत करने के लिए बाधित है, फिर भी ऐसे सुविधामूलक अधिकार उत्तराधिकारी राज्य द्वारा अपनी विधायिनी क्षमता के भीतर, जहाँ तक कि उनका सबध विदेशियों के प्रति है, सुधारे या विनियमित किये जा सकते हैं।

सोप्रन कौस्जेग लोकल रेलवे कपनी अर्न्तराष्ट्रीय एवार्ड (Sopran Koszeg Local Railway Co. Award)[3] के प्रसग मे विवाचको का कथन था कि सिद्धान्त

१. एल० आर० (१६०५) २ के० बी० ३६१
२. पी० सी० आई० जे० (१६२३) सिरीज बी० न० ६, पृ० ३६
३. २४ ए० जे० आई० एल० (१६३०) १६४

रूप मे 'डीड आफ कन्सेशन' द्वारा किसी कपनी को जो व्यक्तिगत अधिकार दिये गये है केवल इस आधार पर शून्यकृत नही किये जा सकते, या प्रभावित नही हो सकते कि उस क्षेत्र की राष्ट्रीयता परिवर्तित हो गई है जिसमे कि लोकसेवा व्यवहृत हुई थी।

फिर भी, सविदाये जो कि विलुप्त राज्य के प्रति विशुद्धत. वैयक्तिक हैं, उस विलुप्ति के बाद अस्तित्व मे नही रहती।

लोक ऋण (Public Debts) :—लोक ऋण के उत्तराधिकार का व्यवहार के सम्बन्ध मे मतभेद है। अधिक अच्छा सिद्धान्त तो यह प्रतीत होता है कि यह केवल विवेक का विषय है और इस विषय का व्यवहार मे बड़ा अन्तर रहा है। यद्यपि हाल मे इस मत का महत्व बढ रहा है कि उत्तराधिकारी अपने पूर्वाधिकारी के सार्वजनिक ऋणो को इस शर्त पर अपने ऊपर ले लेता है कि वे ऐसे प्रयोजन से सम्बन्धित न हो जो स्पष्टत. स्थानान्तरित प्रदेश के निवासियो के हितो के विरुद्ध हों अथवा यदि वे उत्तराधिकारी राज्य के विरुद्ध युद्ध तथा अन्य युद्ध-कार्यों को करने के हेतु न लिये गये हो।

सार्वजनिक ऋणो के सम्बन्ध मे साधारणतः सन्धि द्वारा व्यवस्था की जाती है।

सन् १९४७ मे भारत के दो स्वतन्त्र राज्यो मे विभाजन के उपरान्त भारत तथा पाकिस्तान दोनो पहले अविभाजित भारत के सम्बन्ध मे उत्तराधिकारी राज्य हो गये। दोनो राज्यो के बीच तत्कालीन केन्द्रीय सरकार के पावनो तथा ऋणों के बँटवारे के लिये आपस मे करार किया गया। रेलवे, तार की लाइनें, डाकखाने, टकसाल इत्यादि के बँटवारे का हिसाब पावने तथा ऋणो के सम्बन्ध मे विशेषज्ञों की समिति के विभागीय उप-समिति द्वारा किया गया। अविभाजित भारत के स्टर्लिङ्ग बैलेन्सेज भारत तथा पाकिस्तान के बीच अनुपात के अनुसार बाँटे गये। निष्क्रान्तजन-सम्पत्ति सम्बन्धी प्रश्न फिर भी निरतर सघर्ष का विषय रहा है।

दुष्कृति (Torts) :—उत्तराधिकारी राज्य किसी प्रकार से लुप्त हुये राज्य के अपराधों या किसी प्रकार की दुष्कृतियो के लिये उत्तरदायी नही हैं। उत्तराधिकार प्राप्त करने वाले राज्य, वे भले ही विजित हो अथवा अपनी इच्छा से किसी राज्य मे मिले हो, लुप्त होने वाले राज्य के अपकार्यों के लिये आभारी नहीं हो सकते। अमेरिकन तथा ब्रिटिश क्लेम्स आर्बीट्रेशन ट्रिब्युनल ने नवम्बर १९२३ में यह निश्चय किया था कि दक्षिणी अफ्रीकन गणतन्त्र की विजय के उपरान्त उनकी दुष्कृतियों का अनुगमन ब्रिटिश सरकार में नही हुआ।

सिद्धान्त रूप से विजेता राज्य को विजित राज्य की सरकार द्वारा की गई दुष्कृतियों के लिये उत्तरदायी नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि दुष्कृतियाँ उस सरकार की ओर से की गई थी, उस राज्य-क्षेत्र की ओर से नहीं।

विदेशों मे पड़ी हुई सम्पत्ति के सम्बन्ध में उत्तराधिकार :—उत्तराधिकारी राज्य किसी राष्ट्रीय सम्पत्ति का दावा कर सकता है जो उस प्रदेश मे स्थित हो जिस पर वह सर्वोच्चसत्ता प्राप्त करे।

विधियाँ (Laws):—पूर्व प्रभु-सत्ताधारी राज्य को दीवानी विधि उस समय तक प्रवृत्त रहती है जब तक कि वह उत्तराधिकारी राज्य द्वारा परिवर्तित न कर दी जाय, परन्तु सार्वजनिक विधि प्रभुसत्ता के हस्तान्तरण के साथ ही परिवर्तित हो जाती है। प्रादेशिक अन्तरण के उपरान्त जो कोई सार्वजनिक विधि प्रवृत्त रहती है वह अपना बल निश्चित नियम के रूप मे प्राप्त करती है क्योंकि वह प्राप्त करने वाले राज्य द्वारा स्वीकृत की जाती है।

राष्ट्रीयता :—राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे लुप्त अथवा विजित प्रदेश के निवासी सम्मिलित राज्य की प्रजा हो जाते हैं और पहले राज्य की नागरिकता खो देते हैं। साधारणतः नागरिकों को अपने लिये एक निश्चित अवधि का अवसर यह चुनने के लिए दिया जाता है कि वे किस राज्य की राज्यभक्ति स्वीकार करना चाहते हैं। भारत के विभाजन के उपरान्त अविभाजित भारत के पूर्व नागरिको को यह स्वेच्छा दी गई थी कि वे अपने लिये यह चुन लें कि वे भारत तथा पाकिस्तान के बीच किसकी राष्ट्रीयता स्वीकार करते हैं।

विद्रोह के दबा दिये जाने के बाद उत्तराधिकार (Succession on suppression of revolt) :—"Changes in the government or the internal policy of a State do not as a rule, affect its position in International Law. A monarchy may be transformed into a republic or a republic into a monarchy: absolute principles may be substituted for constitutional, or the reverse; but, though the government changes, the nation remains, with rights and obligations unimpaired....The principle of the continuity of States has important results. The State is bound by engagements entered into by governments that have ceased to exist."[1] अर्थात् "सरकार मे परिवर्तन, या किसी राज्य की आन्तरिक नीति मे होने वाले परिवर्तनो का अन्तर्राष्ट्रीय विधि में नियमतः कोई प्रभाव नही पड़ता। एक राजतन्त्र बदल कर गणतन्त्र या रूप से

१. Moore, Digest I, 249.

सकता है, या कोई गणतन्त्र बदल कर राजतन्त्र का रूप धारण कर सकता है। निरपेक्ष सिद्धान्तो को हटाकर संवैधानिक सिद्धान्त या इसके विपरीत भी प्रवर्तित हो सकते हैं, किन्तु इन परिवर्तनो से सरकार भले ही बदल जाय, राष्ट्र अपने अधिकारो और भाभारा सहित पूर्ववत् रहता है।""राज्यो की निरन्तरता के सिद्धान्त का अपना महत्वपूर्ण परिणाम है। राज्य उन सह-सम्बन्धो के प्रति बाध्य है, जिनमें समाप्त होने वाली सरकारें सम्मिलित हुई थी।"

यदि किसी राज्य मे विप्लव हो जाता है, और प्रतिक्रियावादी सरकार पूर्ववर्ती सरकार द्वारा दबा दी जाती है, तो यह प्रश्न उठ सकता है कि दबा दी गई सरकार की सम्पत्तियो का स्वत्व किसका होगा। जहाँ तक कि पूर्ववर्ती राज्य की क्षेत्रीय सीमा मे निहित सम्पत्ति का प्रश्न है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्ग्रस्त होने का प्रश्न नही उठता। जहाँ तक कि ऐसी सम्पत्ति का प्रश्न है जो कि पहले पैत्रिक राज्य की थी, किन्तु विदेशी राज्यो मे विद्रोही सरकार द्वारा छीन ली गई थी, उसे पैत्रिक राज्य परमाधिकार स्वत्व (title paramount) के द्वारा वह किसी विदेशी न्यायालय मे कृत कार्यवाही के आधार पर ले सकता है। अन्य सम्पत्तियो के प्रसग मे भी विदेशो मे स्थित विद्रोही सरकार की ऐसी सम्पत्ति, जो पहले पैत्रिक राज्य की थी, का उत्तराधिकार अब पैत्रिक राज्य का ही होगा।

प्रश्न यह उठता है कि विद्रोही, किन्तु दबा दी गई सरकार के ऋणों, दायित्वो और अपकृत्यो के प्रति किसे उत्तरदायी माना जाय। इस प्रसग मे वाशिगटन की सधि, १८७१ द्वारा नियुक्त सम्मिलित आयोग (Mixed Commission appointed by the Treaty of Washington, 1871) का अवलोकन था कि सयुक्त राज्य अमेरिका 'कॉनफेडरेसी' क ऋणो के प्रति अन्तर्राष्ट्रीय रूप से दायी नही है और न तो ऐसी शक्तियो के कृत्यो के प्रति ही दायी है।

फिर भी, ग्रेट ब्रिटेन और मेक्सिको की सन्धि १९२६ मे यह निर्धारित हुआ था कि एक पैत्रिक राज्य, यदि चाहे तो क्रान्तिकारी शक्तियो द्वारा की गई क्षतियों की पूर्ति करना स्वीकार कर सकता है। किन्तु, यहाँ यह भी उल्लेखनीय है, कि ऐसी क्षति पूर्ति के लिये उस पर वैध रूप मे कोई बाध्यता नही है।

असदस्यता की स्थिति मे उत्तराधिकार (Succession in case of dismemberment) —जब कि कोई राज्य विभिन्न टुकडो मे विभाजित हो जाता है और वे टुकडे या तो स्वतन्त्र हो जाते हैं या किसी अन्य राज्य मे मिला लिये जाते हैं, तो इस प्रसग मे भी उत्तराधिकार के वही नियम लागू होंगे जो अधिमिलन, विलीनीकरण या मिला लिये जाने की स्थिति मे वर्णित हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में उत्तराधिकार (Succession in International Organisation) :—ओपेनहेम का कथन है कि, "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन मे उत्तराधिकार का प्रश्न उस समय उठता है जब कि लोक-अन्तर्राष्ट्रीय-अंग जो कि विशिष्टीकृत प्रयोजनो के लिए गठित था, विघटित हो जाता है और अन्य संगठन समान प्रयोजनो के लिए गठित कर दिया जाता है।" द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त 'लीग आफ नेशन्स' का स्थान 'संयुक्त राष्ट्र संघ' ने लिया, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का स्थान अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-न्यायालय (International Court of Justice) ने लिया, आदि। अत. निष्कर्ष रूप में ओपेनहेम का कथन है कि, "एक नियम के रूप मे अधिकारो और क्षमताओ का हस्तान्तरण या तो प्रसंगगत संगठनो के विधायी साधनो; अथवा उनके अंगो के विशिष्ट समझौतो या निर्णयो द्वारा नियन्त्रित होते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे निरंतरता बनाये रखन की माँग है कि यह मान लिया जाना चाहिए कि उत्तराधिकार का नियम उन सभी प्रसंगो मे लागू होता है जिनमे कि उन दोनो संगठनो के प्रयोजनो के आशय मे समरूपता है।[1]

दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति[2] से सम्बन्धित वाद मे अन्तर्राष्ट्रीय-न्याय-न्यायालय ने अपनी सलाह मे कहा था कि संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा उन सभी पर्यवेक्षकीय कार्यों (Supervisory functions) का निर्वहन करने के रूप मे सक्षम है जिन्हे कि 'लीग आफ नेशन्स' दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के परमादेशित क्षेत्र के प्रशासन के निमित्त किया करता था। इस प्रकार दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को अब भी दिसम्बर १६२० के 'मैण्डेट' के अन्तर्गत अधीन क्षेत्र स्वीकार किया गया।

यू० ए० आर० और यू० ए० एस० के गठन की वैध समस्या (Legal Aspects of the Formation of U. A. R. and U. A. S.) ;—यहाँ यू० ए० आर० का अभिप्राय 'दी यूनाइटेड अरब रिपब्लिक—संयुक्त अरब गणतन्त्र' और 'यूनाइटेड अरब स्टेट्स—संयुक्त अरब राज्य' से है। फरवरी १, १६५८ को मिस्र के राष्ट्रपति गैमेल अब्देल-नासर और सीरिया के राष्ट्रपति सुक्रीयेल कुवैतली ने परस्पर वार्ता के उपरान्त मिस्र और सीरिया को मिलाकर एक 'संयुक्त अरब गणतन्त्र, गठित करने की घोषणा की। इस गणतन्त्र का अन्तःकालीन संविधान मार्च ५, १६५८ को तैयार हुआ। ईमेन का साम्राज्य संयुक्त अरब गणतन्त्र के साथ, संयुक्त अरब राज्य गठित करने के लिए संघकृत हुआ। फरवरी १४, १६५८

---

१. Oppenheim: International Law, Vol. 1, p. 168.
२. (१६५०) आई० सी० जे० रिपोर्ट्स ७६.

को ईराक और जॉरडन ने अरब-सघ (Arab Union) गठित की, किन्तु ईराक में सैनिक सत्तारोहण के कारण पाँच मास बाद ही यह सघ विघटित हो गया।

२-युक्त अरब गणतन्त्र —उपर्युक्त घोषणा से यह गणतत्र एक राज्य के रूप मे गठित हुआ और घोषणा के अनुसार इस गणतत्र के लिए एक विधायन प्राधिकार, एक सविधान, एक ध्वज, एक सेना और एक ऐसे लोक का उपबन्ध हुआ जो अधिकारो और कर्तव्यो मे समान हो, और जो कि हृदय और आत्मा से एक होकर सयुक्त अरब गणतन्त्र की रक्षा और उसके एकीकरण में योगदान करें। इस गणतन्त्र के अन्त कालीन सविधान ने इस बात को पुन पुष्ट किया कि सयुक्त अरब राज्य एक लोकतन्त्रात्मक (democratic), स्वतन्त्र (independent) और सप्रभु (sovereign) गणतन्त्र है और इसके लोक अरब राष्ट्र के लोग हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि इस सयोजन के उपरान्त यह गणतन्त्र न तो वैयक्तिक सघ है और न 'कनफेडरेशन' (confederation) ही है, क्योंकि इसके दोनो सदस्य न तो राज्य हैं और न पृथक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति ही हैं। यूजीन कोट्रान (Eugene Cotran) ने इसे 'एक नया और अभूतपूर्व विनीनीकरण का दृष्टान्त (a new and unprecedented type of merger)' कहा है, यह एक सघ की अपेक्षा एक एकता' (a unity rather than a Union) का रूप है।

सयुक्त अरब राज्य —ईमेन के सयुक्त अरब गणतन्त्र से सबद्ध हो जाने के कारण सयुक्त अरब राज्य की स्थिति कुछ भिन्न रही। यह एक पृथक राज्य नही हुआ और दोनो सदस्य राज्य अर्थात् सयुक्त अरब गणतन्त्र और ईमेन साम्राज्य अपनी सप्रभुता बनाये रहे और अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व भी स्थिर किये रहे। इस प्रकार यह दो पूर्णत सप्रभु ऐसे राज्यो के एक 'कन्फेडरेशन' की स्थिति को ही प्राप्त कर सका, जो कि एक सधि के सूत्र मे बँध गये और जिन्होने अपना एक सघ अपने पृथक् अगो की रचना द्वारा गठित कर ली।

वैध परीक्षण —सयुक्त अरब गणतन्त्र को मिस्र और सीरिया दो पूर्ववर्ती सदस्य राज्यो की सदस्यता का सयुक्त उत्तराधिकार राष्ट्र सघ में एक ही सदस्य मानकर दिया गया।

इसी तथ्य को यूजीन कोट्रान (Eugene Cotran) ने इस प्रकार व्यक्त किया है कि सयुक्त राष्ट्र सघ एव विशिष्ट अभिकरणो ने बिना किसी विवाद के यह स्वीकार किया कि मिस्र और सीरिया की उभय सदस्यता को सयुक्त अरब गणतन्त्र की एकल सदस्यता म परिणत कर दिया जाय। सयुक्त अरब गणतत्र को किन्ही सगठन ने एक नये सदस्य के रूप में नहीं माना, इसलिए उसे नई सदस्यता का आवेदन पत्र प्रस्तुत करने की आवश्यकता न थी।

संयुक्त अरब गणतंत्र से सीरिया तथा ईमेन का विश्रृंखलन (Syria and yemen break away from U. A. R.) :— सितबर १६६१ मे सीरिया मे एक सैनिक उत्क्रान्ति हुई और सीरिया उपर्युक्त गणतन्त्र से पृथक् हो गया और परिणामतः ईमेन के साथ गठित सघ भी दिसम्बर २३, १६६१ को विघटित हो गया। सीरिया की नई सरकार को अधिकांश देशो ने मान्यता प्रदान कर दी।

फरवरी १६५८ के पूर्व सीरिया सयुक्त राष्ट्र सघ का एक मौलिक सदस्य था और अब सयुक्त राष्ट्र संघ मे उसकी यह पूर्ववर्ती सदस्यता भी पुनर्जीवित हो गई।

अध्याय १०

हस्तक्षेप

(Intervention)

हस्तक्षेप क्या है :— प्रत्येक राज्य का यह अहरणीय अधिकार है कि वह अपने मामलो का अपनी इच्छानुसार प्रबन्ध करे, जो सविधान चाहे वह स्वीकृत करे, जब चाहे इसे विधि के शब्दो के भीतर परिवर्तित करे अथवा अन्य राज्यो से सम्बन्ध तथा सन्धि स्थापित करे। लेकिन जैसा लोरेन्स कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्य राज्य अथवा राज्यो का समूह इसके कार्यवाहियो मे हस्तक्षेप करता है और इसको ऐसा कार्य करने को बाध्य करने का प्रयत्न करता है जैसा यदि इसको अपने ही ऊपर छोड दिया जाता तो यह नही करता अथवा इसको ऐसा कार्य करने से रोकता है जैसा कि यह अपने ही ऊपर छोड दिये जाने पर करता। इस प्रकार के हस्तक्षेप को कानून की दृष्टि से वास्तविक हस्तक्षेप कहा जाता है।

ओपेनहेम का कहना है कि हस्तक्षेप एक अधिनायकतात्मक दखल होता है जो एक बडे राज्य द्वारा दूसरे राज्य के मामलो में वस्तुओं की वास्तविक स्थिति बनाये रखने अथवा परिवर्तन करने के लिए किया जाता है। केवल कल्याणकारी उपदेश अथवा सामान्य राजनैतिक प्रभाव इस शब्द के अधीन नही आते क्योंकि हस्तक्षेप की सारभूत आवश्यक वस्तु अर्थात् बल प्रयोग अथवा बल प्रयोग की धमकी का इसमे अभाव रहता है।

स्टार्क (Starke) का कथन है कि साधारणतया अन्तर्राष्ट्रीय कानून किसी दूसरे राज्य के भीतरी मामलो मे हस्तक्षेप करने को मना करता है। यहाँ इस हस्तक्षेप का तात्पर्य साधारण दखल देने, मध्यस्थता या राजनैतिक सुझाव से

कही अधिक बलवान है। जहाँ तक निषेध का सम्बन्ध है, इसमे अधिनायकत्व से भरा हस्तक्षेप होता है। इसका प्रभावित होने वाले राज्य की इच्छाओ के विरुद्ध प्रभाव पडता है और प्रायः सदैव ही ऐसा होता है। जैसा कि हाईड (Hyde) ने सकेत किया है, इसे हम "serving by design or implication to impair the political independence of that State", अर्थात् हम उस राज्य की राजनैतिक स्वतन्त्रता का अपहरण कहेगे।

जैक्सन (Jackson) के अनुसार हस्तक्षेप "the dictatorial or imperative violation by one state of the independence of another", अर्थात् एक राज्य द्वारा अधिनायक रूप मे दूसरे राज्य की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण कहेगे।

हस्तक्षेप के प्रकार (Kinds of Intervention) :—हस्तक्षेप के तीन भिन्न-भिन्न प्रकार है।

(१) आंतरिक (Internal) :—यह एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के समुदाय के झगडते हुए सम्प्रदायो के बीच हस्तक्षेप है जो या तो वैध सरकार के अथवा बलवाइयो के सरक्षण के लिए किया जाता है।

(२) बाह्य (External) :—यह एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य के सम्बन्धो—सामान्य रूप से विरोधी सम्बन्धो—मे हस्तक्षेप है। अन्य शब्दों में यह अन्य राज्य के विदेशी मामलो मे हस्तक्षेप है और ऐसा हस्तक्षेप ऐसे राज्य के विरोधी सम्बन्धो के विरुद्ध किया जाता है। इस प्रकार का हस्तक्षेप युद्ध-घोषणा के समान होता है।

(३) दाण्डिक (Punitive) :—यह एक दाण्डिक उपाय है जो युद्ध से थोडा कम है और अन्य राज्य के हाथो से हुई हानि के प्रतिकार के रूप में है। इसका प्रयोग अधिकतर बलिष्ठ राज्यो द्वारा निर्बल राज्यो पर किया जाता है।

हस्तक्षेप के मूल कारण :—प्रोफेसर ओपनहीम के मतानुसार हस्तक्षेप के वस्तुतः वैध अवसर तीन शीर्षको के भीतर लाये जा सकते हैं अर्थात् आत्म-रक्षा (self-defence), प्रतिकार (reprisal) तथा सन्धि अधिकारों का प्रयोग (exercise of a treaty right)।

कुछ हस्तक्षेप ऐसे हैं जिनका न्यायोचित होना अधिकार द्वारा ठहराया जा सकता है और ऐसी दशा में उनको हस्तक्षेप करने वाले राज्य द्वारा अन्य राज्य की स्वतन्त्रता का भग नही कहा जा सकता। उनकी विवेचना अन्य कारणों से हस्तक्षेप के लिए न्यायोचित युक्ति के अनुसार न हों, नीचे दी जाती है :—

१—आत्मसंरक्षण (Self-Preservation) —राज्य का सर्वोच्च हित विधि के भी ऊपर है। आत्म-सरक्षण का अधिकार अन्य राज्यो की स्वतन्त्रता का सम्मान करने के कर्त्तव्य से भी कही अधिक पवित्र है। एक राज्य को अन्य राज्य के मामलो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार उस दशा मे होता है जब पूर्ववर्ती राज्य की सुरक्षा तथा सन्निहित हितो मे गडबडी पडती हो। अत हस्तक्षेप करने वाले राज्य के अति-सन्निहित भय के निवारणार्थ किये गये हस्तक्षेप परिस्थितियो के प्रभाव के कारण वैध कहे जा सकते हैं। भय प्रत्यक्ष तथा अतिसन्निहित होना चाहिये न कि असदिग्ध तथा दूरस्थ। केरोलिन वाले वैध निदर्शक वाद (leading case) मे उन नियमो की व्यवस्था की गई है जिनके अनुसार आत्मसरक्षण का सिद्धान्त निश्चित होता है। सन् १८३७ के कैनाडा के राजद्रोह के बीच मे स्टीमर केरोलिन विप्लवकारियो द्वारा अमेरिका से नियाग्रा के उस पार शस्त्र तथा मनुष्यो को भेजने के लिये उपयोग मे लाया गया था। विप्लवकारियो का उद्देश्य ब्रिटिश प्रदेश पर नियाग्रा के अमेरिका की ओर के भाग से एकाएक आक्रमण करने का था। अमेरिका की सरकार ने उपस्थित प्रस्थान को दबाने का कोई प्रयत्न नही किया। कुछ ब्रिटिश सैनिक दलो ने नदी को पार कर लिया और केरोलिन को ऐसे समय मे पकडा जब वह अमेरिका के प्रदेश मे बँधी हुई पडी थी और उसको बहते हुए छोड दिया। अमेरिका ने अपने प्रदेश के उल्लघन का कठोर विरोध किया और इस बात पर जोर दिया कि उसके प्रादेशिक अधिकारो क इस प्रकार के उल्लघन के लिये ब्रिटिश सरकार का यह दिखलाना चाहिये कि "आत्म-सरक्षण के लिये एक ऐसी अतिसन्निहित तथा तीव्र आवश्यकता थी जिसमे कोई अन्य उपाय नही चुना जा सकता था और विचार के लिये कोई समय नही था"—(a necessity of self-defence, instant, overwhelming and leaving no choice of means and no moment for deliberation) और यह कि कैनेडा के अधिकारियो ने कोई ऐसी बात नही की जो "अयुक्त हो अथवा मर्यादा का उल्लघन कर गई हो (did nothing unreasonable or excessive)।" ग्रेट ब्रिटेन इस परीक्षा के आधार पर अपने कार्य को वैध नही ठहरा सका। अत उसे इस घटना पर खेद प्रकट करना पडा जो सयुक्त राज्य द्वारा स्वीकृत किया गया।

धर्षित राष्ट्र द्वारा आत्मसरक्षण के आधार पर हस्तक्षेप को प्रोफेसर हॉल उस दशा मे न्यायोचित ठहराते हैं जब पार्श्ववर्ती राज्य इतना अशक्त हो गया हो कि वह अपनी प्रजा के अपने पडोसी पर वास्तविक आक्रमणो को रोकने में असमर्थ है अथवा वह बाहर विप्लव भडकाता है अथवा वह ऐसे विरोधों की धमकी देता है जो इसको उलट देने से हटा दिये जा सकें।

२—सन्धि अधिकारों का लागू करना (Enforcement of Treaty Rights) :—एक राज्य का अन्य राज्य के मामलो मे दखल देना उस समय वैध माना जाता है जब कि किसी सन्धि के अनुबन्ध पूर्ववर्ती को उत्तरवर्ती की स्वतन्त्रता अथवा तटस्थता की रक्षा करने को विवश करते हैं। ऐसा हस्तक्षेप स्वतन्त्रता के किसी अधिकार का उल्लघन नही करता क्योंकि राज्य जो करना चाहता है उसने ऐसे हस्तक्षेप करने की स्वतन्त्रता सन्धि द्वारा स्वीकार कर ली होती है।

हंगरी के मामले मे सोवियत रूस का हस्तक्षेप —हगरी का सविधान रूस की ही भाँति है। १८ अगस्त १६४६ मे हगरी ससद् ने हगरी को 'जन गण तन्त्र' (People's Republic) घोषित किया। अक्टूबर १६५६ मे हगरी के कम्युनिस्ट गणराज्य मे एक बडी सख्या मे हगरी की जनता के द्वारा पुराने प्रो रूसी सरकार (old Pro-Russian Governmemt) के विरुद्ध विद्रोह की आग भडकी। इस विद्रोह ने इतना भयकर रूप ले लिया कि वहाँ पर मार्शल विधि (Martial Law) लागू किया गया। २४ अक्टूबर १६५६ को वारसा-सन्धि के अनुसार, हगरी सरकार ने सोवियत रूस से सैनिक-सहायता मांगी जिसकी सहायता से हगरी सरकारी अधिकारी वहाँ शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करने मे समर्थ हो सकें। इमरे नेगी (Imre Nagy) प्रधान मन्त्री ने भी समाजवादी व्यवस्था के हित में इस रूसी सैनिक-सहायता को आवश्यक समझते हुए समर्थन किया। कई दिनों बाद सोवियत रूस ने हगरी सरकार की सम्मति से हगरी से सेना हटा ली। शीघ्र ही विद्रोहियो ने पुन. विद्रोह किया और घोर आतक फैला दिया। राष्ट्रीय श्री नेगी को जो दल के स्टालिन समर्थको द्वारा निकाल दिये गये थे, वापस आने की माँग की। इमरे नेगी ने निरकुश साम्यवादी शासन का अत करके सयुक्त लोकतन्त्रात्मक दलों की सरकार का निर्माण किया किन्तु यह सरकार भी स्थिति को न सँभाल सकी और स्थिति भयकर होती गयी। अत नेगी सरकार के उपप्रधान मंत्री जैनास केदार (Janos Kadar) ने क्रान्तिकारी मजदूरों और किसानों की सरकार बनायी जिसने इस विषम समय मे पूर्ववत् स्थिति लाने के लिये रूस से सैनिक सहायता मांगी। यह माँग वारसा सन्धि के अनुसार ही थी। रूसी सेना की सहायता से थोडे समय में विद्रोही दबा दिये गये।

४ नवम्बर, १६५६ को अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् मे एक प्रस्ताव रखा कि सोवियत हगरी के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप न करे और यह माँग की कि वह हंगरी सरकार से उचित व्यवस्था करके अविलम्ब ही वहाँ से सेना हटा ले। सोवियत सघ ने इस प्रस्ताव का निषेध किया जिससे सयुक्त राज्य अमेरिका ने वहाँ पर साधारण सभा (General Assembly) की असाधारण बैठक

गयी। इसमे सोवियत रूस को हगरी से सेना हटाने के लिये कहा गया जिससे सयुक्त राष्ट्र सघ के सरक्षण में हंगरी मे स्वतन्त्र निर्वाचन हो सके। इस अधिवेशन के एक प्रस्ताव द्वारा यह पुनः मांग की गई कि जो विदेशी हस्तक्षेप हगरी मे हुआ है उसकी जाँच सेक्रेटरी जनरल करें।

यह प्रकट है कि द्वितीय विश्वयुद्ध जब से समाप्त हुआ है रूसी सेना का हंगरी, पोलैंड, और रूमानिया पर अधिकार रहा है। वारसा सन्धि (जो कि उत्तरी अटलाटिक सन्धि सघ के उत्तर मे निर्माण की गई) के अनुसार रूस का यह वैध अधिकार था कि उसकी सेना हगरी मे रहे। अतः सोवियत रूस का यह कर्त्तव्य था कि हगरी सरकार की सहायता की मांग पर और वहाँ की शान्ति और सुरक्षा के लिये अपनी सेना भेजती रहे जो वारसा की सन्धि की ही शर्त थी। इसके परिणाम-स्वरूप रूस के बीच मे पड़ने से वहाँ की विषम स्थिति सुधर गयी जो कि किसी भी दशा मे हस्तक्षेप नही कहा जा सकता।

१९ नवम्बर १९५६ मे रूस के विदेश मंत्री ने साधारण सभा को बतलाया कि रूस हगरी की स्थिति पूर्ववत् होने पर सेना हटा लेगी और इस सम्बन्ध मे वारसा-सन्धि के एक पक्ष के रूप मे हगरी सरकार से समझौता करना आरम्भ करेगी। रूस के प्रतिनिधि ने यह भी व्यक्त किया कि हगरी के आन्तरिक मामले मे हस्तक्षेप करने के सम्बन्ध का कोई भी प्रस्ताव सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर की धारा २ पैरा ७ के विरोध में होगा।

३—मानवता के कारण (Grounds of Humanity) —हस्तक्षेप का अन्य उचित कारण मानवता के आधार पर स्थापित है। लौरेंस का कथन है कि बहुत से लेखकों की सम्मति में ऐसे हस्तक्षेप वैध हैं किन्तु वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य नियमो के अन्तर्गत नही आ सकते जो राज्यो पर अपने पड़ोसियो की बर्बरता को रोकने का कोई कर्त्तव्य नही सौंपते।

चार्टर के अनुसार व्यवस्था (Provisions in the Charter) —सयुक्त राष्ट्र सघ का चार्टर वर्ण, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेद-भाव को मिटाकर सब के लिए मानवीय अधिकार तथा मौलिक सारभूत स्वतन्त्रताओं के लिये आदर बढाने तथा प्रोत्साहन देने मे अपने विश्वास का पुनः पोषण करता है।

दक्षिणी अफ्रीका मे भारतीय उत्पत्ति के लोगो के विरुद्ध जिस जातीय भेद-भाव की नीति का अवलम्बन दक्षिणी अफ्रीका सघ द्वारा किया जा रहा है वह भारत के द्वारा मूलत सन् १९४६ मे वाद उपस्थित करने पर सयुक्त राष्ट्र सघ के विचाराधीन है। जातीय भेद-भाव राज्य के नागरिको के आधारभूत मानवीय अधि-

कार तथा मौलिक स्वतन्त्रताओ पर कुठाराघात है। तो भी दक्षिणी अफ्रीका ने अपने पक्ष का समर्थन अनुच्छेद ७२ के परिच्छेद द्वारा किया है और यह प्रतिपादन किया है कि साधारण सभा इस मद को विचार करने में सक्षम नही है क्योंकि यह एक ऐसा विषय है जो वास्तव मे उसके (दक्षिणी अफ्रीका के) घरेलू क्षेत्राधिकार के भीतर है। दक्षिणी अफ्रीका का यह विवाद निराधार है क्योकि उपरोक्त अनुबन्ध जिसके अनुसार एक सदस्य राज्य के मुख्यत: घरेलू क्षेत्राधिकार के मामलों में हस्तक्षेप निषिद्ध है, इस प्रकार से लागू नही किया जा सकता कि जिससे चार्टर के आधारभूत अनुबन्धो द्वारा निर्धारित कर्तव्य निरर्थक हो क्योकि मानवीय अधिकारों को बिना भेदभाव के गारंटी (guarantee) चार्टर के मुख्य अभिप्रायों में से एक है।

४—शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) :—यूरोप की कूटनीति शक्ति के सन्तुलन का संरक्षण एक सदेहरहित सिद्धान्त के रूप मे सत्रहवी शताब्दी के मध्य से ही रहा है। Fenwick का कथन है कि शक्ति-संतुलन की आवश्यकता के सिद्धान्त ने निदर्शक राज्यो के बीच मे पारस्परिक आत्म-सरक्षण के आधार का काम किया है। इस सिद्धान्त ने एक प्रकार से १९वी शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो को भी प्रभावित किया है। यूरोप की राजनीति-व्यवस्था मे यह सिद्धान्त बहुत ही प्रबल रूप से प्रभावकारी रहा है। शान्ति, सुव्यवस्था और आत्म-स्वतन्त्रता के सरक्षण के लिए यह अनिवार्य रहा है कि शक्ति का केन्द्रीकरण न हो जाय। अन्यथा भय था कि शक्ति का संतुलन न होने पर कोई बलशाली राज्य दूसरो को अपने अधीन कर लेगा। अनेक दृष्टान्त हैं, जब कि शक्ति-सन्तुलन के लिये बड़े-बड़े राष्ट्रो को युद्ध की आग मे दूसरो के हित के लिये कूदना पड़ा है। १८५४ मे ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस को क्रीमियाँ युद्ध मे ओटोमन साम्राज्य की ओर से शक्ति-सन्तुलन के अभिप्राय से आना पड़ा था। बालकन पेनिन्सुला के अधिकांश हस्तक्षेप भी इसी अभिप्राय से हुये थे।

शक्ति के सन्तुलन के संरक्षण के आधार पर हस्तक्षेप की प्रथा की निन्दा प्राय: सभी युग के विधि-वेत्ताओ द्वारा की गई है।

५—व्यक्तियों तथा सम्पत्ति का संरक्षण:—अपने राष्ट्रीय जनो के प्राण, सम्पत्ति तथा हितो का सरक्षण हस्तक्षेप के लिये उचित कारण उपस्थित कर सकता है। सरक्षण की आवश्यकता भारी अन्याय अथवा अनुचित भेदभाव के कारण हस्तक्षेप किये जाने के कारण उपस्थित हो सकती है।

दक्षिणी अफ्रीका मे संघीय सरकार द्वारा भारतीय उत्पत्ति के (यद्यपि वास्तव मे भारत के राष्ट्रीय नहीं हैं) व्यक्तियो के साथ जो भेदभाव का व्यवहार किया जाता है उसकी तीव्र आलोचना संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अपने भिन्न

प्रस्तावो मे की गई है । इन प्रस्तावो मे इसके द्वारा चार्टर मे स्थापित मानवीय अधिकारो तथा मौलिक स्वतन्त्रताओ के आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लघन कहा गया है, किन्तु सघीय सरकार ने सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रस्तावो की अवहेलना इस आधार पर की है कि वे उन विषयो मे हस्तक्षेप करते हैं जो वास्तविक रूप से उसके घरेलू क्षेत्राधिकार के भीतर आते है । उनका यह भी कहना है कि सघ से वैध रूप से यह अपेक्षित नही किया जा सकता कि वह इस विषय पर उन प्रस्तावो की कार्यान्विति करे चाहे उनका (प्रस्ताव का) अभिप्राय कितना ही अच्छा हो अथवा चाहे उनकी बारम्बार पुनरावृत्ति ही क्यो न हुई हो, क्योकि वे सघ की शक्ति के बाहर है ।

६—गृहयुद्धों मे हस्तक्षेप (Intervention in Civil Wars)—सयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के पश्चात् अब वैयक्तिक राज्यो को किन्ही अन्य राज्यो के गृहयुद्धो मे हस्तक्षेप करने का कोई उचित कारण नही रह गया है । सयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर राज्यो पर यह कर्त्तव्य आरोपित करता है कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे किसी राज्य की प्रादेशिक पूर्णता अथवा राजनैतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध बल-प्रयोग की धमकी देने से अथवा बल प्रयोग से अपने आप को रोके ।

अन्य कारण —हस्तक्षेप के अन्य कारण ये हैं —अवैध हस्तक्षेप को रोकने के लिये, अनैतिकता के विरुद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय अपराधियो को हटाने तथा राष्ट्रीय सम्मान की प्रतिरक्षा के लिये अथवा विदेश मे स्थित राष्ट्रीय जनो के हितो के सरक्षण के लिये ।

हस्तक्षेप के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विद्वानो के सिद्धान्त :—

स्टार्क (Starke) :—स्टार्क के अनुसार कुछ निम्नलिखित मुख्य परिस्थितियाँ हैं जब कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे एक राज्य को दूसरे राज्य के मामले में हस्तक्षेप करने का वैध अधिकार है .—

(क) सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के अनुसार सामूहिक हस्तक्षेप, उदाहरण के लिये चार्टर के अध्याय ७ के क्रम मे सुरक्षा-परिषद् के प्राधिकार के अन्तर्गत सामूहिक कार्यवाहियो का प्रवर्तन ।

(ख) दूर-स्थित अपने नागरिको के अधिकारो और हितो तथा वैयक्तिक सुरक्षा हेतु ।

(ग) आत्म-सुरक्षा—यदि सशस्त्र आक्रमण के प्रतिरोध के लिये हस्तक्षेप का होना आवश्यक हो गया हो ।

(घ) किसी प्रोटेक्टोरेट का अपने उपनिवेश के मामलो मे ।

(ड) यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की किसी दूसरे राज्य के प्रति व्यवहार मे पूर्णतया उपेक्षा कर गया हो, जैसे अवैध रूप मे स्वतः उसने हस्तक्षेप किया हो, आदि।

ओपेनहेम (Oppenheim) :—ओपेनहेम ने ऐसे सात कारणो को उचित माना है, जब कि एक राज्य दूसरे के प्रसंग मे हस्तक्षेप कर सकता है। वे कारण निम्न हैं :—

(१) कोई राज्य जिसके अन्तर्गत कुछ संरक्षित राज्य हैं, इस अधिकार से सयुक्त कहा जा सकता है कि वह सरक्षित राज्य के समस्त बाहरी मामलो मे हस्तक्षेप करे।

(२) यदि किसी एक राज्य का बाहरी मामला किसी प्रकार से एक साथ ही दूसरे राज्य का भी बाह्य मामला बन गया हो, तो यदि एक राज्य अकेले ही उसे तय कर लेना चाहता हो, तो उसमे दूसरे को हस्तक्षेप करने का पूरा अधिकार है।

(३) कोई राज्य जो किसी अन्तर्राष्ट्रीय सधि से अपने बाह्य-प्रसगों के लिये आबद्ध हो, या उसकी क्षेत्रीय अथवा वैयक्तिक प्रभुता उन शर्तों से प्रतिबन्धित हो रही हो, तो दूसरे पक्ष या पक्षों को हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

(४) यदि शान्ति या युद्ध के समय मे कोई राज्य ऐसे राष्ट्रिक कानूनों की उपेक्षा करता है, जो रूढि-रूप मे या विधि-नियामक-संधि रूप में सार्वभौमिक ढग से स्वीकार किये जाते हैं, तो ऐसी परिस्थिति में अन्य राज्यो को अधिकार है कि हस्तक्षेप कर सके और दोषी-राज्य को उन नियमो को मानने पर विवश कर सकें।

(५) यदि किसी एक राज्य ने सधि के आधार पर किसी दूसरे राज्य की सरकार की गारंटी दी है, या अपने साम्राज्य का कुछ अंश उसके अधिकार में प्रदान किया है, तो उस सरकार के परिवर्तन या साम्राज्य मे परिवर्तन उपस्थित होने पर वह हस्तक्षेप कर सकता है। इस हस्तक्षेप की शर्त यह है कि गारंटी की सधि दोनों राज्यों के बीच हुई हो, न कि उनके अधिनायको द्वारा वैयक्तिक रूप से की गई हो।

(६) बाहरी देशो में रहने वाले नागरिकों की सुरक्षा का अधिकार जो कि एक राज्य मे निहित है, हस्तक्षेप अपने उस अधिकार द्वारा उपस्थित कर सकता है जिसमें दूसरा पक्ष वैध रूप से बाधित है।

(७) लीग ऑफ नेशन्स के सगमन तथा सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर में यह स्वीकार किया गया है कि यदि कोई राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा में बाधक युद्ध-प्रवृत्ति के कारण विघ्न उपस्थित करता है, तो अन्य सदस्य राज्यों द्वारा सामूहिक हस्तक्षेप किया जा सकता है। सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर द्वारा संघ को यह अधिकार

सौंपा गया है कि वह असदस्य राष्ट्रो के कार्यों मे भी वहाँ तक हस्तक्षेप करे, जहाँ तक कि उनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा मे बाधा पडती है।

मुनरो सिद्धात (The Monroe Doctrine) —इस सिद्धात मे सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति मुनरो द्वारा सन् १८२३ मे घोषित अमेरिका की नीति की व्यवस्था दी गई है जिसके द्वारा अमेरिका महाद्वीप के राजनैतिक मामलो मे यूरोप वालो के हस्तक्षेप का अन्त कर दिया गया। यह नीति कभी कांग्रेस द्वारा प्रमाणित नही की गई, न किसी सन्धि का विषय बनाई गई और ऐसी दशा मे यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियम नही है। घोषणा निम्नलिखित प्रकार की है —

(१) अमेरिका के महाद्वीप को उसकी मुक्त तथा स्वतन्त्र दशा के कारण, जिसे उसने ग्रहण किया है तथा धारण किया है, अब से किसी यूरोपीय शक्ति द्वारा भविष्य मे उपनिवेशन के लिए विषय नही समझना चाहिए।

(२) यूरोपीय शक्तियो के युद्धो मे, उन विषयो मे, जो उन्ही से सम्बद्ध हैं हमने कभी कोई भाव नही लिया है और न ऐसा करना हमारी नीति के योग्य है।

(३) सयुक्त राज्य ने यूरोप के युद्धो मे न कभी हस्तक्षेप किया है और न करेगा। इसके विपरीत वे अपनी ही शान्ति तथा सुख के हितार्थ अपनी राजनैतिक पद्धति को अमेरिका के किसी भाग मे विस्तृत करने तथा दक्षिणी अमेरिका के प्रजातन्त्रो की स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप करने नही दे सकते। उनकी ओर से इस गोलार्ध के किसी भाग मे अपनी पद्धति विस्तृत करने के प्रयत्न को हम अपनी शान्ति तथा सुरक्षा के लिए भयप्रद समझेंगे।

मुनरो सिद्धान्त का लक्षण अधिकतर राजनैतिक है न कि वैध। इसने अमेरिका की नीति का एक प्रधान सिद्धान्त यह घोषित करके स्थापित किया कि किसी अमेरिकन शक्ति द्वारा अमेरिका की भूमि पर प्रादेशिक शक्ति का अभ्युदय न होना चाहिए और इसमे इस बात का भी समावेश किया गया कि सयुक्त राज्य यूरोपीय राजनीति मे हस्तक्षेप नही करेंगे।

सैन फ्रान्सिसको का सम्मेलन जिसने सयुक्तराष्ट्र सघ के चार्टर का मसौदा तैयार किया, उसके समक्ष प्रादेशिक सघो जैसे अमेरिकीय राज्यों के सघ की स्थिति विश्व सघ से सम्बन्ध में क्या होगी, इस झगडे को मिटाने का कठिन कार्य उपस्थित हुआ। यह कठिनाई अनुच्छेद ५१ मे रखे हुए अनुबन्धा द्वारा दूर कर दी गई है जिसके अनुसार सयुक्त राष्ट्र सघ के किसी सदस्य के विरुद्ध सैनिक-आक्रमण की दशा मे व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्म-रक्षा का अधिकार उस समय तक के लिए स्वीकृत कर लिया गया है जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये

रखने के लिए आवश्यक उपाय न कर ले। इस प्रकार चार्टर मुनरो सिद्धान्त को उसके द्वारा स्थापित सामूहिक सुरक्षा की सार्वभौमिक पद्धति के अनुरूप बना देता है। ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी तथा जापान ने हाल मे अपने प्रभाव-युक्त क्षेत्रो मे उसी नीति का अवलम्बन किया जो हमे मुनरो सिद्धान्त का स्मरण दिलाती है।

उत्तरीय अटलाटिक सन्धि (१९४९) द्वारा हस्ताक्षर करने वाले इस बात पर सहमत हो गए कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका मे उनमें से किसी एक अथवा अधिक के विरुद्ध सैनिक आक्रमण उन सब के विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा, षट् शक्तीय प्रतिरक्षा समुदाय सघ (१९५२) ने षट्राष्ट्रीय यूरोपीय सेना को जन्म दिया है तथा अन्य ऐसी सन्धियाँ प्रादेशिक वर्गीकरण विचार पर स्थापित हैं, और इनमें मुनरो सिद्धान्त की गध पाई जाती है।

क्यूबा के गृह-युद्ध मे राष्ट्रपति कैनेडी ने अप्रेल १९६१ मे सोवियत सघ के प्रधानमत्री निकिता ख्रुश्चेव को लिखा था कि क्यूबा मे यदि किसी बाहरी सैनिक शक्ति ने किसी भी प्रकार हस्तक्षेप किया तो अमेरिकी प्रथा के अनुसार वे अपना बाह्य आक्रमण का प्रतिरोध करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रपति मुनरो ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह आज भी अमेरिका मे ज्यो का त्यों माना जाता है।

ड्रैगो सिद्धान्त :—"ड्रैगो-सिद्धान्त" का भी निर्देश यहाँ करना आवश्यक है। आर्जेन्टाइना के विदेशीय सचिव लूई एन ड्रैगो ने सन् १९०२ मे जब ग्रेट ब्रिटेन तथा जर्मनी द्वारा अपने राष्ट्रीय जनो की ओर से वेनेज़ुएला की शातिपूर्वक नाके बन्दी कर दी गई थी यह नियम घोषित किया था। इस घोषणा के अनुसार एक राज्य की सरकार से दूसरे देश की सरकार द्वारा अपनी प्रजा को देय कर के अधिकार की सविदा सम्बन्धी ऋणो के प्रत्युद्धरण के लिए किसी राष्ट्र को सैनिक बल का सहारा नही लेना चाहिए। उन्होने कहा कि अपने सार्वजनिक ऋणो को देने म किसी राज्य की असफलता हस्तक्षेप के अधिकार को उत्पन्न नही करती। यह अभिप्राय १९०७ की दूसरी हेग सम्मेलन मे सयुक्त कर लिया गया है, किन्तु इसे यह जोड़कर निबन्धित कर दिया गया कि सैनिक बल-प्रयोग उस दशा मे लागू हो सकता है ऋणी पचायत करना अथवा उसका निर्णय मानना अस्वीकार करे।

ड्रैगो-सिद्धान्त मुनरो-सिद्धान्त का एक प्रकार से उपसिद्धान्त है।

नेहरू-सिद्धान्त (Nehru Doctrine) —भारत के प्रधानमन्त्री स्व० प० जवाहरलाल नेहरू ने मुनरो-सिद्धान्त को और भी विस्तार दिया था जब उन्होंने जुलाई २६ सन् १९५५ में ससद में अवलोकन किया था कि पुर्तगाल द्वारा गोआ को अपने कब्जे मे बनाये रखना, भारत की स्थापित राजनै

व्यवस्था मे निरन्तर हस्तक्षेप करते रहना है । उन्होने आगे कहा था, 'I go a step further and say that any interference by any other power would also be interference with the political system of India" अर्थात् "मैं एक कदम और आगे यह कह सकता हूँ कि किसी अन्य शक्ति द्वारा हस्तक्षेप करने का तात्पर्य भारत की राजनीतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करना होगा।" उन्होने उन परिस्थितियो को दोहराया जिनमे कि राष्ट्रपति मुनरो ने १८२३ मे योरोपीय शक्तियो को यह सूचना दी थी कि सयुक्त राज्य किसी भी यूरोपीय शक्ति द्वारा अमेरिकीय महाद्वीप की राजनीतिक व्यवस्था मे हस्तक्षेप करने का तात्पर्य स्वय अपने प्रति अमैत्रीपूर्ण कार्य मानेगा। इस प्रकार की अमैत्री और इस प्रकार का हस्तक्षेप भविष्य के लिये खतरा उत्पन्न कर सकता है ।

अध्याय ११

आवश्यकता तथा आत्म-सरक्षण का सिद्धान्त

(Doctrine of Necessity and Self-Preservation)

किसी प्रदेश के अतिक्रमण का न्यायोचित होना :— पूर्वकाल से ही यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक स्थिर रूप से माना गया नियम रहा है कि एक राज्य को आत्म-संरक्षण के अधिकार के प्रयोग मे अन्य राज्य के अधिकारो को उल्लघन करने का अधिकार है । ऐसे उल्लंघन केवल आवश्यकता की ही दशा मे क्षम्य होते हैं । ग्रोशस (Grotius) के कथनानुसार आवश्यकता एक निश्चित अधिकार उत्पन्न कर देती है और केवल एक बहाना नही समझी जा सकती । सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्र सचिव द्वारा कैरोलीन वाले मामले (१८३७) मे यह कहा गया था कि "यद्यपि यह उचित है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषयों के विशेषतः राज्यो की प्रादेशिक पूर्णता के सिद्धान्त के, जो आत्मरक्षा के महत्वपूर्ण सिद्धान्त से विकसित हुआ है, अपवाद विद्यमान है फिर भी निस्सन्देह न्यायोचित यही है कि ये अपवाद उन्ही मामलो मे सीमित करने चाहिए जिनमे उस आत्मरक्षा की आवश्यकता तात्कालिक हो, घबराहट उत्पन्न करने वाली हो तथा उसके समानान्तर अन्य कोई साधन न रह गया हो और विचार के लिए समय न हो। (Those exceptions should be confined to cases in which the 'necessity of that self-defence is instant, overwhelming, and leaving no choice of means, and no moment for deliberation) इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि जो कार्यवाही की गई हो उसमे "कोई अनौचित्य या अति न की गई हो, क्योंकि

रखने के लिए आवश्यक उपाय न कर ले। इस प्रकार चार्टर मुनरो सिद्धान्त को उसके द्वारा स्थापित सामूहिक सुरक्षा की सार्वभौमिक पद्धति के अनुरूप बना देता है। ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी तथा जापान ने हाल मे अपने प्रभाव-युक्त क्षेत्रो मे उसी नीति का अवलम्बन किया जो हमे मुनरो सिद्धान्त का स्मरण दिलाती है।

उत्तरीय अटलांटिक सन्धि (१६४६) द्वारा हस्ताक्षर करने वाले इस बात पर सहमत हो गए कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका मे उनमें से किसी एक अथवा अधिक के विरुद्ध सैनिक आक्रमण उन सब के विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा, ए. शक्तीय प्रतिरक्षा समुदाय सघ (१६५२) ने षट्राष्ट्रीय यूरोपीय सेना को जन्म दिया है तथा अन्य ऐसी सन्धियाँ प्रादेशिक वर्गीकरण विचार पर स्थापित हैं, और इनमें मुनरो सिद्धान्त की गध पाई जाती है।

क्यूबा के गृह-युद्ध मे राष्ट्रपति कैनेडी ने अप्रैल १६६१ मे सोवियत सघ के प्रधानमत्री निकिता ख्रुश्चेव को लिखा था कि क्यूबा मे यदि किसी बाहरी सैनिक शक्ति ने किसी भी प्रकार हस्तक्षेप किया तो अमेरिकी प्रथा के अनुसार वे अपना बाह्य आक्रमण का प्रतिरोध करेंगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रपति मुनरो ने जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह आज भी अमेरिका मे ज्यो का त्यो माना जाता है।

ड्रैगो-सिद्धान्त :—"ड्रैगो-सिद्धान्त" का भी निर्देश यहाँ करना आवश्यक है। आर्जेन्टाइना के विदेशीय सचिव लूई एन ड्रैगो ने सन् १६०२ मे जब ग्रेट ब्रिटेन तथा जर्मनी द्वारा अपने राष्ट्रीय जनो की ओर से वेनेजुएला की शांतिपूर्वक नाका-बन्दी कर दी गई थी यह नियम घोषित किया था। इस घोषणा के अनुसार एक देश की सरकार से दूसरे देश की सरकार द्वारा अपनी प्रजा को देय कर के अधिकार की सविदा सम्बन्धी ऋणों के प्रत्युद्धरण के लिए किसी राष्ट्र को सैनिक बल का सहारा नही लेना चाहिए। उन्होंने कहा कि अपने सार्वजनिक ऋणो को देने मे किसी राज्य की असफलता हस्तक्षेप के अधिकार को उत्पन्न नही करती। यह अभिसमय १६०७ की दूसरी हेग सम्मेलन में सयुक्त कर लिया गया है, किन्तु इसे यह और भी नियन्त्रित कर दिया गया कि सैनिक बल-प्रयोग उस दशा मे लागू हो सकता है जब ऋणी पचायत करना अथवा उसका निर्णय मानना अस्वीकार करे।

ड्रैगो-सिद्धान्त मुनरो-सिद्धान्त का एक प्रकार से उपसिद्धान्त है।

नेहरू-सिद्धान्त (Nehru Doctrine) :—भारत के प्रधानमन्त्री स्व० पं० जवाहरलाल नेहरू ने मुनरो-सिद्धान्त की ओर भी विस्तार दिया था। उन्होंने जुलाई २६ सन् १६५४ में संसद में उद्घोषण किया था कि पुर्तगाल द्वारा गोआ को अपने कब्जे में बनाये रखना, भारत की स्थापित शान्ति

व्यवस्था मे निरन्तर हस्तक्षेप करते रहना है। उन्होने आगे कहा था, 'I go a step further and say that any interference by any other power would also be interference with the political system of India" अर्थात् "मैं एक कदम और आगे यह कह सकता हूँ कि किसी अन्य शक्ति द्वारा हस्तक्षेप करने का तात्पर्य भारत की राजनीतिक व्यवस्था में हस्तक्षेप करना होगा।" उन्होने उन परिस्थितियो को दोहराया जिनमे कि राष्ट्रपति मुनरो ने १८२३ मे योरोपीय शक्तियो को यह सूचना दी थी कि सयुक्त राज्य किसी भी यूरोपीय शक्ति द्वारा अमेरिकीय महाद्वीप की राजनीतिक व्यवस्था मे हस्तक्षेप करने का तात्पर्य स्वयं अपने प्रति अमैत्रीपूर्ण कार्य मानेगा। इस प्रकार की अमैत्री और इस प्रकार का हस्तक्षेप भविष्य के लिये खतरा उत्पन्न कर सकता है।

अध्याय ११

आवश्यकता तथा आत्म-संरक्षण का सिद्धान्त

(Doctrine of Necessity and Self-Preservation)

किसी प्रदेश के अतिक्रमण का न्यायोचित होना :—पूर्वकाल से ही यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक स्थिर रूप से माना गया नियम रहा है कि एक राज्य को आत्म-संरक्षण के अधिकार के प्रयोग मे अन्य राज्य के अधिकारो को उल्लंघन करने का अधिकार है। ऐसे उल्लंघन केवल आवश्यकता की ही दशा मे क्षम्य होते हैं। ग्रोशस (Grotius) के कथनानुसार आवश्यकता एक निश्चित अधिकार उत्पन्न कर देती है और केवल एक बहाना नही समझी जा सकती। सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्र सचिव द्वारा कैरोलीन वाले मामले (१८३७) मे यह कहा गया था कि "यद्यपि यह उचित है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषयो के विशेषतः राज्यो की प्रादेशिक पूर्णता के सिद्धान्त के, जो आत्मरक्षा के महत्वपूर्ण सिद्धान्त से विकसित हुआ है, अपवाद विद्यमान है फिर भी निस्सन्देह न्यायोचित यही है कि ये अपवाद उन्ही मामलो मे सीमित करने चाहिए जिनमे उस आत्मरक्षा की आवश्यकता तात्कालिक हो, घबराहट उत्पन्न करने वाली हो तथा उसके समानान्तर अन्य कोई साधन न रह गया हो और विचार के लिए समय न हो। (Those exceptions should be confined to cases in which the 'necessity of that self-defence is instant, overwhelming, and leaving no choice of means, and no moment for deliberation) इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि जो कार्यवाही की गई हो उसमे "कोई अनौचित्य या अति न की गई हो, क्योंकि

कार्य का औचित्य आवश्यकता एवं संरक्षण के लिए ही है, अस्तु उसे केवल आवश्यकता तक ही स्पष्टतः सीमित होना चाहिए।"

ह्वीटन (Wheaton) का विचार है कि रक्षा के साधनों के प्रयोग में "कोई भी स्वतन्त्र राज्य किसी दूसरी वैदेशिक शक्ति द्वारा प्रतिबंधित नहीं किया जा सकता। किन्तु कोई दूसरा राष्ट्र, यदि वह चाहता है, तो अपने आत्म-संरक्षण के अधिकार के प्रयोग में, यदि इन तैयारियों में वह किसी प्रकार से सावधान हो जाने का अवसर समझता है, या वह किसी आक्रमण की आशंका से भयभीत है तो उस सम्बन्ध में निराकरण माँग सकता है।"

अन्तर्निहित अधिकार (Inherent Right) —राष्ट्र सचिव फ्रैंक बी केलोग ने सन् १९२८ में ब्रिआंड-केलॉग-गठबन्धन (Briand-Kellogg Pact) तय करने के प्रसंग में कहा था कि आत्मरक्षा का अधिकार प्रत्येक प्रभुसत्ताधारी राज्य में अन्तर्निहित है और प्रत्येक सन्धि में निस्सन्देह विद्यमान है। प्रत्येक राज्य हर समय सन्धियों के अनुबन्धों का बिना ध्यान किये अपने प्रदेश को धावे अथवा आक्रमण से बचाने के लिए स्वतन्त्र है और यही अकेले इस बात को निर्णय करने के लिए सक्षम है कि परिस्थितियों में आत्मरक्षा हेतु युद्ध का सहारा लेना न्यायोचित है अथवा नहीं।

सिनेटर रूट (Senator Root) के अनुसार "It is well understood that exercise of the right of self-protection may, and frequently does, extend in its effect beyond the limits of territorial jurisdiction of the state exercising it" उनके अनुसार इस अतिक्रमणकारी प्रभाव का सबसे बड़ा उदाहरण किसी एक शक्ति की तात्कालिक सीमा पर दूसरी शक्ति द्वारा भारी संख्या में सैन्य-संग्रह है। यद्यपि यह सैनिक कार्यवाही अपनी ही सीमा में हो सकती है, फिर भी आतंकित राज्य को अपनी रक्षा हेतु युद्ध छेड़ देने का अधिकार है।

प्रथम विश्वयुद्ध :—प्रथम विश्वयुद्ध के बीच सन् १९१४ में जर्मनी ने आत्म रक्षा के सिद्धान्त के बहाने बेल्जियम तथा लक्सम्बर्ग की तटस्थता भंग कर दी। जर्मनी ने लक्सम्बर्ग तथा बेल्जियम की स्थायी तटस्थता का उल्लंघन इस आधार पर किया कि उसको दो ओर से रूस तथा फ्रांस द्वारा आक्रमण की धमकी दी जा रही है और आत्म-संरक्षण के आधार पर उसका यह अधिकार है कि उसकी सेनायें आत्मरक्षार्थ फ्रांस पर आक्रमण करने के लिए लक्सम्बर्ग तथा बेल्जियम में बलात् प्रवेश करें। जर्मनी के चैन्सलर ने रीख-स्टॅग (Reichstag) के समक्ष अपना पक्ष समर्थन करते हुए कहा : "हमारी सेनाओं ने लक्सम्बर्ग पर अधिकार कर लिया है

का प्रयत्न किया गया। तत्कालीन ब्रिटिश कार्य-सचिव श्री रिचर्ड स्टोक्स ने यहाँ तक कहा कि उनकी समझ मे यह नही आता कि जब विदेशी सेनायें चाहे वे किसी प्रकार की हो रूस व मचूरिया की सीमा तक पहुँच गई हो, तो यह कैसे आशा की जा सकती है कि चीनी लोग मौन रहते।

तिब्बत पर आक्रमण—समान दृष्टान्त के अनुसार चीन ने सन् १९५० में तिब्बत पर आक्रमण कर दिया जिसका भारत ने तीव्र विरोध किया। किन्तु चीन ने अपने आक्रमण का इस आधार पर समर्थन किया कि मित्र राष्ट्रो की सेनाओ द्वारा कोरिया मे ३८वें अक्षाश के पार किया जाने तथा उनके मचूरिया की सीमा में आगे बढाने से चीन के लिए अपने अस्तित्व को रक्षा के उपायस्वरूप तिब्बत पर आक्रमण करना आवश्यक कर्त्तव्य हो गया था।

इस सिद्धान्त का सबसे बडा दोष यह है कि यह नि शक राज्यो के हाथों में एक शक्तिशाली यन्त्र दे देता है जिससे वे छोटे राज्यो की स्वतन्त्रता का उल्लघन कर देते हैं तथा विश्व की शान्ति को भग करते हैं।

चार्टर के उपबन्ध (Provisions in the Charter)—सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के अनुच्छेद ५१ द्वारा सयुक्त राष्ट्र सघ के किसी सदस्य के विरुद्ध सैनिक आक्रमण की दशा मे उस सदस्य राष्ट्र के लिए व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्म-रक्षा का अधिकार सुरक्षित किया गया है, परन्तु आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग में जो उपाय सदस्य द्वारा लिये जायँ तत्काल सुरक्षा परिषद् को प्रतिवेदित करना चाहिये। यह आत्म-रक्षा का अधिकार उस समय तक जारी रहता है जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने के उपाय न कर ले। इस प्रकार का आत्म-रक्षा का अधिकार केवल उस दशा मे विद्यमान रहता है यदि यह (राज्य) स्वय सैनिक आक्रमण का विषय हो, न कि उस दशा मे जब आक्रमण की आशा की जाती हो अथवा ऐसी शत्रुता के सम्बन्ध विद्यमान हो जो सैनिक आक्रमण से न्यून हों।

यह सामूहिक आत्म-रक्षा का विचार हाल मे भिन्न-भिन्न सन्धियों के स्थान द्वारा प्रयुक्त किया गया है अर्थात् अन्तर-अमेरिकीय पारस्परिक सहायता सन्धि (१९४७), पश्चिम-यूरोपीय सहकार्यता तथा सामूहिक आत्म-रक्षा सन्धि (१९४८), अमेरिकी राज्य सघ का बगोटा अधिपत्र (१९४८) तथा उत्तर अटलान्टिक सन्धि (१९४९)। राज्य उत्तर अटलान्टिक सन्धि के अनुच्छेद ५ में यह व्यवस्था की गई है कि यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका मे किसी एक अथवा अधिक पक्षकारों के विरुद्ध सैनिक आक्रमण उन सब के विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा और उनमें से प्रत्येक उत्तर अटलान्टिक क्षेत्र की सुरक्षा को बनाये रखने तथा पुन: स्थापित करने के लिए

चार्टर के अनुच्छेद ५१ द्वारा स्वीकृत वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्म-रक्षा के अधिकार के प्रयोग में ऐसा कार्य कर ले जैसा यह आवश्यक समझे (जिसमें सैनिक बल-प्रयोग भी सम्मिलित है) आक्रमित पक्षकार की सहायता करेगा। इस प्रकार के उपाय जो किये जायें तत्काल सुरक्षा परिषद् को प्रतिवेदित किये जायेंगे और उस समय समाप्त हो जायेंगे जब परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखने तथा पुनः स्थापित करने के लिए आवश्यक उपाय कर ले।

निष्कर्ष—ऐतिहासिक घटनाओं पर दृष्टिपात करने से यह पता चलता है कि साधारण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत निस्सन्देह आत्म-संरक्षण के अधिकार का अस्तित्व विद्यमान है। यह अधिकार चार्टर के अनुच्छेद ५१ में भी स्पष्ट रूप से उल्लिखित है। १८३७ में केरोलीन के मामले में यह सिद्ध हो गया था कि दूसरे राज्यों की राज्य सीमा में आत्मनिर्भर राज्य द्वारा अतिक्रमण क्षम्य है, किन्तु शर्त यही है कि ऐसा अतिक्रमण आत्म संरक्षण हेतु ही किया गया हो। ओपेनहेम का कहना है कि यदि कोई तात्कालिक अतिक्रमण या पहले के किए अतिक्रमण की पुनरावृत्ति आतंकित राज्य द्वारा बिना किसी अतिक्रमण के रोकी जा सके, तो यह बाद वाला अतिक्रमण आवश्यक नहीं है और इसीलिये यह न्यायोचित नहीं है। ब्रायर्ले का कथन है कि १९३१ में मञ्चूरिया में जापानियों द्वारा बल-प्रयोग के जो भी विचार रहे हों, उसे हम आत्म-संरक्षण के अन्तर्गत नहीं समझ सकते।

चार्टर के अनुच्छेद ५१ के अन्तर्गत आत्म-रक्षा के अधिकार को "armed attack against a member of the United Nations" तक सीमित कर दिया गया है और वह भी उस समय तक के लिए, जब तक कि सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के समुचित उपाय नहीं कर लेती।

इस प्रसंग में कठिनाई यह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में भी सशस्त्र आक्रमण (armed attack) की व्याख्या नहीं की गई है। इसकी व्याख्या सम्बन्धित राज्यों पर ही उस समय तक के लिए छोड़ी गई है, जब तक कि सुरक्षा परिषद् उसमें हस्तक्षेप नहीं करती। अस्तु, ओपेनहेम के अनुसार इस बात का निर्णय करना कि किस कार्यवाही को वे आत्म-रक्षा के अन्तर्गत की गई कार्यवाही कहेंगे, उन राज्यों पर ही छोड़ा गया है। ऐसे कार्यों की वैधता के प्रसंग में सुरक्षा परिषद् या अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को प्रतिवेदित किया जा सकता है। प्रोफेसर ब्रायर्ले के अनुसार—"It is therefore clear that the defensive or non-defensive character of any State's action is universally regarded as a question capable of determination by an objective examination of the relevant facts" अर्थात् यह स्पष्ट है कि तथ्य ही इस बात का निर्णय कर सकते हैं कि कोई कार्य राज्य द्वारा आत्म रक्षा हेतु अथवा आक्रामक रूप में किये गये हैं।

अध्याय १२

राज्य-क्षेत्र

(State Territory)

राज्य-क्षेत्र भूतल का वह भाग है जिस पर कोई राज्य सर्वोच्च तथा अनन्य सत्ता का प्रयोग करता हो। इसमे भूमि प्रदेश, प्रादेशिक जलभाग, राष्ट्रीय जलभाग तथा प्रदेश के ऊपर के आकाश का भाग तथा भूमि के नीचे का भाग भी सम्मिलित है।

क्षेत्रीय प्रभुसत्ता की सीमाएँ :—सामान्यतः राज्य की क्षेत्रीय प्रभु सत्ता अविभाज्य है परन्तु इस सामान्य नियम के अपवाद हैं। सहाधिपत्य की दशा में प्रदेश दो या अधिक शक्तियो द्वारा बाँट लिया जाता है और प्रभुसत्ता कई राज्यों मे विभक्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थितियो मे अधिपति-राज्य द्वारा किसी विदेशी राज्य को पट्टे पर दिया जा सकता है अथवा बन्धक किया जा सकता है। सन् १९४१ मे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा सयुक्त राज्य को न्यूफौंडलैंड, बमुडा तथा जमैका इत्यादि मे नाविक तथा हवाई अड्डो के लिए प्रदेश के छोटे-छोटे टुकडा का पट्टे पर देना इसके अन्य उदाहरण हैं। सयुक्त राज्य तथा जापान का फरवरी सन् १९५२ का सुरक्षा समझौता, जिसके द्वारा सयुक्त राज्य को जापान मे कुछ अड्डो को स्थायी रूप से उपयोग करने को दे दिया गया है तथा सयुक्त राज्य के सर्विस कोर्ट्स (न्यायालय) को अपने व्यक्तियो तथा उनके आश्रितो के ऊपर अनन्य क्षेत्राधिकार रखने की व्यवस्था की है, यह जापान की असीमित प्रभुसत्ताधिकार के विरुद्ध जाता है। कभी कभी एक प्रदेश के ऊपर प्रभु सत्ता अन्य राज्य द्वारा न्यास रूप में प्रयोग की जा सकती है क्योकि उस प्रदेश मे ऐसी पिछडी जातियाँ बसी हुई हैं जिन्होंने किसी भी सीमा मे स्वराज्य प्राप्त नही किया, उदाहरणार्थ एक माने शित प्रदेश अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यास रखने की पद्धति। प्रभु सत्ता सघीय राज्य तथा सदस्य राज्यो के मध्य मे भी विभक्त हो सकती है। अन्त मे प्रभु-सत्ता की परम्परागत धारणा मे तीव्र परिवर्तन हो गया है जिसके अनुसार अप्रतिबंधित आत्म निश्चय व्यक्त होता था। रूस द्वारा निर्दिष्ट पूर्वीय यूरोप तथा अमेरिका द्वारा प्रभावित पश्चिम के गुटो के बनने के कारण जिसको पूर्व और पश्चिम का शीत युद्ध भी कहा जाता है, राज्य-रूपी व्यक्तियो को पारस्परिक आर्थिक, सैनिक तथा राजनैतिक सहयोग पर आधारित समुदायो परिवर्तन करने की प्रवृत्ति हो गई है जिसके द्वारा उनमे से किसी गुट मे पडने वाले राज्य का बाह्य मामलो में अधिकार अप्रतिबंधित आत्म निश्चय संक्षिप्त हो गया है।

क्षेत्र :—किसी राज्य के क्षेत्र मे प्रथम तो वह भूमि ग्राती है जो उसकी सीमाम्रो के भीतर स्थित है। दूसरे, इसमे ग्रान्तरिक जलभाग जैसे झील, नहर, नदियाँ, बन्दरगाह तथा जलयानो की रक्षा के स्थान होते हैं। तीसरे, इसमे वह प्रादेशिक जलभाग होता है जिसमे किनारे के जलभाग की वह समुद्रीय पेटी सम्मिलित है जो निचले जल-चिह्न से नाप मे तीन मील चौडी है। चौथे, इसमे इसके क्षेत्रीय भूमि तथा जलभाग के ऊपर के ग्राकाश का भाग सम्मिलित है।

सीमाएँ :—सीमाएँ एक राज्य के क्षेत्र की सीमाम्रो को दूसरे राज्य के क्षेत्र से पृथक् करती हैं, ग्रौर राज्य के क्षेत्रीय ग्रधिकार के भाग हैं। सीमाएँ प्राकृतिक ग्रथवा ग्रप्राकृतिक हो सकती हैं। प्राकृतिक सीमाम्रो मे नदियाँ (जिस प्रकार रावी नदी जो कि पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाब की, जो भारत तथा पाकिस्तान के यथाक्रम भाग है, सीमाम्रो को ग्रलग करती है), पर्वत जिस प्रकार हिमालय (जो भारत की सीमा की रक्षा करता है), मरुभूमि, जगल तथा ग्रन्य इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। ग्रप्राकृतिक सीमाएँ काल्पनिक सीमा की रेखाएँ हैं जो प्रदेशा के विभाजन के प्रयोजन से बनाई जाती हैं। उनमे दीवालें, स्तम्भ, लकडी के टुकडे इत्यादि सम्मिलित है। मेकमोहन रेखा चीन ग्रौर भारत के बीच की विभाजक रेखा मानी गई है।

सीमा पर स्थित झील भी दो या ग्रधिक राज्यो के बीच के भू-भाग को एक काल्पनिक सीमा रेखा द्वारा निश्चित करती है जो झील के मध्य से पार होती है।

समुद्रीय पेटी की सीमा-रेखा ग्रनिश्चित है ग्रौर यह किनारे से तीन मील से ग्रधिक समीप नही जा सकती है।

ग्रप्राकृतिक सीमाएँ एक प्रकार से कल्पना से उत्पन्न सीमाएँ होती हैं जो साधारणतया एक राज्य को दूसरे राज्य से पृथक् कर देती हैं। उनके ग्रन्तर्गत दीवार, स्तम्भ, खभे ग्रादि ग्रा सकते हैं। सयुक्त राज्य ग्रमेरिका ग्रौर कैनाडा के बीच की ग्राधे से ग्रधिक सीमा-रेखाएँ इसी प्रकार की कृत्रिम रेखाएँ हैं।

ग्रनेक प्रसगो मे विवाद-ग्रस्त सीमाम्रो ने बहुत से ग्रन्तर्राष्ट्रीय ग्रथवा ग्रन्तर्राज्य विवाचनो (arbitrations) का प्रश्न उत्पन्न किया है। १६०३ का ग्रलास्का-बाउण्डरी ग्रार्बीट्रेशन इस बात का सबसे प्रबल उदाहरण है। यह ग्रार्बीट्रेशन सयुक्त राज्य ग्रमेरिका ग्रौर ग्रेट ब्रिटेन के बीच कैनाडा की ग्रोर से किया गया था। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् से ग्रब तक ग्रनेक सीमा-रेखाकन ग्रायुक्तो की नियुक्ति की जा चुकी है। विवादो का निर्णय किसी देश के वास्तविक ग्राधिपत्य ग्रौर उसकी भौगोलिक स्थिति को देखकर किया जाता है।

अध्याय १२

राज्य-क्षेत्र

(State Territory)

राज्य-क्षेत्र भूतल का वह भाग है जिस पर कोई राज्य सर्वोच्च तथा अनन्य सत्ता का प्रयोग करता हो। इसमे भूमि प्रदेश, प्रादेशिक जलभाग, राष्ट्रीय जलभाग तथा प्रदेश के ऊपर के आकाश का भाग तथा भूमि के नीचे का भाग भी सम्मिलित है।

क्षेत्रीय प्रभुसत्ता की सीमाएँ :—सामान्यतः राज्य की क्षेत्रीय प्रभु सत्ता अविभाज्य है परन्तु इस सामान्य नियम के अपवाद हैं। सहाधिपत्य की दशा में प्रदेश दो या अधिक शक्तियो द्वारा बाँट लिया जाता है और प्रभुसत्ता कई राज्यों मे विभक्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ स्थितियो मे अधिपति-राज्य द्वारा किसी विदेशी राज्य को पट्टे पर दिया जा सकता है अथवा बन्धक किया जा सकता है। सन् १९४१ मे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा सयुक्त राज्य को न्यूफौंडलैंड, बर्मुडा तथा अनेक इत्यादि मे नाविक तथा हवाई अड्डो के लिए प्रदेश के छोटे-छोटे टुकडा का पट्टे पर देना इसके अन्य उदाहरण हैं। सयुक्त राज्य तथा जापान का फरवरी सन् १९५२ का सुरक्षा-समझौता, जिसके द्वारा सयुक्त राज्य को जापान मे कुछ अड्डो को स्थायी रूप से उपयोग करने को दे दिया गया है तथा सयुक्त राज्य के सर्विस कोर्ट (न्यायालय) को अपने व्यक्तियो तथा उनके आश्रितो के ऊपर अनन्य क्षेत्राधिकार रखने की व्यवस्था की है, यह जापान की असीमित प्रभुसत्ताधिकार के विरु जाता है। कभी कभी एक प्रदेश के ऊपर प्रभु-सत्ता अन्य राज्य द्वारा न्यास रूप में प्रयोग की जा सकती है क्योंकि उस प्रदेश मे ऐसी पिछडी जातियाँ बसी हुई। जिन्होंने किसी भी सीमा मे स्वराज्य प्राप्त नही किया, उदाहरणार्थ एक मान्य शित प्रदेश अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यास रखने की पद्धति। प्रभु सत्ता संघीय राज्य तथा सदस्य राज्यों के मध्य में भी विभक्त हो सकती है। अन्त मे प्रभु-सत्ता की परम्परागत धारणा मे तीव्र परिवर्तन हो गया है जिसके अनुसार अप्रतिबंधित आत्म निश्चय व्यक्त होना था। रूस द्वारा निर्दिष्ट पूर्वीय यूरोप तथा अमेरिका द्वारा प्रभावित पश्चिम के गुटो के बनने के कारण जिसको पूर्व और पश्चिम का द्वंद्व युद्ध भी कहा जाता है, राज्य-रूपी व्यक्तियो को पारस्परिक आर्थिक, सैनिक तथा राजनैतिक सहयोग पर आधारित समुदायों में परिवर्तन करने की प्रवृत्ति हो गई। जिसके द्वारा उनमें से किसी गुट में पड़ने वाले राज्य का बाह्य मामलो में दखिल अप्रतिबंधित आत्म-निश्चय संक्षिप्त हो गया है।

क्षेत्र :—किसी राज्य के क्षेत्र मे प्रथम तो वह भूमि आती है जो उसकी सीमाओ के भीतर स्थित है। दूसरे, इसमे आन्तरिक जलभाग जैसे झील, नहर, नदियाँ, बन्दरगाह तथा जलयानो की रक्षा के स्थान होते हैं। तीसरे, इसमे वह प्रादेशिक जलभाग होता है जिसमे किनारे के जलभाग की वह समुद्रीय पेटी सम्मिलित है जो निचले जल-चिह्न से नाप में तीन मील चौडी है। चौथे, इसमे इसके क्षेत्रीय भूमि तथा जलभाग के ऊपर के आकाश का भाग सम्मिलित है।

सीमाएँ :—सीमाएँ एक राज्य के क्षेत्र को सीमाओ को दूसरे राज्य के क्षेत्र से पृथक् करती हैं, और राज्य के क्षेत्रीय अधिकार के भाग हैं। सीमाएँ प्राकृतिक अथवा अप्राकृतिक हो सकती हैं। प्राकृतिक सीमाओ मे नदियाँ (जिस प्रकार रावी नदी जो कि पूर्वी तथा पश्चिमी पंजाब की, जो भारत तथा पाकिस्तान के यथाक्रम भाग है, सीमाओ को अलग करती है), पर्वत जिस प्रकार हिमालय (जो भारत की सीमा की रक्षा करता है), मरुभूमि, जंगल तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुएँ हैं। अप्राकृतिक सीमाएँ काल्पनिक सीमा की रेखाएँ हैं जो प्रदेशो के विभाजन के प्रयोजन से बनाई जाती हैं। उनमे दीवालें, स्तम्भ, लकड़ी के टुकडे इत्यादि सम्मिलित है। मेकमोहन रेखा चीन और भारत के बीच की विभाजक रेखा मानी गई है।

सीमा पर स्थित झील भी दो या अधिक राज्यो के बीच के भू-भाग को एक काल्पनिक सीमा रेखा द्वारा निश्चित करती है जो झील के मध्य से पार होती है।

समुद्रीय पेटी की सीमा-रेखा अनिश्चित है और वह किनारे से तीन मील से अधिक समीप नही जा सकती है।

अप्राकृतिक सीमाएँ एक प्रकार से कल्पना से उत्पन्न सीमाएँ होती हैं जो साधारणतया एक राज्य को दूसरे राज्य से पृथक् कर देती हैं। उनके अन्तर्गत दीवार, स्तम्भ, खंभे आदि आ सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और कैनाडा के बीच की आधे से अधिक सीमा-रेखाएँ इसी प्रकार की कृत्रिम रेखाएँ हैं।

अनेक प्रसगो मे विवाद-ग्रस्त सीमाओ ने बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राज्य विवाचनो (arbitrations) का प्रश्न उत्पन्न किया है। १६०३ का अलास्का-बाउण्डरी आर्बीट्रेशन इस बात का सबसे प्रबल उदाहरण है। यह आर्बीट्रेशन संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन के बीच कैनाडा की ओर से किया गया था। प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् से अब तक अनेक सीमा-रेखाकन आयुक्तो की नियुक्ति की जा चुकी है। विवादो का निर्णय किसी देश के वास्तविक आधिपत्य और भौगोलिक स्थिति को देखकर किया जाता है।

अध्याय

राज्य

(State Te

राज्य-क्षेत्र भूतल का वह भाग है
सत्ता का प्रयोग करता हो। इसमें भूमि प्रदे
तथा प्रदेश के ऊपर के आकाश का भाग तथा

क्षेत्रीय प्रभुसत्ता की सीमाएँ :—
अविभाज्य है परन्तु इस सामान्य नियम के
प्रदेश दो या अधिक शक्तियों द्वारा बाँट लि
में विभक्त हो जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ
किसी विदेशी राज्य को पट्टे पर दिया जा सकता
है। सन् १६४१ में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा संयुक्त राज्य
इत्यादि में नाविक तथा हवाई अड्डों के लिए प्रदेश
देना इसके अन्य उदाहरण हैं। संयुक्त राज्य तथा
का सुरक्षा-समझौता, जिसके द्वारा संयुक्त राज्य को
रूप से उपयोग करने को दे दिया गया है तथा
(न्यायालय) को अपने व्यक्तियों तथा उनके आश्रितों
रखने की व्यवस्था की है, यह जापान की असीमित
जाता है। कभी-कभी एक प्रदेश के ऊपर प्रभु-सत्ता अन्य
प्रयोग की जा सकती है क्योंकि उस प्रदेश में ऐसी पिछ
जिन्होंने किसी भी सीमा में स्वराज्य प्राप्त नहीं किया,
सित प्रदेश अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यास रखने की पद्धति।
तथा सदस्य राज्यों के मध्य में भी विभक्त हो सकती है।
परम्परागत धारणा में तीव्र परिवर्तन हो गया है जिसके अनुसार
निश्चय व्यक्त होना था। रूस द्वारा निर्दिष्ट पूर्वीय यूरोप
प्रभावित पश्चिम के गुटों के बनने के कारण जिसको पूर्व
युद्ध भी कहा जाता है, राज्य-रूपी व्यक्तियों को पारस्परिक
राजनैतिक सहयोग पर आधारित समुदायों में परिवर्तन करने की प्रवृति
जिसके द्वारा उनमें से किसी गुट में पड़ने वाले राज्य का बाह्य मामलों में
अप्रतिबंधित आत्म-निश्चय संक्षिप्त हो गया है।

के व्यापारी तथा युद्ध-पोतों के लिए खोल दी गई। नहर में स्थायी रूप से कोई दुर्ग बनाने की अनुमति नहीं दी गई।

नहर इजिप्ट के प्रदेश में स्थित है। किन्तु इसकी रक्षा ब्रिटेन की दुर्गरक्षक सेना द्वारा होती रही। नहर ब्रिटिश कामनवेल्थ की जीवन शक्ति समझी जाती है और ग्रेट ब्रिटेन ने इसकी रक्षा अपने हाथों में ले रक्खी थी।

ब्रिटेन तथा इजिप्ट, दीर्घकालीन समझौता वार्ता के उपरान्त ब्रिटिश सेनाओं को स्वेज नहर के क्षेत्र से हटाने पर सहमत हो गये। स्वीकार-पत्र पर २७ जुलाई सन् १९५४ को काहिरा में हस्ताक्षर किए गए। इसमें यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सेनाओं को नहर के क्षेत्र से २० मास के अन्दर खाली कर दिया जाय और यदि अरब राज्यों अथवा टर्की द्वारा आक्रमण हो तो इसमें पुनः कार्य-सचालन आरम्भ कर दिया जाय तथा इस अड्डे की देख-भाल ब्रिटेन के एक नागरिक ठेका लेने वाले फर्म द्वारा किया जाय। नये स्वीकार-पत्र की अवधि सात वर्ष की थी।

स्वेज नहर का जुलाई १९५६, को कर्नल नसीर द्वारा राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। फलस्वरूप युद्ध की प्रबल तैयारियाँ होने लगीं। सुरक्षा परिषद् तथा साधारण सभा के हस्तक्षेप से शान्तिमय वातावरण वापस लाया जा सका। स्वेज नहर का विस्तृत विवरण 'सुरक्षा परिषद् के कार्यों का सिंहावलोकन' नामक अध्याय में दिया गया है।

कील नहर :—यह बाल्टिक तथा उत्तर सागर को जोड़ती है। यह पूर्णत: जर्मन प्रदेश के भीतर से होकर बहती है। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व यद्यपि जर्मनी ने इसे अन्य राज्यों के जलपोतों के लिए खोल रखा था, फिर भी उसे यह अधिकार था कि अपनी इच्छानुसार बन्द कर दे। वर्साई की सन्धि (१९१९) में यह व्यवस्था की गई कि कील नहर तथा उसमें पहुँचने के मार्गों की देखभाल बिना किसी कर लगाये की जायगी तथा यह उन सभी राज्यों के व्यापारिक तथा युद्ध-पोतों के लिए पूर्ण समानता की शर्तों पर खुला रखा जायेगा जो जर्मनी के साथ मैत्री का सम्बन्ध रखेंगे।

नवम्बर १४ सन् १९३६ को जर्मनी ने वर्साई की सन्धि में कील नहर संबंधी व्यवस्था को केवल अपने पक्ष में भंग कर दिया। इसके उपरान्त जनवरी १९, सन् १९३७ को जर्मनी के नौसेना अधिकारियों ने एक अधिनियम निकाला जिसके अनुसार विदेशीय जलपोतों से यह अपेक्षा की गई कि वे नहर में प्रवेश करने के पूर्व आज्ञा प्राप्त करें।

पनामा नहर—पनामा नहर की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति 'हे पान्सफोर्ट सन्धि' (Hay-Pauncefote Treaty) के अनुबन्धों द्वारा निश्चित की गई है जो संयुक्त

नदियाँ :—नदियाँ तटस्थ राज्य के क्षेत्र की भाग है। जहाँ कोई नदी किसी राज्य के क्षेत्र अथवा सीमाओं के भीतर पूर्णरूप से पड़ती है, पूर्णतः उसी राज्य की हो जाती है, जैसे टेम्स नदी। ऐसी नदियों को राष्ट्रीय नदियाँ कहा जाता है। किसी विदेशी राज्य के सार्वजनिक तथा वैयक्तिक जहाज राष्ट्रीय नदियों में सन्धि अधिकारों अथवा भूतकाल से चिरकालीन उपयोग द्वारा रीति से प्राप्त अधिकारों के बिना नहीं चल सकते। वे नदियाँ जो कई राज्यों के मध्य से पार होती हैं राष्ट्रीय नदियाँ नहीं हैं और प्रत्येक राज्य नदी के उस भाग का अधिकारी होता है जो उसके प्रदेश के मध्य से पार होती है। ऐसी नदियों में नदी के तट पर स्थित राज्य नदी के ऐसे भागों पर जो उसके प्रदेश में पड़ती हैं, जल में यातायात को नियमित कर सकते हैं और नदी से असम्बद्ध राज्यों के जलयानों को बहिष्कृत कर सकते हैं। इसके उपरान्त ऐसी नदियाँ हैं जो सन्धियों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय बना दी गई हैं। पेरिस की सन्धि (१८५६) ने अन्तर्राष्ट्रीय डेन्यूब आयोग नियुक्त किया जिसमे डेन्यूब नदी पर जलपोतों का यातायात नियमित किया गया। सन् १९४७ के पेरिस के शान्ति सम्मेलन ने यह निर्धारित किया कि डेन्यूब सब राज्यों के लिये बिना किसी अवरोध के खोल देनी चाहिए। भारत और पाकिस्तान के बीच पड़ने वाली नदियाँ भी इसी प्रकार उभय राष्ट्रीय नदियाँ है।

नहरें :—नहरें कृत्रिम रूप से बनाई जाती हैं और ऐसी दशा में वे उस देश की भाग हैं जिसके क्षेत्र में वे स्थित हैं। नहरों को कभी-कभी तटस्थ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया जा सकता है जब सामुद्रिक शक्तियाँ उन जल-भागों के भीतर सामुद्रिक शत्रुता न करने के लिए सहमत हो जाते हैं। स्वेज नहर, दार्दनेलीज, बोसफोरस, कील नहर तथा पनामा नहरें ऐसी झीलों के उदाहरण हैं जिनको समय समय पर अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है।

स्वेज नहर :—यह मध्य सागर तथा लाल सागर को मिलाती है। यह पहले एक फ्रांसीसी कम्पनी के अधिकार में थी। इस पर नियन्त्रण का अधिकार ब्रिटिश सरकार के हाथ में था। इस नहर के चार्टर की अवधि नवम्बर १७ सन् १९६९ को समाप्त होती। उस समय यह मिस्र देश की पूर्णतः सम्पत्ति होने को थी। मार्च सन् १९४९ तक कम्पनी के ३२ सचालकों में से केवल दो इजिप्टवासी थे किन्तु उसी मास की सातवी तिथि को हस्ताक्षरित एक स्वीकार-पत्र द्वारा पाँच और इजिप्ट देशवासी सचालक नियुक्त किये गये।

सन् १८८८ की कुस्तुनतुनियाँ के अभिसमय में जो ग्रेट ब्रिटेन, आस्ट्रिया हंगरी, फ्रांस, जर्मनी, हालैंड, इटली, स्पेन, रूस तथा टर्की के मध्य में हुई थी, इसे तटस्थ कर दिया गया। इस सन्धि द्वारा नहर शान्ति तथा युद्ध के समय सब राज्यों

के व्यापारी तथा युद्ध-पोतों के लिए खोल दी गई। नहर में स्थायी रूप से कोई दुर्ग बनाने की अनुमति नहीं दी गई।

नहर इजिप्ट के प्रदेश मे स्थित है। किन्तु इसकी रक्षा ब्रिटेन की दुर्गरक्षक सेना द्वारा होती रही। नहर ब्रिटिश कामनवेल्थ की जीवन-पंक्ति समझी जाती है और ग्रेट ब्रिटेन ने इसकी रक्षा अपने हाथो मे ले रक्खी थी।

ब्रिटेन तथा इजिप्ट, दीर्घकालीन समझौता वार्ता के उपरान्त ब्रिटिश सेनाओं को स्वेज नहर के क्षेत्र से हटाने पर सहमत हो गये। स्वीकार-पत्र पर २७ जुलाई सन् १९५४ को काहिरा में हस्ताक्षर किये गए। इसमें यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटिश सेनाओं को नहर के क्षेत्र से २० मास के अन्दर खाली कर दिया जाय और यदि अरब राज्यों अथवा टर्की द्वारा आक्रमण हो तो इसमे पुनः कार्य-संचालन प्रारम्भ कर दिया जाय तथा इस अड्डे की देख-भाल ब्रिटेन के एक नागरिक ठेका लेने वाले फर्म द्वारा किया जाय। नये स्वीकार-पत्र की अवधि सात वर्ष की थी।

स्वेज नहर का जुलाई १९५६, को कर्नल नसीर द्वारा राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। फलस्वरूप युद्ध की प्रबल तैयारियाँ होन लगी। सुरक्षा परिषद् तथा साधारण सभा के हस्तक्षेप से शान्तिमय वातावरण वापस लाया जा सका। स्वेज नहर का विस्तृत विवरण 'सुरक्षा परिषद् के कार्यों का सिंहावलोकन' नामक अध्याय मे दिया गया है।

कील नहर:—यह बाल्टिक तथा उत्तर सागर को जोडती है। यह पूर्णतः जर्मन प्रदेश के भीतर से होकर बहती है। प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व यद्यपि जर्मनी ने इसे अन्य राज्यों के जलपोतो के लिए खोल रक्खा था, फिर भी उसे यह अधिकार था कि अपनी इच्छानुसार बन्द कर दे। वर्साई की सन्धि (१९१९) में यह व्यवस्था की गई कि कील नहर तथा उसमे पहुँचने के मार्गों की देखभाल बिना किसी कर लगाये की जायगी तथा यह उन सभी राज्यों के व्यापारिक तथा युद्ध-पोतो के लिए पूर्ण समानता की शर्तों पर खुला रक्खा जायेगा जो जर्मनी के साथ मैत्री का सम्बन्ध रखेंगे।

नवम्बर १४ सन् १९३६ को जर्मनी ने वर्साई की सन्धि में कील नहर संबंधी व्यवस्था को केवल अपने पक्ष से भंग कर दिया। इसके उपरान्त जनवरी १९, सन् १९३७ को जर्मनी के नौसेना अधिकारियों ने एक अधिनियम निकाला जिसके अनुसार विदेशीय जलपोतो से यह अपेक्षा की गई कि वे नहर में प्रवेश करने के पूर्व आज्ञा प्राप्त करें।

पनामा नहर—पनामा नहर की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति 'हे पौन्स-फोटे सन्धि' (Hay-Pauncefote Treaty) के अनुबन्धो द्वारा निश्चित की गई है जो संयुक्त

राज्य तथा ग्रेट ब्रिटेन के मध्य सन् १६०२ मे हुई थी । । इसके अनुसार यह नहर सब राज्यो के व्यापारिक तथा युद्ध-पोतो के लिए खोल दी गई है ।

वस्तुत: इस नहर का क्षेत्र पनामा के गणतंत्र का भाग है । १६०३ में संयुक्त राज्य अमेरिका और पनामा गणतंत्र के बीच एक सन्धि हुई थी । इस सन्धि के अनुसार पनामा की स्वतन्त्रता की गारंटी अमेरिका ने दी थी जिसमें पाँच मील की दूरी तक निर्माण-अधिकार को संचित कर लिया गया था । १६३६ मे इस सन्धि में सुधार किया गया और पनामा के गणतंत्र को नहरी क्षेत्र मे और भी व्यापक क्षेत्राधिकार प्राप्त हो गये । अमेरिका के उपरोक्त प्रभुता को छोड़कर अन्य सभी प्रसंगों मे यह नहर अपनी तटस्थता को स्थिति को बनाये हुए है ।

जलडमरूमध्य—सब जलडमरूमध्य क्षेत्रीय होते हैं जो ६ मील से अधिक चौड़े नही होते । कुछ जलडमरूमध्य विशेष स्थानीय विनियमो (regulations) के अन्तर्गत हैं, जैसे दार्देनिलीज तथा बासफोरस के जलडमरूमध्य ।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा कर्फू चैनल केस, आई० सी० जे० प्रतिवेदन १६४६, पृ० ४ (Corfu Channel Case I. C. J. Reports 1949, p. 4) में यह कहा गया है कि यह सामान्यत स्वीकृत है और अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ि के अनुसार है कि राज्यो को शान्ति के समय अपने युद्ध-पोतो को उन जलडमरूमध्य के बीच से जो दो समुद्रो के भागो के मध्य मे अन्तर्राष्ट्रीय नौचालन के लिए उपयोग मे लाये जाते हैं, तटवर्ती राज्य की बिना पूर्व अनुमति प्राप्त किये भेजने का अधिकार है, किन्तु अनुबन्ध यह है कि यात्रा निर्दोष हो ।

सामुद्रिक पेटी—सामुद्रिक पेटी समुद्र का वह भाग है जो तट के राज्य के प्रभुत्व मे हो । इस बात पर सर्वसम्मति यही है कि समुद्र का खुला भाग राष्ट्रीय सम्पत्ति नही हो सकता । समुद्र का केवल ऐसा भाग जो तटवर्ती जल-भाग है, तट के राज्य की सम्पत्ति है । पुन: ये जलभाग राष्ट्रीय नहीं हैं वरन् क्षेत्रीय हैं यद्यपि उस घेरे मे अथवा पेटी मे सम्मिलित हैं जिनमे विदेशी राज्यो को अपने व्यापारी जलपोतो को निर्दोष रूप से चलाने का अधिकार है । उनको क्षेत्रीय जल भाग अथवा 'पार्श्ववर्ती पेटी' भी कहा जाता है जिन पर तट के राज्य को सम्पूर्ण क्षेत्रीय-प्रभुसत्ता प्राप्त है । सामुद्रिक पेटी की चौड़ाई के सम्बन्ध मे बिन्करशूक (Bynkershoek) का मत यह है कि समुद्र का उतना भाग जितनी दूर तक कि तोप का एक गोला पहुँच सके, तटवर्ती राज्य की सम्पत्ति होनी चाहिए । यह मत प्रारम्भ में बहुत से लेखको द्वारा ग्रहण किया गया । १८वी शताब्दी के अन्त में तोप का गोला लगभग ३ मील तक पहुँच सकता था, किन्तु इस नियम के अनुसार यह सीमा स्थिर नही रह सकती क्योंकि ज्यों-ज्यों आधुनिक आग्नेय अस्त्रो मे गोलो की मार में

दूरी बढती जायगी त्यों-त्यों यह भी बढती जायगी। ग्रोशस (Grotius) ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि प्रभुत्व उस दूरी तक सीमित कर दिया जाय जहाँ तक कि सरक्षण तट से पहुँच सके। वैटेल (Vattel) का यह कथन था कि सामान्यत राज्य का प्रभुत्व पार्श्ववर्ती समुद्र पर वहाँ तक रहता है जहाँ तक यह उसकी सुरक्षा के लिये आवश्यक हो तथा वह अपनी शक्ति से स्थापित कर सके।

ग्रेट ब्रिटेन ने भी क्षेत्रीय जल भाग क्षेत्राधिकार अधिनियम (१८७८) (Territorial Waters Jurisdiction Act, 1878) की धारा ७ को अधिनियमित करके पेटी की चौडाई को तीन समुद्रीय मील निर्धारित किया अर्थात् जल-चिन्ह के नीचे से तीन समुद्रीय मील, और अंग्रेजी न्यायालयों का क्षेत्राधिकार क्षेत्रीय जल भागों पर किये गये अपराधों के ऊपर भी बढा दिया। यह अधिनियम फ्रैंकोनिया वाले मामले (R. v. Keyn, 1876, 2 Ex D 63) में दिये गये निर्णय के निराकरण के लिए पारित किया गया जिसमें यह निर्णय किया गया था कि विधि के नियमों की अनुपस्थिति में ब्रिटेन के दड-न्यायालयों को एक विदेशी द्वारा विदेशी जलपोत पर उसके क्षेत्रीय जल-भाग में किये गये अपराधों के ऊपर कोई क्षेत्राधिकार नहीं है। सन् १८८८ के स्वेज नहर अभिसमय (Suez Canal Convention, 1888) द्वारा भी तीन मील का फैलाव स्वीकृत किया गया।

यद्यपि पेटी के फैलाव के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है तो भी यह रूढ़ि के नियम के रूप में स्वीकृत किया गया है कि न्यूनतम चौडाई तीन मील है और तट के राज्य तटस्थ जल-भाग की उस चौडाई पर प्रभु व रख सकते हैं जो किनारे से तीन मील के भीतर पडे। ग्रेट ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका का भी यही विचार है। नार्वे तथा डेनमार्क चार मील की सीमा मानते हैं, टर्की तथा यूरागवे पाँच मील तथा फ्रान्स और स्पेन ■ मील की सीमा पर सहमत हैं।

सामुद्रिक पेटी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सब राज्यों के व्यापारिक पातों के लिए निष्कपट रूप से नाव-सचालन के लिए खुली है, यद्यपि तट के राज्य का यह अधिकार है कि वह सामुद्रिक शिष्टाचारों के सम्बन्ध में ऐसे विदेशी व्यापारिक जलपोतों द्वारा किये जाने के लिए विधियाँ तथा विनियम बनाये। इस प्रकार की निष्कपटता से नाव-सचालन का अधिकार खुले हुए समुद्रों की स्वतन्त्रता का ही परिणाम है। तट के राज्य विदेशी जलपोतों के ऐसे आवागमन के लिए कोई पथ-कर नहीं ले सकते और न तो यह शान्ति के समय में वैदेशिक युद्ध-पातों के आवागमन को अपने सामुद्रिक पेटी में रोक सकते हैं। किन्तु तट के राज्य को यह अधिकार है कि वह मत्स्यालयों को तथा तटवर्ती व्यापार को अपनी प्रजा के लिए सुरक्षित रक्खे तथा पुलिस अधिकारों का प्रयोग करे तथा नियन्त्रण रक्खे अथवा

सामुद्रिक पेटी के भीतर सामुद्रिक शिष्टाचार लागू करे । संक्षेप में जैसा सर राबर्ट फिलिमोर (R. Phillimore) द्वारा R. v. Keyn में व्यक्त किया गया है, इस प्रकार का तीन मील की दूरी पर आधिपत्य सीमित ढंग का होता है । यह समीपवर्ती तट के संरक्षण के प्रयोजन तक सीमित है जिसके लिए यह दिया गया था और सब आने-जाने वाले जहाजों पर सामान्य प्रभु-सत्ता के रूप में फैला हुआ नहीं है ।

तटीय व्यापार :—तटीय व्यापार के सम्बन्ध में नियम यह है कि तट के राज्य को यह अधिकार है कि यह इसे केवल अपने लिए सुरक्षित रक्खे । प्रारम्भ में तटीय व्यापार से उसी किनारे पर स्थित दो बन्दरगाहों के बीच का व्यापार समझा जाता था किन्तु अब इसका अर्थ उस देश के किसी दो बन्दरगाहों के बीच के व्यापार में विस्तृत हो गया है, चाहे वे उसी तट पर स्थित हों या उसी देश के भिन्न-भिन्न तटों पर ।

खाड़ियाँ तथा आखात (Bays and Gulf) :—आखात तथा खाड़ियाँ, जिनका समुद्र से प्रवेश-द्वार छः मील से अधिक चौड़ा नहीं है (पार्श्ववर्ती पेटी की चौड़ाई का दुगना) आन्तरिक अथवा क्षेत्रीय हैं । यदि यह आर-पार छः मील से अधिक हो तो दोनों ओर के तीन-तीन मील क्षेत्रीय शक्ति की सम्पत्ति होती है, बीच का जलमार्ग और खुले हुए समुद्र का भाग है जो किसी राज्य की सम्पत्ति नहीं है वरन् सबके समान उपयोग के लिए है । फिर भी यह नियम दृढ़ नहीं है क्योंकि कुछ ऐतिहासिक आखात भी हैं जो यद्यपि अधिक चौड़े हैं किन्तु क्षेत्रीय जल-भाग माने जाते हैं । कुछ अन्य लोग हैं जो १० मील से भी आखात को क्षेत्रीय जल भाग मानते हैं । यह मत सन् १८८२ की उत्तरीय समुद्र अभिसमय द्वारा ग्रहण किया गया था और सन् १९१० में स्थायी पंचायती न्यायालय द्वारा निर्णय किये गये उत्तरी अटलांटिक तटीय मत्स्यालयों वाले मामले में भी स्वीकृत किया गया । इस नियम के अतिरिक्त क्षेत्रीय क्षेत्राधिकार का दावा चौड़ाई की अपेक्षा न करते हुए भी किया जा सकता है, जिसका आधार दीर्घकालीन उपयोग अथवा ऐतिहासिक प्राप्ति जो अनन्तर अन्य राज्यों द्वारा स्वीकृत की गई हो ।

बन्दरगाह (Ports) :—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इन्स्टीट्यूट ने स्टोकहोम में १९२८ में घोषित किया था कि बन्दरगाह वास्तविक स्वत्व वाले राज्य के क्षेत्र माने जायेंगे, किन्तु उन पर विदेशी पोतों के आवागमन की भी व्यवस्था रहेगी ।

बन्दरगाहों पर उस राज्य का अधिकार होते हुये भी वैदेशिक जहाजों को उनके प्रयोग से सर्वथा वंचित नहीं किया जा सकता । नियम तो यह है कि बन्दरगाहों को शान्ति के समय सदैव अन्तर्राष्ट्रीय यातायात के लिए खुला रखा

चाहिये, किन्तु सैनिक बन्दरगाहो को विदेशी जहाजो के रुकने या व्यापारिक जहाजो के आने से रोक देना भी रक्षा की दृष्टि से अनुचित नही कहा जा सकता।

तीव्र पीछा का सिद्धान्त

(The Doctrine of Hot Pursuit)

"किसी पोत का समुद्र मे पीछा किया जा सकता है अथवा उसे पकड़ा जा सकता है यदि वह पोत अथवा उसमे बैठा हुआ व्यक्ति किसी विदेशी राज्य के कानूनो का उस समय अतिक्रमण करता है जबकि वह उसकी क्षेत्रीय जलसीमा मे पहुँच गया है। इसे तीव्र पीछा का सिद्धान्त अथवा 'The Doctrine of Hot Pursuit' कहते हैं। यह सिद्धान्त किसी सलग्न राज्य के युद्धपोत को यह अधिकार देता है कि वे समुद्र मे ऐसे पोत का तुरन्त ही पीछा करें, उन्हे गिरफ्तार करें और विचारण के लिये बन्दरगाह तक वापस ले आवें। इसके अन्तर्गत वे सभी व्यापारिक पोत आते हैं जिन्होंने किसी राज्य की क्षेत्रीय जलसीमा का उल्लघन किया है।"

राष्ट्रों की विधि के सहिताकरण सम्बन्धित हेग कान्फ्रेंस (१९३०) के अतिम अधिनियम, जो कि क्षेत्रीय सागर की वैध स्थिति (Legal Status of the Territorial Sea) के सबध मे था, द्वारा एक मसौदा तैयार किया गया। उसके अनुसार "विदेशी पोतो का पीछा करना जो कि तटवर्ती राज्य के नियमो और कानूनो का उल्लघन करते हैं, उस समय आरम्भ होता है जबकि विदेशी पोत राज्य के भीतरी जल-क्षेत्र मे या क्षेत्रीय समुद्र के भीतर हो। यदि पीछा का विरोध न किया गया तो क्षेत्रीय सीमा के बाहर भी उस पोत का पीछा किया जा सकता है। पीछा करने का अधिकार उसी समय समाप्त हो जाता है जबकि वह पोत जिसका कि पीछा किया गया है, अपने राज्य के क्षेत्रीय समुद्र या तीसरे राज्य के क्षेत्रीय समुद्र मे प्रवेश कर जाता है।"

तीव्र पीछा का अधिकार Story J. द्वारा 'Marianna Flora' [(1826) 11 Wheaton 1, 42] मे माना गया है। यद्यपि ऐसा कहा गया था कि "ऐसे मामला मे पक्षकार अपने खतरे पर पोत का गिरफ्तार करते हैं। यदि वह गिरफ्तार करने के काम को सिद्ध कर देते हैं तो वह न्यायोचित माना जायगा। अगर वह असफल रहते है तो वह क्षतियों की पूर्ति के उत्तरदायी होगे।"

इस सिद्धान्त को दी नार्थ (१९०६) ["The North" (1906) 37 Can. S. C. Rep. 385], के मामले मे मान्यता मिली जब कि कैनाडा के सुप्रीम कोर्ट ने निम्नलिखित विचार व्यक्त किये थे :—राष्ट्रो की विधि के अनुसार जबकि कोई पोत किसी विदेशी क्षेत्र मे उपस्थित होता है तो वह कानूनो को तोड़ता है, भले ही वह मत्स्यालयो (fisheries) की सुरक्षा के लिये अथवा उसके कर के लिये

या किनारो तक पहुँचने के लिये आया हो और उसका खुले समुद्र मे क्षेत्रीय सीमाओं के बाहर तुरन्त पीछा किया जा सकता है और गिरफ्तार किया जा सकता है ।"

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इन्स्टीट्यूट (The Institute of International Law) ने 'तीव्र पीछा' के सिद्धान्त को स्वीकार किया था और यह व्यवस्था की थी कि ऐसी गिरफ्तारियो की सम्बन्धित झंडे वाले राज्य के नाम अविलम्ब विज्ञप्ति निकाल दी जाय ।

'आई ऐम एलोन' (I'm alone) [(1933 : 1935) 3 Reports of Arbitral Awards, 1609] के मामले मे आयुक्तो का यह कथन था कि संयुक्त राज्य अभिसमय के अनुरूप आवश्यक और उचित और प्रभावकारी शक्ति का प्रयोग पोत को ढूंढने, पकड़ने और बन्दरगाह तक ले आने के सम्बन्ध में कर सकता है और यदि अकस्मात् पोत डूब जाय और इसका कारण तीव्र पीछा में प्रयोग की गई शक्ति हो, तो पीछा करने वाला पोत बिल्कुल निर्दोष माना जायेगा किन्तु आयुक्तो (Commissioners) का विचार था कि किसी सदेहजनक पोत को डुबो देना अभिसमय के अनुसार न्यायोचित नही है । आयुक्तो-का अन्तिम प्रतिवेदन यह था कि पोत को डुबो देना अन्तर्राष्ट्रीय विधि से न्यायोचित नही है और तीव्र पीछा का सिद्धान्त ऐसे मामले मे नही लागू किया जा सकता ।

जेनेवा कान्फ्रेंस, १९५८ :—सामुद्रिक क्षेत्र के सम्बन्ध मे १९५८ में जेनेवा कान्फ्रेंस के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय विधि कमीशन की निम्नलिखित संस्तुतियाँ थीं :—

(१) कमीशन इस बात पर सहमत है कि सामुद्रिक क्षेत्राधिकार के प्रसग में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों मे एकरूपता नही है ।

(२) कमीशन इस बात पर सहमत है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि क्षेत्रीय समुद्र की सीमा को १२ मील से परे नही स्वीकृत करता ।

(३) कमीशन समुद्र की चौडाई के सम्बन्ध मे कोई निर्णय न करते हुये भी इस निष्कर्ष तक पहुँचता है कि बहुत से राज्यो ने अपनी सीमा ३ मील से अधिक निर्धारित कर रखी है और कुछ तो इस सीमा को मानते ही नही ।

(४) कमीशन का विचार है कि क्षेत्रीय समुद्र का निर्धारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा होना चाहिये ।

परामर्श के पश्चात् पारस्परिक ३ मील की परिधि का प्रस्ताव दो तिहाई बहुमत से कान्फ्रेंस में पारित न हो सका ।

नभ पर सर्वोच्च-सत्ता (Sovereignty over the Air) :—यह सार्वभौमिक रूप से मान्य है कि ऊपर आकाश का क्षेत्र तथा समुद्र का खुला हुआ भाग पूर्ण स्वतन्त्र हुआ करता है।

जहाँ तक आकाश का सम्बन्ध है, उसके क्षेत्रीय और राष्ट्रीय आधिपत्य के सम्बन्ध में न्याय-विचारकों में परस्पर मतभेद है। भिन्न-भिन्न सिद्धान्त इस प्रसंग में प्रतिपादित किये गये हैं। पहला सिद्धान्त यह है कि आकाश का भाग पूर्णरूप से स्वतन्त्र है और बिना किसी रोक-टोक के सब के लिये खुला है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार आकाश का निचला हिस्सा युद्ध आदि की दृष्टि से उस राज्य के अधीन है जिस पर नीचे प्रभुत्व है और ऊँचे का आकाशीय भाग इस प्रभुत्व से मुक्त है। तीसरा सिद्धान्त यह है कि आकाश का सुदूरवर्ती शून्य-प्रदेश उस राज्य के अन्तर्गत आता है जिसके राज्य के ऊपर वह स्थित है। तीसरे सिद्धान्त के अनुसार आकाश का ऊपर का भाग पूर्णतः अनिश्चित दूरी तक नीचे के राज्य के प्रभुत्व में आता है। चौथा और अन्तिम सिद्धान्त इस सम्बन्ध में यह है कि जहाँ तक शान्ति-यातायात का सम्बन्ध है, आकाश का भाग सब के लिये खुला है, किन्तु युद्ध-काल में अथवा सैनिक जहाजों की उड़ानों के लिये यह स्वच्छन्दता नहीं प्रदान की जा सकती।

पेरिस कान्वेन्शन:—प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व यह सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत था कि खुले हुये समुद्र तथा अनधिकृत प्रदेश में ऊपर के आकाश का भाग सबके लिए बिना बाधा के खुला रहना चाहिये। सन् १९१९ में पेरिस में हुए मुख्य राज्यों के सम्मेलन द्वारा एक प्रलेख स्वीकृत किया गया जो आकाशीय यान संचालन विनियम के सम्बन्ध में अभिसमय (Convention for the Regulation of Aerial Navigation) के नाम से प्रसिद्ध है। यह अभिसमय केवल शान्ति के समय लागू रहता है। संयुक्त राज्य अमेरिका इस अभिसमय में पक्षकार नहीं रहा। इस अभिसमय द्वारा संविदा करने वाले राज्यों ने यह स्वीकृत किया कि प्रत्येक राज्य को अपने प्रदेश तथा प्रादेशिक जलभाग के ऊपर स्थित आकाश-भाग पर सम्पूर्ण तथा अनन्य सर्वोच्च सत्ता है किन्तु प्रत्येक पक्षकार ने यह वचन दिया कि शान्ति के समय में यह अन्य पक्षकारों के व्यक्तिगत वायुयानों को निष्कपट आवागमन की स्वतन्त्रता उस समय तक देगा जब तक वे अभिसमय के नियमों का पालन करेंगे। प्रत्येक संविदा करने वाले राज्य ने सैनिक अथवा सार्वजनिक सुरक्षा के कारणों के लिए कुछ विशिष्ट क्षेत्रों के ऊपर वैयक्तिक उड़ान का निषेध करने का अधिकार अपने लिए सुरक्षित रक्खा।

हवाना कान्वेशन :—फरवरी १६२८ में कई अमेरिकीय राज्यों ने जिसमें संयुक्त राज्य सम्मिलित था, एक अभिसमय स्थापित किया जो हवाना अभिसमय के नाम से प्रसिद्ध है। यह व्यापारिक विमान चालन के लिये है और उसी आधार पर है जिस पर पेरिस का अभिसमय।

वारसा कान्वेशन :—वारसा अभिसमय जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय वायु परिवहन के सम्बन्ध में नियम निर्धारित किये गये अक्टूबर १२, सन् १६२६ को हस्ताक्षरित किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय वायु-परिवहन की शर्तों को नियमित करने वाले नियमों में सामञ्जस्य आ जाय।

शिकागो कान्वेशन अथवा वायु-परिवहन की पाँच स्वतन्त्रताएँ —सन् १६४४ में शिकागो में एक अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक विमान सम्मेलन (International Civil Aviation Conference) व्यापारिक वायु-परिवहन के अधिकारों के लिये विश्वव्यापी व्यवस्था स्थापित करने तथा इस विषय सम्बन्धी विशेष बातों को तथा यान-चालन सम्बन्धी विषयों को निश्चित करने के निमित्त हुआ।

शिकागो के कान्वेशन के अनुच्छेद १ द्वारा प्रत्येक राज्य को अपने क्षेत्र के ऊपर स्थित आकाश-भाग पर सम्पूर्ण तथा अनन्य सर्वोच्चसत्ता स्वीकृत की गई। फिर भी संविदा करने वाले राज्यों के क्षेत्र के आरपार बिना उतरे हुए उड़ने तथा उनके क्षेत्र में यातायात सम्बन्धी विषयों के लिये उतरने की स्वतन्त्रता इस अभिसमय द्वारा दे दी गई। सितम्बर १६४८ की पुलिस कार्यवाही के पूर्व सिडनी काटन की भारतीय सरकार की आज्ञा प्राप्त किये बिना भारतीय क्षेत्र के ऊपर से होकर हैदराबाद के उड़ान की भारतीय सरकार द्वारा इस आधार पर कटु आलोचना की गई कि उसकी यह यात्रा निष्कपट नहीं थी क्योंकि वह शस्त्र तथा गोला-बारूद हैदराबाद को ले जाने में लगा हुआ था। भारत के परिवाद पर ब्रिटिश हवाई मन्त्रिमंडल ने सिडनी काटन के उड़ान का लाइसेन्स निलम्बित कर दिया था।

शिकागो कान्वेन्शन में आकाश-उड़ान के लिये ५ प्रकार की स्वतन्त्रताएँ दी गईं। इन्हें 'नभ की पाँच स्वतन्त्रताएँ' 'Five Freedoms of the Air' कहा जाता है :—

१—विदेशी क्षेत्र में बिना उतरे हुये उड़ान।

२—अनायातायात उद्देश्यों से उतरना।

३—राज्य के वायु यातायात के उद्गम के सम्बन्ध में किसी विदेशी वायुयान सम्बन्धी प्रसंगों में उतरना।

४—यात्रियों को या डाक को जो उस राज्य क्षेत्र के लिये चली है, वहाँ पहुँचाना जहाँ का वह वायुयान नागरि—

५—दो विदेशी देशों में यातायात-सचालन।

इस स्वीकार-पत्र पर जो कि पारवहन की पाँच स्वतन्त्रताएँ प्रदान करता था केवल १६ राज्यो ने हस्ताक्षर किये, और अधिकाश राज्यो ने, जिसमे ग्रेट ब्रिटेन भी था, हस्ताक्षर नहीं किये। इसके पश्चात् एक दूसरा स्वीकार-पत्र अन्तर्राष्ट्रीय वायु सेना पारवहन सविदा (International Air Services Transit Agreement) तैयार किया गया जो कि केवल प्रथम दो स्वतन्त्रताएँ प्रदान करता था, अर्थात् विदेशी क्षेत्र मे बिना उतरे हुये उडान तथा अनायातायात उद्देश्य से उतरना। इस स्वीकार-पत्र पर १६४५ में ३३ राज्यो द्वारा हस्ताक्षर किये गये और १६५१ मे ४१ राज्यो मे यह लागू था, परन्तु सोवियत रूस इसमे पक्षकार नहीं था।

अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन सघ (International Civil Aviation Organization) —शिकागो सम्मेलन में की गई स्वीकृतियो के परिणाम-स्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन सघ सन् १६१६ के अन्तर्राष्ट्रीय वायुयान चालन-आयोग के स्थान मे स्थापित किया गया है। यह नया सघ सयुक्त राष्ट्र सघ के विशिष्ट साधनो मे से एक है और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अपीलाधिकार के अन्तर्गत अभिसमय की शर्तों के लागू होने के सम्बन्ध में सदस्यो के मध्य झगडो का निर्णय करता है। सन् १६५६ तक ७३ देश इस सघ में सम्मिलित हुए थे।

बेतार की खबरें —किसी राज्य की सीमा के ऊपर आकाशीय क्षेत्र का प्रभुत्व होता है। इसी प्रभुत्व के कारण वे दूसरे राज्यो को अपनी नभ-सीमा मे विषैली गैसो या सक्रिय किरणो को भेजने से रोकते हैं। १६०६ मे बर्लिन में अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर एक वायरलेस टेलीग्राफ कान्वेशन किया गया था। उस कान्वेंशन मे केन्द्रो से चलते हुए जहाजो पर खबरे भेजने के सम्बन्ध मे निश्चय किये गये थे। इसके पश्चात् १६१२ और १६१४ मे क्रमश लन्दन रेडियो टेलीग्राफी कान्वेंशन और लन्दन कान्वेशन किये गये थे। १६२७ मे वाशिंगटन कानफ्रेन्स किया गया जिसने एक सविदा अन्तर्राष्ट्रीय रेडियो टेलीग्राफ अभिसमय (International Radio Telegraph Convention) नाम पर तैयार किया। इस कान्वेशन के अनुच्छेद २ मे लिखा गया कि सविदा से सम्बन्धित सरकारें बेतार की खबरो को अन्तर्राष्ट्रीय सेवा और लोकहित के लिये उपयोग मे लायेंगी। १६३२ मे अन्तर्राष्ट्रीय टेली कम्युनिकेशन कान्वेशन मैड्रिड मे किया गया। उसके अन्तर्गत सविदा के पत्रकारो के बीच बेतार की खबरो को नभ मे भेजने के सम्बन्ध मे निश्चित और स्पष्ट नियम बना दिये गये। १६४८ मे युरोपियन ब्राडकास्टिंग कान्वेशन्स के आधार पर ब्राडकास्टिंग के केन्द्रों के निश्चित आधार और आकार स्थित कर दिये गये।

किसी राज्य की ऊपरी आकाशीय सीमा की मान्यता और 'यू-२' का दृष्टान्त :—१ मई १९६० को अमेरिकन लाकहीड यू-२ टर्की और पाकिस्तान से होता हुआ सोवियत भूमि की नभ सीमा मे अतिक्रमण कर गया। उसका उद्देश्य सैनिक और आयोगिक रहस्यो का पता लगाना था। यह अमेरिकी जहाज सोवियत रूस की सीमा मे २००० किलोमीटर तक भीतर घुस आया। किन्तु सोवियत राकेट द्वारा स्वर्डलोवस्क (Sverdlovsk) क्षेत्र मे गिराया गया। नैतिक, राजनैतिक और वैध दृष्टि से सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार की ओर से किया गया यह कार्य सर्वथा उचित नही कहा जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय कानून इस सिद्धान्त पर दृढ है कि किसी देश की प्रभु-सत्ता उसकी सीमाओ के ऊपर आकाश मे अनन्त दूरी तक फैली हुई है। यदि यहाँ तक की बाहरी वायुयानो को शान्तिपूर्ण उद्देश्यो से उडन की अनुमति प्राप्त है जैसा कि सेटएलाइट (satellite) की विदेशी क्षेत्रो मे उडना, फिर भी जहाँ तक जगी जहाजो का सम्बन्ध है और विशेष तौर से अमेरिकी यू-२ का सोवियत भूमि मे इतनी दूर तक घुस आना न्यायोचित नही है।

अमेरिकी उडाकू ने रूस की भूमि के ऊपर नभ की सीमा मे आकर अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अवज्ञा की। उसका पहला अपराध तो यह था कि यह अवैध ढग से सोवियत राज्य की सीमा मे आया था और दूसरा यह कि सैनिक रहस्यो का पता लगाकर वह अमेरिकी सरकार को सूचना देना चाहता था जो कि किसी राज्य का विशेष रूप से सुरक्षित रहस्य था। यह अपराध अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से वास्तव में एक अपराध और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन था।

सयुक्त राष्ट्र के चार्टर मे सभी सदस्य राष्ट्रो की संप्रभुता को समान दृष्टि से देखने का आश्वासन दिया गया है। अमेरिकी जेट विमान सोवियत भूमि अफगानिस्तान होते हुए पहुँचा। यहाँ भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से एक अपराध हुआ, क्योंकि उस विमान ने अफगानिस्तान की नभ-सीमा को बिना अफगान सरकार की सूचना के पार किया। सयुक्त राज्य अमेरिका स्वयं नभ-सीमा की प्रभुसत्ता पर बल देता है। अस्तु सोवियत भूमि मे अमेरिकी विमान का आना एक अन्तर्राष्ट्रीय अपराध था।

२५ जनवरी, १९६१, को अमेरिका के नये राष्ट्रपति जॉन एफ० केनेडी ने यह स्वीकार कर लिया कि भविष्य मे यू-२ के ढग की सीमा अतिक्रमण जैसी घटना सोवियत नभ क्षेत्र मे नहीं घटेगी।

सुविधा-भार या अधिसेविता (Servitudes) .—अब केवल राष्ट्रीय सुविधा-भार के प्रश्न की विवेचना करना शेष है। अन्तर्राष्ट्रीय सुविधा-भार एक विशिष्ट बन्धन है जो सन्धि द्वारा किसी विशेष राज्य की क्षेत्रीय प्रभु-सत्ता पर

लगाया जाता है जिसके द्वारा उस राज्य का क्षेत्र किसी शर्तों अथवा ऐसे प्रतिबन्धो के अधीन कर दिया जाता है जिससे अन्य राज्यो के हितो का साधन हो। इस प्रकार स्वीकृति द्वारा किसी राज्य को यह बाध्य किया जा सकता है कि वह समीपवर्ती राज्य की सेना को आने-जाने दे अथवा उसको समीपवर्ती राज्य के हित में अपने सीमान्त क्षेत्रो पर किलाबन्दी करने से रोका जाय।

स्वीकारात्मक तथा निषेधात्मक सुविधा-भार (Positive and Negative Servitudes) —सुविधा-भार स्वीकारात्मक अथवा निषेधात्मक रूप से हो सकता है। प्रथम का अर्थ यह है कि किसी राज्य को अन्य राज्य के क्षेत्र मे किसी विशिष्ट कार्य करने का अधिकार है, जैसे किसी विशेष क्षेत्र पर रेल-निर्माण करने तथा उसको चलाने का, चुगी घर स्थापित करने का, तथा अन्य राज्य के क्षेत्रीय जल-भागो पर मछली पकडने का अधिकार, इत्यादि है। निषेधात्मक से यह अर्थ प्रकट होता है कि सुविधा भार से बाध्य राज्य उस क्षेत्र पर कुछ कार्य करने से अपने को रोके अथवा किसी प्रकार से अपने क्षेत्रीय अधिकारो का प्रयोग करने से निषिद्ध किया जाय। इस प्रकार इसके द्वारा एक राज्य को यह अनुज्ञा दी जा सकती है कि वह राज्य यह माँग करे कि एक समीपवर्ती राज्य अपने सीमान्तो पर किलाबन्दी न करे अथवा कुछ विशिष्ट सीमा के बाहर अपनी भूमि तथा नौ-सेना को न बढावे।

सैनिक और आर्थिक अधिसेविता (सुविधा-भार) (Military and Economic Servitudes) :—ओपेनहेम ने दो प्रकार के सुविधा-भारों का और भी वर्णन किया है। उसे सैनिक और आर्थिक सुविधा-भार कहा जाता है। सैनिक सुविधा-भार सैन्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये होता है जैसे विदेशी क्षेत्र मे अपनी टुकडियाँ रखने का अधिकार या विदेशी क्षेत्र से सशस्त्र टुकडियाँ भेजना या यह माँग करना कि विदेशी प्रमुक क्षेत्र मे किलेबन्दी नही की जा सकती, या इसी प्रकार के अन्य अधिकार। आर्थिक सुविधा-भार व्यापारिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये होता है, तथा इसका उद्देश्य यातायात, या सामान्य व्यवहार के हेतु भी होता है, जैसे विदेशी क्षेत्रीय जल मे मछली पकडने का अधिकार, किसी नदी मे नौ-चालन मे चुंगी के लिये मुक्त क्षेत्र, रेलवे सचालन या विदेशी क्षेत्र से टेलीग्राफ, आदि की सुविधाएँ आदि इसके अन्तर्गत आती हैं।

राज्य अधिसेविता (सुविधा-भार) की वैधता :—यदि एक राज्य दूसरे राज्य के अधीन हो जाता है या उसमें विलीन हो जाता है तो उसके सुविधा-भार दूसरे मे प्रत्यावर्तित हो जाते हैं। राज्य के उत्तराधिकार पर क्षेत्रीय होने के कारण सुविधा-भार समाप्त नही हो जाते। सबधित राज्यो की इच्छा या अनुबध के आधार पर सुविधा-भार समाप्त हो सकते है, किन्तु साधारण स्थिति में उसका एक राज्य से दूसरे राज्य मे प्रत्यावर्तन हो जाता है।

अधिसेविता (सुविधा-भार) का अन्त :—सुविधाभार जो कि लोक-लक्षी अधिकार (rights in rem) हैं अनुबद्ध करने वाले राज्य अपने में संयुक्त अथवा सम्मिलित कर लेते हैं यदि सम्बन्धित राज्य उसमें विलीन होता है। सुविधा भार का अन्त अपने सम्बन्धित राज्यों के मध्य की गयी स्वीकृति द्वारा अथवा उस लाभ के अधिकारी राज्य की ओर से प्रकट अथवा अप्रकट त्याग द्वारा किया जा सकता है। उसका अन्त परिस्थितियों मे अत्यन्त आवश्यक परिवर्तनों (rebus sic stantibus) के कारण भी हो सकता है।

अध्याय १३

राज्य-क्षेत्र का अर्जन तथा अपहरण

(Acquiring and Losing State Territory)

प्रदेश प्राप्त करने के पाँच सामान्य प्रकार हैं :—

(१) कब्जा या दखल (Occupation) :—ओपेनहेम का कथन है कि दखल किसी राज्य का विनियोजन (appropriation) का वह कार्य है जिसके द्वारा वह स्वेच्छापूर्वक ऐसे प्रदेश के ऊपर प्रभुसत्ता प्राप्त कर लेता है जो उस समय अन्य राज्य की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत न हो। अतः यह किसी ऐसे राज्य के ऊपर प्रभुसत्ता स्थापना करने से सम्बन्धित है जो या तो किसी के दखल में न रहा हो अथवा हाल ही मे उसका पता लगा हो। अन्य शब्दो मे राज्य को दखल के प्रयोजन के लिए यह किसी की भी सम्पत्ति न होना चाहिए। दखल के लिए क्षेत्र को अवश्य ही अनधिकृत (resnullius) होनी चाहिए अर्थात् किसी के भी अधिकार मे उसे न होना चाहिए जिससे किसी राज्य का उस पर दखल हो सके। यह या तो ऐसा होना चाहिए कि उसमे कोई भी बसा न हो अथवा उसमे ऐसी जातियाँ बसी होनी चाहिए जो किसी ऐसे संघ के अधीन हो जो राज्य न समझा जाय।

वैटेल (Vattel) के अनुसार "All men have an equal right to things which have not yet come into the possession of any one, and these things belong to the person who first takes possession. When, therefore, a nation finds a country uninhabited and without an owner, it may lawfully take possession of it, and after it has given sufficient signs of its intention in this respect, it may not be deprived of it by another nation" अर्थात् ऐसी वस्तु, जिस पर पहले से किसी का दखल न हो किसी की भी समान रूप से हो सकती है। ऐसी वस्तु उसी की हो जाती है जो

पहले दखल कर लेता है। इसलिए जब कोई राष्ट्र किसी देश को निवासियों से रहित और किसी के स्वत्व से परे पाता है तो वह वैध ढंग से उस पर आधिपत्य कर लेता है। उस राष्ट्र की जब कुछ समय तक दृढ इच्छा उस क्षेत्र का अपने अन्तर्गत दखल रखने की बनी रहती है, तो फिर कोई अन्य राष्ट्र उसे दखल के अधिकार से वंचित नहीं कर सकता।

दखल के लिए राज्य की अनधिकृत सम्पत्ति पर कब्जा करने का विचार अथवा प्रबल इच्छा होनी चाहिये तथा उस पर उसे बस जाना चाहिये, अर्थात् दखल किये हुये क्षेत्र पर किसी न किसी प्रकार का नियन्त्रण स्थापित होना चाहिये। ओपेनहेम कहते हैं कि अधिकार प्राप्त करना तथा प्रशासन दो आवश्यक तथ्य हैं जिनसे दखल प्रभावपूर्ण होता है। अधिकार करने से उनका आशय यह है कि दखल करने वाला राज्य-क्षेत्र को अपने निकाय (corpus) में उस पर प्रभु-सत्ता स्थापना करने के सकल्प (animus) से ले ले। यह संकल्प क्षेत्र पर बसने तथा उसके साथ ही साथ कोई ऐसा नियमानुसार कार्य करने से होता है जिससे ये दोनों ही बातें प्रकट हों कि क्षेत्र पर कब्जा कर लिया गया है और कब्जा करने वाला उसको अपनी प्रभु-सत्ता के अधीन रखने की इच्छा रखता है। यह सामान्यतः नियमानुसार विनियोजन की घोषणा द्वारा अथवा झंडा को गाड़ने द्वारा किया जाता है जो प्रभुसत्ता का प्रतीक है। प्रशासन से ओपेनहेम का यह आशय है कि कब्जा करने वाले को उस क्षेत्र पर किसी प्रकार का प्रशासन स्थापित करना चाहिये जिससे कि यह प्रकट हो कि क्षेत्र वास्तव में नये कब्जा करने वाले द्वारा शासित होता है।

जर्मनी की वैध स्थिति (Legal Status of Germany).—जर्मनी की पराजय और मित्र-राष्ट्रों को बिना किसी शर्त के समर्पण कर देने से उसकी वैध स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं उपस्थित हुआ, क्योंकि उसकी इस पराजय का परिणाम यह नहीं हुआ कि जर्मनी न्यायिक रूप से (de jure) विजेता राष्ट्रों के अधीन हो गया। पहले तो मित्र-राष्ट्रों की सेना ने जर्मनी का संपूर्ण क्षेत्र जीत लिया और जर्मनी की सरकार को उलट दिया गया। किन्तु युद्ध की समाप्ति पर तीन महान् शक्तियों (The Big Three) की बैठक बर्लिन के पोट्सडम नामक स्थान में हुई। सम्मेलन जुलाई १७, से अगस्त २,१९४५ तक हुआ। इसमें एक समझौते पर लोग पहुँचे जिसके अनुसार विदेश-मंत्रियों की एक परिषद बनाई गई जिसके ऊपर शान्ति समझौता की प्रारम्भिक तैयारी करने का कार्य दिया गया। इस परिषद् में युनाइटेड किंगडम, सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक संघ, चीन, फ्रान्स और संयुक्त राज्य के विदेश मन्त्री रखे गये। समझौते के अनुसार जर्मनी के प्रशासक मशीनरी का जहाँ तक सम्बन्ध था, जर्मनी में सर्वोच्च अधिकार का प्रयोग उनकी क्रमशः सरकारों

के निर्देश पर होना था जिसमे से संयुक्त राज्य अमेरिका के कमाण्डर-इन-चीफ, युनाइटेड किंगडम, सोवियत सोशलिस्ट गणतन्त्र संघ, और फ्रेन्च गणतन्त्र अपने-अपने दखल की सीमा मे निर्देशक थे। संयुक्त रूप से भी ऐसे प्रसगो में जिनका कि पूरी जर्मनी से सम्बन्ध था, कन्ट्रोल-कौंसिल के सदस्य होने के नाते उनका प्रभुत्व था।

कुछ विद्वानो, जैसे जेनिंग्स, फ्रीडमैन और केल्सन (Jennings, Friedman and Kelsen) का कहना है कि जर्मनी पर प्राधिकार के इस प्रकार पृथक् रूप से ग्रहण करने के कारण तथा नाजी सत्ता के पूर्णतः समाप्त कर देने और प्रतिद्वंद्विता का पूर्ण रूप से लोप कर देने के कारण जर्मनी का अन्तर्राष्ट्रीय वैध व्यक्तित्व पूर्णतया समाप्त हो गया और तथ्यतः उसके क्षेत्रो पर उन शक्तियो का प्रभुत्व हो गया जिन्होने उसे जीता था।

किन्तु यह निष्कर्ष तर्कसगत नही प्रतीत होता, क्योंकि मित्र-राष्ट्रो ने यह स्पष्टतया घोषित कर दिया था कि वे किसी प्रकार से जर्मनी को अपने अधीन नहीं करना चाहते। ठीक इसके विपरीत उन्होंने घोषित किया था कि वे जर्मनी के राजनीतिक जीवन को फिर से प्रजातन्त्र के आधार पर निर्मित करना चाहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे भी जर्मनी द्वारा शान्ति-स्थापन कराना चाहते हैं। अस्तु, मित्र-राष्ट्रो ने जर्मनी पर जो प्रभुत्व स्थापित किया उसका तात्कालिक परिणाम केवल इतना हुआ कि उस समय की सरकार उलट दी गई, किन्तु कहीं इस बात की घोषणा नही की गई कि जर्मनी इन शक्तियो द्वारा अधीन कर लिया गया।

स्टार्क (Starke) का भी कहना है कि मित्र-राष्ट्रो द्वारा नियन्त्रण की प्रणाली स्पष्टतः एक अस्थाई व्यवस्थामूलक नियन्त्रण (of a provisional character) था, इसके अन्तर्गत किसी प्रकार के अधीनस्थ करने का प्रश्न नहीं था, पूर्ण रूप से वह ढाचे मे सैनिको था और उसका आधार जर्मन राज्य पर ही था और प्राविधिक युद्ध की स्थिति की निरन्तरता का परिणाम था।

सन् १९४६ मे ब्रिटिश विदेश मत्रालय ने [R. v. Bottrill, Ex Parte Kuechenmester (1946, 1 All E. R. 635) के मामले मे] घोषित किया था कि जर्मनी पूर्व ढग से अब भी एक राज्य है और उससे युद्ध का अभी अन्त नही हुआ है। चार विजेता शक्तियो ने जर्मनी को दखल रूप से चार क्षेत्रो (Four Zones) में बाँट दिया है और उनके कमाण्डर-इन-चीफ के हाथ मे उन क्षेत्रो का नियन्त्रण और प्रशासन दे दिया गया है और एक नियन्त्रण परिषद् बना दी गई है जिसमें चारो शक्तियों के कमाण्डर-इन-चीफ हैं और जो उन प्रसंगों का प्रशासन और नियन्त्रण करते हैं जिनका समूची जर्मनी से सम्बन्ध है।

१९४८ में बर्लिन में सोवियत 'वाक्-आउट' के कारण 'मित्र-राष्ट्रों के कन्ट्रोल कमीशन' ने काम करना बन्द कर दिया और पश्चिमी शक्तियों ने एक एकीकृत 'West German State' (पश्चिमी जर्मन राज्य) की स्थापना का कार्य आरम्भ किया। इस प्रकार जर्मनी की 'फेडरल रिपब्लिक' की औपचारिक घोषणा २३ मई १९४९ को कर दी गई और बॉन (Bonn) को पश्चिमी जर्मनी राज्य की राजधानी घोषित किया गया।

पूर्वी क्षेत्र में साम्यवादियों के नेतृत्व में 'जर्मन पीपुल्स कौंसिल' अर्थात् जर्मन जन-परिषद् ने ७ अक्टूबर १९४९ को अपने आपको "दी पीपुल्स एसेम्बली आफ दी जर्मन डीमाक्रेटिक रिपब्लिक" अर्थात् जनतन्त्रात्मक जर्मन गणतन्त्र की जनता की सभा घोषित किया और जर्मन ऐक्य के पुन. सस्थापन की अपील की और पूर्ण जर्मन प्रभुसत्ता को बल दिया गया तथा दखल करने वाली सेनाओं से वापस चली जाने का आग्रह किया गया।

अस्तु स्पष्ट है कि मित्र-राष्ट्रों द्वारा जर्मनी के क्षेत्रों को दखल में करना कभी भी वैध अधीनता के रूप में परिणत नहीं हुआ। यह एक प्रकार का नया प्रयोग था जिसमे युद्ध-स्थित दखल और अधीनत्व, दोनों तथ्यों की समान प्रबलता थी। समूचे युद्धों के इतिहास में यह एक अद्भुत और अपने ढग का अकेला प्रयोग था।

फारमूसा (ताइवान) की वैध स्थिति [Legal Status of Formosa (Taiwan)] :—फारमूसा और पेस्कैडोर्स, जो कि पहले चीनी क्षेत्र के अंग थे, १८ अप्रेल, १८९५ की शिमोनोस्की सधि द्वारा जापान को मिल गये। कैरो कान्फरेंस मे सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवल्ट, युनाइटेड किंगडम के प्रधान मत्री चर्चिल और चीन के राष्ट्रपति च्याग काई शेक ने दिसबर १, १९४३ को उद्घोषित किया कि वह समस्त क्षेत्र, जिसे कि चीन से जापान ने ले लिया था, जैसे कि मचूरिया, फारमूसा और पेस्कैडोर्स, चीन के गणतन्त्र का वापस कर दिया जायेगा। बर्लिन (पोट्सडम) के कांफरेंस मे सयुक्त राज्य के राष्ट्रपति, चीनी गणतत्र की राष्ट्रीय सरकार के राष्ट्रपति और ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधानमत्री ने २६ जुलाई १९४५ को पुन इस बात का निश्चय किया कि कैरो उद्घोषणा की शर्तों का अनुपालन किया जायेगा और जापान के साथ शान्ति स्थापित करने के लिए अन्य शर्तों मे यह एक निश्चित शर्त है।

सितम्बर २, १९४५ को जापान ने बिना किसी शर्त के सहायक शक्तियों के सामने समर्पण कर दिया और सयुक्त राज्य, चीन और ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानों द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त शर्त को जुलाई २६, १९४५ को पोट्सडम में स्वीकार कर लिया और बाद में 'सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स' के यूनियन द्वारा भी इस शर्त पर

स्वीकृति दे दी गई। च्याग काई शेक ने इस द्वीप का प्रशासन अक्टूबर १६४५ में अपने हाथो मे लिया। ८ सितम्बर १९५१, की सैन फ्रान्सिस्को की शान्ति-सन्धि में जापान ने कोरिया, फारमूसा और पेस्केडोर्स के सभी अधिकारो और स्वत्वो को छोड दिया।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर फारमूसा (तैवान) की वैध स्थिति और उसके महत्व का निर्धारण करना है।

कैरो और पोट्सडम उद्घोषणाओ के समय फारमूसा पर दावा करने वाली एक पार्टी थी, और वह थी चीनी गणतन्त्र की राज्यवादी सरकार। विवाद ने उस समय अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का रूप धारण कर लिया जब कि चीन को राष्ट्रवादी सरकार तायपी (तैवान की राजधानी) की ओर दिसम्बर १६४६ में बढने लगी और पेकिंग सरकार फारमूसा को अपने द्वारा शासित क्षेत्र मे निर्गमित न कर सकी।

वर्ष १६४३ की कैरो-उद्घोषणा मे निस्सदेह एक सामान्य प्रयोजन का वक्तव्य था। फिर भी, वह जुलाई १६४५ की पोट्सडम उद्घोषणा में परिपुष्ट किया गया और अन्तिम रूप मे जापान से शान्ति-स्थापना की शर्तों मे से एक शर्त के रूप मे माना गया। ब्रिटिश की यह धारणा कि कैरो-उद्घोषणा केवल सामान्य प्रयोजन का एक वक्तव्य है और पक्षकारो पर बाध्यतापूर्ण नही है, प्रवर्तनीय धारणा नही प्रतीत होती।

यह अवलोकन किया गया है कि फारमूसा मे मित्र शक्तियो के सुप्रीम कमाडर के निदेश पर एक अन्तरिम प्रशासनिक नियन्त्रण की प्रस्थापना में इस द्वीप पर चीन के पूववर्ती प्रभुत्व को स्थिर नही किया जा सकता। इसी प्रकार जापान से सम्प्रभुता को चीन के हाथो मे हस्तान्तरित करने की बाध्यता भी नहीं है। ब्रिटिश वैदेशिक सचिव, सर एन्थोनी ईडेन ने फरवरी १६५५ मे कहा था कि इस प्रश्न में सम्प्रभुता के परिवर्तन होने का प्रश्न नहीं उठता। पुनश्च, अप्रेल १६५२ की शान्ति-सधि के अन्तर्गत जापान ने औपचारिक ढग पर सभी अधिकारो, स्वत्वों और दावों को फारमूसा और पैस्केडोर्स के हितों में छोड दिया, किन्तु इसमे फिर भी कैसे सम्प्रभुता को हस्तान्तरित करने का प्रश्न अन्तर्ग्रस्त नहीं होता। यह निष्कर्ष चीन के जनवादी गणतन्त्र या चीनी राष्ट्रवादी प्राधिकारियों दोनों के प्रसंगों में समान रूप से लागू होगा। इसलिए फारमूसा और पेस्केडोर्स ब्रिटिश-सरकार की धारणा के अनुसार ऐसे क्षेत्र हैं जिन पर विधितः संप्रभुता (de jure sovereignty) अनिश्चित और अनिर्धारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि कब्जा (Occupation), भोगाधिकार (Prescription), क्षेत्र-वृद्धि (Accretion), परित्याग (Cession) और विजय (Conquest) को क्षेत्र अर्जित करने (Acquiring territory) के पाँच साधन मानती है। चीन द्वारा जापान से युद्ध की उद्घोषणा के समय, जो कि दिसम्बर ८, १६४१ को की गई थी, चीन ने औपचारिक ढंग से शिमोनोस्की की सन्धि को तोड़ा था। इस सन्धि के द्वारा फारमूसा का क्षेत्र जापान को मिला था। सन्धि का इस प्रकार तोड़ा जाना एक एक-पक्षीय कार्य था और अन्तर्राष्ट्रीय प्रचलन के अनुसार यह वांछित नहीं था। जहाँ तक कि विजय और अधिग्रहण के आधार पर पेकिंग द्वारा इस क्षेत्र पर दावा किये जाने का प्रश्न है, स्थिति यह है कि जापान ने सहायक शक्तियों को आत्मार्पित कर दिया था, किन्तु उसने एकमात्र चीन को आत्मार्पण नहीं किया था। इसलिए केवल एक शक्ति के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि उसने फारमूसा द्वीप को विजित कर लिया और यह कि चीन को इस आधार पर फारमूसा वापस मिलना चाहिये।

राष्ट्रवादी चीन का तर्क है कि जब जापान ने आत्मार्पण कर दिया, तो चीन की गणतन्त्र सरकार के अन्तर्गतः पुन तैवान और पेंघू आ गया और इसलिए इन क्षेत्रों को चीन को वापस किया जाना चाहिए।

अप्रैल २८, १६५२ को चीनी गणतन्त्र और जापान के बीच हस्ताक्षरित शान्ति-सन्धि में विशिष्टत कहा गया था कि सभी सन्धियाँ, अभिसमय और करार, जो कि दिसम्बर ६, १६४१ के पूर्व किये गये थे, चीन और जापान के युद्ध के कारण अब शून्यकृत एव प्रभावरहित हो चुके हैं। सन्धि के इस महत्त्वपूर्ण खंड का परिणाम यह है कि १६४१ में चीन द्वारा एकपक्षीय रूप से शिमोनोस्की की सन्धि का तोड़ा जाना जापान की सहमति प्राप्त कर गया और इसीलिए चीन का प्रारम्भिक कार्य दोनों पक्षकारों की ओर से अप्रैल २८, १६५२ की शान्ति-सन्धि की ओर उत्तरवर्ती घोषणा के आधार पर वैधकृत हो गया।

यह सत्य है कि जापान ने एकमात्र चीन के हाथों आत्मार्पण नहीं किया, अपितु सहायक शक्तियों को पूर्ण इकाई को उसने समर्पण किया था, किन्तु उसी समय चीन-गणतन्त्र और जापान के बीच विशिष्ट रूप से १६५२ में हस्ताक्षरित शान्ति-सन्धि हुई और उसने १८६५ की शिमोनोस्की की उस सन्धि को प्रभावशून्य घोषित कर दिया जिसके आधार पर फारमूसा जापान को मिला था। इसके आगे भी, उल्लेखनीय है कि परावर्तन (पोस्टलीमिनियम) के सिद्धान्त (doctrine of Postliminium) के अन्तर्गत उपबंधित है कि यदि कोई ऐसा राज्य जो कि अस्थायी

रूप मे किसी अन्य राज्य के अधीनस्थ है, विजय की पूर्णता होने के पहले ही अपनी स्वतन्त्रता फिर से प्राप्त कर लेता है, भले ही यह पुनर्प्राप्ति युद्ध के बीच में हो, या उसकी समाप्ति पर, तो अधीनता या अग्रधर्षक कब्जे के पूर्व की वैध स्थिति पुन: स्थापित हो जाती है। यह सिद्धांत पूर्ण तौर पर फारमूसा की असफलता के सम्बन्ध मे लागू नही हो सकता, क्योकि १८९५ की शिमोनोस्की की सधि को, किसी भी प्रकार अस्थायी या अपूर्ण नही कहा जा सकता।

फारमूसा निश्चय रूप से तथ्यत: राष्ट्रवादी चीन का अग है। मार्शल च्याग-काई-शेक उस क्षेत्र पर सप्रभुता का प्रयोग करते रहे हैं, और भले ही फारमूसा की स्थिति उस तिथि के उपरान्त जब से कि चीन ने शिमोनोस्की की सधि को भंग किया, बिल्कुल ही बदली हुई न मानी जाय, फिर भी इसने निश्चित रूप से उस समय से एक वैध रूप धारण कर लिया जब से कि वहाँ राष्ट्रवादी सरकार मे प्रशासन करना आरम्भ किया, क्योकि १९४५ मे इसी सरकार को फारमूसा को एक सैनिक-कब्जे के रूप मे सौंपा गया था और जिसकी स्थिति को गणतन्त्र चीन और जापान के बीच हुई शान्ति-सधि ने जो कि अप्रैल २८, १९५२ को हस्ताक्षरित हुई, वैधकृत कर दिया।

डॉ० श्वाजेनबर्जर इस विचार के हैं कि सेन फ्रान्सिस्को सन्धि ■ सह-हस्ताक्षरकर्ता, जापान की अपेक्षा अन्य सभी विधि द्वारा च्याग-काई शेक के साथ फारमूसा और पेस्कैडोर्स के मामले मे एक प्रकार के सहराज्य (Condominium) का प्रयोग कर रहे हैं, और उनके अभिकर्ता के रूप मे तथ्यत: कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार मार्शल च्याग फारमूसा मे एक प्रत्यायोजित प्राधिकार (delegated authority) का प्रयोग कर रहे हैं। ये राज्य सयुक्त राष्ट्र के बाहर फारमूसा और पेस्कैडोर्स के भविष्य के बारे मे सामूहिक रूप मे निश्चय करने के लिए स्वतन्त्र हैं, या सयुक्त राष्ट्र सघ के परामर्श पर निश्चय कर सकते हैं। यह विचार ब्रिटिश विचार के अनुरूप है। दूसरी ओर सयुक्त राज्य अमेरिका तथ्यत: कब्जाकार, अर्थात् फारमूसा पर च्याग काई शेक की सरकार को सयुक्त अधिकारी की मान्यता देने के लिए अधिक आकृष्ट मालूम पड़ता है। ब्रिटिश और अमेरिकी विचार में भेद यह है कि ब्रिटिश चीन के जनवादी गणतन्त्र को मान्यता प्रदान करता है, जब कि अमेरिका चीन की राष्ट्रवादी सरकार को मान्यता प्रदान करता है, क्योंकि वही सरकार उस द्वीप पर प्रशासनिक नियन्त्रण व्यवहृत करती है।

सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के अनुच्छेद १०३ मे उपबधित है कि वर्तमान चार्टर के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्यो के आभारो और किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय करार के आभारों के बीच के संघर्षों मे चार्टर के आभार ही प्रवर्तित होंगे।

यह भी स्वीकार किया जा चुका है कि १९४३ मे ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य की कैरो उद्घोषणा के आधार संयुक्त राष्ट्र संघ क वर्तमान चार्टर से उत्पन्न आधारों के पीछे धुंधले पड गये।

अब स्थिति यह है कि राष्ट्रवादी चीन के फारमूसा विषयक अधिकार और नियन्त्रण निश्चित और निर्धारित हो चुके हैं, और तैवान की तथ्यतः संप्रभुता चीन की राष्ट्रवादी सरकार को विधित. सम्प्रभुता बन चुकी है।

वास्तविकता यह है कि फारमूसा की वैध स्थिति ने महत्व का स्थान तब लिया, जब कि चीन के जनवादी गणतन्त्र की स्थापना हुई। किन्तु, यह संयोग एक स्थापित तथ्य को विचलित नही कर सकता, और कहा जा सकता है कि यदि अब इन दोनो के बीच कोई संघर्ष उत्पन्न होता है तो उस संघर्ष को चीन के जनवादी गणतन्त्र (Peoples Republic of China) और चीन की राष्ट्रवादी सरकार (Nationalist Government of China) के बीच का आन्तरिक मामला कहा जायेगा। विद्वानो का निष्कर्ष है कि इस स्थिति मे इस प्रसग मे संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय-न्यायालय (International Court of Justice) का हस्तक्षेप मामले को सुलझाने के बदले और भी उलझाने का कारण बन सकता है।

चन्द्र और ग्रहों पर मानव-विजय (Man's Conquest of Moon and Mars).—ओपेनहेम के अनुसार दखल किसी राज्य द्वारा विनियोग का एक कार्य है और उसके द्वारा वह राज्य स्वेच्छया धारण किये गये राज्य-क्षेत्र पर अपनी सप्रभुता स्थापित करता है और उसके लिए वह अनुमान करता है कि विनियोग के समय वह क्षेत्र किसी दूसरे राज्य के स्वत्व मे नहीं था। इसलिए यह एक ऐसे क्षेत्र पर सप्रभुता स्थापित करने से सम्बन्धित है, जो कि या तो पहले से किसी के अधिकार मे नही था या हाल मे उसकी नयी खोज की गई है। यह ऐसा क्षेत्र प्राप्त करने का एक साधन है जो पहले से किसी राज्य के अधीन न हो। दखल को स्थिर करने के लिए सम्बन्धित राज्य मे सकल्प (intention) या इच्छा (will) का विद्यमान होना आवश्यक है जिससे उस राज्य-क्षेत्र पर वह अपना प्रभुत्व स्थापित कर सके और वह किसी न किसी प्रश्न का नियत्रण उस भूमि पर स्थापित कर सके।

ओपेनहेम ने दखल (possession) और प्रशासन (administration) को दो आवश्यक तथ्य माना है जो कि प्रभावकारी दखल का कारण बनते हैं। इसमें दो बातों का होना आवश्यक है—एक तो कोई राज्य-क्षेत्र किसी राज्य के अधिकार मे आवे और उसके उपरान्त उस राज्य की इच्छा उस क्षेत्र को अपने अधिकार में रखने की हो। प्रशासन का अभिप्राय यह है कि धारणकर्ता उस क्षेत्र पर किसी न

किसी प्रकार का प्रशासन चालू करे जिससे यह प्रकट हो कि नये राज्य-क्षेत्र पर उस राज्य की संप्रभुता है ।

उपरोक्त शर्तों को देखते हुये कहा जा सकता है कि चन्द्रमा या चन्द्रलोक पर यदि किसी राज्य का राकेट उतर जाता है तो किसी राज्य का क्षेत्रीय दावा वहाँ नही हो सकता । यहाँ तक कि चन्द्रलोक मे कोई राज्य यदि अपना झंडा भी गाड़ देते हैं तो केवल झंडा गाड देने से वह राज्य उस लोक पर अपनी सम्प्रभुता का दावा नही कर सकता । वास्तव मे संप्रभुता को नाम-मात्र की होने के स्थान पर वास्तविक होना चाहिए और न तो यह ऐरे-गैरे किसी द्वारा दावा करने का विषय ही है। दावेदार को अवश्य ही ऐसे रूप मे व्यवहार करना चाहिए जो कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्प्रभु व्यक्ति के लिए वैध हो जिससे वह अपनी सम्प्रभुता का प्रयोग कहीं कर सके। यदि मनुष्य चन्द्रलोक तथा ग्रहो को जीत भी लेता है, तो इससे कोई नया विलक्षण स्वत्व नही प्राप्त हो जाता । केवल किसी भूमि को खोज कर लेना या चन्द्रमा को जीत लेना ही इस बात के लिए पर्याप्त नही। है, कि वहाँ उसका दखल हो गया । इस खोज या विजय से उसे एक अपूर्ण ढग का स्वत्व प्राप्त हो सकता है जो कि प्रभावकारी नियन्त्रण और प्रशासन की पूर्णता से रहित होगा । उसके स्वत्व को दखल के एक कार्य की व्यवस्था मानेंगे । यह स्वत्व दखल के वास्तविक स्वत्व (real title of occupation) के रूप मे कदापि परिवर्तित नही हो सकता । पूर्ण दखल के स्वत्व के लिए इसमे उचित रूप से पर्याप्त समय की अपेक्षा होगी और इसलिए निकट भविष्य मे चन्द्रलोक के विजय के उपरान्त भी दखल सम्बन्धी कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधि की समस्या उलझती हुई नही प्रतीत होती ।

२—भोगाधिकार (Prescription) :—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार भोगाधिकार का यह अर्थ है कि क्षेत्र कुछ अवधि तक लगातार प्रतिकूल कब्जा (adverse possession) के प्रयोग से प्राप्त कर लिया गया है । अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार यह अधिकार प्राप्त करने के लिए कोई निश्चित अवधि नियत नहीं है। परन्तु यह आवश्यक है कि कब्जा बिना विरोध के शान्तिपूर्वक होना चाहिए और दीर्घकालीन अवधि तक निरन्तर रहना चाहिए । भोगाधिकार के लिए कितनी अवधि व्यतीत होनी चाहिए इस पर बहुत मतभेद है ।

यद्यपि यह सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत है कि कब्जे की अवधि के सम्बन्ध में कोई सामान्य नियम नहीं है किन्तु वाशिंगटन की सन्धि (१८७१) का यहां जिक्र किया जा सकता है जिसके द्वारा भोगाधिकार के लिए ५० वर्ष की प्रतिकूल कब्जे की अवधि निर्धारित की गई थी, तथा ग्रेट ब्रिटेन और वेनेजुएला के मध्य की गई

सन्धि (१८९७) को भी निर्देशित किया जा सकता है जिसके द्वारा भी इस अधिकार के लिए ५० वर्ष का प्रतिकूल कब्जा पर्याप्त माना गया था।

ग्रोशस (Grotius) का विचार है कि, 'a possession beyond memory, not interrupted, nor disturbed by appealing to an arbitrator, absolutely transfers dominion.' अर्थात् कोई भी दखल जब स्मरणातीत समय से चल रहा हो, उसमें न तो किसी प्रकार की रुकावट डाली गई हो और न तो किसी पक्षकार ने किसी विवाचक के समक्ष उस दखल की न्यायिकता को चुनौती दी हो, तो क्षेत्र पूर्णरूप से दखलकर्त्ता का हो जाता है। लेकिन वैटल (Vattel) विरुद्ध कब्जा पर बल देते हैं। उनका कहना है कि वास्तविक स्वामी जब अपने स्वत्व से एक लंबी अवधि तक उदासीन हो जावे या उसके सम्बन्ध में लम्बे समय तक मौन रहे, तो उसका स्वत्व वास्तविक दखलकर्त्ता के साथ चला जाता है।

श्वार्जेनबर्जर (Schwarzenberger) के अनुसार इस सम्बन्ध में चार सूत्र दिये गये हैं :—

(१) जो राज्य स्वत्व का दावा भोगाधिकार के आधार पर करता हो, उस क्षेत्र पर वास्तविक प्रभुत्व प्राप्त कर चुका हो।

(२) प्रभुत्व उचित समय तक लगातार बना रहे।

(३) प्रभुत्व शान्तिपूर्वक हो और विशेष रूप से अन्य राष्ट्रों से शान्ति का सम्पर्क बना रहे।

(४) प्रभुत्व सार्वजनिक होना चाहिए।

यदि ये चारों शर्तें पूरी होती हैं तो भोगाधिकार वास्तव में एक स्वत्व है जिसका प्रभाव उतना ही प्रबल होता है, जितना कि राज्य-क्षेत्र प्राप्त करने के साधनों का हुआ करता है।

३—क्षेत्र-वृद्धि (Accretion) :—यह नदियों के कार्य द्वारा अधिकार प्राप्त करने की विधि है जिससे नयी भूमि की उत्पत्ति से भूमि-वृद्धि हो जाती है। पानी का कार्य किसी राज्य की प्रभुसत्ता के अधीन तत्काल वर्तमान क्षेत्र में नई भूमि जोड़ देता है।

४—परित्याग (Cession) :—यह एक राज्य द्वारा द्विवर्गी व्यवहार के रूप में दूसरे राज्य को क्षेत्र का हस्तान्तरण है। क्षेत्र के हस्तान्तरण से क्षेत्र के किसी निश्चित भाग पर प्रभुसत्ता का हस्तान्तरण व्यक्त होता है। परित्याग सन्धि द्वारा होता है जिसमें हस्तान्तरण की शर्तें निश्चित होती हैं। ऐसी सन्धि ऐच्छिक हो सकती है अर्थात् शान्तिपूर्वक समझौते का परिणाम (विक्रय, दान अथवा विनिमय) अथवा बाध्य किये जाने पर की जा सकती है, अर्थात् युद्ध के परिणामस्वरूप तथा इसकी

व्यवस्था शान्ति-सन्धि द्वारा की जाती है, अथवा पालन न किये जाने की अवस्था में भंयकर परिणामो की धमकी के अधीन हो सकती है। परित्याग, क्षतिपूर्ति अथवा बिना क्षतिपूर्ति की शर्त पर लिया जा सकता है।

जनमत सग्रह (Plebiscite) —इस प्रकार की शान्तिपूर्ण सन्धि परित्याग की दशा मे उस राज्य के निवासियो के जनमत द्वारा भी हो सकती है। ओपेनहेम का कथन है कि इस बात मे सदेह है कि सदेव राष्ट्रो की विधि क्षेत्र परित्याग को जनमत सग्रह से पुष्ट कराने की बात मानेगी।

काश्मीर समस्या —१९४७ के स्वतन्त्रता अधिनियम से भारत स्वतन्त्र होने पर जम्मू काश्मीर अपनी वैध स्थिति चुनने के लिए स्वतन्त्र हो गया। सितम्बर १९४७ से काश्मीर सीमा के उत्तरी पश्चिमी सीमा से कबीले या जनजाति (tribal people) काश्मीर क्षेत्र मे धावा बोलते हुए लूटमार मचाने लगे। इसके लिए उन्हें पाकिस्तान सरकार से प्रोत्साहन और सहायता मिलती रही। काश्मीर क महाराजा ने भारत से जन जाति के आक्रमणो से काश्मीर की सुरक्षा के लिए सैनिक सहायता मांगी। काश्मीर राज्य के भारत राज्य मे अधिमिलन (accession) के बिना भारत सरकार का काश्मीर क आन्तरिक मामले में हस्तक्षप करना उसके क्षेत्राधिकार के बाहर था। अत २७ अक्टूबर १९४७ को भारत सरकार ने काश्मीर महाराजा के प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए काश्मीर राज्य का भारत मे अधिमिलन ग्रहण किया जिससे काश्मीर भारत राज्य का अखड भाग हो गया किन्तु भारत सरकार ने राज नैतिक के साथ ही वैध कारणो से यह चाहा कि भारत मे काश्मीर का अधिमिलन जनमत द्वारा हो। सितम्बर १९४७ में भारत सरकार ने सुरक्षा परिषद् मे यह प्रश्न रखा कि जन जातियो को काश्मीर मे आक्रमण करने मे पाकिस्तान द्वारा सन यता दिये जाने से पाकिस्तान सरकार को रोका जाय। सुरक्षा परिषद् ने काश्मीर समस्या को बहुत प्रकार के प्रस्तावो द्वारा सुलझाने का प्रयास किया किन्तु पाकिस्तान ने जबर्दस्ती उलझन उत्पन्न करके काश्मीर समस्या को विवादपूर्ण बना दिया।

भारत सरकार की प्रभुता जम्मू-काश्मीर के तीन विषय सुरक्षा, यातायात और विदेशी मामलो मे सर्वोच्च है। भारतीय सविधान के अनुसार भी काश्मीर भारत राज्य क्षेत्र का भाग है। भारत सरकार का यह तर्क भी सही है कि जनजाति को सहायता देकर पाकिस्तान ने विदेशी होकर आक्रमणकारी का कार्य किया जो कि अनुचित था। फरवरी १९६४ मे काश्मीर विधान सभा ने अन्तिम रूप से भारत में प्रवेश करने का निर्णय किया। भारत सरकार ने काश्मीर का भारत में अधिमिलन जनमत द्वारा चाहा था किन्तु पाकिस्तान द्वारा इसकी इतने दिनो तक उपेक्षा होने के

कारण यह अध्याय भी समाप्त हो जाता है। काश्मीर समस्या का महत्वपूर्ण वैध रूप यह है कि दोनो राज्यो (भारत सरकार और काश्मीर राज्य) के परस्पर समझौते के कारण काश्मीर का अधिमिलन भारत राज्य मे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का रूप ले लेता है। इसके समर्थन मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि भी स्पष्ट है कि विशेष स्थिति मे ही समझौता करने वाले पक्ष इसे तोड सकते हैं। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १६४७, द्वारा देशी राज्य के नरेश इसके लिए बाध्य नही थे कि वे अधिमिलन हेतु निर्णय जनमत सग्रह द्वारा ही करें। उन्हें पूर्ण अधिकार था कि वे स्वेच्छा से अपने राज्य को भारत या पाकिस्तान मे सम्मिलित करते अथवा स्वय स्वतन्त्र हो जाते। फिर पाकिस्तान ने स्वयं जूनागढ का अपने राज्य मे अधिमिलन जनमत की उपेक्षा करते हुए किया था। इस प्रकार काश्मीर का भारत राज्य मे अधिमिलन पूर्ण रूप से वैध है।

काश्मीर-समस्या का अन्तर्राष्ट्रीय वैध रूप :—जम्मू और काश्मीर भारतवर्ष के उत्तरी सीमा पर स्थित हैं। सयुक्त सोवियत संघ, सिक्याग और तिब्बत उत्तर तथा उत्तर-पूर्व की ओर हैं और पश्चिमी तथा दक्षिण पश्चिम की ओर पाकिस्तान है। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पूर्व भारत की अन्य रियासतो की तरह काश्मीर भी ब्रिटिश सम्राट के सीधे शासन मे था। १६४७ की स्वतंत्रता अधिनियम के पारित होने के पश्चात् जिसके आधार पर ब्रिटिश पार्लियामेंट ने सत्ता का हस्तान्तरण भारतीय हाथो में किया था, उस समय से ब्रिटिश सम्राट का प्रभुत्व भारतीय रियासतो से समाप्त हो गया था। भारतीय रियासतें इस बात के लिये स्वतन्त्र थी कि वे भारतीय डोमीनियन अथवा पाकिस्तान डोमीनियन में सम्मिलित हो। काश्मीर का शासक इस बात के लिये स्वतंत्र था कि वह अपने भावी संवैधानिक स्थिति का चुनाव कर सके।

पाकिस्तान और भारतवर्ष के विभाजन के पश्चात् पाकिस्तान और काश्मीर राज्यो मे आर्थिक, प्रशासकीय, यातायात, सप्लाई आदि के लिये संबंध निरंतर चलते रहने के समझौते हुए। उस समय काश्मीर की सरकार ने यह शिकायत की कि पाकिस्तान के अधिकारी आवश्यक सामग्रियो, जैसे खाद्य पदार्थ, नमक, चीनी और पैट्रोल की सप्लाई से इन्कार कर रहे हैं। दूसरी ओर पाकिस्तान सरकार के आचरण ने यह भासित कर दिया कि काश्मीर पर इस बात का दबाव डाला जा रहा है कि वह पाकिस्तान मे मिल जाय।

बहुत ही दृढ आर्थिक दबाव जो कि पाकिस्तान की ओर से आरंभ हुआ था आगे चलकर पूर्ण अवरोध की स्थिति तक पहुँच गया। सितम्बर १६४७ मे कबालियो ने उत्तर-पश्चिम सीमाप्रांत पर कुछ उपद्रव करने आरंभ कर दिये। उन्होंने पश्चिमी पंजाब के मुसलमानो के साथ काश्मीर की सीमा के गाँवो को लूटना-खसोटना

और कत्ल करना आरभ कर दिया। काश्मीर की सरकार ने पाकिस्तान की सरकार के विरुद्ध इस बात का कडा विरोध किया कि आक्रामक उनकी राज्यसीमा से होकर काश्मीर तक आने से रोके जाय, किन्तु इससे कोई लाभ न हुआ। आक्रामक बहुत ही सगठित रूप में आ रहे थे और उन्होने थोडे ही समय मे काश्मीर राज्य क्षेत्र का एक बहुत बडा हिस्सा अपने अधिकार मे कर लिया। उनका यह अधिकार पूंछ क्षेत्र तक था। उन्होने श्रीनगर को अपने अधिकार मे कर लेने की धमकी दी। कबालियों के इस सामूहिक आक्रमण ने जिसे पाकिस्तान द्वारा भी सहायता दी जा रही थी, काश्मीर की सरकार को बहुत ही कठिन परिस्थितियो मे डाल दिया। उन लोगो ने ऐसा अनुभव किया कि बिना किसी बाहरी सहायता के वे कबालियो से अपने राज्य की स्वतन्त्रता नही बचा सकते। तदनुसार काश्मीर के महाराजा ने भारत सरकार को सैनिक सहायता देने की सस्तुति की। भारतवर्ष को इस बात का क्षेत्राधिकार नही प्राप्त था कि वह बिना काश्मोर राज्य के भारतीय सघ मे अधिमिलन हुये, उसके भीतरी मामलों मे हस्तक्षेप कर सके। इस कठिनाई को हल करने के लिये २६ अक्तूबर १६४७ को काश्मीर के महाराज ने अपने राज्य को भारत मे मिला लिये जाने का अनुरोध किया। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १६४७ के अन्तगत ऐसी कोई व्यवस्था नही थी कि किसी रियासत का राज्य मे मिला लने के पूर्व वहा का जनता से इस आशय का जनमत प्राप्त किया जाय। वहाँ के शासको की इच्छा ही राज्य की इच्छा के रूप में मानी जाती थी। अस्तु भारतवर्ष को काश्मीर के महाराजा के अनुरोध पर काश्मीर को अन्तिम रूप स भारतवर्ष मे मिला लेने मे कोई आपत्ति न थी। २७ अक्तूबर १६४७ को भारतवष ने काश्मीर का अधिमिलन स्वोकार कर लिया और उसके पश्चात् काश्मीर भारत का अनन्य अग बन गया।

कुछ राजनीतिक अथवा सविधानिक कारणो से भारतवर्ष इस बात का समर्थक था कि राज्य मे साधारण स्थिति उत्पन्न हो जाने के पश्चात् काश्मीर की जनता से भी अधिमिलन के सम्बन्ध में राय ले ली जाय। भारत के प्रधान मन्त्री का कहना था कि भारतवर्ष सकट की घडी में जल्दी से कोई निश्चय नही कर सकता और काश्मीर की जन्ता को अपनी इच्छा प्रकट कर देने का पूर्ण अवसर दिया जाना चाहिये। यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासगिक न होगा कि भारत के प्रधान मन्त्री की यह घोषणा काश्मीर के अधिमिलन के पश्चात् हुई थी। जनमत सग्रह का कोई प्रतिबन्ध काश्मीर के अधिमिलन पर न था।

३० दिसम्बर १६४७ को भारत सरकार ने सयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद ३५ के अनुसार इस विवाद को सुरक्षा परिषद के समक्ष उपस्थित किया और सुरक्षा परिषद से इस बात का आग्रह किया कि पाकिस्तान सरकार कबालियों को

सैनिक अथवा अन्य किसी प्रकार की सहायता जम्मू काश्मीर पर आक्रमण करने के लिये न दे और आक्रमणकारियो को अपने राज्यक्षेत्र की सीमा से होकर आने की अनुमति न दे । पाकिस्तान ने भारत के इस आरोप का खडन किया और कोई सतोषजनक उत्तर देने की अपेक्षा उल्टे भारत सरकार पर ही आक्रमण करने का आरोप लगाया ।

अप्रैल १६४८ मे सुरक्षा परिषद् ने एक आयोग इस हेतु नियुक्त किया कि वह कबालियो और पाकिस्तानी राष्ट्रीय जनो, जो कि काश्मीर राज्य मे घुस आये थे, को हटाकर राज्य मे शाति स्थापित करे। इस आयोग ने दोनो सरकारो से कई बार विचार-विमर्श किया, और अगस्त १३, १६४८, को एक प्रस्ताव फायरबन्दी तथा विराम-सधि का पारित किया, जो कि जनवरी १, १६४६, को दोनों सरकारो की ओर से प्रवर्तित किया गया । युद्ध-विराम के परिणामस्वरूप आयोग ने एक दूसरा प्रस्ताव जनवरी ५, १६४६, को किया जिसमे भारत पाकिस्तान की सरकार की स्वीकृतियो का विवरण दिया गया और उन भिन्न भिन्न सिद्धातो का भी विवरण दिया गया जो कि सहायक रूप में थे । इस प्रस्ताव मे जनतात्रिक ढग पर एक निष्पक्ष जनमत गणना की बात कही गयी । जनवरी ५ १६४६ के प्रस्ताव के क्रम मे सयुक्त राज्य के नेवी के ऐड-मिरल चेस्टर निमट्ज (Chester Nimitz) को सयुक्त राष्ट्र सघ के महासचिव ने भारत, पाकिस्तान और काश्मीर की सहमति पर जनमत गणना का प्रशासक नियुक्त किया । मतभेद आरम्भ हो गये क्योकि पाकिस्तान ने यह माँग की कि तथाकथित आजाद काश्मीर की पाकिस्तानी सेना मे वहाँ की सेना को सम्मिलित कर लिया जाय । यह प्रस्ताव अगस्त १३, १६४८ के मान्य प्रस्ताव का बिलकुल उल्लघन करता था ।

सयुक्त राष्ट्र सघ आयोग ने इस विवाद के पूरे प्रसग को दिसम्बर १६४६ में सयुक्त राष्ट्र के समक्ष फिर स इस सस्तुति के साथ भेजा कि इस बीच मे इस प्रसग मे एक विवाचक नियुक्त किया जाय । असैनिकीकरण का प्रश्न इस विवाद के सुलझाव म बाधक बनकर खडा रहा और सुरक्षा परिषद् ने सर ओवेन डिक्सन (Sir Owen Dixon) एक विधिवेत्ता और आस्ट्रेलिया के हाईकोर्ट के जज को मध्यस्थ नियुक्त कर दिया । उन्हे सफलता न मिल सकी क्योकि दोनो सरकारो में आपस मे असैनिकीकरण की तैयारी की प्रक्रिया के प्रसग में मतभेद था और निष्पक्ष जनमत गणना का प्रशासन कठिन था । कबालियो के निरन्तर काश्मीर में प्रवेश करते रहने और वहाँ पाकिस्तानी सेना के बने रहने के कारण सर ओवेन डिक्सन (Sir Owen Dixon) ने कहा था कि काश्मीर क्षेत्र मे पाकिस्तान सेना का बार बार आते रहना अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुकूल नही है और यह कि पाकिस्तान काश्मीर में आक्रामक है ।

उन्होने अन्तिम रूप से यह संस्तुति की कि दोनो पक्षो पर अपने आप बातचीत सम-झौतों द्वारा समस्या को सुलझाने का काम छोड़ दिया जाय ।

३० अप्रैल, १९५१ को सुरक्षा परिषद् ने नार्थ कैरोलिना के विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डॉ० फ्रैंक ग्राहम (Dr.Frank Graham) को काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र का प्रतिनिधि नियुक्त किया । उन्हे यह निर्देश था कि वे अधिक से अधिक प्रयत्न इस बात का करे कि भारत व पाकिस्तान इस योजना को स्वीकार कर लें कि जम्मू और काश्मीर राज्य का असैनिकीकरण कर लिया जाय और यूनीसिप (U.N.C.I.P) के प्रस्तावो के सिद्धान्तो के अनुरूप यह कार्य हो । डॉ० ग्राहम भी अपने कार्य में असफल रहे यद्यपि उन्होने सुरक्षा परिषद् को ३ रिपोर्ट दिये और सारी समस्या का केवल असैनिकीकरण के समझौते से सम्बन्धित प्रारम्भिक तैयारी तक संकुचित कर दिया, जैसे युद्धविराम रेखा के दोनो ओर असैनिकीकरण के पश्चात् किस ढंग की और कितने मात्रा में सेना रखी जाय । २५ अगस्त १९६२ को डॉ० ग्राहम द्वारा जेनेवा मे एक मन्त्रिमण्डलीय स्तर का सम्मेलन बुलाया गया किन्तु भारत और पाकिस्तान की सरकारे जम्मू और काश्मीर मे अपने अस्तित्व के सम्बन्ध मे एकमत नही हो सकीं।

पाकिस्तान की सरकार काश्मीर मे भारत की समानता का स्तर चाहती है। काश्मीर चूंकि भारत का एक अङ्ग बन चुका है, भारत सरकार उस राज्य की सुरक्षा के लिये उत्तरदायी है । दूसरी ओर पाकिस्तान सरकार काश्मीर का एक बहुत बड़ा हिस्सा बलपूर्वक अपने अधिकार मे किये हुये है । अत. काश्मीर में भारतीय सेना का उपस्थित होना एक अधिकार और कर्त्तव्य की बात है जबकि पाकिस्तानी सेना ने आक्रमण किया है ।

डॉ० ग्राहम न १० अक्तूबर १९५२ को सुरक्षा परिषद् के समक्ष अपना प्रति-वेदन प्रस्तुत किया और भारत तथा पाकिस्तान के बीच काश्मीर के असैनिकीकरण के सम्बन्ध मे समझौता कराने में, जिससे जनमत द्वारा यह तय हो जाय कि काश्मीर भारत के साथ रहना चाहता है अथवा पाकिस्तान के साथ, अपनी असमर्थता व्यक्त की ।

नवम्बर ६, १९५१, को ऐंग्लो अमेरिकी संयुक्त प्रस्ताव ब्रिटेन के सर ग्लैड-विन जेब्ब (Sir Gladwyn Jebb) द्वारा सुरक्षा परिषद् में रखा गया जिसके अनुसार यह प्रस्ताव किया गया कि दोनों सरकारें संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्यालय में तत्काल समझौता बातचीत करें और असैनिकीकरण के अत तक युद्ध विराम रेखा के दोना ओर कितनी सेना रखी जाय यह निर्धारित करें । यह भी संकेत था कि पाकिस्तानी सैन्य-शक्ति ३ हजार से ६ हजार तक और भारतीय सैन्य-शक्ति १२ हजार से १८ हजार तक अपने-अपने क्षेत्र में रहें ।

पाकिस्तान की सरकार कीप्रार्थना पर सुरक्षा परिषद् ने इस प्रश्न पर जनवरी १६५७ में फिर विचार किया । २५ जनवरी को ५ शक्तियो का एक प्रस्ताव जिसमें सयुक्त राज्य, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कोलम्बिया और क्यूबा थे, प्रस्तावित किया कि काश्मीर मे यथापूर्व स्थिति रक्खी जाय । उनका यह प्रस्ताव पाकिस्तान सरकार की इस शिकायत पर आधारित था कि भारत सरकार जनवरी २६, १६५७, को जम्मू और काश्मीर राज्य का एकीकरण करने जा रही है । भारतीय प्रतिनिधि ने स्पष्टत बतला दिया कि यह प्रस्ताव सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के विरुद्ध है क्योकि यह प्रस्ताव एक सुलझे हुये मामले को और भी उलझा देता है और यह कि आभारो की पूर्ति का कोई दोषारोपण यदि किया जा सकता है तो पाकिस्तान पर, भारत पर नही ।

जारिन-रिपोर्ट (Jarring Report) :—सुरक्षा परिषद् ने काश्मीर की समस्या पर फरवरी १६५७ मे पुनः विचार किया । ब्रिटेन ने औपचारिक ढग से चार शक्तियो का एक प्रस्ताव रखा जो कि ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, क्यूबा और सयुक्त राज्य की ओर से था । इसके अनुसार स्वीडन के श्री गुन्नार वी० जारिन (Mr. Gunnar V. Jarring) से जो कि उस महीने के लिये सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष थे, भारत व पाकिस्तान सरकार से काश्मीर के प्रश्न पर विचार-विमर्श करने को कहा गया और काश्मीर मे असैनिकीकरण की पूर्ति तक के लिये सयुक्त राष्ट्र की सेना रखने की बात कही गई । भारतीय प्रतिनिधि श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने स्पष्ट रूप से घोषित कर दिया कि भारत सरकार अपने क्षेत्र मे किसी भी विदेशी सेना को किसी भी रूप मे उतरने न देगी । कोलम्बिया ने चार शक्तियो के प्रस्ताव पर कुछ सशोधन प्रस्तुत किया । सोवियत सघ ने १८ फरवरी १६५७ को सुरक्षा परिषद् मे यह घोषणा कर दी कि काश्मीर मे जनमत-गणना का कोई प्रश्न नही रह गया है और यह कि रूस की सरकार यह समझती है कि काश्मीर का प्रश्न स्वय उस राज्य की जनता द्वारा सुलझाया जा चुका है और काश्मीर का क्षेत्र भारत का एक अविभाज्य अग है ।

चार शक्तियो ने मौलिक रूप से जिन्होंने काश्मीर मे श्री जारिन को भेजने का प्रस्ताव किया था और यह प्रस्ताव था कि वे भारत व पाकिस्तान के बीच काश्मीर के असैनिकीकरण के प्रश्न पर विचार-विमर्श करें और इस प्रश्न को देखें कि तात्कालिक रूप में काश्मीर मे सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना रखी जाने की कहाँ तक सम्भावना है उस प्रस्ताव पर रूस ने निषेधाधिकार का प्रयोग किया । अस्तु वह सफल न हो सका ।

दूसरा प्रस्ताव उन्ही चार शक्तियो द्वारा पहले के ही प्रस्ताव के आधार पर सुरक्षा परिषद् द्वारा फरवरी २१, १६५७, को स्वीकार कर लिया गया किन्तु उसमें सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना को काश्मीर मे रखने की चर्चा नही थी। श्री जारिन से अप्रैल १५, १६५७, तक अपना प्रतिवेदन सुरक्षा परिषद् के समक्ष प्रस्तुत करने को कहा गया। भारत व पाकिस्तान की सरकारो को श्री जारिन के कार्यों में सहयोग देने का निवेदन किया गया ऐसा ही निवेदन इन दोनो देशो के सयुक्त राष्ट्र सघ स्थित प्रतिनिधियो से किया गया।

श्री जारिन ने अपने प्रतिवेदन मे यह लिखा कि वे एक बात स्पष्ट काश्मीर मे देख चुके हैं जो कि अवश्य विचारणीय है। परिस्थितियाँ राजनैतिक, आर्थिक और सैनिक दृष्टि से बहुत तीव्रता से बदल रही हैं। अस्तु इस प्रश्न को अवश्य ही नवीन दृष्टिकोण से देखना होगा। उन्होंने यह भी लिखा कि, यद्यपि वे परिषद् के समक्ष समस्या का कोई ठोस सुलझाव प्रस्तुत करने मे असमर्थ हैं, फिर भी उन्होंने परिस्थितियो का जो कुछ निरीक्षण किया है उससे प्रकट होगा कि वर्तमान अवरोध के उत्पन्न होने के उपरात भी दोनो सुलझाव ढूँढने के उत्सुक हैं।

जारिन के रिपोर्ट से यह स्पष्ट है कि उन्होंने इस तथ्य पर बल दिया है कि वर्तमान परिस्थितियो मे जनमत गणना से नई कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। जारिन रिपोर्ट के प्रतिवेदन पर सुरक्षा-परिषद् ने सितम्बर १६५७ में विचार किया। २ दिसम्बर १६५७ की सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पारित किया जिससे उन्होंने काश्मीर मे संयुक्त राष्ट्र के प्रतिनिधि से निवेदन किया कि आगे की उचित कार्यवाहियो की सिफारिश करें जिससे १३ अगस्त १६४८ और ५ जनवरी १६४६ के सयुक्त राष्ट्र आयोग के सुझावो के अनुसार समस्या का शातिपूर्ण ढङ्ग से सुलझाव हो सके।

डॉ० ग्राहम रिपोर्ट (Dr. Graham's Report)—२ दिसम्बर, १६५७, के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के क्रम मे डा० फ्रैंक ग्राहम (Dr. Frank Graham) ने उपमहाद्वीप का निरीक्षण किया। उनका उद्देश्य काश्मीर के प्रश्न का शान्तिपूर्ण ढग से सुलझाव प्राप्त करना और सुरक्षा परिषद् के पहले के प्रस्तावो को लागू करना था। उन्होंने दोनो सरकारो से ५ प्रस्ताव किये थे। वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं :—

१—दोनो सरकारों की ओर से एक नई घोषणा हो जिसमें अपनी-अपनी जनता से ऐसे वातावरण को बनाये रखने की अपील की जाय जिससे आगे की समझौता-वार्त्ता अनुकूल परिस्थितियों में आगे बढ सके।

२—दोनो सरकारें युद्ध-विराम-रेखा की अनिवार्यता की पुनः प्रतिज्ञा कर ।

३—काश्मीर से पाकिस्तानी सेना हटाने के सम्बन्ध मे अगस्त १३, १६४८, के प्रस्ताव की सभावनाओ पर विचार ।

४—सयुक्त राष्ट्र सघ का प्रतिनिधि दोनो सरकारो से उन साधनो और समय की अवधि पर विचार करेगा जिस पर अगस्त १३, १६४८, के प्रस्ताव के आधार पर जनमत सग्रह सम्भव हो सके ।

५—दोनो देशो के प्रधान मन्त्रियो का सम्मेलन डॉ० ग्राहम की सरक्षता में हो ।

इन प्रस्तावो को प्रधान मत्री नेहरू ने पूर्णत. अस्वीकृत कर दिया । यह डॉ० ग्राहम द्वारा काश्मीर के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच समझौता कराने का दूसरा प्रयत्न था ।

यदि कोई जम्मू और काश्मीर के विकास के स्तर का जो कि १६४८ से अब तक हुआ है विचार करे तो यह अनुभव करेगा कि काश्मीर भारतीय गणतत्र का एक अविभाज्य अग बन चुका और यह कि उस राज्य की जनता और भारत की जनता के सबध इतने घनिष्ट हो चुके हैं कि उन्हें अलग नही किया जा सकता ।

२२ जून, १६६२, को आयरलैंड ने सुरक्षा परिषद् के समक्ष एक प्रस्ताव रखा जिसने सुरक्षा परिषद् के पूर्व के प्रस्ताव की ओर ध्यान दिलाते हुये भारत व पाकिस्तान दोनो की सरकारो से समझौता-वार्त्ता करने का निवेदन किया और यह कहा कि चार्टर के अनुच्छेद ३३ के अनुसार समस्या का यथाशीघ्र सुलझाव कर लिया जाय । इस प्रस्ताव का पश्चिमी गुट ने समर्थन किया । इसी दिन सोवियत सघ ने इस प्रस्ताव पर निषेधाधिकार का प्रयोग कर एक अवरोध उपस्थित किया । यह एक नियति का व्यग ही है कि पश्चिमी गुट ने आयरलैंड के ऐसे प्रस्ताव का समर्थन किया था, जिस सम्बन्ध में ८ साल पहले ही निपटारा किया जा चुका था ।

१६६३ के आरम्भ मे पाकिस्तान और भारत सरकारो ने परस्पर समझौता द्वारा काश्मीर की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया । इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न स्थानो में मन्त्रि-मंडलीय स्तर के भारत तथा पाकिस्तान के प्रतिनिधियो की ५ बैठकें हुई । किन्तु इन ५ बैठको के उपरान्त भी भारत व पाकिस्तान के बीच काश्मीर के सम्बन्ध में कोई उपयोगी परिणाम न निकल सका । भारतवर्ष पाकिस्तान से सदैव मित्रता का सम्बन्ध बनाये रखना चाहता है फिर भी काश्मीर के सम्बन्ध मे पाकिस्तान की हठधर्मी और बढ़ती हुई माँग के कारण समस्या का कोई ठोस सुलझाव अभी तक सामने नही आ सका है ।

संयुक्त राष्ट्र-संघ मे १६६४ का काश्मीर वाद-विवाद [U N Kashmir Debate (1964)] :—पाकिस्तान ने पुन फरवरी १६६४ में काश्मीर विवाद को सुरक्षा-परिषद मे प्रस्तुत किया। उसके प्रतिनिधि ने संयुक्त राष्ट्र संघ के जम्मू और काश्मीर राज्य मे जनमत-संग्रह कराने का तर्क रखा।

भारतीय प्रतिनिधि मडल के अग्रणी श्री एम० सी० चागला ने पाकिस्तानी प्रतिनिधि के तर्क को इस कथन द्वारा अस्वीकृत कर दिया कि यद्यपि पाकिस्तान काश्मीरी जनता के अधिकारो की बात करता है, किन्तु तथ्यत उसके नेताओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे काश्मीर को अन्य आधारो पर हडपना चाहते हैं। उन्होने उन अतिक्रमणो की तालिका प्रस्तुत की, जब कि पाकिस्तान ने यूनीसिप (UNCIP) का बड़ा-बडा उल्लघन किया है—यथा, काश्मीर मे पाकिस्तानी सेना और घुसपैठियों का बना रहना, कब्जा किये हुये क्षेत्र मे अतिरिक्त सैन्य-सज्जा का संग्रह, कब्जा किये हुये क्षेत्र मे हवाई-अड्डो का निर्माण और इस प्रकार भारत के विरुद्ध आक्रमण करने का आधार तैयार करना और उसकी सुरक्षा को खतरे मे डालना, जम्मू और काश्मीर के कब्जे वाल क्षेत्र का पाकिस्तान मे विलीनीकरण, 'मिलिट्री पैक्ट्स' की सदस्यता का लाभ उठाकर काश्मीर मे पाकिस्तानी सैन्यशक्ति को बढाना और तथाकथित आजाद सैन्य-शक्तियो को मजबूत करना, पाकिस्तान द्वारा प्रशिक्षित और सज्जित सैन्य-अधिकारियो की इस क्षेत्र मे नियुक्ति, उत्तरी क्षेत्र पर कब्जा बनाये रखना, बल-प्रयोग की निरतर की धमकियां और युद्ध विराम रेखा पर युद्ध क आतकपूर्ण वातावरण का बनाये रखना, जम्मू और काश्मीर में तोड़ फोड़ की कार्यवाहियो को उकसाना, बढावा दना और सगठित तथा सज्जित करना, यद्यपि चीनी गणतन्त्र से पाकिस्तान की कोई सामान्य सीमा-रेखा न थी, फिर भी पाकिस्तान द्वारा काश्मीर की सीमा पर सिम्याव के मामले में चीन स गठबधन और इस प्रकार जम्मू और काश्मीर राज्य की क्षेत्रीय एकता को विशृंखलित करना, आदि कार्य हैं जो पाकिस्तान की ओर मे निरन्तर किये जा रहे हैं और शान्ति-भग होने और युद्ध विराम-रेखा पर युद्ध का आतकपूर्ण वातावरण बना हुआ है।

श्री चागला न आगे और भी कहा था कि पाकिस्तान काश्मीर पर अपना दावा जाति, इतिहास या परम्परा के आधार पर सामान्य हित के प्रयोजन के आधार पर नहीं अपितु कवल धर्म के आधार पर करता है, और यह कि भारतीय समाज और संविधान की मूलभूत धारणा बहु-जातीय समाज पर आधारित है, जहां कि विभिन्न धर्म क अनुयायी एक साथ आनन्द स जीवन-यापन कर सकते हैं और विभिन्न ममदाय समाना में से एक माने जायेंगे। भारत ने अपने भाग्य निर्धारण के अधिकार का प्रयाग किया है और संविधायिनी सभा क माध्यम स, जिसमे कि जम्मू और

काश्मीर राज्य के प्रतिनिधियों ने भारत की जनता के साथ सहकार किया था और अपने आपको संविधान उपबंधित करते हुये उस संविधान के हाथों आत्मार्पित किया था, वह संविधान १४ वर्षों से प्रवर्तन में रहा है। भारत मे, जिसमे कि काश्मीर भी सम्मिलित है, तीन सामान्य निर्वाचन हो चुके हैं और जम्मू और काश्मीर मे रहने वाली भारतीय जनता ने उस आत्म-निर्धारण में पूर्णतः हिस्सा लिया है।

भारतीय प्रतिनिधि ने तथ्यों से स्पष्ट कर दिया कि काश्मीर मे पाकिस्तान और चीन दोनों आक्रामक की स्थिति मे हैं—एक ने ३२,००० वर्ग मील का क्षेत्र अवैध रूप से अपने कब्जे में कर रखा है तो दूसरे ने १७ ००० वर्ग मील क्षेत्र। दोनों ने उक्त क्षेत्र का अर्जन बल-प्रयोग द्वारा किया है और सबसे आश्चर्य की बात यह कि विश्व ने जब अपनी आँखों से देख लिया था कि चीन ने भारत की उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी सीमा पर बर्बरतापूर्ण आक्रमण किया है, तब पाकिस्तान के प्रतिनिधि घूम घूमकर विश्व को यह भुलावा देने में लगे थे कि चीन ने भारत पर नही, अपितु भारत ने ही चीन पर आक्रमण किया है। भारत ने आगे यह स्पष्ट कर दिया कि यदि पाकिस्तान अपने अतिक्रमण को नही रोकता और पाकिस्तानी सेना जम्मू काश्मीर राज्य के उस हिस्से को रिक्त नही कर देती, जिसे कि उसने विधि-विपरीत ढंग से हथिया लिया है, तब तक जम्मू और काश्मीर राज्य का कोई न्यायोचित सुलझाव हो नही सकता।

मई १८,१९६४ को सुरक्षा परिषद की बैठक बिना किसी सुझाव, प्रस्ताव या मतैक्य के अनिश्चित काल के लिए स्थगित हो गई, किन्तु इस स्थगन के साथ ही कार्यवाहियों का संक्षिप्तीकरण प्रस्तुत करते हुये परिषद के अध्यक्ष ने यह कहा कि परिषद के सदस्य ऐसा अनुभव करते हैं कि दोनो पक्षकार यथा सम्भव शीघ्र परस्पर एक दूसरे से सम्बन्ध स्थापित करें ताकि मध्यस्थता द्वारा उनके मतभेदों को सुलझाया जा सके।

१९६२ मे चीनी आक्रमण के समय पाकिस्तान ने और १९६५ मे पाकिस्तानी आक्रमण के समय चीन ने भारत के विरुद्ध एक दूसरे को खुलकर समर्थन, सहायता और बढ़ावा दिया था। पाकिस्तान १९६५ की युद्ध-समाप्ति और ताशकन्द-समझौते के उपरान्त भी काश्मीर के प्रश्न को पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच के सम्बन्धों का निर्णायक कहता है और उसकी धमकियाँ निरन्तर जारी हैं कि जब तक उसे जम्मू और काश्मीर की समस्या का उसके संतोष के युक्त सुलझाव नही हो जाता, वह अन्य किसी विवाद पर समझौता करने और युद्ध विराम रेखा पर युद्ध के आतंक को कम करने को प्रस्तुत नही है। इधर जम्मू और काश्मीर राज्य ने अपने को भारत संघ मे पूर्णतः तथ्यतः और विधितः दोनो रूपों मे विलयित कर लिया

है और वहाँ की जनता ने भारतीय सविधान के सभी उपबन्धो को साधारणत अगीकृत करते हुये यहाँ तक कि अखिल भारतीय कांग्रेस दल को भी अपना लिया है और वहाँ के 'सदरे रियासत' एव 'प्रधान मत्री' ने भी क्रमश राज्यपाल और मुख्य मत्री पदों को ग्रहण कर लिया है।

यहाँ स्मरणीय है कि १९४७ मे पाकिस्तान ने जम्मू और काश्मीर राज्य पर जो आक्रमण किया था उसे सयुक्त राष्ट्र सघ के मध्यस्थ सर ओवेन डिक्सन ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल घोषित किया था। उन्होने राज्य मे भारतीय फौजों का रहना वैध स्थिर किया था। अत प्रश्न स्पष्ट है—आक्रामक को अपने आक्रमण का परिणाम भुगतना ही चाहिए, अत यहाँ वास्तविक प्रश्न जो अन्तर्ग्रस्त है वह काश्मीर राज्य की स्थिति का नही, अपितु पाकिस्तान द्वारा किये गये आक्रमण का है।

भारतीय दृढ निश्चय भी इस प्रसग मे स्पष्ट है कि जम्मू और काश्मीर भारत का अविभाज्य अग है और उस पर किसी प्रकार की मध्यस्थता वार्ता का प्रस्ताव करना भारत की आन्तरिक स्थिति मे हस्तक्षेप करना है, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से मान्य नही है, और यह कि पाकिस्तान तथाकथित आजाद काश्मीर पर बलपूर्वक कब्जा किये हुये है, यह अवैध है, और यह कि पाकिस्तान द्वारा वर्ष १९६५ मे पाकिस्तान और चीन के समझौता के परिणामस्वरूप चीन को नेफा और लद्दाख क्षेत्र में दिया गया २७,००० वर्ग मील का क्षेत्र भारत की क्षेत्रीय सीमा पर एक ऐसा अतिक्रमण है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत किसी भी प्रकार वैध नही माना जा सकता।

जम्मू और काश्मीर राज्य भारत का अविभाज्य अंग—प्रश्न यह है कि सुरक्षा-परिषद में समय समय पर हुई कार्यवाहियो के उपरान्त भी जम्मू और काश्मीर राज्य की भारत-सघ मे वैध स्थिति क्या है।

जम्मू और काश्मीर राज्य पर भारतीय सघ की सम्प्रभुता के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि भारत के सविधान के अनुसार जम्मू और काश्मीर राज्य भारतीय क्षेत्र का अग है। पाकिस्तान ने जातीय आक्रामको को सहायता करके भारत के इस राज्य पर आक्रमण किया था। कोई भी विदेशी शक्ति भारत से काश्मीर राज्य की माँग करने के लिए अधिकृत नही है, क्योकि जम्मू और काश्मीर राज्य का वैध रूप मे भारतीय सघ मे विलीनीकरण सपन्न हो चुका है, और यह कि वहाँ के लोकप्रिय प्रशासन एव जन साधारण की पूर्ण सहमति पर हुआ है। जम्मू और काश्मीर राज्य इस आधार पे अधीन है कि वह किसी विदेशी राष्ट्र से किसी सम्बन्ध में

प्रवेश न करे, क्योंकि संविधान के १६५० के जम्मू और काश्मीर आदेश के अन्तर्गत पूर्ण विलय सम्पन्न हो चुका है।

फरवरी, १९५४ में काश्मीर संविधानिका सभा ने अन्तिम रूप से भारत में सम्मिलित होने का निर्णय किया। काश्मीर के प्रधान मन्त्री ने उस समय घोषणा की कि जनमत संग्रह का आह्वान स्वयं भारत द्वारा आज से छः वर्ष पूर्व पाकिस्तान को दिया गया था, किन्तु पाकिस्तान इस आह्वान के प्रति उदासीन रहा। राज्य की जनता ने सबे छः वर्षों तक प्रतीक्षा की और ऐसा अनुभव किया की अब वे इससे अधिक द्विविधा और अनस्थिरता की स्थिति को राज्य और जनता की प्रगति में बाधक नहीं होने देंगे। इसलिये उन्होंने अपना विलय भारत संघ में अन्तिम रूप से करके इस अध्याय को सदा सदा के लिए निर्णीत और समाप्त कर दिया।

प्राय यह तर्क दिया जाता है कि अगस्त १५, १९४७ के बाद जम्मू और काश्मीर राज्य एक स्वतन्त्र राज्य बन गया और इसके उपरान्त इस राज्य का भारत मे विलय, दो सप्रभु राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय संधि का परिणाम है। इस प्रसंग में स्मरणीय है कि भारत से पाकिस्तान के हाथो शक्ति हस्तान्तरण के अवसर पर लॉर्ड माउण्ट बैटन ने भारतीय रियासतो को व्यवहारत स्वतन्त्र कर दिया था और कहा था कि, 'My scheme leaves you with all the practical independence that you can possibly use and makes you free of those subjects which you cannot possibly manage on your own. 'मेरी योजना आपको ऐसी समस्त व्यावहारिक स्वतन्त्रताओं के साथ छोड़ती है, जिसे कि आप संभाव्यत प्रयोग मे ला सकते हैं, और उन विषयों से पूर्णतया मुक्त करती है जिसे कि आप संभाव्य रूप से नियन्त्रित नही कर सकते।' उस समय केवल जूनागढ, हैदराबाद और काश्मीर तीन राज्यों को छोड़कर शेष सभी या तो पाकिस्तान या भारतवर्ष में सम्मिलित हो गये। भारत और पाकिस्तान के बीच सर्वप्रथम मतभेद नवाब जूनागढ़ द्वारा पाकिस्तान मे सम्मिलित होने की घोषणा और पाकिस्तान द्वारा उसकी स्वीकृति मिल जाने के प्रश्न पर प्रारम्भ हुई। उस समय पाकिस्तान की सरकार ने न तो भौगोलिक अनिवार्यताओं पर ही बल दिया और न जनमत संग्रह पर ही। किन्तु वही पाकिस्तानी सरकार काश्मीर के प्रश्न पर, जब कि काश्मीर वैध ढंग पर भारत में सम्मिलित हुआ, तब भौगोलिक अनिवार्यता और जनमत संग्रह पर बल देने लगी। पाकिस्तान का दृष्टिकोण इन राज्यो पर समान न रहा क्योंकि जूनागढ के प्रसंग मे उसने वहाँ की जनता की इच्छा और भौगोलिक तारतमिकता को पूर्णतया उपेक्षित कर केवल वहाँ के नवाब की घोषणा को पाकिस्तान मे सम्मिलन के

लिए पर्याप्त मान लिया था, किन्तु काश्मीर के प्रश्न पर अन्यथा रूप मे साम्प्रदायिक आधार का आश्रय लिया।

जम्मू और काश्मीर राज्य भारत सघ मे अपनी स्वेच्छा से सम्मिलित हुआ, भले ही एक ऐसे समय यह कार्य हुआ जब कि पाकिस्तानी आक्रमण के कारण इस राज्य की स्वतन्त्रता खतरे मे पड गई थी, फिर भी, किसी राज्य पर कोई बाह्य सकट आ जाने के कारण उसके द्वारा अपनी सम्प्रभुता मे किया गया पूर्णत वैध कार्य अवैध नही कहा जा सकता। भारत सघ की सरकार ने काश्मीर की इस आसन्न स्थिति से कोई लाभ नही उठाया, और न तो काश्मीर राज्य पर कोई दबाव ही डाला। इन परिस्थितियो मे राज्य का सम्मिलन विधि और तथ्य दानो रूपो मे उस दिन पूरा हो गया जिस दिन अधिमिलन के साधन का कार्यान्वयन किया गया।

जॉनसन के शब्दो मे कहा जा सकता है कि, "The legality of the accession is beyond doubt On this particular issue Jinnah has been hoist with his own petard, as it was he who chose over Junagadh to take his stand on the overriding validity of the ruler's personal decision"[1] अर्थात् राज्य के अधिमिलन की वैधता किसी भी शका से मुक्त है। इस विशेष प्रश्न मे श्री जिन्ना अपनी ही परिभाषा के प्रतिकूल हो गये हैं, क्योकि यह श्री जिन्ना का ही सुझाव था कि जूनागढ के प्रसग मे प्रशासक के वैयक्तिक निर्णय को अधिमान्य वैधता से युक्त माना जाय।

यह अधिमिलन आगे चलकर और भी दृढ हो गया जब कि जम्मू और काश्मीर राज्य ने भारत की सविधायिका सभा मे अपना प्रतिनिधि भेज कर लोकतन्त्रात्मक गणतन्त्र के सविधान को निर्मित करने मे सक्रिय भाग लिया और उसने भारत के सविधान को अगीकृत किया। उस समय से ही यह राज्य भारतीय सघ का सदस्य है। अत जम्मू और काश्मीर राज्य का भारत-सघ मे अधिमिलन बिना किसी शर्त के था और किसी वैध जनमत सग्रह के अधीन नही था। भारत के प्रधान मन्त्री ने काश्मीरी जनता को आत्म-निर्णय का पूरा अवसर दिया था और विगत सामान्य निर्वाचनो मे काश्मीर जनता ने इस अधिमिलन के पश्चात् भी भारत सघ मे अपनी सदस्यता को परिपुष्ट कर दिया है।

वर्ष १९६५ मे पाकिस्तान ने जम्मू और काश्मीर क्षेत्र के साथ ही भारत के अन्य उत्तर-पश्चिम और पाश्चमी भूभाग पर बल प्रयोग किया। इसके भी पूर्व हजारो की सख्या मे पाकिस्तानी घुसपैठिया ने जम्मू और काश्मीर मे तोड-फोड की कार्रवाई के द्वारा वहाँ के जनजीवन और प्रशासन व्यवस्था को ठप कर देना चाहा था। वहाँ

1 Johnson: Mission with Mountbatten, p. 225

जनता ने इन छद्मवेशी घुसपैठियों को मार भगाने तथा पाकिस्तान के खुले आक्रमण का सामना करने में जिस दृढ़ निश्चय और संकल्प को व्यक्त किया उससे भारत से उसकी अविभाज्यता और भी पुष्ट और प्रमाणीकृत हो गई। पाकिस्तान अब भी अन्तर्राष्ट्रीय परिवार के बीच अपनी पुरानी राग अलाप रहा है, किन्तु भारत ने सुरक्षा परिषद् की बैठकों में स्पष्टतः संसार के समक्ष घोषित कर दिया है कि काश्मीर की यदि कोई समस्या सुलझने को शेष रह गई है, तो यही कि पाकिस्तान अपने द्वारा इस राज्य के हड़पे हुये २७,००० वर्ग मील क्षेत्र को, जिसे उसने 'आजाद कश्मीर' का नाम दे रखा है, भारत को लौटा दे। इसके अतिरिक्त काश्मीर के संबंध में किसी अन्य प्रश्न को उठाना भारत की आन्तरिक व्यवस्था और सम्प्रभुता पर हस्तक्षेप करना है, भारत और भारतीय जनता किसी भी मूल्य पर अपने आन्तरिक मामलों में तथा अपनी सम्प्रभुता पर कोई भी वाह्य हस्तक्षेप स्वीकार नहीं कर सकता।

५—विजय तथा पराभव (Conquest and Subjugation)—विजय शत्रु के क्षेत्र को युद्ध के समय में सैनिक शक्ति द्वारा प्राप्त करने को कहते हैं। विजय द्वारा वैध अधिकार तब उत्पन्न होता है जब क्षेत्र सैनिक विजेता द्वारा पूर्णतः दखल और नियंत्रित कर लिया जाता है, तथा विजयी राज्य विजित क्षेत्र को घोषणा द्वारा अपने में संयुक्त कर लेता है।

विजय की घोषणा के उपरान्त शत्रु-राज्य का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसके स्थान पर विजेता का राज्य क्षेत्र वह मान लिया जाता है। युद्ध की समाप्ति कर दी जाती है। युद्ध की इस प्रकार समाप्ति को ओपेनहेम ने पराभव (subjugation) की संज्ञा दी है। उनके अनुसार तो विजय के द्वारा किसी राज्य-क्षेत्र को नहीं प्राप्त किया जाता, बल्कि पराभव के द्वारा ही राज्य क्षेत्र की प्राप्ति होती है। विजित शत्रु-राज्य का क्षेत्र विजेता शत्रु-सम्प्रभु के अधीन रहता है। किसी राज्य को अपनी सम्प्रभुता में ले लेना ही विजय को पराजय या पराभव में बदल देता है।

उपरोक्त से यह स्पष्ट है कि विजय का वैध-स्वरूप तभी उत्पन्न होता है, जब कि सैनिक विजेता द्वारा उस राज्य पर पूरा आधिपत्य कर लिया जाता है और समुचित घोषणा द्वारा उस राज्य का विजेता राज्य में अधिमिलन हो जाता है।

गोआ की स्वतन्त्रता (मुक्ति)
(Liberation of Goa)

घटनाचक्र का विवेचन :—गोवा अब स्वतंत्र है। अब वहाँ फिर से भारत का अपना शासन स्थापित हो चुका है। गोआ अब एक पुर्तगाली उपनिवेश नहीं, भारत के अविभाज्य अंग के रूप में एक पूर्ण प्रभुता-सम्पन्न राज्य की इकाई है।

भारत छोड़कर अंग्रेज चले गये थे। लेकिन पुर्तगालियों की हठधर्मी का परिणाम था कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत की ओर से सद्भावनापूर्ण बार-बार गोआ को मुक्त करने की प्रार्थना अस्वीकृत कर दी गई। सहन-शक्ति की एक सीमा होती है और जब यह पूर्णतया निश्चित हो गया कि पुर्तगाल के प्रशासकों मे शान्तिपूर्ण उपायो से सद्बुद्धि नही जग सकेगी तो विवश होकर भारत को सैनिक कार्यवाही की शरण लेनी पड़ी।

गोआ, डामन और ड्यू को स्वतन्त्र कराने के लिए भारत की ओर से जो सैनिक कार्यवाही करनी पडी उससे भारत के भाग स्वतन्त्र तो हो गये, किन्तु इस विषय को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे एक विशेष चहल-पहल का विषय बना दिया गया। कुछ राष्ट्रो ने तो भारत की इस कार्यवाही का मुक्त कठ से समर्थन किया किन्तु कुछ राष्ट्रो मे इस विषय पर मतैक्य नही रहा। इस कार्यवाही को एफ्रो-एशियाई देशो ने पूर्णत समर्थन किया किन्तु ब्रिटेन और अमेरिकी गुट ने इसकी आलोचना भी की। कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि यह कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के सम्बन्धो के सर्वथा प्रतिकूल है।

गोआ, डामन और ड्यू का कुल क्षेत्र १५३८ वर्ग मील है। यहाँ की जन-सख्या लगभग ६ लाख के है। यह भू-भाग दिसम्बर १९६१ के पूर्व तक पुर्तगालियों की अधीनता मे लगभग साढे चार सौ वर्ष से था। पुर्तगाल ही पहला यूरोपीय राष्ट्र था जिसने भारतीय क्षेत्र की कुछ भूमि पर अधिकार किया था। तीन यूरोपीय महान् शक्तियो मे से पुर्तगाल ही सबसे अन्तिम था जिसे भारतीय स्वतन्त्रता के पश्चात् भी भारत छोड़कर हटना शेष था। कोई भी उपाय जब बाकी न रहा तो विवश होकर भारत ने सैनिक कार्यवाही की ओर कदम बढ़ाया जिसके परिणाम-स्वरूप पुर्तगालियो को इन बस्तियो को छोड़कर दिसम्बर १९६१ मे भागना पड़ा। भारत अब औपनिवेशिकता के बन्धनो से पूर्णत मुक्त है।

राज्य-क्षेत्र पर दखल (Possession of the Territory) — अन्तर्राष्ट्रीय विधि इस सिद्धान्त को प्रवर्तित करती है कि यदि कोई राज्य-क्षेत्र किसी अन्य की अधीनता से निकल कर अपने मौलिक राज्य की सीमा मे आ जाय और यदि जनता विदेशी शासक के हाथो से निकल कर अपने राज्य के क्षेत्र में सम्मिलित हो जाय या मौलिक राज्य उस विदेशी सत्ता से अपना क्षेत्र बलपूर्वक वापस कर ले या विदेशी शासन स्वत. उसे मुक्त कर दे, तो वह क्षेत्र विदेशी सत्ता के नियन्त्रण से पूर्ण रूप से मुक्त हो जाता है। गोआ, डामन और ड्यू की बस्तियों को भारत ने पुर्तगाल से वापस प्राप्त कर पुन अपने राज्य-सीमा में सम्मिलित कर लिया, और उन बस्तियों पर पूर्ण वैध हक स्थापित हो गया। राज्य-क्षेत्र के इस प्रकार के

यन की वैधता को 'ईस्टर्न ग्रीनलैंड विवाद' [१९३३ ए/बी० ५३] में अन्तर्राष्ट्रीय स्थायी न्यायालय ने स्वीकार किया था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद २ के अन्तर्गत विश्व-शान्ति और सुरक्षा के निमित्त राज्यों पर यह आभार रखा गया है कि क्षेत्रीय हक या राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए बल प्रयोग न किया जाय। किन्तु इस प्रकार राज्य-क्षेत्र की पुनर्प्राप्ति ऐसी परिस्थिति में वैध होती है जब कि किसी विशिष्ट परिवाद की न्यायिकता का प्रमाण पहले से ही सिद्ध हो चुका हो।

भारत की नीति शान्ति की नीति सदैव से ही रही है। यह किसी सैनिक-संधि से न तो बंधा है और न गुटबन्दी को प्रश्रय ही देता है। शान्ति-प्रियता के साथ ही तटस्थता की नीति भी उसकी अकाट्य रही है। पुर्तगाल नार्थ अटलांटिक ट्रीटी आर्गेनाइजेशन की नींव डालने वालों में मुख्य रहा है। उस संधि की धारा ५ में यह विशिष्ट रूप से व्यवस्था है कि यूरोप या अमेरिका के समस्त सदस्य-राष्ट्रों में से किसी भी सदस्य पर सैनिक आक्रमण किया जाता है तो वह पूरे संगठन पर आक्रमण माना जायेगा और यह कि उत्तर अटलांटिक क्षेत्र की शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए वे सैनिक सहायता भी आक्रमण करने वाले के विरुद्ध करेंगे। गोआ में पुर्तगालियों की शक्ति अत्यन्त ही सघन रूप से केन्द्रीभूत हो गई थी। उत्तर अटलांटिक ट्रीटी आर्गेनाइजेशन का सदस्य होने के नाते यह संभावना भी बढ़ रही थी कि गोआ को ये शक्तियाँ न्यूक्लियर अड्डा (nuclear base) के रूप में न परिवर्तित कर दें।

आत्म-रक्षा का सिद्धान्त —भारत ने १४ वर्षों तक लगातार इस बात की प्रतीक्षा की कि पुर्तगाली बुद्धिमत्ता-पूर्वक भारतीय क्षेत्र को शान्ति पूर्ण ढंग से स्वतन्त्र कर देंगे। सैनिक संधि से बँधे होने के कारण पुर्तगालियों ने गोआ में सैनिक-शक्ति को निरन्तर बढ़ाना ही जारी रखा। अन्य कोई उपाय जब न रह गया, तब भारत को विवश होकर अपनी स्वाधीनता की रक्षा और खोये हुये राज्य-क्षेत्र की प्राप्ति हेतु सैनिक शक्ति को प्रयोग में लाना पड़ा। यह सैनिक कार्यवाही किसी दूसरे देश पर राज्य विस्तार की आकांक्षा से आक्रमण नहीं था। भारत ने इस कार्यवाही में किसी भी प्रकार संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के प्रतिबन्धों को नहीं तोड़ा। गोआ की भूमि, वहाँ की इमारतें, वहाँ की जनता कुछ भी पुर्तगाल वालों का नहीं था। भारत ने केवल अपने खोये हुये राज्य क्षेत्र को मुक्त करने के उद्देश्य से यह सैनिक कार्यवाही की थी। पुर्तगाली प्रशासन गोआ में विदेशी सत्ता के विद्यमान होने की प्रतीक रह गई थी। संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुसार सदस्य राष्ट्रों का यह दायित्व है कि उन क्षेत्रों में जहाँ आत्म-शासन प्रवर्तित नहीं है, अधिक से अधिक आत्म-शासन

करने की ओर ध्यान दें। साधारण सभा ने कई बार अपने प्रस्तावो द्वारा उपनिवेश वाद को समाप्त करने की ओर सक्रिय कार्यवाही की अपील की है, किंतु वे प्रस्ताव अनसुने कर दिये गये। ऐसी स्थिति मे कोई भी राज्य अपनी सम्प्रभुता, स्वतन्त्रता और राज्य-क्षेत्र की रक्षा हेतु सैनिक बल का ही प्रयोग करता। भारत ने भी इसके अलावा और कुछ नही किया। अस्तु, उसकी न्यायिकता पर किसी भी प्रकार की द्विविधा नही उत्पन्न हो सकती।

चार्टर और सैनिक संधियाँ (U. N Charter and Military Alliances) —आज उपनिवेशवाद को समाप्त करने की ओर बल दिया जा रहा है और हर देश को अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखने के अधिकार को बढावा दिया जा रहा है। सयुक्त राष्ट्र के चार्टर मे सैनिक-गुटबन्दियों या सैनिक सन्धियों का समर्थन नही किया गया है। पुर्तगाल 'नाटो' का एक सक्रिय सदस्य है। अस्तु, चार्टर का विरोध स्वभाव से पुर्तगालियो ने ही किया था।

सैनिक कार्यवाही की वैधता (Legal Aspect of Military Operation) —गोआ की स्वतन्त्रता के लिए भारत की ओर से जो सैनिक कार्यवाही की गई उसे हम अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे आक्रमण नही कह सकते। पुर्तगाली स्वय आक्रमण की स्थिति मे थे और भारत की ओर से सैनिक कार्यवाही अपनी सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता की रक्षा तथा अपने राज्य की पुन प्राप्ति हेतु ही किया गया था।

भारत आक्रमणकारी नहीं था। उसने राज्य-विस्तार के लिए किसी दूसरे राज्य-क्षेत्र पर आक्रमण नही किया था। उसने अपने राज्य-क्षेत्र की स्वतन्त्रता के लिए पुर्तगालियो से निवेदन किया। १४ वर्ष तक शान्तिपूर्ण ढग से प्रतीक्षा करने के उपरान्त भी जब समस्या का कोई हल पुर्तगाली उपनिवेशवादियो की ओर से नही हुआ तो प्रतिक्रिया का होना आवश्यक था।

अन्त में दिसम्बर १५, १९६२, को सयुक्त राष्ट्र सघ की साधारण सभा मे पुर्तगाल-उपनिवेशो के विरुद्ध निश्चित रूप से प्रस्ताव भी पारित हुये थे।

इन सब तथ्यो को दृष्टि में रखते हुए भारत को गोआ की स्वतन्त्रता हेतु किये गये कार्य कदापि अप्रधर्षक कार्य नही कहे जा सकते। विश्व मे जन तान्त्रिक प्रणाली एव सभी देशो की सर्वव्यापी स्वतन्त्रता के सिद्धान्त मे जिसे किंचित् भी विश्वास है, वह भारत-पुर्तगाल सम्बन्धी यथार्थता को देखते हुये भारत की कार्यवाही का समर्थन करने से कभी पीछे नही रहा है।

मूल तथा उप-रीतियाँ (Original and Derivative Methods) —उपर्युक्त कथन की समीक्षा करने से यह प्रकट होगा कि क्षेत्र प्राप्त करने की दो

सामान्य रीतियो मे से परित्याग क्षेत्र प्राप्त करने की उपरीति है किन्तु दखल, भोगाधिकार, वृद्धि तथा विजय या परामव क्षेत्र प्राप्त करने की मूल रीतियाँ हैं। विजय क्षेत्र प्राप्त करने की दो रीतियाँ अर्थात् मूल तथा उप के बीच मे है। इसके अनन्तर परित्याग का होना आवश्यक है।

क्षेत्र प्राप्त करने की रीति के रूप मे दखल विजय से कुछ भिन्न है। विजय की दशा मे क्षेत्र अन्य राज्य की सम्पत्ति होती है किन्तु दखल की दशा मे प्रभुसत्ता ऐसे क्षेत्र पर स्थापित की जाती है जैसा उस समय अन्य राज्य की प्रभुसत्ता के अधीन नही है अथवा जो कि किसी की सम्पत्ति नहीं है। इसे हम अनधिकृत (res nullius) क्षेत्र कहते हैं।

दखल परित्याग से इस बात मे भिन्न है कि परित्याग द्वारा प्राप्त करने वाले राज्य का सम्बन्धित क्षेत्र के ऊपर प्रभुसत्ता पहले अधिकारी राज्य से सन्धि द्वारा प्राप्त होती है किन्तु दखल की दशा मे सर्वोच्च सत्ता ऐसे क्षेत्र के ऊपर स्थापित होती है जो किसी की भी सम्पत्ति नही है। इस प्रकार परित्याग प्राप्त करने की उपरीति है किन्तु दखल क्षेत्र प्राप्त करने की मूल रीति है।

अन्त में परित्याग तथा विजय के बीच का भेद भी ध्यान में रखने योग्य है। जब कोई सैनिक दल किसी राज्य के क्षेत्र पर विजय द्वारा दखल करता है जिसे युद्ध की समाप्ति पर शान्ति की सन्धि द्वारा पुष्ट किया जाता है तो क्षेत्र के ऊपर वैध अधिकार परित्याग द्वारा उत्पन्न होता है न कि विजय द्वारा। ओपेनहेम इसे परामव (subjugation) का रूप देते हैं।

६—न्याय-निर्णय और पंचाट (Adjudication and Award) :—प्रादेशिक प्रभुसत्ता प्राप्त करने के अतिरिक्त राज्यो के सम्मेलन द्वारा न्यायिक अथवा पचायती निर्णय की रीति हैं। इन्हे पारिभाषिक शब्दावली मे न्याय-निर्णय (adjudication) और पचाट (award) कहते हैं। वर्साई के शान्ति-सम्मेलन मे यूरोप का प्रादेशिक पुनर्वितरण इस विषय का एक उदाहरण है।

७—पट्टे (*Leases*) :—क्षेत्र प्राप्त करने की एक और भी रीति है जो पट्टो द्वारा की जाती है। सन् १८९८ मे चीन द्वारा कियोचाऊ का जर्मनी को, क्वागचुवान का फ्रास को तथा पोर्टआर्थर का २५ वर्ष के लिए रूस को पट्टे पर देना तथा सन् १९०३ मे पनामा प्रजातन्त्र द्वारा पनामा नहर का सयुक्त राज्य को सर्वदा के लिए पट्टे पर देना इस रीति से क्षेत्र प्राप्त करने के उदाहरण हैं।

राष्ट्रीय क्षेत्र की हानि :—क्षेत्र प्राप्त करने की ५ सामान्य रीतियाँ उसको खो देने की रीतियो के अनुरूप हैं। अत क्षेत्रीय प्रभुसत्ता त्याग (जो प्राप्त करने की

दखल की रीति के समान है), भोगाधिकार, प्राकृतिक कार्य (जो प्राप्त करने की रीति अर्थात वृद्धि के अनुरूप है), परित्याग तथा विजय या पराभव द्वारा खोयी जा सकती है। राष्ट्रीय क्षेत्र को खो देने की इन ५ रीतियों मे एक छठी रीति जोड़ी जा सकती है, वह है विप्लव।

सन् १५७६ मे नीदरलैंड का स्पेन से अलग हो जाना, १७७६ मे संयुक्त राज्य अमेरिका का ग्रेट ब्रिटेन से, सन् १८२२ में ब्रेजील का पुर्तगाल से तथा सन् १८३० में बेल्जियम का नीदरलैंड से विच्छेद विप्लव द्वारा ही क्षेत्र के अलग हो जाने के उदाहरण हैं।

अध्याय १४
क्षेत्राधिकार
(Jurisdiction)

प्रत्येक राज्य को अपने क्षेत्र के भीतर स्थित सब व्यक्तियों तथा वस्तुओ पर अधिकार है। ऐसे व्यक्ति ऐसी प्रजा के अन्तर्गत आते हैं जिनका जन्म वहीं हुआ हो अथवा जिनको उसी देश का बना लिया गया हो। वे अन्य-देशीय भी हो सकते हैं जो अपना स्थायी निवास वहाँ बना लिये हो। वस्तुओ के सम्बन्ध मे तो राज्य के नियन्त्रण मे जितनी सम्पत्ति है वह सब सम्मिलित है। इसका अधिकार क्षेत्र इसके क्षेत्रीय जलभागो तथा बन्दरगाहो पर स्थित अपने जहाजो तथा उन पर किये गये सब कार्यों पर भी है। इसका अधिकार क्षेत्र अपने बन्दरगाहो तथा क्षेत्रीय जलभागो पर भी है। इन व्यक्तियों तथा वस्तुओ के सम्बन्ध मे अपने क्षेत्रीय प्रभुत्व के भीतर यह (अधिकार) अनन्य तथा परम है।

जहाँ तक एक देश के क्षेत्रीय जल का सम्बन्ध है शान्तिपूर्ण उद्देश्य से विदेशी राज्य के जहाजों को चलन का अधिकार है। १९३० के हेग कोडिफिकेशन कान्फ्रेंस मे इस सम्बन्ध मे विस्तृत नियम, उप-नियम भी बनाये गये थे। इन नियमो का उल्लेख पूर्व के प्रसंगो मे किया जा चुका है।

खुले हुए समुद्र पर क्षेत्राधिकार :—क्षेत्रीय जलभागो के अतिरिक्त खुला हुआ समुद्र किसी राज्य के प्रभुत्व के अन्तर्गत नही है। इसकी स्वतन्त्रता अब पूर्णतः निश्चित है : The Behring Sea Arbitration, १८९३। अन्तर्राष्ट्रीय विधि शास्त्र का यह एक असन्दिग्ध निर्देश है कि बड़े समुद्रो में सब राज्यों के जहाजो को

चलाने का अधिकार है। उसका कारण यह है कि खुले हुए समुद्र पर निरन्तर अधिकार नहीं रक्खा जा सकता तथा यह स्थायी रूप से विनियोजित नहीं हो सकता। इसका कारण यह भी है कि इसका उपयोग अनन्त है, अतः यह सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए समान है। नौचालन की स्वतन्त्रता एक ऐसा तथ्य है जो समस्त सभ्य राज्यों द्वारा स्वीकृत है।

कोई राज्य फिर भी निम्नलिखित विषयों के सम्बन्ध में बड़े-बड़े समुद्रों पर भी क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकता है :—

(१) अपने जलपोतों, वस्तुओं तथा व्यक्तियों पर जो उन पर स्थित हों।

(२) समुद्री डकैती (piratical acts) के कार्यों के सम्बन्ध में।

(३) विदेशी जलपोतों के सम्बन्ध में जो अनधिकृत रूप से इसका झंडा लगाये हों।

(४) युद्ध में लगे हुए राज्य द्वारा तटस्थ राज्य के व्यापारी जहाजों को इन बातों के निरीक्षण तथा तलाशी लेने के सम्बन्ध में कि क्या वे नाकाबन्दी तोड़ने के प्रयत्न में अथवा निषिद्ध वस्तुओं के ले जाने में अथवा शत्रु की ऐसी सेवायें करने में जो तटस्थता के नियम के विरुद्ध हों, लगे तो नहीं हैं।

(५) शान्ति के समय में खुले हुए समुद्रों पर 'तीव्र पीछा' करने (hot pursuit) के सम्बन्ध में जब कि विदेशी जलपोत क्षेत्रीय जलभागों के भीतर किसी स्थानीय नियम को भंग करने के उपरान्त खुले हुए समुद्र में भाग जाते हैं इस अनुबंध के साथ कि उसका तत्काल पीछा किया जाय।

सामुद्रिक मार्ग-स्वतंत्रता के सम्बन्ध में वैध धारणाएँ (Legal conceptions on the freedom of the High Seas) :—सामुद्रिक मार्ग-स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में दो भिन्न वैध धारणाएँ हैं। पहला सिद्धान्त तो यह है कि समुद्र किसी की वैयक्तिक सम्पत्ति नहीं है। इसे अनधिकृत (res nullius) क्षेत्र इसलिए कहा जाता है कि समुद्री मार्गों पर किसी की सप्रभुता विद्यमान नहीं है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि समुद्र प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति है। इसे हम सार्वजनिक सम्पत्ति या सर्वाधिकृत (res communis) कह सकते हैं। इसका कारण यह है कि समुद्र अन्तर्राष्ट्रीय नौ-चालन या व्यापार के महत्वपूर्ण स्रोत हैं, इसलिए सबके अधिकार में समान रूप से हैं। उपरोक्त दोनों सिद्धान्त आलोचना से मुक्त नहीं हैं। Fauchille का कथन है कि यदि यह मान लिया जाय कि समुद्र सर्वथा अनधिकृत (res nullius) हैं, तब भी रोमन विधि के अनुसार मानना पड़ेगा कि वह वस्तु जो किसी की नहीं है, किसी की बनायी जा सकती है। दूसरी ओर यदि समुद्र को

सार्वजनिक (res communis) मान लिया जाय तो सभी राज्य समानरूप से इसके अधिपति हो जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इन्स्टीट्यूट ने निम्नलिखित तथ्य स्वीकार किये थे — (१) समुद्री भाग की स्वतन्त्रता, (२) मछली पकड़ने की स्वतन्त्रता, (३) सब मैरीन की स्वतन्त्रता तथा (४) समुद्र पर हवाई उड़ान की स्वतन्त्रता।

सार्वजनिक जहाज :—सार्वजनिक जहाज विदेशीय बन्दरगाहों में स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त हैं, फिर भी वे बन्दरगाह के विनियमों के अन्तर्गत हैं। जहाज जो किसी राज्य का राष्ट्रीय झंडा लगाये रहता है क्षेत्राधिकार के प्रयोजनों के लिए उस राज्य का तैरता हुआ एक क्षेत्र समझा जाता है चाहे जहाज मुख्य समुद्रों में हो अथवा विदेशीय क्षेत्रीय जलमार्गों के भीतर हो।

समुद्री डकैती (Piracy) :—प्रत्येक राज्य को अपने जलपोतों द्वारा पकड़े गये समस्त डाकुओं पर क्षेत्राधिकार रहता है। समुद्री डकैती, समुद्रों पर डाका डालना अथवा समुद्र पर सशस्त्र बलात्कार करना है जो युद्ध का एक न्यायोचित कार्य नहीं है। ऐसे कार्य प्रभु सत्ताधारी राज्य द्वारा अधिकृत नहीं किये जाते। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार यह एक अपराध है। यह सभ्य राज्यों के सम्पूर्ण समुदाय के विरुद्ध अपराध है और किसी विशिष्ट राज्य के विरुद्ध लक्षित नहीं है।

खुले हुए समुद्र में मत्स्य क्षेत्र (Fisheries in the Open Sea) :—खुले हुए समुद्र की स्वतन्त्रता के कारण यह स्पष्ट है कि उस पर स्थित मत्स्य-क्षेत्र सब राज्यों के जलपोतों के लिए खुले हैं। मछलियाँ तथा समुद्रीय जन्तु उस समय तक किसी की 'सम्पत्ति' नहीं है जब तक वे पकड़ी न जायँ। अत. प्रत्येक राज्य को यह अधिकार है कि खुले समुद्र पर अपने जलपोतों द्वारा मछली पकड़ने के अधिकार के प्रयोग के लिए विधि बनाये।

समुद्री पेटी के सम्बन्ध में फिर भी तटीय राज्य को मत्स्य-क्षेत्र को अपनी प्रजा के लिए सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार है।

समुद्र की सतह :—बहुत से मामलों में ब्रिटिश न्यायालय द्वारा इस निर्णय तक पहुँचा गया है कि समुद्र की सतह का स्वामी क्राउन होता है। न्यायाधीश ... ने Lord Fitzhardinge v. Purcell (1908) 2 Ch. 139, 166 के मामले में अपना विचार प्रकट किया था कि "Clearly the bed of the sea, at any rate for some distance below low water mark, and the beds of tidal navigable rivers, are prima facie vested in the Crown, and there seems no good reason why the ownership thereof by the Crown should not also, subject to the rights of the public, be a beneficial owner-

अर्थात् "स्पष्टत. समुद्र का तल किसी भी दर पर पानी के अध तल मे कुछ दूर तक और ऊर्मिल नौचालन योग्य नदियो तक प्रथमदृष्ट्या रूप मे 'क्राऊन' मे निहित है और इस बात का कोई पर्याप्त कारण नही मिलता कि 'क्राऊन' का उस पर स्वामित्व भी क्यो न, लोक-अधिकारो के अधीन रहते हुये, एक लाभकारी स्वामित्व माना जाय ?"

सर सेसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst) ने दो प्रमुख विवादों के निष्कर्ष-स्वरूप प्राधिकारिक रूप से लिखा है कि कुछ भी हो जहाँ तक ग्रेट ब्रिटेन का सम्बन्ध है, तीन मील के भीतर समुद्र की सतह का स्वामित्व इस बात के लिए और भी मार्ग खोल देता है कि समुद्र के सतह के स्वामित्व और उसकी प्रभुसत्ता की विस्तृत माँग की जाय। जहाँ पर तीन मील की सीमा के बाहर दखल मजबूती से स्थापित किया गया है वहाँ उसमे वैधता आ गई है और उस वैधता को अन्य राज्यों ने स्वीकार भी किया है।

पुराना सिद्धान्त यह है कि चूँकि समुद्र या समुद्री मार्ग किसी राज्य विशेष की सम्पत्ति नही है, इसलिए समुद्र की ऊपरी और भीतरी सतह किसी राज्य की प्रभुसत्ता के अन्तर्गत नही आ सकता। यह सिद्धान्त अब नही माना जाता। अब यह स्वीकार किया जाता है कि समुद्र की भीतरी सतह में भी तटवर्ती राज्यो का आधिपत्य हो सकता है और उन पर वे विविध प्रयोग कर सकते हैं। यद्यपि अभी तक ऐसे कोई नियम नही बने हैं जिन्हे हम राज्यो को नियन्त्रित करने वाले कानून कह सके फिर भी समुद्र की भीतरी सतह मे भिन्न-भिन्न प्रयोगो को आजकल न्याय्यतः माना जाता है।

ओपेनहेम के अनुसार पाँच नियम बनाये गये हैं जो कि समुद्र की भीतरी सतह पर आधिपत्य के प्रश्न का निराकरण करते है। ये नियम सूत्र रूप में ही हैं :—

१—खुले हुए समुद्र की भीतरी सतह किसी भी राज्य के अधिकार की सीमा में नहीं आती किन्तु तटवर्ती राज्यों द्वारा दखल के आधार पर उस पर स्वामित्व प्राप्त किया जा सकता।

२—यह दखल तथ्य रूप मे स्थापित होता है।

३—भीतरी सतह के दखल की सीमा दूसरे राज्य के क्षेत्रीय जल-पेटी की सीमा की रेखा तक निर्धारित की जा सकती है क्योंकि खुले समुद्र की भीतरी सतह को प्राकृतिक रूप से अपने अधिकार के अन्तर्गत करने का स्वत्व किसी एक राज्य को नही प्राप्त है।

४—समुद्र की भीतरी सतह मे दखल का उद्देश्य यदि खुले समुद्र की स्वतन्त्रता में बाधा डालना है तो यह किसी भी प्रकार मान्य नही हो सकता।

५—इसी प्रकार से यदि पहले से ही खुले हुए समुद्र की भीतरी सतह पर दखल स्थापित किया गया है तो खुले समुद्र की स्वतन्त्रता को खतरे में डालने वाला ऐसा स्वत्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

खुले समुद्र पर अणु-परीक्षण :—संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की लीगल कमेटी में दिसम्बर १९५६ में भारतवर्ष ने इस बात का सबल समर्थन किया था कि समुद्रों पर थर्मो-न्यूक्लियर (thermo-nuclear) प्रयोग स्पष्ट रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अतिक्रमण करेंगे। भारतीय प्रतिनिधि श्री जी० एस० पाठक ने कहा था—"If the claim to conduct thermo nuclear tests in the open seas were to be recognised, the whole law of the sea, will have to be rewriten and we will have to start anew from the 18th century"

अर्थात् यदि खुले समुद्र में थर्मो-न्युक्लियर परीक्षणों के दावे को मान्यता प्रदान की जाय, तो समुद्र की समस्त विधि को फिर से, नये सिरे से लिखे जाने की आवश्यकता होगी और हमें अठारहवीं शताब्दी के बाद से एक नये रूप में आरम्भ करना होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग को साधारण बहस में भाग लेते हुए भारतीय प्रतिनिधि ने कहा था कि "भारतवर्ष इन आणविक प्रयोगों से असम्बद्ध नहीं रह सकता और यह कहना अनुचित न होगा कि रेडियो-ऐक्टिव धूल कलकत्ता की गलियों तक पहुँचती है। आयोग द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि समुद्र हर राष्ट्र के लिए मुक्तरूप से खुले हुए हैं और कोई भी राष्ट्र समुद्र के किसी एक हिस्से पर अपनी सम्प्रभुता के अन्तर्गत नहीं कर सकता। इससे यह निष्कर्ष निकला कि खुले हुए समुद्र पर किसी की सम्प्रभुता का प्रयोग कानून की दृष्टि से मान्य नहीं है, भले ही दखल की अवधि और दूरी कितनी ही क्यों न हो।

"जब कोई राष्ट्र थर्मोन्युक्लियर प्रयोगों में व्यस्त होता है तो वह समुद्र के एक हिस्से को जहाँ वह निषिद्ध क्षेत्र (prohibited area) घोषित करता है अर्थात् वास्तविक रूप में वह उस भाग को अपने एकाधिकार में सुरक्षित कर लेता है और उसे अपने राज्य क्षेत्र के रूप में प्रयोग में लाता है।" इस प्रकार समुद्र के एक भाग पर वह अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करता है किन्तु समुद्र पर एकाधिकार इतिहास और कानून की गतिशीलता को देखते हुए कभी मान्य नहीं किया जा सकता" उन्हीं के शब्दों में "The argument that the seven seas have large areas and certain seas is State can confine its operations to only a small part of certain seas is obviously not valid" अर्थात् यह तर्क कि सात समुद्रों के अन्तर्गत व्यापक क्षेत्र हैं और एक राज्य अपने प्रयोगों को कुछ समुद्रों के किसी छोटे टुकड़े तक सीमित रख सकता है,—एक वैध और मान्य तर्क नहीं है।

इस प्रश्न का निराकरण करते हुए भारतीय प्रतिनिधि ने कहा था कि इसका केवल एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह है कि ऐसे आणविक और रेडियो-ऐक्टिव प्रयोग समुद्री क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अतिक्रमण करेंगे। संयुक्त राष्ट्रसंघ मानवीय अधिकारों और सदस्य-राज्यों के हितों का संरक्षक है और ऐसे प्रयोग मानवता के प्रतिकूल हैं तथा चार्टर के सिद्धान्तों के विरुद्ध हैं।

तीन मील के सामुद्रिक क्षेत्राधिकार का प्रश्न—तटवर्ती राज्यों का क्षेत्रीय सामुद्रिक अधिकार साधारणतया तीन मील की दूरी तक माना जाता है किन्तु भारतीय प्रतिनिधि ने उसे भी समीचीन नहीं माना है। उनका कहना था कि जिन कारणों से क्षेत्राधिकार की सीमा निर्धारित की गई थी वे अब समय की गति के अनुकूल नहीं हैं, इसलिए अब हम उस नियम को नहीं मान सकते। भारत ने यह सीमा खाद्य और खनिज पदार्थों की दृष्टि से ३ मील बताई, किन्तु आर्थिक महत्व की दृष्टि से वह घटाई बढ़ाई भी जा सकती है।

दीवानी तथा आपराधिक क्षेत्राधिकार (Civil and Criminal Jurisdiction):—समुद्री क्षेत्र में अपराध करने वाले विदेशी वैयक्तिक पोतों पर भी राज्य अपने क्षेत्राधिकार का दावा करते हैं। यह दावा आपराधिक कार्यों (criminal acts) तथा राष्ट्रिक या नागरिक अपराधों (municipal offences) दोनों के सम्बन्ध में किया जाता है। व्यवहारिक क्षेत्राधिकार बन्दरगाह के विनियमों तथा संक्रामक रोग सम्बन्धी नियमों के पालन तक विस्तृत हैं। यदि कोई व्यक्तिगत पोत मौसम अथवा दैवी उत्पात के कारण भाग कर आ जाय तो बन्दरगाह की स्थानीय विधि उस पर लागू नहीं की जाती, किन्तु जहाज को तटवर्ती राज्य की किसी विधि का उल्लंघन न करना चाहिए।

एस० एस० लोटस (S. S. Lotus) वाले मामले में टर्की ने एक फ्रांसीसी वाष्पचालित पोत द्वारा खुले हुए समुद्र पर किये कार्य पर जिसका कि प्रभाव टर्की के जहाज पर पड़ा, क्षेत्राधिकार का दावा किया था। इस मामले के संक्षिप्त तथ्य इस प्रकार हैं। *अगस्त २ सन् १६२६ को फ्रांसीसी डाक ले जाने वाले स्टीमर 'लोटस'* (Lotus) तथा टर्की का कोयलावाही जहाज 'बोज-कोर्ट' (Boz Kourt) परस्पर टकरा गये। परिणामस्वरूप टर्की का जहाज नष्ट हो गया। टर्की के उन ८ राष्ट्रीय जनों की मृत्यु हो गई जो जहाज पर थे। जब 'लोटस' कुस्तुनतुनिया पहुँचा तो टर्की की सरकार ने टर्की के जहाज के कप्तान 'हसन बे' तथा फ्रांसीसी जहाज 'लोटस' की रक्षा में नियुक्त पदाधिकारी लेफ्टीनेन्ट 'डेमों' (Demons) के विरुद्ध संयुक्त आपराधिक कार्यवाहियों का आरोप लगाया। इस आरोप में मानव-हत्या का भी अपराध सम्मिलित था। उन दोनों को कारावास के दण्ड का आदेश हुआ।

फ्रासीसी सरकार ने फ्रांसीसी पदाधिकारी की मुक्ति के लिए कूटनीतिक प्रावेदन किये। उन्होने यह दावा किया कि उनके जहाजों पर मुख्य समुद्रों पर किये गये कार्यों पर उनका ही अनन्य क्षेत्राधिकार है। किन्तु टर्की के दंड विधान में विदेशियों के लिए भी जो टर्की अथवा टर्की की प्रजा के विरुद्ध कार्य करें उसके क्षेत्राधिकार की व्यवस्था की गई थी। क्षत्राधिकार का झगड़ा एक स्वीकार-पत्र द्वारा हेग में स्थित अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय को निर्देशित किया गया। न्यायालय ने अध्यक्ष (President) के निर्णायक मत से यह निर्णय किया कि टर्की ने फ्रांसीसी पदाधिकारी के विरुद्ध दंड कार्यवाहियाँ प्रचलित करने में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तो के विरोध में कोई कार्य नही किया क्योकि 'लोटस' जहाज पर किये गये कार्य ने अपना प्रभाव 'बोज-कोर्ट' जहाज पर उत्पन्न किया जो टर्की का झण्डा लगाये था, अतः ऐसी जगह मे जो टर्की के क्षेत्र मे सम्मिलित था और इसके अतिरिक्त विदेशियो द्वारा वहाँ किये गये अपराधो के सम्बन्ध में भी टर्की के दंड विधि के लागू किये जाने का विरोध नही किया जा सकता। न्यायालय ने यह भी सम्मति प्रकट की कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई नियम ऐसा नही था जिसके द्वारा उस राज्य को जिसका वह जहाज था और जिस पर कि अपराध का प्रभाव हुआ, उस अपराध को अपने क्षेत्र मे किया गया मानने से और अपराधी पर अभियोग लगाने से निषिद्ध किया जाय। यह निर्णय किया गया कि अपराध जिसके लिए लैफ्टिनेन्ट डैमो पर अभियोग लगाया गया एक असावधानी अथवा अविवेक का कार्य था जिसकी उत्पत्ति 'लोटस' जहाज पर हुई किन्तु उसका प्रभाव 'बोज-कोर्ट' जहाज पर प्रकट हुआ, अत. प्रत्येक राज्य इस घटना के सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से क्षेत्राधिकार का प्रयोग कर सकता है।

विदेशी राज्य में विदेशियों की स्थिति :—किसी राज्य का विदेशियो पर उतना ही क्षेत्राधिकार होता है जितना कि अपने नागरिको पर। इस नियम को इसलिए स्वीकार किया गया है कि कोई भी विदेशी उस राज्य की विधियो की अवज्ञा नही कर सकता जहाँ वह रह रहा हो, भले ही उसके आवास की अवधि अस्थायी क्यो न हो। किन्तु कोई भी राज्य उन कार्यों के लिए विदेशियो को दंडित नहीं कर सकता जो उन्होने अपने राज्य मे किया हो।

अपरदेशीयता (Exterritoriality) :—एक राज्य को विदेशियो के ऊपर अपने नागरिको के समान ही क्षेत्राधिकार है, इस सामान्य नियम का अपवाद राज्यों की अपरदेशीयता मे पाया जाता है। यह एक वैध कल्पना है जिसके द्वारा कुछ व्यक्ति तथा वस्तुएँ क्षेत्राधिकार तथा नियन्त्रण के प्रयोजन से उस राज्य के जिसमे कि वे वास्तव मे हैं, क्षेत्र के बाहर तथा किसी अन्य राज्य के क्षेत्र के भीतर समझी जाती

हैं। अपरदेशीयता का अधिकार इस सिद्धान्त पर आधारित है कि यह बात किसी राज्य के लिए निर्दोष होगी यदि उसकी वैधिक स्थिति एक समान राज्य के न्यायालयों द्वारा निश्चित की जाय। क्षेत्रीय क्षेत्राधिकार से ऐसी मुक्तियाँ निम्नलिखित स्थिति म दी जाती हैं —

१—सप्रभु व्यक्ति (राजा) जब कि वे यात्रा कर रहे हों अथवा विदेश में रहते हों —यह विशेषाधिकार सम्राटो क लिए जिस समय वे विदेशो मे अज्ञातवास कर रहे हो तब भी विस्तृत किया जाता है। सन् १८६३ मे निर्णीत मिघेल बनाम जोहोर के सुलतान [Mighell v Sultan of Johore L R (1894) Q B Div 149)] वाले मामले मे वादी मिहेल ने प्रतिवादी जोहोर के सुल्तान के विरुद्ध जो अल्बर्ट बेकर के कल्पित नाम से अज्ञातवास कर रहे थे, विवाह प्रतिज्ञा-भग का वाद उपस्थित किया। वाद प्रस्तुत किये जाने पर प्रतिवादी ने अपना वास्तविक स्वरूप अर्थात् मलाया स्थित स्वतन्त्र राज्य जोहोर के सुल्तान प्रकट किया जिस पर न्यायालय ने क्षेत्राधिकार के अभाव क कारण कार्यवाहियो को खारिज कर दिया।

२—विदेशी राज्य —कोई विदेशी राज्य किसी अन्य राज्य मे होने वाली कार्यवाही मे पक्षकार नही बनाया जा सकता। क्रिस्तीना (Cristina) वाले मामले मे [(1938) A C 485] लार्ड राइट द्वारा यह व्यक्त किया गया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्य सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार एक सर्वोच्चसत्ताधारी राज्य अन्य सर्वोच्चसत्ताधारी राज्य के अधिकार क्षेत्र से उन्मुक्त माना जाता है।

लार्ड एटकिन ने क्रिस्तीना (Cristina) मे यह कहा था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दो सिद्धान्त, जो हमारी दीवानी विधि मे सयुक्त हो गए हैं, और जो दृढ़ प्रकार से स्थापित तथा निर्विवाद प्रतीत होते हैं, वे यह हैं—प्रथम तो यह है कि किसी देश के न्यायालय एक विदेशी सम्राट को पक्षकार नहो बनावेंगे अर्थात् वे अपने आदेश पत्र द्वारा उसको उसकी इच्छा के विरुद्ध वैध कार्यवाहियो मे पक्षकार नही बनावेंगे, चाहे कार्यवाहियो मे आदेश पत्र उसके व्यक्तित्व के विरुद्ध निकाले जाते हो अथवा उसके द्वारा उससे विशिष्ट सम्पत्ति अथवा क्षतिपूर्ति प्रकट की जानी हो। दूसरे यह कि वे अपने आदेश पत्र द्वारा उस सम्पत्ति को जो उसकी है अथवा जो उसके अधिकार अथवा नियन्त्रण म हो, अभिग्रहण अथवा निरुद्ध नही करेंगे चाहे सम्राट कार्यवाहियो म पक्षकार हो अथवा नही।

३—राजदूत तथा अन्य राजनैतिक अभिकर्तागण —आपराधिक क्षेत्राधिकार मे राजदूत पूर्णरूप से छूटे हुए हैं किन्तु नागरिक क्षेत्राधिकार मे यह उन्मुक्ति सशर्त है, कारण राजनयिक अभिकर्तागण नागरिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति

का परित्याग कर सकते हैं। यह उन्मुक्ति राजनयिक अभिकर्तामों के कुटुम्ब तथा उनके परिजनों के लिए भी लागू है।

४—सार्वजनिक जलपोत जब वे विदेशी बन्दरगाहों अथवा क्षेत्रीय जलभागों में हों —पार्लमेंट बेल्ज [Parlement Belge L. R. 5 P. D. 197 (1880)] मे इङ्गलैंड के अपीलीय न्यायालय ने यह निर्णय किया कि बेलजियम राज्य का जलपोत जो सार्वजनिक सम्पत्ति थी एक टक्कर से उत्पन्न हुई क्षति-पूर्ति के सार्वजनिक अधिकार के दावे से उन्मुक्त था।

५—किसी राज्य के सैनिकदल जब वे एक विदेशीय क्षेत्र से निकल रहे हों :—एक राज्य जो अपने क्षेत्र में किसी मित्र राज्य के सैन्य दल को आने की अनुमति देता है, तो स्वतः इस बात को मान लेता है कि वह उस सैन्य-दल पर अपना कोई हस्तक्षेप न रक्खेगा। उस पर न तो वह सामूहिक रूप से और न उसके वैयक्तिक सदस्यों पर किसी प्रकार के क्षेत्राधिकार प्रयोग कर सकता है।

नैटो अर्थात् उत्तर अतलांटिक संधि संगठन (North Atlantic Treaty Organization) ने विदेशी देशों में सैन्य-दल को इकट्ठा करने के सम्बन्ध में अधिकार दिये हैं, किन्तु ये अधिकार पैक्ट के सदस्यों तक ही सीमित कर दिये गये हैं। भेजने वाले राज्य का क्षेत्राधिकार जहाँ तक कि नियंत्रण, सुरक्षा एवं व्यवस्था का प्रश्न है, प्रमुख माना जाता है।

६—यूरोपीय अथवा अमेरिकीय वंशज विदेशी जन कुछ पूर्वीय राज्यों में :—वे देशीय न्यायालयों के क्षेत्रीय क्षेत्राधिकार अथवा अधिकार से उन्मुक्त हैं तथा सामान्यतः कोन्सली-न्यायालयों (Consular Courts) के क्षेत्राधिकार में रक्खे जाते हैं।

७—अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें :—अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें जैसे कि संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसकी भिन्न शाखाओं को क्षेत्रीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति प्रदान कर दी गई है।

राज्यों की न्यायिक शक्ति :—व्हीटन (Wheaton) का कथन है कि प्रत्येक स्वतंत्र राज्य को न्यायिक शक्ति जिन तथ्यों से उपबन्धित है, निम्नलिखित हैं:—

१—राज्य के राष्ट्रिक विधि के विरुद्ध अपराधों पर दंड देने की शक्ति। ये अपराध उसके राज्य-क्षेत्र में भले ही किसी भी व्यक्ति अथवा राज्य द्वारा क्यों न किये गये हों।

२—उसके वैयक्तिक और सार्वजनिक पोतों पर किये गये अपराधों के विरुद्ध दण्ड देने की शक्ति—भले ही वे अपराध किसी विदेशी शक्ति द्वारा क्यों न किये गये हों।

३—अपने नागरिकों को चाहे वे जहाँ हों—ऐसे अपराधों पर दंड देने की शक्ति।

४—राष्ट्रों की विधि में समुद्री डकैती के सम्बन्ध में जलदस्युओं को दंडित करने की शक्ति—भले ही वे किसी भी राज्य के क्यों न हों।

अध्याय १५

सार्वजनिक तथा वैयक्तिक पोत पर क्षेत्राधिकार

(Jurisdiction over Public and Private Vessels)

सार्वजनिक पोत क्या है ?—"एक सार्वजनिक पोत वह है जो एक सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य की सरकार द्वारा अधिकृत हो, अथवा यह जो प्रतीत होता है कि एक अर्ध सर्वोच्चसत्ताधारी राज्य की सरकार द्वारा अधिकृत हो, जब तक वह बाहरी रूप से एक भिन्न अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप में स्वीकृत हो तथा उसके द्वारा उसको कमीशन दिया गया हो"—(Pitt Cobbett)। सार्वजनिक जहाजों की श्रेणी में केवल युद्धपोत ही नहीं वरन् नि शस्त्र जलयान, गुदाम के तथा यातायात के यान भी सम्मिलित हैं।

जलपोत का सार्वजनिक लक्षण उसके झंडे तथा उस कमीशन से निश्चित होता है जो उसके स्वामी राज्य द्वारा जारी किया जाय।

सार्वजनिक जलयानों की खुले हुए समुद्र पर तथा विदेशीय क्षेत्रीय जलमार्गों पर वैध स्थिति—ओपेनहेम के मतानुसार राज्यों की विधि का यह रूढ नियम है कि किसी राज्य के युद्ध-पोत तथा अन्य सार्वजनिक जलयान जब वे खुले समुद्र में हों अथवा विदेशीय क्षेत्रीय जल मार्गों में हों, प्रत्येक विषय में अपने गृह-राज्य के तैरते हुए भागों के समान समझे जाते हैं।

चीफ जस्टिस मार्शल ने उपरोक्त सिद्धान्त पर 'इक्सचेंज' (Schooner Exchange 1812, 7 Cranch 116) वाले मामले में विचार किया और यह मत प्रकट किया कि एक सार्वजनिक सशस्त्र जहाज अपने राज्य की सैनिक शक्ति का भाग है तथा सर्वोच्चसत्ताधारी के तात्कालिक तथा सीधे आदेश के अधीन कार्य करता है और उसके द्वारा राष्ट्रीय प्रयोजनों के लिए कार्य में लगाया जाता है।

यह विषय पुनः चुग ची च्याग बनाम किंग [Chung Chi Cheung v The King (1939) A C 160] में विचार के लिए उपस्थित हुआ। लॉर्ड एटकिन ने यह मत प्रकट किया कि विदेशीय जलमार्गों में स्थित सार्वजनिक जहाज

अपने राज्य के क्षेत्र नही समझे जाते। घरेलू न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्त के अनुसार जहाज तथा उसके मल्लाहो को कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान करते हैं जिनमे से कुछ तो उचित रूप से निश्चित हैं। अन्य के विषय में कुछ झगडा भी है। इस दृष्टि से उन्मुक्तियाँ अपरदेशीयता के बाहरी लक्षणो पर निर्भर नहीं हैं वरन् घरेलू विधि के आशय पर। वे प्रतिबन्ध सहित हैं और किसी भी दशा मे उस राज्य द्वारा जिसकी सार्वजनिक जहाज एक सम्पत्ति है, त्याग किये जा सकते हैं।

अन्त मे लार्ड एटकिन ने ओपेनहेम के शब्दों मे प्रकटित अपरदेशीयता का सिद्धात जिसके अनुसार जहाज "जिस राज्य का वह झडा लगाये रहे उसका तैरता हुआ भाग" माना गया था, अस्वीकार किया, और यह निर्धारित किया कि वास्तविक रूप मे बात यह थी कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को रूढियो के अनुसार प्रादेशिक सर्वोच्चसत्ताधारी विदेशी सर्वोच्चसत्ताओ तथा उनके राजदूतों, सार्वजनिक जहाजों तथा ऐसे जहाजो द्वारा ले जाये जाने वाले नाविक दलो को कुछ उन्मुक्तियाँ प्रदान करती हैं जिनमे से कुछ तो पूर्णत निश्चित हैं तथा कुछ अनिश्चित हैं।

टक्कर के मामले (Cases of Collision) —टक्कर के मामले मे क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध मे एस० एस 'लाटस' वाला मामला इस विषय में प्रमाण माना जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने यह निर्णय किया कि टर्की न फ्रासीसी वाष्प-चलित जहाज 'लोटस' तथा टर्की के जहाज 'बोज कोर्ट' बीच मे हुई टक्कर तथा उसके परिणामस्वरूप, बोज कोर्ट' म हुई हानि के सम्बन्ध मे जिसमे टर्की के आठ राष्ट्रीय जनो की मृत्यु भो सम्मिलित थी, टर्की की विधि के अनुसार 'लोटस' जहाज की रक्षा क अधिकारी लेफ्टिनेन्ट डेमो के विरुद्ध आपराधिक कार्यवाहियाँ प्रवर्तित करने मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात नही की।

सार्वजनिक सशस्त्र पोत (Public Armed Vessels) —युद्ध के समय मे युद्ध-प्रवृत्त राज्य के पोतो को तटस्थ वैयक्तिक पोतो की छानबीन करने का अधिकार है। उन्हे यह भी अधिकार है कि उन्हे यदि किसी प्रकार का यह सदेह पैदा हो जाय कि यह पोत सुरक्षा को आघात पहुँचाने को कार्यवाहियो मे सलग्न है, तो उन्हे बन्दी बनाकर अपने यहाँ रोक लें। शान्ति के समय मे भी सार्वजनिक सशस्त्र पोतो को अधिकार है कि दूसरे राज्यो के पोतो को निम्नलिखित परिस्थितियों में बन्दी कर लें—

(१) समुद्री डकैती के मामलों मे, (२) सार्वजनिक पोत जिस राज्य का है यदि उसकी सुरक्षा के विरुद्ध की कार्यवाहियो मे वह पोत सलग्न हो, या उस

ऐसा सदेह करने के समुचित कारण दिखायी पडते हो, (३) तीव्र पीछा करने के अधिकार मे, (४) यदि उन पोतो द्वारा परस्पर राज्यो मे की गई किसी सन्धि का उल्लघन किया जा रहा हो।

उन्मुक्तियाँ (Immunities)—सार्वजनिक जहाज न तो स्थानीय विधि के अधीन है और न वह स्थानीय करो यथा बन्दरगाह अथवा प्रकाश कर को देने के लिए अथवा बहिशुल्क पदाधिकारियो द्वारा निरीक्षण के लिये बाध्य किया जा सकता है। उसे ऋण अथवा हानि के लिये पकडा नही जा सकता। उसके पदाधिकारी तथा चालकगण जब तक वे जहाज मे रहे वही उन्मुक्तियाँ उपभोग करते हैं। इसके उपरांत उनसे यह भी आशा की जाती है कि वह उस राज्य की विधियो का जिसके जलभागो मे वह रहे यथोचित आदर करे।

वैयक्तिक पोत क्या है?—वैयक्तिक पोत वे जलयान है जिसका वैयक्तिक स्वामित्व किसी व्यक्ति को प्राप्त हो किन्तु अपने राष्ट्रीय स्वरूप से उत्पन्न अधिकार के कारण तथा किसी राज्य के समुद्री झण्डे के न्यायानुसार प्रयोग के कारण उस राज्य की सम्पत्ति समझे जाते हैं। ऐसे जलयान यद्यपि वे राष्ट्रीय क्षेत्र से बाहर भी हो तथापि अपने राज्य से सरक्षण पाने के अधिकारी हैं और उसके अधिकार तथा क्षेत्राधिकार के अधीन हैं।

बडे समुद्रों पर वैयक्तिक पोतों की वैध स्थिति—वैयक्तिक पोत जब बडे समुद्रो में होते हैं, उस राज्य की सर्वोच्चसत्ता के अधीन होते हैं, जिसकी वे सम्पत्ति हो तथा जिसका वह झडा लगाये हो। उस राज्य को जिसका वह झडा लगाये हो यह अधिकार होता है कि वह अपनी प्रजा अथवा विदेशियो से सम्बन्धित जहाज पर होने वाले सब विषयो मे प्रशासकीय क्षेत्राधिकार का प्रयोग करे।

अपने वैयक्तिक पोतो के सम्बन्ध मे झडे वाले राज्य का क्षेत्राधिकार फिर भी निम्नलिखित अपवादो के अधीन है जो कि रूढ अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार मान्य है—

१—प्रत्येक युद्ध मे सलग्न युद्धपोत को यह अविच्छिन्न अधिकार है कि वह किसी व्यापारी जहाज के पास जावे और उसकी तलाशी ले और अन्त मे यदि वह अपराध करे या यदि वह किसी अवैध कार्य मे लगा हो अथवा प्रमाण पत्रो के न होने के कारण उसका स्वरूप निश्चित न हो सकता हो तो उसे बन्दी कर ले।

२—युद्ध के समय मे तटस्थ व्यापारी जहाज जो प्रतिरोध अथवा नाकाबन्दी के नियमो को उल्लघन करने का प्रयास करे पकडा जा सकता है।

३—सब राज्यो के युद्धपोतों को यह अधिकार है कि वे बडे समुद्रो पर सब व्यापारी जहाजों से यह पता लगाने के लिए मुठभेड करे कि कही वे समुद्री डाकू तो नहीं हैं।

—तटवर्ती राज्य के युद्धपोत किसी विदेशीय जलयान का उसके विधियों को का उल्लंघन करने के कारण तीव्र पीछा कर सकते हैं।

५—प्रत्येक राज्य के युद्धपोतों को यह अधिकार होता है कि वे जलयान को जो उनके राज्य का झंडा लगाकर तैर रहा हो, पकड़ें तथा दंडित किये जाने के लिए अपने बन्दरगाह पर लावें।

अध्याय १६

समुद्री डाका

(Piracy)

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार समुद्री डाका समुद्रों में वैयक्तिक लक्ष्यों के लिए किसी राज्य की सरकार के बिना प्राधिकृत किये हुए सम्पत्ति को लूट-खसोट अथवा व्यक्तियों के विरुद्ध बलात्कार के कार्य करने के लिए तैरना है। बड़े समुद्रों पर यह जहाँ किया जा सकता है व्यापार की सुरक्षा के विरुद्ध अपराध समझा जाता है। समुद्री केवल अन्तर्राष्ट्रीय विधि से सम्बन्धित है। उसके आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं—

(१) यह एक कार्य है जो किसी व्यक्ति द्वारा किया जाता है जब वह बड़े समुद्रों पर तैर रहा हो।

(२) ऐसा कार्य किसी राज्य के प्राधिकार अथवा सहमत (commission) के बिना होता हैं।

(३) समुद्री डाके के अपराध के लिए वास्तविक लूट आवश्यक नहीं है, लूट करने का निष्कपट प्रयत्न भी समुद्री डाका के समान है।

(४) इस प्रकार की लूट एक वैयक्तिक पोत द्वारा अन्य पोतों के विरुद्ध अथवा विद्रोही चालकों द्वारा अपने ही जलयान के विरुद्ध की जाती है।

(५) समुद्री डाके का तत्व यह है कि इसमें सार्वजनिक लक्ष्यों के बदले वैयक्तिक उद्देश्य निहित होते हैं।

समुद्री डाका के लिए आवश्यक तत्व—अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार समुद्री डाका उस समय होता है, जब कि समुद्र में अपने वैयक्तिक हितों की दृष्टि से पोत चलाये जाते हैं, और उसके पोत-संचालन में किसी भी राज्य की ओर से कोई प्राधिकार नहीं मिला रहता। ऐसे जहाजों का प्राय उद्देश्य अन्य लोगों को हानि

को लूटना तथा हिंसात्मक कार्यवाहियाँ होती हैं। यह समुद्री मार्ग पर एक प्रकार का अपराध है जो कि समुद्री व्यापार के विरुद्ध है।

ह्वीटन (Wheaton) ने इसे इन शब्दो मे लिखा है :—Piracy is the offence of "depredating on the seas, without being authorised by any foreign state, or with commissions from different sovereigns at war with each other" अर्थात् 'समुद्री डाका' समुद्रो पर बिना किसी विदेशी राज्य के प्राधिकार के ही अतिक्रमण करना, या युद्धरत विभिन्न सम्प्रभुओ की सहमति के बिना अपराध कारित होता है।

मूर (Moore) ने 'डाइजेस्ट आव इंटरनेशनल लॉ' में समुद्री डकैत की निम्नलिखित परिभाषा की है :—"One who, without legal authority from any state attacks a ship with intention to appropriate what belongs to it. The pirate is a sea brigand He has no right to any flag and is justiciable by all" अर्थात् "वह व्यक्ति, जो कि बिना किसी राज्य के वैध अधिकार के ही इस आशय से किसी पोत पर आक्रमण करता है कि उसमे जो कुछ है उसे हड़प सकें। समुद्री डाकू एक जल-दस्यु हुआ करता है। उसे कोई ध्वज रखने का अधिकार नही है और वह सभी के न्याय-प्रशासन का विषय है।"

किसी सरकार द्वारा प्राधिकृत समुद्री डकैती के कार्य—कोई व्यक्ति ही नही, बल्कि एक स्वतन्त्र राज्य भी समुद्री डकैती के कार्यों के लिए दोषी हो सकता है। प्रोफेसर हाइड (Hyde) का कथन है कि "national authorisation of the commission of piratical acts would not free pirates from internationally illegal aspects" अर्थात् समुद्री डाके कार्यो को कारित करने, राष्ट्रीय प्राधिकरण समुद्री डाकुओ को अन्तर्राष्ट्रीय अवैध पक्षो से मुक्त नही कर देता। वाशिंगटन कान्फ्रेन्स मे १६२२ मे यह प्रस्ताव पारित हुआ था कि कोई भी व्यक्ति जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन करता है, भले ही वह अपने वरिष्ठ अधिकारियो के आदेश पर कर रहा हो, उसके विरुद्ध किसी भी राज्य के न्यायालय में 'समुद्री डकैती' का मुकदमा चलाया जा सकता है।

वैयक्तिक समुद्री डकैती सम्बन्धी जहाजों को गिरफ्तार करना—सभी युद्ध-पोतो को यह अधिकार है कि समुद्री डकैतो, या उसका पीछा करने के प्रयत्न में लगे हुए सभी जहाजो का निरीक्षण कर सकते हैं। वे उन्हें बन्दी कर सकते हैं और उनके विरुद्ध अपने देश के न्यायालय मे मुकदमा चला सकते हैं। समुद्री डकैत को किसी प्रकार का झंडा लगाने का अधिकार नही रहता।

समुद्री डकैती के प्रसंग मे सम्पत्ति का स्वामित्व—समुद्री डकैती में लूटी गई सम्पत्ति पर से उसके वास्तविक स्वामी का हक समाप्त नही हो जाता। यदि वह फिर से पकड ली जाती है, तो उसी व्यक्ति या राज्य की मानी जाती है।

समुद्री डकैती और राष्ट्र-विधि—अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे वर्णित 'समुद्री डकैती' और राज्यो के राष्ट्र-विधि के अन्तर्गत वर्णित 'समुद्री डकैती' मे किसी प्रकार का भ्रम नही पैदा होना चाहिए। किसी राज्य मे 'समुद्री डकैती' के प्रसग मे जो विधियाँ बनाई गई हैं, वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अपेक्षा महत्व मे न्यून हो सकती हैं या उनमे गुरुता (gravity) की कमी हो सकती है। राज्य में निर्मित समुद्री डकैती विधि को सीमित होना पडता है, क्योकि कोई भी राज्य केवल अपने नाग रिको को दण्ड देने की विधि निर्मित कर सकता है, विदेशी नागरिको को दण्डित करने के नियम बनाने मे कोई राज्य सक्षम नही है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे समुद्री डकैती के क्षेत्राधिकार व्यापक हैं, क्योकि इस विधि के अन्तर्गत किसी भी देश के वासियो को कोई भी राज्य समुद्री डकैती के अपराध मे दण्डित कर सकता है क्योकि समुद्री डकैती पूरी सभ्य मानवता के विरुद्ध किया गया अपराध है।

अध्याय १७

राष्ट्रीयता

(Nationality)

राष्ट्रीयता क्या है ? —राष्ट्रीयता वह लक्षण अथवा गुण है जो कि किसी व्यक्ति विशिष्ट जाति अथवा राष्ट्र की सदस्यता से उत्पन्न होता है और जो किसी व्यक्ति की राजनैतिक स्थिति अथवा निष्ठा निश्चित करता है। यह एक व्यक्ति और राज्य के बीच परस्पर बहुत ही महत्वपूर्ण कडी है। ओपेनहेम के मतानुसार व्यक्ति का "किसी राष्ट्र की प्रजा और इसलिये उसके नागरिक" होने का गुण यह एक प्रकार का निरन्तर चलने वाला वैध सम्बन्ध है जो कि प्रभुता-सम्पन्न राज्य और नागरिक के बीच स्थापित होता है। इस वैध सम्बन्ध के अन्तर्गत दोनो को एक दूसरे के प्रति अधिकार और कर्त्तव्य मिले होते हैं। एक मनुष्य की राष्ट्रीयता उसके जन्म से लेकर मृत्यु तक ज्यों की त्यों ही बनी रहे—यह आवश्यक नहीं है। वह परिस्थितियों के अनुसार अपने जीवन-काल मे ही अपनी राष्ट्रीयता बदल सकता है। वह किसी दूसरे राज्य का नागरिक भी बन सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीयता में परिवर्तन होते रहते हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के मत नीचे दिये जा रहे हैं :—

केल्सन (Kelsen) :—नागरिकता या राष्ट्रीयता एक व्यक्ति की स्थिति है, जो कि वैध रूप में किसी राज्य का सदस्य है, और उसे आलंकारिक रूप से उस समुदाय का सदस्य कहा जा सकता है।

हाइड (Hyde) —राष्ट्रीयता एक व्यक्ति और राज्य के उस सम्बन्ध का द्योतन करता है जो इस प्रकार है कि राज्य बहुत से आधारों पर समझ लेता है कि व्यक्ति की निष्ठा उसके प्रति है।

स्टार्क (Starke) —"Nationality may be defined as the status of membership of the collectivity of individuals whose acts, decisions and policy are vouchsafed through the legal concept of the State representing those individuals." अर्थात् "राष्ट्रीयता की परिभाषा ऐसे व्यक्तियों की सामूहिकता की सदस्यता की स्थिति से दी जा सकती है जिसके कृत्य, निर्णय और नीति ऐसे राज्य की वैध अवधारणा के माध्यम से सुरक्षित हैं जो कि उन व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है।"

राष्ट्रीयता का निर्धारण :—राष्ट्रीयता के निर्धारण का प्रश्न राष्ट्र विधि के क्षेत्र के भीतर आता है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क तथा यातायात बढ़ने के कारण नागरिक राष्ट्रीयता के विधियों में प्रायः विरोध उत्पन्न हो जाता है। सन् १६३० के हेग के संहिताकरण सम्मेलन ने राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में बहुत से लेखों को स्वीकार किया, उदाहरणार्थ राष्ट्रीयता के विधियों के विरोध में अभिसमय, राष्ट्रीयता के अभाव पर संलेख (protocol), इत्यादि।

राष्ट्रीयता का अधिकार कोई प्राकृतिक (natural) अधिकार नहीं है। राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा का आधार है, क्योंकि वह व्यक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बीच की एक कड़ी है। यह कड़ी उतनी महत्वपूर्ण है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऊपर जिन अभिसमयों एवं सम्मेलनों की चर्चा की गई है, उनमें यह निर्धारित किया गया है कि प्रत्येक राज्य स्वयं निश्चय करे कि उनकी विधि के अनुसार कौन लोग उसके नागरिक हैं और किन्हें उस देश की राष्ट्रीयता प्राप्त हो सकती है। यद्यपि वे राज्य अपने राज्य-क्षेत्र में विधियों के निर्मित करने में स्वतंत्र हैं, लेकिन राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में बनायी गयी विधियों को, जहाँ तक उनका अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों तथा रूढ़ियों से सम्बन्ध है, अन्य राज्यों द्वारा भी मान्यता प्राप्त होनी चाहिये। उन्हें राष्ट्रीयता के सामान्य रूप से मान्य सिद्धान्तों के अनुरूप भी होना चाहिये।

संयुक्त राज्य की 'सुप्रीम कोर्ट' ने U. S v Wong Kum Ark (169 U. S. 649) के विवाद में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित निर्णय किया था—"It is the inherent right of every independent nation to determine for itself and according to its own constitution and laws what classes of persons shall be entitled to its citizenship" अर्थात् "प्रत्येक स्वाधीन राष्ट्र का यह अन्तर्निहित अधिकार है कि वह अपने आपके लिए निर्धारित कर सके कि स्वयं उसके संविधान के अनुसार तथा उसकी विधि के अनुसार किस प्रकार के व्यक्ति उसकी नागरिकता प्राप्त करने के लिए अधिकृत हो सकते हैं।"

इसी प्रकार स्टोइक बनाम पब्लिक ट्रस्टी [Stoeck v Public Trustee (1921) 2 Ch 69] के विवाद में कहा गया है—"The question to what State a person belongs must ultimately be decided by the municipal law of the State to which he claims to belong to or to which it is alleged that he belongs" अर्थात् "इस प्रश्न का, कि कोई व्यक्ति किस राज्य का है अवश्य ही उस राज्य की नागरिक विधि द्वारा अंतिम रूप से निर्णीत होना चाहिए जिसका कि नागरिक होने का वह व्यक्ति दावा करता है या जिसके लिए यह माना जाता है कि वह व्यक्ति उस राज्य का नागरिक है।"

राष्ट्रीयता तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि —अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न महत्व की प्रासंगिक बातें हैं—(१) बाह्य कूटनीतिक संरक्षण के लिए अधिकार, (२) किसी अन्य राज्य में उसके राष्ट्रीयजन द्वारा किये जाने वाले किन्हीं अनुचित कार्यों को रोकने की अथवा उनके जाने के उपरान्त उनके लिए दण्ड देने की असफलता के लिए राज्य का उत्तरदायित्व, (३) राज्य को अपने नागरिकों को वापस प्राप्त करने का कर्तव्य, (४) जिस राज्य की वह राज्य भक्ति करे उस राज्य की सैनिक सेवा करने का राष्ट्रीय जन का कर्तव्य, (५) अपने राष्ट्रीय जनों को उनका समर्पण माँगने वाले अन्य राज्य को प्रत्यर्पण करने से अस्वीकार करने का किसी राज्य का सामान्य अधिकार, (६) सम्बन्धित व्यक्ति की राष्ट्रीयता के अनुसार युद्ध के समय में शत्रुत्व की स्थिति का निश्चित करना, तथा (७) राष्ट्रीयता के आधार पर राज्यों द्वारा क्षेत्राधिकार का प्रयोग।

सर जान फिशर-विलियम्स (Sir John Fischer Williams) ने ठीक ही लिखा है कि "वर्तमान विश्व, ऐसे व्यक्तियों का विश्व है जो किसी राज्य में अथवा किसी राज्य के अधीनस्थ संगठित हुए हैं, कौन-सा नागरिक किस राज्य का है, इस बात का निर्धारण उतना ही महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न है, जितना कि इस प्रश्न का निर्धारण कि, अमुक राज्य-क्षेत्र किस राज्य का है। अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार होने

कर्त्तव्य पूर्णरूप से व्यक्तियो की राष्ट्रीयता पर निर्भर करती है। यह कहना कि राष्ट्रीयता के प्रश्नो के लिए कोई अन्तर्राष्ट्रीय विधि नही है, अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के बहुत से प्रश्नो को अराजकता के हाथो सौप देना होगा। किन्तु यह भी अस्वीकार नही किया जा सकता कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार राष्ट्रीयता, सामान्य नियम के रूप से, राष्ट्र-विधियो द्वारा ही निर्धारित की जाती है।"

राष्ट्रीयता तथा स्थायी निवास :—राष्ट्रीयता तथा स्थायी निवास मे सूक्ष्म अन्तर है। राष्ट्रीयता किसी विशिष्ट राष्ट्र अथवा राज्य की सदस्यता से उत्पन्न होने वाला लक्षण अथवा गुण है तथा किसी व्यक्ति की राज्य-भक्ति को निश्चित करती है। स्थायी निवास राष्ट्रीयता का गुण है और किसी व्यक्ति के निवास स्थान को सुरक्षित करता है—यह व्यक्ति तथा स्थान का सम्बन्ध है जहाँ कि उसका स्थायी निवास है। इस प्रकार राष्ट्रीयता स्थायी निवास से प्राप्त की जा सकती है। किसी व्यक्ति को स्थायी निवास प्राप्त करने का अधिकारी बना देने वाली समय की अवधि दशो मे भिन्न-भिन्न है। किसी व्यक्ति की राजनैतिक स्थिति को, जिसके कारण से वह किसी विशिष्ट देश की प्रजा होकर प्राकृतिक राज्य-भक्ति की गाँठ से बँध जाता है उसका राष्ट्रीय लक्षण कहा जाता है। उसकी व्यावहारिक स्थिति का जिसके कारण वह किसी देश के नागरिक का लक्षण प्राप्त कर लेता है और जिस नागरिकता के अधिकार प्राप्त होते हैं, तथा जो कुछ कर्त्तव्यो के अधीन होता है, 'स्थायी निवास' शब्दो से निर्देशित किया जाता है। 'राज-भक्ति' एक ऐसा शब्द है, जिसका साम्य उस राष्ट्रीय रूप से होता है, जिसके फलस्वरूप कोई व्यक्ति अपने राज्य के प्रति आस्था रखता है।

राष्ट्रीयता प्राप्त करने के ढग :—ओपेनहेम के मतानुसार राष्ट्रीयता प्राप्त करने के पाँच ढग हैं। वे निम्नलिखित हैं।

राष्ट्रीयता प्राप्त करने की सबसे प्रथम और सबसे महत्व की रीति जन्म (birth) है। यह भूमि सम्बन्धी नियम (Jus soli) अर्थात् जन्म का क्षेत्र अथवा स्थान के अनुसार अथवा रक्त सम्बन्धी नियम (Jus sanguinis) अर्थात् जन्म के समय माता पिता की राष्ट्रीयता के अनुसार अर्थात् वशानुक्रम के अनुसार अथवा दोनो के अनुसार हो सकती है।

विश्व के अधिकाश लोगो को जन्म से ही राष्ट्रीयता प्राप्त होती है। जर्मनी मे पैतृकता को राष्ट्रीयता का द्योतक माना जाता है—भले ही बच्चा अपने देश मे पैदा हुआ हो, अथवा विदेश मे, पिता की राष्ट्रीयता के आधार पर उसकी राष्ट्रीयता भी निर्धारित कर दी जाती है। अर्जेनटाइना मे राज्य-क्षेत्र को महत्व

दिया जाता है अर्थात् नवजात शिशु वहीं का राष्ट्रीय माना जाता है, जिस राज्य क्षेत्र मे उसका जन्म हुआ है। ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका में मिली-जुली पद्धति अपनायी जाती है।

राष्ट्रीयता प्राप्त करने का दूसरा ढंग देशीयकरण (naturalisation) है। यह उस समय आता है जब कोई व्यक्ति किसी राज्य का जिसके लिए वह पहले विदेशीय था, प्रजा हो जाता है। यह व्यक्ति तथा राज्य जिसमे वह रहता है के मध्य मे राज्य-भक्ति का एक कृत्रिम बन्धन है। देशीयकरण की छ रीतियाँ हैं अर्थात् (१) विवाह अर्थात् पत्नी द्वारा पति को राष्ट्रीयता को ग्रहण करना (२) औरसकरण (legitimation) जिसके द्वारा जारज (illegitimate) बालक अपने पिता की राष्ट्रीयता को प्राप्त करना है (३) विकल्प (option), (४) स्थायी निवास की प्राप्ति (५) सरकारी पद पर नियुक्ति तथा (६) राज्य अधिकारियों को प्रार्थना-पत्र देने पर स्वीकृति।

केलसन (Kelsen) के अनुसार देशीयकरण किसी राज्य का एक प्रशासकीय कार्य होता है जो कि किसी विदेशी का नागरिकता प्रदान करता है, किन्तु एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय विधि या नियम भी है कि विदेशियो को किन-किन शर्तों पर नागरिकता प्रदान की जा सकती है। देशीयकरण तभी सभव है, जबकि विदेशी इस आशय का आवेदन करता है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई विदेशी व्यक्ति देशीयकरण का दावा नही कर सकता।

राष्ट्रीयता प्राप्त करने का तीसरा ढग पुन प्राप्ति अथवा पुनर्ग्रहण (redintegration or resumption) है। ऐसे व्यक्ति जिन्होने चिर काल तक बाहर रहने अथवा वहाँ पर देशीयकरण होने के कारण अपनी मौलिक राष्ट्रीयता खो दी हो वे उसे कुछ शर्तों की पूर्ति करने पर पुन प्राप्त अथवा ग्रहण कर सकते हैं।

राष्ट्रीयता प्राप्त करने का चौथा तथा पाँचवा ढग अधीनस्थ किया जाना तथा राज्य क्षेत्र का अधिमिलन (subjugation and cession of territory) है। अधीनस्थ करने मे वर्जित प्रदेश का विजय तथा सयोजन व्यक्त होता है। सयोजन द्वारा प्रदेश विजयी के सम्पूर्ण प्रभुत्व मे आ जाता है तथा अधीनस्थ अथवा अधिमिलित किये गये क्षेत्र के निवासी राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेते हैं।

ब्रिटिश राष्ट्रीयता अधिनियम —इस प्रसग मे ब्रिटिश राष्ट्रीयता ऐक्ट और १९१४-१९२२ विदेशी की स्थिति के अधिनियम, (Status of Aliens Act 1914 1922) का उल्लेख किया जा सकता है। वहाँ निम्नलिखित को प्राकृतिक रूप से जन्म सिद्ध प्रजा माना जाता है।

(१) कोई भी व्यक्ति जो ब्रिटिश राज्य के राज्य-क्षेत्र या उपनिवेशो मे पैदा हुआ हो। (२) ऐसा व्यक्ति जो ब्रिटिश उपनिवेशो की सीमा से बाहर पैदा हुआ हो, किन्तु या तो उसका पिता उस समय ब्रिटिश उपनिवेश की प्रजा जन्म-सिद्ध रूप से अथवा क्राउन की ओर स दिये गये किसी पद का अधिकारी रहा हो या उनका जन्म एक वर्ष के भीतर (किसी-किसी प्रसग मे २ वर्ष भी) ही ब्रिटिश कासुलेट मे लिखा गया हो।

अमेरिका का राष्ट्रीयता अधिनियम .—इमीग्रेशन ऐंड नेशनैलिटी ऐक्ट, १६५२, के अनुसार निम्नलिखित व्यक्तियो को सयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीयता प्राप्त है —

१—कोई व्यक्ति जो सयुक्त राज्य के भीतर पैदा हुआ हो और उसके क्षेत्राधिकार के भीतर आता हो।

२—कोई व्यक्ति जो भारतीय, एस्किमो, येल्यूशियन या अन्य मूल जातियो का हो किन्तु सयुक्त राज्य की सीमा मे पैदा हुआ हो।

३—कोई व्यक्ति जो सयुक्त राज्य के बाहर या उसकी बाहरी सीमा के पार पैदा हुआ हो, किन्तु उसके माता-पिता दोनो सयुक्त राज्य के नागरिक हो और उनमें से एक का निवास सयुक्त राज्य मे पैदाइश के पूर्व से रहा हो।

४—कोई व्यक्ति जो सयुक्त राज्य से बाहर या उसकी बाहरी सीमा के पार पैदा हुआ हो, किन्तु माँ-बाप मे से कोई एक सयुक्त राज्य के नागरिक हो और जन्म के पूर्व लगातार एक वर्ष से अधिक से वही रह रहे हो तथा उन दोनो मे कोई सयुक्त राज्य का राष्ट्रीय होते हुये भी नागरिक नही है।

५—कोई व्यक्ति जो अमेरिका की बाहरी सीमा के भीतर पैदा हुआ हो किन्तु ऐसे माता-पिता से जिसमे से एक सयुक्त राज्य का नागरिक हो और वहाँ शारीरिक रूप से विद्यमान रहा हो या उसकी बाहरी सीमा के भीतर जन्म के लगातार एक वर्ष पूर्व से रहा हो।

६—ऐसा व्यक्ति जिसके माता-पिता का कुछ पता न चल रहा हो यदि सयुक्त राज्य मे ५ वर्ष की आयु के भीतर पाया जाय जब तक कि २१ वर्ष की आयु प्राप्त न कर ले और उस बीच में यह तथ्य प्रमाणित न हो जाय कि वह सयुक्त राज्य मे नही पैदा हुआ है।

७—कोई व्यक्ति जा सयुक्त राज्य की भौगोलिक सीमा के बाहर या उसकी बाहरी सीमा के पार पैदा हुआ हो, किन्तु उसके माता पिता मे से कोई एक विदेशी हो, और दूसरा सयुक्त राज्य का नागरिक हा, जो कि ऐसे व्यक्ति के जन्म के पूर्व वहाँ या उसकी बाहरी सीमा क भीतर शारीरिक रूप से विद्यमान रहा हो और कम से

कम लगातार १० वर्ष या कुल मिला कर १० वर्ष से वहाँ रहा हो जिसमें से कम से कम ५ वर्ष १४ वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद का हो।

दुहरी राष्ट्रीयता (Double Nationality) :—क्या राष्ट्रीयता जन्म के समय माता-पिता की राष्ट्रीयता से प्राप्त होती है अथवा क्षेत्र से या जन्म-स्थान से, इस सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न राज्यो में कोई समान नियम नही है। इसका परिणाम यह है कि राज्यो की रीति मे बडा भारी अन्तर है। ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा बहुत से लैटिन अमेरिकीय राज्य Jus soli अर्थात् भूमि पर केवल जन्म लेने से ही राष्ट्रीयता प्रदान करने के सिद्धान्त का अवलम्बन करते हैं। किसी विदेशीय के शिशु को भी जिसका जन्म इगलैंड अथवा अमेरिका में हुआ हो यथा-स्थिति ब्रिटिश अथवा अमेरिकीय राष्ट्रीयता प्राप्त हो जाती है। फ्रास, जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देश प्रधानत. Jus sanguinis अर्थात् रक्त-सम्बन्ध सिद्धान्त का अवलम्बन करते हैं जिसके अनुसार शिशुओ की राष्ट्रीयता उनके माता-पिता की राष्ट्रीयता का अनुसरण करती है जिससे उनकी प्रजा से उत्पन्न शिशु स्वतः उनकी प्रजा हो जाती हैं चाहे वे स्वदेश मे उत्पन्न हुई हो अथवा विदेश मे। इस नियम में जारज शिशु सम्मिलित नही हैं जो अपनी माँ की राष्ट्रीयता को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उस दशा मे जब कोई बालक किसी राज्य को भूमि मे ऐसे माता-पिता से उत्पन्न हो जो अन्य राष्ट्र के नागरिक हो, क्षेत्राधिकार का झगडा उत्पन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ एक बालक जो सयुक्त राज्य मे फ्रासीसी माता-पिता से उत्पन्न हो, Jure soli (भूमि सम्बन्धी नियम) के अनुसार अमेरिकीय है किन्तु उसी समय वह Jure sanguinis (रक्त सम्बन्धी नियम) के अनुसार फ्रासीसी नागरिक है। इस दशा मे उसकी प्रभावपूर्ण नागरिकता उस क्षेत्राधिकार पर आश्रित रहेगी जहाँ का वह होता। सयुक्त राज्य मे वह अमेरिकीय है, फ्रास मे फ्रासीसी और किसी अन्य देश मे दोनो। इसी प्रकार से यदि कोई बालक ग्रेट ब्रिटेन मे जर्मन माता पिता से उत्पन्न होता है तो उसे एक ही समय मे दुहरी राष्ट्रीयता प्राप्त होगी अर्थात् ब्रिटिश तथा जर्मन, किन्तु इस दुहरी राष्ट्रीयता का अन्त हो सकता है यदि वह व्यक्ति वयस्क होने पर अपनी राज्यभक्ति घोषित कर दे।

दुहरी राष्ट्रीयता शादी से भी उत्पन्न हो जाती है। जब एक अमेरिकी महिला किसी अंग्रेज पुरुष से शादी कर लेती है, तो ब्रिटिश कानून के अनुसार वह अमेरिकी महिला ब्रिटिश-राष्ट्रीयता प्राप्त कर लेगी। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इस नयी राष्ट्रीयता से उसकी मौलिक राष्ट्रीयता का लोप हो गया। वह साथ ही साथ सयुक्त राज्य अमेरिका की राष्ट्रीय बनी रहेगी। उसकी मौलिक राष्ट्रीयता का

लोप तभी होगा जब वह औपचारिक रूप से किसी न्यायालय के समक्ष अपनी नागरिकता के बदले जाने का प्रत्यावेदन कर लें।

सन् १९३० के हेग के संहिताकरण कान्फ्रेंस ने यह व्यवस्था की थी कि कोई व्यक्ति जिसकी दो या अधिक राष्ट्रीयता हो, प्रत्येक राज्य द्वारा राष्ट्रिक माना जायेगा और वह व्यक्ति उस राज्य की अनुज्ञा से उस राज्य की राष्ट्रिकता परित्याग करके दूसरे राज्य का राष्ट्रिक बना रहता है। एक तीसरा राज्य भी दुहरी राष्ट्रीयता रखने वाले व्यक्ति की केवल प्रभावोत्पादक राष्ट्रीयता स्वीकार करेगा। प्रभावोत्पादक राष्ट्रीयता का अर्थ या तो उस राज्य की राष्ट्रीयता होती है जिसमे वह स्वभावतः तथा मुख्यतः रहता हो अथवा उस राज्य की राष्ट्रीयता जिससे उसका अत्यन्त घनिष्ठ रूप से सम्बन्ध हो। (The Canevaro case, William Mackenzie Claim and Kramer v. Attorney General).

भारत मे राष्ट्रीयता :—राष्ट्रीयता के सम्बन्ध मे भारत के संविधान मे विशेष व्यवस्था पाई जाती है। सम्पूर्ण भारत के लिये एक ही नागरिकता है और संविधान मे राष्ट्रीयता निश्चित करने के लिये कोई विस्तृत व्यवस्था नही है, किन्तु यह विषय निर्धारित करने के लिये संसद पर छोड़ दिया गया है। अनुच्छेद ५ मे यह कहा गया है कि संविधान के आरम्भ मे अर्थात् जनवरी २६ सन् १९५० को प्रत्येक व्यक्ति जिसका स्थायी निवास भारतीय राज्यक्षेत्र मे है तथा जो

(अ) भारतीय राज्य-क्षेत्र में पैदा हुआ हो, अथवा

(आ) जिसके माता-पिता मे से कोई एक भारतीय क्षेत्र में पैदा हुये हो, अथवा

(इ) जो ऐसे आरम्भ के तत्काल पहले कम से कम पाँच वर्ष तक भारतीय क्षेत्र मे सामान्यतः रहा हो, भारत का नागरिक होगा।

अनुच्छेद ६ उन व्यक्तियो की नागरिकता से सम्बन्धित है जिन्होंने पाकिस्तानी क्षेत्र से भारतीय क्षेत्र मे प्रव्रजन किया हो। अनुच्छेद ८ में यह व्यवस्था की गई है कि कोई व्यक्ति जो अथवा जिसके पिता अथवा पितामहों मे से कोई एक ने भारत में जन्म लिया हो तथा जिसने भारत से बाहर किसी देश मे जन्म लिया हो, भारत का नागरिक समझा जायगा यदि वह जिस देश में वह रह रहा हो वहाँ के भारतीय राजनयिक (diplomatic) अथवा वाणिज्यिक (consular) प्रतिनिधि द्वारा उनको आवेदन प्रपत्र देने पर भारत का नागरिक पंजीकृत कर दिया गया हो। अनुच्छेद ९ मे यह उल्लिखित है कि कोई भी व्यक्ति जिसने विदेशी राज्य की नागरिकता प्राप्त कर ली है, भारतीय नागरिक नहीं रह सकता।

१९५५ के नागरिकता अधिनियम के अन्तर्गत भारतीय नागरिकता प्राप्त करने के ढङ्गों का वर्णन किया गया है। भारतीय संविधान लागू होने के उपरान्त नागरिकता प्राप्त करने के निम्नलिखित आधार हो सकते हैं :—जन्म (birth), वंशक्रम (descent), पंजीकरण (registration), देशीयकरण (naturalisation) और राज्य-क्षेत्र का विनियोग (incorporation of territory)। धारा ३ के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति जो कि २६ जनवरी १९५० को या उसके बाद भारतवर्ष में पैदा हुआ है, वह यहाँ का जन्म से नागरिक होगा। धारा ४ के अन्तर्गत वह व्यक्ति जो २६ जनवरी १९५० को या उसके बाद भारत की सीमा के बाहर पैदा हुआ है, यदि उसका पिता जन्म के समय भारतीय नागरिक होगा, तो वह भी वंशक्रम से भारत का नागरिक कहा जायेगा। धारा ५ के अन्तर्गत नागरिकता प्राप्त करने के आशय का आवेदन प्राप्त करके प्राधिकृत अधिकारी उसे भारतीय नागरिक के रूप मे पंजीकरण कर सकता है, जो कि संविधान की प्रतिष्ठा के अनुसार वास्तविक रूप मे नागरिक न हो या नागरिकता सम्बन्धित किसी अधिनियम के अन्तर्गत न आता हो। धारा ६ के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार समुचित रूप से आवेदन करने पर प्रार्थी को देशीयकरण का प्रमाण-पत्र दे सकती है यदि वह तीसरी अनुसूची (Third Schedule) की व्यवस्थाओं के अनुसार हो। अन्तिम रूप से धारा ७ मे यह व्यवस्था है कि यदि कोई राज्य-क्षेत्र भारत का अंग बन जाता है, तो केन्द्रीय सरकार यदि चाहे तो आफिसियल गजेट के नोटिफिकेशन के आधार पर आदेश निर्गत कर सकती है कि कौन से व्यक्ति उस क्षेत्र से सम्बन्धित होने के कारण भारत के नागरिक माने जायेंगे।

राष्ट्रीयता का लोप होना (Loss of Nationality) :—ओपेनहेम के मतानुसार राष्ट्रीयता का पाँच प्रकार से लोप हो सकता है जो निम्नलिखित हैं :—

१—विमुक्ति (Release) :—कुछ राज्य जैसे जर्मनी अपने नागरिकों को राष्ट्रीयता से मुक्त करने की प्रार्थना करने का अधिकार देते हैं।

२—वंचित करना (Deprivation) :—कुछ राज्यो ने कुछ नागरिक विधियाँ बनाई हैं जिनका उनके नागरिको द्वारा भंग किये जाने के परिणामस्वरूप उनकी राष्ट्रीयता छीन ली जाती है।

३—समाप्ति (Expiration) :—कुछ राज्यो मे ऐसा विधान है कि दीर्घकाल तक बाहर रहने के कारण नागरिकता समाप्त हो जाती है।

४—त्याग (Renunciation) :—शिशुओं को दुहरी राष्ट्रीयता की दशाओं मे कुछ राज्यो (ग्रेट ब्रिटेन) की नागरिक विधि उनको अधिकार देती है कि वयस्क

होने पर वे घोषित करें कि क्या वे उनमे से किसी एक राज्य का नागरिक होना समाप्त करना चाहते है।

५—प्रतिस्थापन (Substitution) :—कुछ राज्यो की विधि क अनुसार उनकी प्रजाओं की नागरिकता उनके बाहर नागरिकता अर्जन करने के कारण समाप्त हो जाती है।

भारत के सविधान मे निम्नलिखित दो दशाओ मे नागरिकता के अन्त होने की व्यवस्था की गई है—

(१) कोई व्यक्ति जो पहली मार्च सन् १६४७ के उपरान्त भारत के राज्य-क्षेत्र से पाकिस्तान के राज्य-क्षेत्र को प्रव्रजन कर गया हो, भारत का नागरिक नही समझा जायगा (अनुच्छेद ७)।

(२) ऐसा कोई व्यक्ति भारत का नागरिक नही होगा जिसने स्वेच्छा से किसी विदेशी राष्ट्र की नागरिकता ग्रहण कर ली हो (अनुच्छेद ८)।

१६५५ के भारतीय नागरिकता अधिनियम के अन्तर्गत नागरिकता की समाप्ति और उसके छीन लिये जाने की भी व्यवस्था है। उसक लिए विशेष परिस्थितियाँ उत्तरदायी होगी। अधिनियम की धारा ८ के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि कोई भारतीय नागरिक जो कि वयस्क हो चुका हो, और जो किसी दूसरे दश का भी नागरिक या राष्ट्रीय है, यदि भारतीय नागरिकता छोड़ने की समुचित रीति से घोषणा करता है, तो उसका पजीयन समुचित प्राधिकारी करेंगे और उस पजीयन के पश्चात् ऐसे व्यक्ति भारत की नागरिकता से वंचित मान लिये जायेंगे। धारा ६ के अन्तर्गत भारत का कोई नागरिक जो कि देशीयकरण, पजीयन या विकल्प के आधार पर दूसरे देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है, या २६ जनवरी १६५० से अधिनियम लागू होने की तिथि के बीच स्वेच्छया दूसरे राज्य की नागरिकता प्राप्त कर लेता है, तो इस प्राप्ति पर परिस्थिति के अनुकूल वह भारत का नागरिक नही रह जायेगा। धारा १० के अन्तर्गत कोई भारतीय नागरिक देशीयकरण या सविधान की किसी व्यवस्था के आधार पर यदि वह केन्द्रीय सरकार द्वारा इन धाराओ के अन्तर्गत नागरिकता के अधिकार से वचित किया गया है, तो भारत का नागरिक नही माना जायेगा।

राष्ट्रहीनता (Statelessness)—राष्ट्रहीनता की समस्या न हाल मे राष्ट्रीयता सम्बन्धी विधियो मे परस्पर विरोध होन के कारण कुछ प्रमुखता प्राप्त कर ली है। कुछ ऐसे भी मामले हुए हैं जिनमे कुछ राज्यो के राष्ट्रीय जनो क अपने देश मे वापस न हो सकने पर उन्होंने अपनी राष्ट्रीयता खो दी है। अगणित

ने क्रान्ति के बाद अपनी राष्ट्रीया खो दी क्योंकि वे रूस के लिए लौटने को इच्छुक नहीं थे।

न्यायाधीश रसल ने स्टोयेक बनाम पब्लिक ट्रीस्टी [Stoeck v. The Public Trustee (1921) 2 Ch 67] वाले मामले में यह कहा था कि राष्ट्रहीनता एक दशा है जिसे अंग्रेजी विधि स्वीकार करती है। उन्होंने ओपेनहेम के निम्न लिखित कथन को अनुमोदन करते हुए उद्धृत किया—

"कोई व्यक्ति जानते हुए अथवा अनजाने, इच्छापूर्वक अथवा अपने बिना दोष के बिना राष्ट्रहीन बनाया जा सकता है।"

ओपेनहेम राष्ट्रहीनता की बहुत सी स्थितियाँ बतलाते हैं। उनका कहना है कि जन्म से भी व्यक्ति राष्ट्रिकताहीन हो सकता है। इस प्रकार एक जारज शिशु जो जर्मनी में एक अंग्रेजी माँ से पैदा हुआ हो वास्तव में राष्ट्रीयतारहित है क्योंकि न तो वह जर्मन विधि के अनुसार जर्मन राष्ट्रीयता प्राप्त करता है और न ब्रिटिश विधि के अनुसार ब्रिटिश राष्ट्रीयता। और भी यह कि सब बच्चे जो जर्मनी में ऐसे माता-पिता से पैदा हों जो राष्ट्रीयतारहित हों जर्मन विधि के अनुसार स्वयं राष्ट्रहीन हैं। जन्म के बाद भी राष्ट्रहीनता हो सकती है अर्थात् राष्ट्रीयता के छीन लिये जाने पर। सब व्यक्ति जिन्होंने अपनी मौलिक राष्ट्रीयता बिना दूसरी राष्ट्रीयता प्राप्त किये खो दी है, वास्तव में राष्ट्रीयतारहित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि राष्ट्रीयता विरोध विधि सम्बन्धी सन् १९३० हेग अभिसमय में राष्ट्रहीनता की दशा को समाप्त करना चाहते थे किन्तु उसमें दी गई व्यवस्थायें अधिक सहायक सिद्ध नहीं हुईं क्योंकि राज्यों ने उनको स्वीकार नहीं किया।

वह राज्य जिसके अन्तर्गत ऐसे राष्ट्रिकताहीन व्यक्ति निवास करते हों, यदि उनकी संख्या में अत्यधिक वृद्धि हो उनसे देशीकरण के लिए आवेदन-पत्र देने के लिए अपेक्षा कर सकता है अथवा उन्हें देशत्याग करने के लिए निर्दिष्ट कर सकता है। जो राष्ट्रिकताहीन व्यक्ति किसी देश के नहीं हैं और कोई राष्ट्रीयता नहीं रखते हैं उनसे वे लाभ छीन लिये जाते हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार किसी राज्य के नागरिक को प्राप्त होते हैं।

mission) के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। यह विवाद ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका के बीच उठा था। उसमे यह कहा गया कि संयुक्त राज्य की कांग्रेस ने मार्च २, १६०७, को देश-निकाले के अधिकार को सामान्य रूप से स्वीकार किया है। देश-निकाले का अधिकार एक प्राकृतिक अधिकार है।

अध्याय १८

क्षेत्राधिकार से सम्बद्ध प्रत्यर्पण

(Extradition connected with Jurisdiction)

इसकी आवश्यकता :—जहाँ कोई व्यक्ति एक देश मे अपराध करके दूसरे मे भाग जाय तो दूसरे देश का उसके सम्बन्ध मे क्या कर्त्तव्य है ? क्या शरण देने वाले को उसे अपने ही न्यायालयो मे अपनी ही विधि के अनुसार विचार करना चाहिए अथवा उसे उस देश को समर्पण करना चाहिए जिसकी विधि को उसने भग किया हो ? अन्तर्राष्ट्रीय विधि इस सामान्य प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं देती। राज्यो की सार्वभौमिक रीति यही रही है कि भागे हुए अपराधियो को केवल उसी दशा मे समर्पित किया जाय जब मागने वाले देश के साथ कोई विशेष सन्धि हो और अब बहुत कम विधि-वेत्ता इसे सामान्य अथवा सम्पूर्ण कर्त्तव्य बतलाते हैं। यह सन्धि के अनुसार तथा नियमानुसार माँग के अनुवर्तन मे समर्पण प्रत्यर्पण के नाम से प्रसिद्ध है।

परिभाषा :—प्रत्यर्पण एक राज्य द्वारा अन्य राज्य को उस व्यक्ति का समर्पण है जो उस राज्य के क्षेत्र के भीतर पाया जाय तथा जो अन्य राज्य के प्रदेश के भीतर किसी अपराध करने का दोषी ठहराया गया हो अथवा जो अन्य राज्य के प्रदेश के बाहर अपराध करे तथा उसकी प्रजा हो और ऐसी दशा मे उसकी विधि के अनुसार उसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत उत्तरदायी हो।

प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ :—

लारेंस (Lawrence):—लारेंस ने प्रत्यर्पण की परिभाषा निम्न की है:—

Extradition is the surrender by one state to another of an individual who is found within the territory of the former, and is accused of having committed a crime within the territory of the latter, or who, having committed a crime outside the territory of the latter, is one of its subjects and, as such, by its law amenable to its jurisdiction.

ओपेनहेम (Oppenheim) :—ओपेनहेम के अनुसार "Extradition is the delivery of an accused or a convicted individual to the state on whose territory he is alleged to have committed, or to have been convicted of, a crime, by the state on whose territory the alleged criminal happens for the time to be."

स्टार्क (Starke) :—स्टार्क प्रत्यर्पण की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि प्रत्यर्पण को हम वह समर्पण कहेंगे जो कि एक ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में है, जिस पर एक राज्य द्वारा अपराध करने का आरोप है, भले ही यह अपराध शरण देने वाले राज्य-क्षेत्र में किया गया हो, अथवा उसके अपने राज्य-क्षेत्र में या कहीं अन्यत्र। (Extradition is "the surrender of a person accused or convicted of a crime by the state in the territory of which he has taken refuge to the state in whose territory the crime has been committed or which has convicted him of the crime.")

कठिनाइयाँ :—प्रत्यर्पण के सम्बन्ध में दो व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण इस विषय पर एक समान नियम के विकास में बाधा पड़ती है। वे हैं विभिन्न देशों द्वारा ग्रहण की गई अपराध की परिभाषाओं में विभेद तथा प्रत्यर्पण सम्बन्धी प्रक्रिया का ऐसे व्यक्ति के पकड़ाने के सम्बन्ध में उपयोग करने की संभावना जो कि उसके देश के द्वारा वास्तव में न कि किसी सामान्य अपराध के लिए वरन् किसी राजनैतिक अपराध के लिए चाहा जाता हो। आधुनिक राज्य प्रायः बिना हेर-फेर के राजनैतिक लक्षण के अपराधी को प्रत्यर्पण विधि के प्रभाव से अलग करते हैं।

यह अब सामान्यत: स्वीकार किया जाता है कि प्रत्यर्पण एक शिष्टाचार का विषय है न कि अधिकार का। प्रत्येक राज्य सन्धि की शर्तों का सहारा लेता है और उनके अभावों में उसको अधिकार होता है कि भागे हुए व्यक्तियों का प्रत्यर्पण इन्कार कर दे और उनको क्षेत्रीय सर्वोच्चसत्ता की दृष्टि से आश्रय देना भारतीय प्रत्यर्पण, अधिनियम, सन् १६०३ में संघ सरकार के लिए यह प्रक्रिया अनुबन्धित की गई है कि वह भागे हुए अपराधियों को मजिस्ट्रेट द्वारा की गई जाँच के आधार पर अपना समाधान करके कि अधियाचन (Requisition) के समर्थन में प्रथम दृष्टि में मामला प्रतीत होता है, भागे हुए अपराधियों को प्रत्यर्पण कर सकती है। यदि अपराध राजनैतिक रूप का हो तो वह भागे हुए अपराधी को पकड़ने से इन्कार कर सकती है।

आवश्यक शर्तें—प्रत्यर्पण के लिए आवश्यक शर्तें जो सामान्यतः प्रत्यर्पण सन्धियों में भरी जाती हैं, निम्नलिखित हैं :—

(१) राजनैतिक अपराध —यदि अपराध राजनैतिक रूप का हो जिसके कि सम्बन्ध मे अपराधी का प्रत्यर्पण माँगा जा रहा है तो उस भागे हुए व्यक्ति को प्रत्यर्पित नही किया जायगा। 'राजनैतिक अपराध' शब्दो को पारिभाषित करना सरल नही है। यह एक सूक्ष्म विषय है। इसके अर्थ के सम्बन्ध मे विभिन्न राज्य भिन्न-भिन्न प्रमाण ग्रहण करते हैं। कुछ अपराध का आशय ग्रहण करते हैं और अन्य विशिष्ट अपराधों को। फिर भी यह न्यायिक निर्णयो के अनुसार मान लिया गया है कि राजनैतिक अपराध होने के लिए दो या अधिक पक्षकार होने चाहिए जिनमे से प्रत्येक अपनी रुचि की सरकार दूसरे पर लादना चाहे अथवा वह उसे राज्य में जहाँ अपराध किया जाय राजनैतिक नियन्त्रण के लिए यत्न कर रहा हो तथा अपराध उस उद्देश्य की पूर्ति म किया गया हो। इससे स्वभावत. अराजकता प्रचार करने वाले तथा आतंक उत्पन्न करके राज्य करने वाले अलग कर दिये गये हैं। राजविप्लव का मुख्य उद्देश्य सामान्यत विधि को अस्वीकार करना होता है। यह केवल स्थापित विधि के ही नही वरन् प्रत्येक प्रकार की वैध विवशता के विरुद्ध होता है। यह विधि को पूर्णत हटा देना चाहता है और इसी प्रकार सरकारी व्यवस्था को ही अलग कर देना चाहता है। अत अराजको का दल सब सरकारो का शत्रु है और इसके प्रयत्न मुख्यत नागरिको के सामान्य समुदाय के विरुद्ध लक्षित होते हैं।

कैस्टिओनी वाले मामले मे [(1891) 1 Q. B. 149] कैस्टिओनी ने जो एक स्विटजरलैंड का प्रजाजन था, वहाँ एक राजनैतिक उपद्रव मे भाग लिया था जिसमें उसने एक नगरपालिका के सदस्य की हत्या कर दी। प्रत्यर्पण सम्बन्धी कार्य-वाहियों मे जो स्विटजरलैंड की सरकार की ओर से प्रचलित की गई मजिस्ट्रेट ने कैस्टिओनी को कारावास दिया और यह सम्मति प्रगट की कि उसका अपराध जो स्विटजरलैंड मे किया गया था राजनैतिक रूप का नही था। उसने बन्दी-प्रत्यक्षी-करण लेख (Writ of habeas corpus) के लिए आवेदन-पत्र दिया जो उच्च न्यायालय द्वारा जारी किया गया। यह निर्णय किया गया कि उन क्षणो में जिसमे कैस्टिओनी ने गोली चलाई यह अनुमान करना युक्तिसंगत है कि उसने गोली इस विचार से चलाई कि इसके द्वारा उसका उद्देश्य आगे बढेगा और यह एक कार्य था जो उस उद्देश्य की उन्नति के लिए था, तथा इस आशय से किया गया था कि उसी उद्देश्य की वृद्धि होगी जिसके लिये विप्लव हुआ था, अर्थात् उसको बढाने के लिए और उस सरकार को अलग करने के लिए जिसको कि वह समझता था कि जब तक वह उसकी जगह न ले ले, लोगो को उस स्थान पर प्रवेश करने से रोक रही थी। क्वीन्स बेंच डिवीजन ने कैस्टिओनी को यह निर्णय करके छोड दिया कि उसका अप-

राध राजनैतिक है और उसने उसका स्विटजरलैंड को प्रत्यर्पण करने का प्रादेश देने से इन्कार कर दिया।

म्यूनियर वाले मामले मे [(1891) 2. Q. B. 415] अभियुक्त ने पैरिस के एक काफी-गृह मे विस्फोट किया था। वह अराजकतावादी था। वह अपराध जिसका उसके ऊपर आरोप लगाया गया था राजनैतिक रूप का अपराध नहीं माना जा सकता था। ब्रिटिश न्यायालय द्वारा यह माना गया कि राजनैतिक रूप का अपराध होने के लिए राज्य मे दो या अधिक दलकारो को होने चाहिये जिनमे से प्रत्येक अपनी रुचि की सरकार दूसरे पर लादना चाहे और यह कि यदि अपराध एक पक्ष अथवा दूसरे द्वारा उस लक्ष्य की पूर्ति मे किया जाय तो यह राजनैतिक अपराध है अन्यथा नही। इस मामले तथा कैस्टिओनी वाले मामले के अनुपात मे बड़ा अन्तर है। यह निर्णय स्पष्टतः पहले वाले निर्णयो के विपरीत है।

अटेण्टाट खंड (Attentat Clause) :—यह नियम कि राजनैतिक अपराधियो का प्रत्यर्पण नही किया जा सकता, अपवाद के अधीन है जो अटेण्टाट खंड मे दिया गया है और वह यह है कि विदेशी सरकार के अधिष्ठाता अथवा उसके कुटुम्ब के सदस्य की हत्या राजनैतिक अपराध नही है।

(२) सेना संबंधी अपराध :—उदाहरणार्थ भाग जाना तथा धार्मिक अपराध भी सामान्यतः प्रत्यर्पण सम्बन्धी कार्यवाहियों के अधीन नही है। नियम यह है कि तुच्छ मामलो के विषय मे प्रत्यर्पण की आज्ञा नही दी जाती।

(३) स्पेशैलिटी का नियम :—भागा हुआ व्यक्ति जो माँगा जाय, उसके प्रत्यर्पण सम्बन्धी प्रार्थना मे लिखित विशिष्ट अपराध के अतिरिक्त अन्य किसी अपराध के लिये जो उसके समर्पण के पूर्व किया गया हो, उस समय तक विचारार्थ न किया जायगा जब तक उसे मुक्त न कर दिया जाय तथा देश छोड़ने का अवसर न मिले। यह स्पेशैलिटी का नियम कहलाता है।

United States v. Rauscher (1886) वाले मामले मे रौशर एक नाविक था और ग्रेट ब्रिटेन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका को हत्या के आरोप पर प्रत्यर्पित किया गया। फिर भी वह संयुक्त राज्य अमेरिका में उस व्यक्ति को, जिसकी हत्या के लिये वह पहले अभियुक्त था, निर्दय तथा असामान्य दंड देने के छोटे आरोप पर परीक्षित तथा सिद्ध-दोष किया गया। अपील पर संयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय ने दोष-सिद्धि का खंडन किया और बन्दी को इस आधार पर मुक्त करने का आदेश दिया कि जब तक सन्धि द्वारा अन्यथा उपबन्धित न हो बन्दी केवल उस अपराध के लिये आरोपित किया जा सकता था जिसके लिये उसका प्रत्यर्पण किया

गया हो जब तक उसे समर्पित करने वाले देश को लौटने के लिये उचित समय न दिया गया हो ।

(४) अपराध दोनों राज्यों में अपराध की परिभाषा में हो :—अपराध दोनो राज्यो में अपराध की परिभाषा म होना चाहिये । यह दुहरी अपराधिता के सिद्धान्त पर आधारित है (Eisler's case) । किसी भी व्यक्ति को उस समय तक प्रत्यर्पित नही किया जा सकता जब तक उसका कार्य प्रत्यर्पण मांगे जाने वाले तथा प्रत्यर्पण मांगने वाले दोनो राज्यो के दड-विधि के अनुसार अपराध न हो ।

(५) परीक्षण के पश्चात् प्रत्यर्पण :—कोई भगा हुआ अपराधी जो ऐसे अपराध से दोषित हो जो उस अपराध से जिसके लिये उसका प्रत्यर्पण मांगा जा रहा है, भिन्न हो तो उसका प्रत्यर्पण उस समय तक नही किया जायगा जब तक वह प्रत्यर्पण मांगे जाने वाले देश मे परीक्षित न किया गया हो तथा अपने दण्ड को भोग न चुका हो ।

(६) युक्तियुक्त साक्ष्य —अभियुक्त के अपराध का ऊपर से देखने मे युक्तियुक्त साक्ष्य होना चाहिये । प्रार्थित राज्य अपना समाधान कर लेगा कि प्रथम दृष्ट्या साक्ष्य से अभियुक्त के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाहियो का औचित्य सिद्ध है कि नही, किन्तु मामलो को उसके यथार्थ तथ्यो के आधार पर परीक्षण करना ऐसे राज्य के न्यायालयो के अधिकार-क्षेत्र के भीतर नही है ।

प्रमुख मामले तथा सिद्धान्त

१. सावरकर का मामला (Savarkar's Case) —सावरकर जो एक भारतीय तथा ब्रिटिश प्रजाजन थे, पी ऐड ओ कम्पनी के जहाज मोरिया द्वारा भीषण राजद्रोह तथा हत्या की अभिप्रेरणा के आरोपो पर परीक्षण के लिये भारत को लाये जा रहे थे । अक्टूबर २५, सन् १९१०, को जब जहाज मार्सलीज के बन्दरगाह मे था वह किनारे को भाग गये । फिर भी वह फ्रांसीसी पुलिस द्वारा पकड लिये गये जिसने अपने कर्त्तव्य के भ्रमात्मक पालन मे प्रत्यर्पण सम्बन्धी कार्यवाही किये बिना ही उसको जहाज मे सिपुर्द कर दिया । सावरकर एक राजनैतिक अपराधी थे इसलिए फ्रांस ने यह मांग की कि ग्रेट ब्रिटेन को उसे दे देना चाहिये तथा उसका प्रत्यर्पण अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमानुकूल नियमित रीति से मांगना चाहिये । ग्रेट ब्रिटेन ने यह मांग पूर्ण नही की । पक्षकारो की सम्मति से यह विषय हेग-स्थित पञ्चायत के स्थायी न्यायालय को निर्देशित किया गया । पंचायत ने यद्यपि यह स्वीकार किया कि सावरकर को ब्रिटिश अधिकारियों को देने मे अनियमितता की गई थी तथापि ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष मे यह राय प्रकट करते हुए निर्णय

दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे कोई ऐमा नियम नही था जिसके अनुसार ऐसी परिस्थितियो मे उस शक्ति के ऊपर जिसकी रक्षा मे बन्दी हो, उसको वापस करने का कोई कर्त्तव्य निर्धारित किया गया हो, इसलिए क्योकि विदेशी अभिकर्त्ता द्वारा कोई गलती की गई जिसने उसे समर्पित किया ।

२. गौडफ्रे का मामला :—Rex. v. Godfrey [(1923) 1 K B 24] वाले मामले मे शब्द 'फरार' (fugitive) व्याख्या के लिये उपस्थित हुआ और लौर्ड हिबर्ट सी० जे० ने यह कथन किया कि यद्यपि "सर्वप्रथम यह प्रतीत हो कि जब कोई मनुष्य 'फरार' शब्द से सम्बोधित किया जाता है तो इसका यह अर्थ होता है कि वह एक देश से दूसरे देश को भाग गया है। यह प्रतीत होता है कि चाहे वह मनुष्य शारीरिक रूप से उस देश मे उपस्थित रहा हो अथवा नहीं, यदि उसने अपराध वहा किया हो तो 'फरार अपराधी' का आशय इसी तरह पूर्ण करता है ।

३. मुबारक अली का मामला .—Re Government of Ind a and Mubarak Ali Ahmad [I All E. R. 1060] मे Queen's Bench ने अनुमोदन क साथ Re. Castioni [(1891) 1 Q B 149] का निर्देश किया जिममे न्यायालय ने प्रत्यर्पण इसलिये अस्वीकार किया था कि सम्बन्धित फरार व्यक्ति का अपराध (टिसीनिओ के कैंटन मे राज-विद्रोहात्मक आन्दोलन में भाग लेते हुए सरकारी सदस्य को गोली से मार देना) राजनैतिक समझा गया, वर्तमान मामला ऐसे व्यक्ति से सम्बन्धित था जो कूट-रचना अथवा जाल से आर्थिक था । यद्यपि मामले मे कुछ राजनैतिक झंझट थे जिनकी जाच न्यायालय नहीं कर सकता था फिर भी यह मानने के लिये कोई कारण नही था कि उसका न्यायालय मे न्याययुक्त परीक्षण न होगा । यह कहना कि ऐसा नही होगा 'इम न्यायालय लिए एक असमव स्थिति को अंगीकार करना' तथा 'भारतीय न्यायालयों के लिए अपमान-जनक' होगा है ।

४. ईस्लर का मामला (Eisler's case) —ईस्लर प्रत्यर्पण मामले (१६४६) मे गरहर्ट ईस्लर एक परदेशी कम्यूनिस्ट जा कि अमेरिका में कुछ होने वाले अपराधों के लिए सिद्ध-दोष किया गया था, न्यूयार्क से पोलैंड को गया। वह ब्रिटिश पुलिस अफसरों द्वारा पकड़ा गया तथा बो स्ट्रीट मजिस्ट्रेट समक्ष परीक्षण के लिए उपस्थित किया गया। ब्रिटिश मजिस्ट्रेट ने ईस्लर को अभिरक्षा से इस आधार पर मुक्त कर दिया कि अपराध जिसके लिए ईस्लर अमेरिका में सिद्धदोष किया गया था, अर्थात् मिथ्या साक्ष्य, इंगलैंड में मिथ्या साक्ष्य के

धिक शीर्षक मे नही पडता था। यह मामला दुहरी अपराध्यता अर्थात् अपराध दोनो राज्यों का अपराध होना चाहिए इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है।

५. ह्या डे ला टौरे का मामला [Haya de la Torre's Case (I. C. J. Reports 1951, p 71] —इस मामले मे विक्टर रौल ह्या डे ला टौरे जो पेरूविया का एक राष्ट्रीयजन तथा राजनैतिक नेता था, तथा जो एक सैनिक विप्लव भडकाने के अपराध के लिए आरोपित किया गया था, उसको सीमा-स्थित कोलम्बिया के राजदूतावास द्वारा आश्रय दिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह मत प्रकट किया कि यद्यपि हवाना के अभिसमय द्वारा यह स्पष्टत निर्धारित किया गया था कि सामान्य अपराधी स्थानीय अधिकारियो को समर्पित कर दिये जाय तथापि राजनैतिक अपराधियो के सम्बन्ध मे इस प्रकार का कोई कर्तव्य विद्यमान नही था। इसने अपने विचार को पुन व्यक्त किया कि आश्रय अनियमित प्रकार से दिया था और यद्यपि उस आधार पर पेरू उसके अवसान को मागने का अधिकारी था, तथापि कोलम्बिया शरणार्थी को प्रत्यर्पण करने के लिए बाध्य नही था।

अध्याय १६

अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे व्यक्ति का स्थान

(Place of the Individual in International Law)

पारम्परिक मत :—रूढियो से प्राय. यही माना गया है कि केवल राज्य ही न कि व्यक्ति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं, क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल उन राज्यो के सम्बन्धो को नियमित करती है जो अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार तथा कर्त्तव्यो के अधिकारी होते हैं। सर फ्रेडिरक स्मिथ का कथन है कि 'राज्य और कवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार प्रवेश, अथवा हस्ताक्षर करने की अधिकारिता का उपभोग करते हैं और वे ही केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का वेश धारण किये हुए हैं। "States and states alone enjoy a locus stand in the law of nations and that they are the only wearers of international personality"—Sir Fredric Smith ओपेनहेम इस मत के अनुरूप यह प्रतिपादन करते हैं कि चूंकि राष्ट्रो की विधि मुख्यत राज्यों की विधि हुआ करती है, राष्ट्रो की विधि विषय भी साधारणतया राज्य ही हुआ करते हैं और व्यक्ति अन्तिम रूप से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के आधार होते हैं। कुछ विशेष दायित्व भी कुछ व्यक्तियो पर सौंपे जाते हैं जैसे शासको पर, राज्य के अधिष्ठाता पर, राजदूतो पर, और यहाँ तक कि

साधारण नागरिको पर भी । ये दायित्व अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुरूप होते हैं । इस सम्बन्ध मे श्रोपेनहेम का कथन है कि विदेशी राज्य, जो कि विदेशी व्यक्तियो को ऐसे अधिकार प्रदान करते हैं, वे अपने राष्ट्र-विधि के अन्तर्गत ही ऐसा करते हैं। इसीलिए इन अधिकारो को अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार नही कहा जा सकता । वे ऐसे ही अधिकार हैं जो राज्य द्वारा व्यक्ति को उन कर्त्तव्यो के पालन के निमित्त सौंपे गये हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत राज्यो को करना चाहिए ।

यह सच है कि इन अधिकारो की पृष्ठभूमि मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि ही हुआ करती है, किन्तु इन अधिकारो की उत्पत्ति राष्ट्र-विधियो (municipal laws) से ही होती है । इसी प्रकार वे सभी कर्त्तव्य, जो कि राष्ट्रो की विधि के अनुसार वैयक्तिक व्यक्ति पर आरोपित होने चाहिए, उन्हे रूढिगत विचारो के अनुसार हम अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यो की सज्ञा नही दे सकते । उन्हे हम ऐसे ही कर्त्तव्य कहेंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत राज्यो पर सौंपे गये अधिकारो और कर्तव्यो के पालन के लिए उसी के अनुरूप राष्ट्रो द्वारा व्यक्तियो को सौंपे गये हैं ।

श्रोपेनहेम के उपरोक्त विचारो को इस तथ्य द्वारा और भी बल मिल जाता है कि यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (Statute) भी केवल राज्यो को ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे कार्यवाही करने का दायित्व स्थिर करता है । अनुच्छेद ३४ मे स्पष्टत लिखा गया है कि "Only States may be parties in cases before the Court" अर्थात् न्यायालय के समक्ष उपस्थित किये गये विवादो मे केवल राज्य ही पक्षकार होगे ।

चरम मत :—इसके विपरीत दूसरा सम्प्रदाय यह प्रतिपादन करता है कि राज्य केवल मस्तिष्क की कल्पना (fiction of a brain) है किन्तु विश्लेषण करने पर अन्त मे केवल व्यक्ति ही है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय ठहरता है। यह कथन वेस्टलेक के कथन से पर्याप्त मात्रा मे पुष्ट हो जाता है जो यह है कि 'राज्य के कर्तव्य तथा अधिकार उन मनुष्यो के अधिकार तथा कर्त्तव्य है जिनसे मिलकर वे बने है ।' "The duties and rights of the States are the duties and rights of the men who compose them."—Westlake). इस मत की व्याख्या करने वाले इस अधिकार से कहते हैं कि राज्य केवल एक सस्था है जो कि व्यक्तियो के अधिकारो के बचाव तथा सुरक्षा के लिए बनी है जिनसे मिलकर वे स्वय बनी हुई हैं। इसका व्यक्तित्व भी उन्ही व्यक्तियो के व्यक्तित्व का योग है। यह मत अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उस नई विचारधारा के प्रकाश मे अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है जो व्यक्तियो पर बहुत अधिक ध्यान दे रही है ।

हान्स केल्सन (Hans Kelsen) के अनुसार, "सभी विधियों की तरह, अन्तर्राष्ट्रीय विधि भी मानवीय आचरण का नियम है। (Like all law, International Law, too, is a regulation of human conduct)। वे केवल मनुष्य ही होते हैं जिन पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि लागू होती है और वे मनुष्य ही होते हैं जिनके विरुद्ध अनुज्ञाएँ जारी की जाती हैं। अगर अन्तर्राष्ट्रीय विधि कर्तव्यों, दायित्वों और अधिकारों को आरोपित करती है,...तो ये कर्तव्य, ये दायित्व और ये अधिकार केवल मानवीय आचरण की ही अपेक्षा करते हैं। ऐसा कर्तव्य, जो कि किसी व्यक्ति का कर्तव्य न हो, उसे हम किसी भी प्रकार वैध कर्तव्य नहीं कह सकते। ऐसा दायित्व जिसमें किसी प्रकार की ऐसी अनुज्ञा न हो जिसे मनुष्यों द्वारा पूरा करना हो, या जो मनुष्यों के ऊपर लागू न होती हो, उसे हम वैध दायित्व (legal responsibility) भी नहीं कह सकते।

पी० एम० ब्राउन (P. M. Brown) ने तो यहाँ तक लिखा है कि "The most serious error committed by the defenders of International Law has been found in their parrot-like reaffirmation that it applies only between sovereign States." अर्थात् वह इस बात को एक बहुत बड़ी भूल मानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि केवल प्रभुता-सम्पन्न राज्यों का विषय माना जाय।

लोटरपैट (अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा मानवीय अधिकार, १९५० संस्करण, पृष्ठ ६९ तथा ७०) (International Law and Human Rights (1950 Ed pp 69-70) इस मत का खंडन करते हैं कि केवल राज्य ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं। उनका कथन है कि "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में राज्य की ओर से अखंड अनन्यता का दावा उस समय सह्य था जब व्यक्ति के हितों की वास्तविकता तथा अन्योन्याश्रयत्व का राष्ट्रीय सीमाओं के बाहर निकलना आजकल की तुलना में कम स्पष्ट था। यह बाद का तथ्य है जो इस बात को समझाता है कि क्यों व्यक्ति के अधिकारों की परिधि का निरन्तर विकास जो वैध विकास का एक चिरस्थायी लक्षण है राज्य की सीमाओं पर रुक नहीं सकता।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि में अन्य परिवर्तनों के परिणामस्वरूप व्यक्ति ने एक स्थिति तथा प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। अब यह विषय अन्तर्राष्ट्रीय दया के स्थान में अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार का विषय है क्योंकि चार्टर तथा अन्य स्थानों में समाविष्ट अन्तर्राष्ट्रीय विधि जहाँ तक व्यक्ति के मूलभूत अधिकारों को राज्य की विधि के अनाश्रित स्वीकार करती है वहाँ तक यह व्यक्ति को राज्यों की विधि का विषय बना देती है।

राज्य तथा व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय-वस्तु (States and individuals subjects of International Law) :—एक तीसरी विचारधारा है जिसके अनुयायी अधिक सख्या मे होते जा रहे हैं। इसमे कोई सन्देह नहीं है कि राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय हैं किन्तु व्यक्ति भी वही स्थान ग्रहण कर सकते हैं जो राज्यो का अन्तर्राष्ट्रीय विधि के समक्ष है। फेनविक (Fenwick) का कथन है कि, 'इन तथ्यो के बीच यह कहना गलत होगा कि व्यक्ति किसी अंश तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय नही है। खासतौर से सारभूत विधि (substantive law) के सम्बन्ध मे तो ऐसा कहा ही नही जा सकता। जहाँ तक प्रक्रियात्मक विधि (procedural law) का सम्बन्ध है, जब कि व्यक्ति अपने अधिकारो के प्रवर्तन के लिए अपने राज्य की ओर देखता है, तो प्रथम विश्वयुद्ध पश्चात् ऐसे भी दृष्टान्त हैं जब कि व्यक्ति के मौलिक अधिकारो की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मशीनरी बनायी गई है।'

श्वरजेनबर्जर (Schwarzenberger) के अनुसार 'यह कहना एक विरोधाभास होगा कि व्यक्ति, जो कि राष्ट्रीय समुदाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज, दोनो का आधार है, उसे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का केवल एक लक्ष्य मान लिया जाय।' (It may be considered paradoxical that the individual, the basis both of national communities and of international society, should be merely an object of International Law.)

रूस वालों का मत :—उपर्युक्त मत सयुक्त समाजवादी सोवियत् प्रजातन्त्र द्वारा नही ग्रहण किया जाता। उनके दार्शनिक विचार बिलकुल ही भिन्न हैं। उनके अनुसार राज्य की सर्वमयताओ को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया जाता है। वे प्रायः व्यक्तित्व का निषेध ही कर देते हैं। सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग मे विधि-वेत्ता की क्षमता मे रूस के एम० वी० एम० कोरेत्सकी ने स्पष्ट रूप से यह घोषित किया था कि उनका देश इस मत से अपने को विमुख रखता है कि व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विषय है।

सन्धि-अनुबन्ध (Treaty Stipulations) :—व्यक्तियो के अधिकारो के सरक्षण के लिए राज्यो के बीच मे प्रायः सन्धियाँ की जाती रही हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने डेनजिग के न्यायालय के क्षेत्र [Jurisdiction of the Court of Danzig) (1921) P. C I J Series B. No. 15] मे यह प्राधिकृत रूप से निर्धारित किया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि का आशय सविदाकर्ता पक्षकारो के आशय के अनुसार यह हो सकता है कि पक्षकारो द्वारा कुछ निश्चित नियम ग्रहण किये जायँ जिनके द्वारा वैयक्तिक अधिकार एव कर्तव्य उत्पन्न हो जो राष्ट्रीय न्यायालयो द्वारा प्रवृत्त किये जायँ।

नूरेंबर्ग परीक्षण (Nuremberg Trial)—नूरेंबर्ग के अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण के समक्ष अभियुक्तो द्वारा प्रस्तुत किया हुआ निवेदन विचार के लिए आया। निवेदन यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि सर्वोच्च सत्ताधारी राज्यो से सम्बन्धित है, और उसमे व्यक्तियो के दंड की कोई व्यवस्था नही की गई है और यह कि जहाँ विवादपूर्ण कार्य राज्य का कार्य हो वहाँ वे जिन्होने उसे कार्य रूप मे परिणित किया हो, व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी नही हैं वरन् वे, राज्य की सर्वोच्च-सत्ता से सरक्षित हैं। न्यायाधिकरण ने इन दोनों निवेदनो को अस्वीकार किया और घोषित किया कि यह बात कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यक्तियो तथा राज्यो पर कर्तव्य तथा उत्तरदायित्व सौंपती है चिरकाल से स्वीकृत है।

येक्स पार्टे क्विरिन [Ex Parte Quirin, (1942), 317 U. S I] के विवाद मे सयुक्त राज्य के सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश स्टोन ने कहा है कि :—

"अपने इतिहास के आरम्भ काल से ही इस न्यायालय ने युद्ध की विधि को राज्यो की विधि के उस भाग को सम्मिलित करते हुए लागू किया है जिसमे युद्ध के सचालन, शत्रु-राज्यो तथा शत्रु-व्यक्तियो की स्थिति, अधिकार तथा कर्तव्यो के लिए नियम निर्धारित किये गये हैं।

"व्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लघन के लिए दडित किये जा सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध अपराध व्यक्तियो द्वारा किये जाते हैं न कि भाववाचक सत्ताओ द्वारा, और केवल व्यक्तियो को जो ऐसे अपराध करते हैं दडित करने से ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उपबन्ध प्रवृत्त किये जा सकते हैं।

"इसके विपरीत चार्टर का निष्कर्ष ही यह है कि व्यक्तियो के अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य होते हैं जो अलग-अलग राज्यो द्वारा लगाये गये होते हैं और राष्ट्रीय कर्तव्य से बढ कर होते हैं। युद्ध की विधियो का उल्लघन करने वाला व्यक्ति राज्य के अधिकार के अनुसरण मे कार्य करने से मुक्ति नही पा सकता, शर्त यह है कि राज्य कार्य को प्राधिकृत करने में अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा दी गई क्षमता के बाहर जाता है।"

प्रोफेसर ग्रीन का विचार है कि नूरेंबर्ग न्यायाधिकरण ने अपने निर्णय मे जो कि मेजर नाजी युद्ध अपराधियो के सम्बन्ध मे था, जो विचार प्रकट किया था वह वर्तमान प्रगतिशील भावनाओ की अपेक्षा रूढिगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि की धारणाओ से अधिक निकट था। न्यायाधिकरण ने घोषणा की थी कि "to constitute crimes against humanity, the acts relied on before the outbreak of war must have been in execution of, or in connection with, any

crime within the jurisdiction of the Tribunal." जब कि निर्णय में इस विषय का पूरा विवरण दिया गया कि जर्मनी की सरकार ने अपने राष्ट्रीय जनों में से एक बहुत बडी सख्या के साथ जो भी उचित अथवा अनुचित व्यवहार किये थे, अभियुक्तो मे से कोई भी ऐसा नही था जिसे जर्मनो के विरुद्ध बुरे व्यवहार का अपराधी ठहराया जा सके। इसके लिए आवश्यक था कि यह सिद्ध किया जाता कि वैसे व्यवहार युद्ध-अपराधो के अभिन्नअग हैं। यहाँ तक कि (१) 'डाक्टर के परीक्षण (The Doctor's Trial, Annual Digest, 1947, p 296) और (२) फील्ड मार्शल मिल्च के परीक्षण (The Trial of Field Marshal Milch) मे भी यह रूढिगत अन्तर्राष्ट्रीय विधि की बात नथी जिससे जर्मनी के नागरिको के प्रति अपकार करने के अपराधियो के विरुद्ध परीक्षण करने का अधिकार सैनिक-न्यायाधिकरण को दिया गया। जर्मनी के शर्तहीन समर्पण कर देने के कारण और कट्रोल कौंसिल ला न० १० के कार्य-रूप मे आ जाने के कारण, सभी उद्देश्यो से यह न्यायाधिकरण एक जर्मन-म्युनिसिपल न्यायाधिकरण ही रह गया था, जिसने विजेता राष्ट्रो द्वारा निर्धारित जर्मनी की राष्ट्रविधियो का ही प्रवर्तन किया था।

जनवध अभिसमय (Genocide Convention) —जनवध का अभिसमय जो कि अपराधो को रोकने एव दड निर्धारित करने के प्रसग में था ८ दिसम्बर, १९४८ को सयुक्त राष्ट्र सघ की साधारण सभा द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इससे व्यक्तियो पर सीधा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व आकर टिक जाता है, क्योकि इससे इन व्यक्तियो को दड देने की व्यवस्था की गई है जो जनवध के कार्यों के अपराधी ठहराये जायेगे—भले ही वे व्यक्ति सवैधानिक रूप से उत्तरदायी शासक हो, पब्लिक आफिसर हो, अथवा वैयक्तिक व्यक्ति हो। (अनुच्छेद ४)। यह निर्धारित किया गया है कि जनवध को देशनिकाले के प्रसग मे एक राजनीतिक अपराध के रूप मे व्यवहृत नही किया जायेगा। अभिसमय के अन्तर्गत, राज्यों ने स्वीकार किया कि जनवध तथा जनवध के कृत्यो के लिए पडयन्त्र राष्ट्र न्यायालयों द्वारा दड निर्धारित करने के लिए विचाराधीन होगे, अथवा इन पर विचार अन्तर्राष्ट्रीय आपराधिक न्यायालय भी कर सकेंगे। किन्तु यहाँ यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि उन मनुष्यो का जिन पर आक्रमण किया गया है, अपनी ओर से षडयन्त्रकारियो या आक्रमणकारियो पर मुकदमा चलाने या दावा करने की कोई व्यवस्था नही की गई है।

अटलाटिक चार्टर—१९४१ के अटलाटिक चार्टर मे मानवीय स्वतत्रता के चार आधारभूत सिद्धान्तो का उल्लेख किया गया था भय से स्वतत्रता (freedom from fear), कमियो से स्वतत्रता (feerdom from want), भाषण की स्वतत्रता

(freedom of speech) और पूजा की स्वतन्त्रता (freedom of worship) । इन सिद्धान्तो ने पूर्व मान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि की उस मान्यता को तोड दिया कि केवल प्रभुता-सपन्न राज्य ही इसके विषय हो सकते है । इन सिद्धान्तो ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि में एक नवीन व्यक्ति 'a new person' को लाकर खडा कर दिया—जिसे हम मनुष्य कहते हैं । अब यह अन्तर्राष्ट्रीय रूप से मान्य हो गया कि 'the State is an instrument to serve the people and not an end for man to serve' अर्थात् राज्य साधन है, साध्य नही ।

सयुक्त राष्ट्र (United Nations).—सयुक्त राष्ट्र के चार्टर की प्रस्तावना मे महत्व लीग आफ नेशन्स के "उच्चकोटि के सविदाकर्ता पक्षकारो" से "सयुक्त राष्ट्र सघ की जनता" में परिवर्तित कर दिया गया है । इसके द्वारा मूलभूत मानवीय अधिकारो मे, मानवीय व्यक्तित्व के गौरव तथा महत्व मे तथा पुरुष और स्त्रियो के समानाधिकारो मे पुनः दृढ निश्चय के साथ विश्वास किया गया है ।

चार्टर मे सयुक्त राष्ट्र के उद्देश्यो मे से एक जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेद-भाव को मिटाकर सब के हितार्थ मानवीय अधिकारो तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओ की उन्नति तथा अदला-बदली के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति है ।

मानवीय अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा (Universal Declaration of Human Rights) —मानवीय अधिकारो की सर्वव्यापी घोषणा सयुक्त राष्ट्र की सामान्य सभा द्वारा दिसम्बर १०, सन् १९४८ को स्वीकृत की गयी । इसमे नागरिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्वतन्त्रताओ का साराश दिया गया है, जिनके लिये मनुष्यो ने इतने काल तक प्रयास किया है । इसमे नये आर्थिक तथा सामाजिक अधिकार, जो आज केवल धीरे-धीरे स्वीकृत किये जा रहे हैं, भी सम्मिलित किये गये हैं ।

घोषणा की प्रस्तावना "मानवीय व्यक्ति के गौरव तथा महत्व" पर विशेष बल देती है । प्रथम दो अनुच्छेद इस बात पर जोर देते हैं कि अधिकार तथा स्वतन्त्रता प्रत्येक पर तथा सब स्थानो पर लागू है । प्रत्येक बिना किसी प्रकार के भेद के जैसे जाति, वर्ण, लिंग, भाषा, धर्म, राजनीतिक अथवा अन्य विचार, जातीय अथवा सामाजिक उत्पत्ति, सम्पत्ति, जन्म अथवा स्थिति-भेद घोषणा मे उल्लिखित सम्पूर्ण अधिकारो तथा स्वतन्त्रताओ का अधिकारी है ।

अनुच्छेद ३ से १५ तक जीवन, स्वतन्त्रता, व्यक्ति की सुरक्षा, विधि के समक्ष सब स्थानो मे व्यक्ति के रूप मे स्वीकृति तथा विधि के समान सरक्षण के अधिकारो

को वर्णित करते हैं। किसी को भी अविहित गिरफ्तारी, परिरोध अथवा निर्वासन के अधीन न किया जाय। घोषणा द्वारा दासता, यातना देना, निर्दय अमानुषिक अथवा अपकृष्टकारी दंड, गृह, कुटुम्ब अथवा पत्र-व्यवहार में अविहित हस्तक्षेप, विधि-विरुद्ध किये गये हैं। राष्ट्रीयता का अधिकार स्वीकृत किया गया है और बाधा तथा उपद्रव से अन्य देशों में आश्रय ढूंढने के अधिकार का विश्वास दिलाया गया है।

अनुच्छेद १६ द्वारा पूर्णव्यस्क पुरुषों तथा स्त्रियों को जाति, राष्ट्रीयता अथवा धर्म के प्रतिबन्ध के बिना विवाह करने तथा कुटुम्ब स्थापित करने के अधिकार का संरक्षण किया गया है। अनुच्छेद १७ द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को सम्पत्ति के स्वामित्व के अधिकार की गारंटी दिलाई गई है। यह भी व्यवस्था की गई है कि किसी की सम्पत्ति अविहित रूप से उससे छीनी नहीं जायेगी। अनुच्छेद १८ तथा १९ में व्यक्ति के विचार, बुद्धि और धर्म तथा मत और भाव अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार की व्यवस्था की गई है। अनुच्छेद २० और २१ में यह निर्धारित किया गया है कि प्रत्येक को शान्तिपूर्ण एकत्रित होने तथा समागम करने की, अपने देश की सरकार में भाग लेने की तथा अपने देश की सार्वजनिक सेवा में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता का समान अधिकार है।

२२ से २६ तक के अनुच्छेद आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों की घोषणा करते हैं। इनमें कार्य करने का अधिकार, व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता, समान वेतन समान कार्य का, विश्राम तथा अवकाश का, बेकारी, अस्वस्थता, अयोग्यता, वैधव्य, वृद्धावस्था अथवा अन्य प्रकार से ऐसी परिस्थितियों में जो कि किसी के नियन्त्रण के बाहर हों, जीविका के अभाव के विरुद्ध संरक्षण का अधिकार सम्मिलित है। घोषणा द्वारा यह भी स्वीकृत किया गया है कि प्रत्येक को एक जीवन स्तर रखने का अधिकार है जो उसके तथा उसके कुटुम्ब के स्वास्थ्य तथा हित के लिये पर्याप्त हो, जिसमें भोजन, वस्त्र, चिकित्सा सम्बन्धी ध्यान तथा आवश्यक सामाजिक सेवायें सम्मिलित हैं। अनुच्छेद २६ शिक्षा सम्बन्धी अधिकार की गारंटी लेता है जो कम से कम प्रारम्भिक तथा मूलभूत अवस्थाओं में निःशुल्क तथा मानवीय व्यक्तित्व के पूर्ण विकास तथा मानवीय अधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं के सम्मान की ओर लक्षित होनी चाहिये।

घोषणा का महत्व :—घोषणा एक नवीन अन्तर्राष्ट्रीय स्तर स्थापित करती है। इतिहास में प्रथम बार पृथ्वी में अधिकांश सरकारों के प्रतिनिधि इस बात पर सहमत हो गये हैं कि कोई अधिकार किसी विशेष जाति अथवा समुदाय की ही सम्पत्ति नहीं है वरन् वे प्रत्येक मानव की मानवता की सम्पत्ति हैं। संयुक्त

राष्ट्र सघ न यह घोषणा की है कि लोगो को यह अधिकार इसलिये नही मिले हैं कि वे स्वीडन देशवासी हैं अथवा अरब हैं या ईसाई अथवा बुद्ध हैं, या इस्किमो, हॉटेन्टाट अथवा दक्षिणी समुद्र के द्वीपवासी हैं वरन् इसलिए कि वे मनुष्य हैं। सर्वव्यापी घोषणा का वास्तविक अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो अथवा स्त्री अपने-अपने गुणो के आधार पर योग्य समझा जाना चाहिये और प्रत्येक को पूर्ण तथा सुखी जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलना चाहिये।

करण का वैध पक्ष (Legal aspect of the Instrument) :— यद्यपि सयुक्त राष्ट्र के सदस्य घोषणा के महत्व पर अधिकारो की घोषणा के रूप मे विशेष महत्व देने मे एकमत थे, फिर भी वे अपने मन मे सामान्यत. स्पष्ट थे कि इसके द्वारा इसको प्रवृत्त करने की कोई व्यवस्था नही की गई है। इस घोषणा द्वारा सदस्यो पर मानवीय अधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओ को जो यह सामने रखता था सम्मान करने का वैध कर्त्तव्य भी नही सौंपा गया है। घोषणा का कोई वैध करण नही था और न कोई वैध बाध्यकारी प्रभाव ही था। प्रोफेसर लौटरपैट (Professor Lauterpacht) का कथन है कि घोषणा उन बातो को प्रकट करती है जो समय आने पर सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य-राष्ट्रो द्वारा सामान्यत. स्वीकृत तथा कार्यरूप मे परिणित विधि के सिद्धान्त होने चाहिये। उनकी सम्मति मे यह घोषणा सामान्य सभा के अभिस्ताव के रूप मे नही समझी जा सकती क्योकि घोषणा का प्रमुख भाग केवल "घोषणा करता है," लेकिन सयुक्तराष्ट्र सघ के सदस्यो से यह अभिस्ताव नही करता कि वे इसके सिद्धान्तो का पालन करें।

घोषणा का अप्रत्यक्ष वैध प्राधिकार :—चार्टर की घोषणा मे "सभी राष्ट्रो के सभी मनुष्यो के लिये एक सामान्य सफलता का स्तर निर्धारित किया गया है, जिसका उद्देश्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति और समाज का प्रत्येक अग, इस घोषणा को अपने मस्तिष्क में रखते हुये, इन अधिकारो और स्वतन्त्रताओ के प्रति सम्मान की भावना रखने के लिए शिक्षित किये जा सकेंगे और राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दोनो रूपो से उसका पालन करेंगे।"

प्रोफेसर लौटरपैट का कहना है कि यद्यपि यह घोषणा भले ही एक वैध लेख्य न हो और इसके अन्तर्गत भले ही वैध आभार न उत्पन्न होते हो, फिर भी इसका वहाँ तक अवश्य ही वैध महत्व है जहाँ तक कि वह प्राधिकारिक रूप मे "अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्रताओ और मानवीय अधिकारो" की व्याख्या करते हैं। यह व्याख्या अवश्य ही एक आभार उत्पन्न कर देती है, जो कि भले ही पूर्ण अथवा अपूर्ण हो, फिर भी सयुक्त राष्ट्र के सदस्यो पर बन्धनकारी है। उन्ही के शब्दो मे—"To say, therefore, that a document is not legally binding and that it embodies,

nevertheless, an authoritative interpretation of a legally binding instrument is to make a statement the first part of which contradicts the second." अर्थात् "यह कहना कि इस आधार पर एक प्रलेख बाध्यतापूर्ण नही है कि उसमे वैध बाध्यताकरण का निर्वचन निहित नहीं है, एक ही तथ्य के दो कथनो मे द्विविधा उत्पन्न करना होगा।"

घोषणा का नैतिक प्रभाव (Moral Force of the Declaration)— घोषणा, जिसके सम्बन्ध मे संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों ने वास्तविक रूप में एकमत होकर मत दिया, एक नैतिक प्रभाव तथा प्राधिकार है। यह संसार के इतिहास मे एक अपूर्व वस्तु है और इसमे अन्तर्राष्ट्रीय विधि की पद्धति का आरम्भ है। अब एक साधारण मनुष्य की आवाज जो कुछ अधिकारो की माँग करता है, जंगल मे एक नि सहाय व्यक्ति के चिल्लाने के समान न होगी बरन् यह एक आवाज होगी जिसका समर्थन संसार के सब लोग करेंगे और जिसका प्रतिनिधित्व इस सभा मे है।

सामान्य सभा के समक्ष ब्रिटेन के प्रतिनिधि ने यह कथन किया था कि "अवश्य ही यह ऐतिहासिक अवसर है क्योकि यद्यपि ये प्रलेख ही एक बड़ी वस्तु है तथापि इससे पूर्व कभी इतने राज्य व्यक्ति के आधारभूत तथा मूलभूत अधिकारों तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी अपने विचारो मे संयुक्तरूप से एकमत नही हुए थे।"

प्रोफेसर लौटरपैट ने प्रसगानुकूल बहुत ही उचित कहा है कि "इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय घोषणाओ का अधिकार तथा प्रभाव राज्यो की सर्वोच्चसत्ता के त्याग की मात्रा के सीधे अनुपात मे होना चाहिये जो इससे सम्बद्ध है।" उनके अनुसार "इस प्रकार की घोषणाओ का अधिकार उसके लिए ऐसे प्राधिकार का दावा करने वाले अभिसमय से नही उत्पन्न किया जा सकता। घोषणा मे व्यक्तियों के अधिकार स्पष्टतः प्रकट किये गये हैं। किन्तु इसने राज्यो के कर्त्तव्यो को निश्चित करना सदेह मे रख दिया है और व्यक्ति के कोई अधिकार उस समय तक निश्चित नहीं किये जा सकते जब तक कि "उसके प्रतिरूप" राज्य के कर्तव्य स्पष्टतया पारिभाषित न कर दिये जाँय। कोई अधिकार उस समय तक अधिकार नही होते जब तक उनके प्रवृत्त करने के उपाय न दिये गये हों।

परिणाम :—इस घोषणा को हमे पूर्णरूप से लक्ष्य-सिद्ध नही कहना चाहिए। यह तो वाञ्छित उद्देश्य की प्राप्ति का पहला कथन है। अभी मानव अधिकारो की ऐसी पूर्ण घोषणा (Complete declaration of human rights) का कार्य पूरा नही हुआ है जो सभी सदस्य राज्यो पर पूरी तरह बन्धनकारी हो सके। फिर भी यह पहला कदम इस घोषणा की ओर एक महत्वपूर्ण कदम है

इससे इतना तो अवश्य ही हो जाता है कि जनता के अधिकारो के सम्बन्ध मे कोई वितर्क पैदा होने पर इस घोषणा से एक व्यावहारिक और महत्वपूर्ण आधार मिल जाता है। मानवीय अधिकारो के प्रवर्तन मे इसी कारण इस घोषणा का अपना विशिष्ट महत्व है। सयुक्त राष्ट्र सघ इसे और व्यापक बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है।

मानवीय अधिकारों के संरक्षण के लिए यूरोपीय अभिसमय (European Convention for the Protection of Human Rights)—सन् १६४८ के मानवीय अधिकारो की सार्वजनिक घोषणा को वैध प्रबलता देने के लिये यूरोप की सभा के सदस्यराष्ट्रों ने ४ नवम्बर सन् १६५० को ऐसे मानवीय अधिकारो तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओ क सरक्षण के लिए यूरोपीय अभिसमय पर हस्ताक्षर किये। यह पद्रह राज्यो की सरकारो द्वारा वैध रूप से वचनबद्ध होकर मानवीय अधिकारो की सार्वजनिक घोषणा मे स्थापित आदर्शों पर पहुँचने की दिशा मे पहला पग था। अभिसमय मे दो नये वैकल्पिक वाक्य-खड जोड दिये गये हैं—अपने अधिकारो के लिए प्रत्येक व्यक्ति की किसी अन्तर्राष्ट्रीय सस्था मे पहुँच तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक सस्था का सस्थापन जो राज्य-सरकारो क ऊपर तथा उससे बढकर निर्णय कर सके। यह वाक्य-खड यद्यपि वैकल्पिक है तथापि व्यक्ति के लिये उसके मानवीय व्यक्तित्व की रक्षा क लिए जीवन का एक नया दृश्य सामने उपस्थित कर देता है। यह सुरक्षा उन सभी प्रकार की क्रूरताओ एव निरकुश शासन क विरुद्ध मिलेगी।

मानवीय अधिकारो पर यूरोपीय अभिसमय एक अपूर्ण करण है किन्तु यह प्रगति की ओर एक बहुत बडा पग है। यह सयुक्त राष्ट्र सघ के मानवीय अधिकारो की सार्वजनिक घोषणा से कही आगे बढ गया है। यह घोषणा अन्तिम इच्छाओ को प्रकट करने से और अधिक कुछ नही थी, जब यूरोपीय अभिसमय में विशिष्ट वैध अभिसमय है जो पन्द्रह सरकारा द्वारा स्वीकृत है। सबसे अधिक महत्व की नई बातें दो हैं जिनकी आशा की जाती थी कि यूरोपीय अभिसमय मे रहेगी, अर्थात् अधिकार से वचित किये गये व्यक्तियो का सरक्षण करने मे समर्थ अन्तर्राष्ट्रीय अग मे सीधी पहुँच तथा अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर एक न्यायिक सस्था का सस्थापन जो राज्य-सरकारो के ऊपर न्याय करने मे सक्षम हो। दुर्भाग्यवश इस अवसर पर इन दो उपबन्धो पर एकमत से स्वीकृति प्राप्त करना सम्भव न हो सका। अत. इनमें से प्रत्येक इस अर्थ मे वैकल्पिक रह जाता है कि यह अभिसमय हस्ताक्षर करन का आवश्यक परिणाम नहीं है, वरन् सम्बन्धित राज्यो की प्रकट अनुपूरक घोषणा पर आश्रित है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के समक्ष राष्ट्रीयता :—जब कभी कोई व्यक्ति किसी विदेश में घायल हो जाता है या उसे क्षति पहुँचायी जाती है, तो उसे प्रकार के उपचार के लिए उस राज्य की विधियों या न्यायाधिकरण की शरण लेनी पड़ती है। यदि, किसी प्रकार, उसे अपने प्रति किये गये दुष्कृत्यों का पूरा उपचार नहीं मिल पाता, तो वह उस राज्य के माध्यम से इस उपचार के लिए प्रयत्न करता है, जिसका कि वह नागरिक है और जिसके प्रति राज-भक्ति की भावना उसमें है। यह राज्य ऐसे उपचार की पूर्ति विरोध-प्रदर्शन (Representation), प्रतिवाद (Remonstrance) या अन्य कार्यों द्वारा करता है : De Huber v. The Queen of Portugal (17 Q. B. p. 151.) इसलिए यह आवश्यक है कि वह अवश्य ही किसी न किसी राज्य का राष्ट्रीयजन हो। हाईड (Hyde) का कथन है कि "Nationality is the relationship between a state and an individual which is such that the former may with reason regard the latter as owing allegiance to itself."

मानवीय अधिकारों की सर्वव्यापी घोषणा (The Universal Declaration of Human Rights) में यह व्यवस्था है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी राष्ट्रीयता का अधिकार है और उसकी राष्ट्रीयता निरंकुश ढंग पर किसी प्रकार नहीं छीनी जा सकती और न तो राष्ट्रीयता बदलने के अधिकार से उसे वंचित किया जा सकता है (अनुच्छेद १५)। किसी विशेष राज्य की राष्ट्रीयता प्राप्त करने के लिये एक व्यक्ति को कुछ आवश्यक शर्तें पूरी करनी पड़ती हैं, जैसे किसी विशेष समुदाय से उसका परिचय, जन्मस्थान, रक्त और निवास इत्यादि के माध्यम से।

राष्ट्रीयता-विधि की कुछ उलझनों के सम्बन्ध में अप्रैल १९३० में हेग में एक अभिसमय हस्ताक्षरित किया गया था। उसमें स्पष्टतः लिखा गया था कि राज्य का निर्णय करना कि कौन उसके राष्ट्रीय-जन हैं, राज्य पर ही निर्भर करता है। यह कानून अन्य राज्यों द्वारा भी मान्य होगा, क्योंकि यह अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय, अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियों, और सामान्य रूप से राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में मान्य विधि के अनुरूप है। (अनुच्छेद १)।

विदेशियों के अधिकार और कर्तव्य का निर्धारण :—हाईड [illegible] अपनी प्रभुसत्ता के आधार पर यह एक स्वाभाविक अधिकार प्राप्त है [illegible] विदेशियों को अपने राज्य-क्षेत्र में प्रवेश करने से रोक सके, [illegible] अपनी राज्य-सीमा में प्रवेश करने की अनुमति दे। यह तभी [illegible] सकता, यदि इसके विरुद्ध राज्य की कोई संधि की गई हो। [illegible]

दूसरे के सम्पर्क और एक दूसरे पर निर्भर स्वतन्त्रता के कारण प्रत्येक राज्य अपने राज्य-क्षेत्र मे विदेशियो के प्रवेश के सम्बन्ध मे अपना पृथक् कानून बनाता है। यदि राज्य ऐसा समझता है कि विदेशी उसके राष्ट्रीय-जनो से किसी भी प्रकार की होड लेने आ रहे हैं, तो वह उनके प्रवेश को पूर्णतया रोक सकता है। इसी प्रकार कोई भी राज्य उन विदेशियो को विवासित (deportation) कर सकता है जिनकी उपस्थिति उसके विचार से अवाछित है क्योकि यह पूर्णतया उसकी प्रभुसत्ता से सबधित प्रश्न है।

जब कभी कोई विदेशी, किसी दूसरे राज्य-क्षेत्र मे प्रवेश करता है तो वह उस राज्य की विधियो का दायित्व अपने ऊपर ठीक उसी प्रकार ले लेता है जैसे उस राज्य के स्वय नागरिक लिया करते हैं। अगर वह उस राज्य मे स्थायी रूप से रहने लगता है तो वह उस देश द्वारा लगाये गये टैक्सों या अन्य भारों से अपने को मुक्त नही कर सकता। विदेशी राज्य का यह कर्तव्य है कि वह एक विदेशी की जान-माल की उचित ढग से रक्षा करे और उसे उचित न्याय दे। उसे उस राज्य द्वारा सैनिक सेवा करने के लिये उस समय तक विवश नही किया जा सकता, जब तक कि इस आशय की अनुमति उसके देश से न ले ली जाय। दूसरी ओर मातृक देश अपने सभी नागरिको को किसी भी समय दुनिया के किसी भी कोने से वापस बुला सकता है और अपनी सेवा मे उनका उपयोग कर सकता है। एक विदेशी अपने मातृक देश द्वारा सुरक्षित रहने के अधिकार से पूर्णतया वचित नही हो जाता। यह बात दूसरी है कि ऐसे हस्तक्षेप हर समय उचित और उपयोगी न हो।

कोई भी व्यक्ति अपने देश को पासपोर्ट के आधार पर छोडता है। पासपोर्ट एक लिखित प्रमाण है जो उस देश के सप्रभु की ओर से व्यक्ति के नाम दिया जाता है। उसका अभिप्राय विदेशी राष्ट्रों की सरकारो के अन्तर्गत उपस्थित होने से होता है। इसका उपयोग व्यक्ति की सुरक्षा के लिये किसी विदेशी नागरिक की हैसियत से किया जाता है। यह एक प्रकार की रसीद है जो कि परिचय के लिये उपयोगी रहती है। इस लेख्य प्रमाण के उपस्थित करने पर किसी व्यक्ति को विदेशी राज्य मे उसी सुरक्षा का अधिकार मिल सकता है, जो वहाँ के नागरिको को साधारणतया प्राप्त है।

प्रोफेसर एल० सी० ग्रीन का कथन है, "The minimum standard of International Law in respect of the treatment of aliens does not operate to give the alien any rights which he can exercise himself. Any infringement of this minimum standard will remain uncorrected

unless the state of which the injured alien is a national decides to take the matter up with the offending state." इसी प्रसंग में उनका कथन है कि यदि विदेशी राष्ट्र-हीन है, तो किसी ऐसी संधि के न होने के कारण कि राष्ट्र-हीन व्यक्तियो की सुरक्षा का दायित्व किस पर है, कोई राज्य इस विषय का आभार अपने ऊपर लेने के लिये विवश नही है।

खुले समुद्र की स्वतन्त्रता व्यक्ति की है, अथवा राज्य की :—इसमें सन्देह नही है कि समुद्र यातायात के लिए सभी के लिये समान रूप से खुले हुये हैं। किन्तु यहाँ 'आस्या' जल-पोत (Motor Vessel Asya) का दृष्टान्त दिया जा सकता है। मार्च २७, १९४६, को ब्रिटिश ध्वंसक द्वारा मेडीटरैनियन सागर में जाफा के लगभग १०० मील उत्तर-पश्चिम मे 'आस्या' नामक पोत देखा गया। उस पर कोई झंडा न था, बाद मे उस पर टर्की का झंडा लगा दिया गया और उसके बाद फिर जीयनवाद झंडा बदलकर लगा दिया गया। वह पोत हैफा नामक स्थान मे लाया गया। वहाँ इस रहस्य का उद्घाटन हुआ कि उसमे बैठे हुये ७३३ यात्रियो मे से किसी के पास भी पासपोर्ट नही था और न तो पैलेस्टाइन में प्रवेश करने के लिये उनके पास कोई यात्रा सम्बन्धित लिखित प्रमाण-पत्र था। १९४१ के इम्मीग्रेशन आर्डीनैन्स के सुरक्षा-सशोधन के अनुसार पैलेस्टाइन के न्यायालय में अपराधन की कार्यवाही आरम्भ की गई। 'आस्या' के मालिक की ओर से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि समुद्री मार्ग सभी के लिये खुले हुये हैं, अस्तु उसके जहाज को पकडना एक गलत काम था। किन्तु न्यायालय इस तर्क से सहमत न हो सका। न्यायालय का निष्कर्ष था कि समुद्री स्वतन्त्रता, अन्तर्राष्ट्रीय अन्य सभी स्वतन्त्रताओं की ही भाँति व्यक्ति को प्राप्त होने की अपेक्षा राज्य को ही प्राप्त है और इसी आधार पर उस पोत की अपराधन या निन्दा (condemnation) की गई। इस निर्णय को वहाँ की प्रिवी कौंसिल की जुडीशियल कमेटी ने भी स्वीकार किया और यह विचार प्रकट किया कि किसी भी राष्ट्र की ध्वजा और प्राधिकार के अभाव में 'आस्या' समुद्र-सचालन का अधिकारी न था और इसलिए उसे गिरफ्तार कर लेने से पैलेस्टाइन की ओर से किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अतिक्रमण होने का प्रश्न नही उठता।

व्यक्ति और अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ :—अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों में संविदा करने वाले पक्षो मे राज्य ही हुआ करते हैं और उस रूप मे व्यक्ति का कोई स्थान नहीं है। किन्तु इस प्रसंग मे भी अन्तिम हिताधिकारी व्यक्ति ही हुआ करता है, भले ही उसके अधिकारो का प्रवर्तन राज्य-रूपी माध्यम मे निहित होता है। इस

कारों का प्रवर्तन राज्य मे निहित होने से उसके अधिकारों में कोई अन्
क्योंकि राज्य मे भी उसके हित और अधिकार सुरक्षित हैं—यह
रूप से अन्तर्राष्ट्रीयकरण द्वारा नियमित की जाती है।

अध्याय २०

राजनयिक अभिकर्ता

(Diplomtic Agents)

राजनयिक अभिकर्ता राजदूत होते हैं जो विदेश मे उस राज्य के प्रतिनिधि के रूप मे रहते हैं जिसके द्वारा वे भेजे गये हैं। लॉरेन्स का कथन है कि विदेशी राजसभाओं में स्थायी रूप से रहने के लिए राजदूतो को भेजने की रीति का प्रारम्भ उपयोगिता से कही अधिक राजनैतिक कारणों पर निर्भर है।

स्थायी दूतावासो की स्थापना आधुनिक सभ्यता की उत्पत्ति है। फिर भी यह प्रतीत होता है कि दूतावास पहला ही विषय था जिसकी ओर अन्तर्राष्ट्रीय विधि का ध्यान आकृष्ट हुआ। मध्ययुग मे राज्यो के मध्य सम्पर्क बहुत कम रहता था। ऐसे सम्पर्क बाहर भेजे हुये राजदूतो द्वारा सम्पन्न किये जाते थे जिन्हे किसी विशिष्ट कार्य करने का भार सौंपा जाता था। उस कार्य के समाप्त होने पर वे तत्काल ही वापस आ जाते थे। स्थायी राजदूतो को भेजने की पद्धति चौदहवी शताब्दी मे इटली के बडे-बडे प्रजातन्त्रो मे, विशेषकर वनिस मे, आरम्भ हुई। फ्रास का लूई ग्यारहवां (१४६१ १४८३) यूरोप म प्रथम सम्राट् था जिसने अन्य राज्यो की राजधानियो मे रहने के लिये स्थायी प्रतिनिधि भेजे थे। अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की सुविधा तथा यातायात-साधनो की वृद्धि के कारण यह पद्धति सामान्यत. ग्रहण की जाने लगी और सत्रहवी शताब्दी के मध्य तक राजदूतो का स्थायी निवास सामान्य हो गया। यहाँ तक कि आज आधुनिक स्थिति मे वे गृह-सरकार तथा उस राज्य के बीच में जिसका कि उनको अधिकार पत्र प्राप्त है, बन्धुत्व के सम्बन्ध को स्थापित करने तथा उसको पुष्ट करने मे एक बहुत ही प्रमुख कडी बन गये हैं।

स्थायी दूत-कर्म के लिए बहुत ही विशेष सन्धियाँ की गयी हैं जैसे १५२० मे इङ्गलैंड के राजा और जर्मनी के प्रशासक के बीच हुई थी। सर सेसिल हर्स्ट (Sir Cecil Hurst) का कथन है, "१६४८ की वेस्टफेलिया की सधि ने सम्प्रभुता को उत्साहित किया और यूरोपीय शक्तियो के एकाधिकार और उनमे परस्पर

राजनैतिक और व्यापारिक सम्बन्धो को बढाने मे आधार का काम किया, जिस पर कि राजनैतिक सम्बन्धो का पूरा ढाँचा खडा हुआ।" अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्कों की सुविधा और यातायात की बढती हुई सुविधाओ के कारण यह व्यवहार और भी प्रयुक्त होने लगा। सत्तरहवी शताब्दी के मध्य मे स्थायी निवासी दौत्यपद को सामान्य रूप से ग्रहण कर ली गयी। आज तो स्थिति यह है कि दूतावास एक देश की सरकार और दूसरे राज्य के बीच मित्रता का सम्बन्ध बनाये रखने और उसे दृढ करने की एक महत्वपूर्ण कडी है।

१९१२ मे Russian Indemnity के स्थायी विवाचक न्यायालय ने विचार प्रकट किया था, "Diplomatic channels are the normal and regular means of communication between states in their relations governed by International Law." अर्थात् राजनयिक स्रोत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा नियन्त्रित राज्यो के बीच आवागमन या सम्बन्ध के साधारण साधन हैं।

१९६१ मे राजनयिक सम्बन्धो पर वियना में एक अभिसमय (Convention) किया गया था जिसने अपने प्रतिज्ञा-पत्र मे यह प्रकट किया था कि एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय राजनयिक सम्पर्कों, प्रतिष्ठाओ तथा उन्मुक्तियो के लिए ऐसा कि राज्यो मे परस्पर मित्रता के सम्बन्धो को बढा सके। भले ही व राज्य सा-निक और सामाजिक रीतियो की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हो। ऐसी सुविधाओ और उन्मुक्तियो का उद्देश्य राजनयिक अभिकर्ताओं को अपने राज्य के प्रतिनिधि रूप में अधिक सफलता के साथ कार्य करने के निमित्त साधन देना है।

(Aix la-Chapelle) की कांग्रेस ने उसमें एक चौथी श्रेणी जोड दी। वरिष्ठता के क्रम से वे श्रेणियाँ निम्नलिखित हैं —

१ राजदूत-पोपदूत तथा नसियो (Ambassador, Papal Legates and Nuncios) —वे अधिकार-पत्र देने वाले सम्राट् के अथवा राज्य के अध्यक्ष के व्यक्ति तथा प्रतिष्ठा के प्रतिनिधि हैं। विदेशी राजधानी में पहुँचने पर जब वे अपना अधिकार प्रदत्त करने वाला मुद्रांकित परिचय पत्र उपस्थित करते हैं तो वे उस राज्य के अध्यक्ष का जिसके नाम अधिकारपत्र दिया गया है, सार्वजनिक रूप से दर्शन पाने के अधिकारी हो जाते हैं। उनको यह भी विशेषाधिकार प्राप्त है कि वे राज्य के अध्यक्ष से साक्षात् सम्पर्क स्थापित करें। उनको "एक्सलेन्सी" करके सम्बोधित किये जाने का अधिकार है। केवल वे ही राज्य जिनको राजकीय सम्मान प्राप्त हो, राजदूत भेज सकते हैं।

धर्म के अधिष्ठाता द्वारा जो राजनयिक दूत भेजे जाते हैं उन्हें पोपदूत (Papal Legates) या नसियो (Nuncios) कहते हैं।

२ पूर्ण सक्षम मंत्री तथा असाधारण दूत (Ministers Plenipotentiary and Envoys Extraordinary) —ये अपने सम्राटों अथवा राज्यों के अध्यक्ष के व्यक्तिगत प्रतिनिधि नहीं होते, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि वे उनका अधिकार-पत्र प्राप्त किये होते हैं। विदेशी राजधानी में पहुँचने पर जब वे अपना परिचय-पत्र प्रस्तुत करते हैं तो उनका राज्य के अध्यक्ष के साथ वैयक्तिक साक्षात्कार होता है। उनका राज्य के अध्यक्ष के साथ व्यक्तिगत रूप से ही, अधिकार के रूप से नहीं साक्षात्कार होता है, और वे एक्सलेन्सी" के सम्बोधन से केवल शिष्टता के नाते सम्बोधित किये जाते हैं।

३ निवासी मन्त्री (Ministers Resident) —ये सम्राटों के पास अधिकार-पत्र द्वारा राजदूत बना कर भेजे जाते हैं, और पूर्ण सक्षम मंत्री तथा असाधारण दूतों की श्रेणी से नीचे होते हैं। वे नम्रता की दृष्टि से भी एक्सलेन्सी' उपाधि का उपभोग नहीं कर सकते। यह श्रेणी १८१८ में जोड़ी गई है।

४ कार्यदूत या सिसृष्ट दूत (Charges d' Affaires) —इनको अधिकार-पत्र किसी राज्य के अध्यक्ष द्वारा किसी दूसरे राज्य के अध्यक्ष का नहीं दिया जाता वरन् एक वैदेशिक विभाग के मंत्री द्वारा दूसरे विभाग के मंत्री को दिया जाता है। विदेशी राजधानी में पहुँचने पर वे अपना अधिकार-पत्र वैदेशिक विभाग के मंत्री के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

होली सी (Holy See) अर्थात् धर्म अधिष्ठाता द्वारा भेजे गये राजदूत, पापदूत या पपल लेगेटीज अथवा नन्सियोज कहे जाते हैं। कामनवेल्थ के सदस्यों के बीच एक दूसरे के पास भेजे गये राजदूत हाई कमिशनर कहे जाते हैं।

राजनयिक कार्यकर्ताओ की भिन्न-भिन्न श्रेणियो के मध्य का अन्तर केवल शिष्टाचार मात्र है क्योकि वे सब एक ही प्रकार की राजनयिक मुक्तियो का उपभोग करते हैं।

राजनयिक अभिकर्ताओ की भिन्न-भिन्न श्रेणियो मे भेद प्रायः उपचारात्मक होता है क्योकि सभी अभिकर्ताओ को, चाहे किसी भी श्रेणी के क्यो न हो समान उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। यहाँ तक कि राजदूत का यह विशेषाधिकार है कि वह उस राज्य के प्रसाशक या सम्प्रभु अधिष्ठाता से मिलकर किसी विषय का निवारण कर ले, व्यवहारतः किसी विशेष महत्व का नही हुआ करता क्योकि अधिकाश विषयो की देख-रेख वैदेशिक मामलो के मन्त्री ही किया करते हैं।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ विचारो का आदान-प्रदान, वैज्ञानिक अनुसन्धान और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि के लिए राज्य के सम्प्रभु पदाधिकारियों का अन्तर्राष्ट्रीय जगत् मे बिना राजनयिक दूतो के माध्यम से सम्पर्क सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति मे कोई भी राष्ट्र जो राजनयिक अभिकर्ताओ से लाभ नही उठाता वह राष्ट्रो के कुटुम्ब मे अपने-आप बहुत पीछे रह जाता है।

उपरोक्त के अतिरिक्त Commonwealth के हाई कमिश्नर, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य, राज्यो के प्रतिनिधि और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजो को भी राजनयिक उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं। यहाँ उन राजनीतिक व्यक्तियो मे जो कि अस्थायी रूप मे कुछ विशेष कार्यों के उद्देश्य से जैसे कॉरोनेशन, विवाह, मृत्यु अथवा कान्फ्रेन्स में, अपने राज्य का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनमे जो स्थायी रूप में राजदूत हैं एक औपचारिक भेद ही माना जा सकता है।

नियुक्ति (Appointment) :—अन्तर्राष्ट्रीय विधि में राजनयिक अभिकर्ताओ के लिए कोई विशेष योग्यता स्थिर नही की गयी है भले ही राज्यों मे राष्ट्र विधि के अन्तर्गत किसी विशेष योग्यता का निर्धारण किया गया हो। किसी व्यक्ति की राजदूत, दूत-मन्त्री अथवा कार्यवाहक दूत की नियुक्ति अधिकारिक पत्रों द्वारा जिस राज्य को भेजे जाते हैं, घोषित की जाती है। पहले अधिकारिक पत्र को Letter of Credence या lettres de Creance कहते हैं। इस पत्र में राजनयिक अभिकर्ता का नाम लिखा रहता है और उसके भेजे जाने का अभिप्राय भी अंकित रहता है। दूत अपने साथ उस परिचय-पत्र का, एक प्रति खुले पत्र के रूप मे और दूसरी प्रति मुहरबन्द ले जाता है। राजदूतो और मन्त्रियो के मामले मे यह परिचय-पत्र राज्य के सम्प्रभु प्रमुख द्वारा उस राज्य के प्रमुख को लिखा जाता है जहाँ वह भेजा जा रहा है। किन्तु कार्यदूत (Charge d' affaires) के सम्बन्ध में यह पत्र राज्य के विदेश मन्त्री द्वारा दूसरे राज्य के विदेश मन्त्री के

नाम लिखा जाता है। राजनयिक अभिकर्ता जो कुछ विशेष कार्यों के उद्देश्य से दूसरे राज्यों मे भेजे जाते हैं उनके पास एक अधिकार पत्र रहता है जिसे Full Powers (Pleins Pouvoirs) कहते हैं। यह अधिकार-पत्र राज्य के प्रमुख द्वारा अपने हस्ताक्षर से पत्र के रूप मे दिया जाता है।

पहुँचने की विज्ञप्ति (Notification of Arrival)—राजनयिक दूत जब अपने गन्तव्य राज्य की राजधानी में पहुँच जाता है तो वह अपने पहुँचने की विज्ञप्ति उस देश के विदेश मन्त्री के पास भेजता है और उससे प्रार्थना करता है कि उसे राज्य के प्रमुख से मिलने का समय दिया जाय जिससे वह अपना परिचय-पत्र उसे दे सके। राजनयिक अभिकर्ता अपने साक्षात्कार के समय उस राज्य क प्रमुख के समक्ष अपना सम्भाषण करता है और दोस्ती का विश्वास दिलाता है। बदले मे उस राज्य का प्रमुख भी उसकी नियुक्ति का स्वागत करता है और अपने देश की ओर स दोस्ती का विश्वास दिलाता है।

किन दशाओं मे राज्य इन दूत-सम्बन्धों को अस्वीकार कर सकते हैं :—

कोई राज्य किसी विशिष्ट व्यक्ति को दूत-रूप मे ग्रहण करने से निम्नलिखित दशाओं मे अस्वीकार कर सकता है .—

(१) यदि वह उस देश के सम्राट् को जहाँ वह भेजा जाय, अपने व्यक्तिगत चरित्र के कारण वैयक्तिक रूप से आपत्ति का कारण हो। उदाहरणार्थ, फ्रान्स द्वारा ड्यूक आफ बकिंघम को इङ्गलैंड के चार्ल्स प्रथम के दूत के रूप मे स्वीकार न करना क्योंकि अपनी एक पूर्वकालिक यात्रा मे उसने अपने को सम्राज्ञी का प्रेमी प्रकट किया था, अथवा आस्ट्रिया हंगरी द्वारा सन् १८८५ मे मिस्टर कीली को संयुक्त राज्य अमेरिका के मन्त्री के रूप मे स्वीकार न करना, क्योंकि मिस्टर कीली की स्त्री यहूदी थी।

(२) यदि उसने अपने को अपने सार्वजनिक कथनों से अथवा दूसरे रूपो मे जिस क्षेत्र के लिये उसको अधिकार पत्र दिया गया हो, *उस देश के लोगो अथवा* संस्थाओं का घोर विरोध प्रकट किया हो। उदाहरणार्थ इटली द्वारा मिस्टर कीली को संयुक्त राज्य के राजदूत के रूप मे सन् १८८५ मे अस्वीकार करना, क्योंकि सन् १८७१ में उसने इटली द्वारा पोप की रियासतों के संयोजन का विरोध किया था।

(३) यदि वह उस राज्य का प्रजाजन हो जिसको वह भेजा जा रहा हो और वह राज्य जिसके नाम अधिकार-पत्र हो, उसको वे उन्मुक्तियाँ न देना चाहे जो इस पद से संलग्न हैं। लेकिन यदि वह एक बार स्वीकृत हो जाय तो उसे पूर्ण राजनैतिक विशेषाधिकार प्राप्त होंगे। यही बात सर हैल्दे मैकार्टनी के प्रसंग मे

व्यवहार की गई जो यद्यपि एक ब्रिटिश प्रजाजन थे, फिर भी जिन्होंने सन् १८६० में लंदन में चीन के राजदूत के सेक्रेटरी का कार्य किया था।

१९६१ के वियना कनवेन्शन ने जो कि राजनयिक सम्बन्धों के लिए किया गया था निर्धारित किया है कि राजनयिक कर्मचारीगण सिद्धान्ततः उस राज्य के राष्ट्रीय होने चाहिए जहाँ से वे भेजे गये हैं। उस राज्य के राष्ट्रीयों में से भी हो सकते हैं जहाँ वे भेजे जा रहे हैं किन्तु ऐसी नियुक्ति के पूर्व उस राज्य की अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक है। जिस राज्य में राजनयिक अभिकर्ता भेजे जा रहे हैं उसे भी ऐसे राष्ट्रीय जनों की नियुक्ति के सम्बन्ध में जो कि किसी तीसरे राज्य के राष्ट्रीय हैं तथा राजनयिक दूत भेजने वाले राज्य के भी राष्ट्रीय नहीं हैं, समस्त अधिकार हैं।

राजनयिक अभिकर्ताओं की पदसंज्ञा (Designation of Diplomatic Agents) —राजनयिक दूतों को भेजने वाले राज्यों को यह पूर्ण अधिकार प्राप्त है कि वह किस देश को किस श्रेणी का राजदूत भेजे। प्रायः यह दोनों राज्यों के करार पर निर्भर करता है। साधारणतया व्यवहार यह है कि समान कोटि के मंत्री ही आपस में एक दूसरे से अदले बदले जाते हैं।

कामनवेल्थ देशों में जिन राजनयिक अभिकर्ताओं को दिया अथवा लिया जाता है उन्हें उच्चायुक्त या हाई कमिश्नर कहते हैं। इन्हें अब राजदूत या (Ambassador) भी कहने लगे हैं तथा इनके सम्बोधन के लिए "Your Excellency" भी कहा जाता है।

राजनयिक दूत भेजने वाले राज्य का प्रभुता-सम्पन्न प्रमुख राजदूत को अपने देश का प्रतिनिधित्व करने का पूर्ण अधिकार प्रदान कर सकता है।

राजनयिक अभिकर्ता के कार्य (Functions of Diplomatic Agent) —राजनयिक अभिकर्ताओं को विभिन्न प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। वह अपने राज्य के अध्यक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस रूप में वह विदेश राज्य में गृह सरकार के प्रमुख हैं। उन्हें अपने सरकार की नीति की व्याख्या उस राज्य से करनी पड़ती है जिसके नाम उनको अधिकार पत्र दिया गया है तथा अपने और उस राज्य के मध्य सद्भावना स्थापित करना पड़ता है। यदि उनके देश का किसी प्रकार से निरादर किया जाय अथवा उनके देशवासियों के हितों को क्षति दी जाय तो उनका कर्त्तव्य होता है कि उस विषय को तुरन्त अधिकार पत्र प्राप्त राज्य के वैदेशिक मंत्री के सामने प्रस्तुत करें। संक्षेप में उन्हें अपने देश की रुचि को यथासम्भव प्रत्येक रीति से बढ़ाना होता है। डॉक्टर रोस का कथन है कि राजदूत

तक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सम्बन्ध है एक राजदूत अपने देशीय राज्य मे सक्षम प्राधिकारियो के लिये पारस्परिक सम्पर्क का साधन होता है।

एक राजदूत का मुख्य कार्य इस प्रकार है—"To create in the country to which one is accredited, the greatest possible degree of understanding of one's own nation its hopes and fear, its achievements, and the objectives towards which it aspires" उसका कार्य यह भी है कि वह बड़ी ही सतर्कतापूर्वक इस बात का निरीक्षण करे कि उस राज्य मे जो घटनायें घट रही हैं उनका अपने राज्य पर क्या प्रभाव पड सकता है। इस प्रकार की सूचना वह अपनी सरकार को भी भेजता है।

एक राजनयिक दूत को उस राज्य में स्थित अपने देशवासियों की जान-माल की सुरक्षा की व्यवस्था करनी पडती है।

उसके कार्यालय म उसके अपने राज्य के प्रजाजनो के जन्म, मृत्यु तथा विवाह पजीकृत किये जाते हैं। उसे अपने राज्य को अधिकार-पत्र प्रदत्त राज्य की राजनैतिक तथा सामाजिक दशाओ के सम्बन्ध मे आवश्यक पत्रादि भेजने पडते हैं, जिससे उसके गृह-राज्य क हितो मे प्रभाव पडता हो। उसको अपने जातीयजन के प्रत्यर्पण के लिए उस दशा मे जब उसने कोई अपराध किया हो, अधिकार पत्र प्रदत्त राज्य के वैदेशिक कार्यालय से व्यवहार करना पडता है। वह पासपोर्ट जारी करता है तथा अपने देश व जातीय जनो की सम्पत्ति तथा हितो का सरक्षण करता है।

यह आशा की जाती है कि राजनयिक अभिकर्त्ता उस राज्य क स्थानीय मामलो तथा अन्य आन्तरिक अथवा राजनैतिक मामलो मे भाग नही लेगा। उसको उस राज्य में विचाराधीन किसी विधान की वाछनीयता अथवा अवाछनीयता की विवेचना नही करनी चाहिये अथवा अधिकार पत्र प्रदत्त राज्य को उसके आन्तरिक मामलो मे अपने हस्तक्षप द्वारा असतुष्ट या किसी भी प्रकार से अप्रसन्न नही करना चाहिये।

ओपेनहेम बहुत ही उचित रूप स दूत क कृत्यो को तीन शीर्षको मे सक्षिप्त करत हैं— वार्ता (negotiation) अर्थात् अपने गृह-राज्य तथा विदशी राज्य के बीच मे वह मध्यस्थ का कार्य करता है (acting as a medium between his home state and the foreign state), निरीक्षण (observation) अर्थात् विदेशी राज्य मे हाने वाली घटनाओ पर सतर्क दृष्टि रखना तथा सरक्षण (protection) अर्थात् अपन गृह-राज्य के बाहर रहने वाले राष्ट्रीय जनो क शरीर तथा सपत्ति का सरक्षण।

राजनयिक उन्मुक्तिया तथा उनका स्वभाव और प्रवर्तन (Diplomatic Immunities—Nature and Enforcement)। —अधिकार क्षेत्र तथा नियवरा क प्रयोजन के लिये कूटनीतिक राजदूत उस राज्य के क्षेत्र के बाहर समझा जाता है जिसमे वह वास्तव मे है। वह उस राज्य के अध्यक्ष के समान पवित्र गिना जाता है जिनका वह प्रतिनिधि है तथा उन्मुक्तियो का उपभोग करता है जिससे वह अपने कृत्यो को कुशलता से और निर्भय के वातावरण मे कर सके। उन्मुक्तियो का आधार राज्यो का सामान्य व्यवहार तथा उनकी मौन स्वीकृति है। "आधुनिक सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि अपरदेशीयता के सिद्धान्त को अस्वीकृत करती है, वरन् राजदूत को प्रतिनिधि के रूप मे भेजने वाले राज्य के पूर्ण गौरव को स्वीकृत करने की आवश्यकता का अधिक आदर करती है। सक्षेप मे राज्य अपने आपस मे अधिकारो तथा विशेषाधिकारा की समानता स्वीकार करते हैं तथा प्राधिकार और क्षेत्राधिकार को पूर्ण समता देते हैं।"

राजनयिक सुविधायें तथा उन्मुक्तियाँ प्रदान करने के तीन सर्वव्यापी सिद्धान्त —

(१) **अपरदेशीयता (Exterritoriality)** —अपरदेशीयता का आधार यह कल्पना है कि कोई राजदूत जब कि वह किसी राज्य मे रहता है उसके क्षेत्राधिकार का प्रयोग ऐसा ही होना चाहिए कि वह जैसे वहाँ उपस्थित न हो अपरदेशीयता एक ऐसी कल्पना है कि जिसकी नीव न तो कानून म है और न तथ्य म और वैध प्रक्रिया की कोई कार्यवाही यह सिद्ध करने मे सफल न होगी कि दूतावास के पदाधिकारी और उसका भवन जो कि यदि "क" राज्य मे है वह एक ऐसे राज्य-क्षेत्र मे है जो राज्य के प्रश्नो की दृष्टि मे विदेशी है।

(२) **राजनयिक का प्रातिनिधिक व्यक्तित्व (Representative character of diplomat)** —दूसरा सिद्धान्त राजनयिक सुविधाओ और उन्मुक्तियाँ प्रदान करने का आधार यह बतलाता है कि राजनयिक व्यक्तित्व प्रातिनिधिक होता है। किन्तु यह सिद्धान्त सर्वमान्य इसलिए नहीं है कि अभिकर्ताओ को ये सुविधायें और उन्मुक्तियाँ केवल प्रातिनिधिक मामलो में ही न बल्कि व्यक्तिगत रूप से भी मिली रहती हैं।

(३) **कार्य के हित (Interest of work)** —तीसरा सिद्धान्त है कि दो राज्यो के बीच बिना किसी रुकावट के सम्बन्धो के बने रहने के लिये उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाती हैं।

व्यक्तिगत सुरक्षा (Personal safety) —सार्वजनिक मंत्री का शरीर पवित्र तथा अनुल्लंघनीय माना जाता है। जो कोई उस पर आक्रमण करता है

केवल उस सम्राट् का ही अपमान नही करता है जिसका कि वह प्रतिनिधि है, वरन् राज्यो की समान सुरक्षा तथा उनके कल्याण को आघात पहुँचाता है। वह समस्त ससार के विरुद्ध अपराध का दोषी है।

राजनयिक अभिकर्ता को यदि वह उसको ग्रहण करने वाले राज्य के अध्यक्ष, अथवा स्वय राज्य के विरुद्ध षड्यत्र करे अथवा षड्यत्र या गुप्तचर का कार्य करने के अपराध मे दोषी पाया जाय अथवा आतरिक सुव्यवस्था तथा शाति मे विघ्न डाले तो निकाला जा सकता है, तथा यदि आवश्यक हुआ तो गृह-राज्य को वापस भेजने के लिये गिरफ्तार किया जा सकता है। उसी रीति पर उसे शिकायत करने का कोई अधिकार नही होता यदि उसे अपने असगत अथवा अनुचित आचरण के कारण किये गये प्रतिकार से कोई हानि पहुँचे।

आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति (Immunity from criminal jurisdiction) —अधिकार-पत्र देकर किसी राज्य को भेजा गया राजदूत आपराधिक क्षेत्राधिकार से पूर्ण उन्मुक्ति का उपभोग करता है क्योकि वह किसी भी अर्थ मे उसके वैध प्राधिकार के अधीन नही समझा जाता। यदि कोई राजनयिक अभिकर्ता अपराध करे तो केवल उपाय जो अधिकार-पत्र प्रदत्त राज्य के लिये खुला है वह यह है कि इस विषय को उसके गृह सरकार को प्रतिवेदन करे तथा यह माग प्रस्तुत करे कि उसे वापस बुला लिया जाय तथा अपने देश की विधि के अनुसार दडित किया जाय। यदि वह सन्धि-पत्र प्रदत्त राज्य को उलट देने का षड्यत्र करे तो वह उस समय गिरफ्तार किया जा सकता है जिससे उसे उचित समय पर सुरक्षित रूप से गृह को भेजा जा सके। उसे उस राज्य की विधि के अनुसार दडित नहीं किया जा सकता जहाँ वह दूत बनकर आया है।

राजनयिक अभिकर्त्ताओ की उन्मुक्ति प्रत्येक देश की स्थानीय विधि से उत्पन्न होती है। इङ्गलैण्ड की सामान्य विधि, सन् १९२८ की सर्वप्रमेश्विडीन अधिनियम तथा सर्वोच्च सोवियत की १४ जनवरी, सन् १९२७, की डिगरी राजनयिक अभिकर्ताओ तथा दूतमडल के अन्य सदस्यो को विदेशी सम्राटों के प्रतिनिधि होने के नाते व्यक्तिगत उन्मुक्ति देते हैं।

१९६१ के वियना कनवेन्शन के २९वें अनुच्छेद में, निर्धारित किया गया है कि राजनयिक दूतो को किस प्रकार आवागमन की सुविधायें तथा अन्य उन्मुक्तियाँ प्रदान की जाये। सर सिसिल हर्स्ट का कथन है कि राजनयिक व्यक्ति को उस [illegible] का नागरिक न माना जाना स्थानीय विधि में स्वीकार किया जाता है क्योंकि [illegible] व्यक्ति का राजनयिक अभिकर्ता के रूप में किसी दूसरे देश में उपस्थित [illegible] उद्देश्य से होता है कि वह अपने राज्य और दूसरे राज्य के सम्बन्धो के [illegible]

स्थापन के लिए एक कडी का काम करे। उसे जो सुविधायें प्रदान की जाती हैं वे केवल उन उद्देश्यो की पूर्ति की शर्तों पर प्रतिबंधित हैं। अगर भेजने वाला राज्य सम्बन्ध-स्थापन के अलावा उन्हे अन्य कार्य सौंपता है तो उसे पहले की उन्मुक्तियाँ ज्यो की त्यो नही दी जा सकती।

दिवानी क्षेत्राधिकार से उन्मुक्ति (Immunity from Civil Jurisdiction) :—राजनयिक अभिकर्ता तथा उसके अनुचर स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त होते हैं। वह स्थानीय विधि तथा वैयक्तिक प्रतिबन्ध से स्वतन्त्र है। उनके विरुद्ध अधिकार-प्रदत्त राज्य के न्यायालय मे किसी प्रकार का कोई व्यवहार या दिवानी विवाद नही लाया जा सकता। वह न्यायालय मे उपस्थित होने के लिये तथा पैरवी करने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। किन्तु यदि वह अपने विशेषाधिकार का परित्याग कर दे तो न्यायालय उसके साथ साधारण नागरिक के समान व्यवहार करेगे।

दूतों के कर्मचारीवर्ग की उन्मुक्ति (Immunity of Envoy's Retinue) :—

दूत के कर्मचारीवर्ग मे निम्नलिखित आते हैं :—

(अ) दूतक्षेत्र सम्बन्धी पदाधिकारीगण तथा अन्य परिचारक।

(आ) स्त्री, बालक तथा उसके कुटुम्ब के अन्य सदस्य जो उसके साथ रहते हों।

(इ) उसके निजी सेवक, तथा

(ई) हरकारे।

राजनयिक अभिकर्ता को अपने तथा अपने परिचारको के शरीर के सम्बन्ध मे पूर्ण उन्मुक्ति है। यह उन्मुक्ति अल्पतम मात्रा में प्रसारित की गई है जो उसकी स्त्री, बालक, सरकारी पदाधिकारी वर्ग, सचिवगण, दुभाषिया, नाविक तथा इसके सहगामी लोग, पादरी तथा नौकरो को भी प्राप्त हैं जिनका उसके आराम तथा सुविधा के लिये साथ होना आवश्यक है।

राज्य के क्षेत्राधिकार से वैयक्तिक उल्लंघनीय अधिकार दूतावास के दर्शक तथा पिछलग्गुओ को नही प्रसारित किया जाता।

राजनयिक अभिकर्ताओ के परिचारको के अन्य सदस्य जैसे दूतमहल के पदाधिकारी तथा अन्य कर्मचारी भी उपरिलिखित उन्मुक्तियो का उपभोग करते हैं, किन्तु ऐसे विशेषाधिकार केवल उन्ही को दिये जाते हैं जो सरकारी रूप से दूतावास से सलग्न हो।

राजनयिक अभिकर्ताओं के साथ रहने वाले तथा उन पर आश्रित उनके सम्बन्धी भी दिवानी तथा आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त हैं तथा अन्य विशेषाधिकार का उपभोग करते हैं। उनके निजी नौकरों के सम्बन्ध में अभी तक कोई नियम स्पष्टत स्थापित नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि वे दिवानी अथवा राष्ट्रिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त हैं लेकिन आपराधिक विषयों में ग्रेट ब्रिटेन का दावा है कि यदि अपराध नौकरों द्वारा राजनयिक अभिकर्ता के निवास-स्थान के बाहर किया जाय तो उन पर उस राज्य को क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

हरकारे अथवा संदेशवाहक सरकारी तौर पर दूतावास से सम्बन्धित होने के कारण दिवानी तथा आपराधिक क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त हैं। उनको एक विशेष पासपोर्ट अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिए दिया जाता है तथा राज्यों के बीच से नि शक यात्रा करने का अधिकार है।

निवास स्थान के सम्बन्ध में उन्मुक्ति (Immunity connected with residence) —राजदूत का सरकारी निवासस्थान, असबाब, सामान, अस्तबल तथा गाड़ियाँ सहित ऐसा समझा जाता है कि मानो यह संधि पत्र प्रदत्त राज्यों के बाहर स्थित है। यह पवित्र माना जाता है और स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त है। यह वस्तुत. संधि-पत्र देने वाले राज्य का भाग माना जाता है। अन्य शब्दों में अपरदेशीयता की कल्पना राजनयिक अभिकर्ता के निवासस्थान के सम्बन्ध में लागू की जाती है।

यह उन्मुक्ति निवासस्थान के अतिरिक्त उन सभी भवनों को भी दी जाती है जो राजनयिक अभिकर्ता के अधिकार में राजनयिक कार्य के लिये हों। यह उन गाड़ियों को भी लागू की जाती है जो वे अभिकर्ता अपने कृत्यों को पूरा करने में उपयोग करें। ऐसी उन्मुक्ति का यह अर्थ होता है कि कोई पुलिस पदाधिकारी अथवा कर (टैक्स) वसूल करने वाला अपने कर्त्तव्यों के पालन के लिये इसके निवासस्थान में बिना उसकी सहमति के प्रवेश नहीं कर सकता।

इस सम्बन्ध में वैटल (Vattel) का कहना है कि "the independence of the ambassador would be very imperfect and his security very precarious if the house in which he lives were not to enjoy a perfect immunity and to be inaccessible to the ordinary officer of Justice to insult it is a crime both against the State and against all other nations" अर्थात् "राजदूत की स्वतन्त्रता बहुत ही अपूर्ण होगी और उसकी सुरक्षा बहुत ही संदिग्ध होगी, यदि वह घर, जिसमें वह रहता है पूर्ण उन्मुक्ति का उपभोग नहीं करता, और वह साधारण न्याय अधिकारी के क्षेत्राधिकार के बाहर

नही है। उसकी अवमानना करना एक अपराध है—उस राज्य और अन्य सभी राष्ट्रो के विरुद्ध किया गया अपराध है।"

(करों) टेक्सों से छूट (Exemption from Taxes) —राजदूत उसके निवासस्थान पर लगाये गये करो को देने से उन्मुक्त हैं क्योकि कर को प्राप्त करने वाले राज्य का उसके निवासस्थान पर कोई क्षेत्राधिकार नही है। उससे आशा की जाती है कि वह नाली, प्रकाश तथा जल-सम्बन्धी करो को देगा लेकिन वह उनको देने के लिये बाध्य नही किया जा सकता क्योकि वह वैध कार्यवाही से उन्मुक्त है। प्राय इस प्रकार के कर उससे नही लिये जाते।

माल के अभिग्रहण होने से छूट —राजदूत पर ऋणसम्बन्धी दावे नहीं किये जा सकते चाहे ये ऋण उसने दूतकर्म करने के पहले किये हो अथवा बाद में। वह गिरफ्तारी से उन्मुक्त है और उसका माल उससे अभिग्रहण अथवा कुर्क नही किया जा सकता। बिंकरशोक (Bynkershoek) का कथन है कि राजदूत का माल न तो ऋण देने के लिये और न सेक्यूरिटी के लिये अभिग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि वे उसके शरीर से सम्बद्ध मान जाते हैं।

यदि कोई सार्वजनिक मन्त्री व्यापार मे लगा हो तो सम्भवत उसकी व्यक्तिगत वस्तुएँ किसी दावे के उत्तरदायित्व मे उसे बाध्य करने के लिये कुर्क की जा सकती हैं।

अंग्रेजी तथा अमेरिकी न्यायालयो ने यह निर्णय किया है कि किसी राजनयिक अभिकर्ता के विरुद्ध न्यायिक कार्यवाही सम्भव नही है, तथा कोई व्यक्ति जो ऐसा करता है वह राज्यो की विधि का उल्लघन करता है तथा सार्वजनिक कार्य मे बाधा डालता है। फिर भी, यदि वह किसी स्थानीय न्यायालय मे दावा करे तो वह न्यायालय के नियमो को पालन करने के लिये तथा यदि हार जाय तो व्यय देने के लिये बाध्य है। [In re Suarez Suarez v. Suarez (1917) 2 Ch 131 The Amazone (1940) Probate 40, Bergman v. De Sieyes (1946) 71 F Supp 334]

उपासना का अधिकार (Right to Worship) —राजदूत को अपने होटल मे अपने धर्मानुसार एक निजी मंदिर रखने का अधिकार है। उसको अपने ही रीति पर ईश्वर की उपासना करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, भले ही वह जिस देश मे रह रहा हो, उसके अनुसार यह निषिद्ध हो।

यातायात की स्वतन्त्रता (Freedom of Comunication) —राजनयिक अभिकर्ता अपने कृत्यों का उचित रूप से निभाने मे समर्थ होने के लिये अपने

यात की स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं। उसके सन्देश स्थानीय क्षेत्राधिकार तथा सेन्सर से तीसरे देशों में भी उन्मुक्त हैं।

उन्मुक्तियों का आरम्भ और उनकी परिसमाप्ति (Commencement and discontinuance of Immunities) —राजनयिक अधिकारी उसी समय से उन्मुक्तियाँ प्रदान करने लगते है जिस समय कि वे उस राज्य की सीमा मे प्रवेश करते है जहाँ वे राजनयिक उद्देश्यों से भेजे जा रहे हैं। ये उन्मुक्तियाँ उस समय तक चलती हैं जब तक कि उनका राजदूतत्व या मिशन निलम्बित नहीं कर दिया जाता। और यहाँ तक कि वह मिशन समाप्त कर दिया जाता है तो एक उचित समय तक उस समाप्ति के पश्चात् भी दूतावास उन्मुक्तियाँ और सुविधायें प्रदान की जाती हैं जिससे वे अपना सामान आदि बाँधकर सुरक्षित ढंग से अपने राज्य वापस चले जायें।

निष्कपट गमन का अधिकार (Right of Innocent Passage) — अभी हाल मे निष्कपट गमन के पक्ष मे सम्मति स्थिर हो गई है। राजनयिक अभिकर्ता पूर्ण व्यक्तिगत सुरक्षा उपभोग करने के अधिकारी हैं तथा उनकी कोई हानि अथवा उनका कोई अपमान संधि पत्र प्रदत्त राज्य तथा गृह राज्य दोनों की हानि तथा अपमान समझा जाता है। उपरोक्त सम्मति Bergman v De Sieyes [(1946) 71 F Supp 334] के मामले से पुष्ट होती है। प्रतिवादी बोलीविया का फ्रांसीसी मन्त्री था। जब वह फ्रांस से बोलीविया को न्यूयॉर्क से जा रहा था तो वादी ने उस पर व्यावहारिक आदेशिका तामील की। प्रतिवादी ने अपनी उन्मुक्ति का अभिभाषण किया। यह निर्णय किया गया कि वैदेशिक मन्त्री जो मार्ग में हो, चाहे वह अन्य देशों में अपने पद से आ रहा हो अथवा वहाँ को जा रहा हो एक तीसरे देश से निष्कपट गमन करने का अधिकारी है, तथा वह तीसरे देश के अधिकार क्षेत्र से उन्मुक्तियों का भी अधिकारी है जो यदि वह वहाँ का निवासी होता तो उसे मिलती।

सर्व अमेरिकीय अभिसमय में जिस पर हवाना में २० फरवरी, १९२८ को हस्ताक्षर हुये, यह स्पष्टरूप से अनुबन्धित है कि राजनयिक कार्य करने वाले उस राज्य में जिसको कि वे अपने पद पर पहुँचने के लिये अथवा अपने देश में वापस आने के लिये पार कर रहे हो और जिनकी सरकारों को उन्होंने अपनी स्थिति विदित करा दी हो, उन्ही उन्मुक्तियों तथा विशेषाधिकारों का उपभोग करेंगे।

जब तीसरा राज्य उस राज्य से जिसके नाम अभिकर्ता संधि-पत्र दिया गया हो, युद्ध पर हो तो स्थिति भिन्न हो जाती है। ऐसी दशा में यदि तीसरा राज्य

विरुद्ध राज्य के दूत को गिरफ्तार कर ले, तो यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि को किसी प्रकार से भंग नही करता ।

अस्थायी राजदूत :—अस्थायी राजनैतिक राजदूत जिनके विशेष दूतकर्म होते हैं यथा अपने राज्य का भिन्न-भिन्न राज्यो की कांग्रेस मे प्रतिनिधित्व करना, अथवा अराजनैतिक राजदूत जिनके कृत्य शिष्टाचार के होते हैं यथा अपने राज्य का किसी दरबार मे प्रतिनिधित्व करना, वे भी अपरदेशीयता, अपने शरीरों का वैध सरक्षण तथा जातीय टैक्सो तथा सार्वजनिक मांगो के सम्बन्ध मे भी उन्ही विशेषाधिकारो का उपभोग करते हैं ।

राजनयिक मिशन की समाप्ति (Termination of Diplomatic Mission) :—राजनयिक कार्य भिन्न-भिन्न कारणो से समाप्त हो सकता है। वे निम्नलिखित है :—

१. सन्धि-पत्र प्रदत्त करने वाले राज्य द्वारा राजदूत का वापस बुला लेना :—राजदूत सन्धि-पत्र प्रदत्त करने वाले राज्य द्वारा वापस बुलाया जा सकता है, यदि वह अस्थायी रूप से किसी गम्भीर कारण के लिए राजनैतिक सबंध तोड़ दें। दक्षिणी अफ्रीका संघ का भारतीय हाई कमिश्नर मई सन् १९४६ मे वहाँ रहने वाले भारतीय उत्पत्ति के लोगो के विरुद्ध दक्षिण अफ्रीका द्वारा जातीय भेद-भाव की नीति व्यवहार किये जाने के विरुद्ध विरोध प्रकट करने के लिये वापस बुला लिया गया था तथा हाई कमिश्नर के कार्यालय का भार एक कनिष्ठ पदाधिकारी को सौंप दिया गया था । भारत तथा दक्षिण अफ्रीका के मध्य के सम्बन्धो का यह पतला धागा भी सघ के भारतीय हाई कमिश्नर के कार्यालय को जुलाई सन् १९५४ से बन्द कर देने से टूट गया । इस प्रकार की वापसी सम्बन्धो के टूटने का चिह्न है और दोनों देशों के बीच की तनातनी को प्रकट करता है । भारतीय सरकार ने [illegible] (legation) को जुलाई १९५३ मे पुर्तगाली सरकार द्वारा भारत सरकार से गोआ के सम्बन्ध में समझौता की बातचीत चलाने से इन्कार करने के कारण लिस्बन से वापस बुला लिया ।

२. राजनयिक मिशन का प्रयोजन पूरा हो जाना :—जब दूत-कर्म किसी विशेष प्रयोजनों के लिये होता है तो उस प्रयोजन के पूरा होने पर वह समाप्त हो जाता है । ये वे दूत होते हैं जो सम्मेलनो, कांग्रेसो और महोत्सवों मे प्रतिनिधित्व करने के लिये भेजे जाते हैं ।

३. दो राज्यों में से किसी एक में क्रान्तिकारी परिवर्तन :—दो राज्यों में से किसी एक में क्रान्ति के कारण अध्यक्ष परिवर्तन होने पर अथवा उसके रा-

णामस्वरूप नयी सरकार बनने पर उदाहरणार्थ प्रजातन्त्र राज्य के राजतन्त्र मे परिवर्तित होने पर अथवा इसके विपर्यय अथवा एक सम्राट् को गद्दी से उतार कर दूसरे को बैठाने पर दूत का भी अपने सरकार का प्रतिनिधित्व करना समाप्त हो जाता है और उसे एक नया परिचय-पत्र प्राप्त करना होता है।

४. राजदूत की मृत्यु:—दूत की मृत्यु पर दूतकर्म समाप्त हो जाता है और परिचय-पत्र अपना प्रभाव खो देता है। जब एक नया दूत नियुक्त होता है तो एक नया परिचय-पत्र जारी करना होता है।

५. दो राज्यों मे से किसी एक के अध्यक्ष की मृत्यु अथवा उसके द्वारा पद-त्याग :—इस प्रकार की घटना भी दूतकर्म को समाप्त कर देती है और अपने पदो मे स्थित राजदूतो को नये परिचय-पत्र बदलकर लेना पड़ता है।

६. स्थायी मंत्री की अपने स्थान पर वापसी :—जब किसी मन्त्री को मध्यवर्ती काल के लिये सधि-पत्र प्रदत्त किया गया हो तो स्थायी मन्त्री के लौटने पर दूतकर्म समाप्त हो जाता है।

७. राजनयिक अभिकर्त्ता के पदवी मे परिवर्तन :—जब सन्धि-पत्र प्रदत्त राजनयिक अभिकर्ता की पदवी मे बिना स्थानान्तरण किये वृद्धि कर दी जाय तो दूतकर्म समाप्त हो जाता है। ऐसे समय में भी एक नये परिचय-पत्र की आवश्यकता होती है।

८. भेजने वाले तथा ग्रहण करने वाले राज्यों के बीच में युद्ध:—युद्ध के समय भी दोनो देशो मे परस्पर दूतकर्म समाप्त हो जाता है तथा दूतो को अपना-अपना पासपोर्ट मिल जाता है।

९. किसी एक राज्य का सम्मेलन अथवा संयोजन द्वारा अंत :—ऐसी दशा मे दूतकर्म समाप्त हो जाता है।

१०. भेजने वाले अथवा ग्रहण करने वाले राज्य द्वारा राजदूत का अधिकार से हटाया जाना :—किसी राजदूत का ग्रहण करने वाले राज्य द्वारा हटाया जाना अन्तिम पग है जो वह उस समय लेता है जब उसको वापस बुलाने की उसकी माँग का अनुवर्तन नहीं होता। भेजने वाले राज्य तथा ग्रहण करने वाले राज्य मे मतभेद हो सकता है तथा ग्रहण करने वाले राज्य द्वारा राजदूत को पासपोर्ट दिया जा सकता है जो उसको हटाये जाने का द्योतक है।

११. संधि-पत्र दिये गए राज्य द्वारा वापस बुलाये जाने की माँग :—ग्रहण करने वाला राज्य किसी राजदूत को वापस बुलाये जाने की माँग प्रस्तुत कर सकता है यदि उसने अपने को उस देश की सरकार का अप्रिय बना दिया हो।

ऐसे उदाहरणों की कमी नही है जिनमे सधि-पत्र प्रदत्त राज्य ने राजदूत को राज्य के प्रति दुःखदायी आचरण अथवा आन्तरिक राजनीति मे हस्तक्षेप करने के कारण वापस बुलाये जाने की माँग प्रस्तुत की है।

१२. पासपोर्ट के लिये प्रार्थना:—राजनयिक अभिकर्ता द्वारा ग्रहण करने वाले राज्य के दुर्व्यवहार के कारण पासपोर्ट के लिये प्रार्थना करना दूतकर्म की समाप्ति का द्योतक है।

१३. परिचय-पत्र की अवधि की समाप्ति :—यदि परिचय-पत्र सीमित अवधि के लिये है तो राजदूत का दूतकर्म उस अवधि के अन्त होने पर समाप्त हो जाता है।

दूतकर्म की समाप्ति पर औपचारिकतायें .—जब किसी दूत का कार्य उसके वापस बुलाये जाने के कारण समाप्त होता है तो यदि वह राजदूत हो अथवा मन्त्री हो तो अपने राज्य के अध्यक्ष से और यदि कार्यवाहक दूत (Charge d Affairs) हो तो अपने वैदेशिक मन्त्री से वापसी का पत्र पाता है। अपनी विदाई पर भी उसका उसी प्रकार का एक औपचारिक साक्षात्कार होता है जहाँ राजदूत अथवा मन्त्री अपने वापस बुलाये जाने के पत्र को ग्रहण करने वाले राज्य के अध्यक्ष को तथा कार्यवाहक वैदेशिक मन्त्री को अर्पण करता है।

अध्याय २१

वाणिज्य-दूत

(Consuls)

परिभाषा :—वाणिज्य दूत व्यापारिक अभिकर्ता होते हैं जिनको सार्वभौम राज्य अन्य राज्यों के क्षेत्रों मे राजनयिक अभिकर्ताओं के अतिरिक्त बनाये रहते हैं। उनका कर्तव्य अपने देश के व्यापार, नौचालन तथा अन्य सम्बन्धित विषयों का सरक्षण है। वे उपरोक्त प्रयोजन के लिये निवासी अभिकर्ताओं के रूप में [illegible] भेजे जाते हैं।

हॉल (Hall) ने वाणिज्य दूत की परिभाषा करते हुये लिखा है कि वे ऐसे व्यक्ति होते हैं जो किसी एक राज्य द्वारा नियुक्त किये जाते हैं, उनका उद्देश्य [illegible] राज्यों मे रहना होता है और उन्हें विदेशी राज्य द्वारा भी इस बात की [illegible] मिली रहती है कि वे वहाँ रहकर अपने राज्य के हितों की देखभाल करें और उन [illegible]

के सौजन्य से महत्वपूर्ण लाभ के कार्य करे, उनका यह कार्य प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनो हो सकता है।

उनकी उत्पत्ति .—उनका अस्तित्व स्थायी राजनयिक दूत-मडल स्थापना के बहुत पूर्व से ही रहा है। उनकी उत्पत्ति की तिथि पीछे मध्य युग मे पहुँचती है जब इटली, स्पेन तथा फ्रास के व्यापारी जो व्यापार के लिये मध्य सागर के किनारे बसते थे अपने एक आदमी को उनके व्यापारिक झगडो को पचायत द्वारा तय करने के लिये छाँट लेते थे। बाद मे मध्यसागर के मुसलमान देशो ने व्यापारियो की जातियो के भीतर बसने के कारण वाणिज्य दूत पद्धति ग्रहण की। समय बीतने पर तथा मुसलमान युवराजो के तथा व्यापारियो के गृह-राज्यो के बीच सन्धि होने के परिणामस्वरूप वाणिज्य दूतो का यह कृत्य हो गया कि वे नगर मे रहने वाले स्वदेशीय नागरिको के अधिकारो तथा विशेषाधिकारो की रक्षा करें। पन्द्रहवी शताब्दी मे इटली के वाणिज्य दूतो को इगलैंड तथा नीदरलैंड के बन्दरगाहो मे रहने वाले इटली के व्यापारियो पर पूर्ण क्षेत्राधिकार था। सत्रहवी शताब्दी मे स्थायी राजदूत पद्धति के प्रचलित होने के कारण वाणिज्य-दूत पद्धति की महत्ता कम हो गई और इससे दीवानी तथा आपराधिक क्षेत्राधिकार के विशेषाधिकार छीन लिये गये। उन्नीसवी शताब्दी मे व्यापार तथा नौचालन की वृद्धि के कारण वाणिज्य-दूत पद्धति ने यूरोपीय राज्यो मे प्रगति प्राप्त की। भिन्न-भिन्न राज्यो के बीच असख्य सधियाँ की गईं जिनमे उनका स्वरूप तथा कृत्य परिभाषित थे। सधियो के प्रतिबन्ध अब प्राय समान हैं और वाणिज्य दूतो की रीति अब रूढ अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा अनुशासित होती है।

वाणिज्य दूतों की श्रेणियाँ .—वाणिज्य दूतो की अनेक श्रेणियाँ हैं अर्थात् कौन्सल्स-जनरल, वाइस-कौन्सल, कौन्सुलर-एजेण्ट तथा प्रो-कौन्सल। कौन्सल्स-जनरल कई वाणिज्य दूतीय जिलो के अथवा एक बडे जिले के अध्यक्ष के रूप मे नियुक्त होते है तथा उनके अधीन कई वाणिज्य-दूत होते हैं। कौन्सल्स जो श्रेणी मे उनके बाद आते हैं केवल छोटे जिलो अथवा कस्बो और बन्दरगाहो के लिये नियुक्त किये जाते हैं। वाइस-कौन्सल जैसा कि नाम से ही व्यक्त है कौन्सल-जनरलों तथा कौन्सलों के सहायक है। कौन्सुलर एजेंट सबसे निम्न श्रेणी के होते हैं जो कौन्सल जनरलो अथवा कौन्सलो द्वारा स्वदेशीय सरकार की स्वीकृति के अधीन नियुक्त किये जाते हैं। प्रो कौन्सल अल्पकालीन अवधि अर्थात् कौन्सल-जनरल अथवा कौन्सल की अनुपस्थिति अथवा अस्वस्थता मे नियुक्त किये जाते हैं तथा कौन्सल के अपने कार्य पर लौटने के साथ उनकी नियुक्ति समाप्त हो जाती है।

कौन्सलों की नियुक्ति :—कौन्सल एक विशिष्ट अधिकार-पत्र अथवा आयोग द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जिसे Lettre de provision कहा जाता है और जो नियुक्त करने वाले राज्य के अध्यक्ष द्वारा जारी किया जाता है। उसे ग्रहण करने वाला राज्य एक अनुमति-पत्र जारी करता है, जिसे एक्जेक्वेटर (Exequatur) कहते हैं जिसके द्वारा वे उस राज्य में अपने कृत्य करने में समर्थ होते हैं। एक्जेक्वेटर (Exequatur) का अनुदान उनके आयोग को पुष्टीकृत करता है।

उनके कार्य :—वाणिज्य-दूत अपने राज्य के व्यापारिक हितों की देख रेख करते हैं, अपने व्यापारियों को परामर्श देते हैं तथा उनके कागजों का निरीक्षण करते हैं। उनको अपने-अपने गृहराज्यों तथा उनको स्वीकृत करने वाले राज्यों के मध्य हुई व्यापारिक संधियों का निष्पादन ध्यानपूर्वक देखना पड़ता है। वे जिस देश का प्रतिनिधित्व करते हैं उसके नागरिकों के व्यापारिक हितों की देख-भाल करते हैं। वे बहुत से अन्य विविध कार्यों का संचालन करते हैं, जैसे वसीयत विहीन गृह प्रजाजनों की रियासतों का प्रबन्ध, कप्तान तथा नाविकों के झगड़ों का निपटारा अपने राज्य के जहाजों के स्वामियों से प्रतिवेदन प्राप्त करना, अपने अपने देश के जहाजों की समुद्र में जो हानि हुई हो तथा उसके सम्बन्ध में प्रश्नों को तय करना इत्यादि। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे अपने-अपने सरकारों को उस राज्य के व्यापार, उद्योग तथा कृषि के सम्बन्ध में सूचना देते रहें जिसमें वे रहते हों। उनको अपने-अपने गृह-राज्यों के व्यापारियों तथा शिल्पकारों को उनके व्यापारिक हितों के संरक्षण सम्बन्धी किसी भी विषय में परामर्श देना पड़ता है।

वाणिज्य-दूतों को अपने गृह-राज्य के प्रजाजनों का संरक्षण करना पड़ता है जो कार्य ठीक वैसा ही है जैसा कि राजनयिक अभिकर्त्ता का। उनको एक रजिस्टर रखना पड़ता है जिसमें वाणिज्य दूतीय जिलों में रहने वाले उनके अपने राज्य के नागरिकों के नाम तथा पते दिये होते हैं। वे विवाह, जन्म तथा मृत्यु को पंजीकृत करते हैं और इच्छा-पत्रों का भार ग्रहण करते हैं।

वाणिज्य दूतों को अपने अपने राज्यों के नौचालन की भी देख भाल करनी पड़ती है। उनको अपने व्यापारी जहाजों की देख-रेख करनी पड़ती है, संकट में पड़े हुये जलपोतों की सहायता करनी पड़ती है तथा जैसा ऊपर कथित है जलपोतों के स्वामियों तथा उनके नाविकों के बीच के झगड़े तय करने पड़ते हैं।

वे प्रमाणित करने वाले अधिकारी के कार्यों को भी करते हैं, यथा हस्ताक्षरों को सही तथा प्रमाणित करना, साक्षियों से पृच्छा करना, शपथ देना, विवाहों का

पंजीकृत करना, इच्छा-पत्रो का भार ग्रहण करना, जन्म तथा मृत्यु का पंजीकृत करना तथा दत्तक-ग्रहण को प्रमाणीकृत करना ।

विशेषाधिकार (Privileges) :—वाणिज्य-दूत राजनयिक अभिकर्ता नही हैं तथा ऐसी दशा मे वे स्थानीय क्षेत्राधिकार से उन्मुक्त नही है जब तक यह बात सन्धि द्वारा स्वीकृत न कर ली जाय। वे कुछ रूढ विशेषाधिकारो का उपभोग करते हैं जिनके अनुसार वे स्थानीय, दिवानी तथा सम्भवत अपने पदीय अधिकार में किये गये कार्यों के सम्बन्ध मे आपराधिक कार्यवाहियो से भी उन्मुक्त समझे जाते हैं। आपराधिक विषयो मे भी उनके विरुद्ध कार्यवाही केवल गम्भीर अपराधो के लिये की जाती है। उनके पदीय पत्र तथा ग्रथ रक्षागृह प्रथानुसार अभिग्रहण किये जाने से उन्मुक्त हैं। व्यापारिक तथा वाणिज्यदूतीय सन्धियो द्वारा वे स्थानीय उपशुल्को तथा करो से प्राय उन्मुक्त किये जाते हैं।

राजदूत के समान वाणिज्य-दूत का पद राज्य के अध्यक्ष के परिवर्तन पर अथवा दोनो राज्यो मे से किसी एक के सम्राट् की मृत्यु पर समाप्त नही होता।

वाणिज्य-दूत के पद का अन्त (Termination of Consular Office) :—निम्नलिखित स्थितियो मे से किसी एक के होने पर वाणिज्य-दूत के पद का अन्त होता है :—

(१) वाणिज्य-दूत की मृत्यु।

(२) ग्रहण करने वाले राज्य के मान्यता-पत्र (exequatur) के वापस ले लिये जाने पर।

(३) वाणिज्य-दूत के वापस बुला लिये जाने पर अथवा अलग कर दिये जाने पर।

(४) भेजने वाले तथा ग्रहण करने वाले राज्यो के बीच युद्ध की घोषणा होने पर।

दोनो राज्यो मे से किसी एक के सम्राट् अथवा अध्यक्ष की मृत्यु पर वाणिज्य *दूत के पद का अन्त नही होता।*

भारतीय सरकार ने अपने कौन्सुलेट जनरल को गोआ से सितम्बर १९५५ से वापस बुला लिया तथा पुर्तगाल वालो के कौन्सुलेट-जनरल को बम्बई मे तथा उनके अवैतनिक कौन्सुलेटो को कलकत्ता तथा मद्रास मे उसी दिनाक पर अथवा उससे पहले बन्द करने को इस कारण से कहा कि भारतीय सत्याग्रहियों पर गोली चलाई गई जो कि सभ्य सरकारो की प्रथा के विरुद्ध थी तथा यह नि शस्त्र तथा अहिंसक भारतीयो के विरुद्ध मर्यादाहीन तथा अमानुषिक बल-प्रयोग था।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार

अध्याय २२

सन्धियाँ

(Treaties)

संधि क्या है ?—संधि एक स्वीकारोक्ति अथवा संविदा है जो दो या अधिक राज्यों के बीच की जाती है जिसके द्वारा वे उन कर्त्तव्यों का पालन करने की प्रतिज्ञा करते हैं जो उनमें से प्रत्येक के ऊपर आरोपित किये जाते हैं।

संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय विधि की प्रमुख मूलाधार हैं। वे पक्षकारों के मध्य के वैध सम्बन्धों को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्वीकृत रूढ़ नियमों से भिन्न आधार पर निश्चित कर सकती है अथवा वे पूर्वस्थित अन्तर्राष्ट्रीय विधि की न्यूनता की पूर्ति कर सकती हैं, या उसको रूपभेदित अथवा परिभाषित कर सकती है।

संधि की परिभाषा कुछ विद्वानों ने निम्नलिखित ढंग से की है :—

ओपेनहेम (Oppenheim) :—"अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ संविदात्मक प्रकृति के वे करार हैं जो दो राज्यों के बीच में या राज्यों के संगठनों के बीच में किये जाते हैं और जो वैध अधिकार और पक्षकारों के बीच आभार उत्पन्न करते हैं।'

स्टार्क (Starke) :—संधि एक वह करार है जिसमें दो या दो से अधिक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अपने आप में सम्बन्ध स्थापित करते या सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं। (A treaty is an agreement whereby two or more States establish or seek to establish a relationship under International Law between themselves.)

हार्वर्ड ड्रैफ्ट कन्वेन्शन :—इस कन्वेन्शन के अनुसार 'Treaty' शब्द को "a formal instrument of agreement by which two or more states establish or seek to establish a relation under International Law between themselves" मानते हैं जो कि स्टार्क के कथन से बहुत ही मेल में है।

सन्धियों के प्रकार :—ओपेनहेम संधियों को विधि-विधायक संधियाँ जो बहुत राज्यों के बीच आचरण के सामान्य नियम निर्धारण करने के लिये की जाती हैं, तथा अन्य प्रयोजन के लिये की गई संधियों में वर्गीकृत करते हैं।

विषयानुसार वर्गीकरण में संधियाँ निम्नलिखित हैं :—संधि स्थापन करने वाली सन्धियाँ, प्रतिभूति देने वाली सन्धियाँ, व्यापारिक सन्धियाँ, और किसी राज्य को तटस्थ बनाने वाली सन्धियाँ।

वत्तल (Vattel) सन्धियों को समान, असमान, वास्तविक तथा व्यक्तिगत में वर्गीकृत करते हैं।

वास्तविक सन्धियाँ संविदा करने वाले पक्षकारों के व्यक्तित्व से अनाश्रित केवल अभिसमय के विषय से ही सम्बन्धित होती हैं। ये राज्य पर उसके शासकों के वैयक्तिक परिवर्तनों से अप्रभावित निरन्तर बाध्यकारी होती हैं। व्यक्तिगत सन्धियाँ संविदाकार पक्षकारों के व्यक्तित्व से सम्बन्धित होती हैं और सम्राट् की मृत्यु पर समाप्त हो जाती हैं।

एक पक्ष अथवा उभय पक्ष में बाध्यकारी होने के अनुसार सन्धियों को एक-पक्षीय तथा उभयपक्षीय में बाँटा जा सकता है। बहुपक्षीय सन्धियाँ भी होती हैं जो दो से अधिक राज्यों पर पक्षकारों के रूप में बाध्यकारी होती हैं। ऐसी सन्धियाँ या तो राजनैतिक अथवा अराजनैतिक होती हैं। विधि विधायक सन्धियाँ भी होती हैं जैसे पेरिस का पैक्ट, लीग आफ नेशन्स का कावनेंट तथा संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर।

उद्देश्यों के अनुसार वर्गीकृत किये जाने पर सन्धियाँ निम्नलिखित हैं—राज-नैतिक, व्यापारिक, सामाजिक सन्धियाँ तथा प्रतिभूति, तटस्थता, परित्याग तथा प्रत्यर्पण की सन्धियाँ।

सन्धियाँ स्थायी तथा अस्थायी भी होती हैं।

सर्वाङ्गीण परिपूर्ण वर्गीकरण मैकनायर के अन्तर्राष्ट्रीय विधि के ब्रिटिश इयर बुक (१९३०) में पाया जाता है। यह जैसा जैक्सन द्वारा अपनी पुस्तक 'ए मैनुअल आव इण्टरनेशनल लॉ' के पृष्ठ ४७ में उद्धृत किया गया है निम्न-लिखित हैं :—

(अ) प्रलेखस्वरूप सन्धियाँ।

(आ) संविदास्वरूप सन्धियाँ।

(इ) विधि-विधायक सन्धियाँ जिनका निम्न प्रकार से उपविभाजन किया जा सकता है —

(१) सन्धियाँ जिनके द्वारा संवैधानिक विधि बनाई जाती है यथा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की लेखबद्ध संविधियाँ (Statutes) (अब अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय)।

(२) शुद्ध विधि-विधायक संधियाँ, उदाहरणार्थ भिन्न-भिन्न श्रम सम्बन्धी अभिसमय जो अन्तरराष्ट्रीय श्रमिक संघ द्वारा तय की गई हैं।

(३) निगमन (incorporation) के चार्टर के समान प्रकृति की संधियाँ, उदारहणार्थ संधियाँ जिनके द्वारा विश्व डाक संघ १८७४ में स्थापित हुआ था।

को पारिभाषित कर सकती है जिनके अनुसार सबन्धित अभिकरण (एजेन्सी) सयुक्त राष्ट्र के सम्बन्ध मे लाया जायगा ।

न्यास पद्धति (trusteeship system) सम्बन्धी स्वीकृतियो के सम्बन्ध में प्रासगिक उपबन्ध अध्याय १२ मे दिये गये हैं । अनुच्छेद ७७ मे यह अनुबंधित है कि न्यासपद्धति ऐसे प्रदेशो को लागू की जायगी जैसे उसके अधीन न्यासस्वीकृतियों द्वारा रखे जायँ तथा यह बाद की स्वीकृतियो का विषय होगा कि कौन प्रदेश न्यास पद्धति के अन्तर्गत लाये जाँय और किन शर्तों पर । इसमे कोई सन्देह नही कि न्यासित प्रदेशो के प्रशासन मे सयुक्त राष्ट्र सघ का देखभाल का कर्त्तव्य रहेगा । क्लाइव पैरी का कथन है कि "चार्टर के अध्याय १२ पर विचार करने के उपरान्त परिणाम इससे अधिक नही निकलता कि इसमे कोई सदेह नही कि न्यास-समझौता (trusteeship agreements) का जिनके सम्बन्ध मे उसका कथन है कि अपने ही प्रकार के विशिष्ट (sui generis) प्रलेख है, 'सन्धियों' के नाम से सबोधित किये जाने के लिये उनका दावा जो कुछ भी हो, विधि के अनुसार ऐसे कार्य हैं जिनसे अधिकार तथा कर्त्तव्य उत्पन्न होते हैं ।"

अब विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियो के सम्बन्ध मे समझौता पर विचार करना शेष रह गया है । अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने सयुक्त राष्ट्र की सेवा मे सही हुई हानियो के लिये क्षतिपूर्ति वाले मामले मे, अनुच्छेद १०५ से यथाव्यवस्थित, संधि के अधीन सघ के अधिकारो का उपभोग करने तथा कर्त्तव्य को पालन करने की क्षमता के विषय मे निर्देशित करते हुए यह घोषित किया कि चार्टर मे सघ तथा उसके सदस्यो के बीच सविदा करने की व्यवस्था की गई है तथा सघ एक बड़ी मात्रा मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व तथा क्षमता रखता है जिससे वह अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कार्य कर सके (Clive Parry Article in Br. Year Book of I. L. 1949, p 108 at p 127)

सविदाकारों मे पारस्परिक सहमति —चूँकि सन्धि एक प्रकार का समझौता है, अस्तु सविदा के पक्षकारो मे परस्पर विचारों की सहमति होनी चाहिए । यह सहमति कुछ चिह्नो, कथित शब्दो या लिखित शब्दो के रूप में होनी चाहिए । पक्षकारो की पारस्परिक सहमति का होना आवश्यक है । केवल एक पक्ष प्रस्ताव कर दे और दूसरा उसे न माने तो यह सन्धि नही कही जा सकती क्योंकि यह दूसरे पर बन्धनकारी नहीं है ।

सविदायें तथा सधियाँ (Contracts and Treaties) —नागरिक विधि मे संविदा स्वीकारोक्ति है जो विधि के अनुसार लागू की जा सकती है परन्तु

एक राज्य के नागरिकों के बीच की जाती हैं। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ वे स्वीकारोक्तियाँ हैं जो उनके बीच स्थित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाले भिन्न-भिन्न व्यवहारों को पूर्ण करने के प्रयोजन से की जाती है।

वैयक्तिक संविदाओं में स्वतन्त्र प्रस्ताव तथा स्वतन्त्र स्वीकृति होनी चाहिये और इसके अतिरिक्त ठोस प्रतिफल होना चाहिये। तदनुसार नागरिक विधि में सम्मति की स्वतन्त्रता प्रत्येक स्वीकारोक्ति की वैधता के लिये सारभूत और संविदायें जो किसी बन्धन के अधीन प्राप्त की गई हों अथवा धमकी देकर या बलपूर्वक प्राप्त की गई हों, पक्षकारों पर बन्धनकारी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि में बन्धन कुछ परिमाण तक सन्धियों के करने में स्वीकृत किये गये हैं। युद्ध के अन्त में विजयी राज्य ऐसी स्थिति में रहता है कि वह जिन शर्तों को चाहे लिखा ले। पराजित राज्य को वे शर्तें माननी ही पड़ती हैं। पराजित राज्य की दयनीय दशा के कारण कोई भी सन्धि जो उसके द्वारा हस्ताक्षरित की जायगी, कुछ न कुछ बल प्रयोग का धब्बा अवश्य होगा। हाल (Hall) भी इस विचार से सहमत है कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधि में बलप्रयोग तथा धमकी अपकारों के प्रतिकार के लिये अनुज्ञात साधन हैं, तथा यह असम्भव है कि अनुज्ञात साधनों को स्वीकारोक्ति को भंग करने वाला माना जाय जब वे (स्वीकारोक्तियों) उनके (साधनों के) प्रयोग से की जाँय, जिनसे प्रतिकार की व्यवस्था की गई है।" ह्लोटन के भी विचार उसी के अनुसार हैं "समाज का कल्याण इस बात की अपेक्षा करता है कि किसी राज्य द्वारा ऐसे बन्धन के अधीन, जैसा इसके सैन्य बलों के पराजय, इसकी जनता के कष्ट तथा इसके क्षेत्रों के शत्रु द्वारा दखल किये जाने के कारण, वे बन्धनकारी माने जाये, क्योंकि यदि ऐसे न माने जायँ तो युद्धों का अन्त केवल दुर्बल पक्ष के सम्पूर्ण दमन तथा नाश से ही हो सकता है। और न राज्यों के बीच अपर्याप्त प्रतिफल अथवा सन्धि की शर्तों की असमानता जैसा अलोक व्यक्तियों के बीच की संविदा का भंग करने के लिये भारी असमानता अथवा अपकार के कारण पर्याप्त होती, सन्धि के निष्पादन को अस्वीकार करने के लिये पर्याप्त कारण होती हैं।"

वर्साई की सन्धि इसका एक ज्वलंत उदाहरण है जहाँ सन्धि करने के बिना किसी वहान जर्मनी पर शर्तों आरोपित की गई थी। जर्मन प्रजातन्त्र वर्साई सन्धि की दुःसह शर्तों तथा प्रतिबन्धों को स्वीकार करने के लिये बाध्य किया गया, केवल इसलिये कि मित्र तथा संयुक्त सरकारों का बल घबड़ा देने वाला था और इसी से द्वितीय विश्व युद्ध के बीज का वपन हुआ।

यह भी स्मरण रहे कि सम्राट् अथवा राजनयिक अभिकर्ता के *विरुद्ध वैयक्तिक* रूप में बल-प्रयोग अथवा धमकी देकर की गई सन्धि बन्धनकारी *न होगी*।

बर्कनहेड का कथन है कि "सन्धिकर्ता को डराकर उसे मानने को बाध्य करने के लिए सम्मेलन के कमरे मे सैनिक बल का प्रवेश कराना उससे इस प्रकार बलपूर्वक प्राप्त की गई स्वीकारोक्ति का अवैध कर देगा।" (to introduce an armed force into the Conference Chamber for terrorising a negotiator into submission would invalidate the agreement extorted from him—Lord Birkenhead.)

यदि सहमति किसी सारपूर्ण गलती पर आधारित हो अथवा धोखा या मिथ्या-वर्णन के कारण दी गई हो तो इसके अनन्तर नागरिक विधि की संविदाओं के समान सन्धियाँ बन्धनकारी नही होती।

संयुक्त राष्ट्र संघ के स्थापन ने विश्व के लोगो के हृदयो मे बड़ी-बड़ी आशाय उत्पन्न कर दी हैं तथा यह आशा करनी चाहिये कि सन्धियो के करने के विषय में राज्यो के कार्य की स्वतन्त्रता को अनुचित दबाव, धमकी अथवा बल-प्रयोग द्वारा सीमित करने का बहुत ही कम अवसर होगा।

चार्टर से असबद्ध तथा अनैतिक सन्धियाँ :—संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद १०३ मे यह दिया गया है कि विरोध की दशा मे संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अधीन कर्त्तव्य उनके किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौता के अधीन कर्त्तव्यो से अधिक प्रबल होगे। इसके अनुसार जहाँ तक वे चार्टर के सिद्धान्तो से असंगत हैं, सन्धि के अधीन कर्त्तव्य वैध नही होगे।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की प्रथा के अनुसार यह स्वीकृति है कि वे अनैतिक कर्त्तव्य पक्षकारो पर बंधनकारी नही होते जो सधियो अथवा सार्वजनिक रीति के विरुद्ध संधियो द्वारा लागू किये गये हो।

संवैधानिक आवश्यकतायें :—पूर्ण प्रभुसत्ताधारी राज्यो की दशा मे संधि करने की शक्ति राज्यो के अध्यक्ष तथा उनके अभिकर्त्ताओ के ऊपर रहती है। उस दशा मे जब वे अपने-अपने राज्यो की नागरिक विधि द्वारा किये गये संवैधानिक सीमितियो का उल्लंघन करे, वे पक्षकारो पर बन्धनकारी नही मानी जातीं। कुछ राज्यो मे जैसे ब्रितानिया मे सन्धि का करना एक प्रशासकीय कार्य है किन्तु उनके पालन करने मे यदि उनसे वर्तमान घरेलू विधि मे परिवर्तन होता हो तो संवैधानिक कार्य अपेक्षित है।

सन्धियों का करना :—सन्धियो के करने के लिये कोई विशिष्ट प्रारूप नहीं है। राज्यो के प्रतिनिधियो के बीच की मौखिक स्वीकारोक्ति, जिनको समझौता-वार्ता करने का भार सौंपा गया हो तथा जिन्हें अपने-अपने देशो को बाध्य करने के लिये सशक्त किया गया हो, बाध्यकारी प्रभाव रखने के लिये पर्याप्त होता है यदि

प्रतिनिधियों का यह आशय हो कि वैधिक रूप से बाध्यकारी व्यवहार किया जाय। फिर भी विवेचनीय प्रश्नों के असाधारण महत्व के कारण यह आवश्यक होता है कि नियमानुसार अपेक्षित बातों का पालन किया जाय तथा स्वीकारोक्ति को प्रलेख में परिवर्तित कर दिया जाय।

सन्धि करने में जो भिन्न-भिन्न कार्यवाहियाँ करनी पड़ती हैं वे निम्नलिखित हैं —

१. प्रतिनिधियों का प्रस्थापन (Accrediting of Representatives) :— समझौता वार्ता चलाने वाला प्रत्येक राज्य एक प्रतिनिधि अथवा पूर्ण शक्तियुक्त दूत इस प्रयोजन के लिये नियुक्त करता है। उसको वैदेशिक मामलों के मन्त्री द्वारा प्राप्त एक प्रलेख मिलता है जिसमें उसका प्राधिकार उन समझौता-वार्ता को चलाने के लिए लिखा रहता है और जिसको पूर्ण शक्ति कहते हैं। ऐसा ही प्रलेख जब वह सम्राट् द्वारा हस्ताक्षरित किया जाता है तथा "बड़ी मुद्रा" से मुद्राङ्कित किया जाता है तो वह "विशिष्ट पूर्ण शक्ति" कहा जाता है।

२. वार्ता (Negotiation) —अपना कार्य प्रारम्भ करने के पूर्व दोनों पूर्ण शक्तियुक्त राजदूत अपनी-अपनी पूर्ण शक्तियों की अथवा उनकी प्रतिलिपियों की अदला-बदली कर लेते हैं। तब वे समझौता वार्ता आगे बढ़ाते हैं और अन्तिम मसौदा हस्ताक्षरित किये जाने के लिये तैयार करते हैं।

३ हस्ताक्षर (Signature) —जब सन्धि का अन्तिम मसौदा बन जाता है तो प्रलेख हस्ताक्षरित होने के लिये तैयार हो जाता है। हस्ताक्षर यथारूप अन्तिम बैठक में किया जाता है। यदि पक्षकार उनके सत्यांकन के अधीन न करना चाहें तो सन्धि सामान्यतः संविदाकार राज्यों के पूर्ण अधिकारयुक्त दूतों के हस्ताक्षर होने पर लागू होती है।

४ सत्यांकन (Ratification) —अन्तर्राष्ट्रीय संधि का उसके पक्षकारों द्वारा स्वीकृत करने का कार्य है। अन्य शब्दों में सत्यांकन यह प्रकट करता है कि वह संधि अनुसमर्थित कर दी गई है जो भिन्न भिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों द्वारा की गई है। जब तक संधि का देश के संविधान के अन्तर्गत उचित प्राधिकारी द्वारा सत्यांकन नहीं किया जाता, तब तक इसमें वैधता तथा प्रामाणिकता का अभाव रहता है। यद्यपि संधियाँ बाद में पुष्ट की जाती हैं, फिर भी उनके वैध प्रभावों के होने की तिथि हस्ताक्षर के क्षण से ही मानी जाती है। हस्ताक्षर तथा वास्तविक सत्यांकन के बीच का समय संधि के पक्षकार राज्यों को इसलिये दिया जाता है कि वे उस विषय पर विचार करें तथा स्वीकारोक्ति को किन्हीं वैध कारणों से पुष्ट अथवा सत्यांकन करने से अस्वीकार कर दें। इससे उनको यदि आवश्यक हो तो

संसद की स्वीकृति प्राप्त करने तथा अन्य प्रकार से जनमत प्राप्त कर लेने का अवसर भी प्राप्त होता है। किसी संधि का सत्यांकन करने से अस्वीकार करने के कारण मनमाने अथवा अस्थिर न होने चाहिये। किसी संधि का सत्यांकन निम्नलिखित कारणों से रोका जा सकता है —

(१) यदि प्रतिनिधि अथवा पूर्णशक्तियुक्त राजदूत ने उसको प्रदत्त शक्ति की सीमा से बाहर कार्य किया हो।

(२) यदि तथ्य के विषयों में उसके साथ धोखा किया गया हो।

(३) यदि संधि के अधीन कर्त्तव्यों का पालन करना असम्भव हो जाय।

(४) यदि एक ही विषय के सम्बन्ध में (consensus ad idem) अर्थात् सहमति न हो।

सत्यांकन के प्रारूप के लिये जैसा ऊपर कहा गया है कोई स्पष्ट नियम नहीं है। यह प्रकट रूप से अथवा अप्रकट रूप से किया जा सकता है। प्राय सत्यांकन निग्रहों के साथ किया जाता है। ऐसे निग्रहों के लिये इससे पूर्व कि संधि बंधनकारी प्रभाव रख सके, संधि के अन्य पक्षकार राज्यों की सहमति नियमानुसार अपेक्षित होती है।

द्विपक्षीय संधियों में सत्यांकन के प्रतिबन्ध :—जैसा कि ऊपर कहा गया है सत्यांकन सम्बन्धित पक्षकारों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संधि को लागू करने का कार्य है। दूसरे शब्दों में सत्यांकन के अन्तर्गत संधि में प्रविष्ट हुए राज्यों के प्रतिनिधियों की ओर से संधि के पुष्टीकरण को सत्यांकन (ratification) कहते हैं किन्तु यदि यह सत्यांकन अथवा अनुसमर्थन कुछ शर्तों पर प्रतिबंधित है तो संधि की प्रकृति ही बदल जायगी। ओपेनहेम का कथन है कि प्रतिबंध एक प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दूसरे प्रस्ताव को प्रस्तुत करता है इसलिए सिद्धान्त रूप में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि दूसरा पक्ष प्रकट या सम्बद्ध रूप में इस प्रतिबंध को स्वीकार करे।

बहुपक्षीय अभिसमय (Multilateral Conventions) :—बहुपक्षीय अभिसमयों के प्रसंग में, जो कि विधि-विधायक ढंग की है और जो आचरण के हुए समान सिद्धान्त प्रस्तुत करती हैं, पक्षकारों के अधिकारों की विस्तृत व्याख्या की जाती है, इसलिए यहाँ भी वही सामान्य सिद्धान्त लागू होते जो द्विपक्ष के संधि में होते हैं।

५. अधिमिलन तथा संसक्ति (आसंजन) (Accession and Adhesion) —कोई तीसरा राज्य वर्तमान संधि का पक्षकार अधिमिलन द्वारा

सकता है। यह या तो तीसरे राज्य के प्रारंभिक पक्षकारों की सहमति से नियमपूर्वक समिलन द्वारा होता है, अथवा जैसा ओपेनहेम का कथन है "अन्य राज्यों के बीच में हुई संधि के सम्यक् रूप से पालन के लिये प्रतिभूति होने के प्रयोजन से पक्षकार होकर" जिसके द्वारा समिलन करने वाला राज्य भी संधि का पक्षकार हो जाता है।

ससक्ति या आसजन से एक तीसरे राज्य का केवल कुछ शर्तों अथवा सिद्धान्तों के लिये, जो संधि के भाग हैं, किसी वर्तमान संधि में अधिमिलन प्रकट होता है।

६. संधियों का प्रवर्तन (Coming into force of treaties) :—संधि का यदि सत्यांकन आवश्यक न हो तो वह हस्ताक्षरित होने के दिनांक से लागू हो जाती है। सत्यांकन की दशा में संधि हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के सत्यांकनों को जमा करने के उपरान्त लागू होती है। बहुपक्षीय संधियाँ नियत संख्या के सत्यांकनों के जमा किये जाने के उपरान्त लागू होती हैं।

७ पंजीकरण (Registration) —इस प्रकार सत्यांकित होने के उपरान्त संधि को अन्तर्राष्ट्रीय संघ के मुख्यालय में पंजीकृत कराना पड़ता है। लीग के कावेनन्ट (Covenant) के अनुच्छेद १८ में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक संधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अभियुक्ति लीग के सचिवालय में पंजीकृत करना चाहिए तथा उसके द्वारा यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करना चाहिए। इस प्रकार की कोई संधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अभियुक्ति किसी राज्य पर उस समय तक बन्धनकारी नहीं होती जब तक वह इस प्रकार पंजीकृत न किया जाय। इसका यह अर्थ हुआ कि विवाद की दशा में संधि पर यदि वह पंजीकृत न हुई तो विश्वास नहीं किया जा सकता। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में अभिसंविदाओं का भी वही प्रभाव है। चार्टर के अनुच्छेद १०२ में यह दिया गया है कि —

(१) "वर्तमान चार्टर के लागू होने के उपरान्त प्रत्येक संधि तथा प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय संविदा जो संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य द्वारा की जाय, यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र सचिवालय में पंजीकृत की जायगी तथा उसके द्वारा प्रकाशित की जायगी।

(२) ऐसी संधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संविदा का, जो इस अनुच्छेद के खंड (१) के अनुबन्धों के अनुसार पंजीकृत नहीं है, कोई पक्षकार, उस संधि अथवा संविदा को कोई सहायता संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी अंग के समक्ष नहीं ले सकता है।"

अनुच्छेद १०२ का द्वितीय भाग राज्यों को किसी गुप्त संधि को विश्वसम्मति के कटघरे के समक्ष लाने से स्पष्टतया वर्जित करता है। रजिस्ट्री न कराने का

प्रभाव केवल यही तक सीमित है कि संधि के पक्षकार संयुक्त राष्ट्र के किसी अंग के समक्ष उसकी सहायता की प्रार्थना नहीं कर सकते ।

८. संधि का राज्य-विधि में निगमन :—संधि की अंतिम स्थिति उसके संविदाकार राज्यों की नागरिक विधियों में वास्तविक निगमन है जहाँ ऐसा संयोजन बन्धनकारी प्रभाव रखने के लिये आवश्यक हो ।

अवैध संधियाँ :—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार संधियाँ निम्नलिखित कारणों में से किसी एक के आधार पर अवैध मानी जा सकती हैं :—

(१) जहाँ संधि का उद्देश्य अवैध हो । संधियाँ जिनमें अनैतिक कर्त्तव्यों की शर्त हो, आरम्भ से ही प्रभावहीन होती हैं ।

(२) जहाँ संधि करने में पक्षकारों के साथ धोखा अथवा मिथ्याख्यापन किया गया हो ।

(३) जहाँ धमकी देकर, अनुचित दबाव डालकर अथवा भय दिखाकर संधि कराई गई हो ।

(४) जहाँ संधि करने में धोखे से उत्पन्न हुई कोई गलती हो गई हो ।

(५) जहाँ संधि में ऐसे कर्त्तव्यों की व्यवस्था की गई हो जिनका करना असम्भव हो ।

(६) जहाँ संधिकर्त्ता पक्षकारों की स्थिति ही उनको अयोग्य बना देती हो ।

(७) जहाँ सन्धियाँ अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तों का उल्लंघन करती हों अथवा चार्टर के सिद्धान्तों को गौरवहीन करती हों ।

सन्धियों की समाप्ति :—सन्धियाँ निम्नलिखित कारणों में से किसी एक के कारण समाप्त हो सकती हैं :—

(अ) उस विशिष्ट अवधि की समाप्ति पर जिसके लिये सन्धि की गई थी ।

(आ) जब सन्धि का मुख्य उद्देश्य पूर्ण हो गया हो । उन सन्धियों की दशा जिनमें निरन्तर जारी रहने वाले कर्त्तव्य न आरोपित किये गये हों, वे (संधियाँ) उद्देश्य के पूर्ण होने के उपरान्त लागू नहीं होतीं ।

(इ) सन्धि के पक्षकारों की पारस्परिक सहमति से । किसी सन्धि के पक्षकार उसके स्वामी हैं, अतः यदि पारस्परिक सहमति से वे संधि को समाप्त करना चाहें अथवा संधि में उसके किसी एक पक्ष का अथवा सब पक्षों को संधि-भंग का एक-पक्षीय अधिकार दिया गया हो तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि उनके मार्ग में कोई रोड़े नहीं अटकाती ।

(ई) कुछ आवश्यक शर्तों का न पूरा करना । यदि सन्धि में कुछ आवश्यक शर्तों के पालन करने में असफल रहने की दशा में प्रतिस्पर्धी राज्यों में से किसी एक

अथवा सब राज्यो को सन्धि भग करने का एक-पक्षीय अधिकार दिया गया हो, तो ऐसा घटित होने पर सन्धि समाप्त हो जाती है।

(उ) जब सधि के कर्त्तव्य सयुक्त राष्ट्र के चार्टर से असगत हो जाँय। अनुच्छेद १०३ मे यह विशिष्टतया प्रतिबन्धित है कि सयुक्त राष्ट्र के सदस्यो के कर्त्तव्यों तथा उनके अन्य सविदाओ के अन्तर्गत कर्त्तव्यो के विरोध की दशा मे उनके कर्तव्य जो चार्टर के अधीन है, प्रबल रहगे।

(ऊ) जब सविदाकार पक्षकारो के बीच युद्ध छिड़ जाय। फिर भी आधुनिक मत यह है कि युद्ध छिड़ना सन्धि का अवश्यमेव ही भग नही कर देता। [Techt v. Hughes, (1920) 229 N. Y. 222].

(ए) जब कि सविदाकार पक्षकारो मे से कोई एक अधिमिलन अथवा सम्मेलन द्वारा विनष्ट हो गया हो। सयुक्त राज्य अमेरिका तथा त्रिपोली के बीच सन्धि का अस्तित्व समाप्त हो गया जब त्रिपोली इटली द्वारा सन् १९१२ मे मिला लिया गया।

(ऐ) प्रबल शक्ति (Force Majeure) तथा कार्य करने की असंभाव्यता। रूस का क्षतिपूर्ति वाला मामला (Russian Indemnity Case, Permanent Court of Arbitration, 1912, No XI) जो रूस तथा टर्की के बीच हुआ था उसमे पचायत के स्थायी न्यायालय ने यह मत प्रकट किया कि प्रबल शक्ति (vis major) के अपवाद की अभिव्यक्ति अन्तर्राष्ट्रीय तथा वैयक्तिक विधि मे की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अपने को राजनैतिक आवश्यकताओं के अनुकूल बनाना चाहिये। रूस ने तुर्की के इस तर्क के साथ कि "यदि राज्य का अस्तित्व ही सकटग्रस्त हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य का पालन करना सम्बन्धित राज्य के प्रति आत्म-घातकारी हो तो राज्य की सन्धियो की शर्तों को पूरा करने के कर्त्तव्य हट जाने चाहिये", यद्यपि सहमति प्रकट की तथापि उस (रूस) ने यह बहस किया कि सन् १८८१ से १९०२ तक तुर्की मे अत्यन्त भयकर आर्थिक सकट रहे लेकिन फिर भी उस अवधि के भीतर तुर्की को अन्य ऋणो तथा सार्वजनिक ऋण के एक बडे भाग को चुकाने के लिये अनुकूल दरो पर ऋण प्राप्त हो सका। न्यायालय रूस के इस तर्क से सहमत हो गया और उसने मत प्रकट किया कि रूसी दावेदारो को एक छोटी सी साठ लाख फ्रेंक की धनराशि देने को बाध्य किये जाने से तुर्की के राज्य का अस्तित्व न तो सकटग्रस्त हुआ और न उसकी आन्तरिक अथवा वाह्य स्थिति किसी प्रकार से हीन हुई। अतः तुर्की द्वारा उठाया गया प्रबल शक्ति का अपवाद नही माना गया।

(ओ) तद्वस्था का सिद्धान्त (Rebus sic stantibus)। इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि जब किसी राज्य का अस्तित्व अथवा विकास उसके सन्धि के अन्तर्गत के कर्त्तव्यो के अपरिहार्य विरोध मे हो तो राज्य तथा उसके प्रति आवश्यक अपेक्षाओं के अनुसार आत्मसरक्षण तथा विकास के लिये सन्धि के कर्त्तव्य शिथिल हो जाने चाहिये। प्रोफेसर हॉल इस सिद्धान्त से सहमत होते हुये कहते हैं कि "अत सन्धि ज्योंही राज्य के जीवन के लिये भयावह हो जाती है, अथवा उसकी स्वतन्त्रता से असगत हो जाती है तो वह निष्प्रभाव हो जाती है, इस अनुबन्धन के साथ कि इसके करने के समय दोनो सविदाकार पक्षकारों का आशय उसके हानिकारक प्रभावों से नही रहा है। "A treaty, therefore, becomes voidable so soon as it is dangerous to the life or incompatible with the independence of a State, provided that its injurious effects are not intended by the two contracting parties at the time of its conclusion."—Professor Hall

इस सम्बन्ध मे लौरेन्स का यह मत है कि "यह बात निश्चित है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि राज्य के कुटुम्ब के किसी प्रतिकूल चलने वाले सदस्य को जो अपने प्राचीन-ग्रन्थरक्षा गृह से किसी अप्रचलित सन्धि को निकाल सके और हस्ताक्षर करने वाली अन्य शक्तियो की इच्छा के विरुद्ध उसकी शर्तों को पूरा करने का हठ करे अपने विशेषाधिकार द्वारा उन्नति मे रोडा अटकाने का अधिकार नही देती है। "International law certainly does not give a right of veto on political progress to any reactionary member of the family of nations who can discover in its archives some obsolete treaty, on the fulfilment of whose stipulations, it insists against the wishes of all the other signatory powers."—Lawrence.

इस प्रकार प्रत्येक सन्धि में यह प्रतिबन्ध व्यक्त है कि सविदाकार पक्षकारों को यह अधिकार होना चाहिये कि यदि परिस्थितियो मे परिवर्तन होने के कारण राज्य का सतत अस्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति के रूप मे भय मे हो तो वे सन्धि द्वारा लगाये गये कर्त्तव्यो से उन्मुक्त किये जाने की माँग करें।

रूस द्वारा पेरिस की सन् १८५६ की सन्धि के उस भाग के भंग के सम्बन्ध में जो काले समुद्र के तटस्थीकरण क तथा रूस के काले समुद्र में सेना रखने के सम्बन्ध मे प्रतिबन्ध लगाने के विषय मे था, शक्तियो ने १८७० में स्वीकार किया कि तदवस्था के सिद्धान्त (rebus sic stantibus) के सह की सहायता भग करने के लिये आधार रूप मे माँगी जा सकती थी किन्तु यह कथन किया कि रूस एकपक्षीय रूप से सन्धि भग नही कर सकता था।

सन्धियों का पुनरीक्षण :—सन्धियो के पुनरीक्षण के सम्बन्ध मे लीग आफ नेशन्स के कावनेण्ट (१६२०) के अनुच्छेद १६ मे यह व्यवस्था की गई थी :—

"सभा समय-समय पर उन सन्धियो को जो लागू करने के अयोग्य हो गई हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय दशाओ को जिनका जारी रहना विश्व-शान्ति के लिये भयप्रद हो विचार करने के लिये लीग के सदस्यो को परामर्श दें।"

इसमे सन्देह नही कि इस अनुच्छेद मे सन्धियो मे जो एक नई स्थिति के उत्पन्न होने के कारण लागू रहने के अयोग्य हो गई है परिवर्तन करने तथा उनको रद्द करने की अनुमति दी गई है किन्तु सन्धि केवल उसी दशा मे पुनरीक्षित हो सकती थी जब ५० राष्ट्रो के प्रतिनिधियो का एकमत से निर्णय प्राप्त हो सके। अत कावनेण्ट के अनुच्छेद १६ द्वारा तदवस्था के सिद्धान्त (rebus sic stantibus) के खड को पुष्ट किया गया लेकिन साथ ही उसे एकपक्षीय रूप से लागू करने के किसी दावे को अस्वीकृत किया गया। उस अनुच्छेद मे केवल उन व्यक्तियो के दृष्टिकोण को सामने रखने का अवकाश देने की व्यवस्था की गई है जो सन्धि का पुनरीक्षण चाहते थे। लौरेस का कथन है कि यह सम्मति को जाँचने के साधनरूप मे लाभदायक है। समझौता, जाँच तथा समझाने-बुझाने से सन्धि मे परिवर्तन करने की रीति अवश्य ही असफल रहेगी क्योकि इसमे उन आवश्यक बातो का अभाव है जो एक राष्ट्रीय सघ म होती हैं जिसके द्वारा मानव-जाति की शान्ति, सुरक्षा तथा सुख के हित मे पुनरीक्षण चाहने वाले बहुमत की इच्छाओ को पूर्ण किया जा सकता है।

गत शताब्दी से यह सम्मति ओर पकडती जा रही है कि परिस्थितियो मे किसी महत्वपूर्ण परिवर्तन के होते ही राज्य को तदवस्था के सिद्धान्त (rebus sic stantibus) के आधार पर तत्काल ही सन्धि के अन्तर्गत कर्त्तव्यो को भग करने का अधिकार न मिलना चाहिये, किन्तु उसे उनसे उन्मुक्त किये जाने का अधिकार केवल सन्धि क अन्य पक्षकार अथवा पक्षकारो की सम्मति से ही मिलना चाहिये। यही प्रक्रिया तुर्की द्वारा सन् १६३६ में की गई जब उसने यूरोप की राजनैतिक तथा सैनिक स्थिति मे महत्वपूर्ण परिवर्तन होने के कारण डार्डनेलीज तथा बास्फोरस खाडियाँ सम्बन्धी सन् १६२३ की लौसाने की सन्धि को समाप्त करना चाहा। तुर्की प्रार्थना पर मौंट्रो मे सन् १६३६ मे सम्बन्धित राज्यो का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसने एक नई सन्धि करके पहली सन्धि को समाप्त कर दिया।

सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर मे कावनेण्ट क अनुच्छेद १६ क समान सन्धियो के पुनरीक्षण सम्बन्धी कोई व्यवस्था नही है। चार्टर मे इससे सम्बद्ध अनुच्छेद १०३ है जिसमें यह लिखा है कि :—

"सयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यो के कर्त्तव्यो के वर्तमान चार्टर तथा अन्य अन्त॰ र्राष्ट्रीय स्वीकार-पत्रो के अधीन कर्त्तव्यों के विरोध की दशा मे उनके वर्तमान अधिकार के अधीन कर्त्तव्य प्रबल रहेगे।"

इस सम्बन्ध मे चार्टर के अनुच्छेद १४ को अभिसंविदाये भी ध्यान देने योग हैं, जिनमे यह व्यवस्था की गई है कि यदि सामान्य सभा की सम्मति में उससे राष्ट्रा का सामान्य-हित अथवा उनके बीच के मित्रता के सम्बन्धो मे बाधा पडती हो तो सामान्य सभा किसी स्थिति क शान्तिपूर्ण समाधान के लिये उपायो का अभिस्ताव कर सकती है चाहे वह स्थिति किसी प्रकार उत्पन्न हुई हो। सामान्य-हित के विचार से सन्धि का पुनरीक्षण आवश्यक हो सकता है। उसी प्रकार से यदि सधियाँ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दे जिनसे सभा की राय मे सामान्य-हित अथवा राज्यों के बीच की मित्रता के सम्बन्धो मे बाधा पडती हो तो वह ऐसी स्थितियो के सम्बन्ध में सिफारिश कर सकती है। ऐसी सिफारिशे सामान्य सभा द्वारा अनुच्छेद १० के अधीन भी की जा सकती है जिनके अनुसार सयुक्त राष्ट्र सघ को वर्तमान चार्टर के क्षेत्र के भीतर किसी भी प्रश्न अथवा विषय के विवेचन की शक्ति दी गई है तथा कोई भी स्थिति जिससे सामान्य-हित अथवा राज्यो के बीच की मित्रता के सम्बन्धों मे बाधा पडती हो चार्टर के क्षेत्र के भीतर आता है।

आंग्ल-मिश्रीय (ब्रिटेन तथा इजिप्ट के मध्य की) सन् १६३६ की सधि .—सन् १६३६ मे इटली ने ऐबीसीनिया पर कब्जा कर लिया तथा अपने नील नदी के चारो ओर के उपनिवेशो मे बडी भारी सेनाये भेजी। असाधारण स्थिति के कारण इजिप्ट न ग्रेट ब्रिटेन के साथ सहयोग करने को हाथ बढाया तथा अगस्त २६, सन् १६३६ को ग्रेट ब्रिटेन तथा इजिप्ट क बीच सहयोग की सधि हो गई जिसके द्वार ग्रेट ब्रिटेन को स्वेज नहर के समीप नहर की रक्षा के लिये सेनाएँ रखने दिया गया यद्यपि स्वेज नहर इजिप्ट का अन्तर्गत भाग माना जाता था फिर भी परिस्थितियों कारण ऐसी व्यवस्था करनी पडी। सन् १६५० मे इजिप्ट ने यह माँग प्रस्तुत कि ब्रितानियाँ की सेनायें स्वेज नहर से तत्काल हटा ली जायें तथा सूडान को इजि के सम्राट् के अधीन कर दिया जाय। इस पर वैदेशिक विभाग के सचिव मि अर्नेस्ट वेविन ने उत्तर दिया कि ब्रितानिया का कोई इरादा मध्य पूर्व को अरक्षि दशा मे छोड कर चले जाने का नही है और इस पर महत्व दिया कि सन्धि रूपभेदित अथवा पुनरीक्षित करने का, पारस्परिक सहयोग से अन्य और कोई बन्ध नही है। इजिप्ट का यह दावा था कि सन् १६३६ की सधि अपने प्रयोजन अधिक दिनो तक जीवित रह गई है तथा सयुक्त राष्ट्र सघ को सब देशों को स्व करना चाहिये तथा उसको मध्यपूर्व के सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों की सु

करनी चाहिये तथा यह उसी दशा मे किया जा सकता है जब ब्रितानियों का बलात्कार मध्यपूर्व मे समाप्त कर दिया जाय।

इजिप्ट ने सन् १९३६ की सन्धि तथा १८९९ का सूदान का सहराज्य-समझौता-पत्र (Condominium agreement) को सन् १९५१ मे भग कर दिया।

ब्रिटेन और इजिप्ट मे ब्रितानियों की सेनाओ को स्वेज नहर क्षेत्र से हटाने के सम्बन्ध में जुलाई २७, सन् १९५४ को समझौता हो गया जिसके द्वारा ब्रितानियों की सेनाओ को हटाने का कार्य बीस मास मे पूर्ण कर दिया जाने को था। इस बात की व्यवस्था कर दी गई कि अरब राज्य अथवा तुर्की पर आक्रमण की दशा मे अड्डे को पुन चालू कर दिया जायगा। नई संविदा की अवधि सात वर्ष की थी।

एक जनवरी १९५७ को राष्ट्रपति नसीर ने ब्रितानियों से की हुई १९५४ की संधि को रद्द कर दिया। ब्रितानियों ने पुन इजिप्ट के इस एकपक्षीय अधिकार को अस्वीकृत किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सधियो के पुनरीक्षण की शक्ति एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ के हाथ मे देना चाहिये क्योंकि सम्बन्धित पक्षकारो की सम्मति से पुनरीक्षण प्राप्त करने की सभावना बहुत कम रहती है। लीग के कावनेण्ट के अनुच्छेद १९ मे इस दिशा मे एक शिथिल प्रयत्न था तथा सयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर इस विषय को और अधिक आगे नही ले जाता है।

संधियों की व्याख्या :—अन्तर्राष्ट्रीय सधियो की व्याख्या के नियम जिनको भिन्न-भिन्न न्यायालयों तथा न्यायाधिकरणो द्वारा प्रशसा की गई है निम्नलिखित प्रकार मे सक्षिप्त किये जा सकते हैं :—

(१) सब सधियो की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिये जिससे मूल के प्रत्येक शब्द का कारण तथा अर्थ निकले (लाइट होस वाला मामला)।

(२) यदि सधि दो भाषाओ मे लिखी हो जिससे कुछ परस्पर विरोधी अर्थ निकलता हो तो वह व्याख्या ग्रहण करनी चाहिये जो पक्षकारो की इच्छा तथा दोनो पाठो के अनुरूप हो।

(३) किसी सधि के अनुबन्धो का ऐसा संकुचित अर्थ नही करना चाहिये जिससे किसी राज्य की सार्वभौमिक सत्ता घट जाय।

(४) जब कोई प्रलेख अस्फुट हो तो उसका अर्थ इस प्रकार का लेना चाहिये जिससे उसका आभार उस व्यक्ति पर कम पडे जो सन्धि के अधीन भार वहन करने के उत्तरदायी हों।

(५) यदि दो व्याख्यायें संभव हो तो वह व्याख्या जिससे पक्षकारो पर कम से कम कर्तव्य भार पडता हो ग्रहण की जानी चाहिये।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय संधियो की केवल व्याकरण के अनुकूल परिभाषा उस स्थान पर रुक जानी चाहिये जहाँ से वह परस्पर विरोधी अथवा असम्भव परिणामों पर ले जाती हो अथवा जो पक्षकारो की इच्छा के ...ती हुई प्रतीत होती हो। (विम्बल्डन वाला मामला)

(७) संधि को सम्पूर्णतः पढा जाना चाहिये तथा इसका अर्थ केवल उसके किसी विशिष्ट वाक्यखड पर ही निश्चित नही करना चाहिये यदि उस वाक्य खड का, सन्दर्भ से अलग किये जाने पर, एक से अधिक अर्थ निकलते हो।

(८) जब सधि मे किसी अनुच्छेद का उद्देश्य साम्या (equity) का हो तो उसकी बहुत रूक्ष प्रकार से व्याख्या नही करनी चाहिये।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे जब पक्षकारो के आशय के सम्बन्ध मे सन्देह है तो ऐतिहासिक व्याख्या की रीति प्रयोग करने की अनुमति है। इसके अनुसार पक्षकारो के आशय को ज्ञात करने के लिये तथा सधि के वास्तविक शर्तों को ज्ञात करने के लिये जिनके अनुसार उन्होने अपने आशय को प्रकट करने का प्रयत्न किया है बातचीत के इतिहास का परीक्षण किया जाता है अथवा प्रारम्भिक कार्य का निर्देश किया जाता है।

(१०) ऐसी व्याख्या जिससे सधि के अनुबन्ध निरर्थक अथवा प्रभावहीन हो जाँय, अगीकार करने योग्य नही हैं।

(११) सधि की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिये जिससे वह प्रयोजन आगे बढे जिसके लिये यह की गई हो।

(१२) सधियो की व्याख्या इस प्रकार की जानी चाहिये जिससे ... हो तथा उनका प्रयोग सद्-भावना से हो सके।

(१३) राजनैतिक तथा आर्थिक बातो का विचार जिनके अनुसार ... प्रारम्भ मे की गई थी सधि की व्याख्या करने के समय किया जा सकता है।

अध्याय २३

मैत्री और व्यापारिक सन्धियां

(Alliances and Commercial Treaties)

मैत्रियाँ (Alliances) :—लीग आफ नेशन्स के कावनेन्ट के अनुच्छेद ... के अनुसार मैत्रियाँ जो कावनेन्ट के अनुच्छेदों के विपरीत थीं, स्वीकार ... गईं। संयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर मे क्षेत्रीय व्यवस्थाओं तथा ... अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की रक्षा करें, की स्थिति को ... नहीं किया ...

है। शर्त यही है कि ऐसी व्यवस्था या ऐसे अभिकरण अपने कार्यों के सम्पादन में संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सिद्धान्तो का उल्लंघन न करें। [अनुच्छेद ५२(१)]

संघ कारण (Casus Foederis) :—ओपेनहेम का कथन है कि संघ कारण वह घटना है जिसके घटित हो जाने पर यह एक परम आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि सम्मिलित इकाइयाँ एक दूसरे की सहायता करने के लिये कटिबद्ध हो गयी हैं। इस प्रकार किसी सुरक्षात्मक मैत्री मे सघ कारण तब उपस्थित होता है जब कि मित्र राष्ट्रो मे से किसी एक पर युद्ध की घोषणा कर दी जाती है अथवा युद्ध छेड़ दिया जाता है।

गारन्टी सन्धियाँ (Guarantee Treaties) :—प्रतिभूति या गारन्टी सन्धियाँ दो राज्यो के पारस्परिक अथवा एकपक्षीय समझौते को कहते हैं जब कि पक्षकारो मे से कोई एक दूसरे पक्षकार के हित मे कोई कार्य करने को वचनबद्ध होता है। यह गारन्टी सामूहिक भी हो सकती है जैसा कि लक्समबर्ग की तटस्थता के सम्बन्ध मे हुआ था।

व्यापारिक सन्धियाँ (Commercial Treaties) :—व्यापारिक सन्धियो का सम्बन्ध सविदाकार राज्यो के व्यापार और नौचालन से होता है। उनके अन्तर्गत वाणिज्य दूत तथा अन्य सम्बन्धित प्रसङ्ग आते हैं। पूर्ण प्रभुतासम्पन्न राज्य किसी भी व्यापारिक सन्धि मे प्रविष्ट होने के लिए पूरी तरह से सक्षम हैं।

परम-मित्र-राष्ट्र धारा (Most-favoured-nation Clause) :—अधिकांश व्यापारिक सन्धियाँ "परम-मित्र-राष्ट्र धारा" पर आधारित रहती हैं। इस परम-मित्र-राष्ट्र धारा की परिभाषा करते हुये ओपेनहेम ने लिखा है कि वे सभी पक्ष जो कि सविदाकारो ने भूतकाल मे स्वीकार किया है या भविष्य मे स्वीकार करेंगे जो कि किसी तीसरे राज्य के हित मे होगा, वह दूसरे पक्ष को स्वीकृत किया जावेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका मे १६२३ तक इसका एक सीमित अर्थ लिया गया। इस अर्थ के अनुसार प्रतिभूति की शर्तों को पूरा करने पर ही यह स्वीकृत किया जाता था, तात्पर्य यह कि यदि पक्ष बिना किसी शर्त के दिया गया है तो दूसरे पक्षकार को भी बिना किसी शर्त के स्वीकार करना पड़ेगा। ओपेनहेम इस शर्तयुक्त पक्ष को इस कारण से न्याय उचित नही मानते कि इसमे अनेक आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं। पहली आपत्ति तो यह है कि यह कहना ही कठिन है कि समान अथवा बराबर मूल्य का प्रतिकर किस प्रकार स्थिर किया जाय। दूसरी आपत्ति यह है कि उन देशो के लिए यह ठीक न होगा जिनके ऊपर बहुत कम कर्तव्य आरोपित किये गये हैं और वे जिनके ऊपर बहुत से कर्त्तव्यो का आभार सौंपा गया है। १६१६ के अमेरिकन टैरिफ कमीशन की सिफारिश तथा १६२२ के टैरिफ ऐक्ट के आधार पर

संयुक्त राज्य अमेरिका अन्य देशों के समतुल्य आ गया है कि वह परम मित्र-राष्ट्र व्यवहार के सिद्धान्त को बिना किसी शर्त के निर्गमित करे।

कामनवेल्थ सदस्यो के बीच टैरिफ की जो प्रथा प्रचलित है वह परम-मित्र राष्ट्रधारा मे सम्मिलित नही की गयी है क्योंकि उनका पारस्परिक सम्बन्ध एक विशेष प्रकार का है जो कि ऐसे सम्बन्धो का अन्तर्राष्ट्रीय न मानकर घरेलू मानता है।

अध्याय २४

अन्तर्राष्ट्रीय दुष्कृतियाँ और क्षतियाँ

(International Torts and Damages)

अन्तर्राष्ट्रीय दुष्कृतियों के प्रकार :— अन्तर्राष्ट्रीय दुष्कृति या तो एक राज्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप मे दूसरे राज्य का अपकार करने से उत्पन्न होती है या दूसरे राष्ट्र के राष्ट्रीय जनो के प्रति कुछ अपकार करने से होती है। दोनो मामलों मे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व की उपस्थिति बनी रहती है। दो शर्तें अवश्य ही विद्यमान रहती हैं जब कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत किसी राज्य के राष्ट्रीय जनों को क्षति पहुँचती है। पहला दावे की राष्ट्रीयता (nationality of the claim) और दूसरा स्थानीय उपचारो की परिसमाप्ति (exhaustion of local remedies)।

दावे की राष्ट्रीयता :— राजनयिक कार्यों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायिक प्रक्रिया की शरण लेने का अधिकार अपने ही राष्ट्रीय जनो की मध्यस्थता मे विद्यमान रहता है। इसका उद्देश्य अपने राष्ट्रीय जनो मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रति सम्मान उपस्थित करना होता है क्योंकि राज्य और व्यक्ति के बीच में राष्ट्रीयता का प्रतिबन्ध यह है जिसके एकमात्र कारण से राज्य को राजनयिक सुरक्षा का अधिकार मिलता है (Panevezys Saldutisks Railway, 1939)।

स्थानीय उपचारों की परिसमाप्ति :— उपरोक्त प्रकार के दावे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के सम्बन्ध मे 'यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि का बहुत ही महत्वपूर्ण नियम है कि दुष्कृतियो के सम्बन्ध मे स्थानीय उपचारो का परिसमापन कर लिया जाय जिससे राज्य अपने राष्ट्रीय जनो की ओर से दूसरे राज्य के विरुद्ध दुष्कृतियों का दावा कर सके। यह केवल प्रक्रिया का नियम नही है और न तो यह सामान्य आचरण का ही नियम है। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय मौलिक विधि का नियम है जिसे हम राज्य का राज्य से दायित्व (State to State responsibility) कहते

हैं। यदि एक व्यक्ति को अपने प्रति की गई दुष्कृतियों का बदला मिल जाता है तो फिर अब राज्य का अधिकार नहीं रह जाता कि अपने राष्ट्रीय जनों की ओर से दूसरे राज्य के विरुद्ध दावा कर सके। जब तक कि उपचार की स्थानीय प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती तब तक अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व नहीं उत्पन्न हो सकता।

सामूहिक कार्यों का दायित्व (Liability for mob action).—यह निर्धारण करने में एक कठिनाई उत्पन्न होती है कि एक विदेशी व्यक्ति की क्षतियों के लिए कोई राज्य उत्तरदायी है अथवा नहीं, खासतौर से यदि यह क्षति सामूहिक हिंसात्मक कार्यवाहियों का रूप ले लेती है। अगर सामूहिक हिंसा की कार्यवाही सिद्ध हो जाती है तो राज्य का कोई दायित्व नहीं रह जाता किन्तु दूसरी ओर यदि यह सिद्ध हो जाता है कि यह क्षति राज्य के प्राधिकारियों की उपेक्षा या उदासीनता के परिणामस्वरूप हुई है और एक विदेशी की सम्पत्ति अरक्षित हुई है तो निश्चय ही इस सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्य का दायित्व माना जायेगा।

हारवर्ड रिसर्च (Harvard Research) ने यह एक सिद्धान्त निर्धारित किया था कि यदि किसी विदेशी को किसी व्यक्ति या सामूहिक हिंसा द्वारा क्षति पहुँचती है तो इसके लिए सम्बन्धित राज्य पर दायित्व होगा, किन्तु शर्त यह कि वह राज्य उस हिंसात्मक कार्यवाही को रोकने में उदासीन रहा हो। कुछ व्यक्तियों या किसी समूह द्वारा एक विदेशी पर क्षति पहुँचाये जाने के आधार पर राज्य का जो दायित्व आ जाता है, सिद्धान्त रूप में उस नियम से भिन्न नहीं कहा जा सकता कि किसी एक व्यक्ति द्वारा किए गये कार्यों के दायित्व का नियन्त्रण राज्य ही किया करता है किन्तु यदि उस क्षति में किसी बहुत बड़े समूह का हाथ है तो क्षतियों को रोकने की जिम्मेदारी और बढ़ जाती है। विदेशियों के सम्बन्ध में राज्य के दायित्व के सिद्धान्त का निरूपण रिचार्ड ओलेनी (Richard Olney) जो अमेरिका के सेक्रेटरी आफ स्टेट थे, ने निम्नलिखित शब्दों में किया है: "The general position is that the responsibility of an established government for acts committed by rioters or insurgents depends upon the failure of the constituted authorities to exercise due diligence for protection of alien property when in a position to protect it and the imminence of danger is known." अर्थात् "साधारण स्थिति यह है कि लुटेरों द्वारा कारित किये गये कार्यों के प्रति किसी प्रस्थापित सरकार का उत्तरदायित्व संविधायिक प्राधिकारियों की उस असफलता पर निर्भर करता है कि वे विदेशी संपत्ति के संरक्षण में उस समय पूरी सतर्कता न कर सके, जब कि ऐसे खतरे का आभास हुआ कि उस संपत्ति का संरक्षण आवश्यक है।"

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें

अध्याय २५

१. लीग आफ नेशन्स

(The League of Nations)

इसकी उत्पत्ति —लीग की स्थापना वर्साई की सन्धि के अन्तर्गत जो मित्र तथा सयुक्त राज्यो और जर्मनी के मध्य हुई जून २८ सन् १६१६ को हुई। शान्ति सम्मेलन में कई मसौदों पर विचार किया गया और प्रतिज्ञा पत्र सम्मेलन द्वारा अप्रैल २८ सन् १६१६ को अंगीकृत किया गया। इसके अनुसार लीग एक २६ अनुच्छेद वाले प्रतिज्ञा पत्र के अधीन सन् १६२० में स्थापित की गई। यह प्रतिज्ञा-पत्र वर्साई की शान्ति सन्धि तथा अन्य शान्ति सन्धियों का प्रथम भाग था। लीग की स्थापना किया जाना प्रेसीडेन्ट विल्सन के १४ विषयों (points) में से एक था किन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस ने वर्साई सन्धि का अनुसमर्थन अस्वीकार कर दिया जिसके कारण अमेरिका को लीग के बाहर रहना पड़ा।

सदस्य —लीग के सदस्य शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर करने वाले मित्र राष्ट्र थे जिन्होंने बाद में अपनी सन्धियों का अनुसमर्थन किया—उदाहरणार्थ ब्रिटिश साम्राज्य, इटली, जापान, चीन, इत्यादि, तटस्थ राज्य जिन्होंने आरम्भ में ही लीग के प्रतिज्ञा पत्र को स्वीकृत कर लिया था अर्थात् स्विटजरलैंड, नौर्वे, फारस, इत्यादि तथा वे राज्य जो प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १ के अनुबन्धों के अधीन सदस्य बनाये गये थे।

उद्देश्य —लीग के मुख्य उद्देश्य दो थे अर्थात् (१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखना, तथा (२) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उन्नति जैसा कि प्रतिज्ञापत्र की निम्नलिखित प्रस्तावना से प्रकट है।

'उच्च संविदाकार पक्षकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उन्नति के निमित्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा प्राप्त करने के लिये, युद्ध से विमुख रहने के कर्त्तव्यों को मान कर, राज्य के बीच में सर्वसामान्य न्याय तथा सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की व्यवस्था करके सरकारों के मध्य पारस्परिक व्यवहार के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधि का समुचित ज्ञान के अनुसार आचरण ही को वास्तविक नियम मानकर तथा संगठित लोगों के पारस्परिक व्यवहार में न्याय तथा सजग सम्मान को स्थापन करके लीग आफ नेशन्स के इस प्रतिज्ञा-पत्र से सहमत होते हैं।"

संविधान —लीग एक सभा, एक संसद तथा एक स्थायी सचिवालय मिलकर बनी थी।

सभा (The Assembly) .—लीग की सभा की बैठक प्रतिवर्ष जेनेवा मे होती थी। प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ३ मे यह व्यवस्था की गई थी कि लीग का प्रत्येक सदस्य सभा मे तीन प्रतिनिधि भेज सकता था किन्तु सदस्यो मे से प्रत्येक को केवल एक ही वोट का अधिकार था। सभा का अधिवेशन जनता के समक्ष होता था तथा इसके निर्णय एकमत से होने चाहिये थे यदि प्रतिज्ञा-पत्र मे अन्यथा उपबन्धित न हो तो। सभा अपने अधिवेशनो मे किसी विषय पर विचार कर सकती थी जो लीग के क्षेत्र के भीतर आता हो अथवा जिससे विश्व-शान्ति पर प्रभाव पड़ता हो (अनुच्छेद ३), परन्तु ऐसे भी विषय थे जो केवल परिषद् के विचार के लिये ही अलग रखे हुए थे और वे सभा द्वारा अपने अधिवेशनो मे नही लिये जा सकते थे। प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ५ के अनुसार सभा के किसी अधिवेशन मे किये गये निर्णयो के लिये सभा मे उपस्थित लीग के सब सदस्यों की स्वीकृति अपेक्षित थी। इसके अपवाद प्रक्रिया के विषय थे जिनका सम्बन्ध म निर्णय सभा मे उपस्थित लीग के सदस्यो के बहुमत से किये जा सकते थे।

परिषद् (Council) :—यह लीग की कार्यकारिणी समिति थी। प्रारम्भ मे लीग की कौंसिल पाँच मुख्य मित्र तथा सम्बन्धित शक्तियो जिनके स्थायी स्थान थे तथा चार अन्य राज्यो के प्रतिनिधियो तक ही सीमित थी जो सभा द्वारा निर्वाचित होते थे, किन्तु सयुक्त राज्य की कांग्रेस ने वर्साई की सधि को सन् १६२० मे अनुसमर्थन करने तथा लीग मे सम्मिलित होने से अस्वीकार कर दिया। सभा के बहुमत की स्वीकृति से कौंसिल लीग के लिये और अधिक सदस्यो का नाम प्रस्तावित कर सकती थी जिनके प्रतिनिधि सभा के सदस्य होते थे। लीग के सदस्य का तदर्थ (ad hoc) प्रतिनिधित्व भी होता था जब उसके हित विचाराधीन होते थे किन्तु अनुबन्धन यह था कि उसका कौंसिल मे नियमित प्रतिनिधित्व न हो। सन् १६२६ मे कौंसिल का सगठन जर्मनी को लीग मे प्रवेश करने तथा कौंसिल मे एक स्थायी स्थान दिये जाने के कारण बदल दिया गया और अन्त मे कौंसिल मे भी ११ अस्थायी सदस्य हो गये जिनमे से तीन प्रत्येक वर्ष तीन वर्षों के लिये निर्वाचित होते थे।

परिषद भी लीग के कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत के अथवा विश्व शान्ति पर प्रभाव डालने वाले किसी विषय पर भी विचार कर सकती थी, लेकिन इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे विषय थे जो केवल इसी के प्रसज्ञान मे थे यथा सेक्रेटरी-जनरल द्वारा की गई कर्मचारी गणो की नियुक्ति का पुष्टिकरण, नि शस्त्रीकरण की योजनाओ का बनाना, प्रतिज्ञा-पत्र की शर्तों का उल्लघन करने के कारण किसी सदस्य का निकालना, आदेशित प्रदेशों से व्यवहार तथा उनका निरीक्षण, इत्यादि। इसके

निर्णय सामान्यतः उन विषयों को छोड़ कर जो प्रक्रिया सम्बन्धी होते थे अथवा जिनमें अन्यथा उपबन्धित होता था एकमत से होने चाहिए थे। सामान्यतः परिषद् का अधिवेशन वर्ष में तीन बार होता था।

सचिवालय (The Secretariat) :—सचिवालय के सर्वोच्च पद पर सेक्रेटरी जनरल होता था जो संसद की स्वीकृति पर अन्य सचिवों तथा कर्मचारी गणों को नियुक्त करता था। सचिवालय एक स्थायी संस्था थी जो जेनेवा में स्थापित की गई थी। सचिवालय का व्यय लीग के बजट से होता था जिसका भार लीग के सदस्य सभा द्वारा निर्णीत अनुपात में वहन करते थे। सचिवालय परिषद् तथा सभा का कार्यक्रम बनाता था तथा अधिवेशनों का विवरण रखता था और प्रशासकीय कार्य का प्रारूप रखता था। सचिवालय भिन्न-भिन्न खंडों में विभाजित था और प्रत्येक खंड उसको दिये गये विशेष कार्य को करता था।

लीग के प्रतिज्ञा-पत्र में परिषद् को सैनिक, नाविक तथा वायु सम्बन्धी प्रश्नों पर सामान्यतः सम्मति देने के लिये तथा निःशस्त्रीकरण की योजनाओं के निष्पादन के लिये, स्थायी आदेशित प्रदेश सम्बन्धी आयोग, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ के स्थापन के लिये एक स्थायी आयोग की व्यवस्था की गई थी।

विश्व-शान्ति का पोषण (The Maintenance of World Peace)—लीग का मुख्य उद्देश्य झगड़ों के शान्तिपूर्वक समझौता द्वारा युद्ध का निराकरण था तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रतिज्ञा-पत्र में अनेक व्यवस्थायें की गई। प्रतिज्ञा पत्र के अनुच्छेद ८ में यह स्वीकृत किया गया कि शान्ति-स्थापना हेतु यह अपेक्षित है कि राज्य की सुरक्षा तथा अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के पालन के लिये सामान्य कार्य-शैली के अनुरूप राज्य का शस्त्रीकरण जितना कम हो सके उतना कर दिया जाय और इस प्रयोजन के लिये इसके द्वारा परिषद् से यह अपेक्षित था कि वह भिन्न-भिन्न सरकारों के विचारार्थ तथा कार्य-शैली के लिये ऐसे प्रभाव के निमित्त योजनायें बनाये। अनुच्छेद १० के अधीन लीग के सदस्यों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे लीग के सब सदस्यों की क्षेत्रीय अखंडता तथा वर्तमान राजनैतिक स्वतन्त्रता का बाह्य आक्रमण के विरुद्ध सम्मान करेंगे तथा उसे बनाये रखेंगे। इस अनुच्छेद द्वारा वर्साई की संधि के फलस्वरूप सुलह के उपरान्त किये गये क्षेत्रीय प्रबन्ध को बाह्य आक्रमण के विरुद्ध बनाये रखने की प्रतिभूति थी। प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद ११ से १७ में झगड़े का शान्तिपूर्वक समझौता करने की योजना थी। अनुच्छेद १२ में सदस्यों को यह आज्ञा दी गई थी कि किसी झगड़े को तय करने के लिये बल प्रयोग न करें वरन् उसे या तो पंचायत के अथवा न्यायिक निर्णयार्थ अथवा इसके

द्वारा जाँच के लिये प्रत्यर्पित करें। यदि लीग अथवा विवाचक झगड़े के सौंपे जाने के उपरान्त छः मास के भीतर एकमत से निर्णय पर न पहुँच सकें तो वे राज्य जिनके आपस में झगड़ा था, पंचायती फैसले अथवा न्यायिक निर्णय अथवा परिषद् की रिपोर्ट के उपरान्त तीन मास तक युद्ध नहीं कर सकते थे। अनुच्छेद १४ द्वारा सभा अथवा परिषद् को यह अधिकार दिया गया था कि वे किसी झगड़े अथवा प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय को सम्मति के लिये निर्देशित करें। अनुच्छेद १६ में यह व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई लीग का सदस्य पंचायत, न्यायिक निर्णय अथवा परिषद् द्वारा जाँच सम्बन्धी अपनी प्रतिज्ञा को उल्लंघन करके युद्ध करे तो यह समझा जायगा कि उसने स्वतः लीग के सब सदस्यों के विरुद्ध युद्ध का कार्य किया है और वे तदुपरान्त तत्काल ही प्रतिज्ञा भंग करने वाले राज्य से सब व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्ध तोड़ देंगे तथा अपने तथा उसके राष्ट्रीय जनों के बीच सब आवागमन निषिद्ध कर देंगे। अनुच्छेद १७ में लीग के किसी सदस्य तथा बाहरी जनों के बीच झगड़े को तय करने की भी व्यवस्था की गई थी। उस दशा में बाहरी राज्य के नाम एक निदेश जारी किया जाता था कि वह ऐसे झगड़े के प्रयोजन के लिये उसकी सदस्यता के कर्तव्यों को स्वीकृत करे, किन्तु यदि उसने लीग के किसी सदस्य के लिये युद्ध करके उसे स्वीकृत करने से इन्कार किया तो अनुच्छेद १६ के अनुबन्ध ऐसे कार्य करने वाले राज्य के विरुद्ध लागू कर दिये जाते थे।

प्रत्याहरण (Withdrawal) :—लीग के सदस्य को दो वर्ष की नोटिस देकर अलग हो जाने का अधिकार था। वह प्रतिज्ञा को उल्लंघन करने के लिये, संसद के निर्णय से जिससे अन्य सदस्यों के प्रतिनिधि सहमत हो जायँ, निकाला जा सकता था। इसी प्रकार कोई सदस्य अपनी सदस्यता को, प्रतिज्ञा-पत्र के किसी संशोधन से, यदि वह संशोधन संसद तथा सदस्यों के बहुमत से अनुसमर्थित कर दिया गया हो तो सहमत होने से सदस्यता समाप्त कर सकता था।

लीग की स्थिति (Position of League) :—लीग आफ़ नेशन्स कोई वरिष्ठ राज्य नहीं था तथा उसमें कोई सर्वव्यापी वैधानिक शक्ति नहीं थी। अपने निर्णयों को प्रवृत्त करने के लिये यह पूर्णतः अपने सदस्य राज्यों की सद्भावना पर आश्रित था। लीग के सम्पूर्ण ढाँचे की जड़ ही सदस्यों की सम्मति पर थी। लीग के प्रतिज्ञा-पत्र में दी गई व्यवस्थायें सदस्यों की स्वतन्त्रता को पूर्णतः संरक्षित करती थीं क्योंकि बहुत से प्रमुख विषयों में उनमें परिषद् अथवा सभा का एकमत से निर्णय अपेक्षित था। उनमें लीग के सदस्यों को कुछ विशेष अवस्थाओं के उदपन्न होने पर लीग से अलग हो जाने की अनुमति थी।

लीग राज्यो की एक सभा थी जिसके द्वारा वे कुछ विषयो मे अन्तर सहयोग की उन्नति तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा प्राप्त करने के लिये करने की स्वतन्त्रता को पारस्परिक रूप से सीमित कर देते थे। वह निश्चि स न तो संघ था और न प्रसंघ, क्योकि प्रत्येक सदस्य अपने बाह्य व्याप नियमित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता रखता था और लीग अपने सदस्य राज्य जो कुछ उन्होने लीग को इच्छापूर्वक तथा सहमति से आत्मसमर्पण किया था, अतिरिक्त और कोई नियन्त्रण का प्रयोग नही कर सकती थी। किन्तु इसके लीग के निर्णय केवल सम्तुति की प्रकृति के होते थे, और अधिकाश मे सदस्य के निर्णयो के एकमत होने की अपेक्षा करते थे। इसको राज्य भी नहीं कहा सकता था। इसमे राज्य के लक्षणो का अभाव था क्योंकि यद्यपि यह स्थायी से सगठित सभा थी तथापि इसका कब्जा एक विशिष्ट क्षेत्र पर, जिसके ऊपर इ सर्वोच्च प्राधिकार हो, नही था। लीग का प्रतिज्ञा-पत्र इस समय तक प्रभुत्व राज्यों के कुटुम्ब को एक लिखित सविधान द्वारा सगठित करने का एक प्रयत्न था, तथा लीग सगठित राज्यो के एक कुटुम्ब के अतिरिक्त और कुछ नही थी।

लीग की असफलता के कारण (Causes of the Failure of the League) :— महायुद्ध का अन्त सन् १९१९ मे जर्मनी के साथ शान्ति की शर्ते स्थापित करके हुआ जो वर्साई की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है जिसके सबसे प्रथम भाग पर लीग आफ नेशन्स का प्रतिज्ञा-पत्र था। प्रतिज्ञा-पत्र बाद मे चीन, रूस, पराजित जर्मनी तथा उसके मित्रो को छोडकर विश्व की प्रत्येक शक्ति द्वारा स्वीकृत किया गया। प्रेसीडेंट विल्सन ने वर्साई की सन्धि पर जिसमे लीग आफ नेशन्स का प्रतिज्ञा-पत्र सम्मिलित था, हस्ताक्षर किये थे जिसके द्वारा सयुक्त राज्य अमेरिका लीग का संस्थापक सदस्य बन गया। तथापि सयुक्त राज्य के सेनेट ने प्रवेश का अनुसमर्थन रोक देने का निश्चय किया और सयुक्त राज्य अमेरिका को लीग के बाहर प्रत्यक्ष रूप मे इसीलिये रक्खा क्योकि काग्रेस यूरोप के क्षेत्रीय स्थिति (व्यवस्था) में सहयोग होने अथवा उसकी प्रतिभूति करने के लिये उद्यत न थी।

सन् १९१४-१८ के विश्वयुद्ध के विजेताओ तथा पराजितो मे बड़ा भारी मतभेद था और पराजित जर्मनी पर दु सह शर्तों को आरोपित किये जाने के कारण किसी विश्व-संघ को सफलतापूर्वक कार्य करने का अवसर बहुत ही कम हो गया। अत. लीग आफ नेशन्स की स्थापना आगे आने वाले कष्टो के निवारणार्थ केवल एक उपाय थी। लीग के आरम्भ से ही इसके सदस्य इस बात से सतर्क रहे कि कोई खड न भरा जाय जिससे उसकी वैयक्तिक सार्वभौमिकता मे विघ्न पडे। इसका अवश्यभावी परिणाम यह हुआ कि लीग अपने इतिहास के आरम्भ में ही, इस

इसके सगठित होने के सकटपूर्ण वर्षों में ही सयुक्त राज्य अमेरिका के अलग हो जाने से तथा रूस और प्रथम विश्वयुद्ध के मित्र राष्ट्रो के शत्रुओ के प्रवेश न किये जाने से लँगडी हो गई।

लीग वर्साई सन्धि की अग थी और उसकी पूर्ति के साथ बधी हुई थी। प्रारम्भ मे जितने शक्तिशाली राज्य लीग मे सम्मिलित हुये थे, उन्हे वर्तमान सधियों तथा क्षेत्रीय व्यवस्थाओ के लिये किसी वस्तु की आवश्यकता थी। लीग का प्रत्येक सदस्य विजेता राज्यो द्वारा पेरिस म बनाये गये मानचित्र मे दिये हुये प्रत्येक दूसरे सदस्य क प्रादेशिक ऐक्य तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति करने की पूर्ण प्रतिज्ञा किये हुए था।

लीग आफ नेशन्स का नि शस्त्रीकरण सम्मेलन अपने उद्देश्य मे असफल रहा। जर्मनी ने वर्साई की सन्धि के सेना सम्बन्धी खडो को अस्वीकृत करके अपने शस्त्रीकरण तथा सैनिक शक्ति को बढाना प्रारम्भ किया। लीग का पवित्र प्रस्ताव जिसके द्वारा यह उद्घोषित किया गया कि जर्मनी ने वर्साई की सधि को भग किया है, किसी प्रयोजन का न रहा।

जब जर्मनी लीग मे सन् १९२५ मे सम्मिलित हुआ तो लीग क सम्बन्ध मे लोगो की यह आशा बढ गई थी कि यह सफलतापूर्वक कार्य करेगी किन्तु सन् १९३३ मे हिटलर के अधिनायक-तन्त्र शासन की स्थापना के उपरान्त जर्मनी ने लीग को पुनः त्याग दिया। सन् १९३१ में लोग मचूरिया मे चीन के विरुद्ध जापानी आक्रमण को रोकने मे असफल रही। इसमे सन्देह नही कि लीग ने जापान द्वारा प्रतिज्ञा पत्र के कर्तव्यो का उल्लघन किये जाने की तीव्र निंदा की लेकिन इससे जापान लीग से हट गया और लीग मौन रही। सन् १९३४ मे रूस लीग मे सम्मिलित हुआ तथा लीग की गति कुछ तीव्र हुई, किन्तु यह शक्ति की प्राप्ति केवल क्षणिक थी। सन् १९३५ में इटली ने ऐबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया तथा उसी वर्ष सितम्बर मे ऐबीसीनिया ने प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १० के अन्तर्गत लीग से अपील की। इस अनुच्छेद के अन्तगत सदस्यो को लीग के सब सदस्यो की क्षेत्रीय अखडता तथा वर्तमान राजनैतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करने तथा उनको बाह्य आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करने को बाध्य किया गया था। जब लीग ने इटली के विरुद्ध आर्थिक तथा द्रव्य सम्बन्धी रोक आज्ञाये लगाना चाहा तो इसको पता लगा कि इसके हाथ बँधे हुए थे क्योकि भिन्न-भिन्न सदस्य जो इसके अवयव थे अपने-अपने कर्तव्यो का पालन नही कर रहे थे, और तब आक्रमणकारी को शान्ति के लिये बाध्य करने का लीग का कार्य असफल रहा। इटली लीग से अलग हो गया और ऐबीसीनिया को जीतन से नही रोका जा सका, क्योकि लीग ने अपनी रोक-अनुशास्तियो (sanctions) को कवल व्यापार तक

ही सीमित रक्खा और सैनिक रोक अनुशास्तियो को देने के लिये आगे न बढ सकी। जर्मनी ने सन् १९३६ मे राइनलैंड पर पुनः कब्जा कर लिया। जर्मनी द्वारा १९३८ मे ऑस्ट्रिया के, तथा म्यूनिच की सन्तुष्टीकरण नीति के होने पर भी १९३९ में चेकोस्लोवाकिया के सयोजन के विरुद्ध लीग आवाज नही उठा सकी। जब रूस ने फिनलैंड पर आक्रमण किया तो लीग असहाय अवस्था मे खडी रही तथा इसने अपनी प्रभावरहित अप्रसन्नता तथा नैराश्य सोवियत सरकार को निकाल कर दिखलाई। ऐसा प्रतीत होता है कि यह लीग का अन्तिम कार्य था। विश्व भर के असंख्य लोगो के लिये शान्ति प्राप्त करने मे लीग की इस। नैराश्यपूर्ण असफलता का यह परिणाम हुआ कि शक्ति का संतुलन स्थापन करने के लिये लीग पर विश्वास करने के स्थान पर राज्य गठबन्धनो, सधियो तथा गुटो की पुरानी रीति पर वापस चले गये।

लीग की असफलता के अन्य कारण भी ध्यान देने योग्य है। लीग में इन महत्वपूर्ण निर्णयो मे एकमत का होना अपेक्षित था। सभा तथा परिषद के बीच के क्षेत्रो की कोई स्पष्ट सीमा नियत नही थी। परिषद को केवल अभिस्ताव करने की (सिफारिशी) शक्तियाँ थी तथा यह अपने निर्णयो को सैनिक अनुशास्ति लगाकर लागू नही कर सकती थी। लीग एक सर्वोच्च सार्वभौमिक राज्य नही था तथा सामूहिक उपायो का, जो किसी विश्वसंघ के सफलतापूर्वक कार्य करने के लिये आवश्यक अग है, अवलम्बन नही कर सकता था। लीग राज्यो की एक सभा थी तथा विश्व के लोगो की आवश्यकताओ का अधिक ध्यान नही रखती थी। राज्यो को भार है सामान्यतः सामान्य हितो के लिये अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यो का भार अपने ऊपर लेने की अनिच्छा थी। नि.शस्त्रीकरण पर बारम्बार असहमति होने के कारण उसमें उन्नति अवरुद्ध रही। वर्साई की सन्धि पर विजित राज्यों के साथ जो अन्याय किया गया वह उनके मस्तिष्क मे अभी ताजा था क्योंकि सन्धि के अनुबन्ध अपनी प्रकृति मे कही अधिक कठोर थे और लीग में सन्धि के पुनरीक्षण की व्यवस्था सदस्य के एकमत निर्णय को छोडकर अन्यथा कोई नही की थी। कोई सदस्य परिषद या सभा के सदस्यो के बहुमत द्वारा अनुसमर्थित सशोधन से सहमत होने से अस्वीकार करने पर निकाला जा सकता था अथवा अपनी सदस्यता समाप्त कर सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि हठी सदस्य लीग के निर्णयो के अनुसार चलने को बाध्य नही किया जा सकता था। फिर अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के न्याय निर्णय अनिवार्य नही बनाये गये तथा सदस्य राज्यो को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन करने दिया गया अथवा उनको आत्महानि के बिना विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा को संकट मे डालने दिया गया। किसी बड़ी शक्ति द्वारा किये गये उल्ल

के साथ प्रभावोत्पादक रीति से व्यवहार करने की कोई व्यवस्था नहीं थी। इससे अधिक लीग या किसी राज्य द्वारा युद्ध के नियमों का उल्लंघन किए जाने की दशा में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। दोनों युद्धकारियों द्वारा युद्ध के नियमों का कठोरता से पालन प्रवृत्त कराने के लिये अपराध दडनीय बना दिया जाना चाहिये थे।

अन्त में यह कहा गया है कि लीग आफ नेशन्स इसलिये असफल रही कि इसके दाँत नहीं थे। यह बात जहाँ तक इसका सम्बन्ध है, सत्य है। लीग की असफलता का मुख्य कारण यह था कि इसके सदस्य उन सिद्धान्तों को जिसके लिये यह खड़ी थी पालन नहीं करते थे। वे उन बातों को पूर्ण नहीं करते थे जिनके लिये वे वचनबद्ध थे।

अध्याय २९

२. संयुक्त राष्ट्र संघ

(United Nations Organization)

इसकी उत्पत्ति (Its Genesis)—सन् १९३८ तक लीग आफ नेशन्स एक निष्क्रिय संस्था के रूप में रह गई थी। जापान, इटली तथा जर्मनी के हठ के कारण जो बाधाएँ इसके समक्ष उपस्थित हुईं वे अलंघ्य प्रमाणित हुईं। इसका कारण यह था कि बड़ी बड़ी शक्तियाँ उन विषयों में ढीला-ढाला दृष्टिकोण रखती थीं, जो उनको प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं करते थे। ये बड़ी-बड़ी शक्तियाँ का सन्तुलन स्थापना करने के निमित्त गठबन्धनों, सन्धियों तथा गुटों की नीति को अपना रही थीं। सन् १९३९ में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हुआ। ज्यों-ज्यों युद्ध का रोमांचकारी भय तथा क्रूर विनाश भीषण होता गया त्यों त्यों शान्ति स्थापना करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की उन्नति के लिये राज्यों के एक सामान्य संघ की स्थापना करने के विचार का महत्व बढ़ता गया। इस विषय में अवश्य कुछ सदेह था कि क्या लीग आफ नेशन्स को पुनर्जीवित किया जाय किन्तु इस सर्वसामान्य सम्मति के कारण कि एक नया विश्वसंघ होना चाहिये जो विश्व के असंख्य प्राणियों में अटल शान्ति की आशा का संचार कर सके तथा उनमें विश्वास उत्पन्न कर सके, यह विचार त्याग दिया गया। संक्षेप में वह क्रम निम्नलिखित है जिसके अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ बना।

१. लन्दन की घोषणा (London Declaration) :—लन्दन की घोषणा जून १२ सन् १९४१ को सेंट जेम्स पैलेस मे ब्रितानिया, कैनेडा, ग्रौस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका तथा बहुत सी निर्वासित सरकारो के प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षरित की गई। प्रलेख ने पृथक शान्ति के विरुद्ध घोषणा की ग्रौर कहा कि उनका विचार परस्पर तथा अन्य स्वतत्र लोगो के साथ शान्ति के समय तथा युद्ध में सयुक्त रूप से कार्य करने का है।

२. अटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter) :—अगस्त सन् १९४१ में प्रेसीडेंट रूजवेल्ट तथा मिस्टर चर्चिल एक सम्मेलन मे अटलाटिक महासागर मे प्रिंस आफ वेल्स नामक जहाज मे मिले। उन्होने १४ अगस्त सन् १९४१ को एक चार्टर पर हस्ताक्षर किया जो अटलाटिक चार्टर के नाम से प्रसिद्ध है। इसके द्वारा बल प्रयोग की तथा क्षेत्रो को हड़प जाने की निंदा की गई तथा आक्रमण से सुरक्षा का प्रश्न सामने रक्खा गया ग्रौर लोगो को अपनी स्वेच्छा से शासन व्यवस्था चुनने की स्वतन्त्रता दी गयी।

३. संयुक्त राष्ट्र संघ की घोषणा(United Nations Declaration)—इसके उपरान्त सयुक्त राष्ट्र सघ की घोषणा आती है जिस पर २६ राज्यो के प्रतिनिधियो द्वारा जनवरी १ सन् १९४२ को वाशिंगटन में हस्ताक्षर किया गया। इस घोषणा मे अटलाटिक चार्टर के सिद्धान्तो का समर्थन किया गया ग्रौर प्रत्येक राज्य ने शपथ ली कि वह अपने सम्पूर्ण साधनो को शत्रु के विरुद्ध प्रयोग करेगा। प्रत्येक सदस्य-राज्य की सरकार ने प्रत्येक सरकार के साथ सहयोग करने का प्रण लिया ग्रौर वैयक्तिक रूप से शत्रु से शान्ति करने या लोहा लेने से अपने को प्रतिबंधित कर लिया।

४. मास्को तथा तेहरान-सम्मेलन (Moscow and Teheran Conferences) :—१ नवम्बर, सन् १९४१ की मास्को की घोषणा मे ब्रितानिया, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस तथा चीन के परराष्ट्र-मन्त्रियो ने यह स्वीकृत किया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि यथाशीघ्र तत्काल एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित की जाय जो सब शान्तिप्रिय राष्ट्रों की सार्वभौमिक एकता के सिद्धान्तो पर आधारित हो ग्रौर ऐसे सब राज्यों के द्वारा, चाहे वे छोटी हों अथवा बड़ी, सदस्यता के लिये चुनी हुई हो।

दो मास उपरान्त रूजवेल्ट, स्टेलिन तथा चर्चिल ने तेहरान में यह घोषणा की कि उनको इस बात का विश्वास है कि उनका ऐक्य अमर शान्ति लायेगा।

५. डम्बारटन ओक्स सम्मेलन (Dumbarton Oaks Conference) :—अटलाटिक चार्टर तथा मास्को ग्रौर तेहरान की घोषणाओं के सिद्धान्तों को कार्य

में परिणत करने के लिये सितम्बर १९४४ मे वाशिंगटन मे ब्रितानिया, सयुक्त राज्य अमेरिका, रूस तथा चीन के प्रतिनिधियो के बीच एक भवन मे जिसे डबारटन ओक्स कहा जाता है वार्तालाप हुआ। सम्मेलन अक्तूबर ७ सन् १९४४ को समाप्त हुआ जब विश्वसंघ की रूपरेखा के लिये प्रस्ताव प्रकाशित किए गए। यह सयुक्त राष्ट्र सघ को प्रथम सरकारी रूपरेखा (blue print) थी।

डबारटन ओक्स के प्रस्तावो के अनुसार सयुक्त राष्ट्र सघ मे विश्वशान्ति स्थापित करने के लिये प्रमुख सस्था सुरक्षा परिषद् (Security Council) की स्थापना का अभिप्राय था जिसमे पाँच बडी शक्तियाँ (Big Five) अर्थात् चीन, फ्रांस, सयुक्त समाजवादी रूसीय प्रजातन्त्र, ब्रितानिया तथा सयुक्त राज्य अमेरिका का स्थायीरूप से प्रतिनिधित्व था। किन्तु परिषद् मे मत देने की प्रक्रिया प्रस्तावो मे वर्णित नही थी। इसकी विवेचना रूजवेल्ट, चर्चिल तथा स्टेलिन के मध्य मे याल्टा (क्रीमिया) मे हुए सम्मेलन में की गई। ११ फरवरी सन् १९४१ को सम्मेलन ने यह घोषणा की कि यह विषय निश्चित हो गया है। यह भी निश्चय हो गया कि सयुक्त राष्ट्रो को सयुक्त राज्य अमेरिका के सैन फ्रांसिस्को नगर मे अप्रैल २५ सन् १९४५ को एक सम्मेलन मे ऐसे सघ का डबारटन आक्स मे परस्पर हुई वार्तालापो मे प्रस्तावित क्रमानुसार एक चार्टर तैयार करने को बुलाया जाय।

६ सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन (The San Francisco Conference) — अन्त मे ५० राज्यो के प्रतिनिधि सैन फ्रान्सिस्को मे २५ अप्रैल तथा २६ जून सन् १९४५ के बीच मिले। डबारटन ओक्स के प्रस्ताव, याल्टा की सविदा तथा उन पर विभिन्न राज्यों द्वारा सुझाये गए सशोधनो पर विचार करते हुए सम्मेलन ने सयुक्त राष्ट्र सघ का चार्टर तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (Statute) निर्मित किया। चार्टर को सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया तथा सभी प्रतिनिधियो ने उस पर २६ जून सन् १९४५ को हस्ताक्षर किया। सयुक्त राष्ट्र सघ का चार्टर २४ अक्तूबर सन् १९४५ का लागू हुआ जब पाँच मूल सदस्यो ने अर्थात् चीन, फ्रांस, रूस, ब्रितानिया, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अधिकाश में अन्य हस्ताक्षर करने वालो *ने अपने-अपने अनुसमर्थन के प्रलेख प्रस्तुत किए। उस समय से २४ अक्तूबर निरन्तर* "सयुक्त राष्ट्र-दिवस" स्मरणीय दिवस के रूप म मनाया जाता है।

इसके उद्देश्य :—सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्य उसके चार्टर म व्यक्त किये गये हैं। अन्य विवरणो को दृष्टि स हटा देने पर चार्टर की प्रस्तावना निम्नलिखित है :—

"हम सयुक्त राष्ट्र क लोग, अपने भावी सन्ताना को युद्ध के उत्पात स बचाने के लिए जिससे कि दो बार हमारे जीवनकाल मे ही मानवता का अवर्णनीय कष्ट

१. लन्दन की घोषणा (London Declaration) :—लन्दन की घोषणा जून १२ सन् १६४१ को सेंट जेम्स पैलेस मे ब्रितानिया, कैनेडा, ग्रोस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, दक्षिणी अफ्रीका तथा बहुत सी निर्वासित सरकारा के प्रतिनिधियो द्वारा हस्ताक्षरित की गई । प्रलेख ने पृथक शान्ति के विरुद्ध घोषणा की ओर कहा कि उनका विचार परस्पर तथा अन्य स्वतन्त्र लागो क साथ शान्ति के समय तथा युद्ध म सयुक्त रूप से काय करने का है ।

२. अटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter) —अगस्त सन् १६४१ में प्रेसीडेंट रुजवेल्ट तथा मिस्टर चर्चिल एक सम्मेलन मे अटलांटिक महासागर मे प्रिंस आफ वेल्स नामक जहाज मे मिले । उन्होने १४ अगस्त सन् १६४१ को एक चार्टर पर हस्ताक्षर किया जो अटलांटिक चार्टर के नाम स प्रसिद्ध है । इसके द्वारा बल प्रयोग की तथा क्षेत्रो को हडप जाने की निंदा की गई तथा आक्रमण से सुरक्षा का प्रश्न सामने रक्खा गया और लागो का अपनी स्वेच्छा से शासन व्यवस्था चुनने की स्वतन्त्रता दी गयी ।

३. सयुक्त राष्ट्र सघ की घोषणा(United Nations Declaration) —इसके उपरान्त सयुक्त राष्ट्र सघ की घोषणा आती है जिस पर २६ राज्यों के प्रतिनिधियो द्वारा जनवरी १ सन् १६४२ को वाशिंगटन में हस्ताक्षर किया गया । इस घोषणा मे अटलांटिक चार्टर के सिद्धान्तो का समर्थन किया गया और प्रत्येक राज्य ने शपथ ली कि वह अपने सम्पूर्ण साधनो को शत्रु के विरुद्ध प्रयोग करेगा । प्रत्येक सदस्य-राज्य की सरकार ने प्रत्येक सरकार के साथ सहयोग करने का व्रत लिया और वैयक्तिक रूप से शत्रु से शान्ति करने या लोहा लेने से अपने को प्रतिबंधित कर लिया ।

४. मास्को तथा तेहरान-सम्मेलन (Moscow and Teheran Conferences) —१ नवम्बर, सन् १६४१ की मास्को की घोषणा में ब्रितानिया, सयुक्त राज्य अमेरिका, रूस तथा चीन के परराष्ट्र-मन्त्रियो ने यह स्वीकृत किया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना के लिये यह आवश्यक है कि यथासभव तत्काल एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्था स्थापित की जाय जो सब शान्तिप्रिय राज्यो की सार्वभौमिक एकता के सिद्धान्तो पर आधारित हो और ऐसे सब राज्यो की चाहे वे छोटी हो अथवा बड़ी, सदस्यता के लिये खुली हुई हो ।

दो मास उपरान्त रूजवेल्ट, स्टेलिन तथा चर्चिल ने तेहरान मे यह घोषणा की कि उनको इस बात का विश्वास है कि उनका ऐक्य अमर शान्ति लायेगा ।

५ डम्बारटन ओक्स सम्मेलन (Dumbarton Oaks Conference) —अटलांटिक चार्टर तथा मास्को और तेहरान की घोषणाओ के सिद्धान्तो को कार्यरूप

में परिणत करने के लिये सितम्बर १९४४ मे वाशिंगटन मे ब्रितानिया, सयुक्त राज्य अमेरिका, रूस तथा चोन के प्रतिनिधियो के बीच एक भवन मे जिसे डंबारटन ओक्स कहा जाता है वार्तालाप हुआ। सम्मेलन अक्तूबर ७ सन् १९४४ को समाप्त हुआ जब विश्वसघ की रूपरेखा के लिये प्रस्ताव प्रकाशित किए गए। यह सयुक्त राष्ट्र सघ को प्रथम सरकारी रूपरेखा (blue print) थी।

डबारटन ओक्स के प्रस्तावो के अनुसार सयुक्त राष्ट्र सघ मे विश्वशान्ति स्थापित करने के लिये प्रमुख सस्था सुरक्षा परिषद् (Security Council) की स्थापना का अभिप्राय था जिसमे पाँच बडी शक्तियाँ (Big Five) अर्थात् चीन, फ्रास, सयुक्त समाजवादी रूसीय प्रजातत्र, ब्रितानिया तथा सयुक्त राज्य अमेरिका का स्थायीरूप से प्रतिनिधित्व था। किन्तु परिषद् मे मत देने की प्रक्रिया प्रस्तावो मे वर्णित नही थी। इसकी विवेचना रूजवेल्ट, चर्चिल तथा स्टेलिन के मध्य मे याल्टा (क्रीमिया) मे हुए सम्मेलन में की गई। ११ फरवरी सन् १९४१ को सम्मेलन ने यह घोषणा की कि यह विषय निश्चित हो गया है। यह भी निश्चय हो गया कि सयुक्त राष्ट्रो को सयुक्त राज्य अमेरिका के सैन फ्रांसिस्को नगर मे अप्रैल २५ सन् १९४५ को एक सम्मेलन मे ऐसे सघ का डबारटन ओक्स मे परस्पर हुई वार्तालापो मे प्रस्तावित क्रमानुसार एक चार्टर तैयार करने को बुलाया जाय।

६. सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन (The San Francisco Conference).—अन्त मे ५० राज्यो के प्रतिनिधि सैन फ्रान्सिस्को मे २५ अप्रेल तथा २६ जून सन् १९४५ के बीच मिले। डबारटन ओक्स के प्रस्ताव, याल्टा की सविदा तथा उन पर विभिन्न राज्यों द्वारा सुझाये गए सशोधनो पर विचार करते हुए सम्मेलन ने सयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि (Statute) निर्मित किया। चार्टर को सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया तथा सभी प्रतिनिधियो ने उस पर २६ जून सन् १९४५ को हस्ताक्षर किया। सयुक्त राष्ट्र सघ का चार्टर २४ अक्तूबर सन् १९४५ को लागू हुआ जब पाँच मूल सदस्यो ने अर्थात् चीन, फ्रास, रूस, ब्रितानिया, सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अधिकाश मे अन्य हस्ताक्षर करने वालो ने अपने-अपने अनुसमर्थन के प्रलेख प्रस्तुत किए। उस समय से २४ अक्तूबर निरन्तर "सयुक्त राष्ट्र-दिवस" स्मरणीय दिवस के रूप मे मनाया जाता है।

इसके उद्देश्य :—सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्य उसके चार्टर मे व्यक्त किये गये हैं। अन्य विवरणो को दृष्टि से हटा देने पर चार्टर की प्रस्तावना निम्नलिखित है :—

"हम सयुक्त राष्ट्र के लोग, अपने भावी सन्तानो को युद्ध के उत्पात से बचाने के लिए जिससे कि दो बार हमारे जीवनकाल में ही मानवता को अवर्णनीय कष्ट

मिला है; मनुष्य के मौलिक अधिकारो और उसके व्यक्तित्व के गौरव तथा महत्व मे तथा पुरुषो और स्त्रियो के तथा छोटे और बडे राष्ट्रो के समान अधिकारो मे अपना विश्वास. पुनः एक बार दृढ कराने के लिये तथा स्थितियाँ उत्पन्न करने के लिये जिनमे न्याय और सधियो तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय से अन्य मूलभूत आधारो से उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यो के प्रति सम्मान स्थापित हो सके, तथा स्वतन्त्रता के और अधिक विस्तृत क्षेत्र मे सामाजिक उन्नति बढाने और जीवन स्तर और अधिक उन्नत करने के लिये, तथा इन लक्ष्यो के निमित्त सहिष्णुता का अभ्यास करने तथा शान्तिपूर्वक अच्छे पडोसियो के समान रहने के लिये, तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने के लिये अपनी शक्ति को सयुक्त करने के लिये, तथा इस बात...को निश्चित करने के लिए कि सैनिक बल प्रयोग सामान्य हित के अतिरिक्त अन्य किसी अवसर पर नही किया जायेगा, तथा अन्तर्राष्ट्रीय यत्र का सब जातियो की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति में प्रयोग करने के लिये यह दृढ निश्चय करते हैं कि इन लक्ष्यो की पूर्ति के लिये अपने प्रयासो को संयुक्त कर दें ।

"इसी के अनुसार हमारी अपनी सरकारें...सयुक्त राष्ट्र के वर्तमान चार्टर से सहमत हो गई हैं तथा इसके द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय सघ स्थापित करती हैं जो सयुक्त राष्ट्र सघ कहा जायगा।"

इस प्रस्तावना के मूल शब्द इस प्रकार हैं—"We the peoples of the United Nations determined to save succeeding generations from the scourge of war, which twice in our lifetime has brought untold sorrow to mankind, and to reaffirm faith in fundamental human rights, in the dignity and worth of the human person, in the equal rights of men and women and of nations large and small, and to establish conditions under which justice and respect for the obligations arising from treaties and other sources of International Law can be maintained, and to promote social progress and better standards of life in larger freedom, and for these ends to practise tolerance and live together in peace with one another as good neighbours, and to unite our strength to maintain international peace and security, and to ensure.... that armed force shall not be used, save in the common interest, and to employ international machinery for the promotion of the economic and social advancement of all peoples, have resolved to combine our efforts to accomplish these aims.

Accordingly, our respective governments .....have agreed to the present Charter of the United Nations and do hereby establish an international organization to be known as the United Nations"

चार्टर के अनुच्छेद १ मे उद्देश्यो को और भी अधिक विस्तार मे व्यक्त किया गया है। उसमे यह कहा गया है कि सयुक्त राष्ट्र के प्रयोजन निम्नलिखित हैं :—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करना, राष्ट्रो के बीच जन समुदाय के लिये समान अधिकारो तथा आत्मनिर्णय के सिद्धान्त पर आश्रित मैत्रीपूर्ण सम्बन्धो का विकास करना, आर्थिक, सामाजिक अथवा मानव जाति के लिये प्रेम सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को सुलझाने मे अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा इन सामान्य उद्देश्यो की पूर्ति के लिये राष्ट्रो के कार्यों को समन्वय करन के निमित्त एक केन्द्र का कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त :—चार्टर के अनुच्छेद २ मे वे सिद्धान्त दिये गये हैं जो सघ तथा उनके सदस्या द्वारा उपर्युक्त प्रयोजनो की सिद्ध करने में अनुसरण किये जाने चाहिये। वे निम्नलिखित हैं —

१. सघ अपने सब सदस्यो की सर्वव्यापी समानता के सिद्धान्त पर आधारित है। यह खड कुछ प्रतिबन्धो के अन्तर्गत है। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यो के अधिकार सयुक्त राष्ट्र सघ के अन्य सदस्यो की अपेक्षा विशद हैं। परिषद् तथा सभा दोनो के प्रमुख निर्णयो की वैधता के लिए परिषद् के स्थायी सदस्यो की सहमति आवश्यक है। चार्टर के सशोधन के लिये, सयुक्त राष्ट्र सघ मे अन्य सदस्यो को प्रवेश करने के लिये, झगडो को तय करने के सम्बन्ध मे निर्णयो तथा सस्तुतियो के लिये तथा उनको लागू करने के लिये उनकी सहमति आवश्यक है। इसके उपरान्त किसी विषय को प्रवृत्त करन के उपाय उनकी सहमति के बिना उनके विरुद्ध लागू नही किए जा सकते। इन विशद अधिकारो के अन्तर्गत स्थायी सदस्यो की समानता सार्वभौम राष्ट्रो के रूप मे किसी प्रकार कम नही होती है।

२ सब सदस्य उन सब के लिये सदस्यता से उत्पन्न होने वाले अधिकारो तथा लाभो को निश्चित रूप से प्राप्त करने के लिये वर्तमान चार्टर के अनुसार अपने ऊपर लिये गये कर्त्तव्यो का सत्यता से पालन करेंगे।

३ सब सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को इस प्रकार तय करेंगे कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा तथा न्याय को भय की आशका न हो।

४. सब सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे किसी राज्य की क्षेत्रीय अख-डता अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध बल प्रयोग की धमकी देने से अथवा बल प्रयोग करने से अलग रहेंगे।

५. सब सदस्य सयुक्त राष्ट्र सघ को किसी कार्य मे जा इस चार्टर के अनुसार हो, सब प्रकार की सहायता देंगे तथा ऐसे किसी राज्य को जिसके विरुद्ध

संयुक्त राष्ट्र संघ प्रवर्तन (enforcement) कार्य कर रहा हो, सहायता देने से अपने को रोकेंगे।

६. संयुक्त राष्ट्र संघ इस बात को सुनिश्चित करेगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ के ऐसे राज्य जो सदस्य नहीं हैं, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना के लिये चाटर के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करेंगे।

७ चाटर में दिया हुआ कोई भी विषय संयुक्त राष्ट्र संघ का उन विषयों में हस्तक्षेप करने को प्राधिकृत न करेगा जो वस्तुत. किसी राज्य के आन्तरिक क्षेत्राधिकार के भीतर हो अथवा सदस्यों से यह अपेक्षा करेगा कि ऐसे विषयों को वर्तमान चाटर के अन्तर्गत तय किये जाने के लिये प्रत्यर्पित करें, किन्तु इस सिद्धान्त से अध्याय ७ के अन्तर्गत प्रवर्तन (enforcement) के उपायों पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़ेगा।

मुख्य प्रतिबन्ध के साथ संलग्न परिशिष्ट में सुरक्षा परिषद् को यह अनुमति प्रदान की गई है कि उस झगड़े को प्रसज्ञान में ले जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को धमकी दी जाती हो तथा जो उसे सुलझाने के लिये प्रवृत्तक उपायों को अपेक्षित करता हो चाहे वह उस राज्य के आन्तरिक क्षेत्राधिकार के भीतर ही क्यों न आता हो।

यह प्रश्न कि क्या यह मामला पूर्णतया राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार के भीतर है, प्राय बहुत उलझन उत्पन्न कर दिया करता है। इसलिये विवादग्रस्त मामलों को संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी समुचित प्राधिकारी द्वारा निर्धारित होना चाहिये। भारत दक्षिणी अफ्रीका विवाद में, जो कि रङ्गभेद और जाति-भेद से सम्बन्धित है, दक्षिणी अफ्रीका का कहना है कि भारत की ओर से यह शिकायत कि मूल भारतीय निवासियों के प्रति वहाँ के लोगों के व्यवहार ठीक नहीं हैं संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में नहीं उठाया जा सकता क्योंकि यह प्रश्न चार्टर के अनुच्छेद २ पैरा ७ के अन्तर्गत दक्षिणी अफ्रीका के घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आता है।

दक्षिण-अफ्रीका की संघ सरकार ने जातिभेद की जो नीति अपनायी है वह मौलिक मानवीय अधिकारों का पूर्णतया अतिक्रमण करना है और उन्होंने अपनी इस नीति से अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये एक खतरा उत्पन्न कर दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा दक्षिण अफ्रीका की इस नीति के विरोध में अनेक बार प्रस्ताव पारित किये गये हैं, किन्तु दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने इन प्रस्तावों पर कोई ध्यान नहीं दिया है और इसका आधार यह बताया जाता है कि यह उनका घरेलू मामला है।

इसी प्रकार हङ्गरी के प्रसङ्ग मे भी क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हुये। साम्यवादियो के बढ़ते हुये गणतन्त्र की प्रतिक्रिया अक्टूबर १९५६ मे यह हुई कि बहुत संख्या मे वहाँ के देशवासी परिवर्तन की माँग करने लगे। हङ्गरी के कार्य-वाहक प्रधानमन्त्री ने संयुक्त राष्ट्र महासचिव को यह सूचना दी कि इस परिस्थिति का सामना करना बिल्कुल हङ्गरी के घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत है और साधारण सभा यदि इस सम्बन्ध मे कोई प्रस्ताव पारित करती है तो उसका तात्पर्य यह होगा कि वह हङ्गरी के घरेलू मामलो मे हस्तक्षेप कर रही है और चार्टर के अनुच्छेद २ पैरा ७ के प्रतिकूल है।

सदस्यता :—सब राज्य सदस्य हैं जिन्होने चार्टर को हस्ताक्षरित तथा अनुसमर्थित किया है। सदस्यता सब अन्य शान्ति-प्रिय राज्यो के लिये भी खुली है जो वर्तमान चार्टर में दिये गये कर्त्तव्यो को स्वीकार करें तथा सघ के निर्णय मे उन कर्त्तव्यो के पालन करने के योग्य तथा इच्छुक भी हो। किसी राज्य का सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता मे प्रवेश सुरक्षा परिषद् की सस्तुति पर सामान्य सभा के निर्णय होने पर किया जाता है।

संयुक्त राष्ट्र सङ्घ में प्रवेश चार्टर द्वारा नियन्त्रित है। सयुक्त-राष्ट्र के सदस्य अनुच्छेद ३ के अनुसार मौलिक रूप से स्थायी सदस्य हैं और अनुच्छेद ४ के अन्तर्गत नये अपनाये गये सदस्य आते हैं। चार्टर के अनुच्छेद ३ के अन्तर्गत मौलिक सदस्य जो कि सयुक्त राष्ट्र सङ्घ को निर्मित किये थे वही राष्ट्र हैं जिन्होने सन् १९४५ मे सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन मे भाग लिया था, या जिन्होने जनवरी १, १९४२, की समुक्त राष्ट्र सङ्घ की घोषणा पर हस्ताक्षर किया था। अनुच्छेद ४ के अन्तर्गत सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के नये सदस्य भी अपनाये जाते हैं किन्तु इसके लिये साधारण सभा की दो-तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद की सस्तुति होनी चाहिये। सुरक्षा परिषद मे परिषद के ९ सदस्यो का बहुमत और स्थायी सदस्यो की सहमति का होना आवश्यक है।

अनुच्छेद ४ मे यह व्यवस्था की गई है कि सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सदस्यता सभी शातिप्रिय राज्यो के लिये खुली हुई है किन्तु उन्हे चार्टर के आभारो को स्वीकार करना होगा और उन आभारो को पूरा करने की इच्छा प्रकट करनी होगी। चार्टर मे सदस्यता के लिये दूसरा कोई प्रतिबन्ध नहीं, वल्कि "शातिप्रिय" (peace-loving) होना आवश्यक है। सदस्यता के सम्बन्ध मे स्वीकार करने का सारा अधिकार साधारण सभा को और मुख्य रूप से सुरक्षा परिषद का है यदि वे सद्भावनापूर्वक इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सदस्यता के लिये अभ्यर्थी राज्य शातिप्रिय

है और चार्टर के अनुबन्धो या आभारो को मानने की इच्छा या सामर्थ्य रखता है तो वह नया सदस्य बनाया जा सकता है।

नयी सदस्यता क लिये निम्नलिखित ५ मुख्य शर्तें हैं —

१—वह एक राज्य हो।

२—शांतिप्रिय हो।

३—चार्टर क आभारो को स्वीकार करता हो।

४—संघ के निर्णयो के अनुसार उन आभारो को पूरा करने मे समर्थ हो।

५—संघ के निर्णयानुसार उन आभारो को पूरा करने की इच्छा रखता हो।

किसी नये राज्य को सदस्य क रूप मे स्वीकार करने क लिये साधारण सभा उस समय तक निर्णय नही कर सकती जब तक कि उसकी सदस्यता के लिये सुरक्षा परिषद् की संस्तुति न हो जिसम स्थायी सदस्यों की सहमति अवश्य सम्मिलित होनी चाहिये।

चीन क पीपुल्स रिपब्लिक अर्थात् साम्यवादी चीन की सदस्यता का प्रश्न बहुत समय से संयुक्त राष्ट्र के सामने है। इसमें कोई सन्देह नही कि चीन एक बहुत बडा देश है और बहुत शक्तिशाली भी है। उस संघ से चीन क पृथक रहने का अभिप्राय विश्व क ६० करोड लोगो का विश्व-संस्था से पृथक रहना है। अस्तु चीन की सदस्यता के सम्बन्ध म उठने वाले प्रश्नो पर यहाँ विचार कर लेना उचित होगा।

चीन का प्रतिनिधित्व (The Representation of China)

जूलियस स्टोन (Julius Stone) का कहना है कि चीन की सदस्यता के सम्बन्ध मे सुरक्षा परिषद् म जो विवाद उत्पन्न हुआ है वह इसलिये है कि चीन की दो सरकारें हैं जो कि अपने-अपने को राज्य कहती हैं और प्रतिनिधित्व की माँग करती हैं।

सर्वप्रथम चीन के प्रतिनिधित्व का प्रश्न चीन गणतन्त्र द्वारा १८ नवम्बर १९४९ को सुरक्षा परिषद् के समक्ष लाया गया। १९५० मे सोवियत रूस ने अपने को अनुपस्थित करना शुरू किया जिसमे से १३ जनवरी १९५० की बैठक म प्रस्ताव को इस कारण से अस्वीकृत कर दिया गया कि राष्ट्रवादी चीनियो का प्रतिनिधित्व उचित नही था।

इस प्रसङ्ग मे संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष कई बार प्रस्ताव आ चुके हैं किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका का रुख राष्ट्रवादी चीन और रूस का रुख साम्यवादी चीन की ओर है। इस गुटबन्दी के कारण तथा चीन द्वारा समय-समय पर अपनाये गये

अग्रघर्षक मार्गों के कारण यह विषय अभी तक नहीं सुलझ सका है। भारत, ग्रेट-ब्रिटेन और सोवियत सरकार का कहना है कि राष्ट्रवादी सरकार द्वारा चीन का प्रतिनिधित्व पूरा प्रतिनिधित्व नही कहा जा सकता क्योंकि राष्ट्रवादी सरकार का चीन के बहुत बड़े हिस्से पर अधिकार नहीं है। अस्तु चार्टर के अनुच्छेद २३ के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् मे चीन का आंशिक प्रतिनिधित्व अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुकूल नहीं है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हुये महासचिव ने यह स्पष्टीकरण किया था कि चीन के प्रसग मे अनुच्छेद ४ के अनुसार विचार होना चाहिये जिसमे यह एक आवश्यक प्रतिबन्ध है कि सदस्यता के लिये अभ्यर्थी राज्य इस योग्य हो और ऐसी इच्छा रखता हो कि सदस्यता से सम्बन्धित आभारो का पालन कर सके। उनका कहना था कि दो प्रतिद्वन्द्वी सरकारो के बीच वास्तव मे जो सरकार इस आभार को ग्रहण कर सके और सदस्यता के आभार अपनी जनता पर भी आरोपित कर सके उसी का प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये।

परिस्थितियाँ आ कुछ भी हो साम्यवादी चीन के अन्तर्गत जितना बड़ा भूभिक्षेत्र है और जितनी जनता उस राज्य मे है तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे चीन की जो स्थिति है उसे देखते हुये यह उचित नही प्रतीत होता कि चीन अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबन्धो से बाहर रखा जाय।

चीन का भारत-आक्रमण (Chinese Aggression against India) —भारत आरम्भ से ही साम्यवादी चीन की सदस्यता का प्रबल समर्थक रहा है। उसने स्वत कई प्रस्ताव इस सम्बन्ध मे राष्ट्र सघ के समक्ष रखे हैं, किन्तु १९६२ मे चीन ने भारतीय सीमा पर प्रबल आक्रमण कर दिया और निरकुश रूप म अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध कार्य किया। इस आक्रमण को देखते हुये सयुक्त राष्ट्र सङ्घ मे साम्यवादी चीन की सदस्यता के प्रश्न का पुनरीक्षण आवश्यक प्रतीत होता है। चीनियो ने १९५९ मे मैकमहन रेखा को पार किया था और यह सीमा-अतिक्रमण ५ वर्ष पहले लद्दाख में किया गया था। उसी समय स वे भारतीय राज्य-क्षेत्र का १२ हजार स्कवायर मील अपने अधिकार म अवैध रूप से कर लिये थे। २० अक्टूबर १९६२ को उन्होंने फिर एक बहुत बड़ा आक्रमण किया जो कि (नेफा) नार्थ ईस्ट फ्रान्टियर एजेन्सी तथा लद्दाख दोनो क्षेत्रो में समान रूप से किया गया था। आक्रमणो की लहर सी आती रही तथा भारी मार्टार तथा मशीनगनों से लैस चीनी सना ने उपरोक्त दोनो क्षेत्रो में बहुत बड़ी भारतीय भूमि का अपहरण कर लिया। इस प्रकार भारतीय सीमा से बढ़कर चीनियो न अपनी आक्रमण नीति को और भी बढ़ावा दे दिया।

चार्टर के अनुच्छेद ४ के अन्तर्गत ऐसी व्यवस्था दी गई है कि संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सदस्यता सभी शांतिप्रिय राज्यों के लिये तथा उनके लिये जो चार्टर के आभारों को सङ्घ के निर्णयानुसार स्वीकार कर सकें और उन आभारों को पूरा करने के इच्छुक हो सबके लिये खुली हुई है। उपरोक्त उपबन्ध को देखते हुये कहा जा सकता है कि साम्यवादी चीन इस कसौटी पर खरा नहीं उतरता। उसने अपनी आक्रामक नीति के द्वारा यह आशंका उत्पन्न कर दी है कि वह चार्टर के आभारों को पूरा करने की इच्छा से रहित है। एक ओर तो साम्यवादी चीन भारतीय सीमा के समीप बहुत बड़ी सैनिक शक्ति इकट्ठा कर रहा है और किसी भी समय आक्रमण की आवृत्ति होने की सम्भावना बनी हुई है। हिमालय पर किये गये इस आक्रमण से विश्व-शांति को एक बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो गया है। चीन की यह नीति कोई नई नहीं है। १९५० में कोरिया के युद्ध में भी उसकी आक्रामक कार्यवाहियों को देखा जा चुका है।

चीनियों का भारतीय सीमा पर दावा आधार-रहित—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार चीनियों का लद्दाख पर इसलिये दावा करना कि वह क्षेत्र उनके (अवैध) दखल में रहा है, इनकी सम्प्रभुता को नहीं सिद्ध करता कि वहाँ उनकी सम्प्रभुता है। Aksai Chin भी चूँकि उनके आक्रमण के कारण उनके आधिपत्य में आ चुका था वे इसलिये सम्प्रभुता का दावा नहीं कर सकने कि वह क्षेत्र वस्तुतः उनका है, क्योंकि वह क्षेत्र भारत का है और भारत ने अपने हक का विलोप नहीं किया है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का यह मान्य सिद्धान्त है कि कोई राज्य जिसने संधि द्वारा किसी क्षेत्र पर दूसरे राज्य का दावा स्वीकार कर लिया है फिर उस क्षेत्र के सम्बन्ध में स्वत. दावा करना बन्द कर देता है। डा० कृष्ण राव भारत सरकार के वैदेशिक मन्त्रालय के लीगल ऐडवाइजर का कहना है कि यह सत्य है कि भारत ने आक्रमणकारियों को बाहर नहीं निकाला है बल्कि चीनियों ने भारतीय क्षेत्र पर अपनी आक्रामक कार्यवाहियों को निरन्तर जारी रखा है।

जहाँ तक नेफा क्षेत्र का सम्बन्ध है चीन ने मैकमहन रेखा को मानने से इन्कार कर दिया है और उस रेखा को बल प्रयोग द्वारा अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तित करने का आशय प्रकट किया है। यह रेखा वही रेखा है जो भारत को तिब्बत से अलग करती है और इतिहास परम्परा और सन्धियों के द्वारा बहुत पहले से विभाजक रेखा के रूप में रही है। चीन ने स्वतः कई रूपों में समय-समय पर इस रेखा को माना है यद्यपि वे फिर इस रेखा को अवैध कहने लगे हैं। चीन की वर्तमान सरकार की स्थापना के पूर्व से ही इस रेखा की मान्यता रही है और तिब्बत ने कभी भी इसका विरोध नहीं किया था।

जहाँ तक साम्यवादी चीन के संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सदस्यता का प्रश्न है सोवियत रूस ने संयुक्त राष्ट्र को साधारण सभा के १७वें अधिवेशन में एक प्रस्ताव का प्रारूप रखा जिसके अनुसार क्यूमिनताग चीनी प्रतिनिधियों को संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सभी अङ्गों से बहिष्कृत करने का प्रस्ताव किया और बदले में साम्यवादी चीन को रखने की संस्तुति की। अक्टूबर १९६२ में इस प्रस्ताव पर साधारण सभा द्वारा विचार किया गया और भारतीय प्रतिनिधि ने यह दोषारोपण करते हुये कि चीन ने भारत को उत्तरी सीमा पर खुला आक्रमण किया है, कहा कि चीन की बढती हुई सैनिक शक्ति को रोकने और चीन को अन्तर्राष्ट्रीय आभारों को स्वीकार करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे विश्व-संघ के उपबन्धों में बाँधा जाय। आस्ट्रेलिया के प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव का विरोध किया था और कहा था कि भारतीय सीमा पर चीन की आक्रामक कार्यवाहियों से जहाँ हमारी चिन्ताएँ बढती हैं वहाँ हमारा सन्देह भी बढता है कि क्या साम्यवादी चीन चार्टर के आभारों को मानने का इच्छुक है या उसमें संयुक्त राष्ट्र के चार्टर को मानने का संकल्प अथवा नहीं है ?

भारत और ब्रिटेन ने उपरोक्त प्रस्ताव का समर्थन किया किन्तु अभी तक यह निर्णय नहीं हो सका है कि वास्तव में चीन इस बात के लिये तत्पर है कि वह चार्टर के अनुसार आभारों को ग्रहण कर सकेगा किन्तु उसकी कार्यवाहियाँ ऐसी उत्तेजक हैं कि उसे पूर्णतः निरंकुश रहने देना भी उचित नहीं है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का संविधान (The Constitution of the U. N.) :—संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित मुख्य अंग हैं :—(१) साधारण सभा, (२) सुरक्षा परिषद्, (३) सचिवालय, (४) न्यास परिषद्, (५) आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् तथा (६) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।

१. साधारण सभा
(The General Assembly)

इसमें संयुक्त राष्ट्र के सब सदस्य सम्मिलित हैं जिनका प्रतिनिधित्व पाँच-पाँच सदस्यों से होता है। साधारण सभा की प्रक्रिया की नियमावली का नियम २१ निम्नलिखित है—

"किसी सदस्य का प्रतिनिधि मंडल पाँच प्रतिनिधियों, पाँच वैकल्पिक प्रतिनिधियों तथा उतने ही मंत्रणा देने वालों, विशिष्ट विषयक मंत्रणा देने वालों, विशेषज्ञों तथा उसी प्रकार की स्थिति के इतने व्यक्तियों से जितने कि प्रतिनिधि-मंडल द्वारा अपेक्षित किए जायँ, से और अधिक न होगा।"

साधारण सभा एक अध्यक्ष (President) तथा सात उपाध्यक्ष (Vice-Presidents) निर्वाचित करती है जो उस सत्र के अन्त तक पद ग्रहण करते हैं जिसमें वे चुने जाते हैं। साधारण सभा का अधिवेशन नियत वार्षिक सत्रों में तथा ऐसे विशेष सत्रों में होता है जैसे अवसर के अनुसार आवश्यक हो। विशेष सत्र महासचिव (Secretary General) द्वारा सुरक्षा परिषद् अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकांश सदस्यों की प्रार्थना पर बुलाया जा सकता है।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने भारत की श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित को अपने आठवें सत्र के लिये सभापति निर्वाचित किया था और श्रीमती पंडित विश्व की पहली महिला हैं जिसे यह सम्मान प्राप्त हुआ।

कार्य तथा शक्तियाँ—साधारण सभा के कार्य चार्टर के अनुच्छेद १० से १७ तक में दिये गये हैं। सभा चार्टर के क्षेत्राधिकार के भीतर आने वाले किसी प्रश्न पर विवेचना आरम्भ करवा सकती है तथा किसी ऐसे प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से अथवा सुरक्षा परिषद् से अथवा दोनों से सिफारिश कर सकती है। यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापना सम्बन्धी किसी प्रश्न पर विवेचना कर सकती है जो इसके समक्ष संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य अथवा सुरक्षा परिषद् अथवा किसी असदस्य राज्य द्वारा रक्खा जाय तथा इस प्रकार के किसी प्रश्न के सम्बन्ध में सम्बन्धित राज्य तथा राज्यों का अथवा सुरक्षा परिषद् को अथवा दोनों को सिफारिश कर सकती है। ओपेनेहेम का कथन है कि यद्यपि यह सभा वैधानिक शक्तियों से विनिहित नहीं है तथा इसकी सिफारिशें वैधानिक रूप से बन्धनकारी नहीं हैं तथापि ये सिफारिशें संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों पर विश्व के जन-साधारण की सम्मति का प्रभाव डालने के लिये प्रमुख साधन बन जाती हैं।

साधारण सभा सुरक्षा परिषद् का ध्यान उन स्थितियों की ओर आकर्षित करा सकती है जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा का संकट में पड़ना सम्भव हो। यह किसी स्थिति का जिससे राष्ट्रों के कल्याण तथा उनके मध्य मैत्री के सम्बन्धों में बाधा पड़ना सम्भव हो, शान्तिपूर्ण निपटारे के लिये सिफारिश कर सकती है।

अनुच्छेद १३ में यह विशिष्ट रूप से अनुबन्धित है कि साधारण सभा निम्नलिखित विषयों के लिये अध्ययन आरम्भ करावेगी तथा सिफारिश करेगी :—

(अ) राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि और इनके संहिताकरण के उत्तरोत्तर विकास को प्रोत्साहित करना।

(आ) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करना तथा जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव को मिटा कर सब के लिये मानवीय अधिकारों तथा मूलभूत स्वतन्त्रताओं को प्राप्त करने में सहायता देना।

अनुच्छेद १२ सभा के कृत्यों को सीमित कर देता है क्योंकि इसमें यह अनुबन्धित है कि जब सुरक्षा परिषद् किसी झगड़े अथवा स्थिति के सम्बन्ध में वर्तमान चार्टर के अनुसार सौंपे गये कृत्यों में से किसी कृत्य को कर रही हो तो साधारण सभा उस झगड़े अथवा स्थिति के सम्बन्ध में कोई सिफारिश न करेगी जब तक कि सुरक्षा परिषद् ऐसी प्रार्थना न करे।

अन्य कृत्य जो साधारण सभा को दिये गये हैं वे अन्तर्राष्ट्रीय प्रन्यास पद्धति के सम्बन्ध में हैं जिनमें ऐसे क्षेत्रों के लिये प्रन्यसन स्वीकारपत्र भी सम्मिलित हैं जिनका नाम सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों में नहीं लिखा गया है। यह संघ के बजट को तथा विशिष्ट एजेन्सियों के साथ किये गये किसी आर्थिक तथा बजट सम्बन्धी प्रबन्धों पर विचार करती है तथा उनको स्वीकार करती है, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्वाचन में भाग लेती है, सुरक्षा परिषद् के छः अस्थायी सदस्यों, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के सदस्यों तथा न्यास परिषद् के कुछ सदस्यों का निर्वाचन करती है। यह सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासचिव को निर्वाचित करती है तथा सचिवालय के कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति के लिए नियम बनाती है। यह सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य को चार्टर के सिद्धान्तों का उल्लंघन करने के लिये निकाल सकता है।

मतदान प्रक्रिया (Voting Procedure) —साधारण सभा के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। प्रमुख प्रश्नों पर उदाहरणार्थ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापना के सम्बन्ध में सिफारिश, सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन, न्यास परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन, संयुक्त राष्ट्र संघ में नये सदस्यों का प्रवेश, सदस्यता के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों का निलंबन, सदस्यों का निष्कासन, प्रन्यास पद्धति के लागू होने के सम्बन्धी प्रश्न तथा बजट विषयक प्रश्न साधारण सभा के निर्णयों के लिये उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत अपेक्षित है। अन्य प्रश्नों के निर्णय के लिए, जिनमें दो-तिहाई बहुमत से निर्णय किए जाने वाले प्रश्नों के अतिरिक्त वर्गों का निर्णय भी सम्मिलित है, उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों का केवल बहुमत अपेक्षित है।

सङ्गठन (Organisation) :—साधारण-सभा के कार्य प्रायः समितियो में हुआ करते हैं जिन्हे चार श्रेणियो मे बाँटा गया है।

(१) मुख्य समितियाँ (Main Committees)

(२) प्रक्रियात्मक समितियाँ (Procedural Committees)

(३) स्टैंडिंग समितियाँ (Standing Committees)

(४) तदर्थ समितियाँ (Ad hoc Committees)

१— मुख्य समितियो मे ६ समितियाँ सम्मिलित हैं : १—राजनीतिक और सुरक्षा सम्बन्धी, २—आर्थिक-व्यवस्था सबन्धी, ३—सामाजिक, मानवीय और सास्कृतिक, ४—न्यासिता सम्बन्धी, ५—प्रशासकीय और वजट सम्बन्धी, तथा ६—वैध।

२—प्रक्रियात्मक समितियो मे साधारण सभा के सङ्गठन और व्यवहार सम्बन्धी विषय रहते हैं। ये दो हैं : १—साधारण समिति और २—प्रत्यय-पत्र-समिति (क्रीडेन्शियलस-समिति)।

३—स्टैंडिंग कमेटी मे लगातार चलने वाली समस्याओं पर विचार किया जाता है। उनमे से कुछ प्रशासन और बजट के प्रश्नो पर सलाहकार समिति के रूप मे होती है और कुछ चन्दा समिति, बोर्ड आफ आडिटर, इन्वेस्टमेन्ट कमेटी और सयुक्त राष्ट्र कर्मचारी पेन्शन कमेटी।

४—तदर्थ समितियो मे साधारण सभा या उसकी कोई भी समिति विशेष प्रयोजनो के कारण ऐसी समितियाँ निर्मित कर सकती है।

एक अन्तरिम समिति और होती है जिसे "लिटिल एसेम्बली" या लघु सभा कहते हैं जिसकी स्थापना १९४७ में हुई थी।

संयुक्त राष्ट्रों से प्रत्याहरण (Withdrawl from the United Nations)—सयुक्त राष्ट्र-चार्टर मे किसी सदस्य के प्रत्याहरण, या संघ से अपनी सदस्यता वापस लेने का उपबंध नही है। डम्बार्टन ओक्स के से उन संकल्पों में, जिनमें कि एक साधारण अन्तर्राष्ट्रीय संघटन (General International Organization) का प्रस्ताव था, और जिसका कि प्रारूप सयुक्त राज्य, सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन और चीन द्वारा तैयार किया गया था, सदस्यता के प्रत्याहरण के उपबंधो को पूर्णतया लुप्त कर दिया गया था। यह व्यवस्था संभवतः इस कारण से की गई थी कि लीग-कवेनेण्ट का अनुभव सामने था और कवेनैण्ट जिस कमजोरी का शिकार हुआ, अब उस कमजोरी से वे इस नये अन्तर्राष्ट्रीय संघ को बचाना चाहते थे। कवेनैण्ट में उपबंधित था कि यदि किसी सदस्य-राज्य के सभी अन्तर्राष्ट्रीय पूरे हो, तो वह दो वर्ष की अधिसूचना के आधार पर लीग से अपनी सदस्यता

प्रत्याहारित कर सकता था (कवेनैण्ट का अनुच्छेद १, पैरा ३)। कावनैण्ट को इस व्यवस्था से लीग ऑव नेशन्स मे वह स्थिरता और स्थायित्व न आ सका, जिसकी अपेक्षा की गई थी। इसके उपरान्त भी कवेनैण्ट के अनुच्छेद २६ मे यह भी उपबंधित था कि यदि कोई सदस्य कवेनैण्ट के किसी सशोधन से असतुष्ट या असहमत है तो उस असहमति का उल्लेख करते हुये अपनी सदस्यता वापस ले सकेगा।

सान-फ्रान्सिस्को सम्मेलन मे मई २१, १६५४, को एक उपसमिति गठित की गई जिसमे चार महान् शक्तियो का प्रतिनिधित्व हुआ। इस उपसमिति ने संघ से सदस्यता वापस लेने के प्रश्न पर विचार किया और यह सम्मति प्रकट की कि समिति को एक व्याख्यामूलक घोषणा (interpretative declaration) देना उचित होगा जिसमे कि निम्नलिखित कथन सम्मिलित हो। नीचे दिया कथन जून २५, १६४५ को सम्मेलन द्वारा अनुमोदित कर दिया गया—

"The Committee deems that the highest duty of the nations which will become members is to continue their co operation within the Organization for the preservation of international peace and security. If, however, a member because of exceptional circumstances feels constrained to withdraw, and leave the burden of maintaining international peace and security on the other members, it is not the purpose of the Organization to compel that member to continue its co-operation in the Organization; nor would it be the purpose of the Organization to compel a member to remain in the Organization if its rights and obligations as such were changed by Charter amendment in which it has not concurred and which it finds itself unable to accept, or if an amendment duly accepted by the necessary majority in the Assembly fails to secure the ratification necessary to bring such amendment into effect." अर्थात् "समिति का विचार यह है कि ऐसे राष्ट्रो का, जो कि सदस्य बनेंगे, उच्चतम कर्तव्य यह है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये सघ मे अपने सहयोग को निरन्तर बनाये रखें। फिर भी यदि कोई सदस्य किन्ही विशेष अपवादजनित परिस्थितियो मे सदस्यता वापस लेने के लिये अपने को विवश हो पाता है, और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का भार अन्य सदस्यो पर ही छोड़ना चाहता है, तो सघ का उद्देश्य यह नही होगा कि एक सदस्य को उस समय भी सघ मे बने रहने के लिये विवश किया जाय, जबकि चार्टर के सशोधन द्वारा उस सदस्य के ऐसे अधिकारो और भारो को ही परिवर्तित कर दिया गया हो, जिसके लिये कि उसने पहले से सम्मति नही दी

थी; और यह कि जिस संशोधन को वह अब स्वीकार करने को तत्पर नहीं है, या यह कि सभा द्वारा बहुमत से मान्य किसी संशोधन को प्रभावकारी होने के लिये जिस समर्थन की आवश्यकता थी, वह न दिया जा सका।"

सोवियत संघ ने यह दावा किया कि किसी राज्य की सम्प्रभुता में किसी संस्था से अपने को पृथक् कर लेने की शक्ति स्वयमिद्ध शक्ति है, किन्तु इस विचार को उस आयोग द्वारा पुष्ट नहीं किया जा सका जिसने कि सान्-फ्रान्सिस्को सम्मेलन के नवें प्लेनरी-अधिवेशन में अपने प्रतिवेदन प्रस्तुत किये थे।

यहाँ विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या किसी सदस्य-राष्ट्र को चार्टर में किसी विशिष्ट एतद्विषयक उपबंध के न रहते हुये संघ से प्रत्याहरण कर लेने का अधिकार है, अथवा नहीं। डा० पस्वोल्स्की (Dr. Pasvolsky) ने जो कि सान्-फ्रान्सिस्को सम्मेलन में 'इंटरनेशनल आर्गेनाइजेशन ऐंड सेक्यूरिटी अफेयर्स' के राज्य-मंत्री के विशेष सहायक थे, सम्मति प्रकट की थी कि मूल डंबार्टन ओक्स संकल्पों (Original Dumbarton Oaks Proposals) के अन्तर्गत, जहाँ कि न तो प्रत्याहरण का कोई उपबन्ध है, और न प्रत्याहरण के निषेध का उपबन्ध है, तो एक विधि-प्रसंग के रूप में यह तात्पर्य हुआ कि प्रत्याहरण के अधिकार का अस्तित्व है, कारण यह है कि करार एक ऐसे प्रकार का नहीं है जो कि किसी भी अर्थ में सदस्य-राज्यों को एक नई सरकार के हाथों में या उसके अन्तर्गत अपनी स्वतंत्रता सौंप देने का उपबन्ध करता हो। यह भी कहा जा सकता है कि प्रसंग का एक पक्ष यह भी है कि सप्रभु राज्यों के किसी संघ में सभी सदस्यों में प्रत्याहरण की क्षमता विद्यमान होती है। अतः चार्टर में प्रत्याहरण करने की शक्ति स्वयमेव अन्तर्निहित मानी जानी चाहिए।

दूसरा पक्ष यह है कि चूँकि लीग-कवेनैंट ने प्रत्याहरण के अधिकार को एक ऐसे अन्तर्निहित-अधिकार की मान्यता दी थी, जो कि सभी सदस्य-राज्यों में विद्यमान है, और यह कि वह इसका प्रयोग किसी कारण के आधार पर एक बिना कारण के भी कर सकता है; अतः चार्टर के प्रसंग में भी प्रत्याहरण स्वीकृत किये जाने के लिये व्यवस्था होनी चाहिये, किन्तु इस बात पर भी ध्यान रहे कि इस स्वीकृति के लिये प्रसंगगत मामले में पर्याप्त आधार होने चाहिये। इस पर्याप्त कार्य-कारण आधार के सिद्धान्त का शास्त्रीय भाषा में 'क्लाजुला रिबस-सिक स्टेंटिबस' (clausula rebus sic stantibus) कहा गया है। यह सिद्धान्त परिस्थितियों के अनिवार्य परिवर्तन के आधार पर प्रत्याहरण को अनुमति देता है और वे परिस्थितियाँ उस राज्य के अस्तित्व को खतरे में डालने वाली हो सकती हैं, जिनमें कि वह अपने-आप को संघ से आभारों से मुक्त कर दिये जाने की माँग कर रहा

है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ऐसा प्रत्याहरण एकपक्षीय (unilateral) नहीं हो सकता। जो राज्य सदस्यता से मुक्त होना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम सदस्यता से मुक्त किये जाने के लिये संघ से आवेदन करे। केल्सन (Kelsen) का कथन है कि कार्य-कारण आधार न तो कोई प्रत्याहरण का अधिकार उनकी सम्प्रभुता की एक अभिव्यक्ति के रूप में प्रदान करता है और न तो अपवाद जनितपरिस्थितियों (exceptional circumstances) में ही यह अधिकार प्रदान किया गया है।[1]

यह प्रश्न उस समय और भी विचारणीय हो गया जब कि इण्डोनेसिया ने इस आधार पर कि १९६३ में जेकोस्लावाकिया द्वारा जनवरी १, १९६५ को रिक्त किये गये स्थान पर एक वर्ष की अवधि के लिए सुरक्षा परिषद में मलायेसिया का चुनाव हो गया, और चूँकि इंडोनेसिया मलायेसिया से प्रतिस्पर्धी रूप में रहा है, इंडोनेसिया ने संयुक्त राष्ट्र संघ से अपने प्रत्याहरण की अधिसूचना कर दी। इस प्रसंग में भी वही तर्क सामने रखे गये कि संयुक्त-राष्ट्र के चार्टर में ऐसा कोई उपबन्ध नहीं प्रतीत होता कि कोई भी देश, जिसने कि उस पर हस्ताक्षर किये हैं, निकाय से प्रत्याहरण नहीं कर सकता। और राष्ट्रों की लीग के कवेनेंट के ठीक विपरीत चार्टर के उपबन्धों में यह व्यवस्था है कि कोई सदस्य राष्ट्र अपनी सदस्यता स्वेच्छया वापस नहीं ले सकता। इसमें संदेह नहीं है कि कोई देश सभा का बहिष्कार कर सकता है, या किसी संस्तुतिमूलक संकल्प (recommendatory resolution) का पालन करने, या उसका सम्मान करने से इन्कार कर सकता है किन्तु एक हस्ताक्षरकर्ता के लिये चार्टर पर हस्ताक्षर करने के उपरान्त उसके आभारों से अपने को मुक्त कर लेने का मार्ग नहीं खुला हुआ है। चार्टर के अनुच्छेद ६ के द्वारा सदस्य-राष्ट्र की इच्छा के विरुद्ध भी उसकी सदस्यता समाप्त की जा सकती है, क्योंकि इस अनुच्छेद में उपबंधित है कि संयुक्त राष्ट्र का कोई सदस्य, जिसने कि वर्तमान चार्टर में निहित सिद्धान्तों का निरंतर उल्लंघन किया है, सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर साधारण सभा द्वारा निष्कासित किया जा सकता है।

इस प्रसंग में यहाँ उल्लेखनीय है कि W. H. O. या (World Health Organisation) विश्व-स्वास्थ्य-संघ के संविधान में ऐसा कोई खंड नहीं है जो कि किसी राष्ट्र को इस घोषणा के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर सदस्यता वापस करने का अधिकार दे सके कि संघ के संविधान में कोई ऐसा परिवर्तन या संशोधन हो गया, जो कि उसके सर्वथा अहित में हैं, या यह कि कोई ऐसा संशोधन हुआ है, जिस पर कि उसने पहले हस्ताक्षर के समय कदापि सहमति

१. Hans Kelsen: The Law of the United Nations, p. 128.

नहीं दी थी। जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने विश्व-स्वास्थ्य-संघ में प्रविष्ट होना चाहा, तो कांग्रेस के दोनों सदनों ने स्पष्टतः प्रस्थापित किया कि संयुक्त राज्य उस संघ से पृथक् हो जाने के अपने अधिकार को आरक्षित किये हुये है और यह कि यह प्रत्याहरण १ वर्ष की अधिसूचना के आधार पर हो सकेगा। जुलाई २, १९४८, को *विश्व-स्वास्थ्य-सभा* (*World Health Assembly*) ने, फिर भी, संयुक्त राज्य द्वारा संविधान के उस रूप में ग्रहण किये जाने की वैधता को मान्यता प्रदान की।

१२ फरवरी, १९४९ को सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स ने विश्व-स्वास्थ्य-संघ की क्रियाविधि से असंतुष्ट होकर घोषित किया कि अब वह इस संघ का सदस्य नहीं है। उक्रेनियन सोवियत समाजवादी गणतन्त्र और बाईलोरूसी सोवियत समाजवादी गणतन्त्र ने भी तदनन्तर अपने प्रत्याहरण को अधिसूचित कर दिया। डायरेक्टर जेनरल ने, फिर भी, संयुक्त समाजवादी सोवियत संघ को सूचित किया कि चूँकि विश्व स्वास्थ्य-संघ के संविधान में प्रत्याहरण का कोई उपबन्ध नहीं है, अतः वे उसकी अधिसूचना को संघ से प्रत्याहरण के रूप में स्वीकृत नहीं कर सकते। इस तर्क को सभा ने २५ जून, १९४९, को अनुमोदित किया। जुलाई १९५५, में सोवियत संघ ने पुनः उद्घोषित किया कि वह विश्व स्वास्थ्य संघ में सम्मिलित हो रहा है। एकमात्र कठिनाई केवल उस अवधि के बकाये के चन्दे की थी, जिसमें कि प्रत्याहरण करने वाले राज्यों ने अपने को संघ से पृथक् मान लिया था। इस कठिनाई का समाहार ५ प्रतिशत प्रतीकात्मक चन्दे की पूर्ति द्वारा कर लिया गया और प्रत्याहार स्थिर न हो पाया।

फियनबर्ग (Feinberg) का कथन है कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से प्रत्याहरण करने का अधिकार अस्तित्व में नहीं है। वह न तो सम्प्रभुता या समता के सिद्धान्त में निहित है और न तो किसी संघात्मक राज्य या राज्यों के कन्फेडरेशन के सिद्धान्त में ही पाया जाता है। यह अधिकार केवल तभी अस्तित्व में है, जब कि उसे मान्यता दी गई हो, और यह मान्यता संविधान में स्पष्टतः दी गई हो, यह आवश्यक नहीं है। यदि ऐसी मान्यता संविधान में दी गई हो, तब तो यह विचारों की भिन्नताओं से बचने का सर्वोत्तम उपाय हो सकता था। दूसरे शब्दों में, प्रत्याहरण का अधिकार अन्तर्निहित रूप में भी दिया जा सकता है, अर्थात् प्रत्येक प्रसंग में यह अवश्य ही सिद्ध हो जाना चाहिए कि यद्यपि लिखत (instrument) में प्रत्याहरण उपबन्धित नहीं है, फिर भी पक्षकारों का आशय यह है कि इसे स्वीकार कर लिया जाय। किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ से, जब कि उसके संविधान में प्रत्याहरण का उपबन्ध नहीं है, फिर भी यह अधिकार मिल सके, ऐसा दृष्टान्त संयुक्त राष्ट्र संघ

मे है। सैन फ्रान्सिको मे सघ की विशेष अनुज्ञात्मक घोषणा मे पक्षकारो के अभिप्राय को अभिव्यक्ति मिली। यद्यपि कुछ लेखको ने आदेशात्मक घोषणा की वैधता को स्वीकार नही किया है (विशेष रूप में केल्सन ने 'दी लॉ आँव दी युनाइटेट नशन्स' पृ० १२२) किन्तु जैसा वि फिथनबर्ग ने लिखा है इस तर्क का समर्थन अधिकाश विद्वानो ने नही किया है। केल्सन ने निष्कर्ष रूप मे कहा है कि किसी अन्तर्राष्ट्रीय सघ से एकपक्षीय प्रत्याहरण के अधिकार का समर्थन नही किया जा सकता और इसलिये प्रत्याहरण केवल तभी स्वीकृत किया जा सकता है जब कि इसका स्पष्टत उपबन्ध हो या यह कि अन्तर्निहित तात्पर्य के रूप मे इसका निष्कर्ष निकाला जा सकता है।[1]

अब भी प्रसग कठिनाइयो से मुक्त नही है। विश्व-स्वास्थ्य-सघ ने मूल सवैधानिक समस्या का सुलझाव प्रस्तुत नही किया, क्योंकि रूस ने जब प्रत्याहरण के प्रस्ताव के उपरान्त ५ प्रतिशत बकाया प्रतीकात्मक शुल्क अदा करके सदस्यता बनाये रखा, तब सघ बहुत अधिक वैध तर्क-वितर्क मे पडने नही गया। इस विवाद का सुलझाव इस प्रकार हो सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को यह प्रसग प्राधिकारिक सम्मति के लिये सदर्भित कर दिया जाय। इस तथ्य को ध्यान मे रखते हुये कि चूकि चार्टर मे प्रत्याहरण का उपबन्ध नहीं है, और सघ अपनी प्रकृति और प्रयोजनो के लिये इस उद्देश्य से अनुप्राणित है कि जहाँ तक सभव है, अपनी परिधि में विश्व के समस्त देशो को आवृत्त कर ले, अस्तु सार्वभौम आशय सघ की सार्वदेशिकता से है और यह कि एक सदस्य को प्रत्याहार का अधिकार नही दिया जाना चाहिये और न तो उसे अपने भाभारा से उस समय तक भागने की ही अनुमति दी जानी चाहिये जब तक कि परिस्थितियो से एकपक्षीय प्रत्याहरण के लिए पर्याप्त आधार और कारण न उपस्थित हो गये हो, यहाँ तक कि उपसमिति की आदेशात्मक घोषणा के आधार पर, जिसे कि प्रथम आयोग ने अनुमोदित किया था, और बाद मे जिसका अनुसमर्थन सान फ्रान्सिस्को की साधारण सभा ने किया था, स्पष्टत प्रस्थापित हो गया कि सदस्य बनने वाले राज्यो का यह सर्वोत्तम कर्तव्य होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये वे सघ मे अपनी सदस्यता निरन्तर जारी रखें, और यह कि सघ का उद्देश्य यह नही था कि ऐसी स्थिति मे भी किसी सदस्य को सदस्यता जारी रखने के लिए विवश किया जाय जब कि अपवादजनित परिस्थितियाँ इस योग्य उपस्थित हो गई हो कि प्रत्याहरण तर्कसगत

1. The British Year Book of International Law, 1963 Unilateral Withdrawal from an International Organization by N. Fienberg, 189, 215, 218

उपाय प्रतीत होने लगे। इसलिए यह स्पष्ट है कि सघ से प्रत्याहरण की अनुमति देने के लिए, और उसे न्यायोचित कहे जाने के लिए पर्याप्त न्यायोचित कारणो का होना आवश्यक है। ऐसे अपवादजनित कारण 'रिवस सिक स्टेन्टिबस' या पर्याप्त कार्य-कारण आधार के अन्तगत परिवर्तित परिस्थितियाँ होगी क्योकि यदि प्रत्याहरण सम्बन्धित पक्षकार की इच्छा पर स्वीकृत कर दिया जाता है, तो इसका स्पष्टत बुरा प्रभाव विश्व-सगठन की दृढता पर पडेगा।

शाख्तर (Schachter) का वचन है कि, "The omission of the usual clause permitting denunciation or withdrawal was evidently due, not to an oversight, but to a general policy which favoured universalty and deprecated unilateral action." अर्थात् सामायत विमुक्ति या प्रत्याहरण की अनुमति उपबन्धित करने वाले खड का लोप किसी असावधानी के कारण नही हुआ है, अपितु एक सामान्य नीति के आधार पर इस लोप को रखा गया है, जिससे सार्वदेशिकता का समथन हो सके और एकपक्षीय कार्यवाही रोकी जा सके। जनवरी १७, १८७१ के लन्दन प्रोटोकोल द्वारा अनु समर्थित अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे इस सिद्धान्त को और भी बल मिला, क्योकि इस प्रोटोकोल मे महान् शक्तियो ने घोषणा की कि यह राष्ट्रो की विधि का एक अनि-वार्य सिद्धान्त है कि कोई भी शक्ति के सधि के आभारो से अपने-आप को विमुक्त नही कर सकता, जब तक कि अन्य सविदाकार शक्तियो द्वारा सोहार्दता-पूर्वक मान्य न हो जाय। यहाँ इस बात को ध्यान मे रखना उचित होगा कि इडोनेशिया सयुक्त राष्ट्र सघ मे पुन वापस आ गया और उसने सितम्बर, १९६६ मे हुई सयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा के २१वे अधिवेशन मे भाग ले लिया।

"शान्ति के लिये सगठित होने" का सकल्प (Uniting for Peace Resolution)—चार्टर की सरचना इस अन्तर्निहित विचार के साथ की गई थी कि इससे महान् शक्तियो की एक एकता होगी। वस्तुत जब चार्टर प्रभावकारी हुआ, उस समय यह एकता अस्तित्व मे थी। किन्तु, बाद मे यह देखा गया कि यह एकता स्थायी या अविच्छिन्न नही रह गई। सयुक्त राष्ट्र के पुलिस बल का, जिसका कि उपबध चार्टर द्वारा किया गया था, सुरक्षा परिषद् के नियन्त्रण मे रखे जाने का आशय था, जिसमें कि महान् शक्तियाँ अपने निषेध-अधिकार (right of veto) को लेकर बैठी हुई हैं। इसलिये, यदि महान् शक्तियाँ किसी अग्रधर्षण के विरुद्ध नही खड़ी होना चाहती, तो सम्भावना यह थी कि पुलिस की शक्ति द्वारा सयुक्त राष्ट्र ऐसी स्थिति मे शान्ति प्रवर्तित न कर सके। इस कठिनाई को दूर करने के लिए

संयुक्त राज्य अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा में एक प्रस्ताव रखा जिसे 'शान्ति के लिये एकता' (Uniting for Peace) का नाम दिया गया। नवम्बर ३, १९५०, को साधारण सभा ने प्रस्ताव को अंगीकृत कर लिया, जिसमे कि निम्नलिखित संकल्प था —

"If the Security Council because of lack of unanimity of the permanent members, fails to exercise its primary responsibility for the maintenance of international peace and security in any case where there appears to be a threat to peace, breach of the peace, or act of aggression, the General Assembly shall consider the matter immediately with a view to making appropriate recommendations to members for collective measures, including in the case of a breach of the peace or act of aggression the use of armed force when necessary to maintain or restore international peace and security If not in session at the time, the General Assembly may meet in emergency special session within twenty-four hours of the request therefor Such emergency special session shall be called if requested by the Security Council on the vote of any seven members or by a majority of the members of the United Nations"

'यदि सुरक्षा परिषद्, स्थायी सदस्यों में एकमत हो सकने के अभाव में, किसी ऐसे प्रसंग मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के अपने प्राथमिक कर्तव्य के अनुपालन मे विफल हो जाती है, जहाँ कि शान्ति के लिए खतरा प्रतीत होता हो, या शान्ति भंग होने की स्थिति हो, या अग्रधर्षण का कार्य किया गया हो, तो साधारण सभा प्रसंग पर तत्काल विचार करेगी जिससे कि वह सदस्यों के पास सामूहिक उपाय अपनाने की संस्तुति कर सके, जिसमे कि प्रसंग मे निहित शान्ति के भंग होने, या ऐसे अग्रधर्षण के कार्य मे, जहाँ कि सैन्य बल का प्रयोग आवश्यक हो गया हो, जिससे कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को या तो बनाये रखा जा सके, या फिर से स्थिर किया जाय। यदि उस समय साधारण सभा सत्र मे न हो, तो सभा आपात्काल मे, इस आशय के निवेदन पर २४ घंटे के भीतर बैठक के लिए बुलाई जा सकती है। इस प्रकार का आपात् कालीन विशेष सत्र सुरक्षा परिषद द्वारा उसके किसी भी सात सदस्यो के बहुमत के आधार पर किये गये निवेदन पर, या संयुक्त राष्ट्रों के सदस्यो के बहुमत के निवेदन पर आहूत किया जा सकेगा।"

सभा ने एक 'सामूहिक उपाय समिति' (Collective Measures Committee) की भी सरचना की जिसे उत्तरदायित्व में यह काम दिया गया कि वह प्रत्यर्पण या रोकने के लिये संघ की अग्रिम योजना तैयार करे। इसी संदर्भ के द्वारा एक 'शान्ति-निरीक्षण-आयोग' (Peace Observation Commission) का भी गठन किया गया ।

'शान्ति के लिये सगठित होने' (Uniting for Peace) के संकल्प का सयुक्त समाजवादी सोवियत गणतन्त्र द्वारा इस आधार पर विरोध किया गया कि इससे सुरक्षा परिषद कमजोर हो जायेगी, क्योंकि परिषद के शान्ति और सुरक्षा संबंधित पूर्ण दायित्व को उससे छीना जायेगा और चार्टर में निषेध (veto) के आधार पर जिस समरूपता की प्रकल्पना की गई है, वह सिद्धान्त समाप्त हो जायेगा ।

'शान्ति के लिये सगठित होने' के संकल्प के अन्तर्गत महासभा को जो शक्ति प्रदान की गई है, उसके अनुसरण में महासभा का एक विशेष आपातकालीन अधिवेशन नवम्बर, १९५६ के प्रथम सप्ताह में बुलाया गया । इस अधिवेशन के लिये विचारणीय प्रश्न अक्टूबर, १९५६ में मिस्र पर इजरायल-ऐंग्लो-फ्रेंच-आक्रमण पर उस स्थिति में विचार करना था जबकि सुरक्षा परिषद में संयुक्त राज्य अमेरिका के इस प्रस्ताव पर ब्रिटेन और फ्रान्स ने निषेध का प्रयोग कर दिया था कि मिस्र में सभी राष्ट्रों से बल प्रयोग या आतंक को रोकने का आग्रह किया जाय ।

'शान्ति के लिये सगठित होने' के सकल्प ने सयुक्त राष्ट्र संघ के दो महत्वपूर्ण अंगों अर्थात् महासभा और सुरक्षा परिषद् के बीच विश्व शान्ति को बनाये रखने के प्रसंग में परस्पर के आधारभूत सबधो को ही बदल डाला । इसने महासभा को वह सामर्थ्य प्रदान कर दी कि वह ऐसी स्थिति में स्वयं आगे कदम उठा सके, जब कि परस्पर महान् शक्तियों की मत-भिन्नता के कारण सुरक्षा परिषद् प्रभावकारी कदम उठा सकने में असफल हो रही हो; और यह कि सभा ऐसी संस्तुतियाँ भी कर सके जिनमे सैन्य-बलों के प्रयोग के भी उपबन्ध हो । इस संकल्प के विभिन्न उपबन्धों का उद्देश्य है सामूहिक उपायों को शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से प्रभावकारी कर सकन और उनमे त्वरितता ले आना । प्रभाव रूप में प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया है कि जब कभी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई हो, जिसका कि उल्लेख ऊपर किया गया है, तो महासभा, जिसके समूह में महत्वपूर्ण प्रस्तावों के लिये वांछित है कि उपस्थित और मतदान करने वाले राज्यों में से दो तिहाई का बहुमत हो, इस बहुमत के आधार पर अपने हाथ में प्रसंगगत मामले को ले सकती है और सदस्य राज्यों के नाम कोई भी संस्तुति कर सकती है ।

१९६० मे काँगो विवाद मे जिसमे कि सुरक्षा परिषद् ने ८ और २ के अनुपात के बहुमत से सकल्प पारित किया था कि महासभा का विशेष सत्र बुलाया जाय, उसकी वैधता को पोलैंड और सयुक्त समाजवादी सोवियत गणतन्त्र ने चुनौती दी थी। सोवियत रूस की चुनौती का आधार यह था कि शान्ति के लिये सगठित होने का सकल्प चार्टर के उन उपबन्धो के प्रतिकूल अंगीकृत हुआ है जिनमे कि वांछित है कि आपातकालीन सत्रो की बैठक बुलाने के लिये सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यो का एकमत होना आवश्यक है। सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव की वैधता को दी गई इस चुनौती मे इस आधार पर शान्ति के लिये सगठित होने के सकल्प की सवैधानिकता का प्रश्न नही उठा क्योकि महासभा की सक्षमता चार्टर के अनुच्छेद ११ के पैरा २ और अनुच्छेद १२ के सम्बन्ध मे सीमित है। इसका कारण यह है कि इससे पूर्व दो अवसरो पर सोवियत रूस ने इस आधार पर सभा के विशेष आपातकालीन अधिवेशन को बुलाने के प्रश्न पर स्वीकृत मतदान का प्रयोग किया था क्योकि सुरक्षा परिषद् का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने से सम्बन्धित जो प्राथमिक दायित्व है, उसके निर्वाहन मे परिषद् के स्थायी सदस्यो की एकमतता के अभाव से बाधा पडी थी। वे अवसर इस प्रकार थे—(१) अक्टूबर, १९५६ मे इजरायल, फ्रास और युनाइटेड किंगडम ने जब अगस्त, १९५८ मे मिस्र पर आक्रमण किया था, उस समय सशस्त्र हस्तक्षेप के सम्बन्ध मे, और (२) लेबनान और जार्डन मे शान्ति के भग होने की आशका के सम्बन्ध मे प्रस्तावित सकल्प के प्रसग मे। १९५६ सुरक्षा परिषद् मे यह आपत्ति, जब कि दो स्थायी सदस्यो, अर्थात् फ्रास और युनाइटेड किंगडम ने के स्वेज हस्तक्षेप के सम्बन्ध में नकारात्मक मतदान किया था फिर भी इस आपत्ति को बढावा न मिल सका।

चार्टर के अनुच्छेद २० के अन्तर्गत विशेष अधिवेशन महासचिव द्वारा सुरक्षा परिषद् के निवेदन पर बुलाये जाने का उपबन्ध है। उसके अन्तर्गत ऐसा कोई उपबन्ध नही है कि कोई विशेष अधिवेशन सयुक्त राष्ट्र के ऐसे किसी भी सात सदस्यो के निवेदन पर बुलाया जा सके जिनका कि सुरक्षा परिषद् मे प्रतिनिधित्व है। चूँकि सोवियत रूस ने महासभा के उत्तरवर्ती आपातकालीन विशेष अधिवेशन की वैधता को चुनौती नही दी थी अत. मामले को सुलझा हुआ मान लेना चाहिये और महासभा के इस अधिकार को भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि विशेष सत्र के बुलाने की प्रक्रिया वह स्वय निर्धारित करे।

पोलैण्ड ने दूसरी आपत्ति इस आधार पर उत्पन्न की थी कि सुरक्षा परिषद् को जहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के बनाये रखने के प्राथमिक दायित्व का प्रश्न है, यह दायित्व अवरुद्ध नही हुआ है क्योकि परिषद् ने काँगो के

प्रसग मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से तीन सकल्पो को अगीकृत
किया है । इमलिये विशेप अधिवेशन बुलाये जाने के लिये जो शर्तें वांछित थी वह
पूरी नही हुईं । इस आपत्ति के उत्तर मे केवल इतना कहा जा सकता है कि इस तथ्य
में कि सुरक्षा परिषद् ने तीन सकल्पो को अगीकृत किया है, यह अर्न्तनिहित नही है
कि सदस्य आगे फिर इस आधार पर सभा का विशेप अधिवेशन बुलाने का आग्रह
न कर सके। कि सोवियत रूस द्वारा ऐसे सकल्प पर निषेध, जिसमे कि कांगोली
सरकार को सयुक्त राष्ट्र निधि से वित्तीय सहायता प्रदान करने का उपबन्ध था,
परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाये रखने के दायित्व के प्रयोग पर बाधक सिद्ध
हुआ है । सात मतो की वांछनीयता की शर्त वास्तव मे पूरी हो चुकी है ।

शान्ति के लिये सगठित होने के सकल्प के अगीकृत किये जाने के उपरान्त भी
"सुरक्षा परिषद् शान्ति बनाये रखने के सम्बन्ध मे वैध रूप मे प्रस्थापित प्राथमिकता
को अब भी बनाये हुये है और इसके पूर्व लेबनान, जार्डन और कांगो की विकट
परिस्थितियो मे परिषद् ने स्थिति को समालने के लिये अपने अधिकार का प्रयोग
किया है, किन्तु जब तक कि शीत युद्ध का तनाव बना रहता है, यह सम्भव है कि
महासभा अधिक प्रभावकारी कार्य सम्पन्न कर सके।" (जे० एल० ब्रायर्ली, दी लॉ
आफ नेशन्स, सालहवां सस्करण, पृष्ठ ११८) ।

कार्यों का सिंहावलोकन —साधारण सभा ने केवल एक क्षेत्र (forum)
ही नही प्रस्तुत किया है वरन् उसने महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे निश्चित
निर्णय करने की क्षमता भी व्यक्त की है । सयुक्त राष्ट्र सघ के क्षेत्राधिकार मे आने
वाले सभी विषयो पर वह बहस कर सकती है और यह कहना ठीक ही है कि
"कोई भी ऐसी बात जो कि सूर्य की किरणो की सीमा मे मानवीय हित
की है अथवा मानव अधिकारो से सम्बन्धित है या मनुष्य के भोजन, उसके शरण
और उसके वस्त्रादि से सम्बन्धित है" वह साधारण सभा के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत
आती है ।

स्टार्क (Starke) के अनुसार "It is remarkable that in practice
the General Assembly has been able to take a leading role in
questions of international peace and security."—तात्पर्य यह कि
साधारण सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण प्रश्नो के
निपटारा के लिये प्रशसनीय कार्य किया है । पैलेस्टाइन, ग्रीस, स्पेन, कोरिया,
काश्मीर, बागा आदि, सभी विवादों मे उसने विचार-विमर्श किया है तथा सम
स्याओ के सुलझाने का भरसक प्रयास किया है ।

साधारण सभा ने ३ जनवरी, १९५० को (Uniting for Peace) अर्थात् शांति के लिये सयुक्त होने का प्रस्ताव पारित किया था। इस प्रस्ताव से साधारण सभा की शक्तियाँ बहुत ही बढ गई हैं। इस प्रस्ताव ने पाँच महान् शक्तियो द्वारा प्रयोग किये गये निषेधाधिकार की प्रखरता को आंशिक रूप से कम कर दिया है।

२ सुरक्षा परिषद्
(Security Council)

सुरक्षा परिषद् मे प्रारम्भिक रूप मे सयुक्त राष्ट्र के ग्यारह सदस्य होते थे। चीन का गणतन्त्र, फ्रास, रूस का समाजवादी गणतन्त्र सघ, ग्रेट-ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका पाँच स्थायी सदस्य हैं और छ अस्थायी सदस्य साधारण सभा द्वारा दो वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचित होते थे।

महासभा द्वारा दिसम्बर १७, १९६३, को स्वीकृत किये गये सशोधन जो प्रभावकारी रूप मे अगस्त ३१, १९६५, को अस्तित्व मे आया, सुरक्षा परिषद् पन्द्रह सदस्यो द्वारा गठित होगी जिसमे महासभा दस अन्य सयुक्त राष्ट्र सदस्यो को सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यो के रूप मे निर्वाचित करेगी। अस्थायी सदस्यो के निर्वाचन में विशेष रूप से उन राष्ट्रो की ओर अधिक ध्यान दिया जाएगा जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के उद्देश्य मे सयुक्त राष्ट्र सघ को विशेष सहयोग दिया है। इसके साथ ही इस निर्वाचन मे समान भौगोलिक वितरण के भी सिद्धान्त को व्यवहृत किया जाएगा।

चार्टर मे यह भी अनुबन्धित है कि सयुक्त राष्ट्र सघ का कोई भी सदस्य जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य न हो मतदान का अधिकार न रखते हुये भी किसी प्रश्न की विवेचना मे जो सुरक्षा परिषद् के समक्ष रक्खा गया हो, यदि उस सदस्य के हितो पर विशेष रूप से प्रभाव पडता हो तो भाग ले सकता है। इसी प्रकार से सयुक्त राष्ट्र सघ का कोई सदस्य जो सुरक्षा परिषद् का सदस्य न हो अथवा कोई राष्ट्र जो सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य न हो यदि वह सुरक्षा परिषद् के विचाराधीन किसी झगडो मे पक्षकार हो तो उसे मतदान के अधिकार के बिना उस झगडे सबधी विवेचना मे भाग लेन के लिये आमन्त्रित किया जायगा।

सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष पारी-पारी से सुरक्षा परिषद् के सदस्यो द्वारा उनके नाम से अँग्रजी वर्णमाला के अक्षरो के क्रमानुसार ग्रहण किये जाते हैं। प्रत्येक अध्यक्ष कैलेंडर के एक मास के लिये पद ग्रहण करता है।

सुरक्षा परिषद् की शक्तियाँ और कार्य —सयुक्त राष्ट्र सघ के सम्पूर्ण वैधानिक रूप से प्रमुख कार्यों का सचालन सुरक्षा परिषद् को दिया गया है जो उन्हे

या तो अकेले अथवा साधारण सभा से परामर्श करके करती है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा स्थापना करने का प्राथमिक उत्तरदायित्व संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों द्वारा सुरक्षा परिषद् को सौंपा गया है। सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का एक अंग है। इसका अधिक अथवा कम मात्रा में कार्य-कारिणी के रूप में कार्य करने पड़ते हैं। अतः यह चार्टर अनुच्छेद २५ के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की ओर से कार्य करती है तथा सदस्यों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार करेंगे तथा उनका पालन करेंगे।

झगड़ों का शान्तिपूर्ण तथा अनुरोधपूर्वक समझौता :—सुरक्षा परिषद् प्रमुख दो कार्य करती है। यह चार्टर के अध्याय ६ के अन्तर्गत झगड़ों के बारे में जाँच करती है तथा अध्याय ७ के अन्तर्गत शान्ति भंग के सम्बन्ध में कार्यवाही करती है। अध्याय ६ के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् जब कभी आवश्यक समझती है झगड़े के पक्षकारों को बुलाती है जब कि झगड़े के जारी रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना संकटापन्न हो तथा उनसे उनका वार्ता-समझौता, जाँच, मध्यस्थता, सान्त्वना, पंचायत, न्यायिक निर्णय, प्रादेशिक अभिकर्तृत्व अथवा प्रबन्धक का अवलम्बन अथवा उनकी इच्छा के अन्य शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा करने का कहती है। ऊपर निर्देशित प्रकार के झगड़ों के पक्षकार बतायी गयी रीतियों से यदि इसे तय करने में असफल रहें तो सुरक्षा परिषद् यह निर्णय करती है या तो ठीक ठीक प्रक्रियाओं की अथवा तय करने की रीतियों की सिफारिश की जाय अथवा तय करने के वास्तविक निबन्धनों की सिफारिश की जाय। सुरक्षा परिषद् स्वतः अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य द्वारा निर्देशित किये जाने पर अथवा किसी असदस्य द्वारा जो झगड़े में पक्षकार हो अथवा साधारण सभा द्वारा निर्देशित किये जाने पर किसी ऐसे झगड़े अथवा स्थिति की जाँच कर सकती है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न हो। भिन्न-भिन्न कार्यवाहियाँ जो सुरक्षा परिषद् द्वारा झगड़ों के शान्तिपूर्वक समझौते की दिशा में की गई वे निम्नलिखित हैं :—

सन् १९४७ में नीदरलैंड तथा इंडोनेशिया से युद्ध बन्द करने को कहना, सुरक्षा परिषद् के २५ अगस्त सन् १९४७ के प्रस्ताव पर इंडोनेशिया के मामले में सुसेवा मध्यस्थता, बायाल, पैलेस्टाइन के मामले में मध्यस्थ की तथा बाद में समाधान आयोग की नियुक्ति तथा भारत और पाकिस्तान के झगड़े में मैत्रीपूर्ण समझौते पर पहुँचने का प्रयास आदि है।

अध्याय ७ के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् यह निश्चय करती है कि शान्ति के विरुद्ध कोई धमकी अथवा शान्ति भंग अथवा आक्रमणकारी कार्य तो विद्यमान नहीं है तथा सिफारिश करती है अथवा निश्चित करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा

सुरक्षा स्थापित रहने के लिये अथवा उनके पुन स्थापनार्थ किन उपायो का अवलम्बन किया जाय। सुरक्षा परिषद् द्वारा जो उपाय अवलम्बित किए जाय वे प्रवर्तक कार्य के भीतर आते हैं तथा दो प्रकार के होते हैं। प्रथम प्रकार के उपाय वे हैं जिनमे सैनिक बल प्रयोग सम्मिलित नही है जैसे कि अनुच्छेद ४१ म अनुवर्णित है। इस अनुच्छेद व अनुबन्धो व अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्यो से यह माँग कर सकती है कि ऐसे उपायो को लागू करें जैसे आर्थिक सम्बन्धो, यातायात के साधनो तथा कूटनीतिक सम्बन्धो का विच्छेद। दूसरे प्रकार के उपाय अनुच्छेद ४२ के अन्तर्गत लागू किए जाते हैं जब उपरोक्त अनुच्छेद ४१ मे अनुबन्धित उपाय अपर्याप्त सिद्ध होते हैं तथा उनमे स्थल, जल अथवा वायु सेनाओ द्वारा ऐसा कार्य सूचित है जिसमे नाकाबन्दी भी सम्मिलित है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापना के अथवा पुन सस्थापना के लिए आवश्यक हो। इन कर्त्तव्यो का पालन करने के लिये सयुक्त राष्ट्र सघ के सब सदस्यो ने यह प्रतिज्ञा की है कि सुरक्षा परिषद् द्वारा माँगे जाने पर तथा विशेष स्वीकार-पत्र अथवा स्वीकार-पत्रो के अनुसार वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापना के निमित्त आवश्यक सैनिक दल, सहायता तथा सुविधाये जिनमे यातायात अधिकार भी सम्मिलित हैं उसको प्रदान करेंगे। चार्टर के अनुच्छेद ४५ मे यह व्यवस्था की गई है कि पाँच स्थायी सदस्यो की सेनाओ के प्रधानो की एक सैनिक दल-समिति बनेगी जो सुरक्षा परिषद् को प्रवर्तक कार्य मे सैनिक दृष्टिकोण के सम्बन्ध म सम्मति तथा सहायता प्रदान करेगी। सयुक्त राष्ट्र सघ को प्रति आवश्यक समय पर सैनिक उपायो के अवलम्बन करने योग्य बनाने के लिय सदस्यो ने यह भी प्रतिज्ञा की है कि वे राष्ट्रीय वायु सैनिक दलो की टुकडियो को सयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय प्रवर्तक कार्य के लिए तत्काल ही प्राप्त करावेंगे।

सुरक्षा परिषद् ने सर्वप्रथम निराकरणकारी अथवा प्रवर्तक कार्यवाही का कोरिया की लडाई म प्रयोग किया जब इसने अपने जून २७ तथा जुलाई ७ सन् १९५० के प्रस्तावो द्वारा उत्तरी कोरिया मे आक्रमण की निन्दा की तथा सदस्यो से यह प्रार्थना की कि वे सैनिक दल तथा अन्य सहायता देवें तथा उनको सयुक्त राष्ट्र के अधीन एक सम्मिलित कमान (unified command) को उपलब्ध करें। जुलाई ७ के प्रस्ताव द्वारा सयुक्त राष्ट्र से प्रार्थना की गई कि वे इन सेनाओ के समादेशक को नियुक्त करें तथा सम्मिलित कमान को यह प्राधिकृत किया गया कि वह स्वेच्छानुसार सयुक्त राष्ट्र सघ के झडे का उपयोग करे। कोरिया प्रजातत्र की सेनाओ को अमेरिका के लडाकू तथा बम फेंकनेवाले वायुयानो द्वारा सहायता प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त सयुक्त राष्ट्र सघ ने सदस्य तथा असदस्य राष्ट्रो द्वारा कम्यूनिस्ट चीन तथा उत्तरी कोरिया को सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण पदार्थों के निर्यात

मे रोक लगा दी। इसके पूर्व सुरक्षा परिषद ने पैलेस्टाइन, इडोनेशिया तथा काश्मीर के मामलो मे अपने को मुख्यत पक्षकारो के बीच मे समझौता होने पर गोलाबारी बन्द कराने के कार्य तक ही सीमित रखा।

तो भी यह अभी तक अनिश्चित ही है कि यदि एक राष्ट्र झगडे को शान्तिपूर्ण उपायो से निर्णय करने म असफल रहे तो सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा लागू की गई प्रवर्तक कार्यवाही कहाँ तक प्रभावपूर्ण होगी। चार्टर के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् को छोडकर अन्य किसी रीति से प्रवर्तक कायवाही सम्भव नही है। सुरक्षा परिषद् मे बडे पाँच को निषेधाधिकार (Veto Right) है जिसके परिणामस्वरूप किसी बडी शक्ति के विरुद्ध प्रवर्तक कायवाही पूर्णत बहिष्कृत है।

सुरक्षा परिषद क तीन प्रस्ताव जिसके आधार पर उत्तरी कोरिया क विरुद्ध कार्यवाही करना था सुरक्षा परिषद् के एक स्थायी सदस्य की अनुपस्थिति मे भी पारित हुये। अनुच्छेद २७ (३) के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णय प्रक्रियात्मक प्रसगो के अलावा अन्य सभी प्रसगो मे ७ (तथा सशोधन के पश्चात ६) सदस्यो के स्वीकारात्मक वोट द्वारा होता है जिसमे स्थायी सदस्यो का निर्णायक वोट भी रहता है।

कोरिया म की गइ कायवाही सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा झगडे के बाध्यकर समाधान के क्षेत्र के अन्तगत आती है।

Dr Murray का कथन है कि "सुरक्षा के उपबन्ध सघ को बहुत ही तेज दाँत और बहुत ही प्रबल शक्ति प्रदान कर देते हैं और नया चार्टर पुराने कावेनेण्ट की अपेक्षा सुरक्षा परिषद् को कहीं ऊँचे स्तर पर ला देता है। पहली बार पढने पर ऐसा ही प्रतीत होता है, लेकिन आगे सन्देहो के कारण भी उत्पन्न हो जाते हैं। अधिक शक्ति से सम्पन्न राज्य प्राय विश्व-शान्ति को खतरे मे डाल दिया करते हैं। उनकी निरन्तर बढती हुई शक्ति यह सन्देह उत्पन्न कराती है कि शान्ति के लिये स्थापित किया हुआ यह सघ उन्हे अपने प्राधिकार मे न ला सकेगा। वे बहुत सी साधारण प्रतिज्ञायें करते हैं कि अच्छा व्यवहार करगे किन्तु मनमाने व्यवहार के लिय स्वतन्त्र रहते हैं किन्तु हमे इस बात के लिये अपने आपको बधाई देना चाहिये कि नए सघ के दाँत हैं।"

सुरक्षा परिषद् के अन्य कृत्य स्थानीय झगडो को शान्तिपूर्वक निर्णय के हैं। यह न्यासित प्रदेश का नियन्त्रण और निरीक्षण का अधिकार रखती है। यह साधारण सभा क समक्ष सदस्यो के प्रवेश, निलम्बन तथा निष्कासन की सिफारिश करती है।

सुरक्षा परिषद् मे मतदान की प्रक्रिया (Voting Procedure) — सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक मतदान का अधिकार है। प्रक्रिया सम्बन्धी

विषयों में सुरक्षा परिषद् का निर्णय सात (तथा संशोधन के पश्चात ९) सदस्यों के अंगीकारसूचक मतदान से होता है। अन्य सभी विषयों में सुरक्षा परिषद् के निर्णय सात (तथा संशोधन के पश्चात ९) सदस्यों के अंगीकार-सूचक मतदान द्वारा होता है जिसमें स्थायी सदस्यों का सहमतिसूचक मतदान भी सम्मिलित है। इन स्थितियों में स्थायी सदस्यों के अंगीकारसूचक मतदान उस विशिष्ट निर्णय के पक्ष में आवश्यक हैं अन्यथा वह निर्णय अवरुद्ध हो जाता है अथवा विशेषाधिकार द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है और पड़ा रह जाता है।

निषेधाधिकार (Veto Right) :—स्थायी सदस्यों के निषेध सम्बन्धी निषेधाधिकार का प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण हो गया है, अतः इस विषय पर कुछ विवेचना की आवश्यकता है। प्रारम्भ में सैन फ्रान्सिसको सम्मेलन में यह योजना बनाई गई थी कि पाँच बड़ी शक्तियों पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने का विशेष उत्तरदायित्व है। प्रेसिडेंट रूजवेल्ट जो द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्तिम दिनों में विश्वसंघ के विचार को विवादपूर्ण विषय बनाने के लिये उत्तरदायी थे, उनका यह विचार था कि युद्धोत्तर काल में बड़ी शक्तियां के लिये संसार की गाड़ी साथ-साथ खींचना आवश्यक है तथा इस उद्देश्य पर वे तभी पहुँच सकते थे यदि वे परस्पर सहयोग करें तथा एक दूसरे से न लड़ें। वे इस बात को पहले से ही समझते थे कि अमेरिका तथा रूस ऐसी बड़ी-बड़ी शक्तियों के लिये यह कदापि सम्भव नहीं था कि वे एक ऐसी सभा में सम्मिलित हों जहाँ कुछ छोटे-छोटे राष्ट्र एकत्रित हों तथा केवल बहुमत के बल से उन्हें अपनी इच्छानुसार नचायें। वे समझते थे कि ये राष्ट्र भिन्न प्रकार से संगठित हैं तथा उनके आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में भिन्नता है। बड़े राष्ट्रों के लिये अपने को इस प्रकार संकटापन्न करना बड़ा ही कठिन था, अतः विश्व की उस स्थिति में निषेध का विशेषाधिकार आवश्यक हो गया, अन्यथा वे संयुक्त राष्ट्र किसी दशा में नहीं हो सकते थे। अतः उन्होंने इसको एक निश्चित विडम्बना के रूप में वास्तविकता प्रकट करने वाली स्थिति मानकर ग्रहण किया। अतः निषेधाधिकार का अभिप्राय यह था कि संयुक्त-राष्ट्र बड़ी शक्तियों में से किसी को न तो बाध्य कर सकता था और न ऐसा करना चाहिये था क्योंकि यदि उन्होंने ऐसा करने का मतदान के बल पर प्रयास किया तो वह शक्ति अपने विशेषाधिकार का उपयोग कर सकती थी। इसका अर्थ अन्य शब्दों में यह हुआ कि किसी बड़ी शक्ति को बलपूर्वक बाध्य करने का परिणाम निस्सन्देह एक विश्वयुद्ध होगा और अभिप्राय यह था कि उस विश्वयुद्ध को बचाया जाय तथा संघर्ष और विरोध को सम्मेलन के मेज पर ही रक्खा जाय और उसे युद्धक्षेत्र में न ले जाया जाय।

चार्टर के अन्तर्गत कोई प्रवर्तक कार्य (enforcement action) सुरक्षा परिषद् को छोडकर किसी अन्य द्वारा सम्भव नही है। सुरक्षा परिषद् मे बडी शक्तियो को निषेध का विशेषाधिकार है जिसके परिणामस्वरूप बडी शक्तियो के विरुद्ध प्रवर्त्तक कार्य पूर्णतया बहिष्कृत हैं। केल्सन का कथन है कि सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्यो का निषेध का विशेषाधिकार जिसके द्वारा विशेषाधिकार सयुक्त राष्ट्र सघ की विधि के ऊपर हो जाते हैं, यह स्थापित करना है कि उनका वैधिक प्रभुत्व सयुक्त राष्ट्र सघ के सब सदस्यो के ऊपर है तथा इसको (सयुक्त राष्ट्र सघ) एक निरकुश अथवा कुलीनतन्त्र राज्य की मुद्रा से अकित करता है। उनका यह भी कथन है कि चार्टर मे यह उद्घोषित किया गया है कि इसका प्रथम सिद्धान्त इसके सब सदस्यो की सर्वव्यापी समानता है, अत: सयुक्त राष्ट्र सघ के राजनैतिक आदर्श तथा इसके वैधानिक सगठन मे स्पष्ट विरोध है। इस चार्टर से वह बडा लाभ पूर्णत कुण्ठित हो सकता है जो चार्टर ने सुरक्षा परिषद् को प्राय. सरकार को समान शक्तियाँ प्रदत्त करके कावनेण्ट की शर्तों से अधिक प्राप्त करने का प्रयास किया।

निषेध का विशेषाधिकार इस आशा से आरम्भ किया गया था कि बडी शक्तियाँ सघ के शान्तिपूर्ण तथा निर्विघ्न सचालन का निश्चित करने के लिये वही सद्बुद्धि स्थापना करने मे सफल होगी जो उन्होंने युद्ध के मध्य में प्रदर्शित की थी। यह निरर्थक समझा गया कि विभिन्न देशो के विस्तार, जनसख्या, शक्ति की अपेक्षा किये बिना एक छोटे देश यथा आइसलैंड को वही मतदान तथा बोलने का अधिकार द दिया जाय जैसा रूस, ब्रिटेन अथवा सयुक्त राज्य अमेरिका को। स्थायी सदस्यो के मध्य मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की उत्कट इच्छा असत्य सिद्ध हुई है तथा सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के बीच के शीतयुद्ध ने सयुक्त राष्ट्र सघ को अपने लक्ष्य पर अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति पर पहुँचने के बीच मे रोडा अटका दिया है।

सयुक्त राष्ट्र सघ के निर्माण की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे निषेध के विशेषाधिकार द्वारा बडी शक्तियाँ अपनी विदेशीय अथवा आन्तरिक नीति को सयुक्त राष्ट्र सघ के बहुमत निर्णयो स सुरक्षित करने मे समर्थ हुई थीं। यह 'अनैच्छिक दासता के विरुद्ध प्रतिरक्षा के रूप मे, बडे राष्ट्रो के भाग्य को विदेशी बमानो के अधीनस्थ किये जाने क सम्बन्ध मे समुचित भय के पूर्ण उत्तर के रूप मे तथा अन्तर्राष्ट्रीय बमान की शाश्वत स्वतन्त्रता की गारन्टी के रूप मे समझी जाती थी। इसमे सदेह नही कि रूस अपने निषेधाधिकार को किसी भी मात्रा में कम किये जाने क बहुत ही विरुद्ध है। यहाँ तक कि सुरक्षा परिषद् का सुचारु रूप से सचालित

करने के लिये शुभेच्छापूर्वक किये गये प्रयासो को भी वह सदेह की दृष्टि से देखता है। उसवे इस सदेह को समझना अपेक्षाकृत सरल है क्योकि रूस वालो के साथ उनके निषेधाधिकार की नीति के सबध मे दूसरे पक्ष वाले निष्पक्ष नही रहे हैं। यदि रूस वालो ने अपने निषेधाधिकार का दुरुपयोग किया है तो दूसरे पक्ष वालो ने भी उनको इस दुरुपयोग के लिये अपशब्द कहने मे चूक नही की है। निश्चय ही कुछ स्थितियो मे निषेधाधिकार का प्रयोग स्पष्ट रूप से रूस के अनुयायियो की रक्षा क लिये किया गया था तथा अन्य दशाओ म रूस का अभिप्राय सयुक्त राष्ट्र सघ मे अपनी आपेक्षिक शक्ति स्थिति बनाय रखने का था, न कि उसके कार्यो मे रोडा अटकाने का। निषेधाधिकार का उपयोग नये सदस्यो के प्रवेश के विरुद्ध भी किया गया जिससे साधारण सभा मे बहुमत वालो की सख्या मे वृद्धि न हो जाय तथा दोष निषेधाधिकार साधारण सभा की क्षमता की वृद्धि का रोकने मे उपयोग किये गये।

निषेधाधिकार के प्रभाव को कम करने के लिये साधारण सभा ने सोवियत रूस के मत के विरुद्ध नवम्बर ३, १९५० को यह प्रस्ताव किया कि सुरक्षा परिषद् स्थायी सदस्यो के मतैक्य के अभाव मे अपने प्रमुख दायित्व को अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की व्यवस्था नही कर पाती। जहाँ कही भी शान्ति के लिए धमकी दी जाती है या शान्ति भग की जाती है या आक्रमण किया जाता है, उन सभी मामलो मे ऐसा ही मतविभेद देखने को मिलता है। इसलिये इस विषय पर साधारण सभा तात्काल ही विचार करेगी जिससे सदस्यो के सामूहिक कार्यवाही के सम्बन्ध मे सिफारिश की जा सके जिससे शान्ति भग की अवस्था मे और आक्रमण के समय यदि आवश्यक हो तो अन्तर्राष्ट्रीय शाति और सुरक्षा की स्थापना के लिये सैनिक कार्यवाही की जा सके। यह भी प्रस्ताव पारित हुआ कि यदि साधारण सभा उस समय अपने सत्र मे नही है तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने के २४ घटे के भीतर उसकी आपातकालिक बैठक बुलाई जा सके। ऐसी बैठक सुरक्षा परिषद् के किसी भी सात सदस्यो से वोट पर या सयुक्त राष्ट्र सदस्यो की बहुमत पर बुलाई जा सकती है।

M. Alvarez ने अपना असहमति सूचक निष्कर्ष "साधारण सभा की क्षमता पर कि वह नये राज्यों को सयुक्त राष्ट्र सघ म सम्मिलित करने मे कहाँ तक सक्षम है", क बाद मे अवलोकन किया है कि—"To decide that the right of veto may be freely exercised in every case in which the Security Council may take action would mean deciding that the will of a single Great Power could frustrate the

will of the other members of the Council and of the General Assembly, even in matters other than the maintenance of peace and security, and that would reduce the U. N. O. to impotence." अर्थात् यह निश्चय करना कि हर मामले मे निषेधाधिकार का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग किया जाय जिसमे कि सुरक्षा परिषद् को कार्यवाही करना आवश्यक होता है, अभिप्राय यह होगा कि केवल एक महान् शक्ति परिषद् के अन्य सदस्यो की इच्छाओं को दबा सकती है और यहाँ तक कि साधारण सभा की इच्छाओं को उन मामलो मे भी जो कि शांति और सुरक्षा की अपेक्षा अन्य हैं। इससे संयुक्त राष्ट्र संघ पूर्ण रूप से अक्षम हो जायेगा।

दुहरा निषेधाधिकार (Double Veto).—सुरक्षा परिषद् की मतदान-प्रक्रिया मे देखा जा चुका है कि इस परिषद् मे प्रत्येक सदस्य का एक मत देने का अधिकार प्राप्त है। प्रक्रिया सम्बन्धी (procedural) विषयो मे सुरक्षा परिषद् का निर्णय कोई सात (और अनुच्छेद २७ के संशोधन के पश्चात्, नौ) सदस्यो के अंगीकार सूचक मत (affirmative vote) से होता है। अन्य सब विषयो मे सुरक्षा परिषद् का निर्णय सात (और अनुच्छेद २७ के संशोधन के पश्चात, नौ) सदस्यो के अंगीकारसूचक मतदान से होना है जिसमे स्थायी सदस्यो की सहमतिसूचक मतदान भी सम्मिलित है। यदि स्थायी सदस्य किसी ऐसे विषय पर जो प्रक्रिया सम्बन्धी न होकर मौलिक विषय हो, निषेधात्मक (negative) मत देता है तो उसे विशेषाधिकार द्वारा निषेध अधिकार (veto) कहा जाता है।

सुरक्षा परिषद् के मतदान प्रक्रिया की प्रमुख विशेषता तब प्रकट होती है जब उसके विषयो का अन्तर प्रक्रिया (procedure) और मौलिक विषयो (matters of substance) में होता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर मे भी इन दो विषयो के संबध मे व्याख्या नही दी गई है। जिन विषयों से सुरक्षा परिषद् का कार्य संगठित रूप से निरन्तर चलता रहता है, वे विषय प्रक्रिया संबधी विषयों के अन्तर्गत आते हैं, जैसे सुरक्षा परिषद् के अधिवेशन का समय तथा स्थान निश्चित करना, सदस्यो को आमन्त्रित करना, उसके प्रक्रिया के लिये नियम बनाना, आदि। सन् १९४५ मे २३ विषयो का एक लेखपत्र बनाया गया लेकिन जहाँ तक विशेषाधिकार के द्वारा निषेध के अधिकार का प्रक्रिया सम्बन्धी विषयो पर लागू होने का सम्बन्ध है, इस लेखपत्र ने उसे सीमित नही किया। लेकिन दुहरे निषेधाधिकार द्वारा निषेध के अधिकार (Double Veto) नामक एक अन्य नियम द्वारा यह सीमित हो गया है ; यद्यपि विशेषाधिकार द्वारा निषेध के अधिकार के समान ही इसका विवरण भी चार्टर मे नही है। जहाँ भी एक स्थायी सदस्य को एक वास्तविक निर्णय पर

विशेषाधिकार द्वारा निषेध करना होता है चाहे वह प्रश्न प्रक्रिया सम्बन्धी हो अथवा मूल विषय हो, वही दुहरा विशेषाधिकार द्वारा निषेध का अधिकार (Double Veto) होता है । जब प्रारम्भिक प्रश्न यह होता है कि कोई प्रक्रिया सम्बन्धी विषय है या नही तब उसे विशेषाधिकार द्वारा निषेध किया जा सकता है । एक निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को पहिले तो प्रक्रिया सम्बन्धी विषय बनाने से रोका जाता है । उसके उपरान्त प्रस्ताव की मौलिकता (substance) के विरोध मे दुबारा मत दिया जाता है । इसी नियम से निषेध का अधिकार दुहरे निषेधाधिकार द्वारा निषेध के अधिकार मे बदल जाता है ।

सुरक्षा परिषद् में मत प्रदान करने की प्रणाली मे एक विभेद प्रक्रियात्मक तथा अन्य तथ्य सम्बन्धी मामलो मे उपस्थित होता है । चार्टर मे ऐसा कोई वर्गीकरण नही किया गया है । यह तो १९४५ मे महान् शक्तियो द्वारा एक समझौता के आधार पर विभेद मान लिया गया था । सैन फ्रांसिस्को सम्मेलन मे इस वक्तव्य (Statement) पर कोई औपचारिक कार्यवाही नही की गई थी जिसके परिणामस्वरूप यद्यपि व्यवहारतः यह वर्गीकरण मान्य है फिर भी वैध प्राधिकार संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति कोई नही है ।

Andrew Martin John और Edwards के शब्दो में "जहाँ तक मीमावर्ती मामलो का सम्बन्ध है यह प्रारम्भिक प्रश्न कि क्या विषय प्रक्रियात्मक है स्वतः एक निषेधाधिकार का विषय है । वास्तव मे इसी नियम ने निषेधाधिकार को दुहरे निषेधाधिकार के रूप मे बदल दिया है । पहले तो एक नकारात्मक वोट दिया जाता है जिससे कि किसी विषय को सुरक्षा परिषद् प्रक्रियात्मक न मान ले, और उसके बाद दूसरी बार मतदान किया जाता है कि प्रस्ताव का तत्व ही निष्फल हो जाय ।" (First a negative vote is cast to prevent the Council from treating a question as procedural, and a vote is then cast for the second time to defeat the substance of the motion.)

निषेधाधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध मे १९४८ मे साधारण सभा द्वारा गम्भीरता से विचार किया गया था । सभा ने सुरक्षा परिषद् को यह सिफारिश की थी को कम से कम ४५ प्रकार के प्रक्रियात्मक ढङ्ग के निर्णय मान लिये जायँ जिससे कि बडी शक्तियाँ दुहरे निषेधाधिकार का प्रयोग न कर सके । यह प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् द्वारा नही माना गया जिसका परिणाम यह हुआ कि "निषेधाधिकार का केवल उन प्रसगो को छोडकर अन्य सभी मामलो मे वैध रूप से प्रयोग किया जा सकता है जिनमे जून १९४५ के Interpretative Statement के अन्तर्गत प्रक्रियात्मकता आरोपित कर दी गई है ।

आत्मरक्षा (Self Defence) :—चार्टर के अनुच्छेद ५१ में संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य के विरुद्ध सैनिक आक्रमण की स्थिति मे वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्म-रक्षा का स्वाभाविक अधिकार स्वीकृत किया गया गया है। यह अधिकार उस समय तक रहता है जब तक कि सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने के लिए उपाय न कर ले। इस प्रकार के आत्मसंरक्षण में किये गये उपाय तत्काल सुरक्षा परिषद् को प्रतिवेदित कर दिये जाने चाहिये तथा वे वर्तमान चार्टर के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना अथवा पुन संस्थापना के लिए किसी समय मे ऐसे कार्यों के करने के प्राधिकार तथा उत्तरदायित्व को जैसे कि यह आवश्यक समझे किसी प्रकार से प्रभावित न करेंगे। किन्तु यह आत्मरक्षा का अधिकार केवल शस्त्र आक्रमण की स्थिति म उत्पन्न होता है और इसका उपयोग किसी अन्य उल्लंघन के लिये नहीं होना चाहिये। जैसे किसी पड़ोसी राज्य द्वारा भयोत्पादक सैनिक एकत्रीकरण के कारण उस राज्य के लिये यह उचित नहीं होगा जिसकी शान्ति पर आघात किये जाने की धमकी दी जाय कि आत्मरक्षा की क्रिया द्वारा बल प्रयोग करे। इससे उसको केवल यह अधिकार होगा कि ऐसे एकत्रीकरण की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा पर प्रभाव पड़ना अथवा उसको धमकी दिया जाना सम्भव हो सुरक्षा परिषद् से प्रतिवेदित करे।

अत चार्टर सैनिक आक्रमण के विरुद्ध आत्म रक्षा के अधिकार को छोड़कर अन्य दशाओं मे सदस्यो द्वारा बल प्रयोग का निषेध करता है।

अनुच्छेद ५१ की व्यवस्था के अनुसार "The right of individual or collective self-defence shall have precedence in fact over the functions assigned to the organs of the United Nations" अर्थात् वैयक्तिक या सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार की प्राथमिकता उन सभी तथ्यों म होगी जो कि कार्यरूप मे संयुक्त राष्ट्र संघ के अङ्गों को सौंपे गये हैं।

आत्म सुरक्षा की व्यवस्था का जहाँ तक सम्बन्ध है संयुक्त राष्ट्र का चार्टर लीग आफ नेशन्स के कावनेन्ट स तथ्य रूप मे भिन्न है। कावनेन्ट आत्म-सुरक्षा के अधिकार को सभी मामले मे जिसमे कि लीग झगड़ो का निपटारा नही कर सकती थी, सदस्यो को प्रदान करती थी, किन्तु चार्टर में ऐसी बात नही है।

संघ की वैध स्थिति (Legal Status of the Organization)—केलसन का कथन है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र मे तथा सदस्य राष्ट्रो के जातीय विधि के क्षेत्र मे न्यायिक व्यक्तित्व रखता है और इस रूप म वैध कर्त्तव्यो तथा अधिकारो के अधीन होने, वैध व्यापारो को करने तथा न्यायालयो म दावा करने और इसके विरुद्ध दावा किये जाने के योग्य है। संयुक्त राष्ट्र संघ को

उन अन्तर्राष्ट्रीय संविदाओं के करने का अधिकार है जिनके करने के लिए इसे चार्टर के विशेष अनुबन्धों द्वारा प्राधिकृत किया गया है। सुरक्षा परिषद् का प्रायः एक सरकारी संस्था का स्वरूप है। चार्टर के अनुच्छेद २६ के अधीन इसे युद्धसामग्री नियमित करने के लिए पद्धति-स्थापना करने के निमित्त संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के समक्ष प्रस्तुत किये जाने के लिये योजनायें बनाने के लिये प्राधिकृत किया गया है। इसके उपरान्त अनुच्छेद १०४ द्वारा यह प्रतिबन्धित करके कि संघ अपने प्रत्येक सदस्य के प्रदेश में ऐसी वैध क्षमता का उपभोग करेगा जैसा इसको अपने कृत्यों के संपादन तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिये आवश्यक हो, संघ को राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में न्यायिक व्यक्तित्व प्रदत्त किया गया है। अनुच्छेद ४३ में सुरक्षा परिषद् तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के बीच अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा-स्थापना के निमित्त सुरक्षा परिषद् के समक्ष सैनिक बल, सहायता तथा सुविधायें प्राप्त करने के लिये अनुबन्धित किया गया है। अनुच्छेद ८१ में संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रन्यास संविदा के अधीन प्रदेशों के संबन्ध में क्षेत्राधिकार सम्बन्धी तथा विधायी शक्तियाँ उपभोग करने के लिये प्राधिकृत किया गया है।

संघ अपने प्रत्येक सदस्य के क्षेत्र में ऐसे विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ रखता है जो उसके उद्देश्य की पूर्ति के लिये आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के प्रतिनिधि तथा संघ के पदाधिकारी भी ऐसे विशेषाधिकारों तथा उन्मुक्तियों का उपभोग करते हैं जो संघ के सम्बन्ध में उनको अपने कृत्यों को स्वतन्त्रतापूर्वक करने के लिये आवश्यक हैं।

इस प्रकार संघ के वे कार्य हैं तथा वह उन अधिकारों का उपभोग करता है जिनको केवल इस आधार पर समझाया जा सकता है कि वह अधिक सीमा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखता है तथा उसको अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापक रूप से कार्य करने की क्षमता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के कथनानुसार यह एक सर्वोच्च प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय संघ है और यदि यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से रहित होता तो यह अपने संस्थापकों का अभिप्राय पूरा न कर पाता। इसके सदस्यों ने इसको कुछ कृत्य उनसे संलग्न कर्त्तव्यों तथा उत्तरदायित्व सहित देकर इसे उस क्षमता से संलग्न कर दिया है जो कि उन कृत्यों को प्रभावपूर्ण रीति से करने के लिये योग्य बनाने के लिये अपेक्षित है।

फेनविक का कथन है कि स्पष्ट रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ एक 'वरिष्ठ राज्य' (super-State) नहीं है क्योंकि चार्टर के अनुच्छेद २ में यह घोषित किया गया है कि संघ अपने सब सदस्यों की सर्वव्यापी समानता के सिद्धान्त पर आश्रित है परन्तु यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने व्यक्तिगत सदस्यों से भिन्न एक निश्चित वैध व्यक्तित्व का एक अपना ही निगम निकाय रखता है। लीग के समान यह भी

अपने नाम में सम्पत्ति का स्वामित्व ग्रहण करने, निगम निकाय के समान संविदा करने तथा अधिकार प्राप्त करने और कर्तव्यों को अपने ऊपर लेने मे समर्थ होगा। यह सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय सेवाओं के अधिशासन करने तथा व्यक्तिगत राज्यों के लिये न्यासी के रूप मे कार्य करने योग्य होगा। यह क्षेत्र पर अपने मनोनीत अभिकर्ताओं द्वारा शासन कर सकेगा तथा अधीनस्थ अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तियों के लिए संरक्षक तथा पालनकर्ता के रूप मे कार्य करेगा। इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि क्या संयुक्त राष्ट्र संघ के लिये राज्यमंडल (confederation) शब्द प्रयोग किया जा सकता है, फेनविक का कथन है कि यह एक शास्त्र-विषयक प्रश्न है और इसका विवेचन भविष्य के लिये छोड़ा जा सकता है। ओपनहेम का मत यह है कि संयुक्त राष्ट्र, संघ की अपेक्षा राज्यमंडल के अधिक निकट पहुँचता है। "यह विशेषतः इन कारणों से है कि संघ से अलग हो जाने का अधिकार है, संयुक्त राष्ट्र संघ में व्यावहारिक रूप से कोई वैध शक्तियाँ निहित नहीं हैं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ और सदस्य राज्यों के राष्ट्रीय जनों के बीच किसी प्रत्यक्ष सम्बन्ध का अभाव है।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने "संयुक्त राष्ट्र की सेवा मे सहन की गई हानियों के लिये क्षतिपूर्ति" वाले मामले मे यह कथन किया है कि "संघ एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह एक राज्य है। यह निश्चित रूप से राज्य नहीं है, अथवा यह कि इसका वैध व्यक्तित्व तथा अधिकार और कर्तव्य वही है जो एक राज्य के होते हैं। यह अर्थ इसे वरिष्ठ राज्य कहने मे तो और भी अधिक कम निकलेगा। इससे यह भी व्यक्त नहीं होता कि इसके सब अधिकार तथा कर्तव्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने चाहिये जैसा यह एक राज्य के सम्बन्ध मे भी नहीं प्रकट होता। इसका यह अर्थ है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत है और अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार तथा कर्तव्यों को धारण करने योग्य है तथा इसे अपने अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय वाद प्रस्तुत करके स्थापित करने की क्षमता प्राप्त है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा तथा सुरक्षा परिषद् का संबन्ध (Relation of the United Nations Assembly with the Security Council)—सुरक्षा परिषद् प्राय. एक शासकीय संस्था का स्वरूप धारण करती है। ओपेनहेम के कथनानुसार यह मुख्यतः अंतर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना से संबंधित है। दूसरी ओर साधारण सभा अधिकांश मे एक विचार विमर्श का अंग है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के क्षेत्र के भीतर पडने वाले सम्पूर्ण विषयों से संबंधित है। किसी झगड़े अथवा स्थिति जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के स्थापित रहने के लिये संकट उत्पन्न होना संभव हो, उसके सम्बन्ध मे केवल सुरक्षा परिषद् को विशेष क्षेत्राधिकार प्राप्त हैं। इसमे सन्देह नहीं कि साधारण सभा अनुच्छेद १५ के अधीन

सुरक्षा परिषद् से उसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापना के लिये निश्चित अथवा किये गये उपायो के वार्षिक प्रतिवेदनो को प्राप्त करती है तथा उन पर विचार करती है। परन्तु ओपेनहेम का कथन है कि चार्टर से यह विचार प्रकट नही होता कि ऐसे प्रतिवेदनो को प्राप्त करने मे तथा उन पर विवेचना करने मे साधारण सभा सुरक्षा परिषद् की कार्यवाहियो पर इस प्रकार से मत प्रकट करेगी कि जिससे यह प्रकट हो सके कि यह झगड़ो के निर्णय करने के सम्बन्ध मे समवर्ती क्षेत्राधिकार प्राप्त कर रही है अथवा यह कि परिषद् सभा के अधिभावी प्राधिकार (overriding authority) के अधीनस्थ है।

बहुत से विषयो के सम्बन्ध मे साधारण सभा सुरक्षा परिषद् के साथ कार्य करती है। उदाहरणार्थ सदस्यो का प्रवेश तथा निष्कासन, महासचिव (Secretary-General) की नियुक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के जजों का निर्वाचन।

सुरक्षा परिषद् प्रायः एक निरन्तर कार्य करने वाली संस्था है और साधारण सभा जिसमे सदस्यो की संख्या अधिक है नियमित वार्षिक सत्रो मे अथवा विशेष सत्रो मे बैठती है जो महासचिव द्वारा सुरक्षा परिषद् के अथवा संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सदस्यो के बहुमत से बुलायी जाती है। संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सदस्यो का प्रतिनिधि मंडल जो सभा के सत्र मे भाग लेने आता है, अपने किये जाने वाले कार्यों के प्रकृति के कारण अधिकतर राजनीतिक व्यक्तियो का बना होता है और सुरक्षा परिषद् मे कूटनीतिज्ञ तथा पदाधिकारी होते हैं। सभा का वादानुवाद संसद का स्वरूप ग्रहण कर लेता है किन्तु सुरक्षा परिषद् के अधिवेशन कूटनीतिज्ञो की अधिवेशनो के समान प्रतीत होती हैं।

सभा जिसमें १२१ राष्ट्र हैं अधिक प्रतिनिधित्व का रूप धारण करती है तथा जन-साधारण की सम्मति के प्रभाव की ओर ११ (अनुच्छेद २३ के संशोधन के पश्चात, १५) सदस्यो की सुरक्षा परिषद् से कही अधिक ध्यान आकर्षित करती है।

१६५० का "Uniting for Peace" अर्थात् शांति के लिये संगठित होने के प्रस्ताव ने चार्टर मे दिये गये सुरक्षा परिषद् और साधारण सभा के सम्बन्धो में बहुत क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया है और साधारण सभा में बहुत अधिक शक्तियो का आरोप कर दिया है क्योंकि स्थायी सदस्यो के मतैक्य के अभाव में सुरक्षा परिषद् अपने प्रमुख उत्तरदायित्व अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की व्यवस्था करने मे असफल हो जाती है; खासतौर मे उन मामलों में जहाँ कि शांतिभङ्ग की धमकी दी गई हो, शांति भङ्ग की गई हो या आक्रमण की कार्यवाही की गई हो।

राष्ट्र संघ मे विधि (Law in the United Nations)—संयुक्त राष्ट्र सङ्घ का चार्टर अन्तर्राष्ट्रीय विधि क बहुत ही उदार सिद्धान्त को मानता है और न्याय तथा सहिष्णुता, स्त्री और पुरुष के समान अधिकार, मानवीय अधिकारो के लिये सम्मान और बिना किसी जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव क मनुष्य की स्वतन्त्रताओ का सम्मान, सन्धियो से उत्पन्न होने वाले आभारो के प्रति सम्मान तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्य स्रोतो तथा सभी राष्ट्रो के समान अधिकार भले ही छोटे हो अथवा बडे, सभी के प्रति समान न्याय और सहिष्णुता के सिद्धान्तो का अपनाता है।

कुछ प्रसङ्ग ऐसे भी हैं जिन्हे लेकर कभी-कभी विवाद भी उठ खडे हुये हैं जैसे चार्टर के अन्तर्गत ५ महान् शक्तियो को दी गई निरकुश शक्तियाँ। इनसे ५ महान् शक्तियो की प्रभुता स्थापित होती है और अन्य छोटे-छोटे राष्ट्र पृष्ठभूमि मे चले जाते हैं। इसमे सन्देह नही है कि चार्टर अनुच्छेद २ (१), के अनुसार सङ्घ की स्थापना सभी प्रभुता-सम्पन्न सदस्य-राज्यो की समानता के सिद्धान्त पर हुई है किन्तु अनेक ऐसी व्यवस्थाएँ हैं जिनके परिणामस्वरूप महान् शक्तियाँ ही एक दूसरे क साथ समानता का व्यवहार कर सकती हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ तथा लीग (U. N. and the League):—लीग आफ नेशन्स का प्रतिज्ञा-पत्र वर्साई की सन्धि का अंश था तथा इसकी पूर्ति से सम्बद्ध था। सब शक्तिशाली राज्य प्रारम्भ मे लीग मे इस प्रयोजन से सम्मिलित हुये थे कि उनको वर्तमान सन्धियो तथा वर्तमान क्षेत्रीय व्यवस्थाओ की पुष्टि क लिए कुछ आवश्यक था। संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म विजित राष्ट्र पर लादी गई शान्ति की सन्धि से सम्बन्धित नही है, वरन् उसका सम्बन्ध संयुक्त हुये राष्ट्रो के लोगो के अपने आने वाली सन्तानो को युद्ध की विभीषिका से बचाने क निश्चय से है।

अपनी उत्पत्ति के अतिरिक्त लीग तथा संयुक्त राष्ट्र सङ्घ दोनो क उद्देश्य मूलरूप मे प्रायः एक ही हैं अर्थात् राष्ट्रो के परस्पर क झगडो को मैत्रीपूर्ण रीति से बिना बलप्रयोग किये, निर्णय करने को प्रोत्साहित करके अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा स्थापित करना।

संयुक्त राष्ट्र सङ्घ क छ मुख्य अङ्ग हैं अर्थात् साधारण सभा, सुरक्षा परिषद् आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्, न्याय परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय। लीग मे केवल तीन मुख्य अङ्ग थे अर्थात् सभा, परिषद् और सचिवालय। अत. लीग मुख्यतः अपने को राजनैतिक क्रियाएँ तक ही सीमित रखती थी और संयुक्त राष्ट्र संघ मे अधिक महत्व अर्थात् आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा मानव-प्रेम सम्बन्धी विषयों पर भी बल दिया गया है जो मानव समाज के सुख से

घनिष्ठता से सम्बन्धित हैं। वर्तमान संघ मानवीय व्यक्तित्व के विकास तथा व्यक्तियों के मूलभूत अधिकारों के संरक्षण पर अधिक महत्व प्रदान करता है।

चार्टर के अधीन प्रमुख प्रश्नों पर साधारण सभा के निर्णयों के लिये उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत अपेक्षित है और अन्य विषयों के निर्णयों के लिये उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्यों का केवल बहुमत अपेक्षित है। सुरक्षा परिषद् में प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों में केवल सात (अनुच्छेद २७ के संशोधन के पश्चात, नौ) सदस्यों का स्वीकारोक्तिसूचक मतदान अपेक्षित है। अन्य सब विषयों के लिये सात (अनुच्छेद २७ के संशोधन के पश्चात, नौ) सदस्यों के स्वीकारोक्तिसूचक मतदान अपेक्षित है जिसमें स्थायी सदस्यों के सहमतिसूचक मतदान भी सम्मिलित हैं। लीग में सब महत्वपूर्ण निर्णयों के लिये मतैक्य अपेक्षित था क्योंकि राष्ट्र अपने सार्वभौमत्व का कोई भी अंश त्यागने को उद्यत न थे। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ की मतदान प्रक्रिया लीग की मतदान प्रक्रिया से स्पष्टत. सुधरी हुई है।

इसमें सन्देह नहीं कि बड़ी शक्तियों का निषेध का विशेषाधिकार संघ की प्रगतियों के लिये बाधक प्रमाणित हो सकता है। यही बात मतैक्य निर्णय के अनुबन्ध के कारण लीग के सम्बन्ध में भी थी। बड़ी शक्तियों का निषेधाधिकार उनके विरुद्ध प्रवर्तक कार्य किये जाने में बाधा डालता है। किन्तु इसके साथ ही यह भी स्मरण रखने योग्य है कि लीग की परिषद् के निर्णय केवल परामर्श अथवा सिफारिश का स्वरूप रखते थे क्योंकि लीग के सदस्य जिनका प्रतिनिधित्व परिषद् में नहीं होता था, परिषद् के निर्णय को पालन करने के लिये बाध्य नहीं थे।

सुरक्षा परिषद् तथा साधारण सभा के कार्यों के बीच एक स्पष्ट सीमा बनी हुई है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों ने सुरक्षा परिषद् पर अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व सौंपा है। लीग की सभा तथा परिषद् के कार्यों के बीच ऐसी कोई स्पष्ट सीमा नहीं थी तथा ऐसी स्थिति में लीग निर्बल थी और उसमें किसी विश्व संघ के उन लक्षणों का अभाव था जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा सफलतापूर्वक स्थापित की जा सकती थी। सुरक्षा परिषद् यद्यपि इसके कार्य लीग की परिषद् के कार्यों से अधिक सीमित हैं, तथापि यह अपने निर्णयों का प्रवर्तन कराने के लिये अधिक शक्तिशाली साधन प्रयोग कर सकती है।

प्रवर्तक उपायों के सम्बन्ध में लीग तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में बहुत बड़ा अन्तर है। संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को धमकी दिये जाने की दशा में भी प्रवर्त्तक उपायों का प्रयोग कर सकता है। इसके विपरीत लीग की शक्ति सीमित थी कि यह उपायों का प्रयोग केवल उसी दशा में कर सकती थी

राज्य अपनी प्रतिज्ञाओ को भङ्ग करके युद्ध मे प्रवृत्त होते थे। सुरक्षा परिषद् को यहाँ तक प्राधिकृत किया गया है कि यह आवश्यकता पडने पर सैन्य बल का उपयोग कर सकती है अथवा वायु या जलसेना से भी युद्ध का सचालन कर सकती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा सस्थापन के लिये सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्यो से यह माँग कर सकती है कि वे माँगे जाने पर सुरक्षा परिषद् को सैनिक बल, सहायता तथा सुविधा प्रदान करें जिनमे यातायात अधिकार भी सम्मिलित है। इस कार्य के लिए सुरक्षा परिषद् को सैनिक पदाधिकारी समिति द्वारा सहायता दी जाती है। लीग के उपयोग के लिए कोई सैनिक बल नही था तथा इसके निर्णय भी केवल सिफारिश के रूप के होते थे। इसके परिणामस्वरूप कोई धृष्ट सदस्य लीग के निर्णयो को पालन करने के लिये बाध्य नही किया जा सकता था।

सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर तथा लीग आफ नेशन्स के कावनेंट के मध्य एक विशेष रूप से ध्यान आकर्षित कराने योग्य अन्तर है। कावनेट से यह उपलक्षित होता है कि इसमे प्रवर्तक उपायो के लागू किये जाने की प्रक्रिया के केन्द्रीभूत होने का पूर्णत अभाव है। लीग के इस प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १६ मे यह बात इसके सदस्यो पर छोड दी गई थी कि वे निर्णय करें कि क्या किसी अन्य सदस्य ने प्रतिज्ञा पत्र के अधीन कर्त्तव्यो का उल्लघन किया है तथा क्या प्रवर्तक उपायो को लागू किये जाँय जिनमे सैनिक बल प्रयोग सम्मिलित नही था। इसके अनुसार समद को केवल सिफारिश करने क लिये प्राधिकृत किया गया था। इसके विपरीत चार्टर ने इन दोनो बातो के निर्णय को अर्थात् इस प्रश्न का निर्णय कि क्या शान्ति भग की धमकी अथवा शान्ति भङ्ग अथवा आक्रमणकारी कार्य विद्यमान है या नही तथा प्रवर्तक उपायो क लागू किये जाने क सम्बन्ध मे निर्णय केन्द्रीभूत कर दिया है तथा सदस्यो पर उस निर्णय क पालन का कर्तव्य सौंप दिया है।

आत्मरक्षा क बारे मे लीग आफ नेशन्स ने कोई बात वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के सम्बन्ध मे नही कही है। जो कुछ प्रतिज्ञा-पत्र मे अनुबन्धित किया गया है वह अनुच्छेद १५, खड ७ मे दिया गया है जो निम्नलिखित है —

"यदि परिषद् ऐसे प्रतिवेदन पर पहुँचने में असमर्थ हो जो झगडे के पक्षकारो मे एक अथवा अधिक प्रतिनिधियो से भिन्न उसके सदस्यो द्वारा एकमत से स्वीकृत हो तो लीग के सदस्य अपने लिये यह अधिकार सुरक्षित रखते हैं कि वे ऐसी कार्यवाही करेंगे जैसा वे अधिकार तथा न्याय के लिये आवश्यक समझेंगे।"

चार्टर क अनुच्छेद ५१ में इस विषय को स्पष्ट किया गया है। इसमे ... के अधिकार का क्षेत्र तथा विस्तार स्पष्टत. परिभाषित है तथा इसमें

संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य के विरुद्ध आक्रमण की दशा मे वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकार उस समय तक स्वीकृत है जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना के लिये आवश्यक उपायो का प्रयोग न कर ले। किन्तु इस बात पर महत्व देना आवश्यक है कि वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्मरक्षा का अधिकार केवल उसी दशा में उत्पन्न होता है जब सैनिक आक्रमण हुआ हो, न कि सीमा पर सैन्य एकत्रीकरण की दशा में, और यह उस समय तक जारी रहता है जब तक सुरक्षा परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना के लिये आवश्यक उपाय न कर लिया हो। इस प्रकार की आत्मरक्षा के उपाय सुरक्षा परिषद् मे तत्काल ही प्रतिवेदित किये जाने चाहिये।

दोनो संघो से अलग हो जाने के सम्बन्ध मे प्रतिज्ञा-पत्र मे यह व्यवस्था की गई थी कि यदि लीग के किसी सदस्य ने किसी संशोधन के विरुद्ध मतदान किया तथा उसको अनुसमर्थन करने से अस्वीकृत किया तो वह स्वेच्छापूर्वक हट सकता था। किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य यदि वे चार्टर के किसी संशोधन को अनुसमर्थन करना अस्वीकार कर दे तो उनका सदस्य बना रहना समाप्त नही हो जाता वरन् वे ऐसे संशोधन से बाध्य हो जाते हैं।

न्याय परिषद् के सम्बन्ध मे भी कुछ कह देना आवश्यक है। लीग के प्रतिज्ञा-पत्र के अन्तर्गत आदेश पद्धति प्रचलित थी जो प्रथम महायुद्ध मे मित्र राष्ट्रो द्वारा जर्मनी तथा टर्की से विजित प्रदेशो के संयोजन का स्थान ग्रहण करने के लिये प्रयुक्त की गई थी। पद्धति का विशिष्ट अंग स्थायी आयोग था जो परिषद् द्वारा नियुक्त विशेषज्ञो से निर्मित था और जिसमे सरकारो के प्रतिनिधि नही होते थे। चार्टर के अन्तर्गत न्यास परिषद् है जो न्यास क्षेत्रो को प्रशासन करने वाले सदस्यो से बनी है जिसमे सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्य हैं तथा साधारण सभा के निर्वाचित सदस्य हैं। इस प्रकार केवल संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य ही न्यास परिषद् के सदस्य हो सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-पद्धति लीग के आदेशो के आयोग के ऊपर एक स्पष्ट सुधार है।

किसी भी दृष्टि से विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ लीग आफ नेशन्स की तुलना मे एक स्पष्टत सुधार की हुई तथा संशोधित संस्था है और अधिक व्यापक अधिकारो से विभूषित है।

लीग और संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् मे अन्तर (The Council of the League and the Security Council) —यद्यपि लीग की परिषद् की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् को अधिक प्रतिबंधित कार्य करने पड़ते हैं, फिर भी सुरक्षा परिषद् मे अपने निर्णयो के प्रवर्तन के लिये अधिक

शक्तियाँ विद्यमान हैं। सुरक्षा परिषद् और साधारण सभा दोनों के कार्यों में स्पष्ट विभाजन कर दिया गया है जब कि लीग में ऐसा कोई विभाजन न था।

लीग की कौंसिल एक शक्तिहीन संस्था थी और उसके पास अपने निर्णय के प्रवर्तन के लिये कोई सेना नहीं थी। सुरक्षा परिषद् के पास अपनी भूमि, हवाई और नौ-सेना की शक्तियाँ उसके पास सदस्य राज्यों की ओर से दी गई होंगी, और आपातिक परिस्थितियों में प्रत्येक सदस्य-राज्य सक्रिय सहायता करने के लिये बाध्य है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में प्रतिबंध (*Limitations on the functions of the United Nations*)—निम्नलिखित व्यवस्थाओं के द्वारा चार्टर में संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं :—

१—संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी ऐसे विषय पर कोई कार्यवाही नहीं कर सकता जो कोई किसी राज्य के घरेलू क्षेत्राधिकार के भीतर आता है, परन्तु यह सिद्धान्त प्रवर्तन के उपायों पर लागू नहीं होता जो अध्याय में ७ उपबन्धित है। (अनुच्छेद २, पैराग्राफ ७)

२—वर्तमान चार्टर के अनुसार वैयक्तिक या सामूहिक आत्मसुरक्षा का अधिकार उस समय तक बना रहता है जब तक कि सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा की समुचित व्यवस्था नहीं कर लेती। (अनुच्छेद ५१)

३—वर्तमान चार्टर में दूसरे विश्वयुद्ध के ऐसे देशों के शत्रुओं, जो कि चार्टर पर हस्ताक्षर कर चुके हैं, के विरुद्ध कार्यवाही करने से नहीं रोकता। (अनुच्छेद १०७)

३ सचिवालय (The Secretariat)

सचिवालय सामान्यत लीग के सचिवालय का प्रतिरूप है। चार्टर में सचिवालय को अत्यधिक महत्व दिया गया है क्योंकि इसे सौंपे गये कार्य के सम्यक् सम्पादन पर संघ का निर्विघ्न रूप से कार्य करना बहुत अंशों में आश्रित है। सचिवालय में एक महासचिव तथा ऐसे कार्यकर्तागण सम्मिलित है जिसे संघ अपेक्षित करे। महासचिव (Secretary General) संघ का प्रमुख अधिशासी पदाधिकारी है और साधारण सभा द्वारा सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर नियुक्त किया जाता है। महासचिव उस रूप में साधारण सभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् के सभी अधिवेशनों में कार्य करता है। वह संघ के कार्यों के विषय में साधारण सभा को वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्ताव करता है। इसके अतिरिक्त उसे यह भी प्राधिकृत दिया गया है कि वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान किसी भी ऐसे विषय की ओर आकर्षित करे जिससे उसकी सम्मति में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना में बाधा पड़ती हो। चार्टर के

अनुच्छेद १०० में यह व्यवस्था दी गई है कि सचिवालय,का अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप की प्रतिभूति के लिये महासचिव तथा कर्मचारीगण अपने-अपने कर्तव्यों के पालन में संघ से बाह्य किसी सरकार अथवा अन्य प्राधिकारी से अनुदेश न तो मांगेंगे और न प्राप्त करेंगे। अनुच्छेद ९७ में यह व्यवस्था की गई है कि महासचिव साधारण सभा द्वारा सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर नियुक्त किया जायेगा जो सात (और अनुच्छेद २७ के संशोधन के पश्चात, नौ) सदस्यों के स्वीकारसूचक मतदान द्वारा होगा जिसमें परिषद् के स्थायी सदस्यों के सहमतिसूचक मतदान भी सम्मिलित हैं।

कर्मचारीगण महासचिव द्वारा साधारण सभा द्वारा स्थापित नियमावली के अन्तर्गत नियुक्त किये जाते हैं किन्तु सबसे विशेष ध्यान जो कर्मचारीगण की नियुक्ति में रखा जाता है वह उत्कृष्ट कुशलता, योग्यता तथा सत्यता प्राप्त करने की आवश्यकता है।

महासचिव तथा सब सहायक महासचिव पूर्ण राजनैतिक उन्मुक्तियों का उपभोग करते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के पदाधिकारी अपने पदीय क्षमता में कथित अथवा लिखित शब्दों तथा किये गये कार्यों के सम्बन्ध में वैध प्रक्रिया से उन्मुक्त हैं। वे उनको राष्ट्र संघ द्वारा दिये गये वेतनों तथा उपलब्धियों पर कर देने से मुक्त हैं।

४. न्यास-परिषद् (Trusteeship Council)

न्यास परिषद् के अधीन न्यास क्षेत्रों की विवेचना अन्य स्थान में एक दूसरे अध्याय में पूर्ण रूप से की गई है और यहाँ पर इसी क्रम में प्रसंग में कुछ बतलाने की आवश्यकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने प्राधिकार के अधीन एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-पद्धति ऐसे प्रदेशों के अधिशासन तथा निरीक्षण के लिए स्थापित की है जो इसके अधीन उत्तरवर्ती वैयक्तिक स्वीकार-पत्रों द्वारा रखे जाँय। न्यास-पद्धति निम्नलिखित प्रदेशों पर लागू है जो उसके अधीन न्यास स्वीकृतियों द्वारा रखी जा सकती हैं।

(१) प्रदेश जो इस समय आदेश के अधीन रखे गये हैं।

(२) प्रदेश जो द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु-राष्ट्रों से पृथक किये जाँय, तथा

(३) प्रदेश जो उन राष्ट्रों द्वारा जो उनके अधिशासन के लिये उत्तरदायी हैं स्वेच्छा से उस पद्धति के अधीन रखे गये हों।

न्यास-पद्धति (Trusteeship System) के आधारभूत लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को अग्रसर करना, न्यास क्षेत्रों के निवासियों की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा संबंधी उन्नति को बढ़ाना, उनका स्वराज्य अथवा

उनकी स्वतन्त्रता की ओर क्रमशः विकास करना तथा मानवीय अधिकारों के लिये और जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेद-भाव को मिटाकर सबके निमित्त मौलिक स्वतन्त्रताओं के लिये सम्मान का प्रोत्साहन करना तथा सामाजिक, आर्थिक और व्यापारिक विषयों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों और उनके राष्ट्रीय जनों के लिये समानता का व्यवहार निश्चित करना है।

न्यास क्षेत्रों का निरीक्षण तथा अधिशासन न्यास परिषद् (ट्रस्टीशिप कौंसिल) के हाथ में है। इस परिषद् में न्यास क्षेत्रों को अधिशासन करने वाले सदस्य, सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य होते हैं जो साधारण सभा द्वारा तीन वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचित होते हैं। निर्वाचित सदस्यों की संख्या न्यास क्षेत्रों को अधिशासन करने वाले परिषद् के सदस्यों की संख्या के समान न्यास क्षेत्रों को अधिशासन न करने वाले सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या को घटाकर होगी।

शक्तियाँ तथा कार्य (Powers and Functions) :—सामान्य सभा के प्राधिकार के अधीन न्यास परिषद् की शक्तियाँ तथा कृत्य अधिशासन करने वाले प्राधिकारियों द्वारा आवेदित प्रतिवेदनों पर विचार करना अधिशासन करने वाले प्राधिकारियों की सम्मति के साथ प्रार्थना पत्रों को स्वीकृत करना तथा उनका परीक्षण करना, न्यास स्वीकार-पत्रों की शर्तों के अनुसार अलग-अलग न्यास क्षेत्रों के निश्चित अवधि के निरीक्षण के लिये व्यवस्था करना तथा उनको और अन्य कार्यों को करना है। इसका यह भी कार्य है कि प्रत्येक न्यास क्षेत्र के देशवासियों की राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा संबंधी उन्नति पर एक प्रश्नावली तैयार करे, तथा ऐसी प्रश्नावली अधिशासन करने वाले प्राधिकारी द्वारा साधारण सभा को दिये जाने वाले वार्षिक प्रतिवेदन का आधार ग्रहण करेगी।

सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र :—न्यास स्वीकारपत्र में न्यास क्षेत्रों के भागों को सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र अथवा क्षेत्रों के नाम से प्रतिष्ठित किया जा सकता है। सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के संबंध में संयुक्त राष्ट्र संघ के सब कृत्य सुरक्षा परिषद् द्वारा किये जाते हैं, जिनमें न्यास स्वीकारपत्रों के शर्तों की स्वीकृति तथा उनका परिवर्तन तथा संशोधन भी सम्मिलित हैं। सुरक्षा परिषद् सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के संबंध में सुरक्षा सम्बन्धी विचारों को बिना हानि पहुँचाये न्यास परिषद् की सहायता का लाभ संयुक्त राष्ट्र संघ के न्यास-पद्धति के अधीन राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शिक्षा संबंधी विषयों के संबंध में उठा सकती है।

दक्षिण पश्चिम अफ्रीका का प्रश्न .—केवल एक प्रसंग को छोड़कर अन्य सभी राज्य क्षेत्र जो कि लीग आफ नेशन्स के समादेश के अन्तर्गत थे या तो स्वतन्त्र राज्य बन चुके हैं या अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति के अन्तर्गत आ चुके हैं। अपवाद केवल पूर्व जर्मन उपनिवेश अर्थात् दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका का है।

१९४६ मे दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधि ने साधारण सभा के अन्तर्गत कहा था कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका बहुत ही घना आबाद है और अपनी व्यवस्था अपने आप न कर सकने के कारण राज्य क्षेत्र के बहुमत के निवासी दक्षिण-अफ्रीका संघ राज्य मे सम्मिलित होना चाहते हैं।

१९४७-४८ मे साधारण सभा ने यह सिफारिश की कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका न्यास पद्धति के अन्तर्गत आ जाय।

१९४९ में सुरक्षा परिषद् ने साधारण सभा को विज्ञप्ति दी कि संघ सरकार दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के प्रशासन के संबंध मे अब कोई प्रतिवेदन देने को तैयार नही है। १९४९ मे ही Reverend Michael Scott ने यह कहा कि जब तक दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के हेरेरो और बर्ग-डमारा जातियो (Herero and Berg-Damara tribes) से न पूछ लिया जाय दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के संबंध मे कोई निर्णय नही किया जा सकता।

१९५० मे न्यायालय की सम्मति (Court's opinion in 1950)—महासभा ने १९४९ मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के प्रश्न पर परामर्शात्मक सम्मति की माँग की। जुलाई ११, १९५०, को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपनी परामर्शात्मक सम्मति प्रस्तुत की, जिसमे न्यायालय ने सर्वसम्मति से यह प्रस्थापित किया कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका दिसम्बर १७, १९२० के दक्षिण अफ्रीका के संघ (Union of South Africa) की मान्यता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय परमादेश के अधीनस्थ एक क्षेत्र है। न्यायालय का इसके आगे निष्कर्ष था कि उपर्युक्त संघ राष्ट्रो की लीग के कवेनेंट और मैन्डेट के अन्तगत अन्तर्राष्ट्रीय आभारो से युक्त बना हुआ है, जिसमे क्षेत्र से पेटीशन अग्रसरित करने का आभार भी सम्मिलित है, और यह कि चार्टर के अध्याय १२ के उपबन्ध उस पर इस अर्थ में लागू हैं कि उन्होने एक ऐसा साधन प्रस्तुत किया है जिससे कि यह क्षेत्र न्यासित क्षेत्र व्यवस्था के अन्तर्गत लाया जा सकता है। फिर भी न्यायालय ने यह अवलोकन किया कि चार्टर ने अफ्रीकी संघ सरकार के ऊपर इस बात के लिए कोई वैध आभार आरोपित नही की है कि वह क्षेत्र को न्यासित व्यवस्था के अन्तर्गत सौप दे। इतना होते हुए भी न्यायालय ने यह निष्कर्ष दिया कि कथित संघ सरकार एकान्तिक रूप से कार्य करते हुए, क्षेत्र के अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व को रूपभेदित करने मे सक्षम नही है। संघ-

सरकार मे ऐसी क्षमता तभी आ सकती है जब कि वह संयुक्त राष्ट्र की सहमति मे कार्य करे।

अपने १९५० के सत्र मे, महासभा ने पुनः सकल्प पारित किया कि क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को रूपभोदित करने का सामान्य ढग न्यासित-करार (trusteeship agreement) ही हो सकेगा, जो कि चार्टर के अध्याय १२ के उपबन्धो के अनुकूल है। सभा ने एक समिति का भी गठन किया जो कि सघ-सरकार मे क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सम्बन्ध मे न्यायालय की परामर्शात्मक सम्मति के प्रक्रियात्मक प्रसगो मे मार्ग दर्शन करे। समिति को एक अन्तरिम व्यवस्था के रूप मे प्राधिकृत किया गया था कि वह किसी ऐसे प्रतिवेदन का परीक्षण करे जो कि सघ-सरकार द्वारा क्षेत्र के प्रशासन के सम्बन्ध मे प्रस्तुत की जाय, तथा पेटीशनो और ऐसे किन्ही भी प्रश्नो का परीक्षण करे जो कि महासचिव को समर्पित किये जाय।

महासभा के आठवे सत्र, १९५३ मे दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधि ने अपनी सरकार के विचारो को फिर से दुहराया कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की १९५० की सम्मति केवल विशुद्धरूप मे परामर्शात्मक (purely advisory) थी और उसका वही प्रभाव नही है जो कि विधि-न्यायालय के निष्कर्ष का हुआ करता है। उनका कथन था कि अफ्रीकी सघ-सरकार पूर्ववर्ती मित्र शक्तियो से समझौता वार्ता करने को प्रस्तुत है, किन्तु वह सयुक्त राष्ट्र सघ के साथ ऐसा समझौता करने को प्रस्तुत नही है, क्योकि उनका कथन था कि सयुक्त राष्ट्र संघ मैन्डेट करार का पक्षकार नही था। वाद-विवाद के प्रसग मे प्रतिनिधियो के बहुमत ने इस बात पर दावा किया कि दक्षिण अफ्रीकी सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सम्मति से असहमति न्यायोचित नही है, और कई प्रतिनिधियो का यह विचार था कि अफ्रीकी सघ ने वस्तुत. क्षेत्र को एक पांचवे प्रान्त के रूप में निगमित कर लिया है।

चौथी समिति के वाद-विवाद के उपरान्त महासभा ने फिर से दक्षिण अफ्रीका सघ से गम्भीर अपील की, कि वह क्षेत्र की स्थिति के सम्बन्ध मे फिर से विचार करने और उसे संयुक्त राष्ट्रो की न्यासित व्यवस्था के अधीनस्थ कर दे। सभा ने एक नई सात सदस्यीय समिति दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के प्रसंग मे गठित की, जिसके दायित्व मे मैन्डेट व्यवस्था की प्रक्रियाओ का परीक्षण करने का काम दिया गया और यह भी निर्धारित किया गया कि इस परीक्षण के उपरान्त सभा को क्षेत्र की परिस्थितियो के सम्बन्ध प्रतिवेदन प्रस्तुत करे तथा प्रतिवेदनों और पेटीशनो के परीक्षण की प्रक्रिया भी तैयार करे। अन्तिम रूप मे, समिति को इस बात के लिए प्राधिकृत किया गया कि वह संघ सरकार से इस प्रसंग में वार्ता जारी रखे कि

१९५० की वह सम्मति जिसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने दी थी, पूर्णतः व्यवहृत कर ली जाय। एक दूसरे संकल्प ने सभा के पूर्ववर्ती संकल्पों पर यहाँ तक बल दिया कि दक्षिण पश्चिम अफ्रीका को ही चार्टर के अध्याय १२ के अनुसार न्यसित व्यवस्था के अधीन कर दिया जाय।

दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के प्रश्न पर गठित नई समिति ने महासभा के नवे सत्र में अपने प्रयत्नों का पुनर्विलोकन इस प्रकार किया—(१) दक्षिण अफ्रीका संघ से वार्ता जारी रखना जिससे कि क्षेत्र की स्थिति के प्रश्न का सुलझाव अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सम्मति के अनुसार किया जा सके, (२) संघ सरकार द्वारा परमादेशित क्षेत्र के सम्बन्ध में वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत कराना, प्रतिवेदनों के परीक्षण में समिति को सहयोग दिलाना; और (३) दक्षिण पश्चिम अफ्रीका में मूल निवासियों के पेटीशनों को संघ सरकार द्वारा अग्रसरित कराना तथा उनके परीक्षणों में समिति को सहयोग दिलाना। समिति ने प्रतिवेदन किया कि उसके यह सभी प्रयत्न विफल हो गये। दक्षिण अफ्रीकी सरकार ने समिति को यह सूचना दी थी कि उसे इस बात में सन्देह है कि समिति को सन्दर्भित किये गये क्षेत्र के अन्तर्गत की जाने वाली नई वार्ताओं से कोई ठोस परिणाम निकल सकेगा और उसने प्रतिवेदन तथा पेटीशन प्रस्तुत करने से इन्कार कर दिया। दक्षिण अफ्रीका के प्रतिनिधि ने इस विचार पर बल दिया कि चूँकि राष्ट्रों की लीग का मैन्डेट लुप्त हो चुका है, अतः दक्षिण अफ्रीका के ऊपर इस बात का कोई वैध आधार नहीं है कि वह इस क्षेत्र के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रों से समझौता-वार्ता करे।

महासभा ने अपने दसवे सत्र में दक्षिण पश्चिम अफ्रीका पर गठित अपनी समिति के एक दूसरे प्रतिवेदन पर विचार किया, जिसमें यह कहा गया था कि देशी निवासियों के कल्याण के सम्बन्ध में उस क्षेत्र में कोई भी प्रगति नहीं हुई है; और यह कि जातिगत विभेद (Racial Discrimination) प्रखर रूप में प्रचलित है; और यह कि प्रशासन के मुख्य प्रयत्न इस दिशा में हैं कि यूरोपीय निवासियों के पक्ष का ही एकान्तिक रूप से समर्थन किया जाय। सभा ने अपनी समिति के प्रतिवेदन को स्वीकार किया और इस स्वीकृति में केवल दक्षिण अफ्रीका ही अकेला प्रतिनिधि था जिसने असहमतिसूचक मतदान किया। सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की उस परामर्शात्मक सम्मति का भी अनुमोदन किया जो कि इस प्रश्न के सम्बन्ध में मतदान की प्रक्रिया उपबन्धित करती थी और इस बात को पुष्ट किया कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के सम्बन्ध में गठित की गई समिति को पेटीशन-कर्त्ताओं के प्रति मौखिक सुनवाई स्वीकृत करने का स्वत्व है।

अन्तिम रूप से, दक्षिण-अफ्रीकी सरकार ने दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रों की सद्भावना समिति (United Nations Good Offices Committee on South-West Africa) को इस बात के लिये आहूत किया कि वह जून १२, १९५८ से आरम्भ होने वाली वार्ता में प्रिटोरिया जाय। त्रि-सदस्यीय समिति ने इस आमन्त्रण को स्वीकार किया। ब्रिटेन, ब्राजील और संयुक्त राज्य अमरीका के राजनयिक प्रतिनिधियों ने समिति गठित की, यही समिति महासभा द्वारा इसके पूर्व भी गठित की गई थी।

दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका की स्थिति, जो कि १९२० के लीग आफ नेशन्स मैन्डेट के द्वारा संघ-प्रशासन के अधीन थी, १९४६ में लीग के विघटन के बाद से ही संघ (Union) और संयुक्त राष्ट्रों के बीच विचार-वैषम्य के लिये एक विषय बनी हुई है।

सभा का वह संकल्प जिसमें कि एक समझौता का आधार तैयार करने का उपबन्ध था, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका से क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सम्बन्ध में अब भी एक समझौता वार्ता का विषय बना रहा और सभा ने समिति को आदेश किया कि वह सभा के अगले सत्र में अपने प्रयत्नों की प्रगति के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करे।

संयुक्त राष्ट्र की दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका-समिति (U. N.'s South-West Africa Committee) के सभापति श्री विक्टोरिया कारपियो (Victoria Carpio) ने इस बात का तर्क प्रस्तुत किया कि परमादेशित क्षेत्र से दक्षिण अफ्रीका के प्रभुत्व को हटाने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ बल का प्रयोग करे। दशाब्दियों से, दक्षिण अफ्रीका के गौरांग प्रशासकों ने दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को अवैध रूप से अपने कब्जे में कर रक्खा है और कई वर्षों से संयुक्त राष्ट्र संघ इस बात का गम्भीर प्रयत्न करता चला आ रहा है कि वे विश्व संघ के निर्णय से अपने को बाधित कर लें। निरन्तर विफलताओं के उपरान्त मई १९६२, में समिति ने दक्षिण अफ्रीका में जाकर वस्तुस्थिति के अवलोकन करने की अनुमति प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। इस वस्तुस्थिति के परिज्ञान से भी दक्षिणी अफ्रीका पर कोई प्रभाव न पड़ा। अब समिति को अपने दूसरे कदम के सम्बन्ध में विचार करना था। श्री कारपियो ने यह सुझाव दिया कि दक्षिण-पश्चिम-अफ्रीका के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र की महासभा का संकल्प केवल उसी स्थिति में कार्यान्वित हो सकेगा जब कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका में संयुक्त राष्ट्र संघ की सैन्य शक्ति उपस्थित रहे। किसी प्रश्न के सुलझाव के प्रति किये गये शान्तिपूर्ण प्रयत्न शाश्वत् नहीं हो सकते और अवश्य ही किसी प्रश्न के सुलझाव के लिये समय की कोई अवधि निर्धारित

होनी चाहिये जिससे कि उस अवधि के भीतर सुलझाव न किया गया तो न्याय की व्यवस्था स्थापित करने के लिये अन्यथा उपाय भी काम मे लाये जा सके। भारत द्वारा गोग्रा की विमुक्ति के सम्बन्ध मे की गई सैनिक कार्यवाही इस बात के लिये प्रबलतम दृष्टान्त है।

दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने १२ जून १६५८, को सयुक्त राष्ट्र सघ की सद्भावना समिति से यह प्रार्थना किया कि व प्रिटोरिया मे बातचीत के लिये जाय। ब्रिटेन, ब्राजील और अमेरिका के राज्य प्रतिनिधियो की समिति साधारण सभा द्वारा बनाई गई।

यूथोपिया और लाइबेरिया का मामला :—नवम्बर ४, १६६० को यूथोपिया और लाइबेरिया ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का अन्य बातो के साथ यह भी घोषित करने के लिए कहा कि दक्षिण अफ्रीका ने समादेश की शर्तों को दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के सम्बन्ध मे हेर-फेर कर लिया और इसलिये उसका यह कर्तव्य हो जाता है कि वहाँ प्रचलित जातीय पृथक्शासन (apartheid) को मिटाने की कार्यवाही करे। दक्षिण अफ्रीका ने तर्क किया कि यूथोपिया और लाइबेरिया को यह अधिकार नही है कि वह दक्षिण पश्चिम सघ का मामला राष्ट्र सघ के सामने ले आवे। वास्तविकता यह है कि लीग की समाप्ति के पश्चात् राष्ट्र-सघ ने दक्षिण अफ्रीका के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया था कि दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका को उसवे साथ मिला दिया जाय। इसीलिये दक्षिण अफ्रीका ने न्यासिता का समझौता मानने से इन्कार कर दिया। २१ दिसम्बर १६६२, को न्यायालय ने दक्षिण अफ्रीका की इस आपत्ति को अस्वीकार कर दिया कि सम्बन्धित विषय न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे नही है। कानून की दृष्टि से इसने यह भी निर्णय किया कि दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के ऊपर दक्षिण अफ्रीका का समादेश एक अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्ध है जो कि सन्धि या अभिसमय के रूप मे है

१८ जुलाई, १६६६ को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने एक वोट से छ वर्ष पुराने विवाद को और दक्षिण अफ्रीका के पड़ोसी दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका के नियन्त्रण को समाप्त करने का सकल्प विघटित कर दिया। न्यायालय के अध्यक्ष, आँस्ट्रेलिया के सर पर्सि स्पेण्डर (Sir Percy Spender) (न्यायालय के अन्य १४ सदस्यो मे ७ ७ का मतदान रहा) ने निर्णायक वोट द्वारा यह व्यवस्था दी कि यूथोपिया और लाइबेरिया ने ऐसे वैध अधिकार का प्रस्थापित नही किया है जिससे कि वे लोग भाव नगन्स मे उस मैनडेट के तोड़े जाने के सम्बन्ध मे वाद उपस्थित कर सकें, जिसके अधीन रहकर दक्षिण अफ्रीका वे गोराग प्रशासक क्षेत्र का प्रशासन करें। इस निर्णय के द्वारा, जो कि इस प्राविधिकता पर निर्भर करता है कि न तो यूथोपिया,

और न लाइबेरिया को ही इस बात का वैध अधिकार था कि वे न्यायालय में दक्षिण अफ्रीका के प्रशासन के विरुद्ध दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका पर लीग-आफ नेशन्स मैनडेट के अन्तर्गत शिकायत कर सके, परिणाम यह हुआ कि एक बहुत बड़ी जनसंख्या अब भी दक्षिण अफ्रीकियों के औपनिवेशिक और जातीय भेदभाव की शिकार बनी रहेगी।

५ आर्थिक तथा सामाजिक परिषद्

(The Economic and Social Council)

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा केवल संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा लगाये गये *कर्त्तव्यों के सत्यनिष्ठापूर्वक पालन पर ही नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक,* सामाजिक तथा अन्य सम्बन्धित विषयों के सफलतापूर्वक संचालन पर भी आश्रित है। इस उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र संघ ने सामान्य सभा के अधिकार में आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् स्थापित की है। इस परिषद् में संयुक्त राष्ट्र संघ के १८ सदस्य होते थे किन्तु अब २७ सदस्य होते हैं। इनके चुनाव की प्रक्रिया और अवधि का उल्लेख आगे किया जा रहा है।

कार्य तथा शक्तियाँ.—अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक तथा सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख अंग है। आर्थिक तथा सामाजिक परिषद के कार्य निम्नलिखित हैं.—

(१) *अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा सम्बन्धी, स्वास्थ्य* तथा अन्य सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करना अथवा प्रारम्भ कराना तथा किसी विषय के सम्बन्ध में साधारण सभा से, संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से तथा सम्बन्धित विशिष्ट अभिकर्त्ताओं से सिफारिश करना, (२) सब के लिए मानवीय अधिकारों तथा आधारभूत स्वतन्त्रताओं के प्रति आदर की भावना बढ़ाने तथा उन पर *आचरण करने के लिये सिफारिश करना,* (३) इसकी क्षमता के भीतर आने वाले विषयों के सम्बन्ध में साधारण सभा को आवेदन करने के लिये प्रतिज्ञापत्रों की रूप रेखा तैयार करना, और (४) इसकी क्षमता के भीतर आने वाले विषयों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाना।

आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् को विशिष्ट अभिकर्तृत्वों के कार्यों में एकीकरण का कार्य, उनके सम्बन्ध में परामर्श देकर तथा सिफारिश करने तथा साधारण सभा को और संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को प्रतिवेदन करने के लिये सौंपा गया है। परिषद् विशिष्ट अभिकर्त्ताओं से नियमित प्रतिवेदनों को प्राप्त करने

के लिये उपयुक्त उपाय कर सकती है और इन प्रतिवेदनो पर अपने विचारो को साधारण सभा का सूचित कर सकती है। इसे सुरक्षा परिषद् को, उसके प्रार्थना पर सहायता भी करनी पडती है। इसे आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे मानवीय अधिकारो की उन्नति के लिये आयोगो को नियुक्त करनी पडती है। प्रादेशिक आर्थिक आयोग भी होते हैं जो विशिष्ट क्षेत्रो मे विशिष्ट समस्याओ को हल करते हैं।

प्रादेशिक तथा सुरक्षा-प्रबन्ध (Regional and Security Arrangements)—लीग आफ नेशन्स का प्रतिज्ञा पत्र अन्तर्राष्ट्रीय अभियुक्तियो की वैधता को प्रभावित नही करता था, उदाहरणार्थ शान्ति स्थापना के लिये पचायती सधियाँ अथवा प्रादेशिक समझौते, जैस मुनरो-सिद्धान्त। सयुक्त राष्ट्र सघ का चार्टर भी प्रादेशिक प्रबन्धको के सबन्ध मे इसी प्रकार की व्यवस्था करता है। अनुच्छेद ५२ (१) मे यह अनुबन्धित है कि :—

"वर्तमान चार्टर मे कोई विषय प्रादेशिक प्रबन्धो तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापन सम्बन्धो ऐसे विषयो से व्यवहार करने वाले अभिकर्तृत्वो को नही रोकती है जो प्रादेशिक कार्यशैली के लिये उपयुक्त हो, किन्तु अनुबन्ध यह है कि ऐसे प्रबन्ध अथवा अभिकर्तृत्व तथा उनके कार्य सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्य तथा सिद्धान्तो के अनुरूप हो।"

प्रादेशिक प्रबन्ध-सन्धियो का स्वरूप प्रादेशिक है। "प्रादेशिक अभिकर्तृत्व" शब्द से ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय अभिकर्तृत्व व्यक्त होते हैं जो प्रादेशिक प्रबन्ध द्वारा स्थापित किये गये हो।

सयुक्त राष्ट्र सघ का चार्टर, प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा अभिकर्तृत्वो पर, स्थानीय झगडो का, उनके सुरक्षा परिषद् मे निर्देशित होने के पूर्व शान्तिपूर्वक समझौता कराने का कार्य सौपता है। प्रादेशिक प्रबन्ध अथवा अभिकर्तृत्व प्रवतक कार्य मे भी सयुक्त राष्ट्र सघ म अग के रूप में भी कार्य कर सकते हैं क्योकि सुरक्षा परिषद् को ऐसे प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा अभिकर्तृत्वो को अपने प्राधिकार के अधीन उपयोग करने के लिये प्राधिकृत किया गया है। सुरक्षा परिषद् को सर्वदा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापनार्थ जो जो कार्य किये जाँय अथवा जो प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा अभिकर्तृत्वो के अन्तर्गत विचाराधीन हो उनसे अवगत रक्खा जाता है।

अफ्रीका मे राजनीतिक जागृति :—पिछले समयों मे अफ्रीका म बहुत ही राजनीतिक परिवर्तन हुये हैं। १९४६ मे ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम ने अफ्रीका के सम्बन्ध मे अपने समादेश को सयुक्त राष्ट्र सघ की न्यासिता पद्धति के अन्तर्गत कर दिया। परिणाम यह हुआ कि पहले के समादेशित राज्य टागन्यायिका, कैमरुन,

तोगोलैंड और रवान्डा-उरुन्डी न्यास क्षेत्र माने गये जो कि उन्ही समादेशक शक्ति के अन्तर्गत थे। दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका इसमे सम्मिलित न किया जा सका।

लीबिया के सयुक्त राज्य ने १९५१ मे अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। १९५२ मे इरीट्रीया यूथोपिया से मिल गया। १९५६ मे सुडान स्वतन्त्र गणतन्त्र हो गया। १९५६ मे मोरोक्को ने फ्रांस से समझौता करके सम्प्रभुता प्राप्त कर ली और आगे चलकर १९५८ मे स्पेन से भी स्वतन्त्र हो गया। १९५६ म ट्यूनीशिया भी स्वतन्त्र हुआ। १९५७ मे पश्चिम अफ्रीका मे गोल्डकोस्ट घाना नाम से स्वतन्त्र हो गया और नीग्रो राज्य की स्थापना हुई। १९६० मे घाना ने अपने आपको कामनवेल्थ के अन्तर्गत गणतन्त्र घोषित किया। १९६० और १९६१ मे क्रमशः नाइजीरिया और सियरालिओन स्वतन्त्र हो गये। इस प्रकार बड़ी ही तीव्र गति से वहाँ राजनीतिक परिवर्तन उपस्थित हुये हैं। १९६० मे कांगो भी स्वतन्त्र हो गया और कासावुबु (M. Kasavubu) वहाँ के राष्ट्रपति तथा लुमुम्बा (M. Patrice Lumumba) प्रधान मन्त्री हुये। इन दोनो पदाधिकारियो का चुनाव जनतांत्रिक प्रणाली पर बेलजियन प्रशासको की देखरेख मे हुआ था। कटंगा प्रान्त मे शोबे (M. Tshombe) ने सयुक्त कांगो के विरुद्ध एक क्रांति खड़ी कर दी। कटंगा धातुओ से भरा-पुरा एक प्रान्त है जिसको बेलजियम कांगोलियो के हाथ नही देना चाहते थे। रूस, चीन और जेकोस्लोवाकिया की सरकारो ने लुमुम्बा की सरकार की सहायता की जब कि पश्चिमी शक्तियो ने बेलजियम को कांगो वापस आने मे सहायता दी। पैट्रिस लुमुम्बा गिरफ्तार कर लिये गये और १३ फरवरी, १९६१ को यह घोषणा की गई कि लुमुम्बा और उनके दो साथी मार डाले गये हैं। यह घोषणा शोबे (Tshombe) की सरकार द्वारा की गई थी।

२२ फरवरी १९६१ को सुरक्षा परिषद् ने इन कृत्यो की भर्त्सना का प्रस्ताव पारित किया तथा संयुक्त राष्ट्र सघ को, यदि आवश्यकता पडे तो सैन्य-शक्ति द्वारा भी परिस्थिति को काबू मे लाने का प्रस्ताव किया। यहाँ संयुक्त राष्ट्र की ओर से भेजी गई सेना मे भारत की ओर से ५००० सैनिक भी भेजे गये थे।

२५ नवम्बर, १९६५ को कांगोली सेना के कमाण्डर जेनरल जोसेफ मोबेतु ने प्रेसिडेण्ट कासावुबु को रक्तहीन सैन्य-क्रान्ति मे अपदस्थ कर दिया और अपने-आप के निदेशन मे सैनिक-सरकार का गठन किया। कर्नल लिओनार्ड मुलाम्बा को श्री किंबा के स्थान पर प्रधान मन्त्री घोषित किया गया। श्री किंबा दस दिन पूर्व ही प्रेसिडेण्ट कासावुबु द्वारा प्रधानमंत्री के रूप मे नाम-निर्देशित किये गये थे। इस अवसर पर १३ सूत्रीय उद्घोषणा में कहा गया कि उच्चस्तरीय सैन्य पदाधिकारियों की बैठक ने इस कारण से कासावुबु सरकार को अपदस्थ कर देने का निश्चय किया

कि वह राजनीतिक क्षेत्र में पूर्णतः असफल हो गई है और 'मिस्टर किंवा की सरकार की अक्षमता' को दृष्टि में रखते हुये भी यह कदम आवश्यक हो गया था। जेनरल मोबुतु, जो कि अब राष्ट्रपति मोबुतु हो गये थे, ने घोषणा की, कि विद्रोही नेताओं से कोई सम्पर्क नहीं रखा जायेगा और यह कि संघर्ष उस समय तक जारी रहेगा, जब तक कि विद्रोह सैन्य साधनों से पूर्णतया दबा नहीं दिया जाता। सैन्य अवरोहण के पश्चात् प्रेसिडेण्ट कासावुबु और पूववर्ती कटांगा नेता मोयसे शॉम्बे के बीच घोर संघर्ष हुआ। शॉम्बे अक्टूबर १३, १९६५ को प्रेसिडेण्ट द्वारा कांगोली प्रधान मंत्री पद से हटा दिये गये थे। नई सरकार ने कांगोली पार्लियामेंट में विश्वास का मत प्राप्त कर लिया और वह मोयसे शॉम्बे द्वारा अभिनन्दित हुई। अल्जीरिया, सोवियत रूस और साम्यवादी चीन ने नई सरकार के गठन की भर्त्सना की, किन्तु पश्चिमी देशों ने सामान्य रूप से इस सरकार का स्वागत किया।

रुआण्डा-उरुण्डी, जो कि एक न्यास-क्षेत्र था और जिसपर बेल्जियम का प्रशासन था, जनवरी १९६१ में गणतंत्र हो गया और यद्यपि बेल्जियम ने रुआण्डा-उरुण्डी के गणतंत्र को मान्यता प्रदान करने के निश्चय की घोषणा की, फिर भी, ऐफ्रो एसियन राष्ट्र कांगो के प्रसङ्ग में उसके द्वारा किये गये कार्यों को देखते हुये उसके आशय पर निश्चिन्त नहीं थे। बेल्जियन प्रशासित रुआण्डा-उरुण्डी का क्षेत्र जुलाई १, १९६२ को स्वतंत्र हुआ और उसी समय से उसके दो भाग हो गये—रुआण्डा गणतंत्र और बुरुण्डी साम्राज्य। फिर भी, बेल्जियन सेनाओं को दो केन्द्रीय अफ्रीकी राज्यों से वापस बुलाये जाने का प्रश्न कठिनाइयों से मुक्त नहीं रहा।

पूर्वी अफ्रीका में, इटली ने अपने न्यास-क्षेत्र सोमालीलैंड को स्वतन्त्रता के लिये तैयार कर लिया और ब्रिटिश सरकार ने ब्रिटिश सोमालीलैंड को जून १९६० में स्वतन्त्रता प्रदान करने का निश्चय किया जिससे कि वह न्यास-क्षेत्र से संगठित हो सके। अप्रैल १९६० में दोनों क्षेत्रों के प्रतिनिधि परस्पर मिले और दोनों क्षेत्रों को मिलाकर संगठित सोमालिया-गणतन्त्र के लिए सहमत हो गये।

वह राजनीतिक जागरण, जिसने कि अफ्रीका के मानचित्र में इतने महत्व-पूर्ण परिवर्तन कर दिये, अन्य भी अफ्रीकी औपनिवेशिक क्षेत्रों में तीव्र गति से बढ़ रहा है और इससे और भी परिवर्तन सम्भावित है। अफ्रीका में जीवन की हुँकार गूंजने लगी है। वर्ष १९५० के आरम्भ में केवल चार अफ्रीकी राज्य—मिस्र, इथियोपिया, लाइबेरिया और दक्षिण अफ्रीका संघ ही स्वतन्त्र थे, जब कि शेष महाद्वीप किसी-न-किसी रूप में पश्चिमी युरोपीय शक्तियों के औपनिवेशिक परतन्त्रता में था। अगस्त १९६०, में २० राज्य स्वतन्त्र हो गये थे और १९६०-६१ तक ८ और राज्य स्वतन्त्र होने के लिए तत्पर हो चुके थे। इन परिवर्तनों के कारण बेल्जियम को

अपने एकमात्र अफ्रीकी उपनिवेश कांगो से हटना पड़ा, ब्रिटेन अपने ११,२७,३१६ वर्ग-मील के क्षेत्र से वापस हटा और फ्रान्स के पास अब केवल ८,५५,००० वर्ग-मील का औपनिवेशिक क्षेत्र शेष रहा, जब कि पहले यह क्षेत्र ४०,५५,६०० वर्ग-मील तक फैला हुआ था।

कुल ६८ वर्षों के निरन्तर ब्रिटिश-संरक्षण के उपरान्त ६ अक्टूबर, १९६२ को उगाण्डा अफ्रीका का ३३वां राष्ट्र स्वतन्त्र हुआ। उस तारीख को ब्रटेन ने उगाण्डा के ऊपर से अपना संरक्षण और आधिपत्य हटाया और अफ्रीका के इस नये राष्ट्र की स्वतन्त्रता स्वीकार की।

अफ्रीकी देशों में अल्जीरिया भी एक ऐसा देश था, जहाँ पिछले कई वर्षों तक स्वतन्त्रता का संग्राम चलता रहा। फ्रान्सीसी निवासी, जो कि अल्जीरिया में जाकर बस गये थे, अब भी अल्जीरिया पर अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहते थे। साम्यवादी देशों तथा अफ्रीका के अधिकांश देशों ने स्वतन्त्र अल्जीरिया की निष्कासित सरकार को, जो कि फरहत-अब्बास (*Ferhat Abbas*) की अध्यक्षता में गठित थी, मान्यता प्रदान की। फिर भी, अल्जीरिया में ७ वर्षों का पुराना युद्ध १८ मार्च, १९६२ को समाप्त हुआ और परिणाम यह था कि फ्रान्सीसी और अल्जीरिया के वार्ता प्रतिनिधियों के बीच एक युद्ध-विराम समझौता हो गया। प्रेसिडेण्ट डी-गौले को पूर्ण शक्ति प्रदान की गई कि वे अल्जीरिया के साथ सहयोग की संधि पर हस्ताक्षर कर सकें। अक्टूबर ८, १९६२, को अल्जीरिया औपचारिक रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता में प्रविष्ट होने की अनुमति प्राप्त कर सका। ब्रिटेन पूर्वी और मध्य अफ्रीका स्थित अपने क्षेत्रों के लिये एक संविधान की रूपरेखा तैयार करने का प्रयत्न कर रहा है जिससे कि अफ्रीकी जनता की महत्वाकांक्षाओं और वहाँ जाकर बसने वाले यूरोपीय लोगों की माँगों के बीच संतुलन स्थापित करते हुये दोनों को संतुष्ट किया जा सके। केवल पुर्तगाल ही ऐसा औपनिवेशिक प्रभुत्व का देश है, जो कि निरन्तर युग की पुकार को सुनने से इन्कार करता आ रहा है और अपनी उपनिवेशवादी दमन-नीति में किंचित् भी परिवर्तन करने को प्रस्तुत नहीं है। दक्षिण-अफ्रीका संघ की सरकार भी अपनी जातिगत विभेद की नीति को ज्यों का त्यों अपनाती जा रही है और वह भी अपने अधीनस्थ क्षेत्रों को किसी प्रकार की राजनीतिक या संवैधानिक विमुक्ति देने को तत्पर नहीं है। अंगोला भी जो कि पश्चिमी अफ्रीका में एक पुर्तगाली उपनिवेश है, स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए संघर्ष कर रहा है और इस देश को, जिसे कि कोई भी नहीं जानता था, पुर्तगालियों द्वारा आंगोली जनता पर किये गये अत्याचारों ने अब प्रकाश में ला दिया है। अफ्रीका से यूरोपीय दमनकारी उपनिवेशवाद युग की पुकार के आगे

दुम दबाकर पीछे की ओर भाग रहा है और वह दिन भी अब दूर नहीं है, जब पुर्तगाली साम्राज्य का वहाँ से समापन हो जायेगा।

नये स्वतन्त्र होने वाले देशों के कारण व्यापक स्तर पर अफ्रीकी एकता के विचारों को प्रस्फुटित होने की प्रेरणा मिली है। पूर्वी अफ्रीका में एक पूर्वी-अफ्रीकी संघ (East African Federation) का स्वप्न साकार रूप ले चुका है, क्योंकि १९६४ में तांगान्यिका, जांजीबार, उगाण्डा और केन्या ने मिलकर इस संघ को स्वप्निल संसार से निकालकर यथार्थ जगत में एक संघ का रूप प्रदान किया था जो 'तांगान्यिका और जांजीबार के संयुक्त गणतन्त्र' के नाम से विहित हुआ। न्यासालैंड, जिसे अब मालावी के नाम से जाना जाता है, जून १९६४ में स्वतन्त्र हुआ। पश्चिम की ओर घाना के राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री डा० क्वामे नुक्रुम्मा घाना, गायना और माली का एक यूनियन गठित किया। महासभा के पाँचवें सत्र में ये नव-उत्पन्न राज्य संयुक्त-राष्ट्र संघ के सदस्य के रूप में स्वीकृत हुये। अब इन राज्यों का संयुक्त राष्ट्र संघ में अपना विशिष्ट महत्व और स्थान है। अफ्रीका में होने वाले व्यापक राजनीतिक परिवर्तनों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को नया बल प्रदान कर दिया है और पूर्वी-पश्चिमी दलों के संघर्ष में ये देश सबल सुप्रभाव का रूप बनते जा रहे हैं।

जांबिया गणतंत्र (Republic of Zambia)—२४, अक्टूबर, १९६४ को उत्तरी रोडेशिया, जिसे अब जांबिया के नाम से जाना जाता है, एक स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्य बन गया। इसका नया नामकरण जांबेई नदी के नाम पर किया गया। उत्तरी रोडेशिया जांबिया के राज्य का स्वतन्त्र होना ब्रिटिश औपनिवेशिक-विस्तार के टूटने का एक महत्वपूर्ण सोपान है। घाना, नाइजीरिया, सियरा लिओन, तांगान्यिका, उगाण्डा, जांजीबार (जो कि अब तांगान्यिका के साथ संगठित है), केन्या और मालावी के उपरान्त यह नवाँ अधीनस्थ राज्य था जो कि स्वतन्त्र हो गया।

डा० केन्नेथ कौंडा (Dr. Kenneth Kaunda), जो कि उत्तरी रोडेशिया की स्वतन्त्रा-संग्राम के नेता थे, जांबिया के स्वतन्त्र गणतन्त्र के प्रथम राष्ट्रपति हुये।

अन्य सभी स्वतन्त्र अफ्रीकी राष्ट्रों की भाँति जांबिया एक तटस्थ राष्ट्र है। राष्ट्रपति केन्नेथ कौण्डा ने स्वतन्त्र सम्प्रभुता बनाये रखने के अपने दृढ़ संकल्प की घोषणा की तथा विश्व के उन दो दर्शनों के बन्धनों में अपने को बाँध लेने से असहमति व्यक्त की, जिसमें आज का विश्व उथल-पुथल के मायाजाल में पड़ा हुआ है। उनका कथन था कि उनका राष्ट्र एक स्वतन्त्र और तटस्थ राष्ट्र

रहेगा तथा इस ब्लाक या उस ब्लाक में सम्मिलित होने के स्थान पर दोनों के बीच एक संतुलन बनाये रखने का प्रयत्न करेगा। फिर भी जाँबिया का यह आशय नहीं है कि परिस्थितियों में वह किसी एक पक्ष का समर्थन करे, भले ही वह शक्ति-राजनीति (power politics) का क्षेत्र हो, या सहायता प्राप्त करने का प्रसंग हो, और यह राष्ट्र किसी भी अन्य राष्ट्र या राष्ट्रों द्वारा दी जाने वाली किसी भी शर्त-रहित सहायताओं को सहर्ष स्वीकार करेगा।

चार्टर के अनुच्छेदों में संशोधन

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के कतिपय अनुच्छेदों में महत्वपूर्ण संशोधन किये गये हैं। इनमें अनुच्छेद २३, अनुच्छेद २७ और अनुच्छेद ६१ का संशोधित रूप अब इस प्रकार है—

अनुच्छेद २३

(१) सुरक्षा-परिषद में संयुक्त राष्ट्रों के पन्द्रह सदस्य[१] होंगे। चीन गणतन्त्र, फ्रान्स, सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक्स संघ, ग्रेट ब्रिटेन का यूनाइटेड किंगडम और उत्तरी आयरलैंड, और संयुक्त राज्य अमेरिका सुरक्षा-परिषद के 'स्थायी सदस्य होंगे। साधारण सभा संयुक्त राष्ट्र के अन्य दस सदस्यों को सुरक्षा-परिषद के अस्थायी सदस्यों के रूप में निर्वाचित करेगी और ऐसा करने में यह सदस्यों द्वारा संयुक्त राष्ट्रों में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के प्रयत्नों को प्रथम रूप में दृष्टि में रखेगी और इसी प्रकार संघ के अन्य प्रयोजनों के हित में और समन्यायिक भौगोलिक विभाजन के हित में किये गये कार्यों को ध्यान में रखेगी।

(२) सुरक्षा-परिषद के अस्थायी सदस्य दो वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित होंगे। सुरक्षा-परिषद के सदस्यों की संख्या ११ से बढ़कर १५ हो जाने के बाद होने वाले अस्थायी सदस्यों के प्रथम निर्वाचन में चार अतिरिक्त सदस्यों में से दो का निर्वाचन एक वर्ष की अवधि के लिये होगा। निवृत्त होने वाला कोई सदस्य उसके तुरन्त बाद ही पुनर्निर्वाचन के योग्य नहीं होगा।

(३) सुरक्षा-परिषद के प्रत्येक सदस्य को एक प्रतिनिधित्व प्राप्त होगा।

अनुच्छेद २७

(१) सुरक्षा-परिषद के प्रत्येक सदस्य का एक 'वोट' होगा।

(२) प्रक्रियात्मक मामलों (Procedural matters) में सुरक्षा-परिषद के निर्णय ६ सदस्यों की स्वीकृत्यात्मक अभिमति पर मान्य होंगे।

---

१. पहले सुरक्षा-परिषद में ऐसे सदस्यों की संख्या ११ थी।

(३) सुरक्षा परिषद् के अन्य सभी विषयो पर निर्णय ९ सदस्यो के स्वीकृति सूचक मत से किये जायेगे जिनमे कि स्थायी सदस्यो की सहमति के मत सम्मिलित होंगे, परन्तु अध्याय ६ के और अनुच्छेद ५२ के पैराग्राफ ३ के निर्णयो के अन्तर्गत किसी विवाद का पक्षकार वोट देने मे सम्मिलित न होगा।[1]

अनुच्छेद ६१

(१) आर्थिक और सामाजिक परिषद (Economic and Social Council) का गठन संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा निर्वाचित २७ सदस्यो से मिल कर किया जायेगा।

(२) पैराग्राफ ३ के उपबन्धो के अधीन रहते हुये आर्थिक और सामाजिक परिषद के ९ सदस्य प्रत्येक वर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित होंगे। एक निवृत्त सदस्य अपनी निवृत्ति के ठीक बाद वाले निर्वाचन के लिये पात्र न होगा।

(३) आर्थिक और सामाजिक परिषद की सदस्य-संख्या १८ से बढकर २७ हो जाने के बाद के प्रथम निर्वाचन मे उस वर्ष ६ निवृत्त सदस्यो के स्थान पर ९ अतिरिक्त सदस्यो का निर्वाचन किया जायेगा। इन ९ अतिरिक्त सदस्यो मे, इस प्रकार निर्वाचित सदस्यो मे से ३ की अवधि १ वर्ष बीतने पर समाप्त हो जायेगी और ३ सदस्यो की अवधि दो वर्ष बाद समाप्त होगी। इस प्रकार का समापन महा सभा द्वारा की गई व्यवस्था के अनुरूप होगा।

(४) आर्थिक और सामाजिक परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक प्रतिनिधि होगा।

चार्टर का पुनरीक्षण (Revision of the Charter) —चार्टर के अनुच्छेद १०८ मे यह अनुमति दी गई है कि साधारण सभा के सदस्यो के दो-तिहाई मतो से जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यो के दो तिहाई मतो से जिसमे सुरक्षा परिषद् के सब स्थायी सदस्य भी सम्मिलित हैं, अनुसमर्थित कर दिया जाय, तो चार्टर का संशोधन हो सकता है। अनुच्छेद १०९ मे यह अनुबन्धित है कि चार्टर के पुनरीक्षण के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यो का एक साधारण सम्मेलन किसी भी समय मे साधारण सभा के सदस्यो के दो तिहाई स्वीकृति-सूचक मतो से तथा सुरक्षा परिषद् के सात सदस्यो के मत से हो सकता है और यदि ऐसा सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव साधारण सभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पूर्व न हुआ हो तो ऐसा सम्मेलन

१ अनुच्छेद २७ का संशोधित रूप जो कि १७ दिसम्बर, १९६३ को साधारण सभा द्वारा अंगीकृत किया गया और ३१ अगस्त, १९६५ को प्रवर्तन मे आया। इसके पूर्व खंड (२) और (३) मे सदस्यो के मतो की संख्या ७ थी।

बुलाने का प्रस्ताव उस अधिवेशन के कार्यक्रम मे रक्खा जायगा तथा यदि ऐसा साधारण सभा के सदस्यो के बहुमत के तथा सुरक्षा परिषद् के सात सदस्यो के मत से निश्चित किया जाय तो सम्मेलन होगा।

उपरोक्त कथन से यह प्रकट होगा कि चार्टर के पुनरीक्षण के सम्बन्ध में भी स्थायी सदस्यो का बहुत बड़ा हाथ है और पाँच बड़ी शक्तियों में से कोई भी जिसे निषेधाधिकार प्राप्त है, चार्टर के किसी भी उचित संशोधन को रोक सकती है। चार्टर का जन्म सन् १९४५ मे सैन फ्रान्सिसको के सम्मेलन में हुआ तथा उस तिथि पर जो कुछ स्वीकारोचित हो सकती थी, उसका कुल निचोड़ यह प्रकट करता है। बड़ी शक्तियो के सम्बन्ध बहुधा परस्पर सामंजस्य पूर्ण नहीं हो पाये हैं। अतः यह यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य ही प्रतीत होता है कि किसी सभा मे इन वर्षों के मध्य चार्टर की कार्यशैली मे प्राप्त हुये अनुभव के परिणामस्वरूप जो संशोधन इसमे आवश्यक समझे जाते हैं, उनके सम्बन्ध मे मतैक्य हो जाय। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ को जीवित तथा स्वस्थ अवस्था में संचालित रखना है तथा इस बात को रोकना है कि यह लीग आफ नेशन्स की गति को न प्राप्त कर ले, तो इसके पिछले वर्षों के चालू रहने के अनुभव बहुत ही सहायक सिद्ध होंगे जिससे वे दोष दूर हो जाँय जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ को अशक्त. लगड़ा बना दिया है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्र सचिव मिस्टर जौन फौस्टर डलेस ने चार्टर को 'पूर्वाणु चार्टर' (pre-atomic Charter) कहा है और यह कि इस अर्थ मे यह प्रवर्तन होने के पूर्व ही अप्रचलित था।

निषेधाधिकार तथा बड़े पाँच (Veto and the 'Big Five') :—प्रथम विषय जो विचारणीय है वह यह कि सुरक्षा परिषद् के कार्यक्रम मे "निषेधाधिकार" का अनुबन्ध है। निषेधाधिकार-पद्धति इसलिये आविष्कृत की गई थी कि बड़ी शक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र संघ मे अपने भाग्य को छोटे राष्ट्रों के वोटों के किसी प्रकार अधीनस्थ किये बिना ही सम्मिलित हो सके। निषेधाधिकार का उद्देश्य, जैसा अनुच्छेद २७ के खंड ३ मे दिया गया है, बड़ी शक्तियों मे एकता की प्रतिभूति करना है। चार्टर के इस अनुबन्ध के बिना न तो संयुक्त राष्ट्र संघ होता और न चार्टर ही होता। इसमे सन्देह नहीं कि इस विशेष निषेधाधिकार का उपयोग उचित सीमितियों के भीतर रखना चाहिये। इस अधिकार का दुरुपयोग न होना चाहिए। निषेधाधिकार आज मेल के प्रतीक होने के स्थान मे संघर्ष का प्रतीक हो गया है। रूस तथा पश्चिमी शक्तियो ने अपनी विवेक-शून्य कार्य-प्रणाली से इसका समय-समय पर दुरुपयोग किया है और जैसा एम० ऐलवेरेज ने किसी राष्ट्र को संयुक्त राष्ट्र-संघ मे प्रवेश करने के लिए सामान्य सभा की क्षमता वाले मामले मे (I. C. J. Reports, 1950 pp. 3-4) अपने मतभेद प्रकट करने वाली सम्मति मे कहा था, "यह निर्णय

करने का कि प्रत्येक विषय में जिनमें सुरक्षा परिषद् उपायों का अवलम्बन कर सके विशेष निषेधाधिकार का उपयोग स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाय, यह अर्थ होगा कि शान्ति तथा सुरक्षा स्थापना के अतिरिक्त अन्य विषयों में भी एक बड़ी शक्ति की इच्छा उस परिषद् के अन्य सदस्यों की तथा सामान्य सभा की इच्छा को निरर्थक बना दे, तथा उससे संयुक्त राष्ट्र संघ निकम्मा हो जाय।"

विशेष निषेधाधिकार के प्रतिबन्ध की तेज धार व्यावहारिक प्रयोग में बहुत-कुछ कुंठित कर दी गई है। इसका यह अर्थ माना गया है कि जब तक पाँच बड़ी शक्तियों में से कोई भी स्पष्ट रूप से निषेधात्मक मतदान न करे उस समय तक किसी बड़ी शक्ति द्वारा अलग रहना कोई विशेष निषेधाधिकार का उपयोग नहीं है। इसी प्रकार किसी स्थायी सदस्य की अनुपस्थिति विशेष निषेधाधिकार का उपयोग नहीं मानी जाती। यह सिद्धान्त सबसे प्रथम सन् १९४६ में निर्धारित किया गया जब रूस ने ईरान तथा इंगलैण्ड के झगड़े के वाद विवाद के बीच अपनी असहमति उठकर चले जाने से प्रदर्शित की और इसके उपरान्त रूस सुरक्षा परिषद् से इस आधार पर अलग हो गया कि उसमें वास्तविक चीन का प्रतिनिधित्व नहीं है।

विशेष निषेधाधिकार की धार को और अधिक कुंठित करने के लिए सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों को चाहिये कि वे कोई ऐसी आचार विधि बना लें जिससे निषेधाधिकार का उपयोग कम से कम हो सके। सबसे अधिक जो वस्तु आवश्यक है वह यह कि मतैक्य पर पहुँचने की इच्छा बिना निषेधाधिकार को उठा देने से संयुक्त राष्ट्र संघ में जो कुछ भी संयुक्तता है वह भी छिन्न-भिन्न हो जायगी। एक दूसरा सुझाव यह है कि मतैक्य नियम अनुच्छेद २७ (३) के स्थान में बहुमत निर्णय के नियम को रख दिया जाय।

आन्तरिक विषय (Domestic Matters) :—दूसरा विषय जो विचार-णीय है वह चार्टर के अनुच्छेद २ के खंड ७ में किसी राज्य के आन्तरिक क्षेत्राधिकार के भीतर आने वाले विषयों के सम्बन्ध में है। यह वाक्य कि किसी एक राज्य के आन्तरिक क्षेत्राधिकार के भीतर आने वाले विषय, सन्देह से मुक्त नहीं हैं, और संयुक्त राष्ट्र संघ में ऐसे विषयों पर विचार के समय जैसे दक्षिणी अफ्रीका द्वारा व्यवहार की गई भारत-विरोधी नीति, कोरिया का झगड़ा तथा ब्रिटेन और ईरान का तेल के झगड़ा आदि पर विचार विमर्श हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय ने Tunis-Morocco Nationality Decrees (P. C. I. J. Series B. No. 4) वाले मामले में इस विषय पर विचार किया और कहा कि "केवल आन्तरिक क्षेत्राधिकार के भीतर" का आशय ऐसे विषयों में प्रतीत होता है जो, यद्यपि वे एक से अधिक राज्यों के हितों से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हो,

सिद्धान्त मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि से नियमित नही होते। ऐसे विषयों के सम्बन्ध में केवल प्रत्येक राज्य ही निर्णायक हैं। इस खड के उत्तरवर्ती भाग मे निम्न सशोधन वाछनीय है जिससे यह पढने में ऐसा हो जाय कि "परन्तु इस सिद्धान्त से अध्याय ७ के अन्तर्गत निराकरण तथा प्रवर्तक कार्यों के लागू किये जाने मे तथा उन विषयो मे कोई बाधा नही पडेगी जो अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यो के अन्तर्गत हैं और जिनमे मानवीय अधिकारो तथा आधारभूत स्वतन्त्रताओ का पालन तथा उनके लिए सम्मान भी सम्मिलित है।"

चार्टर के अनुच्छेद २ (७) मे इस प्रतिबन्ध होने से चार्टर के अनुच्छेद ६ को प्राय निरथक कर दिया है कि कोई सदस्य यदि वह चार्टर के सिद्धान्तो का उल्लघन करे तो सघ से निष्कासित किया जा सकता है। यदि इस खड का पुन-रीक्षण न किया गया तो सयुक्त राष्ट्र सघ का जलयान जिस पर कि इस अनुच्छेद मे आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है, सर्वव्यापकता की चट्टान से टकराकर डूब सकता है।

सदस्यता (Membership) :—अनुच्छेद ४ मे यह दिया गया है कि कतिपय नियमो के अन्तर्गत सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता ऐसे सब शान्ति-प्रिय राज्यो के लिए खुली हुई है जो चार्टर के कर्तव्यो को स्वीकार करे। प्रथम शक्ति हस्तगत करने वाली राजनीति ने सदस्यता को सार्वजनिक बनाये जाने से रोका है। प्रत्येक गुट इस बात पर महत्व देता है कि 'उसी विचार के' देशो का प्रवेश किया जाय तथा विरोधी दल के देशो के प्रवेश का विरोध करता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये अनुच्छेद ४ मे यह अनुबन्धित कर दिया जाय कि सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता किसी भी ऐसे राज्य के लिये खुली है जो ऐसी सदस्यता के कर्तव्यो को बिना अधिक नियामिकता के पालन करने को उद्यत हो। एक कठिनाई उन राज्यो के सम्बन्ध मे उत्पन्न होती है, जैसे स्विटजरलैण्ड, जो अध्याय ७ के अन्तर्गत प्रवर्तक उपाय सम्बन्धी कर्तव्यो को अपनी स्थायी तटस्थता को भग किए बिना स्वीकार करने को उद्यत न हो। अत चार्टर के अनुच्छेद ४ मे और सशोधन की आवश्यकता है जिससे ऐसे राज्य भी अध्याय ७ के सैनिक अपेक्षण सम्बन्धी कर्तव्यो का पालन किए बिना सघ मे सम्मिलित हो सके।

अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Compulsory Jurisdiction) :—दूसरा सुझाव जो दिया गया है वह न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार उपयोग करने के लिए सशक्त किए जाने के सम्बन्ध मे है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को युद्ध के बीच मे समुद्री अभिग्रहणो के सम्बन्ध मे निर्णय करने वाले नागरिक न्यायालयो के निर्णयो से अपीलें सुनने का क्षेत्राधिकार प्रदत्त किया जाय। इसके अतिरिक्त न्यायालय का

व्यवस्थान इस प्रकार संशोधित कर दिया जाय जिससे न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध अपराधों से आरोपित व्यक्तियों के विरुद्ध आपराधिक क्षेत्राधिकार का उपयोग कर सके।

असदस्य राज्यों का भाग लेना :—चार्टर के अनुच्छेद ३२ के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि असदस्य राज्य भी सुरक्षा परिषद् के उन बहसों में सम्मिलित हो सकते हैं जिसमें कि वे पक्षकार हैं किन्तु उन्हें वोट देने का कोई अधिकार नहीं है। चार्टर में यह भी उपबन्धित होना आवश्यक है कि साधारण सभा किसी असदस्य राज्य को सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित करे जब कि वह किसी ऐसे विषय पर विचार कर रही हो जिसमें कि असदस्य राज्य पक्षकार हो।

न्यास-पद्धति (Trusteeship System) :—अनुच्छेद ७६ (ब) जिसमें न्यास-पद्धति के लिए अनुबन्धित किया गया है स्पष्ट नहीं है। इसमें प्रत्येक प्रदेश को जो आत्म-शासन न कर रहा हो स्वतन्त्रता दिए जाने के लिए एक निश्चित समयावधि की व्यवस्था होनी चाहिए। समयावधि संयुक्त राष्ट्र संघ के आयोग द्वारा प्रशासक शक्ति की सहमति के साथ प्रत्येक प्रदेश के विकास का दृष्टि में रखते हुए नियत होनी चाहिए।

अनुच्छेद ७७ (अ) भी पुनरीक्षित होना चाहिए जिससे पूर्व आदेशित प्रदेश अनिवार्य रूप से *न्यास-पद्धति के अधीन रख दिए जाँय। यह संशोधन दक्षिणी* अफ्रीका द्वारा अपने पूर्व आदेशित प्रदेश दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका को न्यास-पद्धति के अधीन रखने को स्वीकार करने के कारण आवश्यक हो गया है।

अनुच्छेद ७७ (स) में यह व्यवस्था की गई है कि न्यास-पद्धति उन क्षेत्रों में लागू होगी जो उनके प्रशासन के लिए उत्तरदायी राज्यों द्वारा स्वेच्छापूर्वक उस पद्धति के अधीन रक्खे जाँय। इस वाक्य खंड के भीतर राज्यों के उपनिवेश भी इस अनुबन्ध के साथ सम्मिलित होने चाहिये कि वे न्यास में स्थानीय लोगों के संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रार्थना पत्र देने पर सम्मिलित किए जाएँगे।

सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र (Strategic Areas) —यह समय है जब सामान्य तथा सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण न्यास क्षेत्रों का भेद इस अनुबन्ध के साथ हटा दिया जाय कि अधीनस्थ प्रदेश एवं नियत अवधि में स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें। जिनमें वे सब साधारण सभा के निरीक्षण में प्रशासित हो सके, इसके लिए चार्टर के अनुच्छेद ८३ तथा ८५ (१) का संशोधन आवश्यक होगा।

प्रादेशिक सुरक्षा (Regional Security) .—चार्टर के अनुच्छेद ५२ (१) में यह अनुमति दी गयी है कि प्रादेशिक व्यवहार के यथानुरूप अन्तर्राष्ट्रीय

शान्ति तथा सुरक्षा स्थापनार्थ सम्बन्धी विषयो को निपटाने के लिए प्रादेशिक प्रबन्ध अथवा अभिकर्तृत्व बनाए जायँ, किन्तु अनुबन्ध यह है कि ऐसे प्रबन्ध सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्य तथा सिद्धान्तो के अनुरूप हो। ८ सितम्बर १९५४ को दक्षिणी पूर्वी एशिया प्रतिरक्षा सघ (SEATO) की स्थापना उपरावत अनुबन्धो के अनुरूप नही कहा जा सकता क्योकि इसके धर्मपिता सब अएशियाई शक्तियाँ हैं अर्थात् वे सयुक्त राज्य अमेरिका, इगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड आठ राष्ट्रों मे से हैं। यह उपनिवेशीय शक्तियो का एक शक्तिशाली झुंड है जो उन लोगो को सरक्षण देने के उत्सुक हैं जो किसी का सरक्षण नही चाहते। इस बात की व्यवस्था होनी चाहिए कि ऐसी सधियो की जाँच उनका वास्तविक स्वरूप निश्चित करने के लिए की जानी चाहिए।

अस्पष्टता (Vagueness) —चार्टर के भिन्न-भिन्न अनुबन्धो मे कुछ अस्पष्टता विद्यमान है। सुरक्षा परिषद् तथा साधारण सभा की शक्तियाँ निपुणता से वर्णित नही है तथा जैसा भारत के मुख्य न्यायाधिपति ने दिसम्बर सन् १९५३ मे नई दिल्ली मे अन्तर्राष्ट्रीय वैध सम्मेलन मे व्यक्त किया कि पूरे चार्टर को सरसरी दृष्टि स पढने से भी प्रत्येक मनुष्य के मन मे एक अस्पष्ट छाप रह जाती है कि यहाँ एक सस्या वर्तमान है जो कुछ मतो के एक प्रकार से उपयोग किए जाने पर अन्य की अपेक्षा जातीय हितो को हानि पहुँचा सकती है, यदि वे केवल विशिष्ट जातीय वर्गों के दृष्टिकोण से देखे जाँय। अत. उन्होने सुझाव दिया कि सदस्य राज्य सयुक्त राष्ट्र सघ को जो-जो शक्तियाँ देने को उत्सुक हो उनको स्पष्टत. घोषित कर दिया जाय।

प्रक्रिया सम्बन्धी विषय (Procedural Matters) :—इसके उपरान्त अनुच्छेद २७ मे यह निर्देशित है कि 'प्रक्रिया सम्बन्धी विषयो' तथा 'अन्य सब विषयो' के सम्बन्धो मे सुरक्षा परिषद् का निर्णय प्राप्त करने के लिए मत प्राप्त किए जाँय। यह आवश्यक है कि ऐसे प्रक्रिया सम्बन्धी विषय अनुच्छेद २७ में एक व्याख्या या वाक्यखड भरकर स्पष्टत. परिभाषित कर दिए जाँय।

चीन का प्रतिनिधित्व —इसके अतिरिक्त चीन के प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध मे सयुक्त राष्ट्र सघ मे अयथार्थ दशा विद्यमान है। इस समय सुरक्षा परिषद मे चीन का प्रतिनिधि पुरानी सरकार का प्रतिनिधि है जिसका चीन मे नाममात्र का भी अधिकार नही है। इस प्रकार अवास्तविकता को रोकने के लिये कही न कही व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये। चीन की बढ़ती हुई उग्र आक्रमणवादी नीति को देखते हुये यह और भी आवश्यक हो गया है कि वह राष्ट्रों के कुटुम्ब मे नियमित किया जाय।

भारित मतदान (Weighted Voting) :—इसके अतिरिक्त साधारण सभा के प्रतिनिधि-रूपक स्वरूप को उन्नत करने के लिये कुछ भारनिरुद्ध मतदान की पद्धति प्रवर्तित करनी चाहिये जिससे आईसलैंड के १,४१,००० निवासियों को वहाँ वही मतदान का अधिकार न प्राप्त हो जाय जैसा चीन के ५२½ करोड़ निवासियों को।

सुरक्षा-परिषद् में स्थायी स्थानों की वृद्धि :—अन्त में शीतयुद्ध से उत्पन्न हुई तनातनी को कम करने के लिये एशियाई देशों को संयुक्त राष्ट्र संघ में सामान्यतः तथा सुरक्षा परिषद् में विशेषतः अधिक प्रभावपूर्ण मतदान मिलना चाहिये। यह सुरक्षा परिषद् में स्थायी स्थानों की वृद्धि करके छः कर देने तथा एक स्थान भारत को दे देने से किया जा सकता है जो कि पहले ब्रिटेन का एक उपनिवेश था परन्तु अब एशिया की एक प्रमुख लोकतन्त्रात्मक शक्ति है। इस समय संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की संख्या १२१ है किन्तु एफ्रो-ऐशिया के देशों का सुरक्षा परिषद् में अब भी प्रतिनिधित्व अपेक्षाकृत बहुत ही कम है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रथम चरण के कार्यों की समीक्षा—आज का युग आणुविक युग है। मानव-मात्र का जीवन आज बहुत अनिश्चित-सा हो गया है। बढ़ती हुई शक्ति की होड़ ने यह आवश्यक-सा कर दिया है कि कोई एक ऐसी संस्था हो जिसका समूचे विश्व पर प्रभुत्व हो, और जो मानव-मात्र की रक्षा में तत्पर हो। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने कार्यों से अपने आपको एक ऐसी ही प्रभावकारी विश्व-संस्था के रूप में सिद्ध किया है।

बर्लिन, तेहरान, ग्रीक, जेरुसलम, काश्मीर और कोरिया के मामलों में संघ ने जो सुझाव रखे उनका अपना विशेष महत्व है। एक तरह से संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपनी उत्पत्ति के प्रथम दस वर्षों में ही ५ युद्धों को रोकने का महत्वपूर्ण कार्य किया—वे युद्ध ग्रीस की सीमा, काश्मीर की सीमा तथा पैलेस्टाइन, इन्डोनेशिया और मिस्र के प्रसंगों में सम्भावित युद्ध थे। कोरिया में राष्ट्र-संघ ने ही शांति स्थापित की। इसने सीरिया, लेबनान, बर्मा और ईरान से विदेशी सेना को हटाया और बर्लिन अवरोध को तोड़ने में सहायता की।

युद्धों को रोकने और शांति स्थापित करने के साथ ही दूसरा जो महत्वपूर्ण कार्य संयुक्त राष्ट्र ने किया है वह है आणुविक शक्ति को युद्ध और विनाश से मोड़कर शांति और निर्माण की ओर लगाना। १९५५ में ७२ राष्ट्रों की एक "पीस कान्फ्रेन्स" अणु-शक्ति के सम्बन्ध में जेनेवा में हुई थी। उस सम्मेलन में यह आशा बँधी थी कि "एच० बाम्ब" की प्रबल शक्ति अगले २० वर्षों में मनुष्य की बिजली और शक्ति सम्बन्धित माँगों को पूरा करने में लग जायेगी।

सदस्यता से आरम्भ हुआ था किन्तु

आरम्भ मे राष्ट्र सङ्घ ५० राष्ट्रो की
अक्तूबर १९६६ तक १२१ सदस्य हो चुके थे।

कोरिया का प्रश्न सयुक्त राष्ट्र संघ के लिये एक बहुत ही कठिन परीक्षा
का प्रश्न था। नवम्बर १९५२ में भारतीय प्रतिनिधि द्वारा कोरिया के सम्बन्ध में
एक शान्ति-योजना प्रस्तुत की गई और कोरिया में युद्ध को विभीषिका ने शान्ति का
हल लिया। इन्डोनेशिया मे सयुक्त राष्ट्र आयोग ने युद्ध को समाप्त किया जिसमें कि
इन्डोनेशिया ने नीदरलैण्ड से स्वतन्त्रता की माँग की थी। इन्डोनेशिया स्वतन्त्र
होने के पश्चात् २८ सितम्बर, १९५० को सयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य हो गया।
काश्मीर-विवाद के सम्बन्ध मे संयुक्त राष्ट्र आयोग ने भारत व पाकिस्तान के बीच
एक खुले युद्ध को विराम की स्थिति तक पहुँचाया; यद्यपि यह प्रश्न आगे और भी
उलझता गया।

सयुक्त राष्ट्र सघ ने अपना ध्यान नि.शस्त्रीकरण (disarmament) की
ओर केन्द्रित किया।

सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के अन्य संगठन जैसे 'अन्तर्राष्ट्रीय लेबर आरगेनाइजेशन',
'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय', 'अन्तर्राष्ट्रीय मानेटरी फड', 'विश्व हेल्थ आरगेनाइजेशन'
और 'सयुक्त-राष्ट्र-शैक्षिक, वैज्ञानिक और सास्कृतिक सङ्गठन' अपने-अपने उद्देश्यो
की पूर्ति मे बहुत अधिक सफल रहे हैं।

१९५६ के अन्त मे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई मानो मिस्र में एक विश्व-युद्ध
हो जायेगा। यह आशका 'इजरायली ऐंग्लो फ्रेंच' आक्रमण के कारण उत्पन्न हुई
थी। सयुक्त राष्ट्र सङ्घ इस स्थिति मे दृढ रूप से खडा हुआ, और राष्ट्रो की नैतिक
आवाज इतनी सबल सिद्ध हुई कि युद्धरत राज्य सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के आदेशों की
अवज्ञा न कर सके। सोवियत रूस को भी हगरी के आन्तरिक मामलो के हस्तक्षेप
के सम्बन्ध मे सङ्घ की आवाज को मानना पडा।

१९५८ मे लेबनान मे मध्य-पूर्वी सकट के समय तथा जार्डन के मामले
मे राष्ट्र सङ्घ ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि का अतिक्रमण करने वाले आक्रामक राज्यो
को रोका। १९६१ मे "कागो" के सकट मे सफलतापूर्वक परिस्थिति का सामना
किया।

संयुक्त राष्ट्र संघ का महत्व—जैसा कि सयुक्त राष्ट्र सघ के महासचिव
का कथन था कि यह कहना गलत है कि 'लीग आफ नेशन्स' इस कारण अपने
उद्देश्यो मे असफल रही कि वह अपने अस्तित्व के प्रभाव से द्वितीय विश्व-युद्ध न
रोक सकी। असफलता लीग में नही, वरन् उन राष्ट्रो में निहित है जो अपनी

प्रतिज्ञा के पालन में असमर्थ रहे और लीग में इतनी शक्ति न उत्पन्न कर सके कि वह एक आवश्यक संस्था बन सके ।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर पहले से ही यह अनुमान करता है कि महान् शक्तियों में ऐक्य स्थापित है किन्तु जैसा कि Hans J Morgenthau ने लिखा है कि इसमें वे अवयव नहीं हैं जिनके द्वारा इसे दृढ़ता से स्थापित किया जा सके। उन्हीं के शब्दों में—"The United Nations was originally envisaged as the second storey of an edifice, built upon the foundations of the continuing unity of the Great Powers to be maintained by the traditional methods of diplomacy With that unity having crumbled, the United Nations, as intended by the Charter, has no foundation upon which to rest. The only foundation that is left is the unity of the Western alliance under the leadership of the United States, and what is—politically speaking called—the United Nations today is but a wing of the original structure resting on that foundation."

तात्पर्य यह कि संयुक्त राष्ट्र संघ और कुछ नहीं बल्कि महान् शक्तियों पर आधारित एक परम्परागत राजनयिक महल है। महान् शक्तियों की एकता टूटने के पश्चात् अब केवल पाश्चात्य मित्र-राष्ट्रों की एकता है जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में है, और जिसे कि राजनीतिक परिभाषा में संयुक्त राष्ट्र संघ कहते हैं। यह और कुछ नहीं बल्कि उसी नींव पर आधारित मौलिक संरचना है।

अपनी अनेक कमियों के उपरान्त भी संयुक्त राष्ट्र संघ एक बहुत ही शक्तिशाली और प्रभावकारी संस्था के रूप में कार्य कर रहा है और जिसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय शांति-समझौता और सुनभाव से है। राष्ट्रपति 'आइजनहोवर' ने इसे मनुष्य की सबसे अच्छी संकुठित आशा कहा था, जो कि युद्ध का समझौता वार्ता बदलने में सहायक है। यह संस्था इस बात का अवसर प्रदान करती है कि शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था हो तथा जनता का सार्वभौमिक विकास हो। आर्थिक और सामाजिक जीवन की प्रगति में भी संस्था ने अपने विविध संङ्गठनों के द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

पंचशील—इस प्रकरण की समाप्ति के पूर्व यह आवश्यक प्रतीत होता है कि पञ्चशील के सिद्धान्तों का परिज्ञान कर लिया जाय। इस सिद्धान्त का प्रवर्तन भारत और चीन के द्वारा हुआ था और यह आशा की गई थी कि यदि इसे सही अर्थों में अपनाया गया तो विश्व-शांति का ढाँचा ही बदल जायेगा। चीन के प्रधान

मन्त्री चाऊ एन लाई जून १९५४ में भारत आये थे। जून २८ को भारत और चीन के प्रधान मन्त्रियों का संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित हुआ, जिसके अनुसार तिब्बत के सम्बन्ध में भारत और चीन के ५ समझौते के सिद्धान्त पुष्ट किये गये। वे निम्न-लिखित हैं :—

१—प्रत्येक के राज्य-क्षेत्र और सम्प्रभुता का पारस्परिक सम्मान (Mutual respect for each other's territorial integrity and sovereignty);

२—आक्रमण का न करना (*Non-aggression*);

३—परस्पर किसी के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना (*non-interference in each other's internal affairs*);

४—समानता और पारस्परिक लाभ (Equality and mutual benefit); और

५—शांतिपूर्ण सहअस्तित्व (peaceful co-existence)।

दोनों प्रधान मंत्रियों ने यह स्वीकार किया था कि एशिया और विश्व के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक प्रथाएं विद्यमान हैं। अगर किसी प्रकार उपरोक्त सिद्धान्त स्वीकार कर लिये गये और उनका अनुशीलन किया गया तथा एक-दूसरे के भीतरी मामलों में प्रत्येक देश हस्तक्षेप न करे तो ये भिन्नतायें शांति स्थापित करने के मार्ग में बाधक न बनेंगी। किसी राज्य के भू-भाग और उसकी सम्प्रभुता का जब सम्मान किया जायेगा और राष्ट्र आक्रमण न करने की नीति अपनायेंगे तो शांति-पूर्ण सहअस्तित्व और देशों में आपस के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनेंगे। इनसे आज के विश्व की बढ़ती हुई तनातनी कम होगी और शांति का वातावरण उत्पन्न होगा। पंचशील का सिद्धान्त "जीवित रहो और जीने दो" (Live and let live) पर आधारित है।

यह सिद्धान्त एक दूसरे से बहुत ही सम्बद्ध है किन्तु इनमें शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व का एक विशेष स्थान है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद १, पैरा २ में यह उद्देश्य लिखा हुआ है कि "राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाये जांय, समान अधिकारों के सिद्धान्त का आधार हो तथा जनता का आत्म-निर्णय तथा सार्वभौमिक शान्ति को बढ़ाने के उचित उपाय किये जांय।" इस प्रकार हम देखते हैं कि यह पांचों सिद्धांत संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के उद्देश्यों को अधिक व्यावहारिक रूप में आगे बढ़ाते हैं। इस सिद्धान्त को मुख्यत: भारत, सोवियत रूस, गणतन्त्र चीन, इन्डोनेशिया,

बर्मा, सीरिया, नेपाल, कम्बोडिया, लाओस, सौदी-अरब, पोलैंड और योगोस्लाविया द्वारा माना गया।

पञ्चशील के सिद्धान्त से विश्व-शान्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ था और ऐसी आशा की जाती थी कि इस सिद्धान्त के आधार पर सह-अस्तित्व शान्ति, निरस्त्रीकरण तथा विषैले विस्फोटक बमो के प्रयोग को रोकने मे सहायता मिलेगी।

किन्तु, पञ्चशील का सिद्धान्त व्यापक रूप से प्रभावकारी हो, इसके पूर्व ही इस सिद्धान्त के प्रवर्त्तको मे से एक ने इन सिद्धान्तो का पूर्णतया उलङ्घन कर दिया। भारत, तिब्बत व चीन की सीमाओ का हमेशा सम्मान करता रहा और दोस्ती का हाथ आगे बढाता रहा; किन्तु चीन ने भारत की उत्तरी सीमा पर निरकुश ढङ्ग से आक्रमण कर १९६२ मे मानो इस सिद्धान्त की रीढ को ही हिला दिया। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय जगत की बहुत ही विलक्षण घटना थी, कि जिन सिद्धान्तो का प्रतिपादन भारत और चीन द्वारा सर्वप्रथम किया गया और जिन्हे विश्व मे बहुत सम्मानपूर्वक देखा गया, उन्ही सिद्धान्तो का अतिक्रमण चीन ने ही भारत के विरुद्ध कर दिया।

आज पंचशील का सिद्धान्त फिर भी उपयोगी है और यदि विश्व के राष्ट्र एक दूसरे की राज्य-सत्ता का सम्मान करना सीख लें तो निश्चय ही यह सिद्धान्त सह-अस्तित्व और शांति के लिए व्यापक रूप से अनुकूल वातावरण उत्पन्न कर देगा।

अध्याय २७

सुरक्षा परिषद् के कार्य का सिंहावलोकन

(Survey of Security Council at Work)

सुरक्षा परिषद् सयुक्त राष्ट्र सघ का एक प्रमुख अग है। इसमे सयुक्त राष्ट्र संघ के ग्यारह (सशोधन के पश्चात अब १५) सदस्य होते हैं। चीन का गणतन्त्र, फ्रान्स, सोवियत समाजवादी गणतन्त्रो का सघ, ग्रेट ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका इसके पाँच स्थायी सदस्य हैं और छ- (तथा सशोधन के पश्चात् अब १०) अस्थायी सदस्य साधारण सभा द्वारा दो वर्ष की अवधि के लिये निर्वाचित होते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्राय: सभी प्रमुख वैधानिक कृत्यो के करने का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् पर है। यह इन्हें या तो अकेले अथवा साधारण सभा के

परामर्श से कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने का प्रारम्भिक उत्तरदायित्व संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा सुरक्षा परिषद् को दिया गया है। प्रायः इसे अधिशासी प्रकार का कार्य सम्पन्न करना पड़ता है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से कार्य करती है और चार्टर के अनुच्छेद २३ के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों ने सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को स्वीकार करने तथा पालन करने की प्रतिज्ञा की है।

सुरक्षा परिषद् दो प्रकार के कार्यों को करती है। यह झगड़ों की जाँच करती है तथा शान्ति-भंग के सम्बन्ध में कार्यवाही करती है। यह इस बात का निश्चय करती है कि शान्ति के विरुद्ध कोई धमकी अथवा अग्रधर्षण का कार्य तो नहीं है तथा इस सम्बन्ध में संस्तुति करती है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने अथवा उसे पुनः संस्थापित करने के लिये जो उपाय अवलम्बन किये जाँय, उनका निर्णय करती है।

यहाँ पर हम कतिपय सर्वाधिक महत्व के झगड़ों तथा स्थितियों पर विचार करेंगे जो इस समय तक सुरक्षा परिषद् के सामने लाये गये हैं।

इंडोनेशिया :— द्वितीय विश्वयुद्ध में जापानियों ने डच लोगों को पूर्वी इण्डीज से बाहर भगा दिया था। इंडोनेशिया जो कि पहले नीदरलैण्ड के नियन्त्रण में था, राष्ट्रवादियों ने वहाँ पर जापानी सैन्यों के आत्म-समर्पण के उपरान्त ही एक गणतन्त्र स्थापित कर लिया। उन्होंने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। नीदरलैण्ड्स तथा इंडोनेशिया गणतन्त्र में युद्ध प्रारम्भ हो गया। जुलाई १९४७ में आस्ट्रेलिया तथा भारत ने स्थिति को सुरक्षा परिषद् के समक्ष रक्खा, जिसने अपनी सेवायें इस झगड़े को निपटाने के लिये प्रदान की। इसने मध्यस्थता समिति (Good Offices Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने अगस्त १९४७ में युद्ध-विराम की स्थिति उत्पन्न कर दी। नीदरलैंड और गणतन्त्र ने एक शान्ति-समझौते पर हस्ताक्षर किये। इसके उपरान्त नीदरलैंड की ओर से शान्ति भंग कर दी गई। सुरक्षा परिषद् ने युद्ध बन्द करने का निर्देश किया, किन्तु नीदरलैण्ड की सरकार ने इधर कोई ध्यान न दिया। मध्यस्थता समिति के प्रतिवेदन पर जनवरी २८, १९४९ को सुरक्षा परिषद् ने नीदरलैंड सरकार की सैनिक कार्यवाही को रोक देने का आदेश दिया और यह भी आदेश दिया कि सभी राजनैतिक बन्दियों को छोड़ दिया जाय। परिषद् ने यह भी संस्तुति की कि एक स्वतन्त्र, सप्रभु और संघीय, संयुक्त राज्य इंडोनेशिया की स्थापना की जाय तथा १ जुलाई १९५० तक दोनों सरकारें सत्ता नये संघ-राज्य को हस्तान्तरित कर दें। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा निरन्तर प्रोत्साहित किये जाने पर नीदरलैण्ड की सरकार ने गणतन्त्र को एक स्वतन्त्र सर्वभौमिक राज्य

माना। साधारण सभा के सन् १९५० मे हुये दूसरे सत्र मे इडोनेशिया का प्रवेश सयुक्त राष्ट्र सघ के साठवे सदस्य के रूप मे हुआ।

ग्रीस —द्वतीय विश्व-युद्ध ने ग्रीस को बहुत ही बुरी दशा मे छोडा था। इसकी सेना तितर बितर हो गई थी। उधर साम्यवादी गुरिल्लो के छापे पडते जा रहे थे। उन छापो की पृष्ठभूमि मे अल्बानिया, युगोस्लेविया और बुल्गारिया के साम्यवादी राज्य सहायक थे। बृटिश सेना ने ग्रीस को आत्म-रक्षा मे सहायता की। २१ जनवरी १९४६ को सोवियत साम्यवादी रूस ने सुरक्षा परिषद् मे शिकायत की कि बृटिश की निरन्तर सेना ग्रीस मे रहने के कारण वहाँ के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप होता है और इससे शान्ति और सुरक्षा के खतरे मे पड जाने की आशका है। ग्रीस ने ऐसे किसी हस्तक्षेप के होने से इकार किया, अस्तु इस ओर सुरक्षा परिषद् ने कोई विशेष ध्यान न दिया। इसके पश्चात् ग्रीस की ओर से सुरक्षा परिषद् मे शिकायत पहुँची कि साम्यवादी राज्य गुरिल्लो को सहायता पहुँचा रहे हैं। परिस्थिति की जाँच के लिये सुरक्षा परिषद् की ओर से विशेष आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग ने मई २७, १९४७ को एक बहुमत प्रतिवेदन प्रस्तुत किया कि तीन उत्तरी राज्यो अर्थात् युगोस्लोविया और कुछ मात्रा मे अल्बानिया और बलगेरिया ने ग्रीस के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध को बढावा दिया है।

परिणामत ग्रीस को आर्थिक रूप से सहायता पहुँचाने का कार्य सयुक्त राज्य द्वारा प्रारम्भ किया गया और उसका विवेचन सुरक्षा परिषद् मे भी कर दिया गया।

ग्रीस के प्रश्न पर साधारण सभा ने सितम्बर १९४७ को विचार करना शुरू किया। सभा ने सस्तुति की कि ग्रीस और उसके तीनो पडोसी झगडो का निपटारा करे और इसके लिए समुचित ढग से राजनायिक सपर्क आपस मे स्थापित करे। सभा ने युगोस्लाविया, अल्बानिया और बलगेरिया को निर्देश किया कि वे गुरिल्ला-युद्ध को किसी भी प्रकार सहायता न पहुँचावें।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बालकान पर सयुक्त राष्ट्र सघ ने एक विशेष समिति निर्मित की, किंतु यह समिति साधारण सभा की सस्तुतियो का कार्यान्वित कराने मे असफल रही।

धीरे-धीरे परिस्थिति मे सुधार हुआ। युगोस्लाविया ने ग्रीस मे गुरिल्ला-युद्ध को सहायता देना बन्द कर दिया। ग्रीक सेना भी इतनी सशक्त हो चुकी थी कि शान्ति को फिर से स्थापित कर सके। २५ हजार ग्रीक बच्चो के निर्वान का प्रश्न अब भी एक समस्या बनकर खडा था। सभा की सस्तुति पर युगोस्लाविया ने इस बात पर सहयोग दिया कि जो बच्चे अपने घर वापस जाना चाहते हो, उनके

जाने की व्यवस्था कर दी जाय। इस सम्बन्ध मे अन्य पूर्वी यूरोपीय राज्यो ने अनुदार नीति बर्ती और इस कार्य मे व सहायक नही हुये।

बर्लिन की नाकाबंदी (The Berlin Blockade) :—सन् १९४८ में फ्रास, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा यूनाइटेड किंगडम ने यू० एस० एस० आर० की सरकार द्वारा एकपक्षीय तौर पर जर्मनी के दखल किये गये पश्चिमी क्षेत्रो तथा बर्लिन के बीच लगाये गये उद्वहन तथा यातायात सम्बन्धी अवरोधो के कारण जो गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो गई थी, उसकी ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित किया और बतलाया कि यह कार्य चार्टर के अनुच्छेद २ के अन्तर्गत लगाये गये कर्त्तव्यो के विरुद्ध था तथा यह शान्ति के लिये एक धमकी थी। यह प्रश्न परिषद् के कार्यक्रम में रक्खा गया। संयुक्त राष्ट्र संघ मे दखल करने वाली चार शक्तियो के प्रतिनिधियो ने परस्पर मई १९४९ को बर्लिन की समस्या पर वार्तालाप किया तथा वे इस बात पर सहमत हो गई कि यू० एस० एस० आर० द्वारा बर्लिन तथा पश्चिमी क्षेत्र और पूर्वी तथा पश्चिमी क्षेत्रो के बीच लगाये गये यातायात, उद्वहन तथा व्यापार सम्बन्धी सब अवरोध हटा दिय जॉय।

फिलस्तीन (Palestine) —यूनाइटेड किंगडम के प्रस्ताव पर अप्रैल २ सन् १९४७ को फिलस्तीन का प्रश्न सभा के कार्यक्रम मे रक्खा गया। अप्रैल तथा मई में एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया और उसने फिलस्तीन पर संयुक्त राष्ट्र संघ की विशेष समिति को स्थापित किया। समिति ने यह संस्तुति किया कि फिलस्तीन को अरब राष्ट्र, यहूदी राष्ट्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के अधीन एक विशेष क्षेत्र मे जिसमे जेरूसेलम सम्मिलित हो, विभाजित कर दिया जाय। यह योजना सभा द्वारा स्वीकृत की गई जिसका परिणाम यह हुआ कि यह व्यवस्था की गई कि ब्रिटेन का फिलस्तीन के ऊपर आज्ञापत्र के अन्तगत अनुशासन समाप्त हो जाय तथा ब्रिटेन की सेना अगस्त १ सन् १९४८ तक हटा ली जाय। सभा ने योजना को कार्यरूप मे परिणित करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ का फिलस्तीन आयोग बैठाया। आयोग ने यह प्रतिवेदन किया कि फिलस्तीन की दशा दिन प्रतिदिन बिगड़ती जा रही है और यह सम्मति प्रकट की कि ब्रिटेन के चले जाने के उपरान्त सम्पूर्ण फिलस्तीन मे शासन अव्यवस्थित हो जायेगा तथा भुखमरी और झगड़े होंगे। सभा का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया जिसने न्यास परिषद् (Trusteeship Council) से प्रार्थना की कि वह जेरूसलम मे सुव्यवस्था स्थापित करने के निमित्त एक योजना तैयार करे। परिषद् अरब तथा यहूदियो के प्रतिनिधियों स यह समझौता प्राप्त करने में सफल हुई कि युद्ध बन्द (cease-fire) हो तथा तत्पश्चात विराम-संधि हो। एक विराम सधि आयोग बनाया गया किन्तु स्थिति मे सुधार नही

हुआ। ब्रिटेन ने आज्ञापत्र के अधीन अपना अनुशासन १५ मई को त्याग दिया। १७ सितम्बर को मध्यस्थ काँट बर्नाडाट (Count Bernadotte) तथा फ्रांसीसी प्रेक्षकों का मुखिया Colonel Andre Serot जेरूसलम के इसरायली क्षेत्र में गोली से मार डाले गये। निरन्तर लड़ाई के उपरान्त मध्यस्थता के प्रयत्न सफल सिद्ध हुए तथा इजिप्ट और इसरायली सरकारों ने फरवरी २४ सन् १९४९ को रोड्स में एक सामान्य युद्ध निवृत्ति सन्धि के स्वीकृति पत्र पर हस्ताक्षर किये।

सीरिया-लेबानॉन :—फरवरी ४ सन् १९४६ को लेबानॉन तथा सीरिया ने सुरक्षा परिषद् का ध्यान वहाँ पर ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी फौजों की निरन्तर उपस्थिति की ओर आकर्षित किया। सुरक्षा परिषद् में एक प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ जिसमें यह विश्वास प्रकट किया गया कि विदेशी सेनाओं को यथासम्भव शीघ्राति-शीघ्र हटा लिया जायेगा किन्तु यह रूस के निषेधाधिकार के कारण रुक गया। फिर भी ब्रिटेन और फ्रांसीसी सेनाओं का वहाँ से हटाने का कार्य प्रायः दो मास में पूर्ण हो गया।

आंग्ल ईरानी तेल का झगड़ा (Anglo-Iranian Oil Dispute) :—ईरान के तेल-उद्योग को मई सन् १९५१ में राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी आंग्ल-ईरानी झगड़े में ब्रिटेन द्वारा अस्थायी कार्यवाही के लिये प्रार्थनापत्र दिये जाने पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने ईरानी-तेल झगड़े में ब्रिटिश सरकार की "रोक दो" (freeze) प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। ईरान ने विश्व न्यायालय के निर्णय को अस्वीकार कर दिया। यह झगड़ा सुरक्षा परिषद् को निर्देशित किया गया जिसने १९ अक्टूबर सन् १९५१ को इस पर विचार-विमर्श उस समय तक के लिये स्थगित कर दिया जब तक कि न्यायालय यह निर्णय न दे कि क्या यह विषय न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आता है। न्यायालय ने अन्तिम रूप में जुलाई २२ सन् १९५२ को यह निर्णय दिया कि यह आंग्ल-फारस के तेल के झगड़े को निपटाने के लिये योग्य नहीं है तथा ब्रिटेन के इस दावे को अस्वीकृत किया कि न्यायालय फारस के विरुद्ध उसके (ब्रिटेन के) अधिकार के तेल-उद्योग को राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में ब्रिटेन के परिवाद को निपटाने के योग्य है।

कार्फू चैनल झगड़ा (The Corfu Channel Dispute) :—अक्टूबर सन् १९४६ में ब्रिटिश जंगी जहाजों को अलबेनिया के क्षेत्रीय जलमार्गों में सुरंगों से टकराने के कारण भारी क्षति पहुँची। ग्रेट ब्रिटेन ने इस विषय को सुरक्षा परिषद् के समक्ष इस कथन के साथ उठाया कि चैनल में सुरंगों की उपस्थिति के लिये अलबेनिया उत्तरदायी है। यह मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष आया जिसने यह निर्णय दिया कि विस्फोट के लिये अलबेनिया उत्तरदायी है तथा यह कि उस अवसर पर जब विस्फोट हुआ ब्रिटेन अलबेनिया के जलमार्गों में अनधिकृत प्रकार से

नही जा रहा था, किन्तु इसने यह निर्णय दिया कि ब्रिटेन ने अलबेनिया के जल-भागों का उल्लघन दूसरे ही माग में किया था तथा इन परिस्थितियों मे जो कुछ क्षतिपूर्ति दी जा सकती थी वह न्यायालय के निर्णय द्वारा जो घोषणा की गई थी वही थी।

कोरिया (Korea)—कोरिया की घटना का प्रारम्भ दिसम्बर १९४३ मे उस समय हुआ जब चीन, ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधियो ने काहिरा मे यह निर्णय किया कि समय आने पर कोरिया एक स्वतन्त्र राज्य हो जायगा। यह निर्णय उन तीनो शक्तियो द्वारा पोट्सडम मे सुनाई सन् १९४५ को पुष्टीकृत किया गया। जून सन् १९५० मे उत्तरी कोरिया ने बिना किसी प्रकार का उत्तेजना के दक्षिणी कोरिया गणतन्त्र पर आक्रमण कर दिया। सुरक्षा परिषद् का एक तात्कालिक बैठक बुलाई गई किन्तु जनवरी १३ सन् १९५० को रूस का प्रतिनिधि इस बात के विरोध मे सभा छोड़कर बाहर चला गया था कि परिषद् ने कम्यूनिस्ट चीन को स्थान देना अस्वीकार किया। जून २५ को सुरक्षा परिषद् की पुन बैठक हुई तथा एक प्रस्ताव किया गया जिसमे सब सदस्यो से प्रार्थना की गई थी कि वे सयुक्त राष्ट्र सघ को प्रस्ताव के निष्पादन में सहायता दें तथा उत्तरी कोरिया के आक्र-कारियो को सहायता देना बन्द कर दें। सदस्य-देशो द्वारा भेजी गई सेनायें सयुक्त राष्ट्र सघ के समादेश मे सयुक्त राज्य अमेरिका के झडे के नीचे सयुक्त कर दी गईं। सुरक्षा परिषद् ने सर्वप्रथम कोरिया के मामले मे अग्रधर्षण को रोकने के निमित्त सैनिक कार्यवाही करके बल प्रयोग की स्वीकृति दी। एक दीर्घकालीन युद्ध के उप-रान्त जिसमे कम्यूनिस्ट चीन के साथ सयुक्त राष्ट्र सघ की सेनाओ का खुले रूप से सघर्ष हुआ तथा सुरक्षा परिषद् के भिन्न भिन्न कार्य सोवियत निषेधाधिकार के कारण रुके, अप्रेल सन् १९५२ के अन्त तक दोनो पक्ष युद्धविराम (cease-fire) की सब शर्तों पर सहमत हो गये, केवल इस प्रश्न को छोड़ कर कि युद्धबन्दी अपने अपने स्वदेशो को लौट जाने के लिये बाध्य किये जाँय। अन्त मे इस विषय पर भी बदियो की उन्मुक्ति को निरीक्षण करने के लिये 'स्वदेश पुनरागमन आयोग' (repatriation commission) का भारतीय प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया गया। सयुक्त राष्ट्र सघ की बुद्धिमत्ता तथा शान्ति की शक्तियाँ जो निरन्तर कार्य करती रहो सराहनीय हैं कि कोरिया दूसरा मचूरिया नही हुआ और अन्त में वहाँ शान्ति स्थापित हो गई।

कोरिया-युद्ध मे वैध प्रश्न—द्वितीय विश्व युद्ध के अत में सोवियत और अमेरिकी सेना ने कोरिया के क्षेत्र को जापानियो के हाथ से छीन लिया और एक विभाजक रेखा खीच दी गई। कोरिया पक्षकारो से परामर्श के संदर्भ मे रूस और अमेरिका मे मतभेद उत्पन्न हो गया। अमेरिका ने कोरिया के पूरे प्रश्न को सितम्बर १९४७ मे सयुक्त राष्ट्र की साधारण सभा के समक्ष रखा। सभा ने उस देश में

प्रतिनिधियो के चुनाव के सम्बन्ध मे पर्यवेक्षण करने के लिये एक अस्थायी आयोग नियुक्त किया । उत्तरी कोरिया ने इसी बीच दक्षिणी कोरिया गणतन्त्र पर आक्रमण कर दिया । सुरक्षा परिषद् ने २५ जून १९५० को एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अनुसार शत्रुतापूर्ण कार्यों को तत्काल समाप्त करना था, और सेनाओ को पीछे हटाना था । उत्तरी कोरिया ने सयुक्त राष्ट्र के उक्त प्रस्ताव की उपेक्षा की और धीरे-धीरे यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय शांति के भङ्ग करने का प्रश्न बन गया । इसके पश्चात् सुरक्षा परिषद् ने २७ जून १९५० को एक दूसरा प्रस्ताव पारित किया जिसके अनुसार उपबन्धित किया गया कि चूँकि उत्तरी कोरिया ने लड़ाई बन्द नही की है, अतः सदस्यो से सिफारिश की गई कि वे सैन्य आक्रमण को रोकने के लिये तथा शान्ति स्थापना के लिये हर सम्भव सहायता करे । अमेरिका की सैन्य-शक्ति कोरिया सरकार की सहायता के लिये आगे बढ़ आयी । ७ जुलाई १९५०, को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा सदस्य राष्ट्रो से सैनिक सहायता की अपील की जिससे सयुक्त राष्ट्र सघ के कमान के अन्तर्गत वहाँ शान्ति स्थापित की जा सके ।

इस सम्बन्ध मे दो प्रकार के प्रश्न ऐसे थे जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि से था :—

१—क्या उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर सशक्त आक्रमण वास्तविक अभ्रघर्षण का कार्य और शान्ति के भङ्ग करने का कार्य कहा जायगा ?

२—क्या सुरक्षा परिषद् द्वारा कोरिया मे की गई कार्यवाही वैध थी और क्या युद्धरत न होने वाले सदस्य-राष्ट्रो पर इसका कोई आभार था ?

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है सुरक्षा परिषद् ने चार्टर के अनुच्छेद ३९ के अनुसार यह निश्चय किया था कि उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया के विरुद्ध सशक्त आक्रमण किया है जिसमे शान्ति भङ्ग होने का भी प्रश्न सन्निहित है । यहाँ यह प्रश्न नही उठता कि युद्धरत दोनो पक्षकार चार्टर के अन्तर्गत राष्ट्र-सघ के सदस्य थे या नही अथवा उन्हें राज्य भी कहा जा सकता है या नही, क्योंकि सुरक्षा परिषद् को उन प्रसङ्गो में भी हस्तक्षेप करने का अधिकार है जो सदस्य-राज्य नही है किन्तु जहाँ की घटनाओं का प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति पर पड़ सकता है । तदनुसार उत्तरी कोरिया को सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा आक्रामक घोषित किया गया और शांति-भङ्ग के लिये उत्तरदायी ठहराया गया ।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है सुरक्षा परिषद् को चार्टर के अनुच्छेद ३९, ४०, ४१ तथा ४२ मे सैन्य-शक्ति सग्रह करने का प्राधिकार दिया गया है ।

इस सम्बन्ध मे प्रो० जूलियस स्टोन का विचार बहुत ही उपयुक्त मालूम पड़ता है कि जून २७ और जुलाई ७ को सुरक्षा परिषद् द्वारा प्रस्ताव रूप म जो सिफारिशें

की गईं, वे सदस्य-राष्ट्रों की वैयक्तिक इच्छाओं की एक सामूहिक अभिव्यक्ति मात्र थी जिसमे किसी प्रकार का भार सदस्य-राष्ट्रों पर प्रवर्तित नहीं होता था।

अलजीरिया का प्रश्न—जनवरी ५, १९५५, को सौदी अरब ने सुरक्षा परिषद् का ध्यान अलजीरिया की गम्भीर स्थिति की ओर आकृष्ट किया।

अलजीरिया द्वारा स्वतन्त्रता की मांग का समर्थन विश्व के सभी न्यायप्रिय लोगों ने किया। यहां का प्रश्न निम्नलिखित कारणों से बहुत ही उलझन मे पड़ गया था :—

१—अलजीरिया मे आकर बस जाने वालों का प्रश्न जो कि अब वहीं स्थायी निवास चाहते थे।

२—वहां क आदिमवासी जो लगातार स्वतन्त्रता की मांगकर रहे थे।

३—फ्रांस की अर्थ-व्यवस्था अलजीरिया को छोड़ने के लिये तत्पर न थी।

अलजीरिया का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र के समक्ष लाया गया। फ्रांस ने यह घोषणा की कि वह अलजीरिया के सम्बन्ध मे संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी भी अधिकार को स्वीकार न करेगा। उसन यह दावा किया कि अलजीरिया फ्रांस का एक अंग है। ब्रिटेन और अमेरिका ने १९५७ की फरवरी मे फ्रांस का पक्ष-समर्थन किया।

संयुक्त राष्ट्र की राजनयिक समिति मे फरवरी १९५७ मे एशिया-अफ्रीका राष्ट्रों की १८ शक्तियों ने प्रस्ताव पारित किया जिसमे फ्रांस से अलजीरिया की जनता के आत्म-निर्णय पर उचित प्रक्रिया करने की मांग की गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा के १२वे अधिवेशन मे फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्र संघ को यह चेतावनी दी कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अलजीरिया मे यदि कोई हस्तक्षेप किया गया तो इसका अभिप्राय रक्तपात का अवधि को बढ़ाना होगा। फ्रांस के प्रतिनिधि न स्पष्टतः कहा था कि फ्रांस की सरकार जिस राज्य क्षेत्र मे अपनी अनुपस्थिति स अराजकता, दुख और गृहयुद्ध की स्थिति का अनुभव करती है उसे वह किसी के दबाव के कारण नहीं छोड़ सकती। उसका कहना था कि संयुक्त राष्ट्र संघ को ऐसे मामले मे हस्तक्षेप न करना चाहिए जिसमे हस्तक्षेप करने का उसे न तो अधिकार हो और न सामर्थ्य। १० दिसम्बर १९५७ को अलजीरिया के संबंध मे १५ शक्तियों का समझौता प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने स्वीकृत किया। किन्तु १३वें अधिवेशन मे १७ शक्तियों का एक प्रस्ताव रखा गया और १९५८ मे इसे अंगीकार करने का समुचित वोट न मिल सका।

अप्रैल ८, १९६२ को फ्रांस के मतदाताओं ने राष्ट्रपति द गाले के फ्रांस-अलजीरिया शांति-समझौता का स्वीकार कर लिया। ३ जुलाई, १९६२ को अलजीरिया स्वतन्त्र हुआ।

इस प्रकार अलजीरिया १३२ वर्षों के बाद स्वतन्त्र हुआ जिसका स्वागत संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, रूस, संयुक्त अरब गणतन्त्र, ट्यूनेशिया, भारत, आदि देशों द्वारा किया गया और अलजीरिया को प्रभुता-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य मान लिया गया।

काश्मीर :—काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद् के समक्ष आरम्भ से ही एक उलझन के रूप में रहा है। अक्टूबर १९४७ में कबायियों द्वारा पाकिस्तान से सहायता तथा प्रेरणा पाने पर काश्मीर के क्षेत्र पर सामूहिक रूप से आक्रमण किया जा रहा था। काश्मीर के महाराजा ने भारतीय सरकार से सैनिक सहायता के लिये निवेदन किया। भारत सरकार को काश्मीर रियासत के आन्तरिक मामलों में, जब तक कि वह भारत में अपने को अधिमिलित न कर ले हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था। इस कठिनाई को दूर करने के लिये काश्मीर के महाराजा ने रियासत को भारत में अधिमिलित कर लिया तथा भारत के प्रधानमंत्री ने इस अधिमिलन (accession) को स्वीकृत किया। उन्होंने यह भी कहा कि सामान्य परिस्थिति के वापस आने उपरान्त काश्मीर के लोगों की जनमत गणना होगी। भारत ने जनवरी १ सन् १९४८ को सुरक्षा परिषद् के सामने यह शिकायत की कि आक्रमणकारियों को पाकिस्तान क्षेत्र के भीतर से जाने दिया जाता है तथा उसे सक्रियता (operation) के अड्डों के रूप में प्रयोग करने दिया जाता है। सुरक्षा परिषद् ने लड़ने वाले राज्यों के मध्य झगड़े की जाँच करने तथा मध्यस्थता करने के लिये एक आयोग नियुक्त किया। इसने गोलाबारी तो बन्द करवा दी किन्तु सुरक्षा परिषद् आयोग के संरक्षण में जनमत (plebiscite) के लिये मार्ग स्पष्ट करने को समर्थ न हुई। जम्मू तथा काश्मीर की वैध स्थिति इस प्रकार है कि यह भारतीय क्षेत्र का भाग है जिसने अपने तीन दायित्व अर्थात् प्रतिरक्षा, यातायात और विदेशी विषय भारत को सौंप दिये हैं। पाकिस्तान सरकार ने कबायली आक्रमणकारियों को प्रत्यक्ष रूप से सहायता देकर भारतीय संघ के विरुद्ध अग्रधर्षण का कार्य किया। काश्मीर के भारत में सम्मिलन के प्रश्न का पूर्ण तथा अन्तिम रूप से निर्णय काश्मीर की जनता द्वारा उस समय किया गया जब काश्मीर की विधान सभा ने काश्मीर के भारत में सम्मिलन को सत्यापित करने का निर्णय किया।

पाकिस्तान की प्रार्थना पर सुरक्षा परिषद् ने काश्मीर के प्रश्न पर जनवरी सन् १९५७ में पुनः विचार विमर्श किया। २५ जनवरी सन् १९५७ को संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कोलम्बिया तथा क्यूबा इन पाँच शक्तियों द्वारा पुनः प्रस्तुत (पत्र) एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसमें काश्मीर में यथापूर्व स्थिति बनाये रखने के लिये कहा गया था। पाकिस्तान ने यह विवाद प्रस्तुत

किया कि भारतीय सरकार ऐसा पग रख रही है जिसमे जम्मू तथा काश्मीर की रियासत भारतीय सघ मे जनवरी २६, सन् १९५७ को सम्मिलित कर लिया जाय। भारतीय प्रतिनिधि ने इस प्रस्ताव को चार्टर के विरुद्ध बतलाया क्योंकि इसके द्वारा एक निश्चित तथ्य को अनिश्चित होने का रूप दिया जा रहा था और यह कि यदि किन्हीं कर्तव्यो की उपेक्षा का आरोप लगाया जाय तो वह भारत पर न लगाकर स्वयं पाकिस्तान पर लगाया जाना चाहिए था।

सुरक्षा परिषद् ने काश्मीर के प्रश्न पर फरवरी, सन् १९५७ में पुनः विवेचना आरम्भ की। ब्रिटेन ने अपने, आस्ट्रेलिया, क्यूबा तथा सयुक्त राज्य अमेरिका, इन चार शक्तियो की ओर से एक प्रस्ताव नियमित रूप से उपस्थित किया जिसमें स्वीडन के जरिंग (Gunnar V. Jarring) को, जो उस मास मे सुरक्षा परिषद् के सभापति थे, पाकिस्तान तथा भारत की सरकारो के साथ काश्मीर के प्रश्न पर विचार-विमर्श करने को कहा गया था। यह कल्पना की गई थी कि नि:शस्त्रीकरण सम्बन्धी जटिल कठिनाई को दूर करने के लिये काश्मीर मे सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना अस्थायी रूप मे रक्खी जाय। तत्कालीन भारतीय प्रतिनिधि श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने यह प्रश्न उठाया था कि क्या चार्टर के अधीन सयुक्त राष्ट्र सघ को भारतीय प्रदेश में सैनिकों के रखने का अधिकार है ? उन्होंने स्पष्ट रूप से यह व्यक्त कर दिया था कि भारत सरकार किसी भी दशा मे विदेशीय सेनाओ को अपनी भूमि पर आने की अनुमति न देगी। कोलबिया के प्रतिनिधि ने इस उक्ति में नये विचारों का समावेश किया कि वर्तमान प्रस्ताव मे दो बातो को तुच्छ नही समझना चाहिये अर्थात् यह कि यू० एन० सी० आई० पी० ने जम्मू तथा काश्मीर के राज्य की सार्वभौमिकता तथा काश्मीर मे पाकिस्तानी सेनाओ की उपस्थिति की अवैधता को स्वीकार कर लिया है। इसके अनुसार कोलबिया ने मूल चार शक्तियो के प्रस्ताव मे सशोधन का सुझाव दिया। सोवियत सघ ने फरवरी १८ सन् १९५७ को सुरक्षा परिषद् मे यह घोषणा की कि काश्मीर मे जनमत का कोई प्रश्न ही नही उठता तथा यह कि रूसी सरकार के विचार मे काश्मीर का प्रश्न वास्तव मे रियासत के लोगो द्वारा निर्णय कर दिया गया था जिनके विचार मे उनका क्षेत्र भारत का अभिन्न अग है।

मूल चार शक्तियो वाला काश्मीर सम्बन्धी प्रस्ताव जिसमे यह उपबन्ध किया गया था कि स्वीडन के मिस्टर गुनार जारिंग काश्मीर के नि.शस्त्रीकरण प्रश्न की विवेचना के लिये भारत तथा पाकिस्तान भेजे जांय तथा यह सुझाव रक्खा गया था कि काश्मीर मे सयुक्त राष्ट्र की एक अस्थायी सेना रखने के पाकिस्तान के प्रस्ताव का परीक्षण किया जाय, सोवियत सघ द्वारा निषेधाधिकार लगा कर रद्द कर दिया गया।

एक दूसरा प्रस्ताव जिसकी रूपरेखा उन्ही चार शक्तियो द्वारा पहले वाले प्रस्ताव के उन्ही आधारो पर बनायी गयी थी, किन्तु जिसमे सयुक्त राष्ट्र की सेना का निर्देश छोड दिया गया था, सुरक्षा परिषद् द्वारा फरवरी २१ सन् १९५७ का स्वीकृत किया गया। इसमे सुरक्षा परिषद् के सभापति जो स्वीडन के प्रतिनिधि थे से यह प्रार्थना की गई कि वे भारत तथा पाकिस्तान की सरकारो के साथ सुरक्षा परिषद् से तथा भारत तथा पाकिस्तान के लिये सयुक्त राष्ट्र सघ के आयोग के पूर्व प्रस्तावो की अपेक्षा करते हुए उन सुझावो को परीक्षा करे जिनसे उनकी सम्मति मे झगडे के निपटारे मे सहायता मिलना सम्भव हो। उनसे निवेदन किया गया कि व इस प्रयोजन के लिये उप-महाद्वीप मे जाये तथा सुरक्षा परिषद् को प्रतिवेदन करे जिसमे १५ अप्रैल सन् १९५७ से अधिक विलम्ब न हो। इसमे भारत तथा पाकिस्तान की सरकारो को इन कार्यों के करने में उसके साथ सहयोग करने को आमन्त्रित किया गया तथा सेक्रेटरी-जनरल और सयुक्त राष्ट्र सघ क भारत तथा पाकिस्तान के प्रतिनिधियो से प्रार्थना की गई कि वे उनकी प्रार्थना के अनुसार उन्हें सहायता प्रदान करें।

उपर्युक्त प्रस्ताव के अनुसार स्वीडन के मिस्टर गुनार जारिंग, सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष, फरवरी १९५७ मे पाकिस्तान तथा भारत की सरकारो मे काश्मीर-समस्या पर विचार-विमर्श करने के लिये इस उप-महाद्वीप में आये। इन्होने इस विषय पर ३० अप्रैल को सुरक्षा परिषद् मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट मे उन्होने व्यक्त किया कि वे कोई ठोस सुझाव देने मे असमर्थ हैं जिससे काश्मीर समस्या सुलझ सके, यद्यपि दोनों सरकार इस समस्या के लिये इच्छुक हैं। इस रिपोर्ट से यह भी स्पष्ट हुआ कि जनमत द्वारा काश्मीर सम्मिलन का निर्णय अनेक नयी कठिनाइयो को उत्पन्न कर देगा क्योकि भारत सरकार के विचार के अनुसार पाकिस्तान के सैनिक-गठबन्धनो ने काश्मीर की स्थिति बदल दी है और काश्मीर की जनता क विचार भी काश्मीर की द्रुत प्रगति के कारण जनमत स विरुद्ध हो गए हैं।

सितम्बर १९५७ मे सुरक्षा परिषद् ने जारिंग रिपोर्ट पर विचार किया। इसके उपरान्त २ दिसम्बर १९५७ मे सुरक्षा परिषद् न अपने प्रतिनिधि डाक्टर फ्रेन्क ग्राहम को भेजा जिन्हे सुरक्षा परिषद् क पूर्व प्रस्तावो के अनुसार काश्मीर क प्रश्न का शान्तिपूर्वक निपटारा करने क सुझाव देने को कहा गया। डाक्टर ग्राहम ने दोनो सरकारो के समक्ष १५ फरवरी १९५८ को कुछ प्रस्ताव किये जो साराश में निम्नलिखित है :—

(१) दोनों सरकारें जनता में समझौते का उपयुक्त वातावरण बनाये रखें।

(२) दोनों सरकारें युद्ध-विराम की स्थिति सुदृढ रक्खें।

(३) पाकिस्तान की सेना हटाकर 'पाकिस्तान जम्मू काश्मीर की सीमा पर' पाकिस्तान की ओर संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना रक्खी जाय।

(४) संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि दोनों सरकारों के साथ सुरक्षा परिषद् के पूर्व प्रस्तावों पर मुख्यतः जनमत द्वारा निर्णय वाले अंश पर विचार करें।

(५) शीघ्र ही डाक्टर ग्राहम के नेतृत्व में दोनों सरकारों के प्रधान मन्त्रियों की कान्फ्रेन्स हो।

डाक्टर ग्राहम की रिपोर्ट के अनुसार पाकिस्तान को तो उपर्युक्त पाँचों प्रस्ताव स्वीकार थे, किन्तु भारत सरकार को एक भी प्रस्ताव स्वीकार न हुये। सुरक्षा परिषद् द्वारा काश्मीर समस्या को सुलझाने का यह दूसरा प्रयास असफल रहा। वस्तुतः काश्मीर की वैधिक स्थिति भारत में सम्मिलन की इतनी सुदृढ और न्यायोचित है कि सुरक्षा परिषद् के सभी अन्यथा प्रयास निष्फल सिद्ध होते रहे हैं। काश्मीर का प्रश्न अब समाप्त इसलिये माना जाना चाहिये कि काश्मीर की जनता भारत के साथ अपनी अखंडनीयता का वैधतः और तथ्यतः अन्तिम निर्णय कर चुकी है।

स्वेज नहर (The Suez Canal) :—एक बहुत बड़ा प्रश्न जो सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित किये हुये था, वह कर्नल नसीर द्वारा स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा किये जाने का प्रश्न था। मौलिक विवाद का विषय यह था कि क्या नहर के ऊपर कोई अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण हो सकता है। इजिप्ट (मिस्र) ने नहर का प्रबन्ध करने वाली फ्रांसीसी कम्पनी के अंशभागियों को, जिसमें नियन्त्रण-हित ब्रिटिश सरकार के हाथ में था, पूर्ण क्षतिपूर्ति देने की प्रतिज्ञा की थी। यूनाइटेड किंगडम तथा फ्रांस ने राष्ट्रीयकरण की बहुत गम्भीर आलोचना की तथा काहिरा में कड़े विरोधपत्र भेजे और दावे के साथ यह कहा कि नहर का अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप सन् १८८८ की कुस्तुन्तुनिया की सन्धि तथा प्रतिज्ञा द्वारा स्थापित हो गया था और यह कि इजिप्ट द्वारा की गई कार्यवाही से नहर की स्वतन्त्रता तथा सुरक्षा को धमकी दी जा रही है जैसा कि वह सन् १८८८ की प्रतिज्ञा से प्रतिभूत है। इजिप्ट ने विरोध-पत्रों को अस्वीकार कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि अगस्त सन् १९५६ में लन्दन में एक २४-राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया। ब्रिटेन, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा जारी किये गये निमन्त्रण पर २२ राज्यों के प्रतिनिधि आये। इस सम्मेलन में स्वेज नहर के झगड़े को निर्णय करने के लिये संयुक्त राज्य अमेरिका के मिस्टर डलेस ने एक योजना फिर से स्थापित की तथा यह कहा कि जैसा सन् १८८८ की प्रतिज्ञा की प्रस्तावना में कहा गया है, समुद्रीय

स्वेज नहर को सब समय मे सब शक्तियो के स्वतन्त्र उपयोग के लिये एक निश्चित पद्धति स्थापित होनी चाहिये। इसमे इजिप्ट को सार्वभौमिकता के लिये सम्मान व्यक्त किया गया किन्तु यह व्यवस्था की गई कि एक स्वेज नहर मडल (बोर्ड) स्थापित किया जाय जिसको अपने कार्य करने के लिये इजिप्ट सब प्रकार के उपयुक्त अधिकार तथा सुविधाएँ प्रदान करेगा। मडल सयुक्त राष्ट्र सघ को समय-समय पर इसका विवरण देता रहेगा।

भारत ने एक अन्य योजना का सुझाव रक्खा जिसमे भौगोलिक प्रतिनिधित्व तथा हितो के आधार पर उपयोग करने वाले हितो की एक परामर्शदात्री सस्था बनाई जाती जिसे परामर्श, विचार तथा मेल के कार्य दिये जाते। भारतीय योजना ने इजिप्ट के सार्वभौमिक अधिकारो को तथा स्वेज नहर को उसका अन्तरंग होना तथा अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का एक जलमार्ग होना स्वीकृत किया तथा सन् १८८८ की कुस्तुन्तुनिया की प्रतिज्ञा के अनुसार सब राज्यो के लिये स्वतन्त्र तथा अबाध्य नौका-परिवहन की व्यवस्था की।

अठारह राष्ट्रो ने नहर का प्रबन्ध करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय मण्डल स्थापित करने की डलेस (Dulles) योजना का समर्थन किया तथा लन्दन सम्मेलन की कार्यवाहियो के अभिलेख इजिप्ट को भेज दिये गये। प्रेसीडेन्ट नसीर ने स्वेज नहर का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की डलेस-योजना को इजिप्ट के लोगो के लिये आत्म-पराजयकारिणी तथा उत्तेजक कहकर उसकी निन्दा की। इसके उपरान्त सितम्बर १२ सन् १९५६ को ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ने यह घोषणा की कि ब्रिटेन, फ्रास तथा सयुक्त राज्य अमेरिका एक "उपयोग कर्ताओ का सम्मेलन" स्थापित कर रहे हैं जो स्वेज नहर के भीतर यातायात का उत्तरदायित्व ग्रहण करेगा। इजिप्ट द्वारा गत जुलाई मे अन्तर्राष्ट्रीय स्वेज नहर कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के हेतु जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी उसके कारण ब्रिटेन तथा फ्रास ने स्वेज नहर का मामला सुरक्षा परिषद् को निर्देशित किया।

अक्टूबर १३ सन् १९५६ को सुरक्षा परिषद् ने एकमत से इस प्रस्ताव के एक भाग को स्वीकृत कर लिया। प्रस्ताव पर दो भागो मे मतदान लिया गया, और स्वीकृत भाग मे छः सिद्धान्तो पर महत्व दिया गया जो भविष्य मे स्वेज नहर के झगडे के सम्बन्ध मे आधार बनेगे—(१) नहर के भीतर से स्वतन्त्र तथा खुला याता-यात बिना भेदभाव के होगा, (२) इजिप्ट की सार्वभौमिकता का सम्मान किया जायगा, (३) नहर का सचालन किसी भी देश की राजनीति से अलग रखा जायगा, (४) चुगी तथा व्यय निर्धारण करने की रीति इजिप्ट तथा उपयोगकर्ताओ के बीच सहमति से निर्णय की जायगी, (५) प्राप्त धन का एक पर्याप्त भाग विकास

मे लगाया जायगा, और (६) झगडो की दशा मे स्वेज नहर कम्पनी तथा इजिप्ट की सरकार के मध्य जो मामले सुलझे हुये नही होगे पंचायत द्वारा तय किये जायेंगे जिसमे निर्देश के समुचित शर्तें (terms) होंगे तथा देय पाई गई धन राशि के चुकाने की समुचित व्यवस्था होगी।

आंग्ल फ्रांसीसी प्रस्ताव का द्वितीय भाग जिसमे स्वेज नहर के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के लिये १८ राष्ट्रो की योजना का अनुमोदन किया गया था, सोवियत रूस द्वारा निषेधाधिकार द्वारा रद्द कर दिया गया जिसका प्रयोग उसने सुरक्षा परिषद मे ७८वी बार किया था। रूसी निषेधाधिकार का प्रभाव यह हुआ कि स्वेज सम्बन्धी समझौते का केवल प्रत्यक्ष परिणाम जो निकला यह था कि छः सिद्धान्तो का अनुमोदन शेष रह गया।

अक्टूबर २९ सन् १९५६ को इजरायली सैन्य दलो ने स्वेज नहर के क्षेत्र मे इजिप्ट के स्थानो पर आक्रमण किया। दो दिन उपरान्त यूनाइटेड किंगडम तथा फ्रांस ने भी वही किया। सुरक्षा परिषद् के समक्ष संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा प्रस्ताव, जिसमे सब राष्ट्रो से कहा गया था कि इजिप्ट मे बल-प्रयोग करने अथवा बल प्रयोग की धमकी देने से रुके रहे, ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा अक्टूबर ३१ सन् १९५६ को निषेधाधिकार प्रयोग करके रद्द कर दिया गया।

नवम्बर २ सन् १९५६ को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने एक विशेष अधिवेशन मे अत्यधिक बहुमत से अमेरिका के उस प्रस्ताव पर मतदान किया जिसमे स्वेज नहर क्षेत्र मे ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायली की सैनिक क्रियाशीलता पर बडी चिन्ता प्रकट की गई थी तथा तत्काल गोलाबारी बन्द किये जाने पर महत्व दिया गया था। नवम्बर ४ को सभा ने कैनाडा के उस प्रस्ताव को स्वीकृति किया जिसमे महासचिव (Mr Dag Hammarskjoeld) से यह कहा गया था कि इजिप्ट मे लडाई की समाप्ति को सुरक्षित रखने तथा निरीक्षण करने के लिये एक संकटकालीन संयुक्त राष्ट्र संघ दल रखने की योजना प्रस्तुत करें।

नवम्बर ५ सन् १९५६ को रूस ने ब्रिटेन तथा फ्रांस को यह चेतावनी दी कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य सदस्यो के साथ मध्यपूर्व मे अग्रधर्षण को कुचलने तथा पुनः शान्ति स्थापित करने का दृढ निश्चय रखता है।

नवम्बर ७ सन् १९५६ को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा द्वारा एक एशिया तथा अफ्रीका का प्रस्ताव पारित किया गया जिसमे ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायली सेनाओं को इजिप्ट के प्रदेश से तत्काल हटा लेने को कहा गया था। सभा ने इस पर भी मतदान किया कि स्वेज-क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ का एक पुलिस दल कार्य करे।

इन प्रस्तावों के परिणामस्वरूप लड़ाई के क्षेत्र में गोलाबारी बन्द कराई गई।

इजिप्ट ने संयुक्त राष्ट्र सङ्घ से सैन्यदल को इजिप्ट में स्थापित करना सब प्रतिभूतियों (गारण्टियों) के लेने के उपरान्त कि उसके ऐसा करने से इजिप्ट की सार्वभौमिकता को किसी प्रकार से धक्का न पहुँचेगा, सप्रतिबन्ध स्वीकृत किया गया।

नवम्बर २४ सन् १९५६ को साधारण सभा ने ब्रिटेन, फ्रांस तथा इजरायली सैन्यदलों को इजिप्ट से तुरन्त हटा दिये जाने की माँग की तथा सेक्रटरी-जनरल को प्राधिकृत किया कि विश्वसङ्घ के संरक्षण में नहर को साफ करने की योजनायें प्रप्रसारित करें।

८ अप्रैल सन् १९५७ को स्वेज कैनाल नौ परिवहन के लिये खोल दिया गया और ब्रिटिश सरकार ने इजिप्ट को स्वेज कैनाल का देय चुकाना आपत्तिसहित स्वीकार किया।

२५ अप्रैल १९५७ को इजिप्ट सरकार ने १८८८ के कुस्तुन्तुनिया के समझौता और संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के चार्टर के अनुबन्धों को मानना स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त नहर प्रशासन के विरुद्ध कोई भी परिवाद उस विवाचन-समिति में प्रतिप्रेषण करना स्वीकार किया जिसके निर्णय के लिये पक्षकार बद्ध थे। उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में नहर के प्रयोग के सम्बन्ध में एक घोषणा प्रस्तुत की और यह भी प्रस्तुत किया कि यदि पक्षकारों के मध्य १८८८ के कुस्तुन्तुनियाँ के समझौता के उपबन्ध की व्याख्या या प्रयोग के सम्बन्ध में कोई वैध विवाद उठेगा तो वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत मान्य होगा।

हंगरी —हंगरी में सोवियत नमूने का संविधान है। अगस्त १८ सन् १९४९ को हंगरी की संसद ने हंगरी को "जनतन्त्र" उद्घोषित किया। अक्टूबर सन् १९५६ में हंगरी के कम्यूनिस्ट जनतन्त्र में हंगरी की जनता के एक बहुत बड़े भाग ने अपनी पुरानी रूस की समर्थक सरकार के विरुद्ध क्रान्ति किया। अक्टूबर २३ को बुडापेस्ट में बहुत बड़ी अशान्ति देखी गई जो क्रान्ति में परिणत हो गई। हंगरी में सेना विधि (मार्शल ला) स्थापित किया गया, तथा अक्टूबर २४ सन् १९५६ को हंगरी की सरकार ने यू० एस० एस० आर० की सरकार से यह प्रार्थना की कि वह बुडापेस्ट में शान्ति तथा सुव्यवस्था के लिए प्राधिकारियों को सहायता देने के लिए वारसा सन्धि के अधीन हंगरी में रखी हुई सैनिक टुकड़ियों को उपयोग करने की अनुमति दें। कई दिनों के उपरान्त यू० एस० एस० आर० की सरकार

ने हंगरी की सरकार की अनुमति से अपने सैन्यदलो को हटा लिया। उनके हटाये जाने के उपरान्त शीघ्र ही क्रान्तिकारियो ने पुनः जोर पकड लिया तथा कारखानो और अस्पतालो को तोड-फोड दिया और थियेटर तथा संग्रहालयो मे आग लगा दी।

जिस समय रूसी सेनाएँ बुडापेस्ट मे अभियान (march) कर रही थी Mr. Imre Nagy, भूतपूर्व हगरी के प्रधान मन्त्री, ने कलह-विदीर्ण हगरी की स्थिति को सुरक्षा परिषद् के पास निर्देशित किया। सोवियत प्रतिनिधि ने स्थिति को हगरी की वैध सरकार के विरुद्ध फैसिस्ट प्रकार के अपराधी तत्वो की क्रान्ति बता कर खारिज कर दिया।

नवम्बर ४ सन् १६५६ को सयुक्त राज्य अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् के समक्ष एक प्रस्ताव रक्खा जिसमे सोवियत यूनियन से कहा गया था कि वह तुरन्त अपने को किसी प्रकार के भी हस्तक्षेप से रोके। इसमे परिषद् से यह कहा गया था कि वह सच्ची आशा प्रकट करे कि यू० एस० एस० आर० हगरी की सरकार के साथ यथोचित प्रबन्ध करके सब रूसी सेनाओ को हगरी से तुरन्त हटा लेगा। सोवियत सघ ने इस प्रस्ताव के विरुद्ध निषेधाधिकार का प्रयोग किया जिसपर सयुक्त राज्य अमेरिका ने साधारण सभा के संकटकालीन अधिवेशन किए जाने की प्रार्थना की।

नवम्बर ६ सन् १६५६ को सयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने रूस से अपनी सेनाओ को हंगरी से हटा लेने को कहा जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण में वहाँ स्वतन्त्र रूप से चुनाव हो सके। एक प्रस्ताव मे सेक्रेटरी-जनरल से की गई इस प्रार्थना को दुहराया गया कि विदेशी हस्तक्षेप के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गई हो, उसका अनुसधान अपने प्रतिनिधियो द्वारा जारी रखें, तथा यथासभव शीघ्रातिशीघ्र उसका प्रतिवेदन करें।

सयुक्त राष्ट्र संघ के सेक्रेटरी-जनरल ने नवम्बर ३० को यह प्रतिवेदन किया कि वह साधारण सभा के प्रस्ताव का पालन हंगरी के लोगो द्वारा कराने में अपने प्रयत्नो मे असफल रहे हैं।

दिसम्बर १२ सन् १६५६ को संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने हगरी की स्वच्छंदता तथा स्वतन्त्रता का अपहरण तथा उसके लोगो को अपने मूलभूत अधिकारों का प्रयोग करने से रोकने के फलस्वरूप सोवियत यूनियन द्वारा चार्टर का उल्लघन किए जाने के कारण उसकी निन्दा की। इसने सोवियत यूनियन से अपनी सेना-ो को तत्काल कलह-विदीर्ण हंगरी से सयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण में हटाने को कहा।

सोवियत रूस के, उस माग की उपेक्षा करने पर, कि उसकी सेना हंगरी से हटा ली जाय, साधारण सभा ने १० जनवरी १६५७ को अपने प्रस्ताव द्वारा एक

विशेष समिति की नियुक्ति की। इस विशेष समिति मे आस्ट्रेलिया, लका, डेनमार्क, ट्यूनीसिया तथा उरूगाय के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। इस समिति का विशेष लक्ष्य सही तथ्यो तथा प्रमाणो के माध्यम से हगरी की स्थिति का निरीक्षण करना था। २० जून को इस समिति की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। रूस के सशस्त्र हस्तक्षेप से हगरी की राष्ट्रीय क्रान्ति के दमन का इस समिति ने रूस को उत्तरदायी बतलाया। समिति को यह भी ज्ञात हुआ कि हगरी की क्रान्ति विद्यार्थियो, श्रमिको, सैनिको, विद्वानो तथा साम्यवादियो द्वारा सचालित हुई थी। समिति की रिपोर्ट ने बतलाया कि यह असत्य था कि क्रान्ति प्रतिक्रियावादी अथवा शाही वर्ग के द्वारा हुई। रिपोर्ट ने आगे व्यक्त किया कि सोवियत रूस के हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता-सग्राम के सैनिको का प्रयास शिथिल रहा।

समिति को यह ज्ञात हुआ कि २३ अक्टूबर को प्रथम तो इस क्रान्ति का प्रदर्शन शान्तिपूर्ण ढग से होता रहा किन्तु जब राज्य की सुरक्षा पुलिस ने प्रदर्शन-कारियो पर गोली चलायी और रूस की सेना का पदार्पण हुआ तो क्रान्ति ने भीषण रूप ले लिया।

हगरी सरकार ने सयुक्त राष्ट्र सघ की निरीक्षण समिति की रिपोर्ट को मिथ्यापूर्ण तथ्यो का सग्रह कहा और उन्हें समिति के कार्यों को अपने घरेलू मामलो में एक हस्तक्षेप समझा। यद्यपि समिति की इस सस्तुति पर कोई विशेष कार्यवाही नही की जा सकी किन्तु इसने एक अन्तर्राष्ट्रीय विचारधारा उत्पन्न करने मे सहायता की। इस प्रश्न ने इस तथ्य पर भी प्रकाश डाला कि साधारण सभा निरीक्षण करने की सस्तुति करने का और निर्णयो को घोषित करने का अधिकार तो रखती है किन्तु उसे निर्णयो को पालन करवाने के लिए बाध्य करने का अधिकार नही है। चार्टर के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् को ही केवल अधिकार है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए बल का प्रयोग करे।

१० सितम्बर १९५७ को साधारण सभा मे इस समिति की रिपोर्ट के निष्कर्ष मे ३६ राष्ट्रो द्वारा, जिसमे अमेरिका और ब्रिटेन भी थे, एक प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ। इस प्रस्ताव ने रूस के इस कार्य की निन्दा की कि उसने हगरी की स्वतन्त्रता से, विशेष रूप से राजनैतिक स्वतन्त्रता से, हगरी को वचित किया। साधारण सभा के प्रेसीडेन्ट प्रिन्स वैन वेदायकन के प्रति हगरी की स्थिति के निरीक्षण के लिए विशेष मिशन ले जाने का प्रस्ताव भी रक्खा गया। हगरी के स्थायी प्रतिनिधि ने समिति पर अभियोग लगाया कि हगरी के घरेलू मामले मे हस्तक्षेप करके साधारण सभा ने चार्टर का अतिक्रमण किया है। उसने साधारण सभा से उस मिथ्यापूर्ण रिपोर्ट को अस्वीकृत करने के लिये कहा। इसके अतिरिक्त हगरी के प्रतिनिधि ने हगरी के

प्रश्न को साधारण सभा के एजेन्डा से हटाने की भी मांग की। रूस के प्रतिनिधि ने भी साधारण सभा के हंगरी के प्रश्न व प्रस्ताव का विरोध किया।

१३ सितम्बर को वर्मा के प्रतिनिधि ने साधारण सभा में हंगरी और अल्जीरिया व हैदराबाद पर खेद प्रकट करते हुए यह आशय प्रकट किया कि दोनों अपने भाग्य का स्वयं निर्णय कर लें। प्रतिनिधि ने यह भी राय दी कि रूस के कार्य की निन्दा न करके, खेद प्रकट किया जाय किन्तु यह मत अनसुना ही रहा गया।

१७ जून १९५८ को इमरे नेगी के और उनके तीन सहयोगी के प्राणदण्ड की घोषणा गोपनीय मुकदमे के उपरान्त बुडापेस्ट की एक सूचना के द्वारा हुई। साधारण सभा की विशेष समिति १९५६ के विद्रोह के बन्दी नेताओं के सम्बन्ध में और उनके प्राणदण्ड पर विचार करने के लिये बुलायी गई। इसने २१ जून को इमरे नेगी के प्राणदण्ड पर खेद प्रकट करते हुये इस प्रश्न में रुचि रखने वाली सरकारों से निवेदन किया कि इनके बन्दी होने, इनके मुकदमे और प्राणदण्ड की स्थितियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करें।

१२ दिसम्बर १९५८ को संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने सोवियत रूस की निन्दा की क्योंकि उसने हंगरी के प्रश्न पर साधारण सभा की अनेक सिफारिशों की उपेक्षा की थी। इस सभा ने पुनः इमरे नेगी की दुःखद हत्या पर कटु आक्षेप किया। हंगरी के प्रतिनिधि डाक्टर पीटर ने इसके उत्तर में कहा कि इमरे नेगी ने कई वर्षों तक ऐसे गुप्त षड्यन्त्र किए थे जिसका उद्देश्य हंगरी में स्थापित वैध सरकार को नष्ट करना था। रूस के प्रतिनिधि श्री वैलेरियन जारिन ने भी पुनः इस पर महत्व दिया कि यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ का नहीं है। अमेरिका तथा ब्रिटेन हंगरीयन जनता या उसके रचनात्मक कार्यों की चिन्ता न करके मिथ्या सहानुभूति दर्शाते हैं।

इसी सभा ने बहुमत से प्रिन्स वैन वेदकायन के स्थान पर न्यूजीलैण्ड के सर लेजली मुनरो को हंगरी की स्थिति का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किया।

ट्यूनीसिया (Tunisia) —जून १९५८ में ट्यूनीसिया ने सुरक्षा परिषद् में फ्रांस पर यह आरोप लगाया कि फ्रेंच सेना उसकी भूमि पर उसकी इच्छा के विरुद्ध उपस्थित है। इस सेना से वहाँ की सरकार और जनता में बड़ी उत्तेजना बढ़ रही है। १७ जून को फ्रान्स की सरकार इस पर सहमत हो गई कि वह अपने समस्त सशस्त्र सैनिकों को बिजरेटा के जल और वायु के आस्थान को छोड़कर ४ मास के अन्दर हटा लेगी। दोनों सरकारें इस बात पर भी सहमत हुई कि सेना के हट जाने पर वे लोग सैनिक आस्थान की उपयुक्त स्थिति के सम्बन्ध में समझौता करना आरम्भ करेंगे।

दक्षिण अफ्रीका में जातीय रक्तपात —२१ मार्च १९६० को दक्षिणी अफ्रीका में जातीय भेदभाव ने एक बहुत बड़ा रक्तपात उपस्थित कर दिया, जब कि अफ्रीकियों ने सरकार द्वारा पारित कानूनों के विरोध में बहुत ही हिंसक दंगे प्रारम्भ कर दिये। बहुत बड़ा जन-समुदाय पुलिस स्टेशन के सामने आइडेन्टटी पास (परिचय-पत्र) न रखने तथा अपने आपको गिरफ्तार कराने के लिये खड़ा हो गया। पुलिस ने हजारों प्रदर्शनकारियों पर शार्पविले और लांगा में खुले-आम गोली चलायी जिससे बहुत से अफ्रीकियों की मृत्यु हुई। २३ मार्च को श्री नेहरू ने लोकसभा में कहा कि वे केपटाउन के समीप बहुत बड़ी जनसंख्या को कत्ल करने की भर्त्सना करते हैं। उनका कहना था कि इस घटना ने दुनियां की चेतना-शक्ति और खास तौर से एशिया और अफ्रीका की जनता को बहुत अधिक धक्का पहुँचाया है।

संयुक्त-राज्य अमेरिका ने भी इस हिंसा-कांड की भर्त्सना की। इङ्गलैण्ड में भी यही प्रतिक्रिया हुई। रूस ने इसे बीसवीं शताब्दी की गुलामी-प्रथा के पुनर्जागरण की संज्ञा दी।

२९ सदस्यों की एफ्रो-एशिया दल ने संयुक्त-राष्ट्र के समक्ष सुरक्षा परिषद् की आपातकालीन बैठक में यह मांग की कि दक्षिणी अफ्रीका की सरकार को जातीय हिंसा से रोका जाय। भारत के स्थायी प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद को बताया कि अफ्रीका की जनता की, संघ सरकार द्वारा जाति का पक्षपात करते हुए हिंसक रूप से हत्या करना तथा उसे दबाना संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के सिद्धान्तों के प्रतिकूल है।

अप्रैल १, १९६० को सुरक्षा परिषद ने शून्य के विरुद्ध ६ मतों से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस अनुपस्थित रहे। प्रस्ताव एफ्रो एशिया सदस्य राज्यों की ओर से था। इसमें कहा गया था कि इस घटना से अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा खतरे में पड़ सकती है। महासचिव श्री डेग हैमर्शोल्ड से निवेदन किया गया कि वे अफ्रीका की संघ सरकार को संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार समानता के व्यवहार के सिद्धान्तों को अपनाने का प्रयत्न करें।

कांगो का संकट (Congo Crisis) —कांगो के संकट के प्रसंग में पहले भी लिखा जा चुका है। यहाँ इस सम्बन्ध में हम सुरक्षा परिषद के कतिपय प्रस्तावों और उनमें निहित वैध प्रश्नों का अध्ययन करेंगे। सुरक्षा परिषद ने जुलाई १४, जुलाई २२ और अगस्त ९, १९६० को क्रमशः तीन प्रस्ताव पारित किये। १४ जुलाई के प्रस्ताव में परिषद ने बेलजियम की सरकार को कांगो के क्षेत्र से अपनी सेना हटा लेने की मांग की और महासचिव को प्राधिकृत किया कि वे कांगो की गणतंत्र सरकार से आवश्यक कार्यवाही हेतु परामर्श करें जिससे वहाँ की सरकार को आवश्यकतानुसार सैनिक सहायता उस समय तक दी जा सके जब तक कि

परिषद की सेना कगोली सरकार की प्राविधिक सहायता से पूर्णत. शान्ति स्थापित न कर दे। जुलाई २२ के प्रस्ताव मे सुरक्षा परिषद ने बेलजियम की सरकार को परिषद के १४ जुलाई वाले प्रस्ताव को शीघ्र कार्यान्वित करने को कहा। अगस्त ६ के प्रस्ताव मे परिषद ने बेलजियम की सरकार को कटागा प्रान्त से अपनी सेना को तुरन्त वापस लेने की माँग की।

१४ जुलाई १९६० के प्रस्ताव के आधार पर जो सैनिक कार्यवाही की गई वह वास्तव मे पुलिस या आपराधिक विधि का कार्य था जो कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया था जिससे कि वे बेलजियम सेनाएँ शीघ्रता से वापस की जा सकें। उसे हम सैनिक अनुशासन की प्रवर्तन की कार्यवाही नही कह सकते।

१४ जुलाई १९६० के आधार पर कागो मे सयुक्त राष्ट्र सघ की जो सेना सग्रहीत की गई वह सयुक्त राष्ट्र सकटकालीन कारिया सैन्य-शक्ति से भिन्न थी। इस मामले मे कागो मे जो सेना इकट्ठी हुई उसका प्रवर्तन महासचिव ने सुरक्षा परिषद् के प्राधिकार पर किया था। यह सेना सहायक अग के रूप मे सुरक्षा परिषद् की ओर से महासचिव को अभिकरण मान कर उनके कमान के अन्तर्गत कार्य कर रही थी।

कांगो के गणतन्त्र ने एक आधारभूत समझौते पर सयुक्त राष्ट्र सघ मे महासचिव के साथ हस्ताक्षर किया जिसमे यह कहा गया कि यहाँ की सरकार ने अपने सप्रभु-अधिकारो के प्रयोग में सयुक्त राष्ट्र सघ से सैनिक सहायता की माँग की थी, इससे देश के भीतरी भाग मे सेना स्वतन्त्रता से आ-जा सकेगी और उस समस्त उन्मुक्तियाँ प्रदान की जायगी। निश्चय ही सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना वहाँ शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिये भेजी गई थी। महासचिव इस बात से सहमत न हो सके कि सयुक्त राष्ट्र सघ की सेना कटागा मे एक विशिष्ट ढङ्ग से कार्य करने के लिये दबाने का प्रयत्न करेगी। वहाँ की निरन्तर बढने वाली हिंसक घटनाओ ने यह सिद्ध कर दिया कि वे घटनाएँ केवल घरेलू नही हैं बल्कि उनका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय शांति पर भी पडेगा।

२१ फरवरी, १९६१ को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव द्वारा सयुक्त राष्ट्र सेना को प्राधिकृत किया कि कांगो मे गृहयुद्ध रोकने के सम्बन्ध मे शक्ति का प्रयोग किया जाय। कांगो के राजनीतिक नेताओ की गिरफ्तारी की निन्दा की गई। सियोपाई किले, एलिजाबर्थ किले और बासाइ में अधिकारियो को ऐसी कार्यवाहियों से दूर रहने की बात कही गई।

१९६५ का भारत-पाक सशस्त्र-संघर्ष
(Indo-Pak. Armed Conflict of 1965)

काश्मीर में घुसपैठियों का प्रवेश—अगस्त, १९६५ में पाकिस्तान ने काश्मीर के प्रश्न को सैनिक बल के प्रयोग के आधार पर अपने पक्ष में निर्णीत करा लेने के उतावलेपन में काश्मीर में सहस्रों घुसपैठियों को भेज दिया। इन घुसपैठियों का उद्देश्य काश्मीर में तोड़-फोड़ करना और अव्यवस्था उत्पन्न करना था। भारतीय प्रतिरक्षा के सजग प्रहरियों ने इन छद्मवेशी पाकिस्तानी घुसपैठियों को समय पर पहचान लिया और वे इन घुसपैठियों का काश्मीरी जनता के पूर्ण सहयोग से सफाया करने में लगे हुये थे, कि पाकिस्तान के खुले सैन्य आक्रमण के आतंक भी विराम रेखा के इस ओर फैल गये। परिस्थिति और भी गम्भीर रूप ले, इससे पूर्व भारतीय सुरक्षा फौज ने आत्मरक्षा के अधिकार के अन्तर्गत कारगिल में तीन पर्यवेक्षण चौकियों पर कब्जा कर लिया। काश्मीर-स्थित संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख सैनिक पर्यवेक्षक लेफ्टिनेंट जेनरल निम्मो ने महासचिव का इस प्रतिवेदन के साथ लिखा कि संयुक्त राष्ट्र के पर्यवेक्षकों की जाँच ने इस तथ्य को प्रतिस्थापित किया है कि भारतीय युद्ध-विराम-रेखा की सीमा के भीतर आक्रमण किये गये हैं। इस प्रतिवेदन में पाकिस्तानी घुसपैठियों के तोड़-फोड़ की कार्यवाही का भी पुष्टीकरण किया गया और विशेष रूप में घुसपैठियों द्वारा भारत-सीमा के भीतर की कतिपय ध्वन्सात्मक कार्यवाहियों का भी उल्लेख किया गया।

पाकिस्तान ने जब यह अनुभव किया कि उसके द्वारा किया गया यह कुचक्र विफल हो गया है, तो निराश होकर उसके अधिकारियों ने सीधी कार्यवाही करने का ही अन्तिम मार्ग अपनाया। सितम्बर १, १९६५ को वायुयानों और भारी अस्त्र-शस्त्रों सहित पाकिस्तानी सेना ने युद्ध-विराम-रेखा और जम्मू और काश्मीर राज्य तथा पश्चिमी पाकिस्तान की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा दोनों के पार जम्बू क्षेत्र के समीपवर्ती भाग पर भारी संख्या में आक्रमण कर दिया। बदले में सितबर ६ को भारतीय फौज सीमा के उस पार लाहौर क्षेत्र में आगे बढ़ी। भारतीय सेना ने ऐसा इसलिये किया कि पाकिस्तान लड़ाई का दूसरा मोर्चा न खोल दे। यह भी उद्देश्य था कि इस कदम द्वारा भारतीय सीमाओं की भी रक्षा की जा सके। उसी समय पाकिस्तान ने भारतीय क्षेत्र के भीतर पैट्रापों को अनेक स्थानों पर एक साथ ही गिराया। उसी दिन राष्ट्रपति अयूब ने पाकिस्तान को राष्ट्रव्यापी रेडियो-संदेश में बताया कि 'हम युद्धरत हैं' (We are at war)। एक क्षण ऐसा आ गया था, मानो अब औपचारिक ढङ्ग से राष्ट्रपति अयूब भारत के विरुद्ध खुले युद्ध की घोषणा कर देंगे। किन्तु, दोनों पक्षों से यह औपचारिक घोषणा न की गई। घटनाओं की विभीषिका युद्ध का कठिनतर वातावरण उत्पन्न करती जा रही थी। भारतीय

स्थल और नभ-शक्ति अपनी सीमाओं की रक्षा के लिए वीरता के साथ युद्ध-कौशल दिखाती हुई आगे को बढती जा रही थी। इसी बीच ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधान मंत्री विल्सन ने भारत और पाकिस्तान को अर्जेन्ट अपील भेजी कि तुरन्त युद्ध-विराम कर दिया जाय, और उन्होंने राष्ट्रमंडल के सभी राष्ट्रों से यह आग्रह किया कि इस प्रसग मे सयुक्त राष्ट्र सघ की गतिविधियो और उसके प्रस्तावो को सफल बनाने मे सहयोग दिया जाय।

सितंबर ४, १९६५ का सुरक्षा-परिषदीय प्रस्ताव—सितंबर ४, १९६५ को सयुक्त राष्ट्र सघ की सुरक्षा-परिषद् ने काश्मीर मे तुरन्त युद्ध-विराम का एक प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पारित किया और भारत-पाकिस्तान से आग्रह किया कि दोनो देश क्षेत्र मे युद्ध-विराम-रेखा का सम्मान करें, और सभी प्रकार की सैन्य-शक्ति को विराम-रेखा से अपनी-अपनी ओर वापस कर लें। भारत की ओर से आरंभ से ही इस बात की माँग की जा रही थी कि सर्वप्रथम पाकिस्तान को भारतीय क्षेत्र मे आक्रामक घोषित करते हुये उससे कहा जाय कि जम्मू और काश्मीर-क्षेत्र से वह अपनी सेनायें और अपने छद्मवेशी घुसपैठिये सैनिको एवं असैनिको को वापस बुलाये। सितंबर ६ को प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने विश्व के समस्त राष्ट्रों से इस बात की अपील की कि वे निष्पक्ष होकर इस बात का निर्णय और घोषणा करें कि प्रथम आक्रामक कौन है, और भारतीय उपमहाद्वीप मे युद्ध छेड़ने की सर्व-प्रथम कुचेष्टा किसने की है? पाकिस्तान ने फिर भी इस बात को दुहराया कि शान्ति तभी संभव होगी, जब कि जम्मू और काश्मीर मे जनमत-संग्रह की बात स्वीकार कर ली जाय। पाकिस्तान ने इस बात पर भी बल दिया कि युद्ध-विराम की घोषणा के पूर्व इस जनमत-संग्रह की गारंटी मिल जानी चाहिए।

पाकिस्तान ने अन्य राष्ट्रों को भी झूठी सूचनाओ से भ्रान्ति मे रखने का प्रयत्न किया। फलतः साम्यवादी चीन, इंडोनेशिया और उत्तरी वियतनाम ने पाकिस्तान का पक्ष समर्थित किया और टर्की तथा ईरान ने अपने सैनिक समझौते के आधार पर पाकिस्तान को सैन्य सहायता पहुँचाना आरम्भ किया। सभी राष्ट्रों के बीच मलयेशिया, सिंगापुर और साइप्रस ने भारतीय स्थिति का निष्पक्ष, किन्तु सबल समर्थन किया। अन्य देशो ने सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रस्तावो का समर्थन इस उद्देश्य से किया कि भारतीय उपमहाद्वीप मे तुरन्त शान्ति स्थापित की जा सके। अतः उन्होंने इस समर्थन के अतिरिक्त, आक्रामक कौन है, इस विषय पर मौन रहना ही परिस्थितियो को देखते हुये, शान्ति-स्थापना के प्रयोजन मे हितकर माना।

पाकिस्तान द्वारा युद्ध-विधि की पूर्णतः उपेक्षा—इसी बीच युद्ध अपने पूरे रोष पर आ चुका था। साहस हार जाने वाला योद्धा युद्ध के नियमो को मूल-

कर इधर उधर हाथ-पैर मारने और अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगता है। पाकिस्तान ने भी ठीक यही काम करना आरम्भ किया। उसने अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों और सभ्य देशों के बीच युद्ध-कौशल की प्रस्थापित नीतियों की पूर्णत उपेक्षा करके निहत्थी नागरिक जनता एवं शान्तिपूर्ण नगरों पर दुर्धर्ष रूप मे बमबाडिङ्ग करना आरम्भ कर दिया। विध्वस का ताडव नर्तन होने लगा, किन्तु भारतीय सेनाओ ने कभी भी सभ्य देशों के बीच प्रस्थापित युद्ध-कौशल को नही छोडा और उन्होंने पाकिस्तानी फौजी महत्व के स्थानो, शस्त्रागारो और फौजी अड्डों को छोडकर अन्यत्र नागरिक जनता पर कही भी बम नही गिराये। पाकिस्तान ने खुले रूप मे भारतीय गाँवो और नगरो की निहत्थी जनता स्कूलों, कालेजों, मन्दिरो, मस्जिदो और गिरजाघरो को यहाँ तक कि विशाल नैपाम बमो (Napalm Bomb) से ध्वस्त करना आरम्भ कर दिया था और यहाँ तक कि बिना किसी निशाने के पाकिस्तानी युद्धको द्वारा फेके गये भयकर बम ज्यो के त्यो बालू या रिक्त स्थानो मे गिरकर भारतीय फौजों के हाथ लगे।

सितबर ६ का सुरक्षा-परिषदीय प्रस्ताव—६ सितबर, १९६५ को, जब कि महासचिव ने यह रिपोर्ट दी कि दोनो मे से किसी सरकार द्वारा युद्ध-विराम-प्रस्ताव को स्वीकार करने की औपचारिक स्वीकृति नही दी है, तब सुरक्षा-परिषद के [illegible] अस्थायी सदस्यो बोलीविया, आइवरीकोस्ट, जोर्डन, मलायेशिया, नीदरलैंड्स और ऊरुगुये ने सम्मिलित रूप से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमे दोनो पक्षकारो को तुरन्त युद्ध-विराम करने के लिए कहा गया और महासचिव से निवेदन किया गया कि इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए वे जो भी उचित समझे हर सभव प्रयत्न करें, साथ मे सितबर ४ के भी प्रस्तावो को कार्यान्वित करावे। यह प्रस्ताव परिषद् द्वारा निर्विरोध रूप मे सर्वसम्मति से पारित हुआ। इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्यायोजित अधिकार के परिणामस्वरूप महासचिव ने दोनो देशों के नेताओं से व्यक्तिगत रूप में मिलने का निश्चय किया।

पाकिस्तान की रूढि-ग्राह्यता के कारण महासचिव का शान्ति-सदेश विफल हो गया।

सितबर १७ को सयुक्त राष्ट्र के महासचिव ने सुरक्षा परिषद् से कहा कि भारत और पाकिस्तान को युद्ध समाप्त करने का आदेश करे। इसी समय चीन ने भारत को एक चुनौती दी कि इस टिप्पणी को प्राप्त करने की तिथि के तीन दिन के भीतर वह चीनी-सिक्किम सीमा पर अपने द्वारा तैयार किये गये आक्रामक निर्माणो को ध्वस्त कर दे।

भारत के तत्कालीन शिक्षामंत्री श्री मुहम्मद करीम चागला ने १८ सितबर को सयुक्त राष्ट्र मे भारत की वास्तविक स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुये कहा कि

इतने साक्ष्यो एव प्रमाणो के होते हुये भी यदि सुरक्षा-परिषद् विवाद का निर्णय करने से इन्कार करती है और दोनो पक्षकारो को समान स्थिति पर व्यवहृत करती है, तो अब सुरक्षा परिषद् की आवश्यकता ही क्या रह गई है ?

सितबर २० का सुरक्षा-परिषदीय प्रस्ताव—सितबर २० को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमे यह मांग की गई कि दोनो सरकारें युद्ध विराम की घोषणा करे, जो कि सितम्बर २२, के १२-३० बजे अपराह्न से लागू हो ।

सितबर २२ को भारत-सरकार को सयुक्त राष्ट्र के महासचिव का एक संदेश मिला जिसमे भारत को सलाह दी गई थी कि सुरक्षा परिषद् के सदर्भित प्रस्ताव के अनुपालन-स्वरूप वह एकपक्षीय युद्ध-विराम घोषित कर दे, किन्तु यह भी उपबध रहे कि यदि उसपर आक्रमण किया गया तो फिर भारतीय फौजें गोली का जवाब गोली से देगी । भारतीय सरकार इस प्रस्ताव को इस आधार पर अस्वीकृत करने को विवश हो गई कि युद्ध जब चल रहा है तो एक पक्ष के लिए यह सभव नही है कि वह केवल अपनी सेना को गोली चलाने से रोककर दूसरे पक्ष को अन्धाधुन्ध गोली चलाने का खुला अवसर दे दे ।

युद्ध-विराम (Cease Fire)—सितबर २२ को पाकिस्तान दूसरे दिन ३.३० बजे पूर्वाह्न मे युद्ध-विराम की घोषणा के लिए सहमत हो गया । फिर भी, पाकिस्तानी विदेश मन्त्री ने सयुक्त राष्ट्र को यह धमकी दी कि यदि काश्मीर का प्रश्न एक युक्तिसगत अवधि के भीतर नहीं सुलझाया जाता, तो पाकिस्तान सयुक्त राष्ट्र सघ को छोड देगा ।

सितम्बर १६ को चीन ने भारत के नाम दी गई अपनी चुनौती की अवधि को तीन दिन तक के लिये विस्तारित कर दी । सितम्बर २२ को चीन ने यह घोषित किया कि कतिपय 'सैनिक निर्माणो' को जिन्हें कि 'सीमा के चीनी क्षेत्र की ओर' भारत ने बना रखा था, उसने अब स्वय नष्ट कर दिया है ।

पाकिस्तान द्वारा नागरिक लक्ष्यों पर बम वर्षा—उपर्युक्त तीन सप्ताह की अवधि के भारत पाक युद्ध के बीच पाकिस्तानी बम-वर्षको ने भारतीय नागरिक लक्ष्यो पर बम-वर्षा करने का लक्ष्य किया । भारतीय नागरिक जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करना, विशेष रूप से उस समय जब कि भारतीय नभ-शक्ति ने कभी भी पाकिस्तानी नागरिक जीवन को नष्ट करने का लक्ष्य नही अपनाया और अपनी कार्यवाही का लक्ष्य पाकिस्तानी सैन्य-शक्ति तक ही सीमित रखा, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और सभ्य राष्ट्रों मे प्रस्थापित युद्ध-विधि के अतिलंघन का कार्य था । पाकिस्तानी बम वर्षकों ने अम्बाला और जोधपुर में दो बड़े-बड़े अस्पतालों को

धराशायी कर दिया। उन्होंने अम्बाला में १५० वर्ष पुराना सम्मानित सेण्ट पॉल्स कैथिड्रल (गिरजाघर) को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला और क्षम्ब क्षेत्र में एक विशाल मस्जिद को तहस-नहस कर डाला, जबकि इस्लाम धर्म के अनुयायी नमाज के लिए मस्जिद मे एकत्र हुये थे। पाकिस्तान की अन्धाधुन्ध बम-वर्षा के कारण सैकड़ों लोग या तो अकाल और अप्रत्याशित मृत्यु के शिकार हुये, या बेघरबार हो गये। पाकिस्तानी बमवर्षकों ने दो संयुक्त राष्ट्र के यानों को भी नष्ट कर डाला। पाकिस्तान मे इतना भी अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य शेष नही रह गया था कि वह संयुक्त राष्ट्र-संघ के भी ध्वज को उचित सम्मान दे सके।

युद्ध-विराम पर विश्व के प्रायः समस्त देशो ने सन्तोष व्यक्त किया।

सितम्बर २८ का सुरक्षा-परिषदीय प्रस्ताव—सितम्बर २८, १९६५ को सुरक्षा-परिषद् ने सर्वसम्मति से पुनः अपने प्रस्तावो दिनांक ४, ६, और २० का पुष्टीकरण किया और भारत और पाकिस्तान को आह्वान किया कि वे सुरक्षा-परिषद् के युद्ध-विराम-सम्बन्धित प्रस्तावों पर अपनी पूर्व स्वीकारोक्तियों का अग्रसरण करे। इस प्रस्ताव मे दिनाक सितम्बर २० के प्रस्ताव के क्रम मे सेनाओं के प्रत्याहरण पर बल दिया गया। भारतीय प्रतिनिधि ने सुरक्षा-परिषद् को बतलाया कि पाकिस्तान का आशय अब भी अगस्त ५, १९६५ की भाँति युद्ध की अग्नि भड़काने का है, जिससे कि उसके द्वारा तथाकथित काश्मीर के प्रश्न का हल उसके हित में हो सके। उन्होंने परिषद् को यह भी सूचना दी कि भारत-पाकिस्तान की समूची सीमा पर पाकिस्तान उत्तेजनापूर्ण कार्यवाहियाँ कर रहा है और भारतीय सैनिकों पर गोलियाँ चला रहा है, और यह कि जम्मू और काश्मीर मे ससैन्य घुस-पैठियो ने अपनी कार्यवाहियों को समाप्त नही किया है, और यह कि पाकिस्तान इस सम्बन्ध मे कोई भी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेने को तैयार नही है। यही नही, पाकिस्तानी रेडियो उन्हे अपनी तोड़-फोड़ की कार्यवाहियाँ जारी रखने को उत्प्रेरणा दता जा रहा है। उनका कथन था कि ऐसी परिस्थिति मे, परिषद् के लिये इस प्रश्न पर विचार करना कि सेनायें वापस बुलाई जाँय, व्यर्थ का समय गँवाना होगा।

नवम्बर ५ का सुरक्षा-परिषदीय प्रस्ताव—नवम्बर ५, १९६५ को, फिर भी, सुरक्षा-परिषद् ने दूसरा प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव का लक्ष्य यह था कि भारत-पाक-सघर्ष की स्थिति को सुलझाने की दिशा मे परिषद् के पूर्वोक्त प्रस्तावो का अनुपालन किया जाय। इस बात पर भी बल दिया गया कि भारत और पाकिस्तान अपने-अपने प्रतिनिधियो के नाम घोषित करें जो कि ऊ-थाँ के प्रतिनिधि से मिलकर अगस्त ५ की स्थिति की वापसी की योजना तैयार करें।

सोवियत सङ्घ एवं जोरडन ने मतदान नहीं किया। भारत ने परिषद् की बैठक का बहिष्कार इस आधार पर कर दिया कि यदि बैठक में जम्मू और काश्मीर के राजनैतिक प्रश्न पर विचार किया ही जाता है, तो वह इस बैठक की कार्यवाही में भाग नहीं लेगा।

भारत-पाक-संघर्ष का वैध पक्ष

(Legal Aspects of the Indo-Pak. Conflict)

अघोषित युद्ध (Undeclared War)—भारत-पाक-शस्त्र संघर्ष में कुछ असाधारण विशेषताएँ रही हैं। ये विशेषताएँ साधारणतया युद्ध की विधियों और अभिसमयों से अनुशासित नहीं हैं। युद्ध का संचालन आधुनिक शस्त्रास्त्रों से किया गया और पाकिस्तान की ओर से बहुत ही आधुनिकतम शस्त्र जैसे पैटन टैंकों, सैबर जेटों, क्षेप्यास्त्रों और १,००० पौंड तक के बमों का खुलकर प्रयोग किया गया। ये सभी शस्त्र पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा दिये गये थे। इतने भयंकर और विनाशकारी शस्त्रों के प्रयोग और राष्ट्रपति अयूब के इस रेडियो प्रसारण के उपरांत भी, कि 'हम युद्धरत हैं—We are at war' युद्ध अघोषित और अनौपचारिक ही रहा। छम्ब क्षेत्र में तथा भारत की लम्बी सीमा पर चारों ओर से पाकिस्तान द्वारा आक्रमण किये जाने, तथा भारतीय सेना द्वारा अपनी प्रतिरक्षा में जमकर सामना करने और युद्ध की भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाने के बाद भी दोनों देशों के राजनयिक संस्थान ज्यों के त्यों बने रहे और उनके वापस बुलाने का प्रश्न किसी भी पक्ष की ओर से औपचारिक रूप में नहीं उठाया गया। फिर भी, रावलपिंडी में भारतीय दूतावास के लोगों के साथ जो दुर्व्यवहार किये गये और उन्हें जिन बन्धनों में रख दिया गया, वे अत्यन्त ही कठोर तो थे ही, साथ ही अत्यन्त अमानवीय और अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों के सम्बन्धों के विपरीत थे। युद्ध घोषित नहीं हुआ, फिर भी, पाकिस्तान-स्थित भारतीय दूतावास के कर्मचारियों की अवैध तलाशी पाकिस्तानी पुलिस द्वारा ली गई और उनकी सम्पत्तियों को बलात् छीन लिया गया। उनके परिवार को तंग किया गया और अनेक अन्य अपमानजनक कृत्य किये गये।

प्राइज कोर्ट की कार्यवाहियाँ

(Prize Court Proceedings)

युद्ध की औपचारिक घोषणा न की जाने के उपरान्त भी, पाकिस्तान ने भारतीय 'कार्गो' पर, जिसे कि उसने अवैध रूप से पकड़ रखा था, प्राइज कोर्ट-कार्यवाही आरम्भ की, जिसके परिणामस्वरूप भारतीय व्यापारिक पोत, जिसमें कि

जूट और चाय भरी हुई थी, जब्त कर लेने का अवैध आदेश किया गया। जूट और चाय का 'कार्गो' किसी भी प्रकार से विनिषिद्ध नहीं कहा जा सकता था। यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिये एक बहुत बड़ी प्रतिकूलता का कार्य था जिसके लिये पाकिस्तानी अधिकारी उत्तरदायी थे, क्योंकि दोनों देश औपचारिक रूप से युद्ध-संलग्न नहीं थे। यहाँ तक कि कतिपय विदेशी पोतों को भी, जो कि व्यापारिक और नागरिक लक्ष्यों के लिये भारत आ रहे थे, पाकिस्तान ने मनमाने ढंग पर रोक लिया। यह सब कार्य किसी भी सभ्य राष्ट्र के लिये उचित नहीं कहे जा सकते और न तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत प्रस्थापित अभिसमयों के अनुकूल ही कहे जा सकते।

नैपाम बमों का प्रयोग—जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, पाकिस्तान ने भारत के अधिकांश नागरिक लक्ष्यों, अस्पतालों, मस्जिदों, गिरजाघरों, आदि पर उपर्युक्त संघर्ष में नैपाम-बमों जैसे आग्नेय शस्त्रों का खुलकर प्रयोग किया। यहाँ स्मरणीय है कि नभ युद्ध-कौशल के अन्तर्गत ऐसे बमों का प्रयोग निषिद्ध है। आश्चर्य का विषय है कि इसके उपरान्त भी अमेरिका ने पाकिस्तान से यह पूछने की आवश्यकता का अनुभव नहीं किया कि उसके द्वारा दिये गये शस्त्रास्त्रों का इस प्रकार अनर्गल प्रयोग क्यों किया गया ?

संयुक्त राष्ट्र संघ, कालोचितता का एक माध्यम—उपर्युक्त भारतीय संकट के समय संयुक्त राष्ट्र संघ एक प्रभुत्वपूर्ण स्वतन्त्र निकाय के रूप में अपने को न सिद्ध कर सका, अपितु महान् शक्तियों के निर्णयों को कालोचितता प्रदान कर देने वाला एक साधन मात्र ही बनकर रह गया। यहाँ तक कि सुरक्षा परिषद् में स्पष्ट परिस्थितियों को भारतीय प्रतिनिधि द्वारा सामने रखने, बार बार आग्रह करने और महासचिव द्वारा स्वयं परिस्थितियों का अवलोकन कर लेने के उपरान्त भी संघ अपने आप में इतना साहस नहीं सँजो सका कि वह दोनों में से, जिस किसी को आक्रामक समझता, आक्रामक होने की घोषणा कर देता या नाम-निर्दिष्ट कर देता। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि सितम्बर २० का सुरक्षा परिषद का प्रस्ताव, जिसमें कि भारत और पाकिस्तान के लिये युद्ध विराम का आदेश उपबन्धित था, स्वयं सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव १६४६ के अतिक्रमण का स्वरूप था। वर्ष १६४६ के प्रस्ताव में यह निर्देशित था कि पाकिस्तान काश्मीर से अपनी सेना वापस बुला ले। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि पाकिस्तान वहाँ पहले से ही आक्रामक की स्थिति में रहा है। पाकिस्तान ने १६४६ के प्रस्ताव का अनुपालन नहीं किया और काश्मीर में पन्द्रह वर्षों तक आक्रामक की स्थिति में बना रहा। सितम्बर २०, १६६५ के प्रस्ताव में दोनों देशों

के बीच केवल युद्ध-विराम का निर्देश था। यदि इसका यह तात्पर्य हुआ कि पाकिस्तान अगस्त ५, १६६५ की स्थिति में रहकर भी, काश्मीर क्षेत्र में अपनी सेना रखे रहे, तो यह प्रस्ताव स्वयं वर्ष १६४६ के प्रस्ताव के विरुद्ध है।

आत्म-प्रतिरक्षा में भारतीय कार्यवाही—विगत संघर्ष में भारत की ओर से की गई कार्यवाही पूर्णतः आत्म-प्रतिरक्षात्मक रही है। यह पाकिस्तान ही था जिसने कि छद्म-वेशी सैनिकों को काश्मीर में भेजा। यह पाकिस्तान ही था जिसने कि भारत-भूमि पर सशस्त्र सैनिकों द्वारा भारी संख्या में आक्रमण किया। यह पाकिस्तान ही था जिसने कि युद्ध की घोषणा किये बिना ही भारत के नगरों को ध्वस्त करने के लिये पहले अपने बम-वर्षकों को भेजा। भारत की ओर से की गई कार्यवाही प्रतिरक्षा और सीमा पर पाकिस्तान की आक्रामक कार्यवाहियों को रोक देने के उद्देश्य से प्रत्युत्तर रूप में की गई। यहाँ तक कि भारतीय सेना ने कहीं भी पाकिस्तानी जन-जीवन को न तो नष्ट किया और न तो कहीं भी भारतीय सेना या भारतीय बम-वर्षकों ने किसी भी पाकिस्तानी नगर पर बम-वर्षा की। इछोगिल नहर के चारों ओर भारतीय जवान लाहौर को घेरे खड़े रहे; भारतीय वायुयान और बम-वर्षक पाकिस्तानी सीमा के उस छोर पर पेशावर तक सैनिक अड्डों को नष्ट कर सकने में समर्थ हो सके; किन्तु कहीं भी पाकिस्तानी क्षेत्र में किसी नगर पर बम गिराये जाने का दृष्टान्त सामने नहीं आया।

पाकिस्तान ने पाँच हजार सशस्त्र व्यक्तियों को, जो कि पाकिस्तानी सेना के व्यक्ति थे, नागरिकों के छद्म-वेश में भारत के काश्मीर-क्षेत्र में घुसाया। वे तोड़-फोड़ की कार्यवाही तथा काश्मीर के उच्च अधिकारियों को कत्ल करने के आशय से भेजे गये थे। पाकिस्तान ने आधिकारिक रूप से इन घुसपैठियों का अपनी ओर से भेजा जाना अस्वीकार किया और उसने यह घोषित किया कि काश्मीर की जनता भारतीय प्रशासकों के विरुद्ध विद्रोह कर बैठी है। उनकी इस भ्रान्तिपूर्ण उद्घोषणा का खण्डन संयुक्त राष्ट्र के मुख्य पर्यवेक्षक जेनरल निम्मो के प्रतिवेदन में किया गया, जिन्होंने स्पष्टतः कहा कि ये व्यक्ति युद्ध-विराम-रेखा पार कर आक्रमण के प्रयोजन से घुस आये थे। इस प्रकार पाकिस्तान १६४६ के युद्ध-विराम समझौते को भंग कर अन्तर्राष्ट्रीय अपराध का भागी था।

उधर पाकिस्तानी रेडियो और समाचार-पत्र भारत के विरुद्ध द्वेष उत्पन्न करने के जघन्य प्रचारों में लगे हुये थे, इधर पाकिस्तानी फौजें भारतीय सीमा पर आक्रमण हेतु बढ़ आयीं। पाकिस्तानी कार्यवाहियों से विवश होकर अगस्त १६, १६६५ को भारतीय सेना ने विराम-रेखा के पार कारगिल क्षेत्र में प्रतिरक्षा के उद्देश्य से तीन पाकिस्तानी चौकियों को कब्जे में कर लिया। इस कार्यवाही का

का कारण यह था कि पाकिस्तानी निरन्तर जीवन प्रदायिनी श्रीनगर लेह-रेखा को काट देने के प्रयत्न मे लगे हुये थे। यहाँ स्मरणीय है कि इन्ही चौकियो को पहले भी १७ मई, को भारतीय जवानो ने अपने कब्जे मे कर लिया था, किन्तु सयुक्त-राष्ट्र के इस आश्वासन पर जून में रिक्त कर दिया था कि उसके पर्यवेक्षक पाकिस्तान की ओर भारतीय प्रतिरक्षा-रेखा पर होने वाले किसी भी आक्रमण को रोकेंगे। जबकि पाकिस्तान ने अपने आक्रमणो की शृंखला विराम-रेखा के पार गुलमार्ग, छम्ब, ऊरी, तिथवाल और नौसेरा मेन्द्रो तक विस्तारित कर दिया, तब विवश होकर भारतीय सेना को भी अगस्त २५, १९६५, को दो स्थानो पर विराम-रेखा को पार करना पडा और तिथवाल क्षेत्र में नई स्थिति प्रस्थापित करनी पडी। अगस्त २८ को भारतीय जवान विराम-रेखा के पार ऊरी क्षेत्र मे घुसे, जिससे कि वे पाकिस्तानी सशस्त्र एव भयकर प्रभाव को रोक सकें और काश्मीर-घाटी मे प्रवेश करने वाले पाक घुसपैठियो को रोक सके। दो दिन पश्चात् भारतीय सेना ने हाजीपीर दर्रे पर कब्जा कर लिया। यह दर्रा पाकिस्तानियों के काश्मीर-प्रवेश का मुख्य द्वार था। इसके साथ ही भारतीय जवानो ने १२३०० फोट ऊँची पहाडी बिदूर और कतिपय अन्य पाकिस्तानी चौकियो पर भी कब्जा कर लिया।

उपर्युक्त पृष्ठभूमि के आधार पर ही भारतीय सैन्य शक्तियो ने अपनी सीमित कार्यवाहियाँ अपनी सीमाओ की प्रतिरक्षा की दृष्टि से की। ये कार्यवाहियाँ सयुक्त-राष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद ५१ के उपबन्धो के अन्तर्गत पूर्णत न्याय सगत थी। पाकिस्तान ने जब एक साथ काश्मीर, पजाब और राजस्थान क्षेत्रो मे बर्बरतापूर्ण आक्रमण कर दिया तब इसके अतिरिक्त भारतीय सैनिको के लिये दूसरा कोई मार्ग शेष न रह गया कि वे लाहौर और स्यालकोट क्षेत्रो की ओर आगे बढे। इधर चीन की असामयिक चेतावनी ने स्पष्ट कर दिया कि दोनो शत्रु भारत को दो मोर्चों पर एक साथ ही उलझा लेने के कुचक्र मे हैं। अत भारत के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह एक शत्रु की सैन्य शक्तियो पर प्रहार कर उसे निर्बल कर दे जिससे कि वह उससे बाद उससे भी प्रबल शत्रु की ओर पूरी शक्ति से अपने भाव को लगा सके।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, कुछ महान शक्तियाँ, जैसे सयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन ने पाकिस्तान के इन दुष्टतापूर्ण कार्यों को अप्रत्यक्ष रूप से बढावा दिया और विश्व के परिवार मे किसी न किसी प्रकार पाकिस्तान के पक्ष का समर्थन किया। चीन, इण्डोनेशिया, टर्की और ईरान ने स्पष्टत पाकिस्तान का समर्थन किया, और भारत के विरुद्ध हर प्रकार की सैनिक सहायता प्रदान करने

का आश्वासन दिया। परिस्थितियों की इस विभीषिका में पाकिस्तान को भारत-क्षेत्र के ऊपर और भी भयकर आक्रमण करने मे रोक देने के अभिप्राय से यदि भारतीय सेना युद्ध विराम-रेखा के पार घुसी, तो उसने कोई भी विधि विरुद्ध कार्य नही किया। प्रतिरक्षा की सक्रिय कार्यवाही के अन्तर्गत केवल इतना ही नही अपेक्षित है कि आक्रामक को अपनी सीमा से बाहर मार भगाया जाये, अपितु यह भी सन्निहित है कि वह बढकर अपने शत्रु को उसके घोसले मे ही नष्ट कर दे, जहाँ से कि शक्ति लेकर वह आगे की ओर बढता आ रहा है।

मलायेशिया द्वारा भारत के पक्ष का समर्थन—भारत के कठिन सकट के समय, जबकि चीन, इण्डोनेशिया, टर्की और जोर्डन ने खुलकर पाकिस्तान का साथ दिया, और ग्रेट ब्रिटेन एव सयुक्त राज्य अमेरिका ने परोक्ष रूप से पाकिस्तान को समर्थन और बढावा दिया, वहाँ मलायेशिया ने न्याय का पक्ष लेकर भारतीय हित का खुले शब्दो मे समर्थन किया और सुरक्षा परिषद् के समक्ष भारत की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट कर दिया। भारत ने अपने विरुद्ध बोलने वालो और पाकिस्तान को खुली अथवा गुप्त सहायता करने वाले किसी भी राष्ट्र के प्रति बैर-भाव नही स्थापित किया और उसके राजनयिक सम्बन्ध सभी देशो से ज्यो के त्यो बने रहे, और यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय सभी नियमों की अवहेलना कर जब इण्डोनेशिया मे भारतीय दूतावास पर अनाचार के घटाटोप गिराये गये, तब भी, भारत शान्त होकर उन अनाचारो को सहता रहा, किन्तु पाकिस्तान मे इतनी भी अन्तर्राष्ट्रीय उदारता शेष न रह गई थी कि वह किसी भी राष्ट्र द्वारा सुरक्षा-परिषद् मे अपना विरोध और भारत का समर्थन सहन कर सके। परिणामत पाकिस्तान ने मलायेशिया के साथ अपना दौत्य-सम्बन्ध तोड लिया। एक कामनवेल्थ राष्ट्र के प्रति इस प्रकार का अभद्र व्यवहार पाकिस्तान ने किया, फिर भी, ग्रेट ब्रिटेन, जो कि कामनवेल्थ का जनक-स्थान है, पाकिस्तान को लोरियाँ गा गाकर दुलराता रहा और पाकिस्तान एक लडैते शिशु की भाँति जहाँ कहीं भी हाथ पैर मारता रहा, युद्ध की स्थिति उत्पन्न करता रहा।

पाकिस्तानी बम-वर्षकों द्वारा भारतीय जीवन पर वज्राघात—ऊपर हम उल्लेख कर चुके हैं कि भारतीय सेनाओ ने अपनी उपर्युक्त कार्यवाही मे अपना लक्ष्य केवल सैनिक महत्व के स्थानो को बनाया, उन्होने कभी भी नागरिक जीवन को नष्ट नही किया। किन्तु, पाकिस्तान ने इसके ठीक विपरीत सभी मानवीय मान्यताओं के विपरीत शान्त नगरो, पूजा के स्थानो और अस्पतालो को अपना लक्ष्य बनाया। ये कार्य सर्वथा बर्बरतापूर्ण थे और सभ्य राष्ट्रो के बीच मान्य युद्ध-विधियों के सर्वथा विपरीत थे। यहाँ तक कि पाकिस्तान द्वारा इस अनौपचारिक युद्ध मे की गई कतिपय कार्यवाहियाँ पिछले दो महान् विश्व-युद्धों में भी नही सुनी

गई थी। ऐसे नगरो पर, जिनका कोई भी सैनिक महत्त्व नही था, पाकिस्तान ने नृशंस रूप मे नेपाम बमो, और यहाँ तक कि १०,०० पौंड तक वजन के विनाशकारी बमो का प्रयोग किया। पाकिस्तानी नभ-शक्ति ने अम्बाला मे सेण्ट पॉल्स कैथोड्रल पर दो बार बम-वर्षा की—पहले आक्रमण ने गिरजाघर को नष्ट कर दिया और दूसरे ने उसे बिलकुल ही चूर-चूर कर डाला। पाकिस्तान का सम्भवतः सबसे प्रबल अमानवीय कृत्य अस्पतालो और रेड-क्रास केन्द्रा पर बम गिराना था। पूंच मे एक अस्पताल ध्वस्त कर दिया गया और अम्बाला सैनिक अस्पताल के आठ वार्ड धराशायी कर दिये गये। जोधपुर के जेल-अस्पताल को भी नष्ट कर दिया गया और फिरोजपुर मे चार ऍबुलेंस गाडियाँ विदीर्ण कर दी गई। पाकिस्तानी जहाजों ने भारतीय नागरिक जहाजो पर भी आक्रमण किये और ऐसे ही एक आक्रमण मे गुजरात के मुख्यमन्त्री अपने परिवार-सहित मारे गये। ये सभी कृत्य पाकिस्तान की ओर से सभ्यतापूर्ण राष्ट्रो द्वारा किये जाने वाले कार्यों और मान्यताओ की सर्वथा उपेक्षा के द्योतक थे। खेद का विषय है कि सुरक्षा-परिषद् ने पाकिस्तान द्वारा किये गये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार-सहिता के उल्लघन के कृत्यों को कभी भी अपने विचार-विमर्श का विषय नही बनाया और सितम्बर मास मे पारित उनके विभिन्न प्रस्ताव पाकिस्तान और भारत को समान स्तर पर लडाकू मानते रहे। सम्पूर्ण विश्व इस तथ्य को जानता है कि भारत ने कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय मर्यादाओ का उल्लघन नही किया, फिर उसे पाकिस्तान जैसे आक्रामक देश के समकक्ष मानना आज भी विचारशील राष्ट्रो के लिये एक आश्चर्य का विषय बना हुआ है।

परिणाम :—इन तथ्यो के होते हुये भी यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ही एक वर्तमान ऐसा सक्षम और व्यापक यत्र है जो विश्व मे शान्ति स्थापित कर सकता है। इन थोडे वर्षों के भीतर जो बर्लिन, तेहरान तथा ग्रीस सम्बन्धी मामलो तथा जेरुसलम, काश्मीर की स्थिति, कोरिया, इजिप्ट और अन्त मे हंगरी और कांगो या कटागा के मामले के चारो ओर जो विनाशकारी कार्यवाहियाँ हुई हैं उनके धक्के को इसने सम्हाल लिया है। इसने ग्रीस, काश्मीर, पैलेस्टाइन, इडोनेशिया और मिस्र की सीमाओ मे चाँच युद्धों को रोका है। इसने कोरिया मे पुनः शान्ति स्थापित की है। इसने सीरिया, लेबेनान, बर्मा तथा ईरान से विदेशी सेनाओ को हटाया है तथा बर्लिन की नाकाबन्दी के जो अवरोध उत्पन्न हो गया था, उसे तोडा है। इसने जार्डन और लेबनान से विदेशी सेनाओ को हटा दिया है। विश्व की आशायें संयुक्त राष्ट्र सघ मे उन आदर्शों की पूर्ति के लिये केन्द्रित हैं जिनके लिये संयुक्त राष्ट्र सघ स्थापित किया गया है, और शान्ति तथा

सुरक्षा की प्राप्ति और अपने निष्पक्ष और सार्वदेशिक कृत्यों से मानव-मात्र के सर्वांगीण विकास का एक दीप-स्तम्भ प्रमाणित हो सकता है। इसकी ओर विश्व आशाभरी आंखों से देख रहा है।

अध्याय २८
सामूहिक सुरक्षा
(Collective Security)

लीग प्रतिज्ञा-पत्र (League Covenant) :—प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १० के अन्तर्गत लीग के सदस्यों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे लीग के सब सदस्यों की क्षेत्रीय एकता तथा वर्तमान राजनीतिक स्वतन्त्रता का सम्मान करेंगे तथा बाह्य प्रधर्षण के विरुद्ध संरक्षण करेंगे। अनुच्छेद ११ के अन्तर्गत कोई युद्ध अथवा युद्ध की धमकी चाहे उसका प्रभाव लीग के किसी सदस्य पर तत्काल पड़ता हो अथवा नहीं सम्पूर्ण लीग के लिये एक चिन्ता का विषय थी तथा लीग से यह अपेक्षा की गई थी कि वह राज्यों की शान्ति सुरक्षित रखने के लिये कोई कार्यवाही करे जो विवेकयुक्त तथा प्रभावपूर्ण समझी जाय। कोई ऐसा संकट उपस्थित होने पर सेक्रेटरी-जनरल से यह अपेक्षा की गई थी कि लीग के किसी सदस्य की प्रार्थना पर तत्काल परिषद की बैठक बुलायी जाय।

अनुच्छेद १२ के अन्तर्गत लीग के सदस्य इस बात पर सहमत थे कि यदि उनके मध्य कोई झगड़ा उठता हो, जिससे सम्बन्ध-विच्छेद की संभावना हो तो वे उस विषय को या तो पंचायत अथवा न्यायिक निर्णय या परिषद द्वारा जांच के लिये प्रत्यर्पित करेंगे तथा वे इस बात पर भी सहमत थे कि वे किसी भी दशा में उस समय तक युद्धरत न होंगे जब तक पंचों के निर्णय, न्यायिक निर्णय अथवा परिषद् के प्रतिवेदन के उपरान्त तीन मास न व्यतीत हो जाय। पंचों का निर्णय अथवा न्यायिक निर्णय आवश्यक समय के भीतर दे देना चाहिये था तथा परिषद् का प्रतिवेदन झगड़े के प्रत्यर्पण के उपरान्त छः महीने के अन्दर हो जाना चाहिये था।

अनुच्छेद १३ के अन्तर्गत लीग के सदस्य इस पर भी सहमत हुए कि जब कभी उनके मध्य कोई ऐसा झगड़ा उठता हो जिसे वे स्वीकार करें कि पंचायत अथवा न्यायिक निर्णय के लिये प्रत्यर्पण करना उचित है, तथा जो कूटनीति के द्वारा संतोषजनक रीति से तय नहीं हो सकता हो तो वे सम्पूर्ण विवादपूर्ण विषय को पंचायत अथवा न्यायिक निर्णय के लिये प्रत्यर्पित करेंगे।

अनुच्छेद १५ मे यह व्यवस्था की गई थी कि यदि लीग के सदस्यो के बीच सम्भवतः संबध-विच्छेद मे परिणत होने वाला कोई झगडा उत्पन्न हो जो अनुच्छेद १३ के अन्तर्गत पचायत अथवा न्यायिक निर्णय के लिये प्रवर्तित न किया गया हो तो लीग के सदस्य इस विषय पर सहमत थे कि वे उस विषय को परिषद् को निवेदित करेगे।

अनुच्छेद १६ मे यह व्यवस्था की गई थी कि यदि लीग का कोई सदस्य लीग की प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १२, १३ अथवा १५ के अन्तर्गत प्रतिज्ञाओं की उपेक्षा करके युद्ध मे प्रवृत्त हो तो उसके द्वारा स्वत लीग के सब अन्य सदस्यो के विरुद्ध युद्ध करने वाला समझा जायगा। सदस्यो ने यह प्रतिज्ञा की कि उससे तत्काल सब व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्धो का विच्छेद कर दिया जायगा, उनके राष्ट्रीयजनो तथा प्रतिज्ञा-भग करने वाले राज्य के राष्ट्रीयजनो के बीच सब सम्पर्क तोड दिये जायेंगे तथा प्रतिज्ञा-भग करने वाले राज्य के राष्ट्रीयजनो तथा किसी अन्य राज्य के राष्ट्रीयजनो के बीच सब सम्पर्क रोक दिये जायेंगे चाहे वे लीग के सदस्य हो अथवा नही।

प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १७ के अन्तर्गत लीग के सदस्य तथा असदस्य अथवा असदस्यो के बीच के झगडे मे असदस्य राज्य अथवा समूह ऐसे झगडे के प्रयोजनों के लिये लीग की सदस्यता के कर्त्तव्यो को स्वीकृत करेंगे।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर (Charter of the United Nations) :—चार्टर के अध्याय ६ मे झगडो की जाँच तथा शान्तिपूर्ण समझौते के विषय मे विवरण दिया गया है। यह किसी ऐसे झगडे के पक्षकारो पर जिसके जारी रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिये सकट उत्पन्न होता हो यह कर्त्तव्य सौंपता है कि उसकी निवृत्ति प्रथमतः बातचीत, जाँच, मध्यस्थता, सान्त्वना, पचायत, न्यायिक निर्णय, क्षेत्रीय अभिकरणों के पास पहुँच कर अथवा उनसे प्रबन्ध करके अथवा किसी अपनी इच्छानुसार अन्य शान्तिपूर्ण उपायो से करे।

चार्टर के अनुच्छेद ७ मे शान्ति के लिये धमकी अथवा शान्ति-भग होने का निर्णय करके सामूहिक सुरक्षा के लिये व्यवस्था की गई है तथा यह निर्णय किया गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करने के लिये कौन-सी संस्तुति अथवा उपाय का अवलम्बन किया जायेगा (अनुच्छेद ३९)। स्थिति का और अधिक बिगडने देने से रोकने के लिये सुरक्षा परिषद् संस्तुति करने अथवा उपायों का निर्णय करने के पहले सम्बन्धित पक्षकारो से यह माँग करे कि व कुछ काल के लिये ऐसे उपायो का अवलम्बन करे जैसा कि वह (सुरक्षा परिषद्) आवश्यक अथवा वांछित समझे (अनुच्छेद ४०)। यह इस बात का निर्णय करे कि अपने निर्णयो

को प्रभावित करने के लिये कौन से उपाय प्रयुक्त हो जिसमे सैनिक बलप्रयोग सम्मिलित नही है, तथा सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्यो से ऐसे उपायों का प्रयोग करने को कह सकती है। इनमे आर्थिक सम्बन्धो तथा रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार तथा रेडियो और अन्य यातायात साधनो का पूर्ण अथवा आंशिक अवरोध तथा कूटनीति सम्बन्धो का विच्छेद भी सम्मिलित है (अनुच्छेद ४१)। यदि इसके विचार मे अनुच्छेद ४१ मे व्यक्त किये गये उपाय अपर्याप्त हो अथवा अपर्याप्त सिद्ध हो तो यह वायु, जल अथवा स्थल सेनाओ से ऐसे कार्य करवा सकती है जैसा कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थायी रखन अथवा पुन स्थापित करने के निमित्त आवश्यक हो। ऐसे कार्यों मे प्रदर्शन, नाकाबन्दी तथा अन्य सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सदस्यो के वायु, जल अथवा स्थल सेनाओ द्वारा अन्य कार्य सम्मिलित हैं (अनुच्छेद ४२)।

सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सब सदस्यो ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखन मे सहयोग देने के लिए यह प्रतिज्ञा की है कि वे सुरक्षा परिषद् के पास उसके द्वारा मांगे जाने पर तथा विशिष्ट सविदा अथवा सविदाओ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने के उद्देश्य से आवश्यक सैन्य बल, सहायता तथा सुविधाये प्राप्त करायेंगे जिनमे आने-जाने के अधिकार भी सम्मिलित हैं (अनुच्छेद ४३)।

जब सुरक्षा परिषद् बल प्रयोग करना निश्चित कर ले तो किसी सदस्य से जिसका प्रतिनिधित्व उसमे (परिषद् मे) न हो, उससे सैन्य बल देने के लिये कहने के पूर्व उस सदस्य से यदि वह ऐसी इच्छा प्रकट करे तो उस सदस्य के सैन्य दल की टुकडियो को प्रयोग करन से सम्बन्धित सुरक्षा परिषद् के निर्णयो मे भाग लेने को आमन्त्रित करे। सयुक्त राष्ट्र सङ्घ को आवश्यकीय सैनिक उपायो के अवलम्बन करने योग्य बनाने के लिये सदस्यगण अन्तर्राष्ट्रीय हवाईदल की टुकडियो को सयुक्त राष्ट्रीय प्रवृत्तिकारी कार्यों के लिये प्राप्त करावेंगे। इन टुकडियो की शक्ति तथा तैयारी की सीमा तथा उनकी सयुक्त कार्यवाही की योजनाएँ मिलिटरी स्टाफ कमेटी की सहायता से सुरक्षा परिषद् द्वारा निश्चित की जायेगी। सैन्य बल प्रयोग की योजनाएँ मिलिटरी स्टाफ कमेटी की सहायता से सुरक्षा परिषद् द्वारा बनाई जायेंगी।

अन्त मे अनुच्छेद ५१ मे यह व्यवस्था की गई है कि यदि सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के किसी सदस्य के विरुद्ध सैनिक आक्रमण हो तो चार्टर मे दिया गया वैयक्तिक अन्तर्भूत अधिकार अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार मे उस समय तक कमी होगी जब तक सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को स्थायी बनाये

रखने के लिये आवश्यक उपाय न कर ले। इस आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग मे सदस्यो द्वारा किये गये उपाय तुरन्त सुरक्षा परिषद् को प्रतिवेदित किये जायँगे, तथा वे किसी भी प्रकार से चार्टर के अधीन सुरक्षा परिषद् के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने अथवा पुनः स्थापित करने के निमित्त ऐसी कार्यवाही करने जैसे कि यह आवश्यक समझे, अधिकार तथा उत्तरदायित्व को प्रभावित न करेंगे।

सामूहिक सुरक्षा की असफलता (The Failure of Collective Security) :—प्रतिज्ञा पत्र मे जैसी शान्ति का लक्ष्य सामने था, उसको सुरक्षित रखने में लीग आफ नेशन्स असफल रही। सन् १९३१ मे यह मचूरिया मे चीन के विरुद्ध जापानियो के अग्रधर्षण को रोकने मे असफल रही। सन् १९३५ मे अबीसीनिया मे इटली का आक्रमण हुआ तथा अबीसीनिया ने प्रतिज्ञा-पत्र के अनुच्छेद १० के अन्तर्गत लीग मे अपील की। इस पर लीग ने इटली के विरुद्ध आर्थिक अनुज्ञाओं का प्रयोग किया, किन्तु उनके भिन्न-भिन्न अगभूत सदस्यो ने अपने कर्तव्यो का प्रतिपालन नही किया तथा अग्रधर्षक पर बलपूर्वक शान्ति रखवाने की लीग की कार्यवाही असफल रही। इटली लीग से अलग हो गया तथा उसने अबीसीनिया पर विजय प्राप्त की। राइनलैण्ड पर जर्मनी द्वारा सन् १९३६ मे दखल किया गया। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया सन् १९३८ मे तथा जेकोस्लोवाकिया सन् १९३९ मे सयोजित कर लिया गया, किन्तु लीग अग्रधर्षक के विरुद्ध कोई प्रभावपूर्ण कार्यवाही नही कर सकी। जब रूस ने सन् १९३९ मे फिनलैण्ड पर आक्रमण किया तो लीग असहाय अलग खडी रही। यह अपनी अप्रसन्नता केवल रूसी सरकार को निकाल कर ही प्रकट कर सकी। शान्ति की स्थापना करने मे लीग की असफलता का भयकर दुःखद परिणाम द्वितीय विश्वयुद्ध हुआ।

युद्ध की रीतियो मे वैज्ञानिक उन्नति के कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के साथ नवीन समस्याएँ उत्पन्न हुईं। लोगो को परस्पर मिल-जुल कर शान्तिपूर्वक रहने के लिये एक प्रभावशाली साधन की व्यवस्था करने के लिये विश्व की आशाएँ तथा इच्छायें संयुक्त राष्ट्र सघ के चारो ओर केन्द्रीभूत हुईं तथा इसी आशा ने शान्तिप्रिय लोगो को शीतयुद्ध (cold war) तथा रूसी ससार और पश्चिमीय देशो के आदर्शवादो मे सघर्ष होते हुये भी जीवित रक्खा है। कभी-कभी अन्य देशो के लोगो के प्रति साद्भावना रखने की आवश्यकता विस्मृत हो जाती है और इसी कारण विश्व के देशो के दृष्टिकोण मे विभिन्नता आ जाती है। इसी का परिणाम यह हुआ है कि क्षेत्रीय गठबन्धनो के द्वारा शान्ति की स्थापना करने के लिये व्यापक तथा अविश्वास की भावना उत्पन्न हो गई है। सयुक्त राष्ट्र सघ की उपयोगिता का ठीक-

ठीक अनुमान लगाने के लिये हमको इसके किसी विशिष्ट समस्या का हल प्राप्त करने के लिये सफलता अथवा असफलता पर दृष्टिपात नही करना है वरन् यह देखना है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा बन्धुत्व स्थापित करने के लिये एक साधन है अथवा नही। निस्सन्देह इस बात के होते हुये कि इसका संगठन इसके सब सदस्यों की सार्वभौमिक समानता पर आश्रित है इसने विश्व-बन्धुत्व का भावना को कुछ अंश तक अवश्य उत्पन्न कर दी है।

सुरक्षा परिषद् को सन् १९५० मे कोरिया मे अग्रधर्पण तथा शान्ति-भग के विरुद्ध प्रभावशाली सामूहिक उपाय किये जाने की अनुज्ञा देनी पडी तथा इसको अक्टूबर सन् १९५६ के अन्त मे इजिप्ट के प्रदेश मे इजरायली अग्रधर्पण को जिसमे बाद को आग्ल-फ्रासीसी आक्रमण हुआ रोकने के लिये प्रभावपूर्ण पग उठाना पडा व भिन्न-भिन्न उपाय इससे पूर्व बहुत विस्तारपूर्वक वर्णित किये जा चुके हैं। यह पर इतना कहना पर्याप्त होगा कि सयुक्त राष्ट्र सघ इन उपद्रवग्रस्त क्षेत्रों मे शान्ति पुन. सस्थापित करने तथा अग्रधर्पण को रोकने मे बहुत ही सफल रहा है। कागो और कटागा के उथल-पुथल मे भी इसकी सहायता देखी जा चुकी है।

शक्ति-संतुलन (Balance of Power) :—यह कहा गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का झुकाव 'शक्ति-सतुलन' को 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) के रूप मे परिणत कर देने की ओर है। इस प्रश्न पर विचार करते हुये हमे यह विचार करना ही होगा कि संयुक्त राष्ट्र सघ 'सामूहिक सुरक्षा' के प्रयोजन की पूर्ति मे कहाँ तक सफल रहा है।

भूतकाल मे, खासतौर से १८वी और १९वी शताब्दी मे यूरोप की मुख्य शक्तियाँ अपने को यूरोपीय महाद्वीप के लिये भाग्य-विधायक अधिकार से युक्त मानती थी। उन्होने कम शक्तिशाली देशो पर एक प्रकार से अपना स्वत्व स्थापित कर रखा था और उनकी क्षेत्रीय सीमाओ के निर्धारण के प्रश्नो के अन्तिम विधायक बन बैठे थे। उन्होने बहुत से कान्सर्ट (concert), लीग (leagues), मैत्री सम्बन्ध (alliances) और इसी प्रकार की अन्य संस्थाओ का निर्माण कर लिया था, किन्तु वास्तविकता यह थी कि इस उदार भ्रातृत्व के पीछे यह भावना अवश्य विद्यमान थी कि कहीं कोई प्रबल शक्ति अकेली ही छोटे-छोटे राज्यों की शक्तियों पर उनके पारस्परिक झगडो मे अपने स्वार्थों के हित म हावी न हो जाय। पारस्परिक अविश्वास और दूसरे राष्ट्रो की शक्तियों का अनुमान करके सावधान रहने की बात इन सभी बडी शक्तियों वाले राष्ट्रो मे विद्यमान था, और एकमात्र शक्ति-सतुलन के साधन के द्वारा या तथैव स्थिति बनी रहने (status quo) के सिद्धान्त के द्वारा वे ऐसा विश्वास कर लिया करते थे कि कोई राष्ट्र किसी दूसरे पर हावी होकर एकमात्र प्रभुत्वपूर्ण राष्ट्र नही बन सकेगा।

शक्ति सतुलन का प्रत्यक्षत: सिद्धान्त तो समान न्याय और प्रभुत्व की तथैव स्थिति बनी रहने का पोषक है। वस्तुत छोटे राज्य लगातार बडे राज्यो का अपने ऊपर आभार मानते रहे है कि उन्होने उन्हे अन्य राज्यो से आक्रमण किये जाने की स्थिति मे बचाने का आश्वासन दे रखा है और ऐसी स्थितियो मे सहायता करने का भी प्रलोभन दे रखा है। किन्तु, बडी शक्तियो की इस सदाशयता का वास्तविक उद्देश्य बहुधा यह रहा है कि बडा सख्या मे राज्य उनके आश्रित बने रहे ताकि विश्व मे प्रतिद्वन्द्वी रूप म कोई दूसरा राष्ट्र न खडा हो सके। यहाँ तक की बडी शक्तिया ने इन बातो को भी अपने अधीनस्थ रखा कि कौन-सा छोटा राज्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे *व्यक्ति रूप मे सामने आ सकता है, और यहाँ तक कि अन्तर्*राष्ट्रीय शान्ति को भग करने या हस्तक्षेप व निषेधाधिकार, आदि को वे पूर्णतया अपने अधिकार मे रखते थे और ऐसा वे इस परदे म किया करते थे कि यूरोपीय महाद्वीप मे शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने क उत्तरदायित्व का उन्हे ही निर्वाह करना है किन्तु वास्तविकता यह था कि यह सब आश्वासन और तर्क थोथे थे और इस आशय से गढे हुय थे कि युद्ध या आक्रमण की स्थिति म जो अस्त-व्यस्तता फैलेगी उससे कही कोई एक राज्य अकेले ही लाभ न उठा ले।

जहाँ तक राष्ट्रो की विधियो का सम्बन्ध है केल्सन ने लिखा है कि सयुक्त राष्ट्र के चार्टर म सिद्धान्त रूप से "सामूहिक सुरक्षा सयुक्त राष्ट्र सघ का मुख्य उद्देश्य है और चार्टर के प्रतिबन्धो को पढने से ज्ञात होता है कि इस उद्देश्य के पीछे बडे पाँच राज्यों की कोई ऐसी शक्ति नही है जो अपनी राजनैतिक सम्प्रभुता क प्रयोग करन की अनुमति अन्य सदस्य-राज्यो पर दे सके और यहाँ तक कि सयुक्त राष्ट्र सघ के असदस्य राज्यो के लिए भी यही बात है। अनुच्छेद १ म व्यवस्था दी गई है कि सयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखेगा और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह प्रभावकारी सामूहिक कार्यवाहिया क लिये दी जाने वाली धमकियो को रोकेगा तथा आक्रमण की कार्यवाहियो को दबायेगा तथा शान्तिभग होने की स्थिति को दूर करेगा और उस उद्देश्य की पूर्तिहेतु प्रभावकारी और सामूहिक कार्यवाहियाँ करेगा जिससे कि शान्ति पर होने वाले आघातो को रोका जा *सके और आक्रामक कार्यों का दबाया जा सके या शान्ति का भग करने वाली अन्य* स्थितिया पर अवरोध किया जा सके। चार्टर सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्यो का सामूहिक कार्यवाही क अतिरिक्त अन्य किसी भी रूप मे बल-प्रयोग करने से स्पष्टत: वर्जित करता है और अनुच्छेद २, पैराग्राफ ४ क अनुसार सयुक्त राष्ट्र व प्रयोजन की असगति म किसी भी प्रकार क प्रयोजन से वचन-बद्धता दी है। अनुच्छेद २४ उपबन्धित करता है कि सयुक्त राष्ट्र द्वारा तात्कालिक, समुचित और प्रभावकारी

कदम उठाये जाने का सुनिश्चय करने के उद्देश्य से इसके सदस्य सुरक्षा परिषद् को यह प्राथमिक उत्तरदायित्व सौंपते हैं कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखे। अनुच्छेद २५ यह भी उपबन्धित करता है कि सभी सदस्य-राष्ट्र इस चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् द्वारा शान्ति और सुरक्षा की दिशा में किये गये निर्णयों का पालन करने को सहमत हैं। यही नहीं, अनुच्छेद २, का पैराग्राफ ५, इस बात का भी उपबन्धित करता है कि वर्तमान चार्टर के अनुसार संयुक्त राष्ट्र द्वारा किये गये किसी भी कार्य में, सभी सदस्य उनकी सहायता करेंगे और ऐसे किसी भी राज्य को सहायता नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ कार्यवाही कर रहा है, या करना आवश्यक मान रहा है।

चार्टर के सर्दभित उपदन्धो के सम्बन्ध मे, जैसे अध्याय ६ जिसका सम्बन्ध झगडो की जाँच मे है, और अध्याय ७ जिसका सम्बन्ध सामूहिक सुरक्षा के पोषण से है, की पहले के प्रकरण म चर्चा की जा चुकी है। इसके आगे अनुच्छेद ५१ यहाँ उल्लेखनीय है, क्योंकि यह अनुच्छेद उपबन्धित करता है कि इस चार्टर का कोई भी तत्व किसी सदस्य-राष्ट्र को यदि उस पर आक्रमण किया जाता है तो उस समय तक व्यक्तिगत और सामूहिक आत्म प्रतिरक्षा के आत्मनिहित अधिकार से वंचित नहीं करेगा, जब तक कि सुरक्षा परिषद् ने ऐसे आवश्यक उपाय अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने की दिशा मे न लिया हो। आत्म प्रतिरक्षा के अधिकार की रक्षा की दिशा म उठाये गये सदस्य-राष्ट्रो के ये कदम तुरन्त ही सुरक्षा परिषद् के समक्ष प्रतिवेदित होंगे और इन कदमो का किसी भी प्रकार चार्टर के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् को प्रदत्त प्राधिकार और उत्तरदायित्व पर अन्यथा प्रभाव न पड़ेगा और परिषद् इस बात के लिये किसी भी समय प्राधिकृत है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के पोषण क लिये वह जो भी कार्यवाही उचित समझे, कर सके।

तथ्यो के अवलोकन से पता चलता है कि चार्टर मे कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है जिससे ५ महान् शक्तियाँ छोटे राज्यो पर जो कि राष्ट्र संघ क सदस्य हैं अपनी प्रभुता का प्रयोग कर सकें। शक्ति सतुलन के सिद्धान्त को पुनर्जीवित करने का प्रश्न नहीं उठता। क्योंकि जो भी कार्यवाही की जाने को है राष्ट्र-सङ्घ उन ५ महान शक्तियो के स्थान पर स्वत किया करता है। यही नहीं बल्कि ऐसी परिस्थितियाँ जब कि सामूहिक कार्यवाही की आवश्यकता आ पड़ती है, वैध धारणाओं पर निर्भर हैं जो कि जब कभी शान्ति भंग या आक्रमण के समय छोटी और बडी शक्तियो का कोई भेदभाव नहीं रखती। ऐसे सामूहिक कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने तथा फिर से स्थापित करने के लिये बडी शक्तियो मे से सभी के लिये अथवा सभी मे से एक के हित के लिये नहीं किये जाते।

संयुक्त राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा की संस्थापना में कोरिया, स्वेजनहर, कांगो आदि के प्रसंगों में अपने प्रयत्नों में सफल रहा है। स्वेज के मामले में अक्टूबर १६५६ के अन्त में, जब कि इजरायली द्वारा मिस्र-क्षेत्र पर आक्रमण किया गया था, और फिर उस आक्रमण का अनुगमन ऐंग्लो फ्रेंच आक्रमणों ने किया था संयुक्त राष्ट्र संघ ने आक्रमण को रिक्त कराया और पुनः शान्ति स्थापित की। सोवियत संघ भी हंगरी के आन्तरिक मामला में हस्तक्षेप करने से रुकने को इस विश्व संगठन द्वारा प्रेरित किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा लेबेनान और ग्रेट-ब्रिटेन द्वारा जुलाई १६५८ में जार्डन के मामलों में हस्तक्षेप के प्रसंग में भी इसी प्रकार से संयुक्त राष्ट्र संघ प्रभावकारी रहा। कांगो के संकट में अन्त-युद्ध के कारण छिन्न-भिन्न हुये राज्य को पुनः शान्ति व्यवस्थित करने में भी बहुत अधिक सफल रहा है।

क्षेत्रीय समझौते (Regional Pacts) —इस स्थान पर यह उपयुक्त होगा कि उन विभिन्न क्षेत्रीय समझौता का निर्देश किया जाय जिन्हें उनके पक्षकारों द्वारा विश्वशान्ति के आधार पर न्यायोचित ठहराया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर ऐसे क्षेत्रीय समझौता अथवा अभिकरणों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाता जो प्रादेशिक कार्यवाही के लिये उचित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना से सम्बन्धित विषयों के निपटाने के लिये हों, लेकिन प्रतिबन्ध यह है कि ऐसे प्रबन्ध अथवा अभिकरण संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयोजनों तथा सिद्धान्तों के अनुरूप हों (अनुच्छेद ५२)। इसमें संदेह नहीं कि चार्टर के अनुबन्ध सरल है क्योंकि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयोजनों तथा सिद्धान्तों से संगत प्रादेशिक गठबन्धों को दृष्टि में रखते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बचाने तथा संरक्षण करने के निमित्त मूलसंस्था की तुलना में सीमित संघ स्वीकृतियों पर अधिक महत्व दिया गया है। ये संघीकरण "शक्ति-सन्तुलन" के पुनरुत्थान सिद्ध हुये हैं, तथा इनके द्वारा विश्वव्यापी सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को अर्पित विश्वसंघ को निम्नतर स्तर में उतारा गया है।

'नाटो' या उत्तरी अटलांटिक संधि सङ्गठन (The North Atlantic Treaty Organization) :—यह अप्रैल ४, सन् १६४६ को बारह राज्यों द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में बीस वर्ष की प्रतिज्ञात अवधि के लिये इस आशय से हस्ताक्षरित किया गया कि प्रजातन्त्र, वैयक्तिक स्वतन्त्रता, तथा विधि के नियम पर आधारित उनकी जनता की स्वतन्त्रता, सामान्य पैतृकता तथा सभ्यता सुरक्षित रह सके। एन० ए० टी० ओ० के बारह मूल सदस्य बेल्जियम, कैनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, लक्जेमबर्ग, नीदरलैंड्स, नार्वे, पुर्तगाल, यूनाइटेड

किंगडम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका थे। ग्रीस तथा इटली फरवरी सन् १९५२ में सम्मिलित हुये। पश्चिमी जर्मनी का प्रवेश 'नाटो' परिषद् द्वारा मई ५ सन् १९५५ को प्राधिकृत किया गया।

संगठन इस शब्द के वास्तविक अर्थ में क्षेत्रीय प्रबन्ध नहीं है क्योंकि इसमें ऐसे देश सम्मिलित हैं जिनमें भौगोलिक प्रादेशिकता नहीं है, जैसे इटली, ग्रीस और टर्की। यह एक गठबन्धन है जिसका उद्देश्य साम्यवादी रूस का पश्चिम की ओर फैलना बन्द करना है तथा इस दृष्टि से यह एक आत्मरक्षा की पद्धति है अथवा मेल है। इसके अतिरिक्त यह एक सामूहिक सुरक्षा की पद्धति केवल उन्हीं भिन्न भिन्न राज्यों के आन्तरिक सम्बन्धों के विषय में है जिन्होंने परस्पर मेल कर रक्खा है। किन्तु जहाँ तक यह अन्य राज्यों अथवा राष्ट्रों की पद्धतियों के विरुद्ध लक्षित है, इसे सैनिक मेल के परिचित वर्ग में समझना चाहिये। यह बात उत्तरी अटलांटिक सधिपत्र के अनुच्छेद ५ में स्पष्ट कर दी गई है—"पक्षकार इस बात पर सहमत होते हैं कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका में उनमें से एक अथवा अधिक के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण उन सबके विरुद्ध आक्रमण समझा जायेगा। अतः वे इस बात पर सहमत होते हैं कि यदि इस प्रकार का सशस्त्र आक्रमण हो तो उनमें से प्रत्येक संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद ५१ द्वारा स्वीकृत वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग में, उस पक्षकार अथवा पक्षकारों को जिन पर इस प्रकार आक्रमण किया जाय, उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में सुरक्षा पुनः स्थापना करने तथा बनाये रखने के निमित्त ऐसी कार्यवाही करके जैसा वह आवश्यक समझे, जिसमें सशस्त्र बल-प्रयोग सम्मिलित है, वैयक्तिक रूप से तथा अन्य पक्षकारों के साथ मिल कर सहायता करेगा।

११ दिसम्बर १९५६ को १५ राज्यों के अटलांटिक पैक्ट कौंसिल के अधिवेशन में मिस्टर डलेस अमेरिका के राष्ट्र सचिव ने चेतावनी दी कि विश्व बहुत ही संकट-पूर्ण स्थिति में रहा है और सब अपनी सैनिक शक्ति बनाये रक्खें। निस्सन्देह इसका प्रयोग आवश्यकता पड़ने पर ही हो। तभी वे लोग इससे निश्चित रह सकते हैं कि लाल सेना के टैंक जो बुडापेस्ट में गये, वे पश्चिमी यूरोप में नहीं आयेंगे।

सन् १९४७ का रियो पैक्ट (The Rio Pact, 1947) --इसे "Inter-American Defence Treaty of Reciprocal Assistance", अर्थात् आन्तरिक अमरिका सुरक्षा एवं पारस्परिक सहायता सन्धि भी कहा जाता है। यह एक सामूहिक सुरक्षा नियम पत्र है जो चार्टर के अनुच्छेद ५१ के अन्तर्गत एक अनिश्चित काल के लिये किया गया है तथा जो पारस्परिक सहायता की अन्तर-अमरिकी संधि के नाम से प्रसिद्ध है। इस पर सितम्बर २ सन्

१६४७ को रियो डे जैनीरा मे हस्ताक्षर किये गये । यह सधि सभी अमेरिकीय राज्यो क लिये खुली हुई है । इस सधि न एक परामर्श का अग उत्पन्न किया है जिसमे हस्ताक्षर करने वाल राज्यो व जिन्हान सधि का सत्यापित किया है, दो-तिहाई मतो से निर्णय लिये जान हैं । अनुच्छेद ३ मे यह व्यवस्था की गई है कि किसी अमेरिकीय राज्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण अमेरिका के सब राज्यो के विरुद्ध आक्रमण समझा जायगा तथा उनमे स प्रत्यक न यह प्रतिज्ञा की है कि वह वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्मरक्षा व अधिकार क प्रयाग म उसका विरोध करने मे सहायता करेगा ।

डनर्क सधि (Dunkirk Treaty) —उत्तरी अटलाटिक क्षेत्र मे अन्य सधि डनकर्क सधि है जो फास तथा यूनाइटेड किंगडम के मध्य ४ मार्च सन् १६४७ को ५० वर्ष के लिये का गई । इसमे यह व्यवस्था की गई है कि (अ) जर्मनी द्वारा सशस्त्र आक्रमण किये जाने पर, (आ) जर्मनी द्वारा अग्रधर्षण सरल करने के लिए कार्यवाही किये जान पर या अग्रधर्षण की नीति धारण किये जाने पर, (इ) सयुक्त राष्ट्र सघ की सुरक्षा परिषद् द्वारा जर्मनी क विरुद्ध प्रवर्तक कार्यवाही किये जाने पर जर्मनी के साथ युद्ध छिडने की दशा मे हस्ताक्षर करने वाले अपनी शक्ति के अनुसार सब प्रकार की सैनिक तथा अन्य सहयोग तथा सहायता प्रदान करेगे । इसमे आर्थिक सहयोग के लिये निरन्तर परामर्श करने की व्यवस्था की गई है ।

सन् १६४८ की ब्रसेल्स की सधि (The Brussels Treaty, 1948) — आर्थिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक सहकारिता तथा सामूहिक आत्मरक्षा की सधि मार्च १७ सन् १६४८ को ब्रसेल्स मे ग्रेट ब्रिटेन, बेलजियम, फ्रास, लक्जमबर्ग तथा नीदरलैंड्स द्वारा पश्चिमी यूरोप मे सामूहिक सुरक्षा प्राप्त करने के हेतु हस्ताक्षरित की गई । सधि मे प्रतिज्ञा की अवधि ५० वर्ष है । सधि क अनुच्छेद ४ मे यह व्यवस्था की गई है कि "यदि उच्च सविदाकार पक्षकारो मे से कोई यूराप मे सशस्त्र आक्रमण का लक्ष्य हो तो अन्य उच्च सविदाकार पक्षकार सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर क अनुच्छेद ५१ क उपबन्धो के अनुसार उस पक्षकार का जिस पर आक्रमण किया जाय, यथाशक्ति सब प्रकार की सैनिक तथा अन्य सहायता देगा ।" पश्चिमी शक्तियो ने एक यूरोपीय परिषद् बनाई है जिसम परामर्श के लिये वैदेशिक मन्त्रियो की एक समिति है ।

योरोपीय सुरक्षा समुदाय (European Defence Community) — एक सधि जिसे योरोपीय रक्षा समुदाय कहते हैं, ६ देशो से निर्मित थी जिसम फ्रास, पश्चिम जर्मनी, इटली, नीदरलैंड्स, बेलजियम तथा लक्जमबर्ग थे । सधि पर २७ मई १६५२ को हस्ताक्षर किये गये । इसके अनुसार छहो देशो की एक सम्मिलित सुरक्षा सेना बनने को थी और यह सगठन नाटो मे पूर्ण एकाकी सगठन के रूप म

सम्मिलित होने को था। फ्रांस की पार्लियामेन्ट ने इस संधि को मानने से इन्कार कर दिया जिससे १९५४ में संधि विश्रंखलित हो गई।

ऐन्ज़ू पैक्ट (Anzus Pact) :—यद्यपि आरम्भ में संयुक्त राज्य अमेरिका किसी पैसिफिक सुरक्षा पैक्ट के विरुद्ध था जो कि नार्थ ऐटलांटिक ट्रीटी के समकक्ष हो, १९५० में एशिया में जो घटनाएँ घटीं उससे अमेरिका ने भी अपना विचार बदला। उस समय के अमेरिकी राष्ट्रपति ट्रूमन ने १८ अप्रैल १९५१ को एक वक्तव्य दिया जो कि संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड के बीच के सुरक्षा पैक्ट के सम्बन्ध में था और कहा कि "आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड की सरकारों ने आपस में और संयुक्त राज्य अमेरिका में एक ऐसी व्यवस्था का प्रस्ताव किया है जो संयुक्त राष्ट्र की चार्टर धारा ५१ और ५२ के अनुकूल है। इससे स्पष्ट होगा कि किसी सशस्त्र आक्रमण के समय में जो कि इनमें से किसी पर भी पैसिफिक क्षेत्र पर किया गया तो ये तीनों शक्तियाँ खतरे का मिल कर सामना करेंगी और प्रभावकारी और पारस्परिक सहायता को जारी रखते हुये सुरक्षा को दृढ़ रखेंगी।" जून १९५१ को यह स्वीकार कर लिया गया और सैन फ्रांसिस्को में १ सितम्बर १९५१ को इस पर हस्ताक्षर किये गये।

दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक प्रतिरक्षा संधि अथवा मनिला पैक्ट (South-East Asia Collective Defence Treaty or Manila Pact):— सन् १९५४ में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्र सचिव मिस्टर डलेस ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्यूनिस्टों का बढ़ना रोकने के लिये एक शान्तिपूर्ण प्रादेशिक गठबन्धन का प्रस्ताव किया। उसी साल सितम्बर के महीने में मनिला में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूज़ीलैंड, यूनाइटेड किंगडम, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा तीन एशियाई प्रदेश अर्थात् फिलिपाइन, थाईलैंड तथा पाकिस्तान सम्मिलित थे। सम्मेलन ने ८ सितम्बर सन् १९५४ को दक्षिणपूर्वी एशिया सामूहिक प्रतिरक्षा संधि स्वीकृत की तथा पक्षकारों ने यह प्रतिज्ञा की कि यदि किसी सदस्य पर आक्रमण किया जाय तो वे प्रतिरक्षा के लिये संयुक्त हो जायेंगे अथवा कोई अन्य क्षेत्र जो सदस्यों के एकमत से सहमत होने पर अपने सामान्य प्रतिरक्षा क्षेत्र में सम्मिलित कर लें। संधि के अन्तर्गत लाओस, कम्बोडिया तथा वीयतनाम का वह भाग जो कम्यूनिस्ट नहीं था, अर्थात् दक्षिणी वीयतनाम तथा इन्डाचीन के तीन राष्ट्रों की रक्षा का यह गठबन्धन एवं प्रतिरक्षा के लिये मेल है जिसमें नाटो (NATO) के सदृश कोई संयुक्त सैनिक बल नहीं है। संधि की प्रतिज्ञा की यद्यपि अनिश्चित काल के लिये है लेकिन एक वर्ष की नोटिस देने पर कोई भी पक्षकार परिषद से अलग हो सकता है।

अमेरिका-जापान पैक्ट (U. S.-Japanese Defence Pact) :— संयुक्त राज्य अमेरिका तथा जापान के बीच ८ सितम्बर सन् १९५१ को अनिश्चित काल के लिये एक संधि की गई जिसमे यह व्यवस्था की गई है कि यदि जापान पर बाहर से आक्रमण हो अथवा वाह्य शक्ति अथवा शक्तियो के अभिप्रेरणा अथवा हस्तक्षेप द्वारा किये गये भीषण रूप के क्रान्ति तथा उपद्रव हो तो जापान का सहायता प्रदान की जाय। इस संधि के अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका उपर्युक्त सम्भावनाओ मे तथा सामान्यतः सुदूर पूर्व मे शान्ति तथा सुरक्षा स्थापनार्थ भूमि, वायु तथा समुद्रीय बल को जापान मे तथा उसके चारो ओर लगाने का अधिकार रखता है। जापान संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वीकृति बिना पहले प्राप्त किये किसी तीसरी शक्ति को अड्डे बनाने अथवा सेना रखने अथवा यातायात का अधिकार नही दे सकता।

बाल्कन पैक्ट (Balkan Pact) :—६ सितम्बर सन् १९५४ को २० वर्ष की प्रतिज्ञा की अवधि के लिए ग्रीस, टर्की तथा यूगोस्लेविया के मध्य संधि हुई तथा उसमे एक अथवा अधिक हस्ताक्षर करने वालो के विरुद्ध सैनिक अप्रघर्षण की दशा में सैनिक तथा अन्य सहायता देने की व्यवस्था की गई है।

फ्रांस तथा लीबिया के मध्य मैत्री संधि (Treaty of Friendship between France and Libya) :—उत्तरी अफ्रीका के प्रदेश मे १० अगस्त १९५५ को मित्रता की संधि की गई तथा उसमे उस क्षेत्र मे युद्ध अथवा युद्ध की धमकी की दशा मे सब प्रकार की सैनिक तथा अन्य सहायता की व्यवस्था की गई। संधि मे फ्रान्स को कुछ सुविधायें देने की व्यवस्था उपलक्षित है। संधि की अवधि २० वर्ष की है किन्तु यह १० वर्ष के उपरान्त पुन. समीक्षा की जाने को है।

इजिप्ट-सीरिया प्रतिरक्षा पैक्ट (Egypt-Syria Defence Pact) :— यह गठबन्धन २० अक्तूबर सन् १९५५ को पांच वर्ष के लिये किया गया। इसमे सशस्त्र आक्रमण की दशा में समस्त प्रकार की सैनिक तथा अन्य सहायता की व्यवस्था की गई है। एक सर्वोच्च परिषद् संगठित की गयी है जिसमे दोनो सरकारो के वैदेशिक तथा प्रतिरक्षा मन्त्री होगे और उसके साथ एक युद्ध-परिषद् होगी जिसमें दो चीफ्स आफ स्टाफ होगे जो सर्वोच्च परिषद् के लिये एक परामर्शदात्री संस्था होगी। इसमे सब उपलब्ध सैन्य बलो के लिये एक संयुक्त कमान (Joint Command) की व्यवस्था है।

सामूहिक सुरक्षा की सोवियत पद्धति (The Soviet System of Collective Security) :—कम्यूनिस्ट देश भी द्विपक्षीय संधियो की श्रेणी मे आबद्ध हैं जो पश्चिमी बहुमुखी संविदाओ मे भिन्न हैं। इस प्रकार सोवियत संघ प्रायः

सभी कम्यूनिस्ट देशों से पारस्परिक सहायता की संधियों से सबद्ध है, उदाहरणार्थ यूगोस्लेविया, पोलैंड, रूमानिया, जेकोस्लावाकिया, हङ्गरी, बलगेरिया तथा पोलैंड और ये देश स्वय पारस्परिक सहायता के पैक्टो से सम्बद्ध हैं। इन द्विपक्षीय संविदाओं से सोवियत सघ तथा उसके अनुयायियों के मध्य मास्को के लिये केवल एक लाइन ही स्थापित नहीं हो जाती वरन् ये लाइनें मकड़ी के जाले के समान इसी प्रकार की अन्य संधियों से पार करती हैं जिससे "जनता के प्रजातन्त्र" परस्पर सम्बद्ध हो जाते हैं। (Svarlien : Introduction to the Law of Nations, p. 318).

मित्रता सम्बन्ध तथा पारस्परिक सहायता की संधि (Treaty of Friendship, Alliance and Mutual Assistance) —यह संधि यू० एस० एस० आर० तथा सेंट्रल पीपुल्स गवर्नमेंट आफ चाइना के मध्य १४ फरवरी सन् १९५० को ३० वर्ष की अवधि के लिये की गई। इसमें जापान अथवा जापान के मित्र किसी अन्य राष्ट्र द्वारा सशस्त्र आक्रमण की दशा में पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता की व्यवस्था की गई है।

वारसा सन्धि अथवा पूर्वीय यूरोपीय सन्धि संघ (Warsaw Treaty or East European Treaty Organization) —मई १४, १९५५ को वारसा में एक पूर्वीय यूरोपीय संधि सघ का जन्म नियमित रूप से हुआ जब आठ यूरोपीय राज्यों के बीच जिनको पीपुल्स रिपब्लिक आफ चाइना का समर्थन प्राप्त था, मित्रता-सहयोग तथा पारस्परिक सहायता के निमित्त बीस वर्ष की अवधि के लिये संधि सपादित की गई। इसके सदस्य अल्बेनिया, बल्गेरिया, जेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैंड, रूमानिया तथा यू० एस० एस० आर० है। संधि में उस पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों के सैन्यबलों के संयुक्त कमान की व्यवस्था की गई है। आठ देशों के सैन्यदलों के संयुक्त कमान का मुख्यालय (headquarter) मास्को में होगा तथा उसके सर्वोच्च पदाधिकारी सोवियत सघ के मार्शल आई० एस० कोनोव होंगे। हस्ताक्षर करने वाले देशों के प्रतिरक्षा मंत्री अथवा अन्य सेनानायक डिप्टी कमांडर इन चीफ नियुक्त किये गए तथा उनको अपने-अपने देश द्वारा संयुक्त कमान में दिये गये सैन्यबलों का समादेशक नियुक्त किया गया।

अमेरिका-फिलिपाइन्स पारस्परिक प्रतिरक्षा संधि (U. S. Philippines Mutual Defence Treaty) —सयुक्त राज्य अमेरिका तथा फिलिपाइन्स के बीच ३० अगस्त सन् १९५१ को संधि सम्पादित हुई तथा इसमें व्यवस्था की गई है कि पैसिफिक क्षेत्र में अथवा किसी भी पक्षकार पर सशस्त्र आक्रमण की स्थिति में पारस्परिक सहायता प्रदान की जाय। संधि अनिश्चित अवधि के लिये है।

अरब लीग (Arab League) :—यह अरब राज्यों का एक मंडल है जो २२ मार्च सन् १९४५ को अनिश्चित काल की अवधि के लिए बनाया गया था। इसका उद्देश्य अरब देशों की परस्पर एकता को बनाये रखना है। लीग के सदस्य इजिप्ट, ईराक जोर्डन, सऊदी अरब, सीरिया, लेबनान, येमेन तथा लीबिया हैं। यह एक क्षेत्रीय पद्धति है जो आर्थिक तथा सांस्कृतिक सहयोग तथा सामूहिक आत्म-रक्षा के लिये संगठित की गई है। यह संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अन्तर्गत संविदाकार पक्षकारों पर पड़ने वाले किसी भी अधिकार तथा कर्तव्यों को किसी प्रकार से प्रभावित नहीं करती।

बगदाद पैक्ट (Baghdad Pact) —यह गठबन्धन मध्यपूर्व प्रदेश में सुरक्षा स्थापनार्थ हुआ। यह २४ फरवरी सन् १९५० को सम्पादित हुआ और इसके सदस्य ईराक, टर्की, यूनाइटेड किंगडम, पाकिस्तान तथा ईरान थे जिनमें यूनाइटेड किंगडम सबमे अधिक शक्तिशाली था। संधि की अवधि पाँच वर्ष है किन्तु संधि पुनः नवीन की जा सकती है। इसमे संविदाकार पक्षकारों में से एक या अधिक के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण अथवा उसकी धमकी की स्थिति में पारस्परिक सैनिक सहायता की व्यवस्था की गई है। इनका उद्देश्य इन प्रदेश से सोवियत संघ के प्रभाव को छुड़ाना था किन्तु इस गठबन्धन द्वारा सोवियत संघ का ध्यान मध्यपूर्व मे और अधिक आकर्षित हुआ है तथा यह एक बड़ा कारण बना जिससे पश्चिमी एशिया के देश परस्पर ही एक दूसरे से भिड़ गये है। मिस्र ने इस गठबन्धन का विरोध इस आधार पर किया है कि अरब संसार की प्रतिरक्षा अरब देशों की सामूहिक सुरक्षा गठबन्धन से निकलनी चाहिये जिसमे बड़ी शक्तियों को भाग न लेना चाहिये तथा यह कि अरबों को ऐसा कोई मेल स्वीकार न करना चाहिये जो सामूहिक सुरक्षा गठबन्धन के क्षेत्र से बाहर जाता हो। मिस्र ने यह दावे के साथ व्यक्त किया कि बगदाद पैक्ट ने ईराक को यथार्थ में ब्रिटेन का उपनिवेश तथा ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र का भाग बना दिया है।

१९५८ की जुलाई के मध्य म ईराक गणतन्त्र घोषित हुआ और जनरल नूरी एल सईद के शासनतन्त्र से मुक्त हुआ। ईराक की नयी सरकार ने २४ मार्च १९५९, को बगदाद पैक्ट से अलग होने की घोषणा भी कर दी।

बगदाद पैक्ट का नाम अब बदलकर केन्द्रीय संधि संगठन अर्थात् "Central Treaty Organization" कर दिया गया है। यह परिवर्तन ईराक के पैक्ट से अलग हो जाने के कारण हुआ है। इस परिवर्तन को सदस्य देशों ने अगस्त १९५९ मे स्वीकार कर लिया।

संयुक्त राज्य अमेरिका और टर्की तथा ईरान और पाकिस्तान के बीच सैनिक सहायता समझौता —नैटो, सीटो, ऐन्ज़ू और बहुपक्षीय सैनिक

संधियों के अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका एक प्रकार से द्विपक्षीय समझौतो (Bilateral Pacts) का भी नेतृत्व करता है जिसमे समझौते के अन्तर्गत आने वाले राज्य को आवश्यकता के समय मे अमेरिका को ओर से सहायता की शर्त रहती है। संयुक्त राज्य अमेरिका इस प्रकार के द्विपक्षीय समझौता में मुख्यतः राष्ट्रवादी चीन, कोरिया, जापान, फिलिपाइन्स और पाकिस्तान के साथ सम्मिलित हुआ है

तथ्यो के अध्ययन और प्रलेखो के अवलोकन से पता लगता है कि सबसे निकटवर्ती समझौते के आधार पर संयुक्त राज्य अमेरिका पाकिस्तान को केवल आर्थिक और सैनिक सहायता ही नही करते रहेंगे, बल्कि उसको प्रार्थना पर पाकिस्तान की सरकार को संयुक्त राज्य की सेना की भी सहायता मिलेगी किन्तु यह सहायता पाकिस्तान पर बाहरी आक्रमण के समय होगी।

आर्थिक और राजनैतिक सहकारिता

वेनेलक्स (Benelux) :—आर्थिक और राजनैतिक सहकारिता के द्वारा भी शान्ति स्थापित करने के प्रयत्न बेलजियम, नीदरलैंड और लक्जेम्बर्ग के बीच समझौते द्वारा हुए है जिसे वेनेलक्स कहते हैं।

यूरोपीय आर्थिक सहकारिता संघ (Organization of European Economic Co-operartion) :—इस सङ्गठन को ओईसी (O. E. E. C.) क नाम से पुकारते हैं। यह १९४८ मे यूरोपीय राज्यो के कार्यों को मार्शल प्लान के साथ एकबद्धता मे बाँधन क लिये किया गया था। इसका मुख्य कार्य EPU अर्थात् European Payments Union के रूप मे दिखाई पड़ता है।

अमेरिकी राज्यों का संघ (The Organization of American States) :—इसे OAS भी कहते हैं। बगोटा की बैठक मे १९४८ मे पान-अमेरिकी संघ तथा अमेरिकी गणतन्त्र के बीच व्यापार की उन्नति के लिये किया गया था। OAS सदस्यो को आर्थिक, वैध और सास्कृतिक क्षेत्र मे तकनीकी सहायता प्रदान करता है।

शूमन प्लान या यूरोपीय कोयला व लोहा समुदाय (The Schuman Plan or the European Coal and Steel Community)—६ मई १९५० को फ्रास की ओर से प्रस्ताव किया गया कि यूरोप मे कोयले और लोहे से संबन्धित समुदाय पर राजनीतिक नियन्त्रण रखा जाय। १८ अप्रैल १९५१ को पेरिस मे फ्रास, जर्मनी के संघीय गणतन्त्र, इटली, बेलजियम, नीदरलैंड और लक्जेमबर्ग के बीच समझौते पर हस्ताक्षर किया गया।

कोलम्बो योजना (The Colombo Plan) :—यह एक क्षेत्रीय समझौता है जो ऐशिया के देशों के बीच में ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्यों को सम्मिलित करते हुये तकनीकी सहायता हेतु किया गया है।

परिणाम (Conclusion) —मिश्र में इसरायल और आंग्ल-फ्रांसीसी तथा हंगरी में रूसी सेनाओं के आक्रमण के कारण जो हाल में दुःखद घटनायें हुई हैं उनसे सैनिक मैत्री तथा गठबन्धनों की निरर्थकता स्पष्ट रूप से स्थापित हो गई है। जन-सम्मति ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया कि प्रत्येक अग्रघर्षक को उपर्युक्त देशों से पीछे हटना पड़ा। पंडित नेहरू ने २० दिसम्बर सन् १९५६ को न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र संघ की सभा में भाषण देते हुए कहा कि विश्व की सम्मति, जो मुख्यतः संयुक्त राष्ट्र संघ की सभा तथा अन्य स्थानों में प्रकट हुई है, एक प्रमुख तथ्य है जो भविष्य में सम्भवतः किसी राष्ट्र द्वारा सदाचार के पथ से इस प्रकार के अतिक्रमण को रोकेगे तथा प्रत्येक देश को चाहे वह सबल हो अथवा निर्बल, विश्व-सम्मति को क्रुद्ध करने वाले किसी कार्य को करने के पूर्व दो बार विचार करना पड़ेगा। अपने भाषण को जारी रखते हुए उन्होंने कहा कि यह भारत का लक्ष्य है जैसा प्रत्येक विवेकयुक्त व्यक्ति का होना चाहिए कि विश्व में शान्ति रहे। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि 'शीतयुद्ध' नहीं होना चाहिये। यदि हम 'शीतयुद्ध' नहीं चाहते तो उसका अवश्यम्भावी परिणाम यह है कि हमको अपने शान्ति के विचार को पुराने सैनिक संस्थापनों, गठबन्धनों तथा मेलों पर आश्रित न रखना चाहिये।

'शीतयुद्ध' का परिणाम यह हुआ है कि राज्यों के बड़े-बड़े सैनिक गुट बन गये हैं जिनमें से प्रत्येक अपने को प्रतिरक्षा का गुट कह कर दूसरे से भयभीत रहता है। इस प्रकार के किसी भी प्रतिरक्षा गुट की प्रवृत्ति यह होती है कि उनके परिणामस्वरूप अन्य देशों के मस्तिष्क में आक्रमणकारी गुट का प्रभाव उत्पन्न होता है तथा दोनों गुट एक दुश्चक्र (vicious circle) में पड़ जाते हैं।

छोटे राज्य बड़ी शक्तियों से भयभीत रहते हैं जब कि बड़ी शक्तियाँ सुरक्षा सम्बन्धी विषयों को संयुक्त राष्ट्र संघ की परिधि के बाहर विशेष सम्मेलनों में विवेचना करती हैं। यह आलोचना मान्य है कि बड़ी शक्तियाँ सैनिक मैत्री करके संयुक्त राष्ट्र संघ को कतराकर निकल जा रही हैं। प्रादेशिक गठबन्धनों का सामान्यतः यह लक्ष्य होना चाहिये कि वे उन समस्याओं की विवेचना करें जो एक विशेष प्रदेश में समान हों तथा उसमें उन शक्तियों को सम्मिलित न करना चाहिये जो भौगोलिक प्रादेशिकता के लिए विदेशी हों। जीवन का स्तर उच्च करने के लिये अथवा मानवीय कल्याण के लिये जो गठबन्धन हैं जैसे Benelux तथा

an अथवा कोलम्बो योजना ठीक दिशा मे है तथा प्रोत्साहन के

मत्री पडित नेहरू ने इस विचार पर विशेष महत्व दिया कि शांत विश्व की आवश्यकता पचशील मे विश्वास रखने मे है। सिद्धान्त जो इसमे समावेशित हैं वे ये हैं :—प्रत्येक के प्रादेशिक एकय तथा सार्वभौमिकता के लिये पारस्परिक समादर, अग्रधर्षण न करना, प्रत्येक के आन्तरिक मामलो मे हस्तक्षेप न करना, समानता, पारस्परिक लाभ तथा शान्तिपूर्वक साथ-साथ रहना। नाटो (NATO), सामूहिक सुरक्षा की रूमी पद्धति, सयुक्त राज्य अमेरिका का पाकिस्तान के साथ सहायता का गठबन्धन अथवा बगदाद पैक्ट के रूप में गठबन्धन शान्ति के दूत नही हैं वरन् यह विचार किया जाता है कि उनसे युद्ध का बीज-वपन ही अधिक होता है।

अध्याय २६

नि:शस्त्रीकरण

(Disarmament)

आज नि.शस्त्रीकरण की समस्या ने अत्यधिक प्रमुखता प्राप्त कर ली है। इसके कारण हैं युद्ध के नवीन शस्त्रो के आविष्कार। आग्नेय और विषैले शस्त्र विनाशकारी हैं। यहां तक कि तापवृष्टि (thermo-nuclear) विस्फोट से मानव जाति ही का समूलोच्छेद हो सकता है। नि शस्त्रीकरण की समस्या ने आज विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया है। प्रश्न है कि भावी मानव-सन्तान को युद्ध के भयकर उत्पात से किस प्रकार बचाया जाय।

सैन्यदलो का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण तथा उनको कम करने का विचार सर्व-प्रथम सन् १८९९ मे रूस के जार द्वारा आमन्त्रित एक शान्ति-सम्मेलन मे उठाया गया। शान्ति-सम्मेलन की सरक्षिता मे नियुक्त की गई विशेषज्ञो की एक समिति ने यह प्रतिवेदन किया कि वह सेना तथा नौसेना के कम करने के विषय में सहमति प्राप्त करने के अपने प्रयासों में असफल रही है। दूसरा शान्ति-सम्मेलन जो सन् १९०७ मे बुलाया गया वह शस्त्रों के कम करने के सम्बन्ध में एकमत नही हो सका।

लीग आफ नेशन्स :—प्रथम विश्वयुद्ध ने नि:शस्त्रीकरण प्राप्त करने की परमावश्यकता को सामने रक्खा। लीग के प्रतिज्ञा पत्र के अनुच्छेद ८ में यह स्वीकार

किया गया है कि शान्ति की स्थापना मे यह अपेक्षित है कि राष्ट्रीय अस्त्र-शस्त्रो को राष्ट्रीय सुरक्षा की दृष्टिकोण से जितना कम हो सके उतना कम किया जाय। लीग-परिषद् से यह अपेक्षा की गई कि वह बिभिन्न सरकारो के विचार के लिये तथा कार्यरूप मे परिणत करने के लिये इस प्रकार कमी किये जाने की योजनाये बनावे। लीग के सदस्यो ने यह प्रतिज्ञा की कि वे अपने अस्त्र-शस्त्रो के परिमाण अपने सैनिक, नौसैनिक तथा हवाई कार्यक्रमो तथा अपने ऐसे उद्योगो की दशा के सम्बन्ध मे जो युद्ध सदृश प्रयोजनो के लिये उपयोग मे लाये जा सकते हैं, सूचनाओ का परस्पर पूर्ण और स्पष्ट आदान-प्रदान करेंगे। निश्चय किया गया था कि अपेक्षित स्वीकृतियो की पूर्ति के लिये परिषद् को मत्रणा देने के लिये एक आयोग निर्मित किया जाय।

सन् १६२१ मे नियुक्त किये गये एक आयोग ने यह सिद्धान्त निर्धारित किया कि कोई योजना उस समय तक कार्य नही कर सकती जब तक कि प्रत्येक राष्ट्र उसमे सहयोग न दे। ऐसा निश्चय किया गया कि सभी राष्ट्रो को प्रत्येक ऐसे देश की सहायता करनी चाहिये जिस पर किसी अन्य देश ने आक्रमण कर दिया है। ये सिद्धान्त लीग सभा द्वारा सन् १६२२ मे स्वीकृत किये गये तथा एक पारस्परिक सहायता की प्रस्तावित सधि का मसौदा सन् १६२३ मे सैनिक रहस्यो को पूर्णरूप से प्रकट करने, सदस्यो की सर्वव्यापकता, सामूहिक सुरक्षा इत्यादि के आधार पर तैयार किया गया। किन्तु यूरोप के राष्ट्रो के लिये संधि के मसौदे में दी गयी ऐसी प्रबल आकाक्षापूर्ण योजना पर सहमत होना कठिन था, अस्तु लीग आफ नेशन्स के समाप्त होते ही यह योजना लुप्त हो गई।

जेनेवा सम्मेलन :—सन् १६३२ मे ६१ राष्ट्रों का सम्मेलन जेनेवा मे हुआ जिसमे कुछ शस्त्रो के निषेध जैसे वायुयानो से गिराये जाने वाले बमों अथवा गुब्बारो, शस्त्रो को सीमित करने की आवश्यकता, शस्त्र के कारबार के अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण तथा शस्त्र सम्बन्धी बजटो के प्रकाशन के सम्बन्ध मे सहमति प्राप्त हुई, किन्तु भिन्न-भिन्न राष्ट्र अपनी-अपनी स्वीकृतियो को कार्यरूप मे पूर्ण करने में असफल रहे।

जब लीग को पता चला कि जर्मनी पुनः शस्त्रीकरण के लिये उन्मत्तता से प्रयास कर रहा है तो उसने नि.शस्त्रीकरण-वृद्धि के अपने प्रयत्न त्याग दिये।

संयुक्त राष्ट्र संघ :—द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी वार्तालाप सयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर तथा बाहर समुचित उत्साह के साथ चलता रहा। सयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद २६ मे सुरक्षा परिषद् को यह प्राधिकृत किया गया है कि वह शस्त्रों को नियमित करने के लिये एक पद्धति स्थापित

करने के निमित्त योजनायें बनावे जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को निवेदित की
जाये । चार्टर के हस्ताक्षरित किये जाने के शीघ्र ही उपरान्त तथा द्वितीय विश्व-
युद्ध की समाप्ति के ठीक पहले अणुबम के आविष्कार ने निःशस्त्रीकरण के प्रश्न को
और भी अधिक महत्व दे दिया ।

आणविक शक्ति आयोग —(Atomic Energy Commission):—
संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा ने जनवरी २४ सन् १९४६ को आणविक
शक्ति को शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के निमित्त नियन्त्रण तथा राष्ट्रों द्वारा उल्लंघन तथा
कपट से बचाने के निमित्त निरीक्षण रूप से प्रभावपूर्ण सुरक्षा के हेतु सुझाव देने के
लिये एक आणविक शक्ति आयोग स्थापित किये जाने के लिये एक प्रस्ताव स्वीकृत
किया । दिसम्बर ३१ को अपने प्रथम प्रतिवेदन में आयोग ने यह व्यक्त किया कि
आणविक शक्ति के नियन्त्रण की प्रभावपूर्ण पद्धति अन्तर्राष्ट्रीय होनी चाहिये
तथा एक प्रवर्तक बहुपक्षीय संधि अथवा प्रतिज्ञा-पत्र द्वारा स्थापित होनी चाहिये
जो अपनी बारी में संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर स्थित एक अन्तर्राष्ट्रीय अंग अथवा
अभिकरण द्वारा अधिशासित तथा संचालित हो ।

सितम्बर ११ सन् १९४७ को आयोग ने सुरक्षा परिषद् को अपना दूसरा
प्रतिवेदन निवेदित किया तथा आणविक शक्ति के नियन्त्रण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय
अभिकरण के कृत्य तथा शक्तियों पर विशिष्ट सुझावों की रूपरेखा दी जिनमें निम्न-
लिखित आधारभूत सिद्धान्त प्रकट किये गये हैं :—

(१) आणविक शक्ति के उत्पादन तथा प्रयोग सम्बन्धी निर्णय राष्ट्रों के
हाथों में नहीं छोड़ने चाहिये ।

(२) आणविक शक्ति के उत्पादन तथा प्रयोग सम्बन्धी नीतियाँ जो वास्तव
में विश्व की सुरक्षा को प्रभावित करती हो उन सिद्धान्तों के अनुशासित होनी चाहिये
जो संधि अथवा प्रतिज्ञा पत्र में स्थापित हों जिनको अभिकरण को पूर्ण करने के
लिये बाध्य होना पड़ेगा ।

(३) राष्ट्र संधि या अभिसमय में प्रतिज्ञा करें कि वे अभिकरण को अपने
राज्य-क्षेत्र के किसी भी हिस्से का निरीक्षण करने का अधिकार देते हैं, भले ही यह
निरीक्षण उचित प्रक्रियात्मक आवश्यकताओं और सीमाओं से प्रतिबन्धित हो ।

सन् १९४८ में साधारण सभा ने आयोग के प्रतिवेदनों पर विचार किया
तथा ४ नवम्बर सन् १९४८ को यू० एस० एस० आर० का यह प्रस्ताव अस्वीकृत
कर दिया कि आणविक शस्त्रों का निषेध तथा आणविक शक्ति पर प्रभावपूर्ण
अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापना के लिये एक प्रतिज्ञा-पत्र का मसौदा तैयार किया
जाय । सभा ने आयोग के सामान्य नियमों को स्वीकृत किया । मुख्य कठिनाई यह

है कि संयुक्त राज्य अमेरिका अपने अधिकार मे इस समय तक बनाये गये जितने बम हैं उनको छोड़ने तथा अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की प्रतिभूति दिये बिना उनका बराबर उत्पादन जारी रखने का कार्य रोकने के लिये उद्यत नही है। दूसरी ओर रूस अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की योजना मे स्वीकृत करने के लिये प्रस्तुत नही है जो उसके अनुसार सार्वभौमिकता के सिद्धान्त के लिये अपमानजनक है।

साधारण सभा ने नवम्बर २३ सन् १६४६ को सरकारो से कहा कि वे आणविक शस्त्रो का प्रभावपूर्ण निषेध करने तथा उन्हे हटाने का प्रयास करे। इसने आयोग के स्थायी सदस्यो मे निवेदन किया कि वे अपने परामर्श जारी रक्खे तथा आयोग और सभा को अपनी प्रगति से अवगत कराते रहे।

साधारण सभा के सन् १६५० के पाँचवें अधिवेशन मे बारह व्यक्तियो की एक समिति इस विषय पर विचार तथा प्रतिवेदन करने के निमित्त गठित की कि आणविक शक्ति आयोग तथा लौकिक शस्त्र आयोग का कार्य किस प्रकार एकीकृत किया जाय। बारह की समिति ने सितंबर २८ सन् १६५१ को यह संस्तुति की कि आणविक शक्ति आयोग तथा लौकिक शस्त्र आयोग को सौंपे गये कार्य को आगे बढाने के लिये सभा एक नया आयोग स्थापित करे और यह कि नये आयोग की स्थापना होने पर ये दोनो आयोग लुप्त हो जाँय।

शस्त्रों का नियमन तथा न्यूनीकरण :—दिसम्बर १४ सन् १६४६ को साधारण सभा ने संस्तुति दी कि सुरक्षा परिषद् शस्त्रो तथा सेनाओ को तत्काल सामान्य नियमन और न्यूनकरण के लिये आवश्यक व्यावहारिक उपायो पर विचार करे। सभा ने यह भी संस्तुति दी कि सुरक्षा परिषद् चार्टर के अनुच्छेद ४३ मे यथा व्यवस्थित सैन्यबल को अपने अधीन रखने के उपायो को शीघ्रता से लागू करे। उपर्युक्त उद्देश्य-प्राप्ति के लिये सुरक्षा परिषद् ने १३ फरवरी सन् १६४७ को एक आयोग लौकिक शस्त्रो के सम्बन्ध मे बनाया। अगस्त १२ सन् १६४८ को आयोग ने दो प्रस्तावो को स्वीकृत किया। प्रथम मे सुझाव था कि सामूहिक विनाश के शस्त्रो की परिभाषा मे स्वयं विस्फोटक शस्त्र, शस्त्र जिनमे रेडियो क्रियाशील पदार्थ हो, प्राणघातक रासायनिक तथा कीटाणु शस्त्र सम्मिलित होने चाहिये। दूसरे प्रस्ताव मे शस्त्रो तथा सैन्यबलो के नियमन तथा न्यूनकरण को अधिशासित करने वाले निम्नलिखित सामान्य सिद्धान्त समावेशित थे —

(१) शस्त्रो तथा सैन्यबलो के नियमन तथा न्यूनकरण सम्बन्धी किसी भी पद्धति मे समस्त राष्ट्र अन्तर्गत होने चाहिये।

(२) ऐसी पद्धति को प्रभावपूर्ण बनाने के निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास तथा सुरक्षा होनी चाहिये, किन्तु शस्त्रो का नियमन तथा न्यूनकरण और विश्वास की विद्यमानता परस्पर सम्बद्ध हैं।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास तथा सुरक्षा के लिये आवश्यक शर्तों मे चार्टर के अनुच्छेद ४३ क अन्तर्गत स्वीकृतियो की एक पर्याप्त पद्धति, आणविक शक्ति का प्रभावपूर्ण नियन्त्रण तथा जर्मनी और जापान के साथ व्यवस्था सम्मिलित हैं।

(४) चार्टर क अनुच्छेद २६ के अनुरूप होने के लिये ऐसी पद्धति के अन्तर्गत तथा सैन्यबल को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना हेतु जितना सङ्गत हो तथा परित्याग करने योग्य न हो, उतने ही पर सीमित कर देना चाहिये तथा उनको सदस्यो के कर्त्तव्यो को पूर्ण करने और चार्टर के अन्तर्गत उनके अधिकारो के सरक्षण के लिये जितना आवश्यक हो, उससे अधिक न होना चाहिये।

(५) इनका पालन निश्चित करने के लिये ऐसी पद्धति मे पर्याप्त बचाव देना चाहिये जिसमे अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की एक स्वीकृत पद्धति भी सम्मिलित है।

(६) उल्लघन की दशा मे प्रभावपूर्ण प्रवृत्ति के लिये व्यवस्था होनी चाहिये।

दिसम्बर ५ सन् १६४६ को सभा ने सदस्य-राष्ट्रो द्वारा अपने लौकिक शस्त्रो तथा सैन्य बलो के सम्बन्ध मे पूर्ण सूचना निवेदित तथा सत्यापित करने का आयोग के प्रस्तावो को स्वीकृत किया।

सन् १६५० म साधारण सभा की पाँचवे अधिवेशन के मध्य कोरिया का युद्ध जारी था तथा "प्रतिरक्षा उपाय" के रूप मे शस्त्रो के ढेर पर ढेर लग रहे थे। सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमे अग्रधर्षक के विरुद्ध तत्परता से कार्यवाही करने को कहा गया था तथा जैसा पहले कह दिया गया है बारह व्यक्तियो की एक समिति इस बात को विचार करने तथा दूसरे अधिवेशन मे प्रतिवेदन करने के लिये स्थापित की गई कि आणविक शक्ति आयोग तथा लौकिक शस्त्र आयोग के कार्य को एकीकृत करने के लिये क्या रीति तथा साधन उपयोग मे लाये जाँय तथा क्या वे इस बात पर सम्मति देगे कि उनके कृत्य परस्पर मिला दिये जाँय तथा एक नये और एकीकृत नि शस्त्रीकरण आयोग के अन्तर्गत कर दिये जाँय।

बारह व्यक्तियो की समिति न सितम्बर २८ सन् १६५१ को छठवी सभा से सस्तुति की कि दोनो आयोगो के कार्य का आगे बढाने के लिये एक नया नि शस्त्रीकरण आयोग स्थापित किया जाय तथा यह कि नये आयोग के स्थापित

होने पर दोनो आयोग विसर्जित कर दिये जाँय। सभा ने जनवरी सन् १६५२ मे फ्रांस, यूनाइटेड किंगडम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का यह सिद्धान्त स्वीकृत किया जिसमें नये आयोग के पथ-प्रदर्शन के लिये कुछ सिद्धान्तो के सुझाव दिये गये थे। रूस का यह संशोधन अस्वीकृत कर दिया गया कि सब आणविक संस्थापनो का तत्काल निरीक्षण किया जाय तथा सामान्यत: एक-तिहाई शस्त्र घटा दिये जाँय।

नये नि:शस्त्रीकरण आयोग का अधिवेशन फरवरी ४ सन् १६५२ मे हुआ तथा निम्नलिखित विषयो के अध्ययन के लिये एक फ्रांसीसी योजना स्वीकृत की गई जैसे सब शस्त्र तथा सैन्यबलो का प्रकटीकरण तथा सत्यापन जिसमे आणविक तथा अन्य सामूहिक विनाशकारी शस्त्रो का हटा देना सम्मिलित है तथा इस हटा दिये जाने को निश्चित करने के लिये नियन्त्रण, सामान्य शस्त्रो की परिमितता तथा समझौता के गोपनीय उल्लघन को रोकने के लिये नियन्त्रण भी हैं। कार्य की योजना पर सहमति होने पर भी आयोग इस बात पर एकमत नही हो सका कि कार्यों का क्रम (order of steps) क्या रहे।

सामान्य सभा के सुझाव पर मई तथा जून सन् १६५४ मे लन्दन मे प्रमुख रूप से सम्बन्धित पाँच राष्ट्रो अर्थात् कैनाडा, फ्रांस, यू० एस० एस० आर०, यूनाइटेड किंगडम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के जो स्थायी सदस्य भी हैं के प्रतिनिधियो की एक बैठक एकमत से समस्या का हल ज्ञात करने के लिये हुई। इसका परिणाम उत्साहजनक नही हुआ। नवम्बर ४ सन् १६५४ को सभा ने एकमत से पाँचो शक्तियो के पुनः वार्तालाप के लिए एक प्रस्ताव पारित किया। सन् १६५५ मे वार्तालाप पुनः आरम्भ की गई। सोवियत सङ्घ ने न्यूक्लियर (अणु) अस्त्रो (nuclear weapons) के निषेध तथा अधिक से अधिक सेनायें तथा लौकिक शस्त्रो के रक्खे जाने के सम्बन्ध मे संयुक्त रूप से कार्य करने के विषय मे एक योजना प्रस्तुत की। इस योजना के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस तथा कम्यूनिस्ट चीन दस,लाख से पन्द्रह लाख तक, लेकिन ब्रिटेन तथा फ्रांस केवल ६,५०,००० तथा अन्य सब देश डेढ लाख से दो लाख तक सशस्त्र दलो को रख सकते थे। शिखर सम्मेलन (Summit Conference) जो जुलाई सन् १६५५ मे सरकारो के अध्यक्षो के मध्य हुआ उसमे प्रेसीडेन्ट आइजनहोवर ने हवाई निरीक्षण द्वारा अपनी "खुले आकाश" वाली योजना को सामने रक्खी। यू० एस० एस० आर० इस योजना से सहमत नही हुआ और इसके बदले उसने अपनी पूर्व योजना को दुहराया।

गत सम्मेलन मे उठाई गई समस्याओ की विवेचना के लिये पाँचो सरकारो के वैदेशिक मन्त्रियो की बैठक जेनेवा मे अक्तूबर २७ सन् १६५५ को हुई, किन्तु वे भी किसी प्रकार से सहमत नही हो सके।

सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की नि शस्त्रीकरण उप समिति की बैठक लन्दन मे मार्च १६ तथा मई ४ सन् १९५६ के मध्य हुई। ब्रिटेन तथा फ्रास की सरकारों ने कार्य वाहियो का प्रारम्भ जून सन् १९५४ की मूल प्राग्न-फ्रासीसी योजना का पुन सशोधित पाठान्तर उपस्थित किया जिसमे सोवियत सरकार के गत प्रस्तावो को सन्तुष्ट करने के लिये व्यवस्था थी। सोवियत प्रतिनिधि ने पुन सशोधित प्राग्ल फ्रासीसी प्रस्तावो को अस्वीकार कर दिया और उसके बदले व्यावहारिक सैन्यबल तथा व्यावहारिक शस्त्रो को विस्तृत रूप से कमी की व्यवस्था करने वाली एक योजना निवेदित की किन्तु उसमे न्यूक्लियर शस्त्रो को पूर्णत गणना से बाहर रक्खा। यद्यपि इसमे कुछ विषय प्राग्ल फ्रासीसी योजना के समान थे किन्तु नियत्रण सगठन के कृत्यो तथा शक्तियो के सम्बन्ध मे रूसी सरकार तथा ग्रेट ब्रिटेन की सरकार के मध्य महत्वपूर्ण मतभेद था। रूसी सरकार ने मित्रो के हवाई निरीक्षण सम्बन्धी प्रस्ताव पर विचार करना अस्वीकार किया जो कि यदि निरीक्षण विशाल क्षेत्र मे प्रभावपूर्ण होता तो आवश्यक समझा जाता।

सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के नि शस्त्रीकरण आयोग के १२ राष्ट्रो की बैठक मे, जो न्यूयार्क मे १२ जुलाई, सन् १९५६ को हुई तत्कालीन भारतीय मत्री श्री वी० के० कृष्ण मेनन ने जो और न्यूक्लियर परीक्षणो पर निषेध सबधी भारतीय दृष्टिकोण को महत्व देने के लिये इसके समक्ष उपस्थित थे, कहा कि भारत ब्रिटेन के विस्फोटो को सीमित करने के प्रस्ताव को स्वीकृत नही कर सकता क्योंकि सीमित चाहे कितना ही किया जाय फिर भी विनाश की शक्ति बची ही रहेगी।

श्री मेनन ने भारत की ओर से ससार के नि शस्त्रीकरण के लिये निम्न लिखित पग उठाये जाने का सुझाव दिया।

(अ) बमो के उत्पादन के लिये विकीर्ण होने वाला विस्फोटक पदार्थ और अधिक प्राप्त न होने दिया जाय। यदि परीक्षण रोक दिये जाँय तथा कोई नया बम न बनाया जाय तो न्यूक्लियर शस्त्रो के लिये कोई और उपयोग न रह जायगा क्योकि वे पुराने हो जायँगे और पुराने नमूने को कोई नही चाहता।

(आ) सयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत सङ्घ मे सन्देहरहित न्यूक्लियर नि शस्त्रीकरण की ओर साकेतिक पग के रूप में कुछ सीमित सख्या के शस्त्रो को तोडने के लिये हो जाना चाहिये तथा विकीर्ण होने वाले विस्फोटक पदार्थ को शान्तिपूर्ण प्रयोजन के लिये लगा देना चाहिये।

(इ) सैनिक बजटो मे मद चाहे थोडी ही क्यों न हो, कुछ कमी होनी चाहिये।

रूस की शिखर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के लिये पुकार :— नवम्बर १७ सन् १९५६ को रूस ने प्रेसीडेंट आइजनहोवर की "खुले आकाश" वाली निरीक्षण योजना को सीमित रूप से स्वीकार करते हुये तथा उत्तरीय अटलांटिक सन्धि करने वाली शक्तियाँ तथा कम्यूनिस्ट वारसा गठबन्धन करने वाली शक्तियों के मध्य अग्रदपण न होने के गठबन्धन का सुझाव देते हुये चारों बड़ी शक्तियाँ तथा भारत की एक "शिखर निःशस्त्रीकरण सम्मेलन" की पुकार की। सोवियत सरकार ने यह प्रस्ताव किया कि यूरोप के पूर्वी पश्चिमी किनारे के दोनों ओर जो प्रदेश हैं और जहाँ पर नाटो (NATO) तथा वारसा गठबन्धन वालों के मुख्य सैन्य दल रहते हैं, उनकी हवाई फोटोग्राफी की जाय।

प्रेसीडेंट आइजनहोवर ने श्री निकोलाई बुल्गानिन के नवम्बर १७ सन् १९५६ के पत्र के उत्तर में अपने जनवरी २ सन् १९५७ के दिनांकित पत्र में कहा कि यह ऐसी बड़ी शक्तियों के सम्मेलन का समय नहीं है तथा यह कि संयुक्त राष्ट्र संघ के ढाँचे के भीतर विचार विमर्श से यह प्रतीत होता है कि बहुत सम्भव है कि निःशस्त्रीकरण के अत्यन्त जटिल विषय में एक पग आगे बढ़ा जाय। मार्शल बुल्गानिन के यूरोप में हवाई निरीक्षण मध्य क्षेत्र स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव के विषय में प्रेसीडेंट ने व्यक्त किया कि यद्यपि शस्त्रों की समस्या के सम्बन्ध में रूस की हवाई निरीक्षण को सन्देहरहित तथ्य के रूप में विचार करने की इच्छा आशाजनक थी, फिर भी रूसी सरकार की घोषणा इस विषय पर यह इच्छा व्यक्त नहीं करती कि वह प्रेसीडेंट आइजनहोवर के जेनेवा प्रस्ताव अर्थात् अचानक आक्रमण को उनके सैनिक शक्ति केन्द्रों के निरीक्षण द्वारा रोकने के आधारभूत तत्व पर सहमत होना चाहती है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के निःशस्त्रीकरण के आयोग की पाँच राष्ट्रीय उपसमिति जो कि साधारण सभा के १९५३ के प्रस्ताव के अनुसार गठित हुई थी, ने १९५७ के मार्च से लन्दन में अपनी बैठक प्रारम्भ की। रूस द्वारा तीन प्रस्ताव सामने लाये गये। वे निम्नलिखित हैं—(१) सभी प्रकार के आणुविक परीक्षण दो या तीन वर्ष के लिये स्थगित कर दिये जाँय। (२) एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग नियुक्त किया जाय जो कि इस बात का निरीक्षण करे कि परीक्षणों का स्थगन किया गया है या नहीं। (३) संयुक्त राष्ट्र संघ में हर वैज्ञानिक यन्त्रों से युक्त एक नियन्त्रण केन्द्र खोला जाय जो कि अमेरिका, रूस, इङ्गलैंड, और पैसिफिक क्षेत्र में एक स्थगन समझौता करा सके।

६ नवम्बर १९५७ को संयुक्त राष्ट्र राजनैतिक समिति ने संयुक्त पाश्चात्य प्रस्तावों को स्वीकार किया। भारत की ओर से रखे गये सुझाव भी माने

(ग) वे शक्तियाँ जिनके पास न्यूक्लियर शस्त्र है, इस क्षेत्र के विरुद्ध इन न्यूक्लियर शस्त्रों का प्रयोग नहीं करेंगे।

(घ) दूसरे राज्य इस क्षेत्र के भीतर जिनकी सेना है वे भी इसी प्रकार का आभार ग्रहण करेंगे।

३—भाग दो के आभारों को पुष्ट करने के लिये संबंधित राज्य एक ऐसी व्यवस्था करेंगे जिससे इस क्षेत्र में न्यूक्लियर शस्त्रों का विस्तृत और प्रभावकारी रूप से नियन्त्रण हो सके।

नाटो के सुप्रीम कमांडर नारस्टड ने मध्य यूरोप में न्यूक्लियर मुक्त क्षेत्र उत्पन्न करने का विरोध किया। उनका कहना था कि इससे नैटो की शक्ति और पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा खतरे में पड़ जायेगी।

पुनरीक्षित रपाकी प्लान (Revised Rapacki Plan)—पोलैंड के विदेश मन्त्री ने नवम्बर १९५८ में पूर्व प्रस्तावित प्लान में बहुत से परिवर्तन कर दिये। उन्होंने इस योजना पर एक सम्मेलन बुलाने का विचार किया जहाँ कि सम्बंधित पक्षकारों में समझौता होता। उनके विचार से जो पक्षकार सीधे संबंधित थे, वे निम्नलिखित हैं —

१—प्रस्तावित न्यूक्लियर मुक्त क्षेत्र के चार राज्य अर्थात् पोलैंड, जेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी तथा पश्चिमी जर्मनी।

२—चार महान् शक्तियाँ अर्थात् ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका।

३—वे अन्य सभी देश जिनके पास जर्मन क्षेत्र में सेना थी अर्थात् बेलजियम, कैनाडा डेनमार्क।

निःशस्त्रीकरण आयोग—जेनेवा के न्यूक्लियर परीक्षण निलम्बित करने के सम्मेलनों तथा संयुक्त राष्ट्र साधारण सभा के १९५८ और १९५९ के अधिवेशनों में इस ओर काफी प्रयत्न किये गये हैं। निःशस्त्रीकरण आयोग में नवम्बर १९५७ में २५ सदस्य बढ़ाकर कर दिये गये। रूस ने सदस्यता स्वीकार कर ली किन्तु आयोग में काम करने से अपने को पृथक् रखा। भारत युगोस्लेव द्वारा प्रेरित संयुक्त राष्ट्र संघ की राजनीतिक समिति ने ३ नवम्बर १९५८ को एक प्रस्ताव स्वीकृत किया कि संयुक्त राज्य निःशस्त्रीकरण आयोग का पुनर्गठन किया जाय जिससे कि उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य सम्मिलित किये जा सकें। भारत-युगोस्लेव प्रस्ताव के अनुसार निःशस्त्रीकरण आयोग १९५९ में ऐड हाक अर्थात् तदर्थ आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों द्वारा बनाया जाय और यदि आवश्यक हो तो साधारण सभा की विशिष्ट बैठक में यह आयोग रचनात्मक प्रस्ताव

१९५७ के अन्त तक नि.शस्त्रीकरण सम्बन्धित मध्यस्थता-वार्ता के आधार पर इस तथ्य तक पहुँचा जा चुका था कि एक सिद्धान्त ऐसा मान लिया जाय जिससे न्यूक्लियर परीक्षणों का स्थगन अन्तर्राष्ट्रीय देख-रेख का विषय रहे और यह कि हवाई तथा स्थलीय आकस्मिक निरीक्षण को किसी तात्कालिक आक्रमण की रक्षा का एक साधन माना जाय। किन्तु अभी तक इस बात का कोई समझौता नही हो सका है कि विषैले शस्त्रों के उत्पादन की मात्रा को कैसे रोका जाय या वर्तमान सैनिक शक्ति को किस प्रकार घटाया जाय; सैनिक शक्ति पर किये जाने वाले व्यय पर परस्पर एक-दूसरे के साथ सूचना का आदान-प्रदान, तथा इन पर अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और नियन्त्रण कैसे आरम्भ किया जाय।

सोवियत सरकार ने तर्क प्रस्तुत किया था कि न्यूक्लियर शस्त्रों के प्रयोग पर पूर्णतया रोक लगा दी जाय या पूर्णतया रेडियो-सक्रिय शस्त्रों को समाप्त कर दिया जाय, विदेशी मिलिट्री छावनियों को भी समाप्त किया जाय और जर्मनी, उत्तरी अटलांटिक ट्रीटी आर्गेनाइजेशन और वारसा पैक्ट स्थित चार महान् राष्ट्रों की सेना कम कर दी जाय। किन्तु अभी तक इस प्रश्न का कोई ठोस और सर्वमान्य सुझाव सामने नही आ सका है।

रपाकी योजना (Rapacki Plan) :—१४ जनवरी १९५८ को, पोलैंड के वैदेशिक मामलों के मन्त्री श्री अदम रपाकी ने एक विस्तृत प्रस्ताव रखा था कि मध्य यूरोप में सक्रिय किरण-मुक्त एक क्षेत्र बनाया जाय। उनका यह प्रस्ताव उनके २ अक्टूबर, १९५७ के प्रस्तावों के तारतम्य में था। प्रस्ताव निम्नलिखित थे :—

१—मध्य यूरोप मे डी-न्यूक्लियराइज्ड क्षेत्र के अन्तर्गत स्थायी रूप से पोलैंड, जेकोस्लोवाकिया, जर्मन जनतान्त्रिक गणराज्य और जर्मन सङ्घीय गणराज्य भी सम्मिलित कर लिये जाँय। इस क्षेत्र में न्यूक्लियर शस्त्र न तो बनाये जाय और न सग्रहीत किये जाँय।

२—निम्नलिखित क्षेत्रों में डी न्यूक्लियराइज्ड क्षेत्रों के आधार होंगे :—

(क) इस क्षेत्र के राज्य यह आधार ग्रहण करेंगे कि वे न्यूक्लियर शस्त्र न तो बनायेंगे और न सुरक्षित रखेंगे और न बाहर से मँगायेंगे। इसमें मिसिल (missile) भी सम्मिलित है।

(ख) चार शक्तियाँ—फ्रांस, अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत रूस—यह आधार ग्रहण करेंगी कि इस क्षेत्र में किसी प्रकार का न्यूक्लियर शस्त्र नहीं सुरक्षित रखा जायगा और न तो किसी तरह से इन शक्तियों का स्थानान्तरण ही होगा।

(ग) वे शक्तियाँ जिनके पास न्यूक्लियर शस्त्र हैं, इस क्षेत्र के विरुद्ध इन न्यूक्लियर शस्त्रो का प्रयोग नही करेंगे ।

(घ) दूसरे राज्य इस क्षेत्र के भीतर जिनकी सेना है वे भी इसी प्रकार का भाभार ग्रहण करगे ।

३—भाग दो के आभारो को पुष्ट करने के लिये सबंधित राज्य एक ऐसी व्यवस्था करगे जिससे इस क्षेत्र मे न्यूक्लियर शस्त्रो का विस्तृत और प्रभावकारी रूप से नियन्त्रण हो सके ।

नाटो के सुप्रीम कमाडर नारस्टड ने मध्य यूरोप मे न्यूक्लियर मुक्त क्षेत्र उत्पन्न करने का विरोध किया । उनका कहना था कि इससे नैटो की शक्ति और पश्चिमी यूरोप की सुरक्षा खतरे मे पड जायेगी ।

पुनरीक्षित रपाकी प्लान (Revised Rapacki Plan)—पोलैंड के विदेश मन्त्री ने नवम्बर १६५८ मे पूर्व प्रस्तावित प्लान मे बहुत से परिवर्तन कर दिये । उन्होने इस योजना पर एक सम्मेलन बुलाने का विचार किया जहाँ कि सम्बन्धित पक्षकारो मे समझौता होता । उनके विचार से जो पक्षकार सीधे सबंधित थे, वे निम्नलिखित हैं —

१—प्रस्तावित न्यूक्लियर मुक्त क्षेत्र के चार राज्य अर्थात् पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी तथा पश्चिमी जर्मनी ।

२—चार महान् शक्तियाँ अर्थात् ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत सङ्घ तथा सयुक्त राज्य अमेरिका ।

३—वे अन्य सभी देश जिनके पास जर्मन क्षेत्र मे सेना थी अर्थात् वेलजियम, कैनाडा डेनमार्क ।

नि शस्त्रीकरण आयोग —जेनेवा के न्यूक्लियर परीक्षण निलम्बित करने के सम्मेलनो तथा सयुक्त राष्ट्र साधारण सभा के १६५८ और १६५६ के अधिवेशनो मे इस ओर काफी प्रयत्न किये गये हैं । नि शस्त्रीकरण आयोग मे नवम्बर १६५७ मे २५ सदस्य बढाकर कर दिये गये । रूस ने सदस्यता स्वीकार कर ली किन्तु आयोग मे काम करने से अपने को पृथक् रक्खा । भारत युगोस्लेव द्वारा प्रेरित सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की राजनीतिक समिति ने ३ नवम्बर १६५८ को एक प्रस्ताव स्वीकृत किया कि सयुक्त राज्य नि शस्त्रीकरण आयोग का पुनर्गठन किया जाय जिससे कि उसमे सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सभी सदस्य सम्मिलित किये जा सके । भारत-युगोस्लेव प्रस्ताव के अनुसार नि शस्त्रीकरण आयोग १६५६ मे ऐड हाक अर्थात् तदर्थ आधार पर सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के सभी सदस्यो द्वारा बनाया जाय और यदि आवश्यक हो तो साधारण सभा की विशिष्ट बैठक मे यह आयोग रचनात्मक प्रस्ताव

और सिफारिशें नि.शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में प्रस्तुत करे और यह कि यह प्रयोग अपने ढग की प्रक्रिया या अनुसरण करे और सुरक्षा परिषद् तथा साधारण सभा को प्रतिवेदन भेजे ।

शान्ति के लिये अरणु :—दिसम्बर ८, सन् १६५३ को प्रेसीडेंट आइजनहोवर ने संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की साधारण सभा मे भाषण करते हुये आणुविक तथा हाईड्रोजन बमो से सम्पूर्ण विध्वस का निर्देश किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी को कम करने के लिये एक नवीन "शान्ति के लिये अणु" योजना का समर्थन किया। प्रेसीडेंट ने यह सुझाव दिया कि शक्तियाँ जिनके पास न्यूक्लियर सम्बन्धी पदार्थ हो उनमे से कुछ अंश को वितरण के लिये एक कोष मे दान कर दें जो आणुविक शक्ति के शान्तिपूर्ण विकास के लिए उपयोग मे लाई जाय । उन्होने सुझाव दिया कि एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति अभिकरण बनाया जाय जो संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण मे रहे। रूसी सरकार आइजनहोवर योजना मे सुझाये गये मुख्य सिद्धान्तो पर सहमत हो गई किन्तु उसने चाहा कि सब देश प्रथम आणुविक शस्त्रो के निषेध के लिये सहमत हो जांय तथा अभिकरण निषेधाधिकार के अधीन सुरक्षा परिषद् द्वारा नियन्त्रित किया जाय । दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस बात पर आग्रह किया कि अभिकरण अन्य विशिष्ट अभिकरणो के समान संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के अधीन होना चाहिये और उसे साधारण सभा को प्रतिवेदन करना चाहिये तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा नियन्त्रित न होना चाहिये ।

नवम्बर १५, सन् १६५४ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूरेनियम २३५ के १०० किलोग्राम तथा एक दिन उपरान्त यूनाइटेड किंगडम ने २० किलोग्राम शान्ति के लिए 'अणु योजना' की ओर देने को कहा ।

दिसम्बर ४, सन् १६५४ को सभा ने एकमत से प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय आणुविक शक्ति अभिकरण को दृढ़ करने वाले प्रस्ताव को स्वीकृत किया ।

अक्तूबर २३, सन् १६५६ को ८२ राष्ट्रों के एक सम्मेलन ने एकमत से एक २३ अनुच्छेद वाले व्यवस्थान के मूलवाक्य को स्वीकृत किया, जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय "शान्ति के लिये अणु" अभिकरण को प्रवृत्त करने की योजना थी । सम्मेलन ने यह निर्णय किया कि अन्तर्राष्ट्रीय आणुविक शक्ति अभिकरण का मुख्यालय वियेना मे रहेगा । नियमपत्र के अन्तर्गत अभिकरण विकीर्ण होने वाले विस्फोटक पदार्थो को सदस्य-राष्ट्रों को रासायनिक क्रिया के लिए देगा । गवर्नरों के बोर्ड (अनुशासन करने वालो की परिषद्) को यह प्राधिकार होगा कि यह निरीक्षकों को प्राप्त करने वाले देशो मे यह बात निश्चित करने के लिये भेजे कि ये पदार्थ अथवा उनसे गौण उत्पादित वस्तुएँ केवल शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिये उपयोग में लाई जाँय ।

व्यवस्थान मे समान के ढेर लगाये जाने को रोकने के लिये रक्षा के उपाय रखे गये हैं तथा यह व्यवस्था की गई है कि अभिकरण द्वारा रासायनिक क्रिया के लिये दिये गये पदार्थ चालाकी से सैनिक प्रयोजनो के लिये न भेज दिये जाँय।

नभक्षेत्र के शान्तिपूर्ण उपयोग (Peaceful Uses of Outer Space)—नवम्बर १९५८ मे साधारण सभा ने २० राष्ट्रीय एक पुनरीक्षित प्रस्ताव पारित किया जो कि नभ-क्षेत्र के शान्ति पूर्ण उपयोग के सम्बन्ध मे था। इस प्रस्ताव मे इस आवश्यकता पर बल दिया गया कि नभ के नवीन क्षेत्र मे राष्ट्रीय होड न बढे। इस प्रस्ताव में नभ क्षेत्र के उपयोग सम्बन्धित एक तदर्थ समिति बनाने का प्रस्ताव किया गया। यह निश्चय किया गया कि यह समिति साधारण सभा क १४वे अधिवेशन मे अन्य बातो के साथ सयुक्त राष्ट्र सङ्घ क साधना, उसके कार्य, उसके विशिष्ट अभिकरण और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सस्थाएँ जिनका सम्बन्ध नभ-क्षेत्र क शान्तिपूर्ण उपयोग से था, आदि बातो पर विस्तृत प्रतिवेदन करेगी।

एटम शक्ति का शान्तिपूर्ण उपयोग—सयुक्त राष्ट्र के एटम शक्ति के शांतिपूर्ण उपयोग सम्बन्धी द्वितीय सम्मेलन की बैठक जेनेवा मे सितम्बर १९५८ मे हुई। ब्रिटेन, अमेरिका तथा रूस ने यह घोषणा की कि उन्होने निम्नलिखित अवर्गीकरण किया है। अर्थात् थर्मोन्यूकिलियर प्रक्रिया के नियन्त्रित कार्यक्रम सम्बन्धी शोध से सुरक्षा प्रतिबन्ध हटा लिए गए हैं। सम्मेलन मे सुरक्षा सहिता तैयार करने की आवश्यकता पर जोर दिया गया।

१९६०-६१ की सयुक्त राष्ट्र साधारण सभा (U. N. General Assembly, 1960-61):—दिसम्बर १९६० मे साधारण सभा द्वारा एक प्रस्ताव स्वीकार किया गया जिसमे सभी सरकारो से न्यूक्लियर शस्त्रो के रोक पर स्थायी समझौता करने पर जोर दिया गया। साधारण सभा की राजनीतिक समिति ने पूर्णमत के साथ ३० मार्च १९६० मे एक अमेरिकी-रूसी प्रस्ताव स्वीकार किया जिससे कि आगामी सितम्बर तक नि.शस्त्रीकरण सबन्धित बहस स्थगित कर दिया गया। सोवियत सघ ने पाँच तटस्थ देशो को १० राष्ट्रीय सयुक्त राष्ट्र उपसमिति मे सम्मिलित कर लेने का प्रस्ताव किया किन्तु अमेरिका ने इसे केवल भारत और मैक्सिको तक सीमित रखा और यह भी कि उसने इन दोनो देशो को वोट के अधिकार से वचित माना।

संयुक्त मेमोरेन्डम:—आठ तटस्थ राष्ट्रो अर्थात् ब्राजील, बर्मा, एथोपिया, भारत, मैक्सिको, नाइजीरिया, स्वीडन और सयुक्त अरब गणतन्त्र ने एक समझौता-प्रस्ताव रखा जिसके आधार पर न्यूक्लियर-परीक्षण रोकने और अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक आयोग निर्मित करने का सुझाव था। यह प्रस्ताव १४ अप्रैल

और सिफारिशें नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे प्रस्तुत करे और यह कि यह आयोग अपने ढग की प्रक्रिया का अनुसरण करे और सुरक्षा परिषद् तथा साधारण सभा को प्रतिवेदन भेजे।

शान्ति के लिये अणु —दिसम्बर ८, सन् १९५३ को प्रेसीडेंट आइजनहोवर ने सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की साधारण सभा म भाषण करते हुये आणुविक तथा हाईड्रोजन बमो से सम्पूर्ण विध्वस का निर्देश किया तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी को कम करने के लिये एक नवीन "शान्ति के लिये अणु" योजना का समर्थन किया। प्रेसीडेंट ने यह सुझाव दिया कि शक्तियाँ जिनके पास न्यूक्लियर सम्बन्धी पदार्थ हो उनमे से कुछ अश को वितरण के लिये एक कोष मे दान कर दें जो आणुविक शक्ति के शान्तिपूर्ण विकास के लिए उपयोग म लाई जाय। उन्होंने सुझाव दिया कि एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति अभिकरण बनाया जाय जो सयुक्त राष्ट्र सघ के सरक्षण म रहे। रूसी सरकार आइजनहोवर योजना म सुझाये गये मुख्य सिद्धान्तो पर सहमत हो गई किन्तु उसने चाहा कि सब देश प्रथम आणुविक शस्त्रो के निषेध के लिये सहमत हो जाँय तथा अभिकरण निषेधाधिकार के अधीन सुरक्षा परिषद् द्वारा नियन्त्रित किया जाय। दूसरी ओर सयुक्त राज्य अमेरिका ने इस बात पर आग्रह किया कि अभिकरण अन्य विशिष्ट अभिकरणो के समान सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के अधीन होना चाहिये और उस साधारण सभा को प्रतिवेदन करना चाहिये तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा नियन्त्रित न होना चाहिये।

नवम्बर १५, सन् १९५४ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने यूरेनियम २३५ के १०० किलाग्राम तथा एक दिन उपरान्त यूनाइटेड किंगडम ने २० किलाग्राम शान्ति के लिए 'अणु योजना' को आर देने को कहा।

दिसम्बर ४, सन् १९५४ को सभा ने एकमत से प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय आणुविक शक्ति अभिकरण को दृढ करने वाले प्रस्ताव को स्वीकृत किया।

अक्तूबर २३, सन् १९५६ को ८२ राष्ट्रो के एक सम्मेलन ने एकमत से एक २३ अनुच्छेद वाले व्यवस्थान के मूलवाक्य को स्वीकृत किया, जिसमें एक अन्तर्राष्ट्रीय "शान्ति के लिये अणु" अभिकरण को प्रवृत्त करने की योजना था। सम्मेलन ने यह निर्णय किया कि अन्तर्राष्ट्रीय आणुविक शक्ति अभिकरण का मुख्यालय वियेना मे रहेगा। नियमपत्र के अन्तर्गत अभिकरण विकीर्ण होने वाले विस्फोटक पदार्थों को सदस्य राष्ट्रो को रासायनिक क्रिया के लिए देगा। गवर्नरो के बोर्ड (अभि- शासन करने वालो की परिषद्) को यह अधिकार होगा कि वह निरीक्षको क करने वाले देशो मे यह बात निश्चित करने के लिये भेजे कि ये पदार्थ से गौण उत्पादित वस्तुएँ केवल शान्तिपूर्ण प्रयोजनो के लिये उपयोग मे ‹

एक बार जब इस रोक का आरम्भ हो चुका है, तो अवश्य ही आशा की जाती है कि इससे एक अंश तक ऐसी सद्भावना उत्पन्न होगी जो कि आगे चलकर पूर्ण परीक्षण-रोक को प्रभावकारी कर सके। इस संधि के प्रमुख उपबन्ध इस प्रकार हैं —

संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयरलैंड के संयुक्त साम्राज्य और सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक संघ की सरकार, जिन्हें कि यहाँ आरम्भिक पक्षकारों के रूप में सदर्भित किया गया है, अपने प्रमुख लक्ष्य की घोषणा करती हैं कि कठिन अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत सामान्य और पूर्ण नि:शस्त्रीकरण के लिए जहाँ तक संभव हो सके, अति शीघ्र एक समझौता हो। यह समझौता संयुक्त राज्यों के उद्देश्यों के तारतम्य में हो, जो कि शस्त्रीकरण की होड़ को रोक सके और सभी प्रकार के शस्त्रों, न्यूक्लियर-शस्त्रों सहित, के उत्पादन और परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा सके, इसके साथ ही सभी समयों के लिए अर्थात् सदा-सदा के लिये न्यूक्लियर-शस्त्रों के परीक्षणात्मक-विस्फोटों को बन्द कर देने के उपाय ढूँढे जाँय। ये सरकारें इस बात के लिए भी दृढ़-संकल्प हैं कि वे इस सम्बन्ध में समझौता-वार्ता जारी रखेंगी और मानवीय वायुमण्डल को रेडियोऐक्टिव तत्वों से भर देने के विरुद्ध अपने प्रयत्न जारी रखेंगी। इतनी बातों पर सहमत होते हुये निम्नलिखित शर्तों को स्वीकार किया जा रहा है—

अनुच्छेद १—(१) इस संधि का प्रत्येक पक्षकार इस बात का व्रत लेता है कि वह किसी प्रकार के न्यूक्लियर शस्त्रों के परीक्षणात्मक विस्फोटों को निषेधित करेगा, रोकेगा और स्वयं इस प्रकार का कोई परीक्षण नहीं करेगा या अपने क्षेत्राधिकार या नियन्त्रण में किसी भी स्थान पर होने वाले किसी भी अन्य न्यूक्लियर विस्फोटों को नहीं होने देगा,

(क) वातावरण में, अपनी सीमा के बाहर, बाहरी नभ या अधोजल में या क्षेत्रीय जल या खुले समुद्र में, या

(ख) किसी भी अन्य वातावरण में, यदि ऐसे विस्फोट 'रेडियो-ऐक्टिव डेब्रीज' उत्पन्न करते हों, उस राज्य की क्षेत्रीय सीमाओं में, जिसके क्षेत्राधिकार या नियन्त्रण में ऐसे विस्फोट किये जा रहे हैं।

ये उपबन्ध सभी प्रकार के न्यूक्लियर विस्फोटक प्रयोगों को स्थायी रूप से वर्जित करने वाली संधियों का समर्थन करते हैं, जिसमें कि अध तल के ऐसे विस्फोट भी सम्मिलित होंगे जिन्हें कि संधि की प्रस्तावना में पक्षकारों ने वर्जित करना निर्दिष्ट माना है।

(२) इस संधि का प्रत्येक पक्षकार इस बात के लिए वचन-बद्ध है कि वह किसी भी प्रकार के न्यूक्लियर परीक्षणात्मक विस्फोटों का कराना, प्रोत्साहित करना,

१९६२ को नि शस्त्रीकरण समिति की १८वी बैठक मे जेनेवा मे किया गया। इसमे १५ सदस्यो का प्रस्ताव था जिसमे रूस, ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका स्थायी सदस्य थे। आयोग का साधारण दायित्व यह था कि वह न्यूक्लियर-परीक्षण सम्बन्धित सभी प्रकार के आँकडे इकट्ठा करे तथा जहाँ कही भी न्यूक्लियर-परीक्षण की आशंका दिखाई पडे उस सम्बन्ध मे संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रतिवेदन करे। इन परीक्षणो पर रोक निम्नलिखित क्षेत्राधिकार मे होगा।

(क) वातावरण के भीतर और ऊपर या क्षेत्रीय अथवा खुले समुद्र मे।

(ख) किसी ऐसे वातावरण मे जहाँ से सक्रिय किरण दूसरे राज्य के क्षेत्राधिकार म पहुँच सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ के साधारण सभा का १७वाँ अधिवेशन :—२१ सितम्बर, १९६२ को सोवियत प्रतिनिधि ने साधारण सभा के समक्ष घोषित किया कि सोवियत सरकार ने पहले से ही १८ राष्ट्रीय नि शस्त्रीकरण समिति का प्रस्ताव रख दिया है। उन्होने सभा के अध्यक्ष के पास एक और प्रस्ताव प्रस्तुत किया कि ऐसे सभी राज्य जिनके पास न्यूक्लियर शस्त्र है, वह सर्वप्रथम उनके प्रयोग से अपने को रोके और दृढतापूर्वक प्रतिज्ञा करे कि वे उन शस्त्रो का प्रयोग न करेगे।

न्यष्टि परीक्षण प्रतिबन्ध संधि (१९६३)—अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत रूस तथा अन्य देशो ने १९६३ मे न्यष्टि परीक्षण के आंशिक प्रतिबन्ध की संधि पर हस्ताक्षर किये जो १० अक्टूबर १९६३ को कार्यान्वित हुई। इस सन्धि से सम्भावना है कि शीघ्र ही भविष्य मे परीक्षणो पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया जा सके जो नि शस्त्रीकरण द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना तथा शांति की प्रगति मे सहायक हो। इसके अनुसार प्रत्येक पक्षकार न्यष्टि शस्त्रो के विस्फोट को अपने क्षेत्र मे किसी भी स्थान मे न तो करेगे और न किसी को करने देगे —(क) नभ क्षेत्र में, उसकी सीमा के बाहर जिसमे बाहरी नभ भी सम्मिलित है, या पानी के भीतर जिसमे क्षेत्रीय जल या उन्मुक्त समुद्र भी सम्मिलित है। या (ख) अन्य किसी भी वातावरण मे यदि ऐसा विस्फोट होता है जिसके कारण राज्य की क्षेत्रीय सीमाओ के बाहर रेडियो-सक्रिय मलवा (डेब्री) के उपस्थित होने की सम्भावना है।

इस प्रकार यह न्यष्टि परीक्षण सन्धि पूर्ण नि शस्त्रीकरण की ओर लक्षित होकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को सुदृढ और मैत्रीपूर्ण बनाती है। अमेरिका के राष्ट्रपति स्वर्गीय कैनेडी के अनुसार यह सन्धि पूर्व-पश्चिम के शीत युद्ध के गहन अन्धकार मे प्रकाश की किरण है।

यह संधि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सूझ-बूझ के इतिहास मे एक अत्यन्त ही महत्वपूर्ण कदम है। यद्यपि परीक्षण पर रोक एक सीमित प्रवृति तक है, किन्तु

एक बार जब इस रोक का प्रारम्भ हो चुका है, तो अवश्य ही आशा की जाती है कि इससे एक अंश तक ऐसी सद्भावना उत्पन्न होगी जो कि आगे चलकर पूर्ण परीक्षण-रोक को प्रभावकारी कर सके। इस संधि के प्रमुख उपबन्ध इस प्रकार हैं:—

संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और उत्तरी आयरलैंड के संयुक्त साम्राज्य और सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक संघ की सरकार, जिन्हें कि यहाँ प्रारम्भिक पक्षकारों के रूप में सदर्भित किया गया है, अपने प्रमुख लक्ष्य की घोषणा करती हैं कि कठिन अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत सामान्य और पूर्ण निःशस्त्रीकरण के लिए जहाँ तक संभव हो सके, अति शीघ्र एक समझौता हो। यह समझौता संयुक्त राज्यों के उद्देश्यों के सारतम्य में हो, जो कि शस्त्रीकरण की होड़ को रोक सके और सभी प्रकार के शस्त्रों, न्यूक्लियर-शस्त्रों सहित, के उत्पादन और परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगा सके, इसके साथ ही सभी समयों के लिए अर्थात् सदा-सदा के लिये न्यूक्लियर-शस्त्रों के परीक्षणात्मक-विस्फोटों को बन्द कर देने के उपाय ढूँढे जाँय। ये सरकारें इस बात के लिए भी कृत-संकल्प हैं कि वे इस सम्बन्ध में समझौता-वार्ता जारी रखेंगी और मानवीय वायुमण्डल को रेडियोऐक्टिव तत्वों से भर देने के विरुद्ध अपने प्रयत्न जारी रखेंगी। इतनी बातों पर सहमत होते हुये निम्नलिखित शर्तों को स्वीकार किया जा रहा है—

अनुच्छेद १—(१) इस संधि का प्रत्येक पक्षकार इस बात का व्रत लेता है कि वह किसी प्रकार के न्यूक्लियर शस्त्रों के परीक्षणात्मक विस्फोटों को निषेधित करेगा, रोकेगा और स्वयं इस प्रकार का कोई परीक्षण नहीं करेगा या अपने क्षेत्राधिकार या नियन्त्रण में किसी भी स्थान पर होने वाले किसी भी अन्य न्यूक्लियर विस्फोटों को नहीं होने देगा,

(क) वातावरण में, अपनी सीमा के बाहर, बाहरी नभ या अधोजल में या क्षेत्रीय जल या खुले समुद्र में, या

(ख) किसी भी अन्य वातावरण में, यदि ऐसे विस्फोट 'रेडियो-ऐक्टिव डेब्रीज' उत्पन्न करते हों, उस राज्य की क्षेत्रीय सीमाओं में, जिसके क्षेत्राधिकार या नियन्त्रण में ऐसे विस्फोट किये जा रहे हैं।

ये उपबन्ध सभी प्रकार के न्यूक्लियर विस्फोटक प्रयोगों को स्थायी रूप से वर्जित करने वाली संधियों का समर्थन करते हैं, जिसमें कि अध तल के ऐसे विस्फोट भी सम्मिलित होंगे जिन्हें कि संधि की प्रस्तावना में पक्षकारों ने वर्जित करना निर्दिष्ट माना है।

(२) इस संधि का प्रत्येक पक्षकार इस बात के लिए वचन-बद्ध है कि वह किसी भी प्रकार के न्यूक्लियर परीक्षणात्मक-विस्फोटों का कराने, प्रोत्साहित करने,

या उसमे किसी भी रूप मे भाग लेने से अपने को दूर रखेगा, या किसी भी अन्य विस्फोटा स दूर रहेगा, जिनका कि उपबन्ध पैराग्राफ १ मे किया जा चुका है।

अनुच्छेद २—(१) कोई भी पक्षकार इस सधि मे सशोधन का प्रस्ताव कर सकता है। किसी भी प्रस्तावित संशोधन की मूल भाषा सयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटन और सोवियत गणतन्त्र की सरकारा क पास भेजी जायेगी, जो कि सभी पक्षकारो का इस प्रचारित कर देगी। इसक उपरान्त यदि ऐसा करना आवश्यक माना गया, तो एक तिहाई या इसस अधिक पक्षकारों की सहमति पर ये सरकारें एक सम्मेलन बुलायगी और व उस सम्मेलन म सभी पक्षकारों को प्रस्तावित सशोधन पर विचार करन के लिए आमन्त्रित करेंगी।

(२) इस सधि म कोई भी सशोधन इस सधि के सभी पक्षकारो के बहुमत द्वारा अवश्य ही स्वीकृत होना चाहिये, जिसमें कि सभी आरम्भिक पक्षकारो के भी वाट सम्मिलित होन चाहिये। संशोधन सभी पक्षकारो क लिए सुधार के संचित साधन क रूप मे उसी प्रकार प्रभावकारी होगा, जिस प्रकार कि आरम्भिक पक्षकारो के लिये।

अनुच्छेद ३—(१) यह सधि सभी राज्यो के लिए हस्ताक्षर करने के लिए खुली रहेगी। यदि कोई राज्य इस सधि क प्रवर्तन के समय इस अनुच्छेद क पैराग्राफ (३) क अनुसार इसमे प्रविष्ट नहीं होता, तो वह कभी भी तदनुसार हस्ताक्षर करके सधि मे प्रविष्ट हो सकगा।

(२) सधि का सशोधन हस्ताक्षरकर्ता सभी राज्यो के संशोधन के अध्याधीन होगा।

(३) यह सधि सभी आरम्भिक पक्षकारो के सशोधन साधनो द्वारा संचित होने क उपरा त प्रभावकारी होगी।

यह सधि आरम्भिक सरकारो द्वारा सयुक्त राष्ट्रो के चार्टर के अनुच्छेद १०२ के क्रम मे पंजीकृत होगी।

अनुच्छेद ४—यह सधि असीमित अवधि की होगी। प्रत्येक पक्षकार अपनी राष्ट्रीय सम्प्रभुता के प्रयोग मे इस सधि से अपने को अलग करने का अधिकारी होगा किन्तु यह तभी होगा जब कि वह निश्चय करता है कि इस सधि के विषय-वस्तु म सम्बन्धित असाधारण घटनाय घटी हैं और उनसे उसके देश के सर्वप्रभु हितो पर आँच आई हैं। वह पक्षकार सधि के प्रत्येक सभी पक्षकारो को अपने प्रत्याहरण सम्बन्धी सूचना ३ मास पूर्व देगा।

यह सधि १० अक्टूबर, १९६३ को प्रभाव रूप मे सामने आई। इस सधि पर सर्वप्रथम तीन महान् शक्तियो द्वारा अगस्त ५, १९६३ को मास्को मे हस्ताक्षर किये गये और अक्टूबर, १९६३ तक लगभग १०० देश इस सधि पर हस्ताक्षर कर

चुके थे। चीन, फ्रान्स और अल्बानिया ने आंशिक न्यष्टि प्रयोग रोक की संधि पर हस्ताक्षर नहीं किया है।

मास्को टेस्ट बैन ट्रीटी और न्युक्लियर शस्त्रों की सामग्रियों के उत्पादन में कमी की सोवियत सङ्घ द्वारा घोषणा तथा संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा १९६४ में एतद्विषयक घोषणा निःशस्त्रीकरण के मार्ग में प्रथम सोपान थी।

५ अगस्त १९६४, को सोवियत सङ्घ, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य ने इस बात की प्रतिज्ञा की कि वे अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिये यथासम्भव समझौता वार्ता का सहारा लेंगे। मास्को-टेस्ट बैन-ट्रीटी के प्रथम वार्षिकोत्सव पर तीनों सरकारों ने संयुक्त वक्तव्य में कहा कि शस्त्रों की होड़ और प्रभावकारी निःशस्त्रीकरण के प्रश्नों को सुलझाने के लिये गहनतम समस्याओं को सुलझाना है। हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने पुनः इस बात को पुष्ट किया कि यह संधि शान्ति को बढ़ावा देने और शस्त्रों की घुड़दौड़ को निर्वान्धित करने के मार्ग में एक मार्गदर्शक तारा के रूप में है। यह भी खेद के साथ व्यक्त किया गया कि जहाँ सौ से अधिक राज्य इस संधि में हस्ताक्षर कर चुके हैं, कुछ शक्तियाँ जैसे चीन, फ्रान्स और अल्बानिया इस पर अभी हस्ताक्षर नहीं कर सके हैं। यह भी प्रस्तावित किया गया कि आंशिक-परीक्षण रोक संधि का विस्तार अधोभूमि में किये जाने वाले परीक्षणों तक भी होना चाहिये।

अक्टूबर १६, १९६४ को अपने पश्चिमी अंचल में चीन द्वारा किया गया एटम-बम विस्फोट शान्ति के पोषण की दिशा में एक भयावह खतरा है। भले ही चीन अभी ऐसे परीक्षणों की अल्पतम उपलब्धि कर सका हो किन्तु उसके लगातार के प्रयोग सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका को आतंकित किये हुये हैं। राष्ट्रपति जॉनसन ने भले ही एशिया के देशों को इस आतंक के विरुद्ध आश्वासन दिया है किन्तु चीन की निरंकुशता का आतंक किसी भी समय राष्ट्र पर बना रहना, उस समय तक स्वाभाविक है जब तक कि प्रभावकारी रूप में चीन को ऐसे प्रयोगों से रोका नहीं दिया जाता।

निष्कर्ष —अणु शक्ति के शान्तिपूर्ण प्रयोग से सम्बन्धित प्रस्ताव इस आशा को व्यक्त करता है कि विश्व को वह युद्ध से दूर हटायेगा, क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि के शब्दों में —"It is a new prism through which we can look at the problem of the world" अर्थात् यह एक नया स्रोत है जिसके आधार पर हम विश्व की समस्याओं को एक नये ढंग से देख सकते हैं। यह एक ऐसा कदम है जहाँ से हमें चलना प्रारम्भ करना है। पूर्ण विश्लेषण से पता चलता है कि युद्ध की सम्भावनाओं और शस्त्रों के अबाध संग्रह को रोका जा सकता

है, केवल यदि राज्यो मे एक दूसरे के प्रति विश्वास उत्पन्न हो जाय और दूसरे से भय कम हो जाय। प्रत्येक देश मे जनता पूर्ण बहुमत के साथ शांति चाहती है। यही एक ऐसी किरण है जिससे राष्ट्रो मे एक दूसरे के प्रति शत्रुता और सन्देह के कम होने की आशा की जा सकती है।

अभी तक निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे कोई सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं अपनाया जा सका है। एक ओर नि शस्त्रीकरण के सम्बन्ध मे वार्तायें चलती रहती हैं और दूसरी ओर दो महान् कहा जाने वाली शक्तियाँ न्यूक्लिर-परीक्षण भी करती रहती हैं। वास्तव मे नि शस्त्रीकरण के प्रश्न पर ही मान्यता एव विश्व-शान्ति तथा सुरक्षा का भविष्य निर्भर करता है। महान् शक्तियो ने जो शस्त्र तैयार कर रखे हैं और आज भी जो निरन्तर तैयार होते जा रहे हैं, उन्हे पूर्णतया त्याग देना और फिर यह विश्वास कर लेना कि दूसरा प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र भी इन शस्त्रो को त्याग देगा और नया नही बना लेगा, एक कठिन समस्या है। इसके लिये क्रमश. प्रयत्न होते रहे तो आंशिक सफलता मिल सकती है, पूर्ण सफलता तो अभी एक दूरस्थ कल्पना सी प्रतीत होती है।

अध्याय ३०
विशिष्ट अभिकरण
(The Specialized Agencies)

विशिष्ट अभिकरण वे सघ हैं जो अन्तर-सरकारी स्वीकार-पत्रों द्वारा स्थापित किये गये हैं तथा जिनका आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शिक्षा-सम्बन्धी, स्वास्थ्य तथा सम्बन्धित ' त्रो मे बहुत विस्तृत उत्तरदायित्व है। स्वीकारोक्तियो की वार्ता जिनके द्वारा उनका सम्बन्ध सयुक्त राष्ट्र सघ से स्थापित हो जाता है पहले अभिकरणो के साथ आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् द्वारा इस उद्देश्य से स्थापित एक स्थायी समिति द्वारा की जाती है जिसे 'अन्तर-सरकारी अभिकरणो के साथ समझौते की समिति' कहा जाता है। इसके उपरान्त वे स्वीकृति के लिये आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के पास भेजी जाती हैं तथा परिषद् द्वारा सामान्य सभा को। प्रवर्तन होने के पूर्व प्रत्येक स्वीकार पत्र आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के सम्बन्धित विशिष्ट अभिकरण के समुचित अग द्वारा स्वीकृत भी किया जाना चाहिये।

सयुक्त राष्ट्र सघ के भिन्न विशिष्ट अभिकरण निम्नलिखित हैं :—

१. अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सघ (International Labour Organization : I. L. O.)—यह सयुक्त राष्ट्र से सम्बन्धित सब से पुराने अभिकरणों में

से एक है और प्रथम विश्व युद्ध के उपरान्त जो अन्तर सरकारी संस्थाये स्थापित की गईं उनमे से अकेला बचा हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सङ्घ के संविधान मे जो सन् १९१९ मे बनाया गया यह स्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि सार्वजनिक तथा स्थायी शान्ति केवल उसी दशा मे स्थापित की जा सकती है जब यह सामाजिक न्याय पर आधारित हो। इसका त्रिकोणाकार संयुक्त राष्ट्र सङ्घ मे अनोखा है, तथा इसके विशिष्ट अभिकरण श्रमिको के प्रतिनिधि, प्रबन्ध तथा सरकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सङ्घ के निर्णयो को देन तथा उसकी नीति को आकार देने मे योग देते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सम्मेलन न फिलैडेल्फिया मे सन् १९४४ मे अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सङ्घ को शान्ति मे निष्ठा को पुन दृढतापूर्वक व्यक्त किया। फिलैडेल्फिया की घोषणा मे पुन जो सिद्धान्त दृढतापूर्वक कहे गए, वे निम्नलिखित हैं —

(अ) श्रम पदार्थ (वस्तु) नही है,

(आ) किसी एक स्थान की भी दरिद्रता सभी स्थानो की समृद्धि के लिये भयजनक है।

(इ) अभिव्यक्ति तथा सङ्घ की स्वतन्त्रता स्थायी उन्नति के लिये परमावश्यक हैं।

(ई) दरिद्रता के विरुद्ध युद्ध प्रत्येक राष्ट्र क भीतर दृढ उत्साह के साथ किये जाने की आवश्यकता है।

२. संयुक्त राष्ट्र संघ का खाद्य तथा कृषि सम्बन्धी संघ (Food and Agriculture Organization of the United Nations F. A O)—यह प्रथम अन्तर-सरकारी अभिकरण है जो सन् १९४५ मे द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् स्थापित हुआ। यह एक सम्मेलन द्वारा कार्य करता है जिसमे ७७ सदस्य-राष्ट्रो (जनवरी १९५९) मे से प्रत्येक का एक वोट है। इस सम्मेलन का प्रत्येक दो वर्षों मे अधिवेशन होता है किन्तु जब बहुमत यह इच्छा व्यक्त करता है तो इसका अधिवेशन बीच के वर्ष मे हो सकता है। सभा क मध्य मे एफ० ए० ओ० परिषद् प्रशासकीय संस्था का कार्य करती है जो १८ सदस्य राष्ट्रो के प्रतिनिधियो से निर्मित होती है।

इसके मुख्य उद्देश्य राष्ट्रो को अपना जीवनस्तर उच्च करने मे, सब देशो के लोगो के आहार को सुधारने मे, कृषि, वन तथा मत्स्यालयो की क्षमता को बढाने मे, ग्रामवासियो की दशा को सुधारने म तथा इन सब साधनो द्वारा सब लोगो का उत्पादन कार्य मे अवकाश को और अधिक विस्तृत करने म सहायता देने का है।

३. संयुक्त राष्ट्र संघ का शिक्षा सम्बन्धी, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संघ (United Nations Educational, Scientific and Cultural Or-

ganization : UNESCO.)—राजनैतिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में यह प्रजातन्त्र का मुख कहा जाता है। इसका उद्देश्य शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति के क्षेत्रों में सहकारिता को बढ़ाकर शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना करने में भाग लेने का है जिससे न्याय, विधिक शासन, मानवीय अधिकार तथा आधारभूत स्वतन्त्रताओं के लिये सार्वभौमिक सम्मान और अधिक व्यापक हो, जो संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर द्वारा जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव को हटा कर संसार के लोगों के लिये मान्य की गई है।

इसका संस्थान निम्नलिखित से निर्मित है :—

(१) साधारण सम्मेलन (८७ सदस्य राज्यों के एक-एक प्रतिनिधि सहित), (२) २० सदस्यों का एक इक्जीक्यूटिव बोर्ड, (३) सचिवालय (जिसमें कि डायरेक्टर जेनरल और अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी जो कि ६ प्रमुख विभागों—शिक्षा, प्राकृतिक विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, सांस्कृतिक कार्य क्रम, सामूहिक विनिमय और प्राविधिक सहायता, के होते हैं।)

४ अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ (International Civil Aviation Organization . I C A.O)—इसके उद्देश्य और लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय वायु-उड्डयन कला के सिद्धान्त तथा यन्त्र कला का विकास करना है तथा अन्तर्राष्ट्रीय हवाई यातायात की योजनाओं को बनाने तथा उनके विकास में वृद्धि करने का है जिससे संसार भर में अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन का सुरक्षित तथा नियमित रूप से विकास हो सके।

५. पुनर्निर्माण तथा विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstruction and Development)—पुनर्निर्माण तथा विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के मुख्य सदस्यों के प्रदेशों के पुनर्निर्माण तथा विकास में उत्पादक प्रयोजनों के लिए पूंजी को लगाने की सुविधा प्रदान कर सहायता करना, वैयक्तिक विदेशी पूंजी के लगाये जाने को वैयक्तिक पूंजी लगाने वालों द्वारा दिये गये ऋणों तथा अन्य लगाई गई पूंजी की प्रतिभूति देकर तथा भाग लेकर प्रोत्साहित करना तथा वैयक्तिक पूंजी लगाई जाने की क्षतिपूर्ति उत्पादक प्रयोजनों के लिये अपनी पूंजी में से धन की व्यवस्था करके धन एकत्र करके तथा अन्य साधनों से करना है।

६ अन्तर्राष्ट्रीय धन कोष (International Monetary Fund : I. M. F.)—यह राष्ट्रों का एक मण्डल है जिसने स्वीकार-पत्र के कोष सम्बन्धी अनुच्छेदों को स्वीकृत करके यह प्रतिज्ञा की है कि अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग तथा विश्व-व्यापार को और अधिक बढ़ावेंगे। इसके उद्देश्य मुख्यतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

के विस्तार और सतुलित विकास को सुगम करना, तथा इसके द्वारा व्यवसाय और वास्तविक आय की उन्नति मे तथा उसमे एक उच्च स्तर स्थापित करने मे सहयोग देना, विनिमय में स्थिरता को बढाना तथा समुचित रक्षणो के अधीन सदस्यो को कोष मे साधन प्राप्त कराकर उनमे विश्वास उत्पन्न करना है।

७. विश्व स्वास्थ्य संघ (World Health Organization : W. H. O.)—यह सब से बड़े विशिष्ट अभिकरणो मे से एक है तथा १६५६ मे इसके ८८ राष्ट्र सदस्य हैं। इसका उद्देश्य सब लोगो द्वारा स्वास्थ्य का उच्च स्तर प्राप्त करना है।

८. अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संघ (International Refugee Organization : I. R O)—अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी सघ शरणार्थियो अथवा देशो से निकाल गये व्यक्तियो को अपने मूलदेश को अथवा अपने पुराने घरा का लौटाने मे सहायता करता है तथा सामूहिक पुनर्वास सम्बन्धी योजनाओ को पूर्ण करता है जिसके द्वारा प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी सघ के साथ एक स्वीकार-पत्र लिखता है जिसमे शरणार्थी देशान्तरवासी सम्बन्धी ग्रहणीयता की माप, पुनर्वासोत्तर दशायें, वैधिक स्थिति तथा वास्तविक लौटने की प्रक्रियायें दी रहती हैं।

६. सार्वदेशिक डाक सघ (Universal Postal Union U P U.)—सार्वदेशिक डाक सघ प्रथमतः जुलाई १ सन् १८७५ को स्थापित हुआ जब बर्न की डाक काँग्रेस द्वारा अक्टूबर ६, सन् १८७४ को सार्वदेशिक डाक प्रतिज्ञा अगीकृत की गई। यह अन्तर्राष्ट्रीय डाक यातायात की अनिश्चितता, गडबडी तथा अत्यधिक व्यय को, अपने सदस्य देशो को डाक के परस्पर विनियम के लिये एक डाक प्रदेश मे बाँध कर दूर करने के लिये स्थापित किया गया है। डाक प्रतिज्ञा विभिन्न डाक काँग्रेसों द्वारा विस्तृत तथा उन्नत की गई है।

१०. अन्तर्राष्ट्रीय तार संदेश वहन संघ (International Telecommunication Union : I. T. U.)—अन्तर्राष्ट्रीय तार संदेश सङ्घ के तीन मुख्य उद्देश्य हैं अर्थात् तार सदेशवहन के सुधार तथा युक्तियुक्त उपयोग के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का स्थापित करना तथा उसका विस्तार करना, उनकी उपयोगिता बढ़ाने के लिये यान्त्रिक कला विज्ञान सम्बन्धी सुविधाओ का विकास तथा उसका सबसे अधिक दक्षता से चालन, तथा यथासभव उनको सामान्यतः जनता को प्राप्त कराना और इन समान उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये राष्ट्रो के कार्यों को एकरूप करना।

११. विश्व-अन्तरिक्ष विद्या सम्बन्धी संघ (World Meteorological Organization: W. M. O.)—यह विश्व के अन्तरिक्ष विद्या सम्बन्धी कार्यों

को एकरूप करने, मानकीकरण करने तथा उनमे सुधार करने के लिये तथा मानवीय कार्यों के सहायतार्थ देशो के बीच मे अन्तरिक्ष विद्या सम्बन्धी सूचना का दक्षतापूर्ण विनिमय प्रोत्साहित करने के लिये स्थापित किया गया है।

यह सबसे नया अन्तर-सरकारी अभिकरण है जो सयुक्त राष्ट्र संघ के अधीन हुआ है। यह अन्तर्राष्ट्रीय अन्तरिक्ष विद्या सम्बन्धी सङ्घ का उत्तराधिकारी है जो ऋतु सूचना सम्बन्धी सेवाओं को अपने सदस्यो के बीच सन् १८७८ से एकरूप कर रहा था।

अध्याय ३१

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं की विधि

१. विवाचन का स्थायी न्यायालय

(The Permanent Court of Arbitration)

उत्पत्ति :—विवाचन के स्थायी न्यायालय की उत्पत्ति दो प्रतिज्ञाओ के कारण हुई जो अन्तर्राष्ट्रीय झगडो के शान्तिपूर्ण समझौत के बारे मे सन् १८९९ तथा १९०७ मे हुईं। पहली प्रतिज्ञा सन् १८९९ के हेग सम्मेलन मे विवाचन के एक स्थायी न्यायालय के सगठन का विचार प्रस्तुत किया गया जिसमे हेग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो (कार्यालय) भी बनाने का निश्चय था, जो इसके सचिवालय तथा स्थायी प्रशासकीय परिषद् के रूप मे कार्य करे।

इसका ढांचा :—विवाचन के स्थायी न्यायालय के ढाचे मे तीन सस्थाये सम्मिलित हैं अर्थात् (१) न्यायालय के सदस्यो का पैनल, (२) एक प्रशासकीय परिषद् तथा (३) एक अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो (कार्यालय)।

पैनल के सदस्य :—प्रत्येक राष्ट्र को जो सन् १८९९ तथा १९०७ की प्रतिज्ञाओ मे से किसी एक मे भी पक्षकार रहा हो यह अधिकार है कि वह चार सदस्यो का नाम भेजें "जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्नो के सम्बन्ध मे योग्यता की प्रसिद्धि हो तथा जिनकी नैतिक प्रतिष्ठा सर्वोच्च हो और विवाचन के कार्यभार को ग्रहण करने का उद्यत हो।" उनकी नियुक्ति छ वर्ष की अवधि के लिये होती है जिसे पुन. बढाया जा सकता है। राज्यो द्वारा इस प्रकार जिनका नाम भेजा गया है उन व्यक्तियो की सूची मे से, जो प्रतिज्ञा के पक्षकार सब राज्यो के सम्यक् रूप से विज्ञापित की जाती है, किसी झगडे के पक्षकारो को यह स्वतन्त्रता है कि किसी

न्यायाधिकरण के सदस्यो को निर्वाचित करें । उस स्थिति मे जब पचो को छाटने मे मतभेद हो जाय तो प्रत्येक पक्षकार को दो दो नियुक्त करने पडते हैं और इस प्रकार छांटे गये चारो पच एक सरपच नियुक्त कर लेते हैं और यह सब उसी तालिका मे से छाटे जाते हैं । दूसरी प्रतिज्ञा अर्थात् सन् १९०७ के हेग सम्मेलन ने इस योजना मे कुछ सुधार किये तथा गौण महत्व के मामलो के विषय मे झगडा के सम्बन्ध मे एक सक्षिप्त प्रक्रिया की व्यवस्था की । प्रत्येक पक्षकार को जिसका मतभेद हो जाय दो पच नियुक्त करने पडते थे जैसा पहले कहा जा चुका है, परन्तु केवल एक ही व्यक्ति इसका जातीय हो सकता था अथवा उन व्यक्तियो मे से चुना जा सकता था जो इसके द्वारा स्थायी विवाचन न्यायालय के सदस्य निर्वाचित हुए हो ।

प्रशासकीय परिषद् —परिषद मे नीदरलैण्ड के वैदेशिक विभाग का मन्त्री सभापति के रूप मे रहता है तथा प्रतिज्ञा के पक्षकार राज्यो द्वारा हेग के लिये अधिकार प्रदत्त राजनैतिक प्रतिनिधि रहते हैं ।

ब्यूरो (कार्यालय) :—न्यायालय का कार्यालय हेग मे शांति-महल (Peace Palace) मे स्थापित है और इसमे विवाचन का स्थायी न्यायालय का महासचिव तथा थोडे स कर्मचारी वर्ग हैं । कार्यालय प्रशासन करता है तथा प्रलेखागार का भार वहन करता है । यह न्यायाधिकरणो के सगठन सम्बन्धी पत्र व्यवहार भी करता है ।

अर्थ-व्यवस्था —न्यायाधिकरण के व्यय सविदाकार राज्यों द्वारा नियत अनुपात मे वहन किये जाते हैं । प्रतिज्ञा-पत्र मे यह भी दिया गया है कि पचायत का प्रत्येक पक्षकार अपना-अपना व्यय वहन करेगा तथा न्यायाधिकरण के अन्य पक्षकारो द्वारा समान भाग मे वहन किये जायेगे ।

न्यायालय का प्रकार —वस्तुत विवाचन का स्थायी न्यायालय कोई न्यायालय नही है वरन् पचो की केवल एक तालिका है जिसमे से न्यायाधिकरण सगठित किया जा सके । ऐसी स्थिति मे शब्द के वास्तविक अर्थ मे इसमे कोई स्थिरता नही है । मैनली ओ हडसन का कथन है कि 'विवाचन का स्थायी न्यायालय' का नाम वास्तव मे एक मिथ्या नाम है तथा ऐसी आशाएँ उत्पन्न करके जो पूरी नही की जा सकती थी सार्वजनिक विचारधारा को कुछ धोखा देने के लिये उत्तरदायी हो सकता है । विवाचन का स्थायी न्यायालय वास्तव मे कोई न्यायालय नही है, यह यथार्थ मे एक न्यायाधिकरण है, यद्यपि यह प्राय 'हेग का न्यायाधिकरण' इस नाम से निर्दिष्ट किया जाता है । इसके स्थान में यह 'तदर्थ (ad hoc)

न्यायाधिकरणो को सगठित करने मे सुविधा प्रदान करने की एक युक्ति है। यह स्थायी केवल इस अर्थ मे है कि एक तालिका स्थायी रूप से प्राप्य है।

विवाचक निर्णय —सन् १६०२ तथा १६३२ के बीच मे हेग के विवाचन के स्थायी न्यायालय द्वारा बीस निर्णय दिये गये जिनमें सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच का उत्तरी अटलांटिक मत्स्यालयो का झगडा (१६१०), सावरकर का मामला (१६११), नौर्वे तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच में नौर्वे के जहाजों के प्रथम महायुद्ध मे अधिग्रहण सम्बन्धी मामला (१६२२) सम्मिलित हैं।

न्यायाधिकरण के समक्ष के कुछ मामले

१. उत्तरीय अटलांटिक मत्स्यालयों का मामला (१६१६) :—जनवरी २७, सन् १६०६, को एक विशेष स्वीकार पत्र लिखा गया जिसके द्वारा अमेरिका तथा ब्रिटेन की सरकारे इस बात पर सहमत हो गयी कि कुछ प्रश्नो को हेग के विवाचन के स्थायी न्यायालय के सदस्यो मे से चुने गये विवाचन न्यायाधिकरण के निर्णय पर छोड दिया जाय। सयुक्त राज्य अमेरिका यह दावा करता था कि उसको न्यूफाउडलैंड के कुछ भागो से मछली लेने का अधिकार है तथा यह भी दावा किया कि मत्स्यालयो के सम्बन्ध मे विनिमय, कैनाडा, ग्रेट ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सयुक्त रूप से बनाया जाना चाहिये न कि ग्रट ब्रिटेन तथा कैनेडा द्वारा अकले। न्यायाधिकरण ने अपने पंचाट मे यह प्रकट किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका को दी गई मत्स्यालयो की स्वतन्त्रता से उनके पक्ष मे कोई अन्तर्राष्ट्रीय दासत्व उत्पन्न नही होता। इसने यह भी मत प्रकट किया कि ग्रेट ब्रिटेन का सयुक्त राज्य अमेरिका की सम्मति के बिना विनियम बनाने के अधिकार का उपयोग इस बात पर सीमित था कि ऐसे विनियम भाव युक्त होने चाहिये तथा उनको सन् १८१८ की सधि का उल्लघन न करना चाहिये।

२ सावरकर का मामला (१६११) :—सावरकर एक भारतीय नेता, जो ब्रिटेन के डाक जहाज मोरिया में बन्दी के रूप मे इगलैण्ड से भारत को ले जाये जा रहे थे, वा जब जहाज मार्सलीज पहुँचा तो वे भाग गये। वह फ्रांस की पुलिस द्वारा गिरफ्तार किये गये तथा जहाज के कप्तान को, बिना प्रत्यर्पण सम्बन्धी कार्यवाही किये, हस्तगत कर दिया गया। फ्रास की यह माँग कि भागे हुये बन्दी को वापस कर दिया जाय ब्रिटेन की सरकार द्वारा अस्वीकृत कर दी गयी। प्रश्न जो विवाचन के स्थायी न्यायालय के पाँच सदस्यों से बने हुये न्यायाधिकरण के सामने विचार के लिये उपस्थित हुआ वह यह था कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के अनुसार भागा हुआ बन्दी फ्रांस की सरकार को वापस कर दिया जाय ? न्यायाधि-

करण ने इस प्रश्न का उत्तर इस कथन के साथ नकारात्मक दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे कोई नियम ऐसा नही है जिसके द्वारा ऐसी दशाम्रो मे किसी शक्ति पर जिसके अभिग्रहण मे कोई बन्दी हो उसको वापस कर देने का कर्तव्य आरोपित किया गया हो इसलिये कि विदेशी अभिकर्त्ता द्वारा गलती की गई थी जिसने कि उस शक्ति को हस्तगत किया।

३ रूस का क्षतिपूर्ति वाला मामला (१६१२) —यह झगडा जनवरी २७ तथा फरवरी ८ सन् १८७६ की कुस्तुन्तुनियां की सन्धि के परिणामस्वरूप क्षतिपूर्ति की धनराशि पर सूद दिये जाने के सम्बन्ध मे था जो (धनराशि) टर्की द्वारा रूसी प्रजाजनो तथा संस्थाम्रो को उस क्षति के लिये देय थी जो उन्होने युद्ध के बीच मे सहन किया। यह झगडा विवाचन के स्थायी न्यायालय के सदस्यो से सगठित एक न्यायाधिकरण को निर्देशित हुआ। न्यायाधिकरण ने यह घोषित किया कि रूस का दावा ग्राह्य था किन्तु उन्होने यह मत प्रकट किया कि तुर्की की सरकार सूद-क्षति देने को बाध्य नही है।

विवाचन का स्थायी न्यायालय अब भी विद्यमान है यद्यपि सन् १६३२ से इसके अनुबन्धो के अधीन सगठित न्यायाधिकरण को कोई मामला निर्देशित नही हुआ है।

इसके अतिरिक्त समय समय पर पायस फड केस (१६०२), जापानी गृहकर का मामला (१६०५), कैसाब्लाका का मामला (१६०६), वैनेजुरा का मामला (१६१२), आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

———

अध्याय ३२

२. अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय

[The Permanent Court of International Justice]

न्यायालय की उत्पत्ति :—अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय सन् १६२१ मे लीग आफ नेशन्स की प्रतिज्ञा के, जिस पर वार्सलीज मे जून २८ सन् १६१६ को हस्ताक्षर किये गये, अनुच्छेद १४ के अनुसार स्थापित किया गया। उस अनुच्छेद में यह व्यवस्थापित है .—

"परिषद् लीग के सदस्यो द्वारा ग्रहण किये जाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के स्थापनार्थ योजनाएँ बनायेगी तथा उनको समर्पित करेगी"। "The Council shall formulate and submit to the members

न्यायाधिकरणों को सगठित करने मे सुविधा प्रदान करने की एक युक्ति है। यह स्थायी केवल इस ग्रर्थ मे है कि एक तालिका स्थायी रूप से प्राप्य है।

विवाचक निर्णय —सन् १६०७ तथा १६३२ के बीच मे हेग के विवाचन के स्थायी न्यायालय द्वारा बीस निर्णय दिये गये जिनमे सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच का उत्तरी अटलाटिक मत्स्यालयों का झगडा (१६१०), सावरकर का मामला (१६११), नोर्वे तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मे नोर्वे के जहाजों के प्रथम महायुद्ध मे अधियाचन सम्बन्धी मामला (१६२२) सम्मिलित हैं।

न्यायाधिकरण के समक्ष के कुछ मामले

१. उत्तरीय अटलाटिक मत्स्यालयों का मामला (१६१६) :—जनवरी २७, सन् १६०६, को एक विशेष स्वीकार पत्र लिखा गया जिसके द्वारा अमेरिका तथा ब्रिटन की सरकारे इस बात पर सहमत हो गयी कि कुछ प्रश्नो को हेग के विवाचन क स्थायी न्यायालय के सदस्यो मे से चुने गये विवाचन न्यायाधिकरण के निर्णय पर छोड दिया जाय। सयुक्त राज्य अमेरिका यह दावा करता था कि उसको न्यूफाउडलैंड के कुछ भागो से मछली लेने का अधिकार है तथा यह भी दावा किया कि मत्स्यालयो के सम्बन्ध मे विनिमय, कैनाडा, ग्रेट ब्रिटेन तथा सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सयुक्त रूप से बनाया जाना चाहिये न कि ग्रेट ब्रिटेन तथा कैनेडा द्वारा अकेले। न्यायाधिकरण ने अपने पचाट मे यह प्रकट किया कि सयुक्त राज्य अमेरिका को दी गई मत्स्यालयो की स्वतन्त्रता से उनके पक्ष मे कोई अन्तर्राष्ट्रीय दासत्व उत्पन्न नही होता। इसने यह भी मत प्रकट किया कि ग्रेट ब्रिटेन का सयुक्त राज्य अमेरिका की सम्मति के बिना विनियम बनाने के अधिकार का उपयोग इस बात पर सीमित था कि ऐसे विनियम भाव युक्त होने चाहिये तथा उनको सन् १८१८ की सधि का उल्लघन न करना चाहिये।

२ सावरकर का मामला (१६११) :—सावरकर एक भारतीय नेता, जो ब्रिटेन के डाक जहाज मोरिया में बन्दी के रूप मे इगलैंड से भारत को ले जाये जा रहे थे, था जब जहाज मार्सलीज पहुँचा तो वे भाग गये। वह फ्रांस की पुलिस द्वारा गिरफ्तार किये गये तथा जहाज के कप्तान को, बिना प्रत्यर्पण सम्बन्धी कार्यवाही किये, हस्तगत कर दिया गया। फ्रांस की यह माँग कि भागे हुये बन्दी वापस कर दिया जाय ब्रिटेन की सरकार द्वारा अस्वीकृत कर दी गयी। विवाचन के स्थायी न्यायालय के पाँच सदस्यों से बने हुये न्यायाधिकरण विचार के लिये उपस्थित हुआ वह यह था कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय वि अनुसार भागा हुआ बन्दी फ्रांस की सरकार को वापस कर दिया

'कार्यरूप मे परिणत करना बडा ही कठिन, समय नष्ट करने वाला तथा अधिक अपव्ययी था" तथा "न्यायशास्त्र के समूह को एकत्रित करने का कोई आधार नही था'। यद्यपि १६०७ की प्रतिज्ञा द्वारा एक ऐसे न्यायालय का सगठन अपेक्षित था जो स्वतन्त्र हो, सुविधा से प्राप्य हो और ऐसे न्यायाधीशों से मिलकर बना हो जो विश्व की विभिन्न न्यायिक पद्धतियो का प्रतिनिधित्व करते हो तथा विवाचन न्याय शास्त्र मे अविच्छिन्नता सुनिश्चित करने के लिये योग्य हो, तथापि जो न्यायाधिकरण हेग मे बना वह एक स्थायी न्यायालय नही था। इसके न्यायाधीश भी स्थायी पदाधिकारियो के वर्ग के नही थे। वास्तव मे न्यायाधिकरण को न्यायालय केवल सौज यता से कहा जा सकता था। यह कवल एक उपाय 'तदर्थ' (ad hoc) न्यायाधिकरणो को सगठन करने का था। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय एक स्थायी न्यायालय था जिसमे न्यायाधीशो तथा पदाधिकारियो की नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिए थी। यहाँ राज्यो को अपने न्यायाधीशो को एक सूची मे छाटने का विकल्प नही था जैसी दशा कि विवाचन के स्थायी न्यायालय मे थी।

न्यायालय की पहुँच (Access to Court) —सविधि के अनुच्छेद ३४ मे यह व्यवस्था की गई थी कि केवल राज्य अथवा लीग आफ नेशन्स के सदस्य न्यायालय के समक्ष मामलो मे पक्षकार हो सकते थे। अनुच्छेद ३५ ने न्यायालय को लीग आफ नेशन्स के सदस्यो तथा उन राज्यो के लिये खोल दिया जो प्रतिज्ञापत्र की अनुसूची मे उल्लिखित थे, किन्तु लीग आफ नेशन्स के उन सदस्यों के लिये नही जो दिसम्बर ६, सन् १६२० के हस्ताक्षर क मसोदे मे पक्षकार हुए थे।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Court) —सविधि के अनुच्छेद ३६ के अन्तगत न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे वे सब मामले आते थे जिनको किसी झगडे का पक्षकार उसे निदेशित करे चाहे उस समय उसका प्रवर्तन किसी सधि अथवा प्रतिज्ञा-पत्र के विशेष प्रतिबध के अधीन अथवा एक घोषणा द्वारा जिसमे न्यायालय का क्षेत्राधिकार "अनिवार्य स्वत सिद्ध तथा बिना किसी विशेष स्वीकार पत्र के" स्वीकार किया गया हो। अनुच्छेद ३७ मे यह व्यवस्था की गयी थी कि जब उस समय उसका प्रवर्तन किसी सधि अथवा प्रतिज्ञा-पत्र मे यह अनुबन्धित हो कि किसी विषय को लीग आफ नेशन्स द्वारा सगठित किये गये न्यायाधिकरण में निर्देशित किया जाय तो उस दशा मे न्यायालय ही सम्यक् न्यायाधिकरण था। यह भी व्यवस्था की गई थी कि सदस्यगण वैकल्पिक खड को एक भिन्न मसौदे पर हस्ताक्षर करके स्वीकृत कर ले जिस पर हस्ताक्षर से यह आशय प्रकट होता था कि निम्नलिखित विषयो पर न्यायालय में निर्णय किया जाय अर्थात् —

of the League for adoption plans for the establishment of a Permanent Court of International Justice") । इसके अनुसार परिषद् ने फरवरी १३, सन् १६२० को कुछ सुविख्यात न्यायविशारदों को न्यायालय के स्थापनार्थ योजनाएँ बनाने तथा परिषद् को प्रतिवेदित करने के लिए एक समिति बनाने के लिये निमंत्रित किया । इस पर उन्होंने एक योजना बनायी जो मुख्यत परिषद् तथा सभा द्वारा ग्रहण की गयी ।

न्यायालय के सदस्यगण —न्यायालय सख्या मे १५ स्वतत्र विचार के न्यायाधीशो का एक समूह था जिसमे उनकी राष्ट्रीयता का कोई ध्यान नही रखा जाता था और ये लोग उन व्यक्तियो मे से होते थे जो उच्च नैतिक चरित्र क थे तथा अपने-अपने देश मे सर्वोच्च न्यायिक पद मे नियुक्ति की योग्यता रखते थे । वे नौ वर्षों के लिये निर्वाचित होते थे तथा पुनः निर्वाचित हो सकते थे । विवाचन के न्यायालय मे जातीय वर्गों द्वारा मनोनीत किये गये व्यक्तियो की सूची मे से न्यायाधीशो का निर्वाचन सभा तथा परिषद् को सौंपा गया था । किसी निर्वाचन के लिए मतो का पूर्ण बहुमत होना आवश्यक था । निर्वाचन केवल उसी दशा मे निश्चित माना जाता था जब प्रार्थी उसे स्वीकृत कर ले । उपबन्ध के अनुच्छेद ३१ मे यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक प्रतिस्पर्धी पक्षकार के जातीय न्यायाधीशो को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मामले मे बैठन का अधिकार है ।

न्यायालय नौ न्यायाधीशो की गणपूर्ति (कोरम) से बनता था ।

अनुच्छेद २१ मे यह व्यवस्था की गई कि न्यायालय अपना सभापति तथा उप-सभापति तीन वर्ष के लिये निर्वाचित कर लेगा और एक रजिस्ट्रार नियुक्त करेगा ।

न्यायालय का स्थान हेग मे स्थापित किया गया ।

न्यायालय ने फरवरी १५, सन् १६२२ को १५ सदस्यो से अर्थात् ११ न्यायाधीशो तथा ४ उप-न्यायाधीशो स उस समय कार्य करना आरम्भ किया जब उन्होंने शपथ ग्रहण की ।

राजनैतिक विशेषाधिकार :—संविधि के अनुच्छेद १६ में यह व्यवस्था की गई थी कि "न्यायालय के सदस्यगण जब व न्यायालय क कार्य म लगे हो राजनैतिक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियो का उपभोग करेंगे ।"

विवाचन न्यायालय पर सुधार : (Improvement on the Arbitration Court) :—अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय विवाचन के स्थायी न्यायालय पर एक स्पष्ट सुधार था । यह एक उचित कथन था कि विवाचन न्यायालय को जिसका विचार सन् १८६६ को प्रतिज्ञा में सामने रखा गया था,

"कार्यरूप में परिणत करना बड़ा ही कठिन, समय नष्ट करने वाला तथा अधिक अपव्ययी था" तथा "न्यायशास्त्र के समूह को एकत्रित करने का कोई आधार नहीं था"। यद्यपि १६०७ की प्रतिज्ञा द्वारा एक ऐसे न्यायालय का सगठन अपेक्षित था जो स्वतन्त्र हो, सुविधा से प्राप्य हो और ऐसे न्यायाधीशों से मिलकर बना हो जो विश्व की विभिन्न न्यायिक पद्धतियों का प्रतिनिधित्व करते हो तथा विवाचन न्यायशास्त्र मे अविच्छिन्नता सुनिश्चित करने के लिये योग्य हो, तथापि जो न्यायाधिकरण हेग मे बना वह एक स्थायी न्यायालय नही था। इसके न्यायाधीश भी स्थायी पदाधिकारियो के वर्ग के नही थे। वास्तव मे न्यायाधिकरण को न्यायालय केवल सौजन्यता से कहा जा सकता था। यह केवल एक उपाय 'तदर्थ' (ad hoc) न्यायाधिकरणो को संगठन करने का था। इसके विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय न्याय का स्थायी न्यायालय एक स्थायी न्यायालय था जिसमे न्यायाधीशो तथा पदाधिकारियो की नियुक्ति एक निश्चित अवधि के लिए थी। यहाँ राज्यो को अपने न्यायाधीशो को एक सूची मे छाँटने का विकल्प नही था जैसी दशा कि विवाचन के स्थायी न्यायालय मे थी।

न्यायालय की पहुँच (Access to Court) :—सविधि के अनुच्छेद ३४ मे यह व्यवस्था की गई थी कि केवल राज्य अथवा लीग आफ नेशन्स के सदस्य न्यायालय के समक्ष मामलो मे पक्षकार हो सकते थे। अनुच्छेद ३५ ने न्यायालय को लीग आफ नेशन्स के सदस्यो तथा उन राज्यो के लिये खोल दिया जो प्रतिज्ञापत्र की अनुसूची मे उल्लिखित थे, किन्तु लीग आफ नेशन्स के उन सदस्यो के लिये नही जो दिसम्बर ६, सन् १६२० के हस्ताक्षर के मसौदे मे पक्षकार हुए थे।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Court):—सविधि के अनुच्छेद ३६ के अन्तर्गत न्यायालय के क्षेत्राधिकार मे वे सब मामले आते थे जिनको किसी झगड़े का पक्षकार उसे निर्देशित करे चाहे उस समय उसका प्रवर्तन किसी सन्धि अथवा प्रतिज्ञा-पत्र के विशेष प्रतिबन्ध के अधीन अथवा एक घोषणा द्वारा जिसमे न्यायालय का क्षेत्राधिकार "अनिवार्य स्वतःसिद्ध तथा बिना किसी विशेष स्वीकार-पत्र के" स्वीकार किया गया हो। अनुच्छेद ३७ मे यह व्यवस्था की गयी थी कि जब उस समय उसका प्रवर्तन किसी संधि अथवा प्रतिज्ञा-पत्र मे यह अनुबन्धित हो कि किसी विषय को लीग आफ नेशन्स द्वारा सगठित किये गये न्यायाधिकरण में निर्देशित किया जाय तो उस दशा मे न्यायालय ही सम्यक् न्यायाधिकरण था। यह भी व्यवस्था की गई थी कि सदस्यगण वैकल्पिक खड को एक भिन्न मसौदे पर हस्ताक्षर करके स्वीकृत कर ले जिस पर हस्ताक्षर से यह आशय प्रकट होता था कि निम्नलिखित विषयो पर न्यायालय में निर्णय किया जाय अर्थात् :—

(१) किसी सन्धि की व्याख्या (The Interpretation of a Treaty),

(२) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई प्रश्न (Any Question of International Law),

(३) किन्हीं तथ्यों (facts) का अस्तित्व जिनके प्रमाणित होने पर अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य का उल्लंघन हो जाये (The existence of any fact, which, if proved, would involve a breach of international obligation),

(४) अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य के उल्लंघन के लिये जो क्षतिपूर्ति की जाय उसका स्वरूप तथा विस्तार (The nature or extent of the reparation to be made for breach of an international obligation)।

बीस से अधिक राष्ट्रों ने इस मसौदे को स्वीकार किया। ब्रिटिश सरकार ने न्यायालय का क्षेत्राधिकार सन् १९२७ में कुछ निग्रह के साथ स्वीकार किया।

न्यायालय अपनी परामर्शदात्री सम्मति स्वत नहीं दे सकता था। न्यायालय केवल उसी दशा मे काय कर सकता था जब कोई प्रार्थना उसके अधिकार क्षेत्र मे होती थी और यह केवल उसी स्थिति मे सम्भव था जब परिषद् अथवा लीग आफ नेशन्स की सभा ऐसा करे।

न्यायालय द्वारा लागू की जाने वाली विधियाँ —संविधि के अनुच्छेद ३८ मे चार वर्ग के विधि के स्रोत दिये गये थे जिनको लागू करने के लिये न्यायालय को निर्देशित किया गया था। वे निम्नवत् थे —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (International Conventions),

(२) अन्तर्राष्ट्रीय रूढ़ियाँ (International Custom),

(३) सभ्य राज्यों द्वारा विधि के स्वीकृत सामान्य सिद्धान्त (General Principles of Law accepted by civilized States), और

(४) न्यायिक निर्णय तथा भिन्न भिन्न राष्ट्रों के उच्च विद्वानों के उपदेश (Judicial decisions and teachings of the most highly qualified publicists of the various nations)।

स्थायी न्यायालय के प्रमुख निर्णय

१ एस० एम० विम्बेल्डन [(1923) P C I J Ser A No 1] —२१ मार्च, सन् १९२१ का विम्बेल्डन नामक एक ब्रिटानिया के जहाज को जर्मन प्राधिकारियों द्वारा कील नहर म प्रवेश वर्जित कर दिया गया। न्यायालय न यह निर्णय दिया कि वार्सलीज की सन्धि के अनुच्छेद ३८० के अध के अन्तर्गत जर्मनी के विम्बेल्डन को कील नहर में निकल जाने की अनुमति देनी चाहिये थी

क्योंकि सन्धि मे यह दिया गया है कि कील नहर उन सभी राष्ट्रों के व्यापारी तथा जंगी जहाजों के लिये स्वतन्त्र रूप से खुली रक्खी जायगी जिनकी कि जर्मनी के साथ सन्धि हैं।

२. पोलैंड मे जर्मन निवासी (German Settlers in Poland) :—लीग आफ नेशन्स की कोन्सिल ने न्यायालय के समक्ष परामर्श के लिये जर्मन निवासियो की समस्या जो कि पोलैंड मे बसे हुय थे, रखी। न्यायालय का निष्कर्ष था कि "यहाँ तक कि वे लोग जो कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि में एक सामान्य सिद्धान्त के रूप मे राज्य के उत्तराधिकार का दावा करते हैं, यह नही कहते कि वैयक्तिक अधिकार जिनमे कि राज्य से प्राप्त अधिकार भी सम्मिलित हैं, जहाँ तक कि सम्प्रभुता मे उत्तराधिकार के विरुद्ध हैं, अवैध है।"

३ पोलैंड अपर साइलेसिया का मामला (Polish Upper Silesia Case) —पोलैंड अपर साइलेसिया के मामले मे जर्मन हितो का ध्यान में रखते हुये न्यायालय ने सामान्य रूप से स्वीकृत अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अपनाया, जो कि भले ही अन्तत जिनेवा अभिसमय का एक अग बना।

४ एस० एस० लोटस [(1927) P. C I J Ser. A No 10] —अगस्त २, सन् १९२६ को फ्रासीसी डाक जहाज लोटस तथा टर्की के कोयला ढोने वाले जहाज बोज कोर्ट के बीच मे टक्कर हो गई जिसके परिणामस्वरूप टर्की के आठ जातीय जनो को प्राणो से हाथ धोना पडा। न्यायालय ने यह कथन किया कि "अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्वतन्त्र राज्यो के बीच के सम्बन्धो को अनुशासित करती है। अत राज्यो पर बाध्यकारी विधियाँ उन्ही की स्वतन्त्र इच्छा से उत्पन्न होती हैं जो प्रतिज्ञाओ द्वारा अथवा रूढियो द्वारा प्रकट की जाती हैं जिन्हे विधि के सिद्धान्तो का द्योतक माना जाता है तथा जो सामान्य उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये साथ साथ रहने वाली स्वतन्त्र जातियो के बीच के सम्बन्धो को नियमित करने के लिये स्थापित की गई हैं। अत राज्यो की स्वतन्त्रता पर बन्धनो का अनुमान नही किया जा सकता।" न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि तुर्की ने तुर्की विधि के अनुसार लेफ्टिनेंट डेमो पर जो टक्कर के समय लोटस जहाज पर पहरे का पदाधिकारी था, दाण्डिक कार्यवाहियाँ चलाकर अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तो के विरुद्ध कार्य नही किया था। अपराध जिसके लिये लफ्टिनेन्ट डेमो के विरुद्ध अभियोजन चलाया गया था एक असावधानी तथा अविवेक का कार्य था जो लोटस जहाज पर उत्पन्न हुआ और उसका परिणाम बोजकोर्ट पर प्रकट हुआ। यह दोनो तथ्य ऐसे हैं कि वे वैधिक रूप से पूर्णत अविभेद्य हैं यहाँ तक कि उनके पृथक करने से अपराध का अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा और ऐसी स्थिति में दोनों राष्ट्रो मे से प्रत्येक इस घटना के सम्बन्ध में पूर्णरूप से क्षेत्राधिकार का उपयोग कर सकता है।

५. कोरज़ो की फैक्ट्री से सम्बन्धित मामला (The Case concerning the Factory of Chorzow) :—न्यायालय का मत था "यह एक विधि का सिद्धान्त है कि किसी करार के भंग करने मे प्रतिकार का आभार सम्मिलित है। यदि किसी अभिसमय को पूरा न किया गया तो उसकी क्षति-पूर्ति उसके द्वारा होगी।"

अन्य मामले अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय द्वारा निर्णीत कुछ अभियोगो म प्रमुख निम्नलिखित हैं :—डैन्जिग और अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ, पूर्वीय ग्रीन्लैंड का मामला, ग्रेको टर्किश समझौते की व्याख्या, मेमेल की संविधि (Statute of Memel) की व्याख्या, लोसान की सन्धि की व्याख्या, डैन्जिग के न्यायालयो का क्षेत्राधिकार, अलबानिया के अल्पसख्यको और ट्यूनिस और मोरक्को की राष्ट्रीयता सम्बन्धित डिग्रियाँ, डैंजिग मे पोलैंड के नागरिको से व्यवहार, डैंजिग म पोलैंड की डाक व्यवस्था और ओडर के अन्तर्राष्ट्रीय आयोग का क्षेत्रीय क्षेत्राधिकार, आदि।

अध्याय ३३

३. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

(The International Court of Justice)

इसकी उत्पत्ति :—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र सङ्घ का अंग है क्योकि इसकी संविधि संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के चार्टर का एक अभिन्न अंग है। इसका परिणाम यह है कि संयुक्त राष्ट्र सघ के सब सदस्य संविधि के स्वतः पक्षकार हैं। केवल इसी अर्थ मे यह अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय से भिन्न है क्योकि यह वैधिक रूप से लीग आफ नेशन्स का अंग नही था और उसकी संविधि प्रतिज्ञा-पत्र से भिन्न एक पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकार पत्र था। इसका व्यवस्थान प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के व्यवस्थान की अक्षरशः प्रतिलिपि है।

द्वितीय महायुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के कार्य मे, विशेषतः जर्मनी द्वारा हॉलैण्ड के आक्रमण के कारण, अन्तर्भङ्ग किया, किन्तु दो महायुद्धो के बीच मे इसके कार्य ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास करने तथा झगड़ो का शान्तिपूर्वक समझौता प्राप्त करने की क्षमता के कारण एक नई आशा का सचार किया। इसके निर्णय इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि इसने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के जटिल

प्रश्नो को गुत्थियो को सुलझा कर अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी को कम करने का निष्कपट प्रयास किया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि का स्थायी न्यायालय अन्त मे लीग आफ नेशन्स की अन्तिम सभा द्वारा अप्रेल सन् १९४६ मे विघटित कर दिया गया। इसके पूर्व सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के चार्टर ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के मुख्य अग के रूप मे स्थापित किए जाने को व्यवस्था पहले से ही कर ली थी। वर्तमान न्यायालय की बैठक हेग मे सर्वप्रथम अप्रेल ३, सन् १९४६ को हुई।

चार्टर के अनुच्छेद ९२ मे यह विशेष रूप से उपबन्धित है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय सयुक्त राष्ट्र सङ्घ का मुख्य न्यायिक अग होगा और सलग्न सविधि के अनुसार कार्य करेगा जो अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के व्यवस्थान पर आधारित है।

न्यायालय का संगठन:—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय के समान पन्द्रह न्यायाधीश एक सभापति तथा एक उप-सभापति के अधीन होते हैं जो न्यायालय के सदस्यो द्वारा उन्ही में से निर्वाचित किये जाते हैं। न्यायालय के न्यायाधीश सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सुरक्षा परिषद् तथा साधारण सभा द्वारा उन उम्मीदवारो मे से निर्वाचित होते हैं जो पहले विवाचन के स्थायी न्यायालय के जातीय वर्गों द्वारा मनोनीत किये गये हैं। न्यायाधीश उनकी जातीयता की अपेक्षा किये बिना उन व्यक्तियो मे से छाटे जाते है जो बहुत उच्च नैतिक चरित्र के हो तथा जो ऐसी योग्यता रखते हो जो उनके अपने देश मे सबसे उच्च न्यायिक पद की नियुक्ति के लिये अपेक्षित हों अथवा जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे मान्यता प्राप्त योग्यता रखने वाले न्याय-विशारद हो, किन्तु इस बात के स्पष्ट अनुबन्ध हैं कि कोई दो न्यायाधीश उसी राष्ट्र के जातीयजन नहीं हो सकते। वे न तो कोई राजनैतिक अथवा प्रशासकीय कृत्य कर सकते हैं और न व्यावसायिक रूप के किसी कार्य मे लग सकते हैं। न्यायालय के न्यायाधीश नौ वर्ष के लिये निर्वाचित किये जाते है और उनका पुनः निर्वाचन हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि के अनुच्छेद ३१ मे झगडे के प्रत्येक पक्षकार के जातीय न्यायाधीशो को यह अनुज्ञा दी गई है कि वे न्यायालय के समक्ष मामले मे अपने बैठने के अधिकार को बनाये रक्खे। यदि न्यायालय न्यायसभा मे केवल एक ही पक्षकार का न्यायाधीश है तो दूसरे पक्षकार को यह अधिकार है कि वह अपने ही मनोनीत व्यक्ति को न्यायाधीश के रूप मे निर्वाचित करे। यदि न्यायालय न्याय-सभा मे पक्षकारो के जातीय कोई न्यायाधीश सम्मिलित नही हैं तो प्रत्येक पक्षकार अपनी रुचि के अनुसार किसी न्यायाधीश को मनोनीत कर सकता है।

न्यायालय के बैठने का स्थान हेग में स्थापित किया गया है किन्तु जब कभी इसे वांछनीय हो तो न्यायालय अन्य स्थान मे भी बैठ सकता है।

न्यायालय की क्षमता (Competence of the Court) :—संविधि के अनुच्छेद ३४ के अन्तर्गत यह व्यवस्था दी गई है कि न्यायालय के समक्ष राज्य ही पक्षकार के रूप मे प्रकट होंगे। इस नियम की दृढ़ता आगे के दो अनुच्छेदो द्वारा कुछ कम हो गई है। पहले तो नियमों के अनुरूप सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से न्यायालय निवेदन करेगा जिसमे मामलो की सूचना दी जायेगी और ऐसी सूचनाएँ वह ऐसे संगठनो द्वारा उन्ही की इच्छा के आधार पर प्राप्त करेगा। संविधि में सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की परिभाषा नही दी गई है। ओपेनहेम इसकी परिभाषा करते हुये इसे "A body created by a treaty between states and composed, at least in part, of representatives of states", कहते हैं, अर्थात् यह एक ऐसा संगठन है जो कि इसे निर्मित करने वाले राज्यो के बीच की सन्धि के आधार पर कम से कम अंश रूप मे ही राज्यों के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित है। दूसरी बात यह है कि जब कभी सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय सङ्घ को निर्मित करने वाले तथ्यों या किसी अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय को स्वीकृत करने का प्रश्न न्यायालय के समक्ष आता है तो रजिस्ट्रार इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सार्वजनिक सङ्घ की विज्ञप्ति करेगा और इसकी समस्त लिखित कार्यवाहियो की सूचना देगा।

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Court) :—न्यायालय उन राज्यो के ऊपर क्षेत्राधिकार का प्रयोग करता है जो संविधि के पक्षकार हैं तथा उन राज्यो पर जो न्यायालय के रजिस्ट्रार के पास एक घोषणा जमा कर दें जिसमे चार्टर के अनुसार न्यायालय के क्षेत्राधिकार की स्वीकृति व्यक्त हो तथा यह प्रतिज्ञा की गई हो कि वे न्यायालय के निर्णयो का सद्भावनापूर्वक पालन करेंगे और चार्टर के अनुच्छेद ६४ के अनुसार कर्तव्यो को स्वीकृत किया गया हो। संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के चार्टर का अनुच्छेद ६४ निम्नलिखित है—

"संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि किसी मामले मे जिसमे वह पक्षकार हो वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय का अनुपालन करेगा।" Each member of the United Nations undertakes to comply with the decision of the International Court of Justice in any case to which it is a party."

न्यायालय का क्षेत्राधिकार तीन भागो मे विभाजित है, अर्थात् [१] ऐच्छिक, [२] अनिवार्य तथा, [३] मंत्रणा।

१ ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction) —न्यायालय की सविधि के अनुच्छेद ३६ में यह उपबन्धित है कि इसके क्षेत्राधिकार के अन्दर वे सब मामले आते हैं जो पक्षकार न्यायालय को स्वीकारोक्ति द्वारा निर्दिष्ट करे। झगडे को निर्दिष्ट करने की स्वीकारोक्ति दोनो पक्षकारो द्वारा की जा सकती है अथवा केवल एक पक्षकार मामले को निर्दिष्ट करे और दूसरा पक्षकार निर्दिष्टि के लिये अपनी सहमति प्रकट करे।

२ अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Obligatory Jurisdiction) —अनुच्छेद ३६ के खड २ म यह उपबन्धित है कि वे राष्ट्र जो वर्तमान सविधि क पक्षकार हैं किसी समय भी यह घोषणा कर सकते हैं कि वे न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अनिवार्य स्वत सिद्ध तथा उसी कर्त्तव्य को स्वीकार करने वाले किसी अन्य राज्य के सम्बन्ध मे किसी विशेष स्वीकारोक्ति बिना निम्नलिखित से सम्बन्धित सब वैधिक झगडों में स्वीकार करते हैं।

(अ) किसी सन्धि की व्याख्या (The interpretation of a treaty),

(आ) अन्तर्राष्ट्रीय विधि का कोई प्रश्न (Any Question of International Law),

(इ) किसी तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लघन समझा जाय। (Existence of any fact which, if established, would constitute a breach of an international obligation), और

(ई) किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य के उल्लघन पर क्षतिपूर्ति का रूप तथा परिमाण। (Nature and extent of the reparation for the breach of an international obligation),

राज्यों द्वारा की गई उपरोक्त घोषणा स्वीकारोक्ति द्वारा अनिवार्य क्षेत्राधिकार को व्यवस्था करती है क्योंकि न्यायालय क्षेत्राधिकार का प्रयोग केवल उसी दशा में कर सकता है जब झगडे के दोनो पक्षकारो ने घोषणा की हो जैसा अनुच्छेद ३६ के खड २ में उपबन्धित है।

सविधि मे यह उपबंधित है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय की सविधि के पुराने वैकल्पिक वाक्यखड के अन्तर्गत की गई घोषणाओ से यह समझा जायेगा कि वर्तमान न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकृति कर ली गई है। वर्तमान न्यायालय के बनने के समय १७ राज्यो की घोषणाएँ उस समय प्रवृत्त थी जो इसको अन्तरित कर दी गयी। अधिकाश घोषणाएँ अदला-बदली की शर्त के अधीन हैं अथवा उनमे कुछ निग्रह है।

न्यायालय का अनिवार्य अथवा आवश्यक क्षेत्राधिकार भी उस दशा में है जब सम्बन्धित पक्षकार किसी ऐसी प्रतिज्ञा से बद्ध हो जिसके अधीन उन्होंने उस मामले को किसी न्यायाधिकरण को निर्दिष्ट करने के लिये स्वीकृत दी हो जो लीग आफ नेशन्स द्वारा बनाया जाने वाला था अथवा अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के स्थायी न्यायालय को निर्दिष्ट करने के लिये स्वीकृति दी हो और व्यवस्थान के अनुच्छेद ३७ के अनुसार ऐसे विषय स्वतः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को निर्दिष्ट किये जाते हैं। न्याय सम्बन्धी स्वीकारोक्तियाँ भी हैं जिनमे किसी स्वीकार-पत्र की व्याख्या अथवा उसके लागू किये जाने के सम्बन्ध मे प्रशासकीय अधिकारी तथा संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के किसी अन्य सदस्य के बीच झगडा उठने मे उस विषय को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे निर्दिष्ट किये जाने की व्यवस्था की गई है। इसके उपरान्त कुछ विशिष्ट अभिकरण भी हैं जिन्होंने झगडे को न्यायालय मे निर्दिष्ट करने की व्यवस्था की है किन्तु यहाँ फिर यह कहा जा सकता है कि ऐसे मामले न्यायालय के समक्ष केवल उसी दशा मे रखे जाते हैं जब प्रशासकीय अधिकारी तथा संयुक्त राष्ट्र सङ्घ अथवा विशिष्ट अभिकरणों के बीच कोई स्वीकृति हो।

चार्टर मे विशेष रूप से उपबंधित विषयों के संबंध मे उसके अनुच्छेद ३६ के खंड ३ मे यह उपबंधित है कि वैधिक झगडे सामान्यतः पक्षकारों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को न्यायालय की संविधि के अनुबन्धों के अनुसार निर्दिष्ट किये जाने चाहिये।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि का सामान्य सिद्धान्त जहाँ तक न्यायालय का क्षेत्राधिकार सम्बन्धित है इस प्रकार संक्षिप्त किया जा सकता है। राज्यों को बिना उनकी सहमति के अपने झगडों को न्यायालय के समक्ष वादानुवाद करने को बाध्य नहीं किया जा सकता है और न्यायालय का क्षेत्राधिकार उन मामलों तक सीमित है जो स्वेच्छा से इसके समक्ष रखे जायँ, केवल उस दशा को छोडकर जब झगडे के पक्षकारों मे से एक ने अपने को स्पष्टतया इस बात के लिये पहले से बद्ध कर दिया हो कि वह किसी विशिष्ट झगडे अथवा झगडों के वर्ग के सम्बन्ध में न्यायालय का क्षेत्राधिकार स्वीकार करेगा।

३. मंत्रणा क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction) :—न्यायालय सुरक्षा परिषद् अथवा सामान्य सभा द्वारा इसको निर्दिष्ट किये गये वैध विषयों में परामर्शदाता का कार्य कर सकता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंग तथा विशिष्ट अभिकरण भी सामान्य सभा द्वारा सशक्त किये जाने पर वैध प्रश्नों पर परामर्शदायक सम्मति माँग सकते हैं। इस विषय पर संगत चार्टर का अनुच्छेद ९६ प्रवर्तित है जो कि निम्नलिखित है :—

१. साधारण सभा अथवा सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे किसी वैध प्रश्न पर परामर्शदात्री सम्मति देने के लिये प्रार्थना कर सकती है।

२. संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंग तथा विशिष्ट अभिकरण भी सामान्य सभा द्वारा इस सम्बन्ध मे कभी भी प्राधिकृत किये जाने पर अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों के भीतर उत्पन्न होने वाले वैध प्रश्नो पर न्यायालय की परामर्शदात्री सम्मति के लिये प्रार्थना कर सकते हैं।

स्वीकार-पत्रो से अधिकाश मे जिनके द्वारा कुछ विशिष्ट अभिकरण सयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति घनिष्ठ संपर्क मे कार्य करने के समक्ष होते हैं ऐसी व्यवस्थायें हैं जिनसे उन्हे प्राधिकृत किया गया है कि वे अपने-अपने कार्य-क्षेत्रो के भीतर उत्पन्न होने वाले वैध प्रश्नो पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्शदात्री सम्मति के लिये प्रार्थना कर सकते हैं।

ऐसी परामर्शदात्री सम्मति पक्षकारो पर बाध्यकारी नही है किन्तु राज्य न्यायालय द्वारा इस प्रकार दी जाने वाली सम्मति के सम्बन्ध मे अपने को पहले से ही सधि अथवा स्वीकार पत्र द्वारा बाध्य कर सकते हैं। यह उस संधि मे किया गया है जो संयुक्त राष्ट्र सघ के विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियो पर सामान्य प्रतिज्ञा के नाम से प्रसिद्ध है जिसकी धारा ३० मे यह उपबन्धित है कि एक ओर से सयुक्त राष्ट्र संघ तथा दूसरी ओर से किसी सदस्य के बीच मे वर्तमान प्रतिज्ञा की व्याख्या तथा उसके लागू किये जाने के सम्बन्ध मे उत्पन्न होने वाले सब मतभेद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को किसी वैध प्रश्न के सम्बन्ध मे परामर्शदात्री सम्मति के लिये निर्दिष्ट किये जायेंगे और न्यायालय द्वारा दी हुई सम्मति पक्षकारो द्वारा निर्णायक स्वीकार की जायगी।

परामर्श क्षेत्राधिकार के संबंध में प्रक्रिया (Procedure with regard to exercise of advisory jurisdiction) :—ऐसा प्रश्न जिनके सम्बन्ध मे *न्यायालय से परामर्श माँगा जाता है लिखित निवेदन के आधार पर न्यायालय के* समक्ष उपस्थित किया जाता है। उसमे प्रश्न का ठीक-ठीक वक्तव्य होता है जिसमे कि परामर्श की आवश्यकता होती है। उसके साथ सभी लेख्यप्रमाण जो कि उस प्रश्न पर प्रकाश डाल सके, सलग्न होते हैं। रजिस्ट्रार उन सभी राज्यों से जिनके कि न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत होने की सभावना रहती है उस निवेदन की परामर्श हेतु सूचना देता है। वह विशिष्ट और सीधे पत्र-व्यवहार द्वारा किसी राज्य को सूचना दे सकता है जिसे कि न्यायालय के समक्ष उपस्थित होना है या यह सूचना न्यायालय के विचार के अनुसार किसी अन्तर्राष्ट्रीय संघ को भी दी जा सकती है। राज्य और संघ जब लिखित या मौखिक वक्तव्य दे लेते हैं तो संघ के अन्य राज्यो

द्वारा उसकी व्याख्या होती है और रजिस्ट्रार समय के क्रम से ऐसे किसी भी लिखित वक्तव्य की सूचना राज्यो और सघो की समानान्तर वक्तव्य के रूप मे दे सकता है। न्यायालय को अपनी सलाह खुले न्यायालय मे देनी होती है। इसकी सूचना पहले से ही सयुक्त राष्ट्र सघ के महासचिव और सदस्य प्रतिनिधियो को दे दी जाती है। ये प्रतिनिधि दूसरे राज्यो और अन्तर्राष्ट्रीय सघो से तात्कालिक रूप मे सम्बद्ध होते हैं। अपने परामर्शदात्री कर्त्तव्य के पालन मे न्यायालय वर्तमान सविधि की भी सहायता लेता है।

न्यायाधीशों की उन्मुक्तियाँ (Immunities of the Judges) :— न्यायाधीशो के सदस्य जब न्यायालय के कार्य मे लगे हो राजनैतिक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियो का उपभोग करते हैं। न्यायालय के समक्ष पक्षकारो के अभिकर्ता, अभिवक्ता तथा अधिवक्ता भी अपने-अपने कर्त्तव्यो के स्वतन्त्रतापूर्वक पालन के आवश्यक विशेषाधिकारो तथा उन्मुक्तियो का उपभोग करते हैं। न्यायालय के सदस्यो तथा रजिस्ट्रार का वेतन, भत्ता तथा प्रतिकार सब करो से उन्मुक्त हैं।

न्यायालय द्वारा लागू की जाने वाली विधि :— सविधि के अनुच्छेद ३८ मे यह व्यवस्था की गई है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय जिसका कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार ऐसे झगडो का निर्णय करना है जैसा कि इसके समक्ष रखे जायें लागू करेगा :—

(अ) अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयो (International Conventions) को चाहे वे सामान्य हो अथवा विशेष जिनसे वे नियम स्थापित हो जो प्रतिस्पर्धी राज्यों द्वारा स्पष्टतया स्वीकृत किये गये हो।

(आ) अन्तर्राष्ट्रीय रूढियो (International Custom) को इस बात के साक्ष्य मे कि कोई सामान्य प्रथा विधि के रूप मे स्वीकृत है।

(इ) सभ्य राज्यो द्वारा स्वीकृत विधि के सामान्य सिद्धान्त।

(ई) न्यायिक निर्णय तथा भिन्न-भिन्न राज्यो के अत्यन्त उत्कृष्ट योग्यता रखने वाले लेखको के उपदेश, विधि के नियमो को निश्चित करने के लिये सहायक उपायो के रूप मे।

संविधि के अनुच्छेद ५९ के अनुसार न्यायालय का निर्णय पक्षकारो तथा उस विशिष्ट मामले को छोड कर और कोई बाध्यकारी प्रभाव नही रखता।

न्यायालय की प्रक्रिया (Procedure of the Court) — न्यायालय के समक्ष मामले या तो विशेष स्वीकारोक्ति की अधिसूचना द्वारा अथवा रजिस्ट्रार के नाम दिये गये एक लिखित प्रार्थना-पत्र द्वारा लाये जाते हैं। किसी झगडे के निर्णय के लिये जब तक व्यवस्थान मे अन्यथा उपबन्धित न हो पूरा न्यायालय बैठता है।

नौ न्यायाधीशों की गणपूर्ति (कोरम) से न्यायालय बनता है। सब प्रश्न, निर्णय को सम्मिलित करते हुए, बहुसंख्या से निर्णीत होते हैं। मतों के समान होने की दशा में सभापति अथवा उस न्यायाधीश को जो उसके स्थान में कार्य करता है निर्णायक मत देने का अधिकार है। निर्णय अन्तिम होता है और उसकी अपील नहीं होती। निर्णय का पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा केवल उसी दशा में किया जाता है जब कोई तथ्य इस प्रकार का उपलक्षित हो जो निर्णायक तथ्य के रूप में हो तथा जो निर्णय देने के समय न्यायालय को तथा पुनरीक्षण चाहने वाले पक्षकार को अज्ञात रहा हो, किन्तु उपबन्ध यह है कि ऐसी अज्ञानता असावधानी के कारण न हुई हो। निर्णय के लिये कारण दिए जाते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है न्यायालय के निर्णय उत्तरवर्ती मामलों में वैध रूप से बाध्यकारी नहीं हैं और प्रत्येक निर्णय अपने ही तथ्यों पर रहता है। न्यायालय यदि ऐसा करना चाहे तो अपने पूर्ववर्ती निर्णयों की आत्महानि के बिना उनकी उपेक्षा कर सकता है। न्यायालय की सरकारी भाषा फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी है किन्तु न्यायालय अन्य भाषा का भी प्रयोग अधिकृत कर सकता है।

अन्तरिम अथवा अन्तःकालीन उपाय (Interim or Provisional Measures) :—न्यायालय की सविधि के अनुच्छेद ४१ में उन अन्त कालीन उपायों की व्यवस्था की गई है जिन्हें न्यायालय झगड़े के निर्णय के आलंबित रहने तक निर्दिष्ट करे। इसमें लिखा है —

१. न्यायालय को यह अधिकार होगा कि यदि वह निश्चय करे कि परिस्थितियों से ऐसा अपेक्षित है तो कोई अन्त कालीन उपाय बतावे जो प्रत्येक पक्षकार के यथाक्रम अधिकारों के संरक्षण के लिए करना चाहिये।

२ अन्तिम निर्णय के आलंबित रहने तक प्रस्तावित उपायों का नोटिस तत्काल पक्षकारों को तथा सुरक्षा परिषद् को दे दी जायेगी।

आंग्ल-ईरानी तेल कम्पनी का मामला (I C J Report 1952, p 93) —फारस के तेल उद्योग राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी आंग्ल-ईरानी झगड़े में ब्रिटेन ने आंग्ल ईरानी कम्पनी के साथ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में यह प्रार्थना-पत्र दिया कि फारस में उसके अधिकारों की रक्षा के लिये मामले के तथ्यों के आधार पर निर्णय होने तक अन्त कालीन उपाय अवलम्बन किये जायें। इसी बीच में फारस ने अपनी जून २६ सन् १९५१ को जारी की गई डिगरी के आधार पर आंग्ल-ईरानी तेल उपकरणों के अभिग्रहण का आदेश दिया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने जुलाई ५, सन् १९५१ के निर्णय द्वारा ब्रिटिश सरकार की इस

प्रार्थना का समर्थन किया कि फारस के तेल के झगडे मे स्थिति यथापूर्व रहने दी जाय। न्यायालय ने अपने बहुमत की सम्मति से यह निर्णय किया कि दोनो सरकारें ऐसे उपायो का अवलम्बन करने से अपने को अलग रखें जिनसे तेल का बहाव उस आधार पर रुक जाय जैसा कि यह १ मई से पहले था जब फारस ने राष्ट्रीयकरण विधि को पारित किया। न्यायालय न यह संस्तुति की कि यह निश्चित करने के लिये कि तल-उद्योग बराबर बिना बाधा के जारी रहेगा एक निरीक्षक बोर्ड बने जिसमे प्रत्येक सरकार के दो-दो सदस्य रहे तथा एक पाचवाँ भी हो जो एक तीसरे राष्ट्र का जातीय जन हो और ब्रिटेन तथा फारस की स्वीकृति से चुना गया हो।

फारस सरकार न आंग्ल-ईरानी तेल प्रश्न पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को इस आधार पर अस्वीकार किया कि न्यायालय को इस विषय में कोई क्षेत्राधिकार नही था, क्योंकि आदेश का अर्थ वास्तव म एक सार्वभौमिक राज्य के विरुद्ध एव आदेश था जिसके द्वारा उसे आदेश दिया गया था कि अपने आन्तरिक मामलो की न्यायालय के निर्देशानुसार व्यवस्था करे।

इस बीच मे ब्रिटेन ने इस विषय को सुरक्षा परिषद् को निर्देशित कर दिया और वह इस बात पर सहमत हो गई कि फारस के विरुद्ध ब्रिटेन की शिकायत पर वादानुवाद करे। अक्तूबर १९, सन् १९५१ को सुरक्षा परिषद् ने आंग्ल-फारस तेल झगडे पर वादानुवाद उस समय तक स्थगित कर दिया जब तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय यह निर्णय न करे कि वास्तव मे वह आंग्ल-फारस तेल झगडे को निबटाने के लिये सक्षम है अथवा नही। जुलाई २२, सन् १९५२ को न्यायालय ने पाँच के विरुद्ध नौ वोटो से यह निर्णय किया कि वह ब्रिटेन के इस आरोप का विचार नही कर सकता कि फारस न आंग्ल-ईरानी तेल कम्पनी की ५० लाख पौंड स्टर्लिंग की फारसी सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उलघन किया। इसके अनुसार न्यायालय ने निर्णय दिया कि वह आंग्ल-फारस तेल-झगडे को निबटाने में सक्षम नही है और फारस के विरुद्ध ब्रिटेन की इस शिकायत का अस्वीकृत कर दिया कि उसने ब्रिटिश स्वत्वाधिकार वाले तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया।

न्यायिक निर्णय का निष्पादन (Execution of Judicial Decisions) :—अब हम अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय क निर्णयो के निष्पादन के प्रश्न पर आते हैं। न्यायालय की सविधि न्यायिक निर्णयो को प्रवर्तन करने के लिये कोई व्यवस्था नही करती। जो कुछ व्यवस्था सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के अनुच्छेद ९४ मे की गई है, वह यह है :—

"यदि किसी मामले का पक्षकार न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के अधीन इसके द्वारा प्रतिपाद्य किसी कर्त्तव्य को पूरा करने मे असफल रहे तो अन्य पक्षकार सुरक्षा परिषद् के पास जा सकता है, जो कि यदि वह आवश्यक समझे तो उन उपायो का अभिस्ताव कर सकती है अथवा निर्णय कर सकती है जो निर्णय प्रभावित करने के लिए करना चाहिये।" "If any party to a case fails to perform the obligations incumbent upon it under a judgment rendered by the Court, the other party may have recourse to the Security Council, which may, if it deems necessary, make recommendations or decide upon measures to be taken to give effect to the judgment."

उपरोक्त व्यवस्थाये सुरक्षा परिषद् के लिये यह आवश्यक नही करती कि न्यायालय के निर्णयो को हठी पक्षकार के विरुद्ध प्रवर्तन करे। वे केवल सुरक्षा परिषद् के पास एक अपील की प्रक्रिया को प्रकट करती हैं, जो निर्णय को प्रभावित करने के लिए जिन उपायो का अवलम्बन करना चाहिये उनका अभिस्ताव करे या निर्णय करे। सुरक्षा परिषद् के अभिस्तावो के लिये ७ (तथा, अब, अनुच्छेद २७ के सशोधन के पश्चात्, नौ) सदस्यो का बहुमत अपेक्षित है जिसमे स्थायी सदस्यो के वोट भी सम्मिलित हैं। यदि सुरक्षा परिषद् न्यायालय के निर्णय का प्रभावित करने के लिये प्रवर्तक उपायो का अवलम्बन करना चाहे तो ऐसा अधिपत्र के अनुच्छेद ४१ अथवा ४२ के अन्तर्गत कर सकती है। अनुच्छेद ४१ मे सुरक्षा परिषद् को यह प्राधिकृत किया गया है कि वह सैनिक बल प्रयोग को छोड कर ऐसे उपायो का अवलम्बन करे जिनमे आर्थिक सम्बन्ध, रेल समुद्र, डाक, टेलिग्राफ, रेडियो तथा अन्य यातायात साधनो का तथा राजनैतिक सम्बन्धो का विच्छेद सम्मिलित है। अनुच्छेद ४२ उस दशा मे लागू होता है जब सुरक्षा परिषद् यह विचार करती है कि अनुच्छेद ४१ मे अनुबन्धित उपाय अपर्याप्त है और उस दशा मे यह वायु, जल तथा स्थल सेनाओ द्वारा ऐसा कार्य कर सकती है जैसा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिये आवश्यक हो। इस कार्य मे ऐसे भी कार्य सम्मिलित हो सकते हैं जैसे प्रदर्शन, नाकाबन्दी इत्यादि। फिर भी केल्सन का कथन है कि "इस बात को दृष्टि मे रखते हुए कि चार्टर मे न्यायालय के निर्णय के अनुपालन न होने की दशा मे अपील की प्रक्रिया दी हुई है यह विचार करना कठिन है कि ऐसे अनुपालन को शान्ति के विरुद्ध धमकी अथवा शान्ति को भग करना कहा जाय।" (Hans Kelsen : The Law of United Nations, p 541)। ओपनहेम का कहना है कि "चार्टर के अनुच्छेद ९४ को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक है कि इसका सशोधन इस प्रकार हो जिससे कि सुरक्षा परिषद् का कार्य आदेशात्मक हो

जाय, न कि केवल अनुज्ञापक तथा इस विषय में सुरक्षा परिषद् का कार्य इसके स्थायी सदस्यों के मतैक्य होने की आवश्यकता के बन्धन से मुक्त हो जाय।"
(Oppenheim : International Law, Vol. II, p. 77).

न्यायालय के समक्ष मामले

१. कौर्फू चैनल वाला मामला (I. C. J. Reports 1949, p. 4) :— अक्टूबर २२, सन् १९४६ को कुछ ब्रिटेन के जंगी जहाजों को अल्बेनिया के प्रादेशिक जल भागों में सुरंगों के साथ टकराने के कारण क्षति पहुँची। नवम्बर १२ तथा १३ को ब्रिटिश नौसेना द्वारा अल्बेनिया के प्राधिकारियों की बिना सहमति प्राप्त किये खाड़ी की सफाई किये जाने पर एक हाल ही में लगाई गई लंगड डाली हुई सुरंगों की लाइन उसी स्थान पर पाई गई जहाँ अक्टूबर में धड़ाके हुये थे। ग्रेट ब्रिटेन का यह आक्षेप था कि खाड़ी में सुरंगों की उपस्थिति के लिये अल्बेनिया उत्तरदायी था।

झगड़े के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को निर्दिष्ट किये जाने पर उसे यह ज्ञात हुआ कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत अक्टूबर सन् १९४६ को अल्बेनिया के जल भागों में होने वाले धड़ाकों के लिये तथा उसके फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली क्षति तथा मानव जीवन की हानि के लिए अल्बेनिया की जनता का गणतन्त्र उत्तरदायी था तथा यह ब्रिटेन ने ब्रिटिश नौसेना द्वारा अक्टूबर २२ सन् १९४६ को उसके द्वारा अल्बेनिया के जलभागों में किये गये कार्य के कारण अल्बेनिया की जनता के गणतन्त्र की सार्वभौमिकता का उल्लंघन नहीं किया और यह कि अल्बेनिया के जल-भागों में ब्रिटिश नौसेना के कार्यों द्वारा जो नवम्बर १२ तथा १३ सन् १९४६ के कार्यक्रम में किये गये ब्रिटेन ने अल्बेनिया की जनता के गणतन्त्र की सार्वभौमिकता का उल्लंघन किया तथा न्यायालय की इस घोषणा से ही स्वतः उचित सन्तुष्टि हो गई। इसके परिणामस्वरूप अल्बेनिया ८,४३,९४७ पौण्ड ब्रिटेन को देने के लिये उत्तरदायी ठहराया गया।

२. हया डे ला टौरे का मामला (I. C. J. Reports, 1951, p. 71):— विक्टर रौल हया डे ला टौरे पेरूविया का एक नागरिक तथा राजनैतिक नेता को, जो एक सैनिक बगावत भड़काने के लिये दोषारोपित था लीमा के कोलम्बिया के राजदूतावास में आश्रय दिया गया। इस विषय को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को निर्दिष्ट किये जाने पर न्यायालय ने यह कथन किया कि यद्यपि हवाना की प्रतिज्ञा में यह स्पष्टतः निर्धारित है कि सामान्य अपराधियों को स्थानीय अधिकारियों को समर्पित कर दिया जाय तथापि राजनैतिक अपराधियों के सम्बन्ध में ऐसा कोई कर्तव्य विद्यमान नहीं है। फिर भी, इसने अपने पूर्व मत को पुनः दुहराकर कहा कि आश्रय अनियमित

रूप से दिया गया है और यह कि यद्यपि इस आधार पर पेरू इसकी सम्मति की माँग करने का अधिकारी है तथापि कोलम्बिया शरणार्थी को समर्पण करने के लिये बाध्य नहीं है।

३. ऐंग्लो-ईरानियन तेल की कम्पनी का मामला—इस विवाद के विषय मे पूर्व के प्रसंग मे विस्तृत रूप से लिखा जा चुका है।

४. भारत के कतिपय क्षेत्रों पर पुर्तगालियों के आधिपत्य के अधिकार का मामला—भारत के कतिपय क्षेत्रो में पुर्तगालियो के आधिपत्य के बने रहने के मामले मे, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष दिसम्बर २२, १९५५ को लाया गया था, भारत ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार को चार वैध, तथा दो वैध और तथ्य विषयक आधारों पर यह कहकर चुनौती दी कि पुर्तगाल ने इस मुकदमे को जिस पद्धति से न्यायालय के समक्ष रक्खा है, उसमे न्यायालय-प्रक्रिया का उल्लंघन किया गया है।

न्यायालय ने नवम्बर २६, १९५७ को अपने निर्णय मे कहा कि वह भारत के इस तर्क को मानने मे अपने को असमर्थ पा रहा है कि २२ दिसम्बर, १९५५ को पुर्तगाल ने अपना आवेदन पत्र देने मे सविधि की असगति मे कार्य किया है। न्यायालय ने ऐसा निश्चय किया कि सयुक्त राष्ट्र सङ्घ के महामन्त्री के साथ न्यायालय के क्षेत्राधिकार की स्वीकृति की घोषणा के उपरान्त अनुच्छेद ३६ के अन्तर्गत दोनो पक्ष समान आभारो के विषय बन जाते हैं। दोनो पक्षकारो के बीच संविदात्मक सम्बन्ध और उत्पन्न होने वाले न्यायालय के क्षेत्राधिकार की तथ्यतः स्थापना हो जाती है, और यह स्थापना एतदविषयक घोषणा करने के बिना किसी विशेष समझौते पर ही होती है।

प्रथम सामान्य आपत्ति, जिसमे कि आवेदन प्रस्तुत किये जाने की पद्धति पर आक्षेप था, न्यायालय ने कहा कि भारत का कथन है कि पुर्तगाली घोषणा अवैध इस कारण है कि इसकी शर्त के अनुसार पुर्तगाल उस घोषणा के किसी भी वर्ग के संघर्ष से किसी भी समय वंचित किया जा सकता है और इसके लिए मात्र महासचिव को सूचना देना ही आवश्यक होगा, किन्तु शर्त मे जिन शब्दो का प्रयोग किया गया है, यदि उनका साधारण अर्थ ग्रहण किया जाय तो सीधा-सा अर्थ यह है कि उस शर्त के अन्तर्गत विज्ञप्ति की व्यवहृति केवल ऐसे विवादो पर होगी जो कि इस विज्ञप्ति के बाद न्यायालय के समक्ष लाये जाएँगे। इस सम्बन्ध मे किसी पूर्वगामी प्रभाव की कल्पना नही करनी चाहिये। अतः न्यायालय का निष्कर्ष था कि पुर्तगाली घोषणा की शर्त संविधि की असंगति मे न थी।

भारत की ओर से उठायी गई चौथी आपत्ति, जो कि पुन प्रक्रिया से सबधित थी, के सम्बन्ध मे न्यायालय ने कहा था कि आवेदन को प्रस्तुत करने की प्रक्रिया भी ऐसी नही है जिसे कि सविधि को असगति मे कहा जा सके क्योंकि सविधि मे स्वीकृति की घोषणा और आवेदन प्रस्तुत करने की अवधि मे किसी मध्यान्तर का उपबन्ध नही है।

तीसरी आपत्ति मे आवेदन प्रस्तुत करने के पूर्व किसी राजनीतिक समझौते या मध्यस्थता-वार्ता के अभाव की बात उठाई गई थी। इस सम्बन्ध मे न्यायालय का अवलोकन था कि दोनो पक्षकारो के बीच जो पत्र व्यवहार हुये है, उन्हें समझौता वार्ता के सम्बन्ध मे गतिरोध उत्पन्न हो जाने का अभ्यास मिलता है। अत यह प्रकल्पना करते हुये कि सविधि के अनुच्छेद ३६ के पैरा २ जिसमे कि वैध झगडो का सदर्भ है, समझौता-वार्ता के द्वारा झगडे को स्थिति की परिभाषा अपेक्षित थी, और यह कि उस परिभाषा मे शर्तें पूरी हो गई थी।

पाँचवी आपत्ति के सम्बन्ध मे न्यायालय का कथन था कि भारत स्वय अपनी स्वीकृति की घोषणा मे एक आरक्षण पर आश्रित है जिसके अन्तर्गत न्यायालय के क्षेत्राधिकार से ऐसे झगडे बाहर कर दिये गये हैं, जिनमे कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार प्रश्न भारत सरकार के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत एकान्तिक रूप से आते हैं, और यह कि भारत ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि न्यायालय के समक्ष आये हुये तात्विक और वैध विचार इस निष्कर्ष को नही स्वीकृत करते कि प्रस्तुत प्रसग की विषयवस्तु भारत के घरेलू-क्षेत्राधिकार की सीमा से एकान्तिक रूप मे बाहर थी। न्यायालय ने कहा कि जिन तर्कों पर भारत आश्रय ले रहा है, पुर्तगाल उसे मानने को तैयार नही है, अत बिना 'मेरिट' के पूर्व निर्णय किये इस प्रश्न का परीक्षण नही किया जा सकता। तदनुसार न्यायालय ने पाँचवी आपत्ति के प्रश्न को 'मेरिट' के प्रश्न के लिये सयुक्त कर दिया।

अन्तिम रूप मे, भारत द्वारा उठायी गई छठी आरम्भिक आपत्ति पर, जो कि समय की अवधि के आधार पर उठायी गई थी, न्यायालय ने कहा कि यह निश्चय करने के लिये कि ठीक-ठीक किस तिथि को यह झगडा आरम्भ हुआ, इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि क्या यह झगडा १९३० में आरम्भ हुये मार्गाधिकार के झगडे की निरन्तरता मे है अथवा नही। दोनो ओर से एक-दूसरे के तर्कों को खडन करने वाले तथ्य प्रस्तुत किये गये और न्यायालय प्रस्तुत प्रश्न का निर्णय न कर सका। अत इस प्रश्न को भी उसने 'मेरिट' के प्रश्न के लिये सयुक्त कर दिया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे पुर्तगाल विवाद के प्रसग मे भारत की ओर स प्रत्यायुक्त तदर्थ न्यायाधीश श्री एम० सी० चागला ने, जो कि बम्बई के मुख्याधीश थे, एक असहमतिसूचक निर्णय दिया और कहा कि कुछ ऐसे तत्व हैं, जिनपर किसी भी प्रकार दो मत नही हो सकते। पहली बात यह है कि पुर्तगाल जिस भू क्षेत्र से आवागमन या परिवहन का अधिकार माँग रहा है, वह एकान्तिक रूप से भारतीय भू-क्षेत्र है और उस पर उसकी सप्रभुता अखड है। इसके साथ ही यह भी एक विवादरहित बात है कि प्रथम दृष्ट्या कोई राज्य जब क्षेत्रीय सप्रभुता का उपभोग कर रहा है, तो उसे यह अधिकार है कि किसी अन्य राज्य को उस क्षेत्र से आवागमन या परिवहन की अनुमति दे, अथवा ऐसा करने से निषेधित कर दे, या ऐसे आवागमन या परिवहन की अनुमति अपने द्वारा निर्धारित प्रतिबन्धो की सीमा मे प्रदान करे।

श्री चागला ने आगे कहा था कि पुर्तगाली डामन, दादरा और नगर हवेली के बीच से आवागमन एव परिवहन की अनुमति चाहते हैं जिससे कि वे डामन और इन स्थानो से सचार-सम्पर्क बनाये रखें। जब कोई राज्य इस न्यायालय के समक्ष इस दावे को लेकर आता है कि दूसरे राज्य के प्रति उसका अधिकार है, तो वह अधिकार अवश्य ही ऐसा होना चाहिये जिसका कि प्रवर्तन किया जा सके। इस प्रसंग में पुर्तगालिया के दावे की सबस आश्चर्यजनक विशेषता यह है कि यदि वह अपने तर्कों मे सफल भी हो गये, तो भी जो निर्णय इस न्यायालय द्वारा उन्हे मिलेगा, भारत उसे कदापि भी प्रभावकारी रूप नही लेने देगा। इस सम्बन्ध मे श्री चागला ने तर्क प्रस्तुत किया था कि "If the Court were to declare that Portugal had a right of transit over Indian territory, from Daman to the enclaves, it would be impossible for India to know what the nature, extent or content of that right would be. Would Portugal be entitled under this right to transport a whole army from Daman to the enclaves in order to suppress the revolt which taken place there? Would she be able to transport tanks and artillery and all the paraphernalia of modern arms and armaments? Would she be able to fly aeroplanes over Indian territory in order to bomb the enclaves in order to reduce them to subjection"—अर्थात् "यदि न्यायालय यह घोषित भी कर द कि पुर्तगाल को डामन के भारतीय क्षेत्र मे यातायात करने का अधिकार है, तब भी भारत के लिए यह जान पाना एक असम्भाविता होगी कि उस अधिकार की वास्तविक प्रकृति, विस्तार और विषय तत्व क्या होगा? क्या इस अधिकार के अन्तर्गत पुर्तगालियो को यह अधिकार होगा कि वे डामन से होकर अपनी पूरी सेना,

१७७६ की संधि तथा १७८३ और १७८५ के संवाद में मराठों का आशय पुर्तगालियों को केवल जागीर सौंप देने का था, या सरंजाम दे देने का था, और उन गाँवों की पूरी सम्प्रभुता ही उन्हें सौंप देने का आशय न था, क्योंकि मात्र राजस्व संग्रह करने के अधिकार का तात्पर्य सम्प्रभुता सौंप देने का अधिकार नहीं हुआ करता।

इसके बाद जब मराठों से आधिपत्य अंग्रेजों ने लिया, तब भी न तो अंग्रेजों ने स्वयं उस क्षेत्र पर सम्प्रभुता का दावा किया और न कभी भी पुर्तगालियों की सम्प्रभुता को ही मान्यता प्रदान की।

पुर्तगाल अपने अधीनस्थ उन क्षेत्रों पर अपनी सम्प्रभुता के प्रयोग के लिए भारत के किसी भी नियन्त्रण के बिना आवागमन का अधिकार चाहता था। दोनों पक्षकारों के बीच यह एक सामान्य आधार था कि व्यक्तिगत व्यक्तियों और नागरिक अधिकारों के बीच दैनिक नियन्त्रण की अपेक्षा कोई अन्य प्रतिबन्ध नहीं है। इसके प्रतिकूल सिद्ध करने का कोई दूसरा प्रमाण नहीं था। इसलिये न्यायालय का निष्कर्ष था कि वैयक्तिक व्यक्तियों के नागरिक अधिकारियों और माल के सम्बन्ध में सामान्यतः डामन से होकर आवागमन की स्वतन्त्रता ब्रिटिश और उत्तर-ब्रिटिश काल में दी गई है और सरकार के बदलते रहने पर भी यह परंपरा ज्यों की त्यों बनी रही है और यहाँ तक भारत के स्वतन्त्र हो जाने के उपरांत भी इस परम्परा का पालन किया गया है। अतः न्यायालय का निर्णय था कि व्यक्तिगत व्यक्तियों, नागरिक अधिकारियों और माल के इस यातायात का अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक मान्यता मिल चुकी है और अब भी उस मान्यता का प्रवर्तन किया जा सकता है।

जहाँ तक सैन्य-शक्तियों के आवागमन का प्रश्न है, न्यायालय का अवलोकन था कि ब्रिटिश और उत्तर-ब्रिटिशकाल में भी पुर्तगाल वालों को डामन से होकर सशस्त्र सेनायें ले आने और ले जाने का अधिकार नहीं था और १८७८ के बाद से इस प्रकार का यातायात केवल ब्रिटिश के प्राधिकार और तदनन्तर भारत के प्राधिकार पर ही सम्भव था। बाद की विशिष्ट परिस्थितियों का ध्यान में रखते हुये न्यायालय की अभिमति थी कि इस प्रकार के प्राधिकार प्राप्त करने की शर्त का अर्थ है स्वाभाविक रूप में उस अधिकार को न प्राप्त किया जाना। अभ्यास यह प्रमाणित करता है कि क्षेत्रीय सम्प्रभु को यह शक्ति थी कि वह अपने विवेक के अनुसार यह अनुमति दे, अथवा देने में इन्कार कर दे। अतः यह अनुमति स्वेच्छया दी जा सकती है, आभार और बाध्यता के रूप में नहीं। न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि भारत द्वारा आवागमन में गतिरोध उत्पन्न कर देना परिस्थितियों

किसी विद्रोह को दबाने के लिए भेज सकें ? क्या वे वहाँ से टैंक, आर्टिलरी तथा आधुनिक शस्त्रों की पूरी साज सज्जा भेज सकेंगे ? क्या वे क्षेत्र को सम्पूर्णत अधीन बना लेने के लिए वहाँ तक भारत क्षेत्र से होकर हवाई जहाज भेज सकेंगे, जिससे कि वहाँ से बम वर्षा कर सकें ?... ..."

'मेरिट' पर निर्णय —(Decision on merits) १२ अप्रेल, १९६० को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने उपर्युक्त वाद के मेरिट के आधार पर निर्णय करते हुये अपने प्रसंग मे कहा था कि पुर्तगालियो को भारतीय नियमो के अधीन रहते हुये वैयक्तिक व्यक्तियो को ले जाने का अधिकार है, किन्तु सशस्त्र सैनिको को ले जाने का अधिकार नही है। न्यायालय ने निष्कर्ष पाया कि भारत ने पुर्तगाल वालो के वैयक्तिक व्यक्तियो के प्रति आचारो के प्रतिकूल आचरण नही किया है। साथ ही न्यायालय ने भारत की ओर से उठाई गई दो आरंभिक आपत्तियो को न मानते हुये कहा कि न्यायालय को प्रस्तुत विवाद मे विचारण करने का क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

दिसम्बर २२, १९५५ के अपने आवेदन मे पुर्तगाल ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से कहा था कि वह पुर्तगाली डामन से होकर अपने अधीनस्थ क्षेत्र दादरा और नगर हवेली तक नागरिक और सशस्त्र सैनिको को ले आने और ले जाने के अधिकार को मान्यता प्रदान करे, जहाँ से वह अब प्रभावकारी नियन्त्रण खो चुका है। पुर्तगाल का यह भी कहना था कि न्यायालय यह भी व्यवस्था करे कि भारत पुर्तगालियो के आवागमन को अनुमति देकर वहाँ की तथ्यपूर्ण स्थिति का समापन करे।

भारत ने पुर्तगाली आवेदन का इस आधार पर विरोध किया था कि पुर्तगालियो द्वारा माँग किये गये आवागमन के अधिकार को उस समय तक स्वीकृत नही किया जा सकता जब तक कि वह क्षेत्रीय सप्रभु की स्वकीय इच्छा या अनुमति या सहमति पर न दी जाय। भारत का यह भी तर्क था कि न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये गये तथ्य यह नही प्रकट करते कि क्षेत्रीय सप्रभु की ऐसी कोई प्रकट सहमति या अनुमति नही है जो भारत के क्षेत्राधिकार को परिसीमित कर सके।

न्यायालय ने यह निष्कर्ष पाया कि १७७९ की सन्धि का अनुच्छेद १७ वैध है किन्तु पुर्तगाल वालो को सप्रभुता नही प्रदान करता। पुर्तगाल का दावा था कि उस दादरा और नगर हवेली के क्षेत्र सन्धि के अनुच्छेद १७ के क्रम मे मिले थे और यह कि मराठा ने उन्हें सप्रभुता भी सौंप दी थी। इधर भारत का कहना था कि अपनी सप्रभुता मे से केवल यह क्षेत्र मराठा द्वारा केवल जागीरो की हैसियत से १२,००० रु० के मूल्य पर दिया गया था। न्यायालय ने अवलोकन किया कि

१७७६ की संधि तथा १७८३ और १७८५ के सवाद मे मराठो का आशय पुर्तगालियो को केवल जागीर सौंप देने का था, या सरजाम दे देने का था; और उन गाँवो की पूरी सप्रभुता ही उन्हे सौंप देन का आशय न था, क्योंकि मात्र राजस्व सग्रह करने के अधिकार का तात्पर्य सप्रभुता सौंप देने का अधिकार नही हुआ करता।

इसके बाद जब मराठो से आधिपत्य अग्रेजो ने लिया, तब भी न तो अग्रेजो ने स्वय उस क्षेत्र पर सप्रभुता का दावा किया और न कभी भी पुर्तगालियों की सप्रभुता को ही मान्यता प्रदान की।

पुर्तगाल अपने अधीनस्थ उन क्षेत्रो पर अपनी सप्रभुता के प्रयोग के लिए भारत के किसी भी नियन्त्रण के बिना आवागमन का अधिकार चाहता था। दोनो पक्षकारो के बीच यह एक सामान्य आधार था कि व्यक्तिगत व्यक्तियो और नागरिक अधिकारो के बीच दैनिक नियन्त्रण की अपेक्षा कोई अन्य प्रतिबन्ध नही है। इसके प्रतिकूल सिद्ध करने का कोई दूसरा प्रमाण नही था। इसलिये न्यायालय का निष्कर्ष था कि वैयक्तिक व्यक्तियो के नागरिक अधिकारियो और माल के सम्बन्ध में सामान्यतः डामन से होकर आवागमन की स्वतन्त्रता ब्रिटिश और उत्तर-ब्रिटिश काल मे दी गई है और सरकार के बदलते रहने पर भी यह परपरा ज्यो की त्यो बनी रही है और यहाँ तक भारत के स्वतन्त्र हो जाने के उपरात भी इस परम्परा का पालन किया गया है। अतः न्यायालय का निर्णय था कि व्यक्तिगत व्यक्तिया, नागरिक अधिकारियो और माल के इस यातायात को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक मान्यता मिल चुकी है और अब भी उस मान्यता का प्रवर्तन किया जा सकता है।

जहाँ तक सैन्य-शक्तियो के आवागमन का प्रश्न है, न्यायालय का अवलोकन था कि ब्रिटिश और उत्तर-ब्रिटिशकाल मे भी पुर्तगाल वालो को डामन से होकर सशस्त्र सेनायें ले आने और ले जाने का अधिकार नही था और १८७८ के बाद से इस प्रकार का यातायात केवल ब्रिटिश के प्राधिकार और तदनन्तर भारत के प्राधिकार पर ही सम्भव था। बाद की विशिष्ट परिस्थितियो का ध्यान मे रखते हुये न्यायालय की अभिमति थी कि इस प्रकार के प्राधिकार प्राप्त करने की शर्त का अर्थ है स्वाभाविक रूप में उस अधिकार को न प्राप्त किया जाना। अभ्यास यह प्रमाणित करता है कि क्षेत्रीय सप्रभु को यह शक्ति थी कि वह अपने विवेक के अनुसार यह अनुमति दे, अथवा देने मे इन्कार कर दे। अतः यह अनुमति स्वेच्छया दी जा सकती है, आभार और बाध्यता के रूप मे नही। न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि भारत द्वारा आवागमन में गतिरोध उत्पन्न कर देना परिस्थितियों

किसी विद्रोह को दबाने के लिए भेज सकें ? क्या वे वहाँ से टैंक, आर्टिलरी तथा आधुनिक शस्त्रों की पूरी साज-सज्जा भेज सकेंगे ? क्या वे क्षेत्र को सम्पूर्णतः अधीन बना लेने के लिए वहाँ तक भारत-क्षेत्र से होकर हवाई जहाज भेज सकेंगे, जिससे कि वहाँ से बम वर्षा कर सके ?......"

'मेरिट' पर निर्णय :—(Decision on merits) १२ अप्रैल, १९६० को मेरिट के आधार पर निर्णय करते हुये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने उपर्युक्त वाद के प्रसंग मे कहा था कि पुर्तगालियो को भारतीय नियमो के अधीन रहते हुये अपने वैयक्तिक व्यक्तियो को ले जाने का अधिकार है, किन्तु सशस्त्र सैनिको को ले जाने का अधिकार नही है। न्यायालय ने निष्कर्ष पाया कि भारत ने पुर्तगाल वालों के वैयक्तिक व्यक्तियो के प्रति आभारो के प्रतिकूल आचरण नही किया है। साथ ही न्यायालय ने भारत की ओर से उठाई गई दो प्रारम्भिक आपत्तियो को न मानते हुये कहा कि न्यायालय को प्रस्तुत विवाद में विचारण करने का क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

दिसम्बर २२, १९५५ के अपने आवेदन से पुर्तगाल ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से कहा था कि यह पुर्नगाली डामन से होकर अपने अधीनस्थ क्षेत्र दादरा और नगर हवेली तक नागरिक और सशस्त्र सैनिको को ले आने और ले जाने के अधिकार को मान्यता प्रदान करे, जहाँ से वह अब प्रभावकारी नियन्त्रण खो चुका है। पुर्तगाल का यह भी कहना था कि न्यायालय यह भी व्यवस्था करे कि भारत पुर्तगालियो के आवागमन को अनुमति देकर वहाँ की तथ्यपूर्ण स्थिति का समापन करे।

भारत ने पुर्तगाली आवेदन का इस आधार पर विरोध किया था कि पुर्तगालियो द्वारा माँग किये गये आवागमन के अधिकार को उस समय तक स्वीकृत नही किया जा सकता जब तक कि वह क्षेत्रीय संप्रभु की स्वकीय इच्छा या अनुमति या सहमति पर न दी जाय। भारत का यह भी तर्क था कि न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किये गये तथ्य यह नही प्रकट करते कि क्षेत्रीय संप्रभु की ऐसी कोई प्रकट सहमति या अनुमति नही है जो भारत के क्षेत्राधिकार को परिसीमित कर सके।

न्यायालय ने यह निष्कर्ष पाया कि १७७९ की संधि का अनुच्छेद १७ वैध है किन्तु पुर्तगाल वालो को संप्रभुता नही प्रदान करता। पुर्नगाल का दावा था कि उसे दादरा और नगर हवेली के क्षेत्र संधि के अनुच्छेद १७ के क्रम मे मिले थे और यह कि मराठो ने उन्हे संप्रभुता भी सौंप दी थी। इधर भारत का कहना था कि यह क्षेत्र मराठो द्वारा केवल जागीरो की हैसियत से अपनी संप्रभुता मे से केवल १२,००० रु० के मूल्य पर दिया गया था। न्यायालय ने अवलोकन किया कि

१७७६ की संधि तथा १७८३ और १७८५ के संवाद में मराठों का आशय पुर्तगालियों को केवल जागीर सौंप देने का था, या सरजाम दे देने का था, और उन गाँवों की पूरी सम्प्रभुता ही उन्हें सौंप देने का आशय न था, क्योंकि मात्र राजस्व संग्रह करने के अधिकार का तात्पर्य सम्प्रभुता सौंप देने का अधिकार नहीं हुआ करता।

इसके बाद जब मराठों से आधिपत्य अंग्रेजों ने लिया, तब भी न तो अंग्रेजों ने स्वयं उस क्षेत्र पर सम्प्रभुता का दावा किया और न कभी भी पुर्तगालियों की सम्प्रभुता को ही मान्यता प्रदान की।

पुर्तगाल अपने अधीनस्थ उन क्षेत्रों पर अपनी सम्प्रभुता के प्रयोग के लिए भारत के किसी भी नियन्त्रण के बिना आवागमन का अधिकार चाहता था। दोनों पक्षकारों के बीच यह एक सामान्य आधार था कि व्यक्तिगत व्यक्तियों और नागरिक अधिकारों के बीच दैनिक नियन्त्रण की अपेक्षा कोई अन्य प्रतिबन्ध नहीं है। इसके प्रतिकूल सिद्ध करने का कोई दूसरा प्रमाण नहीं था। इसलिये न्यायालय का निष्कर्ष था कि वैयक्तिक व्यक्तियों के नागरिक अधिकारियों और माल के सम्बन्ध में सामान्यतः डामन से होकर आवागमन की स्वतन्त्रता ब्रिटिश और उत्तर ब्रिटिश काल में दी गई है और सरकार के बदलते रहने पर भी यह परंपरा ज्यों की त्यों बनी रही है और यहाँ तक भारत के स्वतन्त्र हो जाने के उपरांत भी इस परम्परा का पालन किया गया है। अतः न्यायालय का निर्णय था कि व्यक्तिगत व्यक्तियों, नागरिक अधिकारियों और माल के इस यातायात को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से एक मान्यता मिल चुकी है और अब भी उस मान्यता का प्रवर्तन किया जा सकता है।

जहाँ तक सैन्य-शक्तियों के आवागमन का प्रश्न है, न्यायालय का अवलोकन था कि ब्रिटिश और उत्तर ब्रिटिशकाल में भी पुर्तगाल वालों को डामन से होकर सशस्त्र सेनायें ले आने और ले जाने का अधिकार नहीं था और १८७८ के बाद से इस प्रकार का यातायात केवल ब्रिटिश के प्राधिकार और तदनन्तर भारत के प्राधिकार पर ही सम्भव था। बाद को विशिष्ट परिस्थितियों का ध्यान में रखते हुये न्यायालय की अभिमति थी कि इस प्रकार के प्राधिकार प्राप्त करने की शर्त का अर्थ है स्वाभाविक रूप में उस अधिकार को न प्राप्त किया जाना। अभ्यास यह प्रमाणित करता है कि क्षेत्रीय सम्प्रभु को यह शक्ति थी कि वह अपने विवेक के अनुसार यह अनुमति दे, अथवा देने में इन्कार कर दे। अतः यह अनुमति स्वेच्छया दी जा सकती है, आभार और बाध्यता के रूप में नहीं। न्यायालय ने यह भी निर्णय दिया कि भारत द्वारा आवागमन में गतिरोध उत्पन्न कर देना परिस्थितियों

की विशिष्टताओं को देखते हुये किसी प्रकार से पुर्तगाल के आवागमन के अधिकार के प्रतिकूल नही था, क्योंकि इस प्रकार का भारत की ओर से नियन्त्रण, प्रस्तुत परिस्थितियों में विधि-प्रतिकूल नही कहा जा सकता।

परिणाम-स्वरूप न्यायालय ने ४ के विरुद्ध ११ वोटों से यह निष्कर्ष पाया कि पुर्तगाल को १९५४ मे भारत-क्षेत्र और दादरा और नगर हवेली के क्षेत्र मे तथा अन्य ऐसे क्षेत्रो मे आवागमन का अधिकार था जो कि विदेशी संरक्षण में थे, जिससे कि पुर्तगाली उन संरक्षित क्षेत्रो मे सम्प्रभुता का प्रयोग कर सकें और भारतीय नियन्त्रण और नियमो के अधीन रहते हुये व्यक्तिगत व्यक्तियो, नागरिक अधिकारियो और सामानो को भेज सके या मँगा सके, तथा ७ के विरुद्ध ८ वोटो से यह भी निष्कर्ष पाया कि पुर्तगालियो को १९५४ मे इन क्षेत्रो मे सशस्त्र सेनाओ, सशस्त्र पुलिस, और शस्त्र आदि ले आने और ले जाने का अधिकार नही था और ६ के विरुद्ध ९ वोटो से यह निष्कर्ष पाया कि भारत ने पुर्तगलियो के व्यक्तिगत व्यक्तियो, नागरिक अधिकारियो और साधारण सामानो को ले आने या ले जाने के अधिकार के संबध मे आभारो के प्रतिकूल कार्य नही किया है।

सोवियत न्यायाधीश एफ० आई० कोजेविनकोव ने अपना निर्णय स्वतन्त्र ही रखा कि प्रस्तुत तथ्यो मे न्यायालय को विवाद के मेरिट पर विचारण करने और निर्णय करने का कोई क्षेत्राधिकार नही प्राप्त है। उनका कथन था कि, "Portugal did not possess and does not possess any sovereign right over Dadra and Nagar Aveli and since it never had and has not now any right of passage over Indian territory to these regions and between each of them." अर्थात् पुर्तगाल को दादरा और नगर हवेली पर न पहले कभी सम्प्रभु अधिकार था, और न अब है, और चूँकि उसे भारतीय क्षेत्र से इन क्षेत्रो तक आवागमन का कोई अधिकार पहले से नही रहा है, अस्तु अब भी वह अधिकार नही है।

कतिपय अन्य न्यायाधीशो ने तो स्पष्टतः यह कहा कि पुर्तगाल के सीमित आवागमन का अधिकार, जो कि वैयक्तिक व्यक्तियो, नागरिक अधिकारियो और साधारण सामानो के सम्बन्ध में है, वह भी १९५४ मे घटित दादरा और नगर-हवेली की घटनाओ के कारण अब समाप्त हो चुका है।

अर्जेन्टाइना के न्यायाधीश कुइनताना ने तो यहाँ तक कहा था कि "To support the Portuguese claim in this case, which implies survival of

the colonial system, without categorical and conclusive proof is to fly in the face of the United Nations Charter." इस प्रसग मे पुर्तगालियो के पक्ष का समर्थन करने का तात्पर्य औपनिवेशिक प्रणाली को पुनर्जीवित करना और बिना किसी स्पष्ट और निर्णायक प्रमाण के, सयुक्त राष्ट्र सघ के स्वय चार्टर के ऊपर कीचड फेंकना है।"

मत्रणा परामर्श

१. संयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता के लिये किसी राज्य का प्रवेश (I C. J. Reports, 1948, p. 57) .—१९४६ तथा १९४७ के बीच मे बहुत से राज्यो को सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सदस्यता मे प्रवेश करने से अस्वीकार किया गया विशेषत. इस कारण से कि सोवियत रूस ने सुरक्षा परिषद् मे विशेष निषेधाधिकार का उपयोग किया। पूर्वीय यूरोप के पूर्व शत्रु राज्यो क सम्बन्ध मे सोवियत रूस ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि वह अपने विशेष निषेधाधिकार का उपयोग नही करेगा यदि परिषद् के अन्य सदस्य उन राज्यो के प्रार्थना-पत्रो को स्वीकृत कर लें जिन्हे सोवियत सरकार का समर्थन प्राप्त हो। नवम्बर सन् १९४७ को सामान्य सभा ने सुरक्षा परिषद् का यह प्रश्न निर्दिष्ट किया कि क्या सयुक्त राष्ट्र सङ्घ का कोई सदस्य जिसे किसी राज्य को सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता मे प्रवेश करने क लिये मत देने को कहा जाय प्रवेश के लिये अपनी सहमति इस शर्त पर आश्रित कर सकता है या नही कि अन्य राज्य भी सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सदस्यता मे प्रवेश किये जाँय। न्यायालय ने छ मतो के विरुद्ध नौ मतो से इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया।

२. किसी राज्य को सयुक्त राष्ट्र सघ मे प्रवेश करने के लिए साधारण सभा की क्षमता (I. C. J Reports, 1950, pp. 4-34) ·—नवम्बर २२, सन् १९४९ को साधारण सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से यह कहा गया कि वह अपनी परामर्शदात्री सम्मति इस प्रश्न पर दे कि क्या साधारण सभा अपने ही निर्णय से किसी राज्य को सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की सदस्यता मे उस दशा में प्रवेश कर सकती है जब सुरक्षा परिषद् ऐसी सस्तुति न करे। न्यायालय ने दो मतो के विरुद्ध बारह मतो से इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया।।

३ सयुक्त राष्ट्र सघ की सेवा मे प्राप्त हानि के लिये क्षतिपूर्ति (I. C J. Reports, 1949, p 174) .—कौंट फोक बर्नाडाट को, जो पैलेस्टाइन मे सयुक्त राष्ट्र सङ्घ का मध्यस्थ था, जब कि वह शान्तिदल के अध्यक्ष का कार्य कर रहा था १७ सितम्बर, १९४८ को हत्या कर दी गई। इस पर सयुक्त राष्ट्र सङ्घ की साधारण सभा ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को परामर्शदात्री सम्मति के लिये यह प्रश्न भेजा कि क्या

उस दशा मे जब संयुक्त राष्ट्र सङ्घ के किसी अभिकर्त्ता को अपने कर्तव्य-पालन के बीच मे, ऐसी परिस्थितियो में जब कि उसका उत्तरदायित्व किसी राज्य पर हो कोई हानि पहुँचे तो संयुक्त राष्ट्र सङ्घ को एक सङ्घ के रूप मे यह क्षमता है कि नही कि वह वैध रूप से अथवा वास्तविक रूप से उत्तरदायी सरकार के विरुद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय दावा उस हानि की क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध मे कर सके जो (अ) संयुक्त राष्ट्र सङ्घ का तथा (आ) पीड़ित व्यक्ति को अथवा उस व्यक्ति को जो उसके द्वारा अधिकारी हो, पहुँची है।

न्यायालय ने प्रश्न के दोनो भागो का स्वीकारात्मक उत्तर दिया।

इसके अतिरिक्त दक्षिण पश्चिम अफ्रीका के विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की मंत्रणा की चर्चा पूर्व प्रसगो मे यथास्थान की जा चुकी है।

इन मामलो के अतिरिक्त जो प्रमुख मामले इस न्यायालय के समक्ष निर्णय हेतु आये, उनमे से निम्नलिखित प्रमुख हैं ऐंग्लो नार्वे मत्स्यालय का मामला, संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिको के मोरक्को सम्बन्धित अधिकार, ऐम्बेटेलियो का मामला (Ambaticlos Case), नाटेबहम का मामला (Nottebohm case)—(Leichtenstein v. Guatemala), मिनक्यूरस ऐक्रेप्रास का मामला (Minquiers and Ecrehos Case), धन-सम्बन्धित स्वर्ण-अभियोग (Monetary Gold Case), फ्रांस में दिये गये नार्वे के ऋण का मामला (Case of the Norwegian Loans issued in France), १६०२ के अभिसमय को लागू करने से सम्बन्धित मामला जो कि शिशुओ की सरक्षता के नियन्त्रण के सम्बन्ध मे था (Case concerning the application of the Convention of 1902 governing the guardianship of infants), हवाई घटना का मामला (Aerial incident case · Israel v. Bulgaria) आदि। विषय विस्तार की दृष्टि से इन विवादों के पूर्ण विवरण यहाँ देना उपयुक्त न होगा। फिर भी, इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इन सभी विवादो मे अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के न्यायालय ने महत्वपूर्ण निर्णय किये हैं।

भाग ३

युद्ध की विधियाँ

(The Laws of War)

अध्याय ३४

झगड़ों का निपटारा

(Settlement of Disputes)

राष्ट्रो के बीच मे राजनैतिक तथा वैध मतभेदो को मिटाने की भिन्न भिन्न रीतियाँ हैं। ऐसे मतभेद या तो शान्तिपूर्ण रीतियो से अथवा बन्धनकारी रीतियो से मिटाये जा सकते हैं, जो युद्ध से कुछ ही कम हो।

शांतिपूर्ण रीतियाँ (Amicable Means) :—झगडो को तय करने के लिये विभिन्न शान्तिपूर्ण रीतियाँ निम्न प्रकार से परिगणित का जा सकती हैं —

(१) वार्ता (Negotiation), (२) सद्भावना और मध्यस्थता (Good Offices and Mediation), (३) समाधान (Conciliation), (४) अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग (International Commission of Enquiry), (५) विवाचन (Arbitration), (६) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा न्यायिक निपटारा (Judicial Settlement through International Court of Justice) तथा (७) संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से (Machniery of the U. N. O)।

वार्ता (Negotiation) :—यह शब्द झगडे के निर्णय पर पहुँचने के प्रयोजन के लिये राज्यो के बीच मे समागम या अन्तर्राष्ट्रीय तनातनी को कम करने का द्योतक है। ऐसी वार्ता या तो राज्यो के अध्यक्षो द्वारा की जाती है अथवा उनके प्रमाणपत्र-प्राप्त अभिकर्ताओ द्वारा प्राय. झगडे को स्पष्ट करने के लिये पत्र-व्यवहार किया जाता है। भारत तथा पाकिस्तान द्वारा जो भिन्न-भिन्न प्रयत्न अपने कुछ मुख्य-मुख्य झगडो को तय करने के लिय किये गए वे वार्ता के उदाहरण हैं। सबसे हाल का उदाहरण अल्पसख्यको के विषय मे भारत तथा पाकिस्तान का स्वीकार-पत्र है।

न्यायाधीश मूर ने (Moore J.) ने Mavrommatis Palestine Concession के विवाद के प्रसग मे लिखा था कि, "in the international sphere and in the sense of International Law, negotiation is the legal and

विवाचन (Arbitration) :—अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को शान्तिपूर्वक विधियो से तय करने के लिये विवाचन सब से प्रमुख रीति है। जैसा लौरेंस का कथन है:—इसका महत्व इसके न्यायिक अथवा न्यायिक-कल्प स्वरूप मे रहता है। यह झगडे का एक व्यक्ति को अथवा व्यक्तियो के छोटे समूह को निर्दिष्ट करना प्रकट करता है जिससे पक्षकार अपने-अपने पक्षो को व्यक्त करते हैं और जिसके निर्णय को वे प्रतिष्ठावश मानने के लिये बाध्य हैं और वस्तुतः सर्वदा माना है। इसके विपरीत उदाहरण केवल उसी दशा मे मिलता है जब पच अपनी शक्ति के बाहर गया हो। जब कोई झगडा किसी पच को सौप दिया जाता है तो मामला एक न्यायालय के समक्ष परीक्षण का रूप धारण करता है (Lawrence : The Principles of International Law, p. 566)। राज्यो का यह कर्त्तव्य नही है कि वे अपने झगडे को विवाचन के हाथ उस समय तक सौपे जब तक उन्होने अपने को पहले से एक सधि द्वारा बाध्य न कर लिया हो। परन्तु जहाँ उन्होने मामले को एक बार विवाचन को निर्दिष्ट किया उसके निर्णय की उपेक्षा का अर्थ होता है प्रतिज्ञा भग, जब तक वह धोखा, कपट तथा उसी प्रकार की अन्य बातो से दूषित न हो, अथवा पच जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपनी शक्तियो के बाहर न गया हो।

१९५१ मे सयुक्त राष्ट्र सघ के प्रतिनिधि डा० फ्रैंक गाहम की नियुक्ति काश्मीर के झगडे का निपटारा विवाचन द्वारा करने के लिये हुई। भारतवर्ष ने इस झगडे को विवाचन मे भेजने से इकार किया क्योकि वह महान् शक्तियो का खेल बनना नही चाहता था और इसके अतिरिक्त इससे काश्मीर के आत्म-निर्णय के अधिकार पर मूलत भारत को स्थिति पर आघात होता, किन्तु सुरक्षा परिषद् मे ब्रिटिश प्रतिनिधि ने यह स्पष्ट किया कि विवाचन असैनिकीकरण सबधित उन विषयो पर विचार करेगा जिस पर भारत तथा पाकिस्तान सहमत हैं। अन्त मे भारत उसका परामर्श और सुझाव लेने के लिये राजी हो गया।

सन् १८९९ के प्रथम हेग सम्मेलन ने विवाचन का स्थायी न्यायालय एक अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो सहित हेग मे स्थापित किया जो उनके सचिवालय का कार्य करे तथा एक स्थायी प्रशासकीय परिषद् स्थापित किया। प्रत्येक हस्ताक्षर करने वाली शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्नो मे विशिष्ट योग्यता रखने वाले तथा सर्वोच्च नैतिक चरित्र रखने वाले व्यक्तियो को विवाचन के स्थायी न्यायालय मे न्यायाधीश के पद पर कार्य करने के लिये चुनती थी। समग्र न्यायाधीशो की सूची मे से पक्षकारो को यह स्वतन्त्रता थी कि किसी न्यायाधिकरण के लिये सदस्यो को चुनें। सन् १९०७ के हेग सम्मेलन ने इस योजना में कुछ सुधार किये तथा गौण महत्व के झगडो को मामलो के विषय मे सक्षिप्त प्रक्रिया की व्यवस्था की। वस्तुतः विवाचन का स्थायी

orderly administrative process by which Governments, in the exercise of their unqestionable powers conduct their relations with one another and discuss, adjust and settle their differences" तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के भावार्थ मे वार्ता वैध और नियमित प्रशासकीय प्रक्रिया है जिसके द्वारा सरकार अपने दृढ-प्रवर्तित अधिकारो के प्रयोग के सम्बन्ध मे बातचीत, विचार विमर्श तथा परस्पर के मतभेदो का निपटारा करती हैं। प्राय मतभेदो के निवारण के लिए सरकारो मे आपस में पत्र व्यवहार किये जाते हैं। यहाँ तक कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मे और उसके पश्चात् भी, तेहरान, माल्टा, पोट्सडम, आदि के प्रसगो मे बहुत से मतभेदो को इन देशो की सरकारो ने वार्ता द्वारा ही सुलझाया है।

यह आवश्यक नही है कि वार्ता का परिणाम अवश्य ही पक्षकारो के बीच के हर मतभेद को दूर कर दे। इससे यह भी सम्भव है कि दोनो सरकारो के बीच एक समझौता हो जाय या एक पक्ष दूसरे पक्ष के दावो को स्वीकार कर ले या दावो को कम कर दिया जाय अथवा आपत्तियाँ उठाई जाँय। वार्ता से विश्व के जनमत के समक्ष यह भी प्रकट हो जाता है कि एक राज्य जब कि वार्ता के लिए प्रस्तुत था, दूसरे ने हठ नही छोडा और इसलिए पहले को विवश होकर युद्धरत होना पड़ा।

सद्भावना (Good Offices) —जब पक्षकार परस्पर वार्ता करना अस्वीकार कर देते हैं तो एक तीसरा राज्य आगे बढ सकता है तथा अपनी सेवायें समझौते के लिये दे सकता है। "सेवाये" शब्द से झगडते हुए पक्षकारों को एक साथ बैठाना तथा उनको मत्रणा देना अथवा बिना वार्ता मे भाग लिये हुए उन्हें झगडे करने का सुझाव देना प्रकट होता है। ऐसे सुझाव तथा मत्रणाओं की उपेक्षा झगडे के किसी पक्षकार द्वारा बिना किसी मनोव्यथा अथवा विधि के भग के की जा सकती है।

यहाँ 'good offices' शब्द के प्रयोग से तात्पर्य विवादग्रस्त दोनो पक्षकारो को एक साथ बैठकर सलाह के आदान-प्रदान या बिना वार्ता में प्रविष्ट हुये ही निपटारे के ढग के सुझाव देने से है। झगडे के एक पक्ष द्वारा ऐसी सलाह या ऐसे सुझाव को अस्वीकृत भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे कानून के उल्लघन का कोई प्रश्न नही उठता। भारत-पाक तनातनी के प्रसग मे आस्ट्रेलिया की सरकार ने अपने सद्भावना कार्यालय का उपयोग १९५१ म किया था जिससे उनके वर्तमान झगडो का निपटारा हो सके। किन्तु भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था कि इस समय भारत और पाकिस्तान के बीच आस्ट्रेलिया के इस सद्भावना प्रयत्न का कोई से लाभ सम्भव नही है।

मध्यस्थता (Mediation) :—मध्यस्थ झगड़ते हुए पक्षकारों के बीच में किसी तीसरे पक्षकार के अभिकरण द्वारा वार्ताओं को चलाता है। मध्यस्थ को या तो उसके अपने ही अभियमण पर अथवा झगड़ते हुए पक्षकारों की प्रार्थना पर यह कार्यभार सौंपा जाता है कि वह झगड़े को देखे तथा शान्तिपूर्ण समझौते का कोई ढग निकाले। उसके सुझाव कोई बाध्यकारी प्रभाव नहीं रखते तथा पक्षकार उनको स्वीकृत करने, अस्वीकृत करने अथवा रूपभेदित करने के लिये स्वतन्त्र रहते हैं।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अरब तथा यहूदियों के झगड़े में कौट फोक बर्नाडाट को सन् १६४८ में पैलेस्टाइन में मध्यस्थ नियुक्त किया तथा उनको यह कार्यभार सौंपा कि जो घटनायें घटे उनका प्रतिवेदन करें तथा पैलेस्टाइन की भावी स्थिति को शान्तिपूर्ण ढग से तय करने में सहायता करें। इसी प्रकार अप्रैल १२, सन् १६५० को सुरक्षा परिषद् ने सर ओवेन डिक्सन आस्ट्रेलिया के एक न्यायाधीश को काश्मीर सम्बन्धी भारत-पाकिस्तान के झगड़े में मध्यस्थ नियुक्त किया और उनको यह कार्यभार सौंपा कि झगड़े के क्षेत्र में निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम बनाने तथा उसके निरीक्षण करने में सहायता करे, तथा कोई ऐसा सुझाव दे जिससे झगड़े के निपटारे में सहायता हो।

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिपूर्वक समझौते के लिये की गई हेग प्रतिज्ञा ने इस आवश्यकता पर अधिक महत्व दिया था कि शक्तियां द्वारा बारम्बार सद्भावनाएँ दी जाँय तथा मध्यस्थता की जाय तथा यह निर्धारित किया था कि कोई राज्य जो कि झगड़े में पक्षकार नहीं है उसको उसमें मध्यस्था करने का, तथा अपनी सद्भावनाएँ देने का अधिकार है जो परामर्शदायक रूप में हो तथा बिना किसी बाध्यकारी प्रभाव के हों और शत्रुता के कार्य-रूप में न हो।

चार्टर के अनुच्छेद ३४ तथा ३५ में भी यह अनुबन्धित है कि जब कभी ऐसी परिस्थिति पैदा हो जिससे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ा पैदा हो, संयुक्त राष्ट्र संघ सामूहिक मध्यस्थता करे।

सद्भावना-प्रयत्न तथा मध्यस्थता का अन्तर सूक्ष्म है जो केवल परिमाण का है। प्रथम अवस्था में तीसरा राज्य झगड़े की जाँच कर सकता है अथवा सुझाव दे सकता है, किन्तु वह वार्ता में भाग नहीं लेता। तीसरा राज्य प्रतिस्पर्धी पक्षकारों को केवल एक साथ लाता है। दूसरी दशा में मध्यस्थता करने वाला राज्य झगड़े के शान्तिपूर्ण समझौते के लिये किये गये विचार-विमर्श में व्यावहारिक भाग लेता है। अन्य शब्दों में यहाँ तीसरा राज्य पक्षकारों के बीच में वार्ता चलाता है। "वस्तुतः राज्य को उस दशा में 'सद्भावना प्रयत्न प्रदान करना कहा जाता है जब यह पक्ष-

orderly administrative process by which Governments, in the exercise of their unqestionable powers, conduct their relations with one another and discuss, adjust and settle their differences."
तात्पर्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के भावार्थ मे वार्ता वैध और नियमित प्रशासकीय प्रक्रिया है जिसके द्वारा सरकार अपने दृढ-प्रवर्तित अधिकारो के प्रयोग के सम्बन्ध मे बातचीत, विचार विमर्श, तथा परस्पर के मतभेदो का निपटारा करती हैं। प्राय मतभेदो के निवारण के लिए सरकारो मे आपस में पत्र व्यवहार किये जाते हैं। यहाँ तक कि द्वितीय विश्वयुद्ध के समय मे और उसके पश्चात् भी, तेहरान, याल्टा, पोट्सडम, आदि के प्रसगो में बहुत से मतभेदो को इन देशो की सरकारो ने वार्ता द्वारा ही सुलझाया है।

यह आवश्यक नही है कि वार्ता का परिणाम अवश्य ही पक्षकारो के बीच के हर मतभेद को दूर कर दे। इससे यह भी सम्भव है कि दोनो सरकारो के बीच एक समझौता हो जाय या एक पक्ष दूसरे पक्ष के दावो को स्वीकार कर ले या दावो को कम कर दिया जाय अथवा आपत्तियाँ उठाई जाँय। वार्ता से विश्व के जनमत के समक्ष यह भी प्रकट हो जाता है कि एक राज्य जब कि वार्ता के लिए प्रस्तुत था, दूसरे ने हठ नही छोडा और इसलिए पहले को विवश होकर युद्धरत होना पड़ा।

सद्भावना (Good Offices) :—जब पक्षकार परस्पर वार्ता करना अस्वीकार कर देते हैं तो एक तीसरा राज्य आगे बढ सकता है तथा अपनी सेवायें समझौते के लिये दे सकता है। "सेवाये" शब्द से झगडते हुए पक्षकारो को एक साथ बैठाना तथा उनको मन्त्रणा देना अथवा बिना वार्ता मे भाग लिये हुए तय करने का सुझाव देना प्रकट होता है। ऐसे सुझाव तथा मंत्रणाओं की उपेक्षा झगडे के किसी पक्षकार द्वारा बिना किसी मनोव्यथा अथवा विधि के भग के की जा सकती है।

यहाँ 'good offices' शब्द के प्रयोग से तात्पर्य विवादग्रस्त दोनो पक्षकारो को एक साथ बैठकर सलाहो के आदान-प्रदान या बिना वार्ता मे प्रविष्ट हुये ही निपटारे के ढग के सुझाव देने से है। झगडे के एक पक्ष द्वारा ऐसी सलाह या ऐसे सुझाव को अस्वीकृत भी किया जा सकता है। इस सम्बन्ध मे कानून के उल्लघन का कोई प्रश्न नही उठता। भारत-पाक तनातनी के प्रसंग मे आस्ट्रेलिया की सरकार ने अपने सद्भावना कार्यालय का उपयोग १९५१ मे किया था जिससे उनके वर्तमान झगडो का निपटारा हो सके। किन्तु भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था कि इस समय भारत और पाकिस्तान के बीच आस्ट्रेलिया के इस सद्भावना प्रयत्न से कोई से लाभ सम्भव नही है।

मध्यस्थता (Mediation) :—मध्यस्थ झगड़ते हुए पक्षकारों के बीच में किसी तीसरे पक्षकार के अभिकरण द्वारा वार्ताओं को चलाता है । मध्यस्थ को या तो उसके अपने ही अभियन्त्रण पर अथवा झगड़ते हुए पक्षकारों को प्रार्थना पर यह कार्यभार सौंपा जाता है कि वह झगड़े को देखे तथा शान्तिपूर्ण समझौते का कोई ढंग निकाले । उसके सुझाव कोई बाध्यकारी प्रभाव नहीं रखते तथा पक्षकार उनको स्वीकृत करने, अस्वीकृत करने अथवा रूपभेदित करने के लिये स्वतन्त्र रहते हैं ।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अरब तथा यहूदियों के झगड़े में काँट फोक बर्नाडाट को सन् १६४८ में पैलेस्टाइन में मध्यस्थ नियुक्त किया तथा उनको यह कार्यभार सौंपा कि जो घटनायें घटे उनका प्रतिवेदन करें तथा पैलेस्टाइन की भावी स्थिति का शान्तिपूर्ण ढंग से तय करने में सहायता करें । इसी प्रकार अप्रैल १२, सन् १६५० को सुरक्षा परिषद् ने सर ओवेन डिक्सन आस्ट्रेलिया के एक न्यायाधीश को काश्मीर सम्बन्धी भारत-पाकिस्तान के झगड़े में मध्यस्थ नियुक्त किया और उनको यह कार्यभार सौंपा कि झगड़े के क्षेत्र में नि शस्त्रीकरण कार्यक्रम बनाने तथा उसके निरीक्षण करने में सहायता करे, तथा कोई ऐसा सुझाव दें जिससे झगड़े के निपटारे में सहायता हो ।

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के शान्तिपूर्वक समझौते के लिये की गई हेग प्रतिज्ञा ने इस आवश्यकता पर अधिक महत्व दिया था कि शक्तियां द्वारा बारम्बार सद्भावनाएँ दी जांय तथा मध्यस्थता की जाय तथा यह निर्धारित किया था कि कोई राज्य जो कि झगड़े में पक्षकार नहीं है उसको उसमें मध्यस्थता करने का, तथा अपनी सद्भावनाएँ देने का अधिकार है जो परामर्शदायक रूप में हो तथा बिना किसी बाध्यकारी प्रभाव के हो और शत्रुता के कार्य-रूप में न हो ।

चार्टर के अनुच्छेद ३४ तथा ३५ में भी यह अनुबन्धित है कि जब कभी ऐसी परिस्थिति पैदा हो जिससे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ा पैदा हो, संयुक्त राष्ट्र संघ सामूहिक मध्यस्थता करे ।

सद्भावना-प्रयत्न तथा मध्यस्थता का अन्तर सूक्ष्म है जो केवल परिमाण का है । प्रथम अवस्था में तीसरा राज्य झगड़े की जाँच कर सकता है अथवा सुझाव दे सकता है, किन्तु वह वार्ता में भाग नहीं लेता । तीसरा राज्य प्रतिस्पर्धी पक्षकारों को केवल एक साथ लाता है । दूसरी दशा में मध्यस्थता करने वाला राज्य झगड़े के शान्तिपूर्ण समझौते के लिये किये गये विचार-विमर्श में व्यावहारिक भाग लेता है । अन्य शब्दों में यहाँ तीसरा राज्य पक्षकारों के बीच में वार्ता चलाता है । "वस्तुतः राज्य का उस दशा में 'सद्भावना प्रयत्न प्रदान करना कहा जाता है जब यह पक्ष-

कारो को परस्पर वार्ता करने के लिये प्रोत्साहित करता है और इसका 'मध्यस्थ बनना' उस दशा मे कहा जाता है जब यह वार्ता मे भाग लेता है पर तु स्पष्टत एक प्रकार की रीति दूसरे मे विलय हो जाती है।"

समाधान (Conciliation) —इस शब्द द्वारा व विभिन्न रीतियाँ व्यक्त होती ह जो एक तीसरे पक्षकार द्वारा दो या अधिक राज्यो के बीच मे झगडे को शान्तिपूर्वक तय करने के लिये ग्रहण की जाती हैं। इसमें तथ्यो के अनुसधान के उपरात तय करने के लिए प्रस्तावो का बनाना सम्मिलित है। ऐसे प्रस्ताव झगडे के पक्षकारो पर कोई बाध्यकारी प्रभाव नही रखते। हेग की १८९९ तथा १९०७ की प्रतिज्ञाओ मे समाधान के आयोगो द्वारा झगडो का शान्तिपूर्ण समझौता अनुबन्धित है।

समाधान तथा मध्यस्थता मे यह अन्तर है कि प्रथम तो तथ्यो को ज्ञात करने तथा निपटारे की शर्तों को सुझाने के लिए झगडे को एक व्यक्तियो की सस्था को निर्दिष्ट किया जाना प्रकट करता है और दूसरे पक्षकारो के बीच मे एक तीसरे पक्षकार के अभिकरण द्वारा वार्ता चलाया जाना व्यक्त होता है। समाधान विवाचन से भी इस बात मे भिन्न है कि पहली दशा मे किसी झगडे के पक्षकार वार्ता के परिणाम की उपेक्षा करने के लिए स्वतन्त्र हैं लेकिन दूसरी दशा मे पच का एक वैध निर्णय पच के निर्णय के रूप मे होता है जो पक्षकारो पर ब धनकारी होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग (International Commissions of Inquiry)—यद्यपि ये आयोग कसिलियेशन आयोगो से जिनका कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है भिन्न हैं जाच आयोग झगडो के सम्बन्ध मे जाँच पडताल करने और जब तक कि प्रतिवेदन न कर लें तब तक के लिए शत्रुतापूर्ण कार्यों को विलबित करने मे सहायक होते है। १८९९ के हेग सम्मेलन के पहले अभिसमय मे सुझाव दिया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय जाँच आयोग की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय झगडो के लिए जिसमे कि न तो सम्मान का प्रश्न और न आवश्यक हित का ही प्रश्न सम्मिलित है और तथ्य के विषयो के सम्बन्ध मे जिससे कि तथ्यो का निराकरण हो सके तथा अज्ञान की अवस्था को दूर करने, जिससे कि शत्रुता दूर हो सके, आयोग सहायक होता है। सम्मेलन मे यह व्यवस्था दी गई कि ऐसे आयोग, सम्बन्धित पक्षकारो के विशिष्ट समझौते के आधार पर निर्मित हो सकते हैं और आयोग के अभिसमय के अनुच्छेद ३२ के आधार पर नियुक्त होगे। यह अनुच्छेद विवा- (Arbitral Tribunals) की नियुक्ति क सम्बन्ध मे है।

विवाचन (Arbitration) :—अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को शान्तिपूर्वक विधियो
तय करने के लिये विवाचन सब से प्रमुख रीति है। जैसा लोरेंस का कथन
—इसका महत्व इसके न्यायिक अथवा न्यायिक-कल्प स्वरूप मे रहता है। यह
गडे का एक व्यक्ति को अथवा व्यक्तियो के छोटे समूह को निर्दिष्ट करना प्रकट
ता है जिसके पदाकार अपने-अपने पक्षों को प्रकट करते हैं और जिसके निर्णय
ो वे प्रतिष्ठावश मानना के लिये बाध्य हैं और वस्तुत सर्वदा माना है। इसके
परीत उदाहरण केवल उसी दशा म मिलता है जब पंच अपनी शक्ति के बाहर
गा हो। जब कोई झगडा किसी पंच को सौंप दिया जाता है तो मामला एक
यायालय के समक्ष परीक्षण का रूप धारण करता है (Lawrence: The
Principles of International Law, p. 566)। राज्यो का यह कर्तव्य नही
कि वे अपने झगडे को विवाचन के हाथ उस समय तक सौंपे जब तक उन्होंने अपने
ो पहले से एक संधि द्वारा बाध्य न कर लिया हो। परन्तु जहाँ उन्होने मामले को
क बार विवाचन को निर्दिष्ट किया उसने निर्णय की उपेक्षा का अर्थ होता है
तिज्ञा भंग, जब तक वह धोखा, कपट तथा उसी प्रकार की अन्य बातो मे दूषित न
, अथवा पंच जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपनी शक्तियो के बाहर न गया हो।

१९५१ में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि डा० फ्रैंक ग्राहम की नियुक्ति
ाश्मीर के झगडे का निपटारा विवाचन द्वारा करने के लिये हुई। भारतवर्ष ने
स झगडे को विवाचन मे भेजने मे इकार किया क्योंकि वह महान् शक्तियों का
ल बनना नही चाहता था और इसके अतिरिक्त इससे काश्मीर के आत्म-निर्णय के
धिकार पर मूलत भारत की स्थिति पर आघात होता, किन्तु सुरक्षा परिषद् मे
िटिश प्रतिनिधि ने यह स्पष्ट किया कि विवाचक असैनिकीकरण संबंधित उन
ामलों पर विचार करेगा जिन पर भारत तथा पाकिस्तान सहमत हैं। अन्त मे
ारत उसका परामर्श और सुझाव लेने के लिये राजी हो गया।

सन् १८९९ के प्रथम हेग सम्मेलन ने विवाचन का स्थायी न्यायालय एक
अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो सहित हेग म स्थापित किया जो उसके सचिवालय का कार्य कर
था एक स्थायी प्रशासकीय परिषद् स्थापित किया। प्रत्येक हस्ताक्षर करने वाली
क्ति अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्नो मे विशिष्ट योग्यता रखने वाले तथा सर्वोच्च
ैतिक चरित्र रखने वाले व्यक्तियो को विवाचन के स्थायी न्यायालय मे न्यायाधीश के
द पर कार्य करने के लिये चुनती थी। समग्र न्यायाधीशो की सूची मे से पक्षकारो
ो यह स्वतन्त्रता थी कि किसी न्यायाधिकरण के लिये सदस्यो का चुने। सन् १९०७
े हेग सम्मेलन ने इस योजना मे कुछ सुधार किये तथा गौण महत्व के झगडो को
ामलो के विषय मे संक्षिप्त प्रक्रिया की व्यवस्था की। वस्तुत. विवाचन का स्थायी

न्यायालय कोई न्यायालय नही था वरन् यह केवल एक पचो की सूची थी जिसमे से न्यायालय बनाए जा सकते थे । ऐसी दशा में यह वास्तविक अर्थ मे कोई न्यायालय नही था इसलिये इसमे स्थिरता नही थी ।

सन् १६०२ तथा १६३२ के बीच मे विवाचन के स्थायी न्यायालय द्वारा बीस निर्णय किये गये जिनमे सयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेट ब्रिटेन के बीच का उत्तरीय अटलान्टिक महासागर मत्स्यालयो वाला मामला (१६१०), सावरकर का मामला (१६११) तथा प्रथम महायुद्ध मे नौर्वे तथा सयुक्त राज्य अमेरिका के बीच का नौर्वे के जहाजो को अधियाचन का मामला (१६२२) सम्मिलित हैं ।

सन् १६१६ की वार्सलीज की सधि से उत्पन्न हुए क्षेत्रीय झगडो का निर्णय करने के लिए यूरोप मे बहुत से मिश्रित न्यायाधिकरण नियुक्त किये गये । ऐसे झगडे या तो एक अकेले व्यक्ति द्वारा पच के रूप मे अथवा प्रतिस्पर्धी राज्यो द्वारा मनोनीत किये गये सदस्यो से बने आयोग द्वारा अथवा बाहरी लोगो द्वारा तथा प्रतिस्पर्धी राज्यो के प्रतिनिधियो द्वारा निर्णीत किये गये ।

राज्य के बीच मे झगडो को शान्तिपूर्वक निपटाने के साधनो के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सयुक्त राष्ट्र सघ की विवेचना पहले की जा चुकी है ।

बन्धनकारी रीतियाँ (Compulsive means) :—अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को निपटाने की प्रतिरोधी रीतियो का अथवा अन्य राज्य से बलपूर्वक बदला लेने की रीतियो का जो युद्ध की सीमा को न पहुँचती हो अब अध्ययन किया जाय । वे निम्नलिखित हैं —

शिकायतें (Complaints) :—अनिवार्य साधनो का वर्णन करने के पहले यह आवश्यक होगा कि यहाँ दूसरे सरल साधनो का, जिससे कि ऐसे झगडो के निपटारे हो सके जो कि सेना के कमाडरो के बीच की शत्रुता से उत्पन्न होते हैं, अध्ययन कर लिया जाय । वे प्राय. एक दूसरे के विरुद्ध अवैध युद्ध विधि अपनाने की शिकायत करते हैं । ऐसे कार्य या तो युद्ध विराम के झडे के अपमान सम्बन्धित होता है या जेनेवा अभिसमय के अतिक्रमण के सम्बन्ध मे होता है या इसी प्रकार के अन्य । ऐसी शिकायते शत्रु के पास फ्लैग आफ् ट्रूस अर्थात् शान्ति के झडे के सरक्षण मे भेजी जाती है और शत्रु का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह ऐसी शिकायतो की छानबीन करे तथा यदि शिकायतें न्यायोचित हैं तो अपराधियों को दण्डित करे ।

प्रतिकार (Retorsion) :—यह एक बदले का उपाय अथवा जवाबी कार्यवाही है जो किसी राज्य द्वारा अन्य राज्य के शत्रुतापूर्ण अथवा अशिष्ट व्यवहार के

लिये प्रयोग किया जाता है। अपराधी राज्य के विरुद्ध जो उपाय निर्देशित किये जाते हैं युद्ध का कारण तो नही होते तथा वस्तुत उनको अवलम्बन करने वाले राज्य के वैध अधिकारी के भीतर आते हैं। ऐसे उपाय भिन्न-भिन्न रूप धारण कर सकते हैं। वे अपराधी राज्य द्वारा पीडित राज्य के प्रजाजनो के ऊपर लगाये गये निरोधो के बदले मे अपराधी राज्य के प्रजाजनो के ऊपर उसी प्रकार के निरोधो को लगाने के रूप मे, राजदूत को वापस बुलाने के रूप मे, राजकर तथा पण्य शुल्क सम्बन्धी रियायतो को वापस लेने क रूप मे हो सकता हैं। बदल के सम्बन्ध का हाल का उदाहरण उन उपायो से प्राप्त होता है जो भारत द्वारा दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध उसके भारत विरोधी रुख तथा जातीय भेदभाव की नीति के लिये अवलम्बन किये गये। जब भारत द्वारा भारतीय उत्पत्ति के नागरिको की दशा सुधारने के लिये बारम्बर के प्रतिवेदन विफल हो गये तो वह दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध प्रतिकार के उपायो का अवलम्बन करने के लिये बाध्य हो गया जिनके द्वारा भारत मे दक्षिण अफ्रीका निवासियो पर अयोग्यताये लादी गईं। फिर भी, दक्षिण अफ्रीका मे भारत-विरोधी विधान नही रुका और भारत को अपने हाई कमिश्नर को दक्षिण अफ्रीका से वापस बुलाना पडा तथा व्यापारिक सम्बन्धो को तोड देना पडा।

प्रत्यपकार (प्रतिशोध) (Reprisal)—यह शब्द बहुत व्यापक है और इसमे बलपूर्वक बाध्य करने के वे सब उपाय सम्मिलित हैं जो किसी राज्य द्वारा बदला लेने के प्रयोजन से ग्रहण किये जाते हैं। यह बदले से इस बात मे भिन्न है कि इसमे वे कार्य भी सम्मिलित हैं जो ऐसे नियम विरुद्ध हैं, किन्तु जो विशिष्ट परिस्थितियो मे न्याययुक्त हो जाते हैं, जब बदले की दशा में बदले के उपाय के सम्बन्ध मे कोई वैध आपत्ति नही हो सकती क्योकि वे कवल शत्रुता के कार्य हैं जो पीडित राज्य की क्षमता के भीतर हैं।

लौरेंस ने प्रत्यपकार (प्रतिशोध) की परिभाषा इस प्रकार की है कि यह अपराधी पर दबाव डालने की रीतियाँ हैं जो भयकर रूप की हैं यद्यपि वे वास्तविक युद्ध की सीमा तक नही पहुँचती। वे प्रत्यपकार का प्रक्रिया को दृढ, निषेधात्मक, विशेष तथा सामान्य मे विभाजित करते हैं। दृढ बदले का अर्थ असभ्यो की विधि के सिवा और कुछ नही है जो 'सर के बदले सर' है अथवा जैसा कि इसे परिभाषानुसार प्रत्यपकार नियम 'lex talionis' कहा जाता है। निषेधात्मक बदला शत्रुतापूर्वक किन्तु शान्तिपूर्वक रीति से काय करने वाले राज्य के विरुद्ध उसी प्रकार स आचरण करना है जैसा उसने किया है। उनका बलप्रयोग अथवा युद्ध से कोई सम्बन्ध नही है। उनमे किसी राष्ट्रीय ऋण को चुकाने अथवा संधि के आभारों को

पालन करने से अस्वीकार करना सम्मिलित हो सकता है। वे किसी प्रकार से उग्र कार्य नही है वरन् केवल बदले हैं। विशेष प्रत्यपकार जिनका कि मध्ययुग मे अधिकतर उपयोग किया जाता था, वे हैं जो वैयक्तिक जनो को अन्य राष्ट्र के प्रजा-जनो द्वारा पहुँचाई गई हानि की क्षतिपूर्ति के लिये किये जाते हैं। जिनको हानि होती थी उनको सम्राट द्वारा मुद्रांकित पत्र दिये जाते थे, और उनको प्राधिकृत किया जाता था कि वे अपराधी राष्ट्रिकता के जहाजो तथा उसमे लादे हुए माल का अभिग्रहण करके अपनी क्षतिपूर्ति कर ले। सामान्य बदला उस दशा मे होता है जब कोई राज्य जो अपने को पीडित समझता है और बिना युद्ध करने के विचार के युद्ध सदृश कार्यवाहियाँ करता है अर्थात् अपराधी राज्य पर उसकी सम्पत्ति का अभिग्रहण अथवा उसे नष्ट करके, उसके क्षेत्र को ग्रहण करके अथवा उसके स्थानो या जहाजो को अभिग्रहण करके दबाव डालता है।

बदला लेने के उपाय केवल अपराधी राज्य के विरुद्ध कार्य करने तक ही सीमित नही हैं परन्तु वे राज्य के नागरिको के विरुद्ध भी लागू किये जा सकते हैं। सन् १९३५ मे जब मार्सलीज मे यूगोस्लैविया के सम्राट अलेक्जेण्डर की हत्या के परिणामस्वरूप हगरी के लोग, जिन पर हत्या करने का सन्देह किया गया था प्रत्यपकारस्वरूप यूगोस्लैविया से निकाल दिये गये।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे प्रत्यपकार उस दशा मे अनुज्ञात है जब न्याय न प्राप्त हो अथवा कोई अन्तर्राष्ट्रीय अपराध किया गया हो। हानि पहुँचाये गये राज्य के लिए वे आत्म-सहायता के कार्य हैं। नोलिला वाले मामले मे विवाचन के विशेष अधिकरण द्वारा यह कहा गया कि वैध बदले की रीति का अवलम्बन करने के लिये दो बाते आवश्यक हैं अर्थात् हानि पहुँचाये गये राज्य द्वारा क्षतिपूर्ति के लिये एक असफल माँग जिससे कि बल-प्रयोग आवश्यक हो गया तथा अपराधी राज्य द्वारा क्षतिपूर्ति के लिये अस्वीकार किया जाना। पुनः उपाय जो अवलम्बन किये जाँय अत्यधिक अथवा प्राप्त हुए प्रकोप के अनुपात से बहुत अधिक नही होने चाहिये।

प्रत्यपकार के उपरोक्त उप-विभाजनो के अतिरिक्त दो उप-विभाजन जिनकी विवेचना करना शेष रह गया है वे हैं—शत्रुतापूर्ण अधिरोध (Hostile Embargo) तथा शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी (Pacific Blockade)।

शत्रुतापूर्ण अधिरोध (Hostile Embargo)—इसका अर्थ अपराधी राज्य के व्यापारी जहाजो अथवा सपत्ति का क्षतिपूर्ति चाहने वाले राज्य के बन्दरगाहो मे अभिग्रहण अथवा रोकना है। यह शान्तिपूर्ण अथवा नागरिक जहाजो के

रोक से भिन्न है जो एक राज्य द्वारा अपने ही जहाजो पर अपने ही बन्दरगाह पर लगाया जाता है। *अठारहवी शताब्दी के अन्तिम भाग तथा उन्नीसवी शताब्दी के* प्रथम भाग मे शत्रुतापूर्ण अधिरोध का अवलम्बन प्राय. शत्रुता की आशा मे किया जाता था, किन्तु यह रीति बाद मे व्यापारिक हितो की वृद्धि के कारण त्याग दी गई जिसका परिणाम यह हुआ कि योद्धा राज्य शत्रु के व्यापारी जहाजो को जो उनके बन्दरगाहो मे पाये जायँ रियायती दिनो के भीतर चले जाने की अनुमति प्रदान कर दे।

शांतिपूर्ण संरोध (नाकाबन्दी) (Pacific Blockade)—यह किसी अपराधी अथवा हठी राज्य के व्यापार को अस्थायी रूप से कुछ काल के लिये रोकना है। यह अपने समुद्री किनारे मे अथवा उसके किसी विशेष भाग मे प्रवेश रोकने से होता है किन्तु यह बिना किसी उग्र विरोधी कार्यों का अवलम्बन करते हुए होना चाहिये, केवल उतना छोड़कर जितना कि इस रुकावट को प्रवर्तन करने के लिये आवश्यक हो।

यह साधारणत. प्रयोग मे इस प्रकार लाया जाता है अर्थात् या तो (१) बलपूर्वक बदले के रूप मे अथवा प्रतिकार के उपाय के रूप मे जो युद्ध से कुछ ही कम हो, अथवा (२) अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस उपाय के रूप मे। इस उपाय का निर्बल राज्यो के विरुद्ध उन राज्यो द्वारा अवलम्बन किया जाता है जिनके पास बहुत बडी नाविक शक्ति हो अथवा जो बहुत बलशाली शक्तियाँ हैं; अन्यथा यदि दोनो प्रतिस्पर्धी राज्य सामान्यतः बलशाली हो तो युद्ध अवश्यभावी हो जाय। उन्नीसवी शताब्दी के पूर्व नाकाबन्दी पूर्णत. एक युद्ध का उपाय था। शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी को अर्थात् इसे अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को शान्ति के समय मे निपटाने के लिये एक बलपूर्वक बाध्यकारी उपाय के रूप मे लागू किया जाना उन्नीसवी शताब्दी के दूसरे चौथाई काल से स्वीकृत हुआ।

सन् १८८७ मे हीडलबर्ग स्थित अन्तर्राष्ट्रीय विधि की संस्था में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी उस दशा मे वैध है जब कि यह प्रभावपूर्ण हो, सम्यक् रूप से अधिसूचित हो, पर्याप्तबल से स्थापित हो तथा विदेशी झडे के जहाजों से हस्तक्षेप न करता हो। इसमे यह भी व्यवस्था की गई कि जब तक नाकाबन्दी संचालित रहे रोकने के अतिरिक्त और कोई कठोरता का व्यवहार न करे तथा उसकी समाप्ति पर वे बिना क्षतिपूर्ति के छोड दिये जाँय।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर अपराधी राज्यो के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा उसकी ओर से शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी की प्रवृत्ति प्राधिकृत करता है।

हस्तक्षेप (Intervention) :—यह राज्यो के बीच झगडो को निपटाने के लिये एक दूसरा बन्धनकारी उपाय है जो युद्ध की सीमा तक नही पहुँचता। पूर्व प्रसग में इस विषय पर विस्तार से लिखा जा चुका है।

चार्टर द्वारा बन्धनकारी रीतियों की अनुशास्ति (Sanction of Compulsive Means by the Charter) :—अब सयुक्त राष्ट्र सघ क चार्टर के सम्बन्ध मे बन्धनकारी रीतियो की स्थिति के विषय में अध्ययन किया जाय। चार्टर का अनुच्छेद २ (३) सदस्यो को यह प्राधिकृत करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को शान्तिपूर्ण रीतियो से इस प्रकार निपटावे कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा तथा न्याय के लिये कोई भय उत्पन्न न हो। इस अनुबन्ध का प्रभाव यह है कि प्रतिरोध तथा प्रत्यपकार उदाहरणार्थ शत्रुतापूर्ण जहाजो का अधिरोध तथा शान्तिपूर्ण नाकाबन्दी केवल तभी तक अनुमति प्राप्त हैं जब तक वे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के लिये भयोत्पादक न हो। अनुच्छेद २ (४) द्वारा सदस्यो को यह और निर्देश दिया गया है कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे किसी राज्य की क्षेत्रीय एकता अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध-बल प्रयोग की धमकी न दे अथवा बलप्रयोग न करे अथवा किसी ऐसी अन्य रीति से व्यवहार न करें जो सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो से असगत हो। कोई प्रत्यपकार अथवा हस्तक्षेप जिसका परिणाम किसी राज्य के समीप क्षेत्रीय ऐक्य अथवा राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध बल-प्रयोग करने की धमकी अथवा बल प्रयोग हो स्वत सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर के स्पष्ट अनुबन्धो के विरुद्ध अवैध होगा, तथापि प्रवर्तक अनुबन्ध जिनका उल्लेख चार्टर के अध्याय ७ मे किया गया है सुरक्षा परिषद् को यह प्राधिकृत करता है कि चूक करने वाले सदस्य-राज्यों के विरुद्ध तथा चार्टर के अनुच्छेद २ (६) के अनुसार असदस्य राज्यो के विरुद्ध सामूहिक उपायो को लागू करे जो आर्थिक सम्बन्धो, रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो तथा अन्य यातायात साधनो मे बाधा डालने तथा राजनैतिक सम्बन्ध के विच्छेद में जिसमे शान्ति भग को रोकने के प्रयाजन से नाकाबन्दी भी सम्मिलित है, से सम्बद्ध है।

अध्याय ३५

युद्ध तथा इसका प्रभाव

(War and its Effects)

परिभाषा :—लौरेंस के अनुसार युद्ध को इस प्रकार परिभाषित किया जा सकता है कि यह राज्यो के बीच मे अथवा राज्यो तथा जातियो के बीच में जिनको

प्रतिस्पर्द्धा के सम्बन्ध मे राज्य के अधिकार हो, सार्वजनिक बल से की गई एक प्रतिस्पर्द्धा (contest) है जिसमें पक्षकारो का यह आशय रहता है कि शान्तिपूर्ण सबंध समाप्त कर दिये जायें तथा उनके स्थान में शत्रुता को उसके समस्त वैध परिणामो सहित बदल दिया जाय। "War is a contest carried on by public force between States, or between States, and communities having with regard to the contest the rights of States, the parties to it having the intention of ending peaceful relations, and substituting for them those of hostility with all the legal incidents thereof." (Lawrence The Principles of International Law, p. 309)। उपरोक्त परिभाषा के अनुसार युद्ध मे दो प्रमुख लक्षण प्रतिस्पर्धा तथा आशय हैं जिनका अस्तित्व युद्ध होने के लिये साथ ही साथ रहना चाहिये। दूसरे के बिना पहले का परिणाम युद्ध न होकर प्रत्यपकार मे परिणित होता है।

प्रोफेसर वेस्टलेक की परिभाषा मे युद्ध सरकारो की वह दशा अथवा स्थिति हैं जब वे बलपूर्वक परस्पर लड़ते हो। ग्रोशस (Grotius) ने भी युद्ध को एक स्थिति (condition) माना है। लोरेंस इस दृष्टिकोण से सहमत नही है। वह शत्रुता मे लगे रहने की दशा को युद्धकारिता अथवा युद्ध सलग्नता (belligerency) कहते हैं तथा लडाई के मध्य मे जो एक के बाद दूसरे शत्रुतापूर्ण कार्य होते हैं उनको 'युद्ध' (war)। उनके अनुसार युद्ध एक प्रतिस्पर्धा है न कि एक स्थिति और इसके अनन्तर यह उन प्रतिस्पर्धाओ तक ही सीमित है जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्यो द्वारा दिये गये राज्य के प्राधिकार के अन्तर्गत किये जाते हैं।

रूसो के विचार मे युद्ध दो राज्यो के बीच मे बल प्रयोग द्वारा झगडा (a contention by force between two states) है। यह विचार इस अर्थ में अप्रचलित है क्योकि आधुनिक युद्ध निर्दयता से नैतिक विचारो की अपेक्षा किए बिना लड़े जाते हैं जो युद्धो को अधिक अमानुषिक बनाने का यत्न करते हैं। आजकल का युद्ध का विचार सर्वाङ्गीण युद्ध है जहाँ प्रत्येक वस्तु युद्ध मे विजय प्राप्त करने के सर्वोच्च कार्य के अधीन रखी जाती है। लडने वाले तथा न लडने वाले तथा सैनिक और असैनिक लक्ष्यो का पुराना अन्तर अब मान्य नही है। नागरिको के जीवन को अब पवित्र नही समझा जाता।

ओपेनहेम युद्ध को इस प्रकार परिभाषित करते हैं कि यह दो या अधिक राज्यों के मध्य मे अपने सैनिक बल द्वारा एक दूसरे को पराजित करने तथा शान्ति की ऐसी शर्तों को आरोपित करने के लिए जैसा विजयी राज्य चाहे, लडाई है— a contention between two or more States through their armed forces for the purpose of overpowering each other and imposing such conditions of peace as the victor pleases

अतः युद्ध की परिभाषा इस प्रकार हो सकती है—यह दो या अधिक राज्यों के मध्य में सैनिक बल द्वारा की गई प्रतिस्पर्धा है जिसमे प्रत्येक लड़ने वाले का चरम लक्ष्य दूसरे को जीतना तथा अपनी हो शान्ति की शर्तों को आरोपित करना है।

हॉल (Hall) के अनुसार "When differences between States reach a point at which both parties resort to force or one of them does acts of violence which the other chooses to look upon as a breach of the peace, the relation of war is set up in which the combatants may use regulated violence against each other, until one of the two has been brought to accept such terms as his enemy is willing to grant" अर्थात् दो राज्यो मे मतभेद जब बढ़कर इस स्थिति तक पहुँच जाता है कि दोनो पक्ष बल-प्रयोग पर उतर आते हैं या उनमे से एक हिंसा के कार्य करने लगता है और जिसे प्रतिद्वन्द्वी राज्य शान्ति-भंग की एक कार्यवाही मानता है, तो उनके बीच युद्ध का संबंध स्थापित हो जाता है जिनमे दोनो एक दूसरे पर हिंसात्मक कार्यवाहियाँ कर सकते हैं, यह क्रम उस समय तक जारी रहता है, जब तक कि एक पक्ष अपने शत्रु की इच्छाओं को मानने के लिए विवश न कर दिया जाय।

युद्ध के प्रकार (Kinds of War)—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्राचीन लेखकों ने युद्ध को लोक (Public) और व्यक्तिगत (Private), सम्मिलित युद्ध (mixed war), पूर्ण या अपूर्ण युद्ध (perfect or imperfect war), न्यायोचित या न्याय-प्रतिकूल युद्ध (just or unjust war) और औपचारिक या अनौपचारिक युद्ध (formal or informal war) में विभाजित किया है।

स्वतन्त्र सम्प्रभु राज्यों के बीच के बल-प्रयोग को लोक-युद्ध कहते हैं। हाईड (Hyde) के अनुसार यह राज्यों के बीच सशस्त्र शत्रुता की एक शर्त (a condition of armed hostility between states) है। सभ्यता के विकास के साथ ही वैयक्तिक युद्ध समाप्त हो गये, और वैयक्तिक व्यक्ति जो कि शान्ति भंग करने का प्रयत्न करते हैं, वे शान्ति के तोड़ने वालों के रूप मे माने जाते हैं। आज के युग में सभी युद्ध एक प्रकार से लोक युद्ध हुआ करते हैं और युद्ध-सलग्नता और यहाँ तक कि विद्रोह की स्थिति मे भी राज्य की सलग्नता के कारण लोक-युद्ध के तत्व विद्यमान होते हैं।

ग्रोशस (Groutius) ने एक ही समाज के विभिन्न सदस्यों द्वारा किये जाने वाले गृह-युद्ध को सम्मिलित युद्ध की संज्ञा दी थी। उनके अनुसार एक ओर प्रस्थापित सरकार के पक्ष में लोक रहता है और दूसरी ओर उसके प्राधिकार का

विरोध करने वाले वैयक्तिक लोग होते हैं, जिन्हे द्रोही कहा जाता है। आज की परिस्थितियों मे यह वर्गीकरण सत्य नही स्थिर होता, क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा गया है, युद्ध सलग्नता की मान्यता के साथ ही साथ युद्ध का समूचा रूप ही बदल गया है। ओपेनहेम के अनुसार एक गृह युद्ध उस समय अस्तित्व मे होता है, जबकि एक ही राज्य मे दो एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी पक्षकार राज्य मे प्रभुत्व मे आने के लिए शस्त्रों की शरण लेते हैं या जबकि एक राज्य की जनता का एक बहुत बडा वर्ग वैध सरकार के विरुद्ध शस्त्र उठाकर सामने आ जाता है।

एक पूर्ण युद्ध वह है, जहां कि सम्पूर्ण राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र से युद्ध-रत हो, जबकि एक अपूर्ण युद्ध कतिपय स्थानो, व्यक्तियो और वस्तुओ तक ही सीमित हो।

जहां-कही युद्ध के लिए न्यायोचित कारण उपस्थित रहते हैं, उसे न्यायोचित युद्ध कहा जाता है। उदाहरण के लिए किसी राष्ट्र की राजनीतिक स्वतन्त्रता और क्षेत्रीय एकता के लिए लडा जाने वाला युद्ध न्यायोचित युद्ध कहा जायेगा। दूसरी ओर, एक न्याय प्रतिकूल युद्ध वह है जो कि न्याय-विरुद्ध आधारो पर लडा जाता है। अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा की पूर्ति के लिए पडोसी राज्य की क्षेत्रीय सीमा मे घुसकर उसे प्राप्त करने के लिए लडा जाने वाला युद्ध न्याय-प्रतिकूल युद्ध कहा जायेगा।

एक औपचारिक युद्ध वह है जो कि वांछित सभी औपचारिकताओ के साथ घोषित कर दिया जाता है और उसका सचालन लोक-प्राधिकारी द्वारा किया जाता है। एक अनौपचारिक युद्ध किसी दूसरे राज्य पर सहसा आक्रमण कर देने से उत्पन्न हो जाता है।

अन्तिम रूप से, ओपनहेम (Oppenheim) के अनुसार, गुरिल्ला युद्ध-कौशल उस युद्ध मे अपनाये गये कौशल को कहते हैं जो कि शत्रु द्वारा विजित क्षेत्र मे ऐसे व्यक्तियो द्वारा किया जाता है जो सशस्त्र और सगठित सेना के अग नही हैं।

पूर्ण युद्ध (Total War) :—वर्तमान युग के युद्ध ने पूर्ण युद्ध का रूप धारण कर लिया है जिसमे वे नैतिक विचार जो उन अभिसमयो पर आश्रित हैं जो युद्ध को अधिक मानुषिक बनाना चाहते हैं अथवा युद्ध के नियम नियत करते है कोई युद्ध अथवा वैधता रखने वाले नही माने जाते। प्रत्येक वस्तु युद्ध-शासित करने वाली आज्ञाओ के अन्तर्गत रक्खी जाती है। नियम, विनियम, आश्वासन, सन्धियां तथा प्रत्येक वस्तु धूल मे मिला दिये जाते हैं तथा इस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रेरने वाले प्रभावो से उन्मुक्त होकर, बलपूर्वक अपने शत्रु को परास्त करने के

लक्ष्य से और उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए रीतियो तथा उपायो की अपेक्षा न करते हुये युद्ध किया जाता है (R. W. Cooper : The Nuremberg Trial, p. 299)। इस प्रकार गत युद्ध मे अणुबम का प्रयोग स्पष्टतः अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अति प्राचीन सभ्य युद्ध के नियमो का उल्लंघन था तथा मानवता के विरुद्ध एक अपराध था।

क्या यह आवश्यक है कि युद्ध के पूर्व युद्ध की घोषणा की जाय ? (Prior Declaration of War) :—किसी समय राज्यों के बीच में शत्रुता को वैध करने के लिये यह आवश्यक समझा जाता था कि एक राज्य अपनी ओर से शत्रु-राज्य को नियमपूर्वक अधिसूचना द्वारा यह घोषित करे कि इसकी और उसकी लड़ाई है। इस रीति का रोमन तथा यूरोप के राज्यो द्वारा सत्रहवी शताब्दी के मध्य तक समान रूप से अनुकरण किया गया। लड़ने के लिये ललकारने के पत्र अथवा अग्रदूत अन्य पक्षकार के पास भेजे जाते थे जिनके द्वारा सन्देश पहुँचने तथा युद्ध आरम्भ होने के बीच मे तीन दिन का समय दिया जाता था। इस लोकाचार का सबसे आधुनिक उदाहरण सन् १६३५ मे ब्रसेल्स मे युद्ध की घोषणा है जिसमें सशस्त्र अग्रदूतो द्वारा जो अत्यधिक शिष्टता से भेजे गये थे, शत्रु को आवश्यक सूचना दी गयी। अग्रदूतो को भेजने की इस रीति को त्याग देने के उपरान्त अन्य पक्ष को युद्ध आरम्भ करने की सूचना देने के लिए एक नियमानुसार राजनैतिक वक्तव्य देने की प्रथा प्रचलित हुई, किन्तु अठारहवी शताब्दी तक ऐसे राजनैतिक वक्तव्य भी प्रायः त्याग दिये गये और हम देखते हैं कि बहुत सी दशाओ मे ऐसे वक्तव्य केवल युद्ध आरम्भ करने के उपरान्त ही किये गये। सन् १७०० तथा १८७० के बीच मे यह ज्ञात किया गया है कि दस मामलो में युद्ध की घोषणा की गयी परन्तु १०७ मामलों मे ऐसी कोई घोषणा नही की गई। युद्ध आरम्भ करने के पूर्व उसकी घोषणा करने की प्रथा उन्नीसवी शताब्दी के बाद के वर्षों में पुनः सामान्य रीति से व्यवहार की जाने लगी और उस समय यह प्रायः स्वीकृत कर लिया गया था कि कुछ प्रकार की घोषणा अथवा अन्तिम चेतावनी आवश्यक है।

राज्यो की रीति के पुनरावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस विषय मे कोई सामान्य नियम नहीं निकाला जा सकता कि शत्रुता के कार्य आरम्भ करने के पूर्व कोई पूर्वकालिक अथवा नियमपूर्वक युद्ध की घोषणा आवश्यक है या नहीं, किन्तु यह प्रकट है, जैसा कि लौरेंस ने संकेत किया है, कि इसमे संदेह नहीं कि [illegible] नैतिक आचरण के अनुसार यह आवश्यक है कि बिना सावधान किए [illegible] कोई शत्रुता के कार्य आरम्भ न किये जायेंगे। किसी राज्य को परम शान्ति [illegible] अवस्था

कर देना चाहिये और यह उनके सम्बन्ध मे तब तक प्रभाव न रखेगा जब तक कि अधिसूचना प्राप्त न हो जाय, जो तार द्वारा भी दी जा सकती है।

इस प्रसिद्ध अभिसमय का शोचनीय रूप से भग उस समय हुआ जब सन् १६३१ मे जापान ने मचूरिया का अभिग्रहण सन् १६३५ मे किया और शघाई पर आक्रमण किया तथा जब इटली ने अबीसीनिया पर नाममात्र को भी चेतावनी दिये बिना आक्रमण कर दिया। जापान ने इस इतिहास की पुनरावृत्ति जुलाई सन् १६३७ मे की जब उसने बिना पहल काई चेतावनी दिये हुये चीन के विरुद्ध पुनः युद्ध आरभ कर दिया। उसके उपरान्त द्वितीय महायुद्ध हुआ जिसका भी आरम्भ सितम्बर १६३६ मे जर्मनी द्वारा पोलैण्ड पर बिना किसी सूचना के आक्रमण करने तथा आकाश से बमवर्षा करने के कारण हुआ। रूस द्वारा फिनलैण्ड पर जो आक्रमण किया गया वह भी बिना किसी सूचना के किया गया था। जून १६४१ मे जर्मनी ने रूसी सघ पर भी बिना किसी सूचना के आक्रमण कर दिया। इन सब के शिखर पर दिसम्बर १६४१ का पर्ल हारबर का मामला आता है जब जापान ने पर्ल हारबर मे स्थित सयुक्त राज्य अमेरिका के जहाजी बेडे पर अचानक ही आक्रमण कर दिया। जापान के इस कार्य का समर्थन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के युद्ध-सचालन सम्बन्धी किसी भी सिद्धान्त पर नही किया जा सकता। १६६२-६३ मे भारत की उत्तरी-पूर्वी सीमा पर जो चीन की ओर से प्रबल आक्रमण हुआ था, उसकी भी चीन की ओर से कोई पूर्व सूचना नही दी गई थी और युद्ध मे रत होने के पश्चात् भी दोनो देशों ने युद्ध की घोषणा नही की थी।

युद्ध का तात्कालिक प्रभाव (Immediate Effects of War)—युद्ध का तात्कालिक तथा सबसे प्रमुख प्रभाव यह होता है कि प्रत्येक पक्ष के युद्धकर्ताओ के सार्वजनिक सैन्य दलो को यह अधिकार प्रदत्त कर दिया जाता है कि युद्ध-सचालन सम्बन्धी नियमो के अनुसार युद्ध आरम्भ कर दें।

राजनयिक तथा वाणिज्य-सम्बन्धी नियम (Diplomatic and Consular Relations)—इसका यह भी प्रभाव होता है कि राजनैतिक [illegible] समाप्त हो जाता है तथा राजदूतो को अपना-अपना पासपोर्ट मिल जाता है। प्रस्थान होने वाले दूत को यह अधिकार होता है कि वह अपने देश तक वापस की यात्रा भर मे राजनयिक उन्मुक्तियो का उपयोग करे तथा अभिलेखागार [illegible] छोड दिया गया हो तो वह मुद्रांकित करके रख दिया जाता है।

वाणिज्यदूतो का भी कार्य नही करने दिया जाता और उ[illegible] इत्यादि अन्य राज्य के वाणिज्य दूत को सौंप दिये जाते हैं।

वाणिज्य सम्पर्क (Commercial Intercourse) —युद्ध छिड़ने पर कुछ प्रतिबन्धों के साथ दोनों लड़ने वाले राज्यों के बीच के प्राय वैध सम्बन्ध या तो कुछ समय के लिये स्थगित कर दिये जाते हैं अथवा समाप्त कर दिये जाते हैं। इनका परिणाम यह होता है कि शत्रु प्रजाजनों के साथ के सभी व्यापारिक सम्पर्क अवैध हो जाते हैं। दोनों महायुद्धों के बीच ग्रेट ब्रिटेन ने सन् १९१४ तथा सन् १९३९ के शत्रु से व्यापार सम्बन्धी अधिनियम पारित किए जिसके अनुसार युद्ध के बीच ऐसे सब लेन देन का निषेध किया गया जिनमें शत्रुदेश में रहने वाले अथवा व्यापार करने वाले किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति का सुधार हो।

संविदायें (Contracts) —युद्ध करने वाले प्रजाजनों के बीच युद्ध के मध्य में कोई नयी संविदाएँ नहीं की जा सकती तथा यदि वे ऐसे निषेधाज्ञा के होते हुये भी की जाँय तो न्यायालय उनको मूलत अवैध तथा प्रभावहीन घोषित करते हैं यह शर्त कि वे किसी विशेष लाइसेन्स के अधीन न किए गए हों। युद्ध से पूर्व की गई संविदायें या तो विघटित कर दी जाती हैं अथवा कुछ काल के लिए स्थगित कर दी जाती हैं। यदि संविदाएँ प्रशासकीय संविदाएँ हों अथवा यदि समय संविदा के लिए सारभूत तथ्य रहा हो तो वे स्वत विघटित हो जाती हैं।

युद्ध का अन्य परिणाम यह होता है कि युद्ध में लगे हुये देश प्रजाजन तथा एक तटस्थ के बीच में हुई कोई संविदा का पूर्ति उस समय तक नहीं हो सकती जब तक युद्ध का क्रम उस समय तक रहता है यदि युद्ध में लगे हुए प्रजाजन ने यह संविदा की हो कि वह इसे शत्रु के देश में पूरी करेगा।

साझेदारी वाले फर्म (Partenership Firms) —युद्ध छिड़ने पर यदि साझेदारी शत्रु का लक्षण प्राप्त कर ले तो साझेदारी वाले फर्म समाप्त हो जाते हैं किन्तु विदेशी साझेदार को युद्ध के समाप्त होने पर अपना धन वापस प्राप्त करने का अधिकार है।

ऋणों का भुगतान (Payment of Debts) —युद्ध में संलग्न राज्य द्वारा अन्य राज्य के प्रजाजनों को युद्ध छिड़ने के पहले की गई हुई संविदाओं के लिये देय ऋण केवल कुछ काल के लिए स्थगित हो जाते हैं तथा स्थापित होने वाली शान्ति ऋणदाता के पूर्व अधिकारों को पुनर्जीवित कर देती है। ऐसी दशा में युद्ध चलने के काल तक अवधि की संविधि ऋणदाता के विरुद्ध लागू नहीं होती, किन्तु यदि ऋण अथवा कि बीच युद्धकाल में लिया जाय तो इसके लिये युद्ध समाप्त होने पर दावा नहीं किया जा सकता।

शत्रु के देश में प्राप्त सम्पत्ति (Property found in the Enemy Country) —अन्तर्राष्ट्रीय रीति पर आधारित आधुनिक नियम से यह प्रकट होता

है कि शत्रु की सम्पत्ति जो युद्ध मे सलग्न राज्य के क्षेत्र के भीतर युद्ध के आरम्भ मे पाई जाय उसका युद्ध मे लूटी हुई सम्पत्ति के रूप मे अभिग्रहण तथा अपहरण नही हो सकता। फिर भी, नियम प्राय सधि की शर्तों से अनुशासित होता है। अत कोई ऐसा अचल अथवा अटल नियम नही बनाया जा सकता जिससे समस्त मामले सब समय मे अनुशासित हो। शत्रु की आर्थिक सहायता रोकने के लिए सम्पत्ति प्राय अलग या नष्ट कर दी जाती है। द्वितीय महायुद्ध के मध्य मे सयुक्त राज्य अमेरिका ने यहाँ तक किया कि उसने जर्मनी द्वारा कुचले गए तटस्थ देशों का पावना भी निश्चालन (froze) कर दिया जब वह प्राविधिक तटस्थता की दशा मे था। इस नीति क परिणामस्वरूप अमेरिका न जर्मनी तथा इटली क पावनो को सन् १६४१ मे पारित एक प्रशासकीय आदेश द्वारा निश्चालन कर दिया तथा रूमानिया, लैटेविया तथा इथोनियाँ म पावनो को भी जिनपर जर्मनी द्वारा आक्रमण किया गया था, निश्चालित कर दिया था।

यह स्थापित कर दिया गया है कि केवल युद्ध की घोषणा स्वत यह प्राधिकृत नही करती कि राज्य के क्षेत्र के भीतर प्राप्त शत्रु की सम्पत्ति को दण्ड के रूप मे युद्ध मे उस समय तक अभिग्रहीत सम्पत्ति के रूप मे लूट लिया जाय, जब तक कि इसके प्राधिकृत करने वाला विधायी अधिनियम बाद मे पारित न हो।

प्रथम तथा द्वितीय दोनो महायुद्धा के बीच मे शत्रु सम्पत्ति के सरक्षण के लिए ब्रिटिश सरकार ने शत्रु को सम्पत्ति के सरक्षक नियुक्त किये। प्रथम महायुद्ध के उप-रान्त शान्ति-सधियो द्वारा भूमि पर वैयक्तिक सम्पत्ति को पुन समायोजन करने की व्यवस्था की गई। सन् १६४७ की शान्ति सधि द्वारा विजेता राज्य इस बात के लिये समर्थ हुये कि वे मित्र-राष्ट्र तथा उनके जाताय जनो के दावों की पूर्ति के लिये शत्रु की सम्पत्ति को अपने पास रक्खें।

तटस्थ राज्यों मे युद्ध-स्थित सम्पत्ति (Belligerent Property in Neutral States).—साधारण नियम के अनुसार युद्ध-स्थित ऐसी सम्पत्ति जो कि तटस्थ राज्यो म पाई जाती है अभिग्रहण से मुक्त है किन्तु ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जहां ऐसी उन्मुक्तियाँ तटस्थ राज्य-क्षेत्र के लिए अपवाद हो सकती हैं। द्वितीय विश्व युद्ध मे ऐसे अवसर आये जब कि मित्र राष्ट्रो को तटस्थ देशो के नाम इस प्रकार विषय को चेतावनी भेजनी पडी कि वे अपने राज्य को जर्मनी और उसके मित्र राष्ट्रा की सम्पत्ति का सग्रहक्षेत्र न बनाने दें। संयुक्त राज्य अमेरिका न तटस्थ देशा को इस प्रकार की सूचना १६४१ के युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व ही जर्मनी क विरुद्ध दे दी थी।

युद्ध का संधियों पर परिणाम (Effect of War on Treaties) :— जैसा कि Judge Cardozo ने Techt v. Hughes [(1920) 229 N. Y. 222] में लिखा है : "अन्तर्राष्ट्रीय विधि में युद्ध का संधियों पर प्रभाव एक सबसे बड़े उलझन का प्रश्न बनकर बचा रहता है। (The effect of war on treaties remains as yet one of the most unsettled subjects in International Law.)" इस बात पर एक सामान्य स्वीकारोक्ति है कि संधियाँ तो युद्ध होने पर ही समाप्त हो जाती हैं और कुछ इस प्रकार की हैं जो युद्ध से बिल्कुल ही अप्रभावित रहती हैं। इसके उपरान्त भी कुछ ऐसी संधियाँ हैं जो युद्ध चलने के काल में स्थगित रहती हैं किन्तु युद्ध समाप्त होने पर पुनर्जीवित हो जाती हैं।

विधि की अव्यवस्थित दशा में किसी संगत सिद्धान्त अथवा सिद्धान्त की एकरूपता का बताना कठिन है। इस सम्बन्ध में दो प्रकार से परीक्षा प्रयुक्त की जा सकती है। पहली विषय-वस्तु सम्बन्धी (subjective) परीक्षा इस आशय की है—क्या संधि पर हस्ताक्षर करने वालों का यह आशय था कि युद्ध के आरम्भ में यह बाध्यकारी रहे ? दूसरी परीक्षा उद्देश्य-सम्बन्धी (objective) इस आशय की है—क्या संधि का निष्पादन युद्ध के संचालन के साथ असंगत है ?

संधियाँ जिनमें युद्धसंलग्न तथा अन्य शक्तियाँ पक्षकार हैं (Treaties to which the belligerents and other powers are parties) :— बड़ी संधि विधायक संधियाँ उदाहरणार्थ पेरिस की घोषणा (१८५६) जो राज्यों के समाज के लिये विधान बनाती हैं अपने सदस्यों में से दो अथवा अधिक के बीच में युद्ध से अप्रभावित रहती हैं। इस प्रकार स्वास्थ्य, स्वच्छता, औषधि सम्बन्धी विधियाँ जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज को समस्त सुविधाएं प्रदान करने की व्यवस्था करती हैं युद्ध-रत तथा सदस्यों के बीच में बराबर चालू रहती हैं। केवल ऐसी व्यवस्थायें जो युद्ध-संचालन से असंगत हो स्थगित कर दी जाती हैं और युद्ध की समाप्ति होने पर पुनर्जीवित होती हैं।

सामान्यतः ऐसी संधियाँ, जैसी विभिन्न राज्यों के बीच मित्रता तथा सम्बन्ध की, जिनमें कि युद्ध-रत राज्य भी सम्मिलित हैं, विग्रह के आरम्भ में ही विनष्ट कर दी जाती हैं, केवल उन शर्तों को छोड़ कर जो स्पष्टतः सम्बन्ध-विच्छेद के सम्बन्ध में की गई हों। व्यापारिक संधियाँ केवल जो युद्ध में वस्तुतः संलग्न हों उनके ही सम्बन्ध में लोप कर दी जाती हैं किन्तु जहाँ तक तीसरे पक्षकार का सम्बन्ध है वे चालू रहती हैं।

ऐसी संधियाँ जिनमें युद्ध की सम्भाव्यता पर विचार किया गया हो, अथवा जो स्पष्टतः युद्ध की व्यवस्था के लिये की गई हों तथा युद्ध-संचालन से संबंधित हों,

युद्ध के आरम्भ होते ही चालू हो जाती हैं। युद्धकाल मे अस्वस्थ तथा घायलो की चिकित्सा के सम्बन्ध मे सन् १८६४, १९०६ तथा १९४९ के जेनेवा अभिसमयो तथा सन् १८९९ और १९०७ के हेग अभिसमयो जो युद्ध के नियम तथा युद्धमानो की पारस्परिक सम्बन्धो और उनके तटस्थो के प्रतिभावो को निर्धारित करती हैं, सम्पूर्ण युद्धकाल में बधनकारी रहती हैं।

संधियाँ जिनमे केवल युद्ध-संलग्न राज्य ही पक्षकार हैं (Treaties to which the belligerents only are parties) :—सधियाँ जो अन्तिम रूप से विषयो को निर्धारित करती हैं तथा उनके सम्बन्ध मे एक स्थायी स्थिति उत्पन्न करती हैं, यह सीमा सम्बन्धित अभिसमय तथा सधियाँ हैं जो एक निश्चित क्षेत्र के तटस्थीकरण के सम्बन्ध मे व्यवस्था करती हैं, तथा प्रदान (cession), स्वतन्त्रता अथवा राजवश व्यवस्था सम्बन्धी स्वीकृतियाँ हैं, जो युद्ध से प्रभावित नहीं होती तथा प्रवृत्त रहती हैं।

राजनीतिक सधियाँ, उदाहरणार्थ मित्रता की सधियाँ तथा अभिसमय जो सामान्यतः मैत्री तथा परस्पर के स्नेह में बद्ध करते हैं, अथवा विवाचन सम्बन्धी सधियाँ युद्ध आरम्भ होने पर रद्द हो जाती हैं।

फाइड्स एटियम हास्टाई सर्वेण्डा (Fides etiam hosti servanda) :—यह एक सिद्धान्त है, जो कि युद्ध-सलग्न राज्यों के शत्रुता-रहित सबधो को निर्देशित करते हैं। यद्यपि युद्ध के आरम्भ होने का तात्पर्य प्रतिद्वन्द्वी राज्यो के बीच के ऐसे समस्त सम्बन्धो को समाप्त कर देना है, फिर भी, परिस्थितियो की आवश्यकताएँ, मानवोचित विचारधाराएँ, तथा अन्य माँगें, ऐसी आवश्यकता को उत्पन्न कर सकती हैं कि युद्ध मे सलग्न रहने के उपरान्त भी प्रतिद्वन्द्वी राज्यो के बीच कुछ ऐसे सम्बन्ध बने रहें जो शत्रुतापूर्ण न हो। ऐसे शत्रुता-रहित सबन्धो के उदाहरण युद्ध-बन्दियो को छोडने, वैयक्तिक प्रयोग की सभी सामग्रियो को लौटाने, पत्रो, जवाहरात, आदि के प्रत्यर्पण, आदि हैं। ऐसे शत्रुता-रहित सबधो की रक्षा तथा उनका निर्वाह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत सुरक्षित हैं।

अध्याय ३९

शत्रु-स्वभाव

(Enemy Character)

व्यक्तियों का शत्रु-स्वभाव (Enemy Character of Individuals) :—सामान्य नियम यह है कि युद्ध-स्थित राज्य की जनता युद्ध शुरू होने पर शत्रु-स्वभाव

की बन जाती है। तटस्थ राज्यो के लिये यह बात लागू नही होती। सबसे पहली बात जो कि किसी व्यक्ति के शत्रुस्वभाव को सिद्ध करती है, वह है उसकी देश-भक्ति। इस सामान्य नियम के कुछ अपवाद भी हैं। फिर भी यह कहा जा सकता है कि भूतकाल मे एक ओर ब्रिटिश और अमेरिकी पद्धतियो में तथा दूसरी ओर महाद्वीपीय देशो मे बहुत भिन्नता थी।

लारेंस ने उन व्यक्तियो के वर्ग को जिन्हे शत्रुता का लक्षण रखने वाला समझा जाय, एक आरोहण (ascending) तथा अवरोहण (descending) श्रेणी मे उस मात्रा के अनुसार जिसमे कि शत्रुता के लक्षण की उन पर छाप डाली जाय, सक्षिप्त किया है जो निम्नलिखित है :—

१ प्रथम महत्व के क्रम मे वे व्यक्ति आते हैं जो शत्रु के सैनिक दलो मे भर्ती हैं। वे पूर्ण रूप से शत्रु हैं।

२ इसके उपरान्त वे नाविक जो शत्रु-राज्य के व्यापारिक जलयानो को चलाते है अथवा शत्रु के व्यापारिक जलयानो के मल्लाहो के जत्थे आते हैं। उनकी स्थिति सैनिक दलो तथा नागरिक जनता के बीच की है। सन् १९०७ के हेग अभिसमय द्वारा वे बन्दी के रूप मे रखे जाने के उत्तरदायित्व मे इस शर्त पर उन्मुक्त कर दिये गये कि वे इस बात की एक लेखबद्ध प्रतिज्ञा कर दें कि युद्ध के बीच मे उनके सचालन सम्बन्धी कोई सेवा न करेंगे।

३. इसके उपरान्त वे व्यक्ति आते हैं जो किसी सेना का अनुगमन बिना प्रत्यक्ष रूप से उससे सम्बन्ध रखते हुए करते हैं। हेग विधान के अनुच्छेद १३ मे जो स्थल युद्ध की विधियो तथा रूढियो के सम्बन्ध मे हैं, समाचारपत्र के सवाददाताओ, सूचना देने वालो, सेना का रसद पहुँचाने वालों को उपरोक्त वर्ग मे बतलाया गया है। ऐसे व्यक्ति रोके जाने पर युद्धबन्दी के रूप मे व्यवहार किये जाने के अधिकारी हैं किन्तु प्रतिबन्ध यह है कि उनके पास उस सेना के प्राधिकारियो का प्रमाण-पत्र हो जिसके कि साथ वे हो।

४ वे व्यक्ति जो शत्रु के देश मे निवास करने लगे हो चाहे वे जातीयता से तटस्थ ही क्यो न हो, शत्रु के लक्षण प्राप्त कर लेते हैं, शर्त यह कि वे शत्रु के देश मे युद्ध की घोषणा के उपरान्त भी व्यापार के प्रयोजनो के लिये रहना जारी रखे।

५. वे व्यक्ति जो ऐसे स्थानो मे रहते हो जो शत्रु द्वारा केवल सैनिक दखल रखने वाले के रूप मे प्राधिकृत किए गए हो उस समय तक शत्रु समझे जाते हैं जब तक कि दखल रहता है। विग्रह-स्वरूप दखल की समाप्ति पर निवासियो के साथ नागरिको के, न कि शत्रु-क्षेत्र के निवासियो के, रूप मे व्यवहार किया जाता है।

६. जो तटस्थ देश निवासी व्यक्ति जिनकी शत्रु के देश मे व्यापारिक कोठियाँ हो, उनको यह समझा जाता है कि उन्होंने शत्रु का लक्षण प्राप्त कर लिया है। ऐसे व्यक्ति व्यापारियो के रूप में स्थायी निवास प्राप्त कर लेते हैं और तत्सबंधित अपने माल को अभिग्रहीत किये जाने की आपत्ति में डालते हैं।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति जो शत्रु-राष्ट्रीय हैं, यदि वे तटस्थ राज्य के निवासी हो तथा वहाँ व्यापार करते हो तो अवश्य ही वे शत्रु-स्वभाव से पूर्ण हो, आवश्यक नही है।

सामान्य नियम यह है कि युद्ध मे सलग्न राज्यो के प्रजाजन युद्ध छिड़ने पर शत्रु का लक्षण प्राप्त कर लेते हैं किन्तु युद्ध मे भाग न लेने वाले राज्यो के राष्ट्रीय-जन तटस्थ समझे जाते हैं। उपरोक्त नियम उस दशा मे लागू नहीं होगा जब तटस्थ राज्यो के प्रजाजन युद्ध में सलग्न किसी की ऐसी सेवाएँ करें जो एक तटस्थ राज्य को न करनी चाहिये अथवा यदि वे शत्रु देश के स्थायी निवासी होकर करो के दान तथा अन्य रीतियो से शत्रु की शक्ति बढाने मे अपना हाथ बटाते हो।

अमेरिका के सन् १९१७ के शत्रु के साथ व्यापार सम्बन्धी अधिनियम में 'शत्रु' की परिभाषा इस प्रकार है :—(अ) कोई व्यक्ति, साझेदारी अथवा किसी राज्य के व्यक्तियो की अन्य संस्था जो किसी ऐसे राज्य के क्षेत्र के भीतर निवास करती हो जिससे कि सयुक्त राज्य से युद्ध हो रहा हो, (आ) किसी राज्य की सरकार जिससे सयुक्त राज्य से युद्ध हो रहा हो, (इ) ऐसे अन्य व्यक्तिगण अथवा सस्थाएँ अथवा व्यक्तिगणों के वर्ग जो किसी ऐसे राज्य के नागरिक अथवा प्रजाजन हो जिससे सयुक्त राज्य से युद्ध हो रहा हो।

सन् १९३९ के अग्रेजी शत्रु के साथ व्यापार वाले अधिनियम में व्यक्तियों के सम्बन्ध मे 'शत्रु' की परिभाषा इस प्रकार है :—"कोई व्यक्ति जो शत्रु के क्षेत्र मे रह रहा हो (Any individual residing in enemy territory)।"

स्थायी निवास (Domicil) :—स्थायी निवास के प्रश्न पर लार्ड स्टोवल द्वारा The Harmony [(1800) 2 C. Rob. 322] मे विचार किया गया। यह कथन किया गया कि स्थायी निवास के निर्णय करने में समय सब से बडा प्रश्न है। यह बार-बार कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति किसी देश मे केवल किसी विशिष्ट प्रयोजन के लिये आवे तो उससे उसका स्थायी निवास स्थिर न होना चाहिये। किन्तु यदि प्रयोजन इस प्रकार का हो जिससे उस व्यक्ति को एक दीर्घ-कालीन अवधि तक रुकना पडे अथवा वास्तव मे रुकना पडा हो तो उस विशिष्ट प्रयोजन पर एक सामान्य निवास अकुरित हो सकता है। इतनी लम्बी अवधि तक

निवास के पश्चात् प्रारम्भिक मूल प्रयोजन की प्रार्थना सार्थक नही हो सकती थी, और इससे यह अनुमान होना चाहिये कि प्रारम्भिक आशय में अन्य प्रयोजन प्रवेश कर गए हैं, और इस प्रकार उन्होने पक्षकार पर उस देश के लक्षणो की छाप डाल दी है जिसमे कि वह रह रहा है।

शत्रु-पोत (Enemy Vessels) —किसी जहाज का यह लक्षण कि क्या वह शत्रु का जहाज है या तटस्थ देश का प्रथम दृष्टि मे ही उस झडे से निश्चित होता है जिसको फहराने को वह प्राधिकृत है। सन् १६०६ की लन्दन की घोषणा ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इस प्रचलित नियम को पुष्ट किया। शत्रु द्वारा शासन पत्र दिया हुआ जहाज अथवा शत्रु द्वारा चालित उसके कप्तान तथा मल्लाहो के दल सहित शत्रु की सम्पत्ति समझी जायेगी चाहे वह किसी तटस्थ मालिक की ही क्या न हो और वही दशा एक तटस्थ जहाज की भी होगी जो स्वभावत शत्रु के झडे के नीचे तैरता हो अथवा शत्रु से आज्ञा-पत्र (पास) अथवा लाइसेन्स प्राप्त किया हो। यह सामान्य नियम कि किसी जहाज के शत्रु अथवा तटस्थ लक्षण निश्चित करने की परीक्षा उस झडे से होती है जिसे लगाने का उसे अधिकार है, आजकल कुछ अपवादो से अनुशासित होता है जो निम्नलिखित हैं —

१. ऐसे जहाज जिनके स्वामी शत्रु हो और जो एक तटस्थ झडे के नीचे तैर रहे हो, शत्रु का लक्षण प्राप्त कर लेते हैं, यदि वे सैनिक व्यक्तियो तथा सदेशो को अन्य निरपराध कार्यों के साथ ही ले जा रहे हो।

२. तटस्थ व्यापारी जहाज यदि वे (अ) विग्रह में प्रत्यक्ष भाग ले (आ) किसी शत्रु के अभिकर्ता के आदेशो अथवा नियन्त्रण के अधीन हो (इ) शत्रु के कार्य में अनन्य रूप से लगे हो अथवा (ई) शत्रु द्वारा अपने ही प्रयोजनो के लिये अनन्य रूप से अपनाये गये हो, तो शत्रु का लक्षण प्राप्त कर लेते हैं।

३. जहाज जिनके स्वामी शत्रु हो और जो तटस्थ झडा लगाये हो अथवा तटस्थ व्यापारी जहाज यदि वे उनको देखने, तलाशी लेने अथवा उनका पकड़ने के वैध अधिकार का विरोध करे, तो शत्रु का लक्षण प्राप्त कर लेते हैं।

जहाजों का हस्तान्तरण (Transfer of Ships) —१६०७ के अभिसमय ६ के अनुसार यदि युद्ध मे सलग्न शक्तियो मे से किसी एक का जहाज युद्ध के प्रारम्भ मे शत्रु के बन्दरगाह मे रहा तो उसे स्वच्छन्द रूप से या तो तत्काल ही अथवा रिआयत की पर्याप्त अवधि के उपरान्त जाने दिया जाता था तथा उसे एक आज्ञा-पत्र (पास) देकर सीधे अपने लक्ष्य बन्दरगाह को अथवा ऐसे अन्य बन्दरगाह को जिसका कि उसमें नाम दिया गया हो, जाने दिया जाता था। यही नियम उन

जहाजो के सम्बन्ध मे भी लागू होता था जो युद्ध छिड़ने के पूर्व अपने अन्तिम बन्दरगाह से यात्रा आरम्भ कर चुके हो तथा युद्ध छिड़ने का ज्ञान न होने पर शत्रु के बन्दरगाह मे प्रविष्ट हो गए हो। (अनुच्छेद १)

यदि किसी व्यापारिक जहाज को दैवकृत (force majeure) के कारण अथवा अनुच्छेद १ मे विचार की गई अवधि के भीतर नही जाने दिया गया तो इसको निरुद्ध किया जा सकता था, किन्तु इसे जब्त नही किया जा सकता था। अनुच्छेद ३ मे उन शत्रु के जहाजो के प्रश्न पर विचार किया गया था जिन्होने युद्ध के आरम्भ के पूर्व बन्दरगाह को छोड़ दिया था जो समुद्र मे विग्रह के अस्तित्व का ज्ञान न होने के कारण पाये गये। इनको भी जब्त नही किया जा सकता था किन्तु उनको निरुद्ध किया जा सकता था तथा युद्ध के उपरान्त बिना क्षतिपूर्ति के वापस किया जा सकता था अथवा माँगा जा सकता था अथवा क्षतिपूर्ति देने पर उनको नष्ट भी किया जा सकता था। शत्रु के माल के साथ जो जहाजो पर था वही व्यवहार किया जाता था जो कि जहाजो के साथ।

नौभार (Cargoes) —ऐसा नौभार जो कि किसी शत्रुपोत द्वारा ले जाया जा रहा हो, उसके राष्ट्रीय चरित्र का निर्धारण करने मे और भी कठिनाई होती है। फ्रांस, जर्मनी, इटली और अन्य यूरोपीय देश किसी सम्पत्ति के स्वामी की राष्ट्रीयता को ही अधिक महत्व देते थे। ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, जापान और हालैंड इसे देश की निवास स्थिति पर शत्रु स्वभाव को आधारित करते थे और उनका कहना था कि ऐसे लोग जो शत्रुराज्य मे रहते हैं और वहाँ व्यापार करते हैं उनमे शत्रु स्वभाव आ जाता है और उन्हे वही बनाया जाता है।

तटस्थों का माल युद्ध मे संलग्न व्यापारिक जहाजो पर तथा इसी का विपरीत (Neutral Goods on Belligerent Merchant ships and Vice Versa) —ग्रेट ब्रिटेन ने उस नियम का अनुसरण किया जो कौनसोलेटो डेल मेयर (Conslato del Mare) में दिया गया था जो कि मध्ययुग की बड़ी समुद्रीय संहिता थी, जिसके अनुसार माल का स्वामित्व अभिग्रहण किये जाने के उत्तरदायित्व की कसौटी थी। इसके अनुसार तटस्थ देशो का माल जब वह शत्रु के जहाज मे ले जाया जा रहा हो जब्ती से उन्मुक्त था किन्तु शत्रु का माल जब वह तटस्थ देश के जहाजो मे ले जाया जा रहा हो जब्त कर लिया जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी परम्परागत ब्रिटेन के नियम का अनुसरण किया किन्तु उस दशा को छोड़ कर जब इसके विरुद्ध संधि के अन्तर्गत कर्त्तव्य होते थे। यह विषय पेरिस की घोषणा (१८५६) द्वारा निश्चय किया गया जिसमे यह व्यवस्था की गई कि तटस्थ राष्ट्र के झंडे से शत्रु के माल का संरक्षण होता था केवल उस

माल को छोड़ कर जो युद्ध मे विनिषिद्ध हो तथा तटस्थ देशो का माल युद्ध मे विनिषिद्ध माल को छोड़कर शत्रु के झंडे के नीचे अभिग्रहण नही किये। पेरिस की घोषणा प्रथमत सात शक्तियो द्वारा हस्ताक्षरित की गई। इसके उपरान्त अन्य राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत की गई, परन्तु युद्ध मे सलग्न शक्तियो ने इसका पालन सब उत्तरवर्ती सामुद्रिक लडाइयो मे किया है चाहे उन्होने हस्ताक्षर किया हो अथवा नही।

यहां पर पिट् कोवेट की राय उनके 'Leading Cases on International Law' नामक पुस्तक, खड २ से उद्धृत करना प्रसग के अनुकूल होगा, क्योंकि वे इस नियम सम्बन्धी सम्पूर्ण झगड़े को कि "तटस्थ देशो का झंडा शत्रु के माल का सरक्षण करता है" सक्षेप मे ही समाप्त कर देते हैं। उनका कहना है कि —

"विनिषिद्ध" शब्द का विस्तार युद्ध मे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग मे आने वाली सब वस्तुओ मे करके, अनवरत यात्रा के सिद्धात का विस्तार करके तथा जान का इष्ट प्रदेश वैरी का होना यह अनुमान लगाकर, यह नियम कि तटस्थ झंडे से शत्रु के माल का, केवल युद्ध की विनिषिद्ध वस्तुओ के अतिरिक्त, सरक्षण हो जाता है प्राय पूर्णत निष्प्रभाव हो जाता है।"

'By the extens on of the term 'contraband' to cover all com modities of use, direct or indirect, in war, by the extension of the doctrine of continuous voyage and by the presumption of hostile destination the rule that the neutral flag covers enemy goods except contraband of war, has been almost wholly nullified '

शत्रु सम्पत्ति (Enemy Property) :— विरोध के लक्षणो से युक्त शत्रु की सब सम्पत्ति यथा शस्त्रो से सुसज्जित जहाज, तोपे, बन्दूक, गोलाबारूद विधिपूर्वक ग्रहण की जा सकती हैं, केवल कला की कृतियों अथवा युद्ध से असम्बन्धित अन्य सम्पत्ति को छोड़कर। युद्ध में सलग्न राज्य के क्षेत्र मे पड़ने वाली शत्रु का सार्वजनिक सम्पत्ति के सम्बन्ध मे अभिग्रहण किये जाने से कोई उन्मुक्ति नही है यथा शत्रु राष्ट्र की पूंजी (Fund), चलत् अचपूंजी (rolling stock), इत्यादि।

भूमि पर शत्रु के प्रयोजनो की सम्पत्ति सामान्यत अभिग्रहीत किये जाने से उन्मुक्त है। वे उसी दशा मे अभिग्रहण किये जाने योग्य होती हैं यदि वे इस प्रकार की हो कि युद्ध मे लाभदायक सिद्ध हो। किन्तु वास्तविक संघर्ष की आवश्यकताओ ने कुछ दशाओ मे यह आवश्यक कर दिया कि कोठियो का विनाश

कर दिया जाय अथवा उनको किलेबन्दी के रूप मे रखा जाय। युद्ध मे भाग लेने वाली जनता की चल-सम्पत्ति उस समय तक अभिग्रहीत नही की जा सकती जब तक वे ऐसी वस्तु न हो जैसे शस्त्र, युद्ध-सामग्री अथवा सवाद भेजने का यन्त्र तथा उनके अभिग्रहण किये जाने की दशा में भी उनको सुलह होने पर वापस करना होता है। साधारणत शत्रु की सम्पत्ति को दण्डनीय नही ठहराया जाता, जब तक कि ऐसा प्राधिकृत करने वाला कोई अधिनियम न हो। दोनो विश्वयुद्धो के बीच ग्रेट ब्रिटेन ने शत्रु की सम्पत्ति के सरक्षक नियुक्त किये इस आशय से कि युद्ध के अन्त मे उसके सम्बन्ध में भविष्य व्यवस्था निर्णय किये जाने तक उसे सुरक्षित रखा जाय।

तटस्थ राज्य मे युद्धस्थित की सपत्ति शत्रु राज्य द्वारा अभिग्रहण किये जाने से उन्मुक्त है क्योंकि वह पूर्ववर्ती द्वारा सरक्षित रहती है।

निगम (Corporations) :—निगमो का शत्रु-लक्षण उनके स्थायी निवास से निश्चित होता है। पिट कोवेट के अनुसार किसी निगम का स्थायी निवास वह स्थान है जहाँ कम्पनी का मस्तिष्क जो उसके कार्यों को चालन करता हो, स्थित हो। *निगम का मस्तिष्क उस स्थान मे स्थित कहा जाता है जहाँ उसके सचालकगण मिलते रहते हैं तथा अपनी नीति निर्धारित करते हैं।* यह निरर्थक है कि क्या वह व्यक्ति जो *निगम का नियन्त्रण करते हैं सचालको के नाम से प्रसिद्ध हैं या नही।* इसमे पथ-प्रदर्शक उन व्यक्तियो का *निवास-स्थान है* जो कम्पनी के भाग्य का नियन्त्रण करते हैं अथवा उसके कार्य की रीति का संचालन करते हैं। [Pitt Cobbett . Leading Cases on International Law, Vol. 11, p 40 (Ed. V)]. Daimler Co. Ltd. v. Continental Tyre and Rubber Co. (Great Britain) Ltd. [(1916) 2 A. C. 307] वाले मामले में लार्ड पार्कर ने यह निर्णय किया कि एक समवाय जो यूनाइटेड किंगडम में सयुक्त (incorporated) तथा पजीकृत (registered) हो किन्तु शत्रु के देश मे कार्य कर रही हो शत्रु मानी जानी चाहिये तथा वैयक्तिक अंशभागियो का लक्षण स्वतः समवाय के लक्षण को प्रभावित नही कर सकती। तथ्य सक्षिप्त मे यह है कि कांटिनेन्टल टायर तथा रबर कम्पनी लिमिटेड सन् १९०५ मे निर्मित हुई तथा उसका पजीकृत कार्यालय लन्दन मे रहा। इसके संचालकगण जर्मन प्रजावर्ग थे तथा एक शेयर के अतिरिक्त पूर्ण अश एक जर्मन समवाय के अथवा जर्मन राष्ट्रीय जनों के अधिकार मे थे। कांटिनेन्टल टायर तथा रबर कम्पनी लिमिटेड डेमर कम्पनी लिमिटेड पर एक दावा रुपये वसूल करने का किया। डेमर कम्पनी ने यह अभि-

वचन दिया कि कांटिनेन्टल टायर तथा रबर कम्पनी एक विदेशी शत्रु है और उनको शत्रु से व्यापार सम्बन्धी अधिनियम सन् १६१४ के लागू होने के कारण रुपया देने से रोक दिया गया है। हाउस आफ लार्ड्स ने यह निर्णय किया कि दावा मान्य नहीं हो सकता।

लार्ड पार्कर ने निर्णय देते हुये विधि के निम्नलिखित सिद्धांतों का निर्धारित किया —

१. किसी निगम द्वारा शत्रु का लक्षण उस समय ग्रहण किया जा सकता है जब कि इसके अभिकर्तागण अथवा वे व्यक्ति जो इसके व्यापार को वास्तव में नियन्त्रण करते हों, शत्रु के क्षेत्र में रहते हों अथवा चाहे वे कहीं भी रह रहे हों शत्रु की सहायता कर रहे हों अथवा शत्रुओं से अनुदेश प्राप्त करते हों अथवा उनके नियन्त्रण में कार्य करते हों।

२. कोई कम्पनी जो युनाइटेड किंगडम में संयुक्त की गई हो उस स्थिति में न तो मित्र और न शत्रु हो सकती है किन्तु ऐसी कम्पनी केवल अपने अभिकर्ताओं द्वारा कार्य कर सकती है और ये युद्ध के समय में शत्रु का लक्षण ग्रहण कर लेती हैं यदि वे शत्रु के देश में रहते हों अथवा शत्रु अंशभागियों के अनुदेशों पर कार्य कर रहे हों।

३ अंशभागियों का वैयक्तिक रूप से अलग अलग लक्षण स्वतः कम्पनी के लक्षण को प्रभावित नहीं कर सकता। यह इस प्रश्न पर आश्रित है कि अथवा कम्पनी के अभिकर्तागण या वे व्यक्ति जो वस्तुतः उसके व्यापार का नियन्त्रण करते हैं शत्रुओं का वास्तव में अनुकरण कर रहे हैं अथवा उनसे अनुदेश प्राप्त कर रहे हैं या उनके नियन्त्रण में कार्य कर रहे हैं अथवा नहीं।

४. कम्पनी जो कि यूनाइटेड किंगडम में पञ्जीकृत हुई हो किन्तु जो एक तटस्थ देश में उचित रूप से प्राधिकृत तथा वहाँ अथवा तटस्थ देश के निवासी अभिकर्ताओं द्वारा एक तटस्थ देश में कार्य कर रहा हो, प्रथम दृष्टि में मित्र समझी जानी चाहिये, परन्तु अपने अभिकर्ताओं अथवा व्यक्तियों द्वारा जो इसके कारोबार को वास्तविक रूप से नियन्त्रण करते हैं, शत्रु का लक्षण ग्रहण कर सकती है।

५ एक कम्पनी जो यूनाइटेड किंगडम में पञ्जीकृत हुई हो परन्तु शत्रु के देश में कारोबार कर रही हो, शत्रु समझी जानी चाहिये।

सामान्य नियम से निगमन (incorporation) तथा वह स्थान जहाँ व्यापार किया जाता हो इसके दो कसौटी हैं जिनसे किसी निगम के शत्रु लक्षण को निश्चित किया जाता है। प्रथम तथा द्वितीय महायुद्धों के बीच इंगलैंड ने सन् १६१४

तथा सन् १९३९ में शत्रु से व्यापार सम्बन्धी अधिनियम बनाये जिनके द्वारा यूनाइटेड किंगडम निवासी लोगों को किसी व्यक्ति से जो शत्रु देश का, अथवा ऐसे क्षेत्र का जो शत्रु के अधिकार में हो, रहता था अथवा वहाँ व्यापार कर रहा हो, व्यापार करने से मना कर दिया गया तथा यह घोषणा की कि निगम जो शत्रु देश में व्यापार कर रहे हैं शत्रु के लक्षण से युक्त हो जाते हैं चाहे उनका निगमन वहाँ भी क्यों न हुआ हो।

दखल तथा विजय का प्रभाव (Effect of Occupation and Conquest) —इसमें सन्देह नहीं कि जब एक मित्र के क्षेत्र पर शत्रु द्वारा अस्थायी रूप से दखल किया जाता है, तो पहली सरकार की सार्वभौमिकता स्थगित कर दी जाती है परन्तु उपरोक्त क्षेत्र तथा उसके निवासी शत्रु का लक्षण प्राप्त नहीं करते। इसी प्रकार यदि शत्रु के क्षेत्र पर अस्थायी रूप से एक मित्र शक्ति द्वारा दखल किया जाता है तो उपरोक्त क्षेत्र तथा उसके निवासी शत्रु लक्षण से उन्मुक्त नहीं होते। अतः दखल से स्थानीय नागरिकों की आवासता का कोई पूर्ण परिवर्तन नहीं होता। राजभक्ति का हस्तान्तरण केवल अस्थायी है तथा युद्ध की अवधि अथवा दखल तक रहता है। लेकिन अस्थायी दखल पूर्ण विजय तथा संलग्न से पूर्णरूप से भिन्न है क्योंकि पूर्ण विजय तथा संलग्न एक स्थायी घटना होती है तथा सार्वभौमिकता को पूर्णतः हस्तान्तरित कर देती है। परिणाम यही होता है कि जब कोई क्षेत्र पूर्णतः विजित तथा मिला लिया जाता है तो वह विजयी के शत्रु अथवा मित्र-राष्ट्र होने के अनुसार शत्रु अथवा मित्र का लक्षण प्राप्त कर लेता है।

अध्याय ३७

युद्ध की नई समस्याएँ

(New Problems of Warfare)

युद्ध का उद्देश्य —युद्ध का उद्देश्य चाहे वह भूमि, समुद्र कहीं भी हो एक ही होता है—शत्रु को बलाभिभूत करना। ओपेनहेम के अनुसार "जहाँ स्थल युद्ध का उद्देश्य शत्रु की सेना को हरा देना और शत्रु के राज्य-क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लेना होता है वहाँ समुद्री युद्ध का उद्देश्य होता है शत्रु की नौसेना को पराजित करना, शत्रु व्यापारी पोत का कब्जा करना, शत्रु बन्दरगाहों का विनाश

करना और शत्रु के समुद्री किनारे पर सैनिक नियन्त्रण स्थापित करना, शत्रु का उसके बन्दरगाह से संबंध-विच्छेद करना, विनिषिद्ध (contraband) वहन को रोकना, और शत्रु को अतटस्थ सेवा से वंचित करना, स्थल पर सभी प्रकार की सैनिक कार्यवाहियों की सहायता जैसे शत्रु के समुद्री किनारे पर सेना का उतारा जाना और अन्तिम रूप से अपने घरेलू समुद्री किनारे की रक्षा करना और घरेलू समुद्री व्यापार की रक्षा करना।"

संक्षेप में समुद्री युद्ध का उद्देश्य अपने जहाज के लिये संचालन की स्वतन्त्रता प्राप्त करना और शत्रु का समुद्र के उपयोग से वंचित करना होता है।

युद्ध की नई पद्धतियाँ (New Methods of Warfare) —युद्ध की पुरानी विधियों में आज विनिषिद्ध (contraband) और नाकाबन्दी (blockade) की नवीन धारणाओं के विस्तार के कारण तथा अटूट यात्रा के सिद्धांत में विस्तार, किसी तटस्थ राज्य के पोत के माल के सम्बन्ध में यह आभार कि प्रेषक अपने निर्दोष गन्तव्य स्थान का सबूत दे, विनिषिद्ध तालिका की आशातीत वृद्धि, युद्धस्थिति जहाजों के जाँच संबंधित अधिकार आदि कारणों से अनेक नवीन परिवर्तन हो गये हैं। इन सभी तथ्यों के ऊपर अणु बमों और क्षेप्यास्त्रों के प्रयोग ने पूर्णतया आज के युद्ध को क्रांतिकारी ढंग से परिवर्तित कर दिया है और सामूहिक रक्तपात और निरीह जनता की सामूहिक हत्या को बचाते हुये शान्ति को स्थापित करना आज बिल्कुल नई और विकट समस्या है।

लीग (The League)—राष्ट्रों की लीग ने युद्ध न करने के आभार को स्वीकार करके अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु यह युद्धों को न रोक सकी, फिर भी शान्तिपूर्ण समझौते के लिये अनुज्ञा दे सकी। उसकी अनुज्ञा के प्रवर्तन के पूर्व कौंसिल के निर्णय की एकरूपता का होना आवश्यक था। इसके पास अपने निर्णयों के प्रवर्तन के लिए कोई सेना न थी। इसका परिणाम यह हुआ कि १९३६ में इटली-अबीसीनिया युद्ध में लीग ने आंशिक अनुज्ञा जारी की, किन्तु यह अनुज्ञा पूर्णतः विफल रही।

१९२८ का पेरिस पैक्ट (The Paris Pact, 1928) —केलाग ब्रियान्ड पैक्ट (Kellogg-Briand Pact) जिसे साधारणतया अगस्त २७, १९२८, का पेरिस पैक्ट कहा जाता है, राष्ट्रों के बीच युद्ध का बन्द कर देने की दिशा में एक दूसरा आधार स्तम्भ था। हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों ने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निपटारा करने के लिये युद्ध का सहारा लेने की पद्धति की निन्दा की और प्रतिज्ञाबद्ध हुये कि ऐसे झगड़ों को शान्ति पूर्ण ढंग से सुलझाएँगे। यह समझौता एक मृतपत्र (dead letter) ही बन कर रह गया क्योंकि इसमें अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के लिये

कोई विशिष्ट पद्धति न थी, केवल शान्तिपूर्ण मध्यस्थता, सद्भावना कार्य, विवाचन समझौता या झगडों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे निवेदित करने की ही प्रथा का सहारा था।

सयुक्त राष्ट्र संघ (The United Nations) —राष्ट्रो की लीग की विफलता के कारण एक नये सघ की स्थापना हुई जिसे सयुक्त राष्ट्र सघ कहते हैं। हस्ताक्षर करने वाले राज्यो ने इस बात का आभार अपने ऊपर लिया कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को शान्तिपूर्ण साधनो से और इस ढग से सुलझाएँगे कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा और न्याय खतरे मे न पडे और यह कि वे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे धमकी देने या किसी राज्य के स्वतन्त्र राज्य क्षेत्र मे शक्ति के प्रयोग करने या किसी भी तरह से सयुक्त राष्ट्र सघ के उद्देश्यो से विमुख होने से अपने आप को रोकेंगे।

सयुक्त राष्ट्र सघ के गठन मे यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और न्याय के प्रति भक्ति की उच्च स्वर से घोषणाएँ की गई फिर भी कोरिया मे युद्ध हुआ, इजिप्ट और हगरी की घटनाएँ घटो और आक्रामक देशो ने अपने इस आभार को हवा मे उडा दिया कि वे अन्तर्राष्ट्रीय झगडो का निपटारा शान्तिपूर्ण ढङ्ग से करेंगे। सयुक्त राष्ट्र सङ्घ को भिन्न-भिन्न स्थलो पर सामूहिक सेना भेजकर हस्तक्षेप करना पडा है।

लीग और सयुक्त राष्ट्र की शान्ति और सुरक्षा की स्थापना मे असफल होने का कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय नौसेना, स्थल सेना और हवाई सेना के अभाव मे यह सगठन आक्रामक राज्य को रोकने मे समर्थ नहीं हो पाते। इसी कारण सयुक्त राष्ट्र सघ के बाहर राज्यो ने अपने आपको भिन्न-भिन्न सुरक्षा सधियो में बाँध रखा है, जैसे रायडी जैनीरो की १९४७ की सधि, ब्रसेल्स की सधि १९४८, नार्थ, एटलाँटिक ट्रीटी १९४९, अरब लीग, बगदाद पैक्ट (सट्रल ट्रीटी आर्गेनाइजशन), आदि। सोवियत ब्लाक ने दूसरी ओर बहुत से द्विपक्षीय समझौतो और बहुपक्षीय सधियो मे भाग लिया है जैसे ईस्ट यूरोपियन ट्रीटो। ये सैनिक सधियाँ जिन्हें कि तथाकथित रूप से क्षेत्रीय पैक्ट भी कहते हैं मानवता की इस आशा को विदीर्ण कर चुकी हैं कि इनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था हो सकेगी। इन सुरक्षात्मक पैक्टो में एक प्रवृत्ति यह है कि वे दूसरे देशो के मस्तिष्क मे आक्रामक पैक्टो का रूप ले लेते हैं। ऐसे पैक्ट जैसे नाटो (NATO), सीटो (SEATO) और ऐन्जू (ANZUS) यूरोपीय सुरक्षा की धारणाओं के प्रतिफल हैं जो विश्व की शान्ति का और भी खतरे मे डालते चले जा रहे हैं। पाकिस्तान सीटो, बगदाद पैक्ट (सेट्रल ट्रीटो आर्गेनाईजेशन) और सयुक्त राज्य-पाकिस्तान सैनिक सहायता पैक्ट, म प्रविष्ट होकर मध्यएशिया देशो मे तनातनी का कारण बन चुका है। आज

की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि ऐसे क्षेत्रीय सैनिक पैक्टो पर रोक लगा दी जाय और समुचित अन्तर्राष्ट्रीय सेना का गठन किया जाय जिसमे संयुक्त राष्ट्र की देख रेख मे स्थल सेना, नौसेना और हवाई सेना रहे जो कि शान्ति भग होने की किसी कार्यवाही को रोक सके और आक्रमण के विरुद्ध पर्याप्त सुरक्षा के साधन उपस्थित कर सके।

अध्याय ३८
स्थल-युद्ध की विधियाँ
(Laws of Land Warfare)

वर्तमान युग मे युद्ध की उन विधियो मे तीव्र परिवर्तन हो गये हैं जिनकी उत्पत्ति रूढियो से है। सन् १९०७ के हेग अभिसमय की प्रस्तावना मे यह घोषित किया गया था कि "जनता तथा युद्धमान, राष्ट्रो की विधि के सिद्धान्तो के संरक्षण तथा नियमो के अधीन रहते हैं, क्योकि वे (सिद्धान्त और नियम) सभ्य राष्ट्रो के मध्य स्थापित रूढियो, मानवता की विधियो, और जनता के विवेक की आवश्यकताओ के परिणामस्वरूप निकलते हैं। आधुनिक युद्ध प्रतिद्वन्द्वी पक्षकारो के मध्य का एक साधारण युद्ध नही है। यह एक संपूर्ण युद्ध है जहाँ सपूर्ण राष्ट्र एक युद्ध के शिविर मे परिवर्तित हो जाता है। बहुधा व्यक्ति जिन्होने आयु की एक विशेष अवधि को पार कर लिया है, अनिवार्य रूप से सेना मे भर्ती कर दिये जाते हैं। कारखानो, कार्यालयो, रेलवे सचालन तथा रुग्ण और घायलो की सेवा करने मे स्त्रियाँ पुरुषो का स्थान ग्रहण करती हैं। युद्धरत तथा अयुद्धरत तथा सैनिक और असैनिक उद्देश्यो सम्बन्धी पुराना अन्तर अब प्रभावकारी नही रह गया है। युद्ध का उद्देश्य अर्थात् शत्रु को परास्त करना पवित्र समझा जाता है और जब तक वह उद्देश्य पूरा नही हो जाता युद्धस्थित अपने लक्ष्य को पहुँचने के निमित्त प्रत्येक आवश्यक साधन प्रयोग मे लाता है। युद्ध-सम्बन्धी सभी मानवता के नियम युद्ध मे विजय प्राप्त करने के सर्वोच्च कार्य के समक्ष दब जाते हैं। जर्मनो ने दोनो महायुद्धो के मध्य सैनिक आवश्यकता के दबाव के अधीन नागरिक जनता का बारम्बार क्रूरता से सहार किया था। गत महायुद्ध मे अमेरिका द्वारा अणुबम का प्रयोग भी सभ्य युद्ध को अनुशासित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का एक बड़ा गम्भीर उल्लघन था जो बहुत से उन वैज्ञानिको के विरोध के उल्लघन मे किया गया जिन्होने उसके अनुसंधान मे सहायता की थी।

१८६४ का जेनेवा अभिसमय (Geneva Convention of 1864)— आधुनिक मनोवृत्ति के हाते हुए भी सभ्य युद्ध के नियम अतीत काल से विद्यमान रहे हैं। सन् १८६४ मे स्विटजरलैंड, बेल्जियम, डेनमार्क, स्पेन फ्रास, इटली, नीदरलैंड, पोर्च्यगाल, प्रशा तथा जमन राष्ट्रो मे से अधिकाश ने युद्ध मे घायलो की दशा सुधारने के लिये परस्पर एक स्वीकारोक्ति प्रकट की जो जेनेवा अभिसमय क नाम से प्रसिद्ध है। अभिसमय न रोगियो की गाडियो, सैनिक अस्पतालो तथा अस्पताल मे काम करने वाले कर्मचारी वग का तटस्थ लक्षण स्वीकार किया।

सैंट पीटर्सबर्ग को घोषणा (St Petersburg Declaration) — जेनवा अभिसमय क पीछे सेंट पीटर्सबग घाषणा हुई जो सन् १८६४ मे भिन्न भिन्न राष्ट्रो के बीच युद्ध की आपत्तियो को जहा तक सभव हो सके कम करने की दृष्टि से की गई। घोषणा न युद्धरत शत्रु के सैनिक बलो को नि शक्त करने अथवा उनक मनुष्या को सबस अधिक सख्या मे असमथ बनाने वे अधिकार को स्वीकार किया, लेकिन शस्त्रो के ऐसे प्रयोग को निषिद्ध कर दिया जिससे असमर्थ व्यक्तियो के कष्ट निरर्थक ही बढ जाँय अथवा उनकी मृत्यु अवश्यम्भावी हो जाय। इसने ४०० ग्राम से नीचे वे भार के प्रक्षेपणो (जैसे तोप की गोलियो) का प्रयोग निषेध किया जा धडाके के साथ फटने वाले हो अथवा फटने वाले या जलने वाल पदार्थों से युक्त हो।

युद्ध की रीतियाँ —भूमि युद्ध की रीतियाँ सन् १९०७ क हेग अभिसमय ४ मे दी गई हैं जो भूमि पर युद्ध की विधियो तथा रूढियो के सम्ब ध मे हैं, तथा सन् १९४९ के जेनेवा अभिसमय मे भी हैं।

सन् १९०७ का हेग अभिसमय (Hague Convention of 1907) — हेग विनियम के अनुच्छेद २३ मे जा अभिसमय से सलग्न है, युद्ध क ऐसे उपकरणो का निषेध किया गया है जो विनाशकारी हा अथवा दु खदायी हो। इसके द्वारा विशिष्ट रूप से विष अथवा विषाक्त शस्त्रों का तथा ऐसे शस्त्रो, प्रक्षेपणा अथवा वस्तु का उपयोग निषिद्ध किया गया जिससे अकारण दु ख या विनाश का होना सभव हो। विनियमो द्वारा प्रक्षेपणो, फटने वाले पदार्थों को गुब्बारो तथा इसी प्रकार का अ य नयी रीतियो द्वारा फका जाना निषिद्ध किया गया। फ्रास, जमनी, इटली, रूस तथा जापान ने इस वाक्यखड को स्वीकृत नहीं किया।

उन प्रक्षेपणो का प्रयोग रोक दिया गया जिनका उद्देश्य कवल दम घुटने वाली तथा विदेली गैसो को फैलाना था। सयुक्त राज्य अमेरिका क प्रतिनिधिमडल ने इस पर हस्ताक्षर करने से अस्वीकार कर दिया। सन् १९१४-१८ के महायुद्ध म भी इन नियम का उग्र रूप मे उल्लघन हुआ। वाशिंगटन की सधि (१९२२) क अनुच्छेद

५ द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटिश साम्राज्य, फ्रांस, इटली तथा जापान ने युद्ध मे दम घुटने वाली, विषैली अथवा अन्य गैसो तथा इसी प्रकार के अन्य तरल पदार्थों, वस्तुओ तथा युक्तियो का प्रयोग किया जाना निषिद्ध स्वीकार किया।

फैलने वाली (डमडम) गोलियो का प्रयोग भी निषिद्ध कर दिया गया।

अनुच्छेद २३ द्वारा युद्ध विश्राम के झडे, राष्ट्रीय झडे अथवा शत्रु के सैनिक तमगो तथा वर्दी और जेनेवा अभिसमय के विशेष चिन्हो के अनुचित उपयोग का निषेध किया गया।

व्यूह-रचना के नियम जो 'युद्ध-कौशल' के अन्तर्गत आते थे, इस अनुबन्ध के साथ सीमित कर दिये गये कि उनसे सद्भाव का उल्लघन न हो। अत शत्रु के राष्ट्र अथवा सेना के व्यक्तियो को धोखा देकर मारना अथवा घायल करना निषिद्ध कर दिया गया।

ऐसे शत्रु को मारना अथवा घायल करना भी निषिद्ध कर दिया गया जिसने हथियार छोड दिया हो, अथवा जिसके पास आत्मरक्षा का कोई उपाय न रह जाने के कारण इच्छा से आत्मसमर्पण कर दिया हो।

युद्ध मे भाग न लेने वालो को व्यक्तिगत हानि से उन्मुक्त कर दिया गया, केवल उस दशा को छोडकर जब कि हानि प्रसगवश युद्ध के समुचित कार्यों के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न हुई हो अथवा उन अपराधो के लिये दड स्वरूप दी गई हो जो कि आक्रमणकारियो के विरुद्ध किये गये हो। अनुच्छेद २५ द्वारा अरक्षित नगरो, ग्रामो तथा निवास स्थानो पर किसी प्रकार से भी आक्रमण करना अथवा बम-वर्षा करना निषिद्ध कर दिया गया। सन् १६१४-१८ के महायुद्ध मे लडाई न लडने वालो पर भी हवाई जहाजो से बम बरसाये गये तथा उनका व्यक्तिगत हानि से उन्मुक्ति के मत्र वादा-नुवाद हवा मे उड गये जब की एक युद्धरत को कथित ज्यादतियो के बदले मे दूसरे ने ज्यादतियाँ की। वास्तव मे बहुत से मामलो मे सैनिक आवश्यकताओ के कारण एक युद्धरत लडाई मे भाग न लेने वाला की हानि से रक्षा न कर सका। सन् १६१४ में जब जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण किया तो बाद मे यह आवश्यक समझा गया कि उन निवासियो को जिस प्रकार सभव हो दबाया जाये जो कि जर्मन सेना का विरोध कर रहे थे। अत लडाई मे भाग न लेने वाला को सरक्षण न दिया जा सका। द्वितीय महायुद्ध मे वे सभी नियम मिट्टी मे मिल गये जिनसे लडाई न लडने वालो को उन्मुक्ति दी गई थी जब कि तटस्थ नगरो जैसे वारसा, लन्दन और ब्रिटेन पर जर्मन हवाई जहाजो द्वारा बम बरसाये गये। इसके बदले मे ब्रिटेन तथा अमेरिका के हवाई जहाज के बेडो ने जर्मन नगरो जैसे बर्लिन, म्यूनिच, हैम्बग, तथा अन्य व्यावसायिक महत्व के स्थानो पर बम बरसाये।

हेग विनियमो के अनुच्छेद २३ द्वारा युद्धरत का अन्य पक्ष के प्रजाजनो को उन्ही के देश के विरुद्ध युद्ध-कार्यों मे भाग लेने के लिये बाध्य करने को निषिद्ध किया गया चाहे वे युद्ध छिड़ने के पूर्व उसी की सेवा मे क्यों न रहे हो।

हेग विनियमो ने शत्रु की सम्पत्ति का विनाश तथा अभिग्रहण उस समय तक के लिये स्वीकार किया जब तक कि ऐसा विनाश अथवा अभिग्रहण युद्ध की आवश्यकता से अत्यन्त आवश्यक न हो। विनियम के अनुच्छेद २८ के अन्तर्गत आक्रमण द्वारा अधिकार मे लिये गये नगर अथवा स्थान को लूटना निषिद्ध किया गया। अत्यन्त आवश्यकता की दशा मे शत्रु की सम्पत्ति के विनाश अथवा अभिग्रहण सम्बन्धी नियम ने असन्दिग्ध युद्धरत को बड़ी ढील दे दी। प्रथम महायुद्ध के बीच युद्ध को शासित करने वाले नियमो को समय समय पर भग किया गया जब पुस्तकालय तथा गिरजा गृह या तो जला दिये गये अथवा विनष्ट कर दिये गये। लेकिन जैसा फेनविक का कहना है "यह द्वितीय महायुद्ध के लिये कहा गया कि वह ऐसे विनाशकारी दृश्य देखे जिससे हेग अभिसमय केवल एक विडम्बना-मात्र रह जाय।" शत्रु की प्रत्येक प्रकार की सम्पत्ति अभिग्रहीत की गयी चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा सार्वजनिक। जर्मन सेनाओ के आगे बढने के मार्ग मे रूस के विस्तृत क्षेत्रो को तथा उनके पीछे हटने के मार्ग मे उससे भी अधिक विस्तृत क्षेत्रो को नष्ट कर दिया गया। एक के बाद दूसरे देश पर आक्रमण करते समय ऐतिहासिक स्मारको को भी नही छोड़ा गया।

स्थल युद्ध की विधियों का विकास (Developments of the Laws of Land Warfare) —स्थल-युद्ध की विधि के विकास का ज्ञान निम्नलिखित सधियों से किया जा सकता है :—

१. अगस्त २२ सन् १८६४ का जेनेवा अभिसमय जो युद्ध क्षेत्र मे सेनाओं के घायल सिपाहियो की दशा सुधारने के सम्बन्ध मे था।

२ दिसम्बर ११ सन् १८६८ की सेंट पीटर्सबर्ग की घोषणा जिसके द्वारा ऐसे प्रक्षेपणो का निषेध किया गया था जो ४०० ग्राम से नीचे के हो तथा फटने वाले पदार्थों से युक्त हो।

३. सन् १८९९ तथा १९०७ के हेग अभिसमय जो फैलने वाली गोलियों (डमडम), प्रक्षेपणा, गुब्बारो से फेंके जाने वाली प्रक्षेपणों तथा फटने वाले पदार्थों, दम घोटने वाली अथवा हानिकारक गैसो का फैलाने वाले प्रक्षेपणा तथा युद्ध छेड़ने और तटस्थ शक्तियो के अधिकारो और कर्तव्यो तथा भूमियुद्धो मे लगे हुये व्यक्तियों के सम्बन्ध में हैं।

४ सन् १९२५ का मसल (Protocol) जो युद्ध मे दम घोटने वाली, विषाक्त तथा अन्य गैसो के सम्बन्ध मे है।

५. सन् १६२६ का जेनेवा अभिसमय जो अस्वस्थ तथा घायल और युद्ध-बन्दियो के सम्बन्ध मे है।

६. जेनेवा मे सन् १६४६ मे किये गये चार अभिसमय।

सन् १६४६ का जेनेवा अभिसमय—सन् १६४६ मे जेनेवा मे ४ अभिसमय किये गये जो कि निम्नलिखित विषयो के सम्बन्ध मे थे :—

(१) युद्धबन्दियो से व्यवहार (२) युद्ध मे सलग्न सैनिक दलो के घायलो तथा बीमारो की दशा में सुधार, (३) घायल तथा बीमारो की तथा समुद्र मे जहाज डूबने पर बचे हुये सैनिक दला के सदस्यो की दशा का सुधार, तथा (४) युद्ध के समय मे नागरिक जता का सरक्षण।

युद्धबन्दी (Prisoners of War) —युद्धबन्दियो की देख-रेख होनी चाहिये तथा उनसे मानवता-पूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिये। बन्दी को पकडने वाले वैयक्तिक सिपाहियों को, न कि पदाधिकारियो को उपयोगी कार्य में लगाया जा सकता है जो युद्ध-सचालन के कार्य से किसी प्रकार सम्बन्धित न हो। कार्य भी अत्यधिक न होना चाहिये। प्रत्येक दशा मे उनको उनके कार्य के लिये पारिश्रमिक देना चाहिये। सन् १६४६ क हेग अभिसमय मे अन्तगत अनायुक्त पदाधिकारीगणा से केवल निरीक्षण या कार्य अपेक्षित है किन्तु वे अन्य कार्य का भी माँग कर सकते हैं। सन् १६०७ के विनियमो के अनुसार बन्दियो को पूजा-सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता का अधिकार है। यदि देश की विधियाँ इस प्रक्रिया की अनुमति देती हो तो उनको उनकी दृढ प्रतिज्ञा पर छोडा जा सकता है बन्दियो को जो भागने के प्रयत्न मे पकडे जाँय अन्तिम उपाय के रूप मे गोली मारा जा सकता है। यदि उनको पकड लिया जाय तो उन्हें दण्डित किया जा सकता है। सन् १८६६ तथा १६०७ के हेग सम्मेलनो न प्रत्येक युद्धरत का यह कार्यभार सौंपा कि वह अपने प्रदेश मे एक सूचनागृह स्थापित करे तथा युद्ध समाप्त होने पर अन्य युद्धरत की सरकार क पास आवश्यक सूचना भेजें।

सन् १६२६ के जेनेवा अभिसमय ने भी युद्ध-बन्दियो से व्यवहार के सम्बन्ध मे व्यवस्था की। सत्यापन करने वाले राज्यो के बीच मे इस अभिसमय ने सन् १८६४ तथा १६०६ के अभिसमयो का स्थान ग्रहण कर लिया।

सन् १६४६ मे किए गए जेनेवा अभिसमयो मे से एक युद्धबन्दियो के सम्बन्ध मे था, जो किसी सैनिक सघर्ष मे, चाहे वह स्वीकृत हो अथवा न हो, जो कि युद्धरत पक्षकारो के बीच उत्पन्न हुआ हो, लागू है। अभिसमय द्वारा युद्धबन्दियो के जीवन तथा शरीर से बलात्कार, बधक व्यक्ति रखना तथा मान-हानि का कार्य और निकृष्ट व्यवहार निषिद्ध किया गया है। बन्दियो को उनको सूचना देन के

लिए बाध्य करने के लिए कोई शारीरिक अथवा मानसिक यन्त्रणा नहीं दी जा सकती। अभिग्रहण किए जाने के उपरान्त उनको खतरे वाले क्षेत्र से हटाना आवश्यक है। बन्धन की स्थिति बन्दी के अपने देश को वापस कर दिए जाने पर, तटस्थ देश मे स्थान दिए जाने पर, मुक्त किए जाने पर, भाग जाने पर, अथवा उसकी मृत्यु पर समाप्त हो सकती है।

सर रावर्ट फिलिमोर ने निम्नलिखित वर्ग के व्यक्तियों की गणना उनमे की है जिनको युद्धवन्दी के रूप मे व्यवहार किये जाने का कोई अधिकार नही है।

१. लुटेरो के झुड जो कि सम्राट् अथवा सेनानायक से अधिकार प्राप्त किए बिना कार्य कर रहे हो।

२ अभित्यक्ता (deserters) जो शत्रु की सेना मे पकडे गए हों।

३. भेदिये चाहे वे सामान्य सेना के ही क्यों न हो। युद्ध की विधियो मे यह व्यवस्था की गई है कि भेदिये जब उसकी सेना की पक्ति के भीतर अथवा उसकी योजनाओ तथा गतिविधियो की सूचना शत्रु को देते हुये पाये जाय तो उनको प्राणदण्ड दिया जा सकता है।

अस्वस्थ तथा घायल (Sick and Wounded)—अस्वस्थ तथा घायलो के सम्बन्ध मे नियम सन् १८६४ के जेनवा अभिसमय द्वारा निर्धारित किये गये जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। वे बाद मे सन् १९०६ मे जेनेवा मे रूपभेदित किए गए। सन् १९०७ के हेग सम्मेलन ने अस्वस्थ तथा घायलो के प्रति युद्धरत के कर्तव्यो को स्वीकार किया। विनियमो के अनुसार अस्वस्थ तथा घायल लडाई लडने वालो की देख-रेख युद्धरत द्वारा पक्ष अथवा जातीयता का भेदभाव रखे बिना किया जाना चाहिए। विजयी सेनानायको का यह कर्तव्य था कि रणक्षेत्र मे घायल सिपाहियो की लूट अथवा अन्य दुर्व्यवहार से रक्षा करे तथा मृत व्यक्तियो के शरीरो से प्राप्त हुई सब व्यक्तिगत सम्पत्ति को एकत्र करे तथा उन वस्तुओ को शत्रु के देश के प्राधिकारियो के पास उनसे सम्बन्धित व्यक्तियो के पास भेजे जाने के लिये रवाना कर दे। विनियमो मे यह भी व्यवस्था की गई कि अस्वस्थ तथा घायलो का अभिग्रहण करने वाली सरकार का यह कर्तव्य है कि उनको भोजन तथा वस्त्र दें तथा इस सम्बन्ध मे उनसे अपनी सेना के स्तर के अनुसार व्यवहार करे। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त सन् १९०६ के अभिसमय मे सन् १९२९ का दूसरा अभिसमय जोड दिया गया जिसके द्वारा रणक्षेत्र की सनाओ के अस्वस्थ तथा घायलो के साथ व्यवहार के वर्तमान नियम संशोधित किये गये थे।

सन् १८६४ का जेनेवा अभिसमय अन्त मे १९४९ मे जेनेवा मे हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन द्वारा सशोधित किया गया। सन् १९४९ के रणक्षेत्र के सैनिक दलो के घायल तथा अस्वस्थ की दशा सुधारने क अभिसमय मे यह व्यवस्था की गई है कि सेनाओ से अधिकारी रूप से वन्चित अस्वस्थ तथा घायल व्यक्तियो का सम्मान, सरक्षण तथा देख-रेख, जातीयता, लिंग, कुल, धर्म अथवा राजनैतिक सम्पत्ति के भेद-भाव को भुला कर करना चाहिए। अनुच्छेद ३६ द्वारा चिकित्सा सम्बन्धी यातायात के रूप मे उपयोग किए जाने वाले विमानो को सरक्षण प्रदान किया गया है जब तक वे चिकित्सक वर्ग को तथा चिकित्सा-सम्मबन्धी वस्तुओ को ले जाने मे तथा घायल और अस्वस्थ के हटाने मे लगे हो। यह भी व्यवस्था की गयी है कि पक्षकारो की स्वीकृति से इसकी समावना है कि घायल तथा अस्वस्थ के सरक्षण के लिए अस्पतालो के क्षेत्र स्थापित किये जाँय। अनुच्छेद १५ तथा १६ मृत सिपाहियो से व्यवहार के सम्बन्ध मे हैं। उनमे इस बात की अनिवार्य व्यवस्था की गई है कि युद्धरत द्वारा घायल तथा मृत व्यक्तियो के नाम तथा उनके परिचय के सम्ब घ म परस्पर शीघ्र पत्र-व्यवहार कर लिया जाय तथा रण-क्षेत्र में अथवा मृत व्यक्तिया पर प्राप्त हुई वस्तुओ को एकत्र कर वापस कर दिया जाय।

युद्ध-छल (Ruses of War) —युद्ध-छल ऐसे युद्ध-भेदिये होते हैं जो कि शत्रु सेना को उसकी कार्यवाही मे गलत मार्ग दिखाते हैं। हेग अधिनियम के अनुच्छेद २४ मे शत्रु को धोखा देने के लिये शत्रु-छल की नियुक्ति निषिद्ध नही कर दी गई है।

युद्ध-भेदिये और धोखेबाज (Stratagem and Deceit) —लॉरेन्स के अनुसार युद्ध भेदिये ऐसे युद्ध-छल है जो कि शत्रु के ऊपर प्रयोग किये जाते है जिनका उद्देश्य शत्रु को धोखा देना होता है और उन्हे अरक्षित करना होता है। इनका प्रयोग इसलिये हाता है कि युद्ध जितना ही शस्त्रो से लडा जाता है उतना ही बुद्धि स भी। हेग अधिनियम के अनुच्छेद २४ मे शत्रुओ के विषय म आवश्यक सूचना की जानकारी के लिये युद्ध-भेदिया का नियुक्त किया जाना नियमित माना गया है। ये युद्ध-भेदिये जहाँ तक प्रकट या परोक्ष रूप से युद्ध स्थित राज्यो के कानूनो का उल्लघन नही करते वहाँ तक उनकी नियुक्ति सर्वथा वैध और नियमित है क्योंकि प्रत्येक सेनानायक अपनी सुरक्षा के लिये अपने बुद्धि और कोशल के अनुसार सतर्क रहना चाहता है।

अध्याय ३९

युद्ध-स्थित के दखल

(Belligerent Occupation)

दखल का अर्थ —क्षेत्र को अधिकार मे लेने तथा उस पर दखल करने वाले अथवा प्राप्त करने वाले राज्य के नाम से प्रशासन स्थापित करने से दखल पूर्ण हो जाता है। अत दखल आक्रमण से भिन्न है जो विजय का केवल एक स्थितिमात्र है तथा उसमे सरकार की स्थापना निहित नही है। दखल से सार्वभौमिकता का पूर्ण हस्तान्तरण व्यक्त नही होता किन्तु वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत सैनिक प्राधिकार का द्योतक है। सन् १९०७ के चतुर्थ हेग सम्मेलन से सलग्न हेग विनियम का अनुच्छेद ४२ यह घोषित करता है कि एक क्षेत्र दखल मे उस समय कहा जाता है जबकि वह वास्तव में विरोधी सेना के प्राधिकार मे आ गया हो तथा ऐसा दखल केवल तभी प्रभावपूर्ण होता है जब इसे ऐसे बल का आश्रय प्राप्त हो जो दखल करने वाले के प्राधिकार का स्थायी रखने के लिए पर्याप्त हो। दखल शत्रु के देश पर आक्रमण तथा उसको अधिकार मे लेने के उद्देश्य से कब्जा या दाखिल मे लेना है, चाहे वह अस्थायी रूप से ही क्यो न हो।

इसके परिणाम :—जब कोई क्षेत्र शत्रु के हाथो मे आ जाता है तो उसके निवासियो की राजनैतिक स्थिति मे परिवर्तन हो जाता है। ह्वीटन का कथन है कि उनकी (निवासियो की) पूर्व सरकार को सार्वभौमिकता स्थगित हो जाती है और उनकी उससे राजभक्ति उस समय के लिये लुप्त हो जाती है। दखल के बीच वे ऐसी विधियो के अधीन हो जाते हैं जिस प्रकार का विजयी उन पर लगाना चाहे। निवासियो को अपने देश के विरुद्ध अस्त्र ग्रहण करने के लिये बाध्य नही किया जा सकता। उसी समय उनके व्यक्तिगत अधिकार तथा उनके एक दूसरे से सम्बन्ध वही रहते हैं जब तक कि वे विजयी द्वारा विशेष रूप से परिवर्तित न कर दिये जाँय। सुदृढ सैनिक दखल पूर्व सरकार से प्राप्त सार्वभौमिकता के सम्पूर्ण अधिकारो को विजयी को हस्तान्तरित कर देता है। अत. वह पहले की सार्वजनिक सम्पत्ति को जिस प्रकार चाहे उस प्रकार उपयोग कर सकता है, तथा उसके देय कर और उपकारो को स्वय विनियोग कर सकता है। लेकिन यह स्थिति तभी तक रहती है जिस समय तक दखल रहता है। यदि जिला मूल सार्वभौम से पुन ले लिया जाता है तो फिर उसी पूर्व स्थिति मे आ जाता है जिसमे वह लोप होने के पूर्व था। सैनिक दखल के प्रभाव चल तथा अचल सम्पत्ति के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न हैं। यह विजयी को चल सम्पत्ति पर पूर्ण स्वत्वाधिकार प्राप्त करने का तथा उसको जिसे

चाहे उसे हस्तान्तरित करने का अधिकार देता है, किन्तु इसके द्वारा अचल सम्पत्ति पर उसे केवल सीमित अधिकार प्राप्त होते हैं। वह दखल के बीच वास्तविक सम्पत्ति का इच्छानुसार उपयोग कर सकता है किन्तु यदि वह उसका विक्रय करे तो खरीदने वाला मूल स्वामी द्वारा निष्कासन किये जाने के खतरे पर उसे लेता है। ऐसी सम्पत्ति पर आक्रमणकारी के अधिकार केवल शान्ति स्थापित होने के उपरान्त ही स्थायी होते है। हेग विनियमो के अनुच्छेद ४३ मे यह घोषणा की गई है कि दखल करने वाला यथासम्भव सार्वजनिक सुव्यवस्था तथा सुरक्षा पुनः स्थापित करने के लिये समस्त प्रकार के ऐसे प्रयास करेगा जो उसकी शक्ति मे हैं, तथा सर्वथा देश मे प्रवृत्त विधियो का सम्मान करेगा जब तक वह रोका न जायगा। अत दखल करने वाली शक्ति का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वर्तमान स्थानीय विधियो को जहाँ तक वे दखल करने वाले की सुरक्षा के अनुरूप हो, बनाये रखे।

हेग विनियमो द्वारा दखल करने वाले को दखल किये गये क्षेत्र की जनता को विरोधी शक्ति के पक्ष मे राजभक्ति की शपथ लेने को बाध्य करने से निषिद्ध किया गया है, किन्तु उसे यह अनुमति दी गई है कि उनसे तटस्थता की शपथ तथा ऐसी शपथ ले कि वह उसी प्रकार से उसकी आज्ञा पालन करें तथा राजभक्ति दिखलाये जैसा वैध सार्वभौम सत्ता को अधिकार था भले ही वह अस्थायी रूप से ही हो। दखल करने वाला दखल किये गये क्षेत्र के निवासियो को बाध्य नहीं कर सकता कि वे उसे अपने सैनिक दलो के सम्बन्ध मे सूचना दे।

उपासना के लिए समर्पित संस्थायें (Institutions dedicated to worship) —हेग विनियमो के अनुच्छेद ५६ मे यह स्पष्ट रूप से निषिद्ध किया गया है कि सार्वजनिक उपासना, दया, शिक्षा, विज्ञान तथा कला के लिये समर्पित संस्थाओं का अभिग्रहण तथा विनाश न किया जाय। इसी प्रकार ऐतिहासिक स्मारक तथा कला अथवा विज्ञान की कृतियाँ भी सुरक्षित करने योग्य हैं। यह भी व्यवस्था की गई है कि धर्म, दया, शिक्षा, कला तथा विज्ञान के लिये समर्पित संस्थाओं की उपजीविका के निमित्त अलग रखी हुई भूमि से प्राप्त आय उनके लाभकारी प्रयोजनो को हटाकर दखल करने वाली सेना के द्रव्य साधनो को बढाने के काम मे न लायी जाँय।

अचल सम्पत्ति (Immovable Property) —सामान्य नियम के अनुसार अचल सम्पत्ति आक्रमणकारी द्वारा उपभोग किये जाने के अयोग्य मानी गयी है। वे क्षेत्र के साथ बँधी हुई हैं। उनसे उत्पन्न होने वाले लाभ जब्त किये जाने से उन्मुक्त हैं, तथा उनके स्वामी उनके सब प्रकार के विधिपूर्वक उपयोग मे

सुरक्षित किये जाने चाहिये। (अनुच्छेद ४६)। किन्तु व्यक्तिगत गृहो मे सेना के दल रखे जा सकते हैं यद्यपि निवासियो को सिपाहियो के लिए अधिक स्थान प्राप्त करने के हेतु निकाला नही जा सकता। तथापि वास्तविक झगडे की आवश्यकता आने पर यह न्यायोचित हो सकता है, कि भवनो को विनष्ट कर दिया जाय अथवा उनका दुर्ग के रूप मे उपयोग किया जाय। यदि लडाई न लडने वाले आक्रमणकारी दलो पर अपने रहने के स्थानो मे गोली चलावें अथवा उनका उपयोग अन्य अप्राधिकृत विरोध के कार्यों के करने के प्रयोजनो के लिये करें, तो युद्ध की विधियाँ युद्धस्थित को जिसकी हानि हुई हो, यह अधिकार देता है कि सम्बन्धित सम्पत्ति को नष्ट करके तथा अपराधियो के विरुद्ध कठोरता का व्यवहार करके दंड दे।

लडाई न लड़ने वालों की चल-सम्पत्ति (Movable Property of Non-Combatants)—दखल किये गये जिलो की लडाई न लडने वाली जनता की चल-संपत्ति के सम्बन्ध मे अनुच्छेद ५३ इनके अभिग्रहण किये जाने से उन्मुक्ति देता है, यदि यह अस्त्र, युद्ध-सामग्री, आदि न हो। ऐसी दशाओ मे भी युद्ध समाप्त होने पर उन्हे वापस कर देना चाहिये तथा उनके लिये क्षतिपूर्ति की व्यवस्था होनी चाहिये।

सार्वजनिक चल सम्पत्ति (Public Movable Propeity)—हेग-विनियमो के अनुच्छेद ५३ के वाक्यखड १ मे यह अनुमति दी गई है कि दखल करने वाला राज्य उस राज्य की चल सम्पत्ति का उपयोग करे। व्यक्तिगत सम्पत्ति जो सैनिक प्रयोजनो के लिये उपयोग करने के योग्य है, अनुच्छेद ५३ वाक्यखड २ के अन्तर्गत अभिग्रहीत की जा सकती है किन्तु जब शान्ति घोषित हो तो इसे वापस कर देना चाहिये और क्षतिपूर्ति निश्चित कर देनी चाहिये।

व्यक्तिगत सम्पत्ति (Private Property)—व्यक्तिगत सम्पत्ति का सम्मान होना चाहिये। उसे जब्त नही किया जा सकता (अनुच्छेद ४६)। अनुच्छेद ५२ के अन्तर्गत नगरपालिकाओ अथवा निवासियो से द्रव्य तथा सेवाओ की माँग दखल करने वाली सेना की आवश्यकता के अतिरिक्त और किसी स्थिति मे नही की जा सकती। वे देश के द्रव्य साधनो के अनुरूप होगे तथा इस प्रकार के होगे जिससे निवासी इस बात के लिए बाध्य न हो कि उन्हे अपने देश के ही विरुद्ध सैनिक दखल मे भाग लेना पडे।

व्यक्तिगत सम्पत्ति की लूट पूर्ण रूप से निषिद्ध है किन्तु आक्रमणकारी दखल किये गय क्षेत्र में पाई गई तटस्थ की सम्पत्ति को उचित क्षतिपूर्ति देने पर उपयोग कर सकता है।

युद्ध-कार्य (Operations of War) :—हेग विनियमों के अनुच्छेद ५२ में दखल करने वाले को यह निषेध है कि वह विरोधी पक्ष के जातियों को अपने ही देश के विरुद्ध सचालित कार्यों में भाग लेने के लिये बाध्य करे और यह प्रतिबन्ध उस दशा में भी सामान्यतः लागू है जब वे उसकी सेवा में युद्ध आरम्भ होने से पूर्व से रहे हों। लड़ाई न लड़ने वाले निवासियों को कोई असैनिक प्रकार की सेवा करने को बाध्य किया जा सकता है। लड़ाई न लड़ने वालों का मृत्युदण्ड के अन्तर्गत यह निषिद्ध किया गया है कि वे दखल करने वाले के विरुद्ध कोई विरोध का कार्य न करें जैसे शत्रु को सूचना देना, आदि।

सामूहिक दंड (Collective Penalty) —अनुच्छेद ५० में यह निर्धारित किया गया है कि निवासियों पर वैयक्तिक कार्यों के लिये, जिनके लिये वे सामूहिक प्रकार से उत्तरदायी नहीं समझे जा सकते, धन का अथवा अन्य प्रकार का सामूहिक दंड नहीं दिया जा सकता। जर्मनी द्वारा इस नियम का भंग सन् १९१४-१८ के महायुद्ध तथा १९३९-४५ के विश्वयुद्ध में किया गया, जब उसके द्वारा अनेक मामलों में दखल किये गये क्षेत्र के निवासियों को सामूहिक रूप से दण्डित किया गया।

न्यायालय (Courts)·—न्याय-वितरण के सम्बन्ध में यह है कि सैनिक दखल के बीच व्यवहार न्यायालय पूर्व विधियों के अनुसार कार्य करते रहते हैं लेकिन दण्ड न्याय विधि तथा प्रक्रिया में परिवर्तन हो सकते हैं। अनुच्छेद ४३ में यह व्यवस्था की गई है कि दखल करने वाले को यदि उसके मार्ग में बाधा न हो, तो देश में प्रवृत्त विधियों का सम्मान करना चाहिये, लेकिन वह सामान्य न्यायालयों के स्थान में सैनिक न्यायालय स्थापित कर सकता है। न्यायालय दखल करने वाली शक्ति के नाम पर निर्णय न देकर न्यायपूर्वक स्थापित सरकार के नाम पर निर्णय देते हैं, लेकिन दखल करने वाला उनको न्यायपूर्वक स्थापित सरकार के नाम में निर्णय देने से रोक सकता है। उस दशा में जैसा कि ब्लण्टशली का सुझाव है, न्यायालय एक तटस्थ नियम का अवलम्बन कर सकते हैं तथा निर्णयों को "विधि के नाम में" ("In the name of the law") दे सकते हैं।

अधिग्रहण, अंशदान तथा अर्थ दंड (Requisitions, Contributions and Fine) ·—अधिग्रहण दैनिक उपभोग की वे वस्तुएँ हैं जो दखल करने वाली सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सभरण की जाँय तथा दखल किये गये प्रदेश के निवासियों से माँगी जाँय। हेग विनियम अधिग्रहण के लिये वहाँ तक अनुमति देते हैं जहाँ तक कि वे दखल करने वाली सेना की आवश्यकताओं के लिये

अपेक्षित हो तथा देश के साधनो के अनुरूप हो। वे दखल किये गये क्षेत्र मे केवल समादेशक के ही अधिकार से माँगे जा सकते हैं।

अशदान वह धनराशि है जो सामान्य करो के अतिरिक्त एकत्र की जाय। वह समादेश देन वाले जनरल के उत्तरदायित्व पर उसके लिखित आदेश के अन्तर्गत एकत्र किया जा सकता है, तथा सेना की आवश्यकताओ के लिये तथा दखल किये गये क्षेत्र के प्रशासन के व्यय की पूर्ति के लिये लगाया जा सकता है। अशदान केवल उसी दशा मे अनुज्ञेय है जब करो से आय कम हो तथा प्रशासन के व्यय की पूर्ति के लिये अपर्याप्त हो, किन्तु सेना की आवश्यकताओ के लिये उनको लगाने की आवश्यकता न्यायविरुद्ध माँग की एक नयी स्थिति उपस्थित कर देनी है। चन्दा देने वालो को रसीद दी जानी चाहिये, यद्यपि वापसी के लिये कोई व्यवस्था नही की गई है।

अर्थदण्ड किसी जिले पर लगाई गई वह शास्ति है जा उसके निवासियो द्वारा आक्रमणकारियो के विरुद्ध किये गये किसी कार्य के लिए लगाई जाय। हेग विनियमो के अनुच्छेद ५० मे जैसा ऊपर व्यक्त किया गया है यह घोषित किया गया है कि कोई सामान्य शास्ति द्रव्य अथवा अन्य प्रकार की, जनता पर उन कार्यो के लिये नही लगायी जा सकती, जो व्यक्तियो द्वारा किये गये हो तथा जिनके लिये उनको सामूहिक रूप से उत्तरदायी नही समझा जा सकता।

सन् १९४९ का जेनेवा अभिसमय (Geneva Convention, 1949)— जर्मनी द्वारा युद्धस्थित दखल करने वाले के रूप मे दखल किये गये क्षेत्र की नागरिक जनता पर द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य किये गये निर्मम क्रूरता के कार्यो के कारण यह आवश्यक हो गया कि हेग विनियमो का पुनरीक्षण किया जाय तथा सन् १९४९ के जेनेवा अभिसमय को अगीकृत किया जाय। ४७ से ७८ तक अनुच्छेद जो युद्ध के समय मे नागरिक व्यक्तियो के सरक्षण के सम्बन्ध मे हैं केवल दखल किये गये क्षेत्र के विषय मे हैं तथा वर्तमान अनुबन्धो के उद्घोषणात्मक हैं यद्यपि कुछ विषयो मे वे हेग विनियमो के सम्बन्धो के बाहर चल गये हैं।

अनुच्छेद ४९ के अन्तर्गत वैयक्तिक अथवा सामूहिक अन्तरण तथा सरक्षित व्यक्तियो का दखल किये गये क्षेत्र से दखल करने वाली शक्ति क क्षेत्र अथवा किसी अन्य क्षेत्र को निकालना निषिद्ध किया गया है।

अभिसमय मे यह निषिद्ध किया गया है कि दखल करने वाली शक्ति दखल किये गये क्षेत्र के निवासियो का यह बाध्य करे कि उसक सैनिक अथवा सहायक दना मे कार्य करे। किसी प्रकार के ऐसे दवाव अथवा प्रचार की अनुमति नहीं है जिसका उद्देश्य ऐच्छिक भर्ती कराना हो।

दखल करने वाली शक्ति दखल किये गये क्षेत्रो मे सार्वजनिक पदाधिकारियो अथवा न्यायाधीशो की स्थिति बदल नही सकती (अनुच्छेद ५४)।

राज्य के व्यक्तियो अथवा अन्य सार्वजनिक अधिकारियो की वास्तविक अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश केवल उस दशा को छोडकर जबकि ऐसा विनाश सैनिक कार्यों के लिये नितान्त आवश्यक हो गया हो, पूर्णतया निषिद्ध है। (अनुच्छेद ५३)।

दखल किये गये क्षेत्र की दड-विधियाँ इस अपवाद क साथ प्रवर्तित रहेगी कि उनको दखल करने वाली शक्ति द्वारा उन्हे निरसित तथा स्थगित उन दशाओ मे किया जा सकता है जब वे उसकी सुरक्षा के लिये एक धमकी बन जाती हैं। दखल करने वाली शक्ति द्वारा बनाई गई दड-व्यवस्था उसके प्रकाशित किये जाने तथा निवासियो को उन्ही की भाषा मे परिचित कराने के पूर्व प्रवर्तित नही होगी। (अनुच्छेद ६४-६५)।

दखल करने वाली शक्ति द्वारा मृत्युदण्ड नागरिक निवासी को केवल उन्ही दशाओ मे दिया जा सकता है जब वह व्यक्ति जासूसी कार्यों के करने दखल करने वाली शक्ति क सैनिक प्रतिष्ठापनो को तोड-फोड करने के गम्भीर कार्यों अथवा इच्छापूर्वक ऐसे अपराधा का करने का दोषी हो जिनसे एक या अधिक व्यक्तियो की मृत्यु हो जाय, किन्तु अनुबन्ध यह है कि दखल के आरम्भ होने के पूर्व ऐसे अपराध दखल करने वाले प्रदेश की विधि के अन्तर्गत मृत्युदण्ड द्वारा दण्डनीय हों।

सरक्षित व्यक्ति दखल करने वाली शक्ति द्वारा दखल के पूर्व किये गये कार्यों अथवा प्रकट की गई सम्मति के लिये पकडे, अभियोजित अथवा सिद्ध-दोष इस अपवाद के साथ नही होगे कि युद्ध की विधियो तथा रूढियो का उल्लघन न हुआ हो। (अनुच्छेद ७०)। अनुच्छेद ५५ मे दखल करने वाली शक्ति पर यह कर्तव्य आरोपित किया गया है कि वह जनता के लिये भोजन तथा औषधि का सामान पहुँचाने का निश्चित प्रबन्ध करे।

अध्याय ४०

समुद्री युद्ध की विधियाँ

(Laws of Maritime Warfare)

उद्देश्य :—समुद्री युद्ध का उद्देश्य शत्रु को उन यातायात के साधनों से वचित करना है जो समुद्र अनधिकृत सम्पत्ति के रूप मे प्रत्येक राष्ट्र को देते हैं और शत्रु के

समुद्री बेडे को पराजित करना तथा उसके व्यापारिक बेडे का मूलोच्छेदन करना है। भूमियुद्ध के असदृश समुद्रीय युद्ध में यह अनुमति प्राप्त है कि शत्रु के जहाजो में प्राप्त व्यक्तिगत सम्पत्ति, अतटस्थ सेवाओ मे लगा हुआ तटस्थो का माल तथा उनके जहाज तथा शत्रु का सम्पूर्ण माल जो समुद्र पर हो यदि तटस्थ झंडे से संरक्षित न हो तो ग्रहण कर लिया जाय।

रूढियो के अतिरिक्त समुद्री युद्ध विधियाँ मुख्यत: सन् १८५६ की पेरिस की घोषणा मे तथा सन् १९०७ के षष्ठ हेग अभिसमय में समावेशित हैं जिसका निर्देश पूर्व पृष्ठो में किया गया है।

पेरिस की घोषणा (Declaration of Paris) :—पेरिस की घोषणा ने निम्नलिखित चार सिद्धान्तो को सूचित किया :—

(१) निजी जहाजो द्वारा शत्रु के जहाजो को लूटे जाने के प्राधिकरण (Privateering) का उन्मूलन कर दिया जाता है।

(२) तटस्थ झडे से शत्रु के माल की रक्षा होती है युद्ध में विनिषिद्ध वस्तुओ को छोडकर।

(३) तटस्थो का माल युद्ध मे विनिषिद्ध वस्तुओ को छोडकर शत्रु के झण्डे के नीचे ग्रहण करने योग्य नही है।

(४) नाकेबन्दी वास्तविक तथा बाध्यकारी होने के निमित्त प्रभावपूर्ण होनी चाहिये।

शत्रु के सार्वजनिक तथा वैयक्तिक-पोत पर आक्रमण (Attack on Public and Private Vessels of the Enemy):—सामान्य नियम के रूप मे शत्रु के सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जहाजो पर उन्ही के बन्दरगाहो तथा जल मे, आक्रमणकारी शक्ति के बन्दरगाहो तथा जल मे तथा खुले हुए समुद्रो मे आक्रमण किया जा सकता है लेकिन तटस्थ तथा तटस्थीकृत बन्दरगाहो तथा जल मे नही। किन्तु सामान्य नियम के निम्नलिखित अपवाद हैं :—

अपवाद :—

१. अस्पताली जहाज (Hospital Ships).—सन् १८९९ तथा १९०७ के हेग अभिसमय द्वारा उनको पकडे जाने से इस आधार पर उन्मुक्ति दी गई कि वे उदारता तथा परोपकार के कार्य करते हैं। ऐसे अस्पताली जहाज सफेद रंग के होने चाहिए तथा उनमे जेनेवा का झडा लगा रहना चाहिए। यह बात स्वीकृत की गई कि अस्पताली जहाज लडाई लडने वालो की गतिविधि मे बाधा न डालें।

२. वे जहाज जो धार्मिक, वैज्ञानिक अथवा सार्वजनिक उपकार के कार्यों मे लगे हों, वे भी सन् १९०७ की ग्यारहवी हेग अभिसमय के अनुच्छेद ४ के अन्तर्गत पकडे जाने से उन्मुक्त हैं।

३. कार्टेल जहाज (Cartel Ships) .—यह वे जहाज हैं जो बन्दियो के विनिमय कार्य मे लगे रहते हैं तथा युद्धस्थित शक्ति द्वारा अभिग्रहीत करने से उन्मुक्त हैं ।

४. मछली मारने वाले जहाज तथा बाजारी नावे (Fishing Smacks and Market Boats) —ये छोटे-छोटे जहाज किनारे पर मछली पकडने अथवा स्थानीय व्यापार मे लगे रहने के कारण युद्धस्थित शक्तियो द्वारा अभिग्रहीत करने से उन्मुक्त हैं, लेकिन यदि वे युद्ध के कार्यों मे भाग ले तो उन पर यह उन्मुक्ति लागू नही होती ।

५ शत्रु के जहाज लाइसेन्सो द्वारा सरक्षित हो, अभिग्रहीत करने से तब तक उन्मुक्त रहते हैं जब तक वे लाइसेन्स म दी हुई शर्तों तथा प्रतिबन्धो के अनुसार नाव चलाते अथवा व्यापार करते हैं ।

६ सन् १९०७ के छठे हेग अभिसमय ने तीन प्रकार के व्यापारी जहाजो का एक अधूरी तथा सीमित प्रकार की उन्मुक्ति प्रदान की —

(अ) जो युद्ध के प्रारम्भ मे शत्रु के बन्दरगाह मे पाये जाय ।

(आ) जो ऐसे बन्दरगाह मे लडाई छिडने से अनभिज्ञ होकर प्रवेश करे तथा जिन्होने अपने प्रस्थान के अन्तिम बन्दरगाह को तब छोडा हो जब शान्ति रही हो ।

(इ) जिनसे खुले समुद्रा पर उसी अनभिज्ञता का दशा म मुठभेड हो तथा जो अन्तिम बन्दरगाह से जिसम कि वे पहले पहुँचे हो युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व चल दिये हो ।

अभिसमय द्वारा युद्धस्थित को यह अनुमति दी गई थी कि वह किसी व्यापारी जहाज को क्षतिपूर्ति दिये बिना रोक रक्खें, किन्तु इस उत्तरदायित्व के साथ कि युद्ध के उपरान्त इसे वापस कर दें । युद्धस्थित क्षतिपूर्ति देकर जहाज को अधियाचित भी कर सकता था । उन जहाजो के सम्बन्ध मे जिन्होने युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व बन्दरगाह छोड दिया था, तथा जिनसे उसी अज्ञानता की दशा मे खुले समुद्र मे मुठभेड हुई हो, उनको इस विकल्प के साथ विनष्ट करने दिया जाता था कि उसके बदले म क्षतिपूर्ति दी जाय तथा जहाज के कागजो की सुरक्षा के लिए व्यवस्था की जाय ।

प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्धो के मध्य ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, तथा सयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस अभिसमय का लेशमात्र सम्मान किया गया तथा युद्ध छिडने के उपरान्त उनके बन्दरगाहो में तथा खुले समुद्रा मे पाये गये जहाजो को स्थानबद्ध तथा पकड लिया गया और उनको बिना क्षतिपूर्ति दिये चलाया गया ।

शत्रु की सेना में संलग्न तटस्थ व्यापारी जहाज (Neutral Merchant Ships in Enemy Service) :—सन् १९०९ की लन्दन की घोषणा मे जो सत्यापित नही की गई यह व्यवस्था की गई है कि "तटस्थ जहाज उस समय दोषी ठहराया जायगा तथा सामान्य रीति मे उससे निम्नलिखित दशाओ मे वही व्यवहार किया जायगा जैसा उससे शत्रु का व्यापारी जहाज होने पर किया जाता, यदि वह —

(१) युद्ध मे प्रत्यक्ष भाग लेता।

(२) किसी अभिकर्ता के आदेशो के अधीन अथवा नियन्त्रण मे हो जो जहाज पर शत्रु की सरकार द्वारा रक्खा गया हो।

(३) शत्रु के सरकार की अन्य सेवा में हो।

(४) उस समय अनन्यरूपेण या तो शत्रु की सेनाओ को ले जाने मे लगा हो अथवा शत्रु के हित मे सूचना देने के कार्य मे व्यस्त हो (अनुच्छेद ४६)।"

तटस्थ व्यापारी जहाज शत्रु के पथरक्षक जहाजों के साथ (Neutral Merchant Ships in Enemy Convoy) :—जर्मनी तथा ग्रीस के, मिश्रित विवाचन न्यायाधिकरण ने Kyriakides v Germany (1928) [8 M. A. T. (1929) p. 350] मे कथन किया है कि केवल यही तथ्य कि व्यापारी जहाज ने अपने को शत्रु की नौसेना के संरक्षण मे रख लिया है तथा इसने यात्रा एक या कई युद्धपोतो के साथ मे की इस बात के लिये पर्याप्त है कि उसे शत्रु के युद्धपोतो मे मान लिया जाय और उससे शत्रुवत् व्यवहार किये जाँय।

तटीय नगरों पर बम बरसाना (Bombardment of Coast Towns) —युद्ध के समय मे नौसेना द्वारा बम बरसाये जाने के सम्बन्ध मे इस विषय में एक अभिसमय सन् १९०७ के द्वितीय हेग सम्मेलन द्वारा अंगीकृत किया गया। अनुच्छेद १ मे यह नियम बनाया गया कि बन्दरगाहो, नगरो, ग्रामो, निवासस्थानो अथवा अन्य भवनो पर नौसेना द्वारा बम बरसाया जाना किसी भी परिस्थित तथा दशा मे निषिद्ध है तथा किसी भी स्थान पर बम केवल इस कारण नही बरसाया जा सकता कि स्वसचालित सम्पर्क स्थापित करने वाली सुरगे बन्दरगाह से हट कर बिछाई हुई हैं। अनुच्छेद २ में यह अनुबन्धित है कि अरक्षित स्थानो के विषय मे भी सैनिक अथवा नौसेना के सस्थापन, शस्त्र अथवा युद्ध सामग्री के आगार, कारखाने अथवा यन्त्र जिनका युद्धकार्य मे उपयोग किया जा सके, तथा बन्दरगाह मे खडे युद्धपोतो पर भी बम बरसाये जा सकते हैं यदि स्थानो अधिकारीवर्ग सूचना दिये जाने पर भी उनको विनष्ट करने मे असमर्थ रहे। युद्धस्थित को यथासम्भव सार्वजनिक उपासना, कला, विज्ञान, अथवा उपकारके हेतु समर्पित सदनो को भी छोड

देना था जिनको कि निर्धारित दृष्टिगत चिन्हो से लक्षित किया गया था। अभिसमय संरक्षित बन्दरगाह अथवा नगर को परिभाषित करने में असमर्थ रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि दोनो विश्वयुद्धो मे प्रतिज्ञा का पालन केवल उसके उल्लघन मे ही हुआ।

सुरंगें (Mines) :—सन् १९०७ के हेग सम्मेलन के अभिसमय ८ द्वारा बिना लगर डाली हुई सम्पर्क स्थापित करने वाली सुरगो का बिछाना निषिद्ध किया गया जब तक उनकी बनावट ऐसी न हो कि वे उनका नियन्त्रण समाप्त होने के एक घटे भीतर हानिकारक न रह जाँय। इसके द्वारा लगर डाली हुई सम्पर्क वाली ऐसी सुरंगो का बिछाना भी निषिद्ध किया गया जो अपने निर्धारित स्थान से छूटने पर निर्दोष न हो जाँय तथा ऐसे टारपीडो का उपयाग भी निषिद्ध किया गया जो अपने लक्ष्य को चूकने पर निर्दोष न हो जाँय। इसके द्वारा यह भी निषिद्ध किया गया कि शत्रु के तटो तथा बन्दरगाहो से दूर सम्पर्क स्थापित करने वाली सुरगे व्यापारिक नौचालन मे बाधा डालने के लिये न बिछाई जाँय।

पनडुब्बियाँ (Submarines) :—प्रथम महायुद्ध के छिड़ने पर जर्मन पनडुब्बियो ने व्यापारिक जहाज, युद्धपोत तथा तटस्थ जहाजो का विनाश किया क्योंकि पनडुब्बियाँ अपनी प्रकृति से ही नाविक युद्ध की परम्परागत विधियो का अनुसरण नही कर सकती थी। पनडुब्बियाँ टारपीडो द्वारा प्रभावशाली कार्यवाहियाँ करती हैं। यद्यपि उनके लिये यह सर्वथा उचित है कि शत्रु के युद्धपोतो को बिना कोई सूचना दिये डुबा दें, तथा शत्रु के व्यापारिक जहाजो पर जाकर उनकी तलाशी ले तथा उनको पकड़ें लेकिन उनका प्रमुख दोष प्रोफेसर हॉल के कथनानुसार यह है कि वे जिन जहाजो को डुबाती हैं उन पर स्थित व्यक्तियो की सुरक्षा करने मे असमर्थ हैं तथा किसी-किसी समय उस जहाज को पहिचानने मे भी असमर्थ रहती हैं जिस पर वे आक्रमण करती हैं।

सशस्त्र व्यापारिक जहाजो के सम्बन्ध मे जर्मनी द्वारा यह तर्क दिया गया कि वे बिना किसी चेतावनी के डुबाये जा सकते हैं क्योंकि कोई चेतावनी अथवा पूर्व-सूचना पनडुब्बियों को स्वय गम्भीर आपत्ति मे डाल देगी। यह भी तर्क प्रस्तुत किया गया कि चूँकि प्रथम विश्वयुद्ध मे ब्रिटेन की नौसेना ने अपने पदाधिकारियों अथवा व्यापारिक जहाजो को पनडुब्बियो पर देखते ही आक्रमण करने का आदेश दिया था अत: कोई चेतावनी देने का अवसर ही नही आता। यह विषय यहाँ तक बढ़ा कि ७ मई १९१५ को 'लुसिटानिया', ब्रिटेन का अटलांटिक में चलने वाला एक जहाज, जर्मन टारपीडो द्वारा डुबो दिया गया। उस पर प्रायः २००० यात्री यात्रा कर रहे थे जिनमे से अधिकांश अमेरिका वाले थे। वह तत्काल डूब गया तथा लगभग

१,२०० व्यक्ति प्राणो से हाथ धोये । अमेरिका ने, जो उस समय तक तटस्थ था, जर्मनी से कठोर शब्दो मे इसका विरोध प्रकट किया । जर्मन सरकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि 'लूसिटानिया' एक सामान्य नि शस्त्र व्यापारी जहाज नही था वरन् वह एक सहायक सैनिक जहाज था, जिसका नाम ब्रिटिश नौसेना विभाग द्वारा प्रकाशित नौसेना की सूची मे सम्मिलित था तथा यह अपनी पिछली यात्राओ मे मित्रराष्ट्रो की सहायता के लिये कैनाडा की सेना, शस्त्र और गोला-बारूद ले गया था । मित्रराष्ट्रो द्वारा दिये गये इस तर्क के सम्बन्ध मे कि सन् १९०९ की लदन-घोषणा मे यह अनुबन्धित किया गया है कि किसी जहाज को विनष्ट करने के पूर्व जहाज पर के व्यक्तियो की सुरक्षा का प्रबन्ध करना चाहिये, जर्मनी ने यह उत्तर दिया कि सामुद्रिक युद्ध के पूर्वकालीन नियम पनडुब्बियो के प्रकट हो जाने से अब लुप्तप्राय हो गये हैं तथा ऐसी दशा मे जबकि परिस्थितियाँ परिवर्तित हो गई हैं, उनसे लडाई न लडने वाले लोगो तथा यात्रियो की सुरक्षा का दायित्व नही लिया जा सकता ।

सन् १९२१ तथा १९२२ के शस्त्रो को परिसीमित करने के वाशिंगटन सम्मेलन मे पनडुब्बियो के सम्बन्ध मे नियम निर्धारित करने के प्रयास किये गये । सम्मेलन न यह निर्णय किया कि समुद्री लडाई के वर्तमान नियम पनडुब्बियो पर भी लागू हैं तथा वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सस्थापित भाग माने गये । सन् १९१४-१८ के मध्य जर्मन पनडुब्बियो द्वारा दिखलाये गये पराक्रम के विरुद्ध इसमे एक सामान्य प्रतिक्रिया प्रकट की गई । यह भी निर्णय किया गया कि यदि कोई पनडुब्बी इन नियमो के अनुरूप कार्य न कर सके, तो इसको व्यापारिक जहाज पर आक्रमण नही करना चाहिये । वह सधि जिसमे ये घोषणायें थीं, राज्यो द्वारा सत्यापित नही की जा सकी क्योकि पनडुब्बियो के लिये युद्ध की विधियों के अनुरूप कार्य करना असम्भव था । नौसेना के शस्त्रो को परिसीमित तथा घटाने के सम्बन्ध मे किये गये सन् १९३० के लन्दन के सम्मेलन मे इसके पूर्व के वाशिंगटन सम्मेलन मे निर्धारित किये गये नियमो की पुनरुक्ति की गई । ये ही नियम सन् १९३६ क लन्दन पनडुब्बी नियमो मे अक्षरश समावेशित किये गये । सन् १९३९ तक ३६ राज्य इस मूललिपि के पक्ष कार हो गये थे । इन सब के होते हुये द्वितीय महायुद्ध मे पनडुब्बियो क सम्बन्ध में प्राय कोई बन्धनकारी नियम नही देखे गये । नाजियो के सपूर्ण युद्ध की विचार धारा ने युद्ध सम्बन्धी सब नियमो को एक प्रहसन बना दिया । सभी वस्तुय युद्ध की सबसे अधिक आवश्यकता के अधीनस्थ हो गईं । खुले समुद्र म नाविको की अपेक्षा न करते हुए व्यापारिक जहाजो को डुबाना, चाहे वे शस्त्र युक्त हो अथवा नि शस्त्र, एक 'दिनचर्या हो गई ।

डाक द्वारा पत्र-व्यवहार (Postal Correspondence) —सन् १९०७ के ग्यारहवें हेग अभिसमय द्वारा शत्रु का डाक द्वारा पत्र व्यवहार अनुल्लंघनीय माना गया, यद्यपि यह उन्मुक्ति-पत्र ले जाने वाले जहाजों के लिए लागू नहीं थी। नाकेबन्दी बन्दरगाह से अथवा वहाँ के लिये निर्देशित पत्र व्यवहार पकड़े जाने से उन्मुक्त नहीं की गयी। यदि जहाज रोके गये तो यह नियम बनाया गया कि पकड़ने वालों द्वारा पत्रादि यथासम्भव शीघ्र भेज देना चाहिये। हेग अभिसमय के अन्तर्गत डाक द्वारा भेजे गये पार्सलों को उन्मुक्ति नहीं प्रदान की गई थी।

शत्रु के जहाजों को पकड़ने वाले जहाज (Privateers). —ये वे जहाज हैं जो व्यक्तिगत स्वामियों के हैं, जिनको युद्धकाल में राज्य की ओर से एक कमीशन दिया जाता है कि जो 'विशिष्ट पत्र' के नाम से पुकारा जाता है। इससे उनको यह प्राधिकार दिया जाता है कि शत्रु के विरुद्ध युद्ध कर, उसके जहाजों और सम्पत्ति को पकड़े तथा उसके व्यापार को विनष्ट कर। सन् १८५६ की पेरिस घोषणा के प्रथम अनुच्छेद में कहा गया है कि "यह प्रथा समाप्त ही रहेगी।"

समुद्री युद्ध में छल (Ruses in Sea Warfare) —जिस प्रकार स्थल-युद्ध में छल एक निश्चित सीमा तक मान्य है, उसी प्रकार समुद्री युद्ध में भी एक निश्चित सीमा तक छल ग्राह्य माना जाता है। युद्ध-स्थित व्यक्ति द्वारा यदि गलत झंडे का प्रयोग शत्रु को धोखा देने के लिए किया जाता है, तो उस समय नियमित माना जाता है, जब कि वह किसी शत्रु-पोत का पीछा कर रहा हो या भागने के प्रयत्न में हो। शत्रु-पोत को कार्य-रत करने के उद्देश्य से यदि तटस्थ अथवा शत्रु के झंडे का प्रयोग किया जाता है, तो वह भी अवैध नहीं माना जाता, किन्तु यदि उसे आक्रमण करना है, तो आक्रमण के पूर्व अवश्य अपना राष्ट्रीय झंडा लगा लेना चाहिए। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन क्रूज़र 'एम्डेन' (Emden) ने जापानी झंडा लगाकर अपने का छद्म बना लिया था। वह मलाया राज्य में पेनाग बन्दरगाह पार कर गया था। उसने रूसी क्रूज़र 'झेमशग' (Zhemshug) को सामने पाकर जापानी झंडे को नीचे झुका दिया और जर्मन झंडे को लहरा दिया, तथा गोली चलाना शुरू करके टारपीडो से उस क्रूज़र को गिरा दिया।

सन् १९४९ का जेनेवा अभिसमय (Geneva Convention, 1949) —सन् १९४९ के जेनेवा अभिसमय में समुद्री सेना के घायल, अस्वस्थ तथा डूबे हुए जहाजों के सैनिकों की दशा सुधारने की व्यवस्था विस्तृत रूप से की गई है। अनुच्छेद १२ में यह व्यवस्था की गई है कि सैनिक दलों के सदस्य तथा अन्य व्यक्ति जो उनमें सम्मिलित कर लिये गये हों तथा जो समुद्र में हों और जिनके जहाज डूबे

गया हो उनका सम्मान करना चाहिये तथा उनकी प्रत्येक परिस्थिति मे रक्षा होनी चाहिये।

युद्धस्थित के सब युद्धपोतो को यह अधिकार होगा कि वे घायल, अस्वस्थ अथवा जहाज मे डूबे हुए व्यक्तियो का जो सैनिक अस्पताली जहाजो पर हो तथा सहायता समिति के अथवा व्यक्तिगतजनो के अस्पताली जहाजो का प्रत्यर्पण माँगे, लेकिन अनुबन्ध यह है कि घायल तथा अस्वस्थ ऐसी दशा मे हो कि वे हटाये जा सकें तथा युद्धपोतो मे आवश्यक चिकित्सा के लिये पर्याप्त सुविधायें प्रदान की जा सकें। (अनुच्छेद १४)

यदि घायल अस्वस्थ अथवा डूबे हुए जहाज के व्यक्ति एक तटस्थ युद्धपोत पर अथवा तटस्थ सैनिक हवाई जहाज पर ले लिये जाँय और यदि अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा ऐसा अपेक्षित हो कि वे युद्ध के कार्यों मे और अधिक भाग न ले सकें तो इस बात की निश्चित व्यवस्था कर दी जायगी। (अनुच्छेद १५)

अस्पताली जहाज (Hospital Ships) :—सैनिक अस्पताली जहाज प्रत्येक दशा मे आक्रमण किये जाने तथा पकडे जाने से उन्मुक्त हैं, किन्तु अनुबन्ध यह है कि उनके नाम तथा विवरण झगडे के पक्षकारो को उनके उपयोग मे लाये जाने के दस दिन पूर्व अधिसूचित कर दिये गये हो। (अनुच्छेद २२) राष्ट्रीय रेडक्रास समितियाँ अथवा अन्य सहायता समितियो को सैनिक अस्पताली जहाजो के समान सरक्षण मिलेगा तथा वे पकडे जाने से उन्मुक्त रहेगे, अनुबन्ध यह है कि उनको अपने राज्य से एक सरकारी कमीशन प्राप्त हो। (अनुच्छेद २४)। अस्पताली जहाज किसी भी दशा मे किसी सैनिक प्रयोजन के लिये उपयोग मे नही लाये जाएँगे और न ऐसे जहाज लडाई लडने वालो की गति-विधि मे बाधा डालेगे। (अनुच्छेद ३०)। अस्पताली जहाजो के अधिकार मे अपने वायरलेस के लिये कोई गुप्त कोड अथवा सूचना भेजने का अन्य साधन नही होना चाहिये तथा न उसका उपयोग होना चाहिये। [अनुच्छेद ३४ (२)]। अभिसमय झगडे के पक्षकारो को यह अधिकार देता है कि उपर्युक्त कर्तव्यो के पालन को निश्चित करने के लिये अस्पताली जहाजो पर नियन्त्रण रक्खे तथा उनकी तलाशी ले। यह सरक्षण जिसके कि अस्पताली जहाज अधिकारी हैं उस समय समाप्त हो जाँयगे जब वे अपने उदारता के कर्तव्यो से परे ऐसे कर्तव्य करें जो शत्रु के लिए हानिकर हो (अनुच्छेद ३४)।

कर्मचारी वर्ग (Personnel) —अस्पताली जहाजो के धार्मिक, चिकित्सा तथा अस्पताल सम्बन्धी कर्मचारी वर्ग का तथा उसके नाविको का सम्मान होना चाहिये तथा उन्हे सरक्षण मिलना चाहिये। उनको उस समय नही पकडना चाहिये जब वे अस्पताली जहाज की सेवा मे हो, चाहे अस्वस्थ तथा घायल जहाज पर हो

अथवा नहीं। यदि वे शत्रु के हाथों में पड़ जाँय तो उनका सम्मान तथा संरक्षण होना चाहिये तथा उनको अपने कर्तव्यों को तब तक करते रहने देना चाहिए जब तक कि घायलों तथा अस्वस्थों के लिये आवश्यक हो।

अध्याय ४१
नौजितमाल न्यायालय
(Prize Courts)

नौजितमाल का अर्थ :—शत्रु की सम्पत्ति जो खुले समुद्र में पकड़ी जाय समुद्री लूट या नौजितमाल (prize) कहलाती है। यह 'लूट' (booty) से भिन्न है जो शत्रु की उस सम्पत्ति के लिये प्रयोग की जाती है जो भूमि पर प्राप्त की गई हो। नौजितमाल के लिये स्वत्व केवल तभी प्राप्त होता है जब यह एक सक्षम न्यायालय द्वारा दोषी ठहराई गई हो तथा जब तक यह निर्णय न हो जाय सम्पत्ति का अधिकारी एक वैध ग्रहण सम्पत्ति की दशा में रहता है।

यदि बलात् अभिग्रहण किये जाने योग्य शत्रु की सम्पत्ति समुद्र में पकड़ी जाय तो मूल स्वामी के अधिकार विनिष्ट हो जाते हैं किन्तु कभी-कभी यह संदेहपूर्ण रह जाता है कि क्या कोई सम्पत्ति वास्तव में किसी शत्रु के स्वतत्व की है, या नहीं अथवा अभिग्रहण ऐसे स्थान पर किया गया जहाँ युद्ध सदृश कार्य किये जाँय, तथा यह सर्वदा आवश्यक है कि व्यक्तिगत अभिग्रहण करने वालों को उत्पन्न होने वाले स्वत्वाधिकारों की ठीक-ठीक सीमा निश्चित की जाय। अतः किसी न्यायालय का हस्तक्षेप उस दशा में भी अत्यन्त ही वांछनीय है जब युद्धस्थित की सम्पत्ति ही केवल सम्बन्धित विषय हो। वांछनीयता उस दशा में आवश्यक हो जाती है जब तटस्थों के अधिकार तथा दावे सम्बद्ध हों। अतः सभी सभ्य युद्धस्थित नौजित सम्बन्धी न्यायालयों को तटस्थों के प्रजाजनों के संरक्षण तथा अभिग्रहण करने वालों के दावा के उचित समीकरण के लिये स्थापित करते हैं।

परिभाषा.—लारेंस ने 'नौजितमाल न्यायालय' (prize courts) की परिभाषा इस प्रकार की है कि ये युद्धस्थित राज्यों द्वारा अपने प्रदेश में, अपने सैनिक दखल के अधीन क्षेत्र में अथवा उसमें जो युद्ध में मित्र राष्ट्र की सम्पत्ति हो, अपने युद्धपोतों द्वारा अभिग्रहीत सम्पत्ति की वैधता निर्णय करने के लिये स्थापित नागरिक न्यायाधिकरण हैं। अन्तिम दशा में मित्रराष्ट्र की अनुमति पहले प्राप्त कर लेनी चाहिये। (Lawrence : The Principles of International Law, p. 460).

नौजितमाल न्यायालयो के कृत्य सक्षेप मे निम्नलिखित हैं :—

(१) समुद्रीय अभिग्रहण के मामलो मे जाँच।

(२) जहाँ अभिग्रहीत सम्पत्ति वैध नौजितमाल सिद्ध हो दण्ड की डिगरी पारित करना।

(३) जहाँ यह सिद्ध न हो तो असली मालिक को वस्तु न्यायोचित क्षतिपूर्ति सहित दे देना।

(४) आनुषगिक रूप से सब के हितो को लूट तथा अव्यवस्था से सरक्षण प्रदान करना। (Pitt Cobbett's Leading Cases, Vol. II, Ed. V. p. 258).

क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) :—नौजितमाल न्यायालय का क्षेत्राधिकार इसके युद्धपोतो द्वारा युद्ध के बीच खुले समुद्र पर किये गये अभिग्रहणो पर, इसके नौसेना द्वारा भूमि पर किये गये अभिग्रहणो पर तथा बन्दी को मुक्त करने के लिये धन और क्षतिपूर्ति के अन्य सम्बन्धित मामलो पर विस्तृत है। इसमे पुनर्ग्रहण भी सम्मिलित है।

नौजितमाल न्यायालयो को अपना क्षेत्राधिकार उनको स्थापित करने वाले युद्धस्थित राज्य से प्राप्त होता है तथा उसको उसकी नागरिक विधि से प्रदान किया जाता है।

निर्णय का प्रभाव (Effect of Decision) :—नौजितमाल न्यायालय का निर्णय निश्चयात्मक माना जाता है तथा इसके द्वारा समुद्री लूट या नौजितमाल सम्बन्धी सम्पूर्ण स्वत्वाधिकारो का निर्णय हो जाता है।

जर्मनी तथा पुर्तगाल के बीच वाले पचायती मामले मे [(१९३०) (Zeitschrift III (1933) p 5)] न्यायालय ने यह विचार प्रकट किया कि अन्तिम नौजितमाल न्यायालय के निर्णय, चाहे उनका आधार कितना ही अनुचित ही क्यो न हो, अन्तर्राष्ट्रीय स्वत्वाधिकार प्रदान करते है, जो सामान्यतः स्वीकृत किये जाते हैं तथा जिनके विरुद्ध कोई न्यायिक सहारा सभव नही है।

प्रक्रिया (Procedure) :—Katrantsios v. Bulgaria [7 M A. T. (19 8) p 39] मे बल्गेरिया तथा ग्रीस के समिश्रित पचायती न्यायाधिकरण ने इस दृढ स्थापित नियम को पुनः स्थिर किया कि प्रत्येक राज्य अपना नौजितमाल न्यायालय सगठन करने तथा इसकी प्रक्रिया नियमित करने क लिये स्वतन्त्र है। नौजितमाल न्यायालयो के कुछ अन्तर्राष्ट्रीय रूप हैं जो उनके कृत्यो के प्रकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि को युक्तिसगत रीति मे लगाने के कर्तव्य के परिणामस्वरूप हैं। अतः यह आवश्यक है कि एक ऐसी न्यायिक प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिये

जिसके बीच मे दोनो पक्षकारो को सुनवाई का मौका मिले तथा निर्णय न केवल राष्ट्रीय व्यवस्थाओ तथा हितो पर ही आधारित होने चाहिये वरन् अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर भी।

नौजितमाल न्यायालयो के कर्तव्य (Duties of Prize Courts) :— ये कर्तव्य लार्ड स्टोवेल द्वारा बहुत ही ललित भाषा मे स्वीडन के रक्षित जहाजो के बेडे मेरिया [(1799) I. C. Rob Adm. Rep., p 340] वाले मामले मे निम्नलिखित शब्दो मे वर्णित किए गए हैं :—

"अपना निर्णय देने मे मैं विश्वास करता हूँ कि एक क्षण के लिये भी मैंने अपनी स्मृति से यह बात दूर नही की है कि जिस पद पर मैं आसीन हूँ उसका कर्तव्य क्या है अर्थात् प्रासगिक तथा परिवर्तित सम्मतियो को न देना जिससे केवल विशिष्ट राज्य-हित के वर्तमान प्रयोजन ही सफल हो वरन् निष्पक्ष होकर वह न्याय देना जो राष्ट्रो की विधि बिना भेदभाव के स्वतन्त्र राज्यो मे फैलती है जिनमे कुछ तटस्थ होते हैं तथा कुछ युद्धस्थित। इसमे सदेह नही कि राष्ट्रो की ज्ञात विधि तथा रीति के अनुसार न्यायिक प्राधिकारी का आसन इस स्थान पर है जो युद्धस्थित का देश है लेकिन विधि का स्वय कोई स्थान नही है। यहाँ पर बैठने वाले व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि इस प्रश्न का निर्णय यहाँ पर बैठ कर ठीक-ठीक उसी प्रकार से करे जिस प्रकार कि वह इसका निर्णय स्टाकहोम मे बैठे करता;—ग्रेट ब्रिटेन की ओर से किसी प्रकार के कृत्रिम व्यवहार पर उसकी ओर से किसी दावे को मान न लेना जो वह उन्ही परिस्थितियो मे स्वीडन की ओर से न दिलाता तथा स्वीडन को कोई ऐसे कर्तव्य न सौपता जो वह उसी स्वरूप मे ग्रेट ब्रिटेन के भी होना न अगीकृत करे।"

लार्ड स्टावेल ने इस विषय को 'रेकवरी' (Recovery) वाल मामले [(6 C. Rob. 341 (1807)] मे और भी स्पष्ट किया है कि "यह स्मरण रखा जाय कि यह राष्ट्रा की विधि का न्यायालय है जा यहाँ ग्रेट ब्रिटेन के सम्राट् द्वारा प्रदत्त प्राधिकार से बैठा है। यह हमारे सहित अन्य राष्ट्रो का भी है तथा विदेशियो को इमसे जो माँगने का अधिकार है वह यह कि राष्ट्रों की विधि को हमारे राष्ट्रीय विधिशास्त्र से लिये गये सिद्धान्तो के प्रवेश किये बिना लागू करे।"

नौजितमाल न्यायालय की स्थापना (Location of Prize Courts) – नौजितमाल न्यायालय एक युद्धस्थित राज्य द्वारा एक तटस्थ प्रदेश मे तटस्थता की विधि द्वारा निर्धारित कर्तव्यो का गभीरता से भग किये बिना नही स्थापित किया जा सकता। लारेंस के शब्दो मे यदि युद्ध का एक पक्षकार यह प्रयत्न करे कि तटस्थ क्षेत्राधिकार वाले क्षेत्र के भीतर ऐसे न्यायालय स्थापित किये जाय तो वह

एक मित्र तथा शान्तिप्रिय राज्य के क्षेत्र मे सर्वोच्च प्रकार की सार्वभौमिकता को प्रयोग मे लाने के यत्न द्वारा तटस्थ की स्वतन्त्रता पर बड़ा भारी अत्याचार करता है। ऐसे न्यायालय युद्धस्थित राज्य द्वारा अपने क्षेत्र मे, अपने सैनिक दखल के अधीन क्षेत्र मे तथा एक मित्र राष्ट्र के प्रदेश मे उसकी अनुमति द्वारा स्थापित किये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय विधियाँ तथा उनके द्वारा प्रदत्त की जाने वाली विधियों मे उनकी स्थिति—नौजितमाल न्यायालयो का एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप है। वह इस अर्थ मे कि वे ऐसे सभी व्यक्तियो के लिये खुले हैं जिनके हित उससे प्रभावित हो रहे हो चाहे उनकी राष्ट्रीयता कुछ भी हो। इस विषय मे न्यायिक विचारधारा मे मतभेद है कि क्या नौजितमाल न्यायालय राष्ट्रीय विधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्थापित करते है? लॉरेंस की यह सम्मति है कि नौजितमाल न्यायालय राष्ट्रीय न्यायाधिकरण हैं जिनका अस्तित्व अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्थापना के प्रयोजन से है। उनका कथन है कि आधुनिक युग मे उससे उत्कृष्ट विचार यह है कि नौजितमाल न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नही है तथा इसके निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधि नहीं हैं चाहे वे उसी पर आधारित क्यो न हो। वे केवल अपने ही राष्ट्र द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं और केवल उसी राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी हैं। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय विधि उनके निर्णयो का स्रोत है, फिर भी निर्णय स्वय राष्ट्रीय विधि के अश हैं और ऐसी दशा मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि नही है, वरन्, यदि वे कोई नया नियम निर्धारित नही करते तो, वे केवल प्रमाण मात्र हैं। यदि वे कोई नया नियम निर्धारित करें और अन्य राज्य उन्हे अगीकृत कर ले तो वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नये नियम के स्रोत हो सकते हैं। लेकिन जब तक इस प्रकार अगीकरण न हो जाय यह नियम राष्ट्र-विधि ही रह जाता है। लॉरेंस का कथन है कि सब देश इस बात को स्वीकार करने के लिये सहमत हो जायगे कि उनके नौजितमाल न्यायालय उन मामलो मे से जो उनके समक्ष निर्णय के लिये आवें, राष्ट्रो की विधि के नियमों को लागू करने के लिये बाध्य हैं और अधिकाश मामलो मे इस विषय मे व्यवहार सिद्धान्त के अनुकूल हैं। जब तक मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति यही रहनी है, जैसी कि इस समय है, अत्यन्त सत्यनिष्ठ तथा योग्य न्यायाधीश भी ऐसा निर्णय देने के लिये बाध्य हो सकते हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय प्रक्रिया के स्वीकृत सिद्धान्तो तथा नियमों के विरुद्ध हो, जब कि कोई ऐसा विधान उन पर लाद दिया जाय जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध हो। यह भी सभव है कि उनके लिये अपने को जातीय पक्षपातो अथवा व्यावसायिक प्रशिक्षण के प्रभावों से अलग करना पूर्णरूप से असभव हो। उनका आगे कथन है कि यह मान लिया गया है कि नौजितमाल न्यायालय अन्त-

र्राष्ट्रीय विधि स्थापित करते हैं, तथा वे ऐसा ही करते हैं जब तक कि उनके अपने राज्यो के सम्यक् रूप मे नियुक्त प्राधिकारीगण उनको इसके स्थानो मे उससे असगत नियमो का प्रवर्तन करने के लिये न कहे। सौभाग्यवश ऐसे हस्तक्षेप बहुत ही कम होते हैं और इस प्रकार यह देखा गया है कि नौजितमाल न्यायालयो के निर्णयो का सम्मान उनके न्यायाधीशो की विद्वत्ता, योग्यता, तथा निष्पक्षता की विख्याति के अनुरूप होता है।

ओपेनहेम का यह निश्चित विचार है कि नौजितमाल न्यायालय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नही वरन् राष्ट्र विधि द्वारा सस्थापित एक राष्ट्रीय न्यायालय है। प्रत्येक राज्य के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा बाधित है कि अपने नौजितमाल न्यायालयो के लिये केवल ऐसी ही सविधि तथा विनियम बनावे जो अन्तरर्राष्ट्रीय विधि से सगत हो। उनका कथन है कि यह बात कि ब्रिटेन के नौजितमाल न्यायालय पार्लियामेंट के अधिनियम को लागू करने के लिये बाध्य हैं, स्पष्ट रूप से यह प्रकट करता है कि जो विधि वे लागू करते हैं वे राष्ट्र विधि हैं, यद्यपि सारांश मे यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि है जो राष्ट्र विधि द्वारा व्यवहार मे लाई गई हैं तथा जिसका निराकरण पार्लिया-मेंट के किसी ऐसे अधिनियम अथवा किसी आर्डर इन-कौन्सिल द्वारा नही हुआ है जिससे उसके द्वारा प्रदत्त अधिकार मे कमी होती।

पकडे गये तटस्थ जहाजो का नौजितमाल न्यायालयो द्वारा परीक्षण करना राष्ट्रीय विषय है तथा जहाजो के तटस्थ स्वदेशी राज्यो का प्रतिनिधित्व परीक्षण मे नही होता है। इस प्रकार यद्यपि नौजितमाल न्यायालयो की विधिशास्त्र सम्बन्धी स्थिति उनके कृत्यो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय है फिर भी वे सस्थापन और सगठन में राष्ट्राय प्रकृति के हैं।

पिट कोबेट का कथन है कि यह नौजितमाल न्यायालय ऐसा विषय नही है कि यह वह जाँच करे कि क्या उस विधि को जिसको यह लागू करता है राष्ट्रीय विधि द्वारा अनुसरण किया गया है, अथवा नही। नौजितमाल न्यायालयो के निर्णय शत्रु तथा तटस्थ राज्यो पर समान तौर से बाध्यकारी हैं तथा नौजितमाल न्याया-लय विदेशी प्रजाजनो पर अपना क्षेत्राधिकार नागरिक प्राधिकारियो से नही, जो इसे प्रदान करने में असमर्थ हैं वरन् राज्यो की सम्मति से प्राप्त करते हैं। उनके अनुसार नौजितमाल न्यायालय निश्चित रूप से राष्ट्रीय न्यायाधिकरण हैं, लेकिन वे राष्ट्रीय विधि का प्रवर्तन करने के प्रयोजन से नही, अन्तर्राष्ट्रीय विधि-स्थापना के प्रयोजन से बनाये जाते हैं।

फॉक्स (Fox) (Edwards' Adm. Rep., p. 312) के वाद मे, जिसका निर्णय १८११ में किया गया था, लॉर्ड स्टोवेल (Lord Stowell) का कथन था कि

"वाद-विवाद के प्रसग मे एक प्रश्न उठाया गया है कि न्यायालय का परिषद के ऐसे आदेशो के प्रति क्या कर्त्तव्य होगा जो कि राष्ट्रो की विधि के प्रतिकूल हो ? एक ओर यह तर्क किया गया है कि न्यायालय प्रत्येक परिस्थिति मे परिषद् के आदेशो का पालन करने के लिए बाध्य होगा, और दूसरी ओर यह कि न्यायालय विशिष्ट विवाद की परिस्थितियो के अनुसार, यहाँ तक कि परिषद् के आदेशो की उपेक्षा करते हुये भी राष्ट्रो की विधि के नियम को व्यवहृति प्रदान करने के लिए बाध्य होगा।" "यह न्यायालय अन्य देशो की जनता पर विभिन्न ऐसे सम्बन्धो के बीच, जिसमे कि यह देश या सरकार रखी जाय, राष्ट्रो की विधि के प्रशासन के लिए बाध्य है। यही प्रशासन दूसरे देशो द्वारा भी अपनी जनता के सम्बन्ध मे माँगा जा सकता है और यदि न प्राप्त कर सके तो वे देश शिकायत कर सकते हैं। यह इसकी एक अलिखित विधि है, इसका साक्ष्य इसके निर्णयो के क्रम मे मिला है और इसका सग्रह सभ्य राज्यो की प्रथाओ से किया गया है। साथ ही साथ यह अक्षरश सत्य है कि इस देश के गठन द्वारा परिषद् मे 'किग' इस न्यायालय के ऊपर विधायी अधिकारो से युक्त हैं और उसे शक्ति है कि आदेश और निर्देश कर सके, जिनके पालन के लिये यह न्यायालय बाध्य है। यही न्यायालय की लिखित विधि का रूप गठित करते हैं। ये दो सूत्र, कि न्यायालय राष्ट्रो की विधि के प्रशासन के लिए बाध्य है, और यह कि वह परिषद् मे 'किग' के आदेशो के प्रवर्तन के लिये बाध्य है, एक दूसरे से सर्वथा असगति मे नही हैं, क्योकि ये आदेश और निर्देश प्रस्तुत परिस्थितियो मे इसकी अलिखित विधि के सिद्धान्तो के लिए स्वयमेव आत्मार्पित हैं।"

इस सम्बन्ध मे प्रमुख मामला 'जमोरा' (Zamora) [(1916) 2 A.C 77] पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है —

प्रथम महायुद्ध के बीच सन् १६१५ मे 'जमोरा' नाम का एक स्वीडन का वाष्पचालित जहाज जो न्यूयार्क से स्टाकहोम को अनाज तथा ताँबा लाद कर ले जा रहा था, एक ब्रिटिश युद्धपोत द्वारा रोककर पकडा गया तथा नौजितमाल न्यायालय के मार्शल की अभिरक्षा मे सुपुर्द किया गया। इसमे सदेह नही कि ताँबा विनिषिद्ध वस्तु था लेकिन जहाज प्रकट रूप मे एक तटस्थ बन्दरगाह को जा रहा था। अतः प्रश्न जो विचार के लिये उपस्थित हुआ वह यह था कि क्या लदा हुआ माल वास्तव मे शत्रु के लिये अभिप्रेत था तथा उसके निर्णय पर मामले का अन्तिम परिणाम आश्रित था, अर्थात् क्या जहाज अथवा उसमे लदा हुआ माल विधि-अनुकूल नौजितमाल है या नही ?

इस प्रश्न पर कोई निर्णय न होने के कारण प्रोक्युरेटर-जेनरल की प्रार्थना पर प्रेसीडेंट ने सन् १६१४ के ब्रिटेन के नौजितमाल न्यायालय के नियमो के अन्तर्गत

एक आदेश दिया जिसके द्वारा युद्ध विभाग को यह अनुमति दी गई कि तांबे को अधियाचित करे किन्तु इस प्रतिज्ञा के अन्तर्गत कि आंके हुए मूल्य का न्यायालय मे दे दे। यह आदेश स्वीडन की कम्पनी तथा माल पाने वालो द्वारा अपील किये जाने पर उलट दिया गया। बोर्ड का निर्णय घोषित करते हुये लार्ड पार्कर ने यह मत प्रकट किया कि नौजितमाल न्यायालय का प्रारम्भिक कर्त्तव्य तथा कृत्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि स्थापित करना है। नौजितमाल न्यायालय पालियामेंट के अधिनियम से बाध्य है लेकिन यह किंग-इन-कौंसिल के किसी ऐसे आदेश से बाध्य नही है जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल हो अथवा जिसका आशय उसके किसी नियम को परिवर्तित करने का हो; यद्यपि अनुमानतः नौजितमाल न्यायालय पालियामेंट के अधिनियम को अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रतिक्रमण करके अनुसरण करने को बाध्य है। अत नौजितमाल न्यायालय पालियामेंट के अधिनियमो से बाध्य है, किन्तु यदि वे राष्ट्रो की विधि से असगत हो, तो नौजितमाल न्यायालय फिर अन्तर्राष्ट्रीय विधि नही प्रवर्तित करेंगे। उस क्षेत्र का जो ऐसे अनुबन्धो के अन्तर्गत आते हो, नौजितमाल न्यायालय रूप के उचित कृत्यो से वंचित कर दिया जायगा। यह भी मान लिया गया कि यह न्यायालय ऐसे कार्यकारी आदेशो की उपेक्षा न करेगा जिससे सम्राट के अधिकार तटस्थ अथवा शत्रु के पक्ष मे क्षीण होते हो, तथा उसको उन्हे प्रवृत करना चाहिये था।

विचारण के आलम्बित रहने तक नौजितमाल न्यायालय की अभिरक्षा मे स्थित सम्पत्ति के विक्रय तथा प्राप्त करने के सम्बन्ध मे उसकी शक्ति के विषय मे यह कहा गया कि नौजितमाल न्यायालय का प्रधान कर्तव्य सम्पत्ति को उन व्यक्तियो के हस्तगत करने के लिये सुरक्षित रखना है जो उस पर अपना स्वत्व स्थापित कर सके। न्यायालय को अन्तर्भूत शक्ति के अधीन सम्पत्ति पक्षकारो के हितो मे उस दशा मे बेची जा सकती है, यदि वह नाशवान् प्रकृति की हो। यह भी मान लिया गया कि युद्ध-स्थित शक्ति को अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा जहाजो तथा माल को जो नौजितमाल न्यायालय की अभिरक्षा मे इस प्रश्न के निर्णय के आलम्बित रहने तक था कि क्या उनको दोषी ठहराया जाय अथवा उन्मोचित कर दिया जाय, अधियाचित करने का अधिकार है, लेकिन ऐसा अधिकार परिसीमित है। प्रथम यह कि जहाज अथवा माल राज्य की सुरक्षा, युद्ध को चलाने अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा से सम्बन्धित तथा अन्य विषयो से सम्बन्धित अन्य मामलो के लिये अत्यन्त आवश्यक रूप से अपेक्षित होना चाहिये। द्वितीय परीक्षण के लिये एक वास्तविक प्रश्न होना चाहिये। तृतीय नौजितमाल न्यायालय को प्रार्थना-पत्र देकर अधिकार प्रवर्तित करना चाहिये जो इस बात को न्यायिक रूप से निश्चित करे कि क्या, उस मामले

की उन विशिष्ट परिस्थितियो मे, अधिकार प्रयोग किया जा सकता है। इस विचाराधीन मामले मे यह सिद्ध न होने पर कि ताँबा राज्य की प्रतिरक्षा अथवा युद्ध को चलाने के लिये अत्यन्त आवश्यक था, न्यायालय ने यह निर्णय किया कि अधियाचन के आदेश न्यायोचित नही हैं।

नौजितमाल का विनाश (Destruction of Prizes) :—यह सभी लोगो द्वारा स्वीकार किया जाता है कि, जबकि पकडे गये जहाज और माल शत्रु की सम्पत्ति हैं, और उनको कुछ कारणो से किनारे तक ले आना खतरे से खाली नही हैं तो वे वही बिना किसी शिकायत का अवसर दिये नष्ट किये जा सकते हैं। यह सिद्धान्त कि आवश्यकता विनाश को भी न्यायोचित कह देती हैं, बहुत से विवादो मे ब्रिटिश तथा फ्रान्सीसी नौजितमाल व्यापारियो द्वारा प्रवर्तित किया गया है। यही नियम तटस्थ राज्यो की सम्पत्ति के विषय मे लागू नही होता। तटस्थ राज्य अपनी पकडी हुई सम्पत्ति का दावा कर सकते हैं और क्षतिपूर्ति के लिए वह राज्य जिम्मेदार होगा जिसने पकडा है।

जर्मन नौजितमाल न्यायालय (German Prize Courts) :—इस सम्बन्ध मे दोनो महायुद्धो मे जर्मन नौजितमाल न्यायालयो द्वारा अनुसरण किये गये विधि के नियम की ओर ध्यान आकर्षित करना उपयुक्त होगा। बर्लिन के सर्वोच्च नौजितमाल न्यायालय ने यह नियम निर्धारित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय न्याय के सिद्धान्त उनके नौजितमाल न्यायालयों मे केवल तभी दशा मे स्वीकृति प्राप्त कर सकते हैं जब उनके राष्ट्रीय विधान उन्हें अपने मे समावेशित कर लें, तथा यह कि नौजितमाल न्यायालय का कृत्य राष्ट्रीय विधि को लागू करना है, न कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि को सक्षेप मे जर्मन नौजितमाल न्यायालयो ने सर्वदा यह माना है कि राष्ट्रीय विधि को इस बात की अपेक्षा किये हुये बिना लगाया गया है कि क्या वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वर्तमान सिद्धान्तो के अनुरूप हैं अथवा नही ? इसके उपरान्त जर्मन नौजितमाल न्यायालयो के निर्णयो में राष्ट्रीय विधि पर आधारित निर्णयो के रूप मे होने पर विवादपूर्ण विषय अथवा उस पर उठाये गये विषयों पर कोई विस्तृत विवेचना नहीं पाई जाती, लेकिन वे अपने परिणाम पर 'परिणाम से कारण' (a priori) वाली रीति से पहुँचते हैं। वे अधिकांश विवक्हीन तथा समर्थनरहित निर्णय हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय नौजितमाल न्यायालय की आवश्यकता (Need for International Prize Court) :—लारेंस का कथन है कि यह तथ्य गम्भीर दोष प्रकट करता है कि नौजितमाल न्यायालय राष्ट्रीय न्यायालय है। उनके द्वारा युद्धरत राज्य व्यवहारतः अपने ही मामले में न्यायाधीश हो जाते हैं। यह

आवश्यक नही रहता कि उन योग्य व्यक्तियो पर जो उनमे न्यायाधीश के पद पर आसीन होते हैं, जानबूझ कर पक्षपात का दोषारोपण किया जाय, लेकिन अज्ञात रूप में पक्षपात का होना कठिनाई से ही रुक सकता है। यह सत्य है कि युद्ध के दबाव मे नौजित-माल न्यायालय वह असगत पक्षपात का रूप धारण करने की स्थिति मे न हो, जो एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से आशा को जाती है। इन दोषो का उपचार करने के लिए ग्रेट ब्रिटेन तथा जर्मनी दोनो ने सन् १६०७ के हेग सम्मेलन के समक्ष एक अन्तर्राष्ट्रीय नौजितमाल न्यायालय सस्थापित करने की योजना रक्खी। यद्यपि यह प्रस्ताव उस अभिसमय के १२वें भाग का अग बना और वहाँ पर एकत्रित अधिकाश शक्तियो द्वारा हस्ताक्षरित किया गया तथापि यह उन राज्यो द्वारा सत्यापित नही किया गया, मुख्यत इस आधार पर कि समुद्री विधि पर्याप्त रूप मे उपलब्ध नही थी जो अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सुचारु रूप से सचालन के लिये मूलरूप मे आवश्यक है। प्रस्ताव की उत्पत्ति तथा उसके सविधान की बिना विवेचना किये हुये यह नि.शक रूप से कहा जा सकता है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक विकास का मार्ग जो सम्भव है, वह यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को युद्ध के बीच समुद्रीय अभिग्रहणो के सम्बन्ध मे निर्णय देने वाले नागरिक न्यायालयो के निर्णयो से अपीले सुनने का क्षेत्राधिकार प्रदान किया जाय।



अध्याय ४२

हवाई युद्ध की विधियाँ

(Laws of Air Warfare)

द्वितीय विश्वयुद्ध के मध्य हीरोशीमा तथा नागासाकी में सन् १६४५ मे अणुबम के प्रयोग ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि की हवाई युद्ध सम्बन्धी धारणा मे ही पूर्ण परिवर्तन कर दिया। इसके द्वारा किये गये निर्मम विनाश तथा अपूर्व विध्वस ने सभ्य युद्ध के सम्पूर्ण नियमो को मिट्टी मे मिला दिया। हाइड्रोजन बम के आविष्कार के उपरान्त, जो कि अणुबम से दसगुना अधिक शक्तिशाली माना जाता है, हवाई युद्ध ने और भी अधिक महत्व प्राप्त कर लिया है तथा इससे सम्बन्धित लौकिक नियम प्राय. अतीत की स्मृति-मात्र रह गये हैं। इस तीव्र परिवर्तन के होते

हुए भी यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न सम्मेलनो मे निर्धारित सिद्धान्तो का अध्ययन किया जाय ।

ब्रसेल्स सम्मेलन (The Brussels Conference) :—रूस के प्रशासक की प्रेरणा से सन् १८७४ मे ब्रसेल्स मे बुलाए गये सम्मेलन मे युद्ध की विधि तथा रूढ़ियाँ निर्धारित की गईं । यद्यपि ये नियम भिन्न-भिन्न राज्यो पर बन्धनकारी नही थे तथापि वे अत्यधिक महत्व के थे, क्योकि उनमे से अनेक को अधिकाश सभ्य राज्यो द्वारा इस क्षेत्र मे स्थित अपने पदाधिकारियो के अनुदेश के लिये निकाले हुए सार-सग्रह मे स्थान मिला । नियमो मे यह निर्धारित किया गया कि नगर तथा गृहो अथवा ग्रामो के समुदायो पर जो खुले अथवा शान्तिपूर्ण थे, आक्रमण अथवा बमवर्षण नही किया जा सकता । यदि कोई नगर, किला अथवा ग्राम प्रतिरक्षित हो तो आक्रमणकारी दलो का नायक प्राधिकारियो को सावधान करने के लिए जो कुछ उसकी शक्ति में हो, करेगा । यह भी निर्धारित किया गया कि धर्म, कला, विज्ञान तथा उदारता के कार्यों के लिए समर्पित आवासो, अस्पतालो तथा ऐसे स्थानो को जहाँ अस्वस्थ तथा घायल एकत्र हों, बचाने के लिए यथासम्भव सब आवश्यक उपाय काम मे लाए जायँगे इस प्रतिबन्ध के साथ कि वे उस काल मे सैनिक प्रयोजनो के लिये उपयोग न किए जाँय ।

हेग सम्मेलन (Hague Conference) :—सन् १८९९ के प्रथम हेग सम्मेलन ने हवाई युद्ध के सम्बन्ध मे निश्चित नियमो की व्यवस्था करने का प्रयास किया । अनुच्छेद २५ मे शान्तिपूर्ण नगरो, ग्रामो, आवासो अथवा भवनो पर आक्रमण अथवा बमवर्षण निषिद्ध किया गया । सन् १९०७ की प्रतिज्ञा से सलग्न हेग विनियमो द्वारा प्रक्षेपणो अथवा विस्फोटक पदार्थों को गुब्बारो से अथवा इसी प्रकार की अन्य रीतियो से फेकना निषिद्ध किया गया । प्रक्षेपणो का प्रयोग, जिसका उद्देश्य केवल दम घोटने वाली अथवा हानिकारक गैसो का फैलाना था तथा ऐसी गोलियो का प्रयोग भी जो मनुष्य के शरीर मे फैलती अथवा चिपटी जाती थी, निषिद्ध किया गया । अभिसमय मे यह भी निर्धारित किया गया कि तटस्थ राज्य यह देखने के लिए बाध्य हैं कि युद्धस्थित के मध्य तटस्थ क्षेत्र के ऊपर कोई हवाई लड़ाई न हो ।

हेग विनियमो ने प्रक्षेपणो अथवा विस्फोटक पदार्थों को वायुयान से फेंकने वाले निषेधो को दुहराया तथा हेग विनियम के अनुच्छेद २५ मे और भी जोड़ा जिसके द्वारा शान्तिपूर्ण नगरो, ग्रामो, आवासो, अथवा भवनो पर आक्रमण अथवा बमवर्षण 'किसी भी प्रकार से' निषिद्ध किया गया ।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सस्था ने मैड्रिड मे सन् १९११ मे यह सिद्धात स्वीकृत किया कि "हवाई युद्ध की अनुमति है, लेकिन अनुबन्ध यह है कि इससे शान्तिप्रिय

जनता अथवा उसकी सम्पत्ति को स्थलीय अथवा समुद्री युद्ध से और अधिक भय उत्पन्न न हो।"

प्रथम महायुद्ध (First World War)—प्रथम महायुद्ध मे युद्धस्थित मे से प्रत्येक ने यह दावा किया कि उन्होने अपने उडाको को यह निर्देश दे दिया है कि वे अपना आक्रमण केवल सैनिक लक्ष्यो तक ही सीमित रक्खें, लेकिन उडाको के लिये इन निर्देशो का अक्षरश. पालन करना असम्भव था क्योकि अधिक ऊँचाई से तथा तीव्र गति मे ठीक-ठीक निशाना मारना कठिन होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि लडने तथा न लडने वालो का भेद प्राय लुप्त हो गया तथा युद्ध के अन्त मे सैनिक लक्ष्यो के क्षेत्र क बाहर खुले हुये नगरो पर बम बरसाना प्राय एक सामान्य घटना हो गई।

वाशिंगटन सम्मेलन (Washington Conference)—प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि युद्ध मे हवाई जहाजो के उपयोग सबधी विनियम परिस्थिति की आवश्यकताओ को पूरी करने के लिये सम्पूर्णत अपर्याप्त थे। अतः शस्त्रो को सीमित करने के लिये सन् १६२२ म वाशिंगटन मे हुये सम्मेलन मे जिसमे सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, इटली, जापान तथा हालैंड सम्मिलित थे, एक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया कि विधि वेत्ताओ का एक आयोग नियुक्त किया जाय जो हवाई युद्ध की समस्या पर विचार करे, और वाशिंगटन सम्मेलन द्वारा नियुक्त वायुयान समिति ने सन् १६२३ मे प्रस्तावित वायुयुद्ध सबधी नियमो की सहिता की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओ का वर्णन किया। यद्यपि सहिता सत्यापित नही की गई तथापि इसकी भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ स्थल तथा हवाई युद्ध मे वायुयान के उपयोग के लिये पथ-प्रदर्शक का कार्य करेगी।

वायु-युद्ध नियम (सन् १६२३) को निम्न रूप में सक्षिप्त किया जा सकता है:—

१. आत्मरक्षा के लिये भी व्यक्तिगत वायुयानो का शस्त्रीकरण पूर्ण रूप से निषिद्ध है।

२. नागरिक जनता को भयभीत करने के लिये बमवर्षण, सैनिक लक्षणो से रहित व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश या उसको अथवा लडाई न लडने वालो को आघात करना निषिद्ध किया गया।

३. वस्तु अथवा धनरूप मे चन्दे की माँग की पूर्ति को बाध्य करने के प्रयोजन से हवाई बमवर्षण निषिद्ध है।

४. हवाई बमवर्षण केवल उसी दशा म वैध है जब कि यह ऐसे सैनिक लक्ष्यो पर किया जाय, जिनका विनाश युद्धस्थित के लिय एक स्पष्ट सैनिक लाभ हो, उदा-

हरणार्थ सैनिक संस्थापन, गोला बारूद के कारखाने, यातायात के मार्ग जो सैनिक प्रयोजनो के लिये उपयोग मे लाये जाँय आदि।

५ हवाई बमवर्षण उस दशा मे भी वैध नही है जब यह ऐसे सैनिक लक्ष्यों पर किया जाय जिसको कि नागरिक जनता पर विवेकरहित बम बरसाये बिना नही त्याग किया जा सकता।

६. स्थल सेना के कार्यकारी क्षेत्र के अत्यन्त निकट पड़ोस के नगर, पुर तथा भवनो पर बमवर्षण निषिद्ध है।

७. उस क्षेत्र के जिसमे स्थल-सेना कार्य कर रही हो, अत्यन्त सन्निहित क्षेत्र पर बम बरसाने की केवल उसी दशा में अनुमति है, जब इस बात का युक्ति-संगत अनुमान हो कि सैनिक एकत्रीकरण पर्याप्त रूप से इतना प्रमुख है, कि ऐसा बमवर्षण न्यायोचित ठहराया जा सके।

८ ऐसे भवन जो सार्वजनिक पूजा, कला, धर्म, विज्ञान तथा उदारता के लिये समर्पित हैं तथा ऐतिहासिक स्मारक तथा शरणार्थियो के लिये अस्पताल उन्मुक्त है।

९. युद्ध तथा तटस्थता की विधियाँ जो भूमि संबधी सेनाओ के लिए लागू हैं, वही हवाई युद्ध के लिये भी लागू हैं।

१०. एक युद्धस्थित राज्य अपने पदाधिकारियो अथवा सैनिक दलो द्वारा उपर्युक्त नियमो के सम्बन्धो के उल्लंघन के कारण व्यक्तियो अथवा सम्पत्ति को की गई हानियो के लिए क्षतिपूर्ति करने के लिए बाध्य हैं।

सन् १९२५ के जेनेवा के सलेख (protocol) ने युद्ध मे गैस अथवा कीटाणुओ का प्रयोग निषिद्ध किया।

निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग ने जुलाई सन् १९३२ मे एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमे यह व्यवस्था की गई थी कि नागरिक जनता के विरुद्ध हवाई आक्रमण पूर्ण रूप से निषिद्ध रहेगा।

अयोधियों की स्थिति (*Position of Non-combatants*) :— निःशस्त्रीकरण सम्मेलन के सामान्य आयोग ने जुलाई १९३२ में एक प्रस्ताव स्वीकृत किया कि नागरिक जनता पर हवाई आक्रमण पूर्णतया निषिद्ध रहेंगे। द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व अयोधियो की यह उन्मुक्ति कि उन पर हवाई आक्रमण कदापि नही किया जायगा, युद्धविधि के एक प्रवर्तित सिद्धान्त के रूप मे मानी जाती थी। श्रोपेनहेम ने तीन बातों का उल्लेख किया है जिनके कारण युद्ध-विधि के इस प्रवर्तित सिद्धान्त को जबर्दस्त धक्का लगा—(क) आधुनिक युद्ध-विधि का विस्तार तथा परिवर्तित युद्ध-ढंग जिसमें योधियों और अयोधियो का कोई भेद ही नहीं रह गया,

(ख) यह निर्णय करने की कठिनाई कि सैनिक उद्देश्य वस्तुत: किस कृत्य को कहना चाहिए जिससे कि उसके विरुद्ध सीधी कार्यवाही की जा सके; और (ग) हवाई बमवर्षा के सम्बन्ध में प्राविधिक कठिनाई (technical difficulty) जो कि शत्रुतापूर्ण कार्य के प्रभाव वाले अभीष्ट स्थान को चुनने या आक्रमण के निश्चित स्थान को निर्धारित करने के प्रसग मे है।

लीग की सभा ने सितम्बर १९३८ के १९वें अधिवेशन मे निम्नलिखित सिद्धान्त स्वीकार किया था :—नागरिक जनता पर जानबूझकर बमवर्षा करना अवैध है। हवाई बमवर्षा का उद्देश्य अवश्य ही सैनिक होना चाहिए और वह भी अभिज्ञान के योग्य हो। वहाँ भी, सैनिक उद्देश्य से बमवर्षण इस ढग से होना चाहिए कि आसपास की नागरिक जनता को कोई क्षति न पहुँचे।

द्वितीय विश्व-युद्ध (Second World War) :—द्वितीय विश्वयुद्ध मे हवाई युद्ध के नियमो का घोर तिरस्कार किया गया। सन् १९३९ में पालैण्ड के वारसा तथा अन्य नगरो पर विवेकशून्य बमवर्षण द्वारा युद्ध के नियमो का पूर्ण रूप से उल्लंघन किया गया। इसके उपरान्त मई १४ सन् १९४० को तटस्थ नगर रौटरडम पर विनाशकारी बमवर्षण हुआ। जर्मन हवाई जहाजो द्वारा हौलैंड के तट में स्थित अड्डो से राकेट बमो के प्रयोग द्वारा ब्रिटेन के लदन तथा अन्य नगरो पर जो अवर्णनीय दु खद तथा विनाशकारी बमवर्षण किये गये उससे भी यही बात प्रकट हुई कि युद्धस्थित राष्ट्र युद्ध मे विजय प्राप्त करने के लिए कितने निम्न स्तर तक उतर सकता है। ब्रिटेन तथा अमेरिका के हवाई बेडो ने भी अपनी पारी मे जर्मन नगरो पर उसी प्रकार विवेक-शून्य तथा क्रूर बमवर्षण किया। सारी लडाई युद्ध के नियमो का विचार त्याग करके लडी गई, तथा लडाई न लडने वाले निर्दयता से मारे गये और सार्वजनिक पूजा, कला तथा धर्म के लिये समर्पित भवनो तथा ऐतिहासिक स्मारको पर भी बम बरसाये गए। इन सब से अधिक भयावह अमेरिका द्वारा अगस्त ६, तथा ९, सन् १९४५ को हीरोशीमा तथा नागासाकी पर अणुबम का प्रयोग था, जो लडाई न लडने वालो को बिना उचित चेतावनी दिये हुये तथा उन वैज्ञानिको के, जिन्होंने इस योजना मे कार्य किया था अनुरोध का उल्लंघन करके किया गया था। केवल हीरोशीमा पर ही एक अणुबम गिराये जाने के प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप प्राय: ६०,००० जापानी स्त्री, पुरुष तथा बच्चे मारे गये, लगभग १,००,००० जनता घायल हुई, तथा प्राय. एक सारे बन्दरगाह का, जिसकी जनसख्या २,५०,००० थी, धमाके से अथवा अग्नि से विध्वस हो गया। थोडे ही दिनो के उपरान्त अणुबमों क गिराने के परिणामस्वरूप होने वाले विनाश के कारण जापान ने हार मान ली तथा द्वितीय महायुद्ध समाप्त हो गया।

अणुबम के प्रयोग की नैतिकता पर विचार (Ethics of Atom Bomb) —अणुबम का प्रयोग कहाँ तक नीतियुक्त है इस पर बहुत ही गरमागरम विचार-विमर्श हुआ। यह एक अत्यन्त नृशस कार्य था। किसी भी दशा मे जापानियो को अमेरिका द्वारा इसके प्रयोग के किये जाने के विचार की तथा इससे होने वाली भीषण कांड की चेतावनी पहले से दी जानी चाहिये थी।

अणुबम का प्रयोग अतीत काल से सभ्य युद्ध को अनुशासित करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का उल्लघन था। इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा मानवता के विरुद्ध एक अपराध है। श्री जवाहरलाल नेहरू का कथन है कि अणुबम उससे सलग्न तथा उसमे अन्तर्हित भयकरता के अतिरिक्त मूर्तिमान पाप का एक प्रतीक हो गया है, तथा यदि परिस्थितियो के दबाव के कारण ससार इसका प्रयोग करने के लिये बाध्य हुआ तो इसका यह अर्थ होगा कि ससार ने अपने-आप को पूर्णरूप से पाप के हाथो समर्पण कर दिया है।

किसी राष्ट्र का युद्ध में अपने शस्त्रो को प्रयोग करने का अधिकार इस उत्तर दायित्व के अन्तर्गत सीमित है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे सम्मिलित युद्ध के नियमो का पालन करे। यह स्मरण रखने योग्य है कि जर्मनो पर प्रथम महायुद्ध मे जब उन्होंने पनडुब्बियो का प्रयोग किया अन्तर्राष्ट्रीय विधि को उल्लघन करने का आरोप लगाया गया क्योकि उन नवीन आविष्कृत वाहनो का प्रयोग युद्ध की विधियो से असगत था। जर्मनो ने यह तर्क प्रस्तुत किया था कि नये शस्त्रो के आविष्कार की यह माँग है कि युद्ध की पुरानी विधियो का पुनरीक्षण किया जाय। राजनीतिज्ञ तथा विधि-वेत्ताओ दोनो द्वारा यह तर्क न्याय विरुद्ध माना गया। युक्ति तथा तर्क मे कितनी ही खीचातानी की जाय फिर भी अमेरिका वाले अब उस विशेषाधिकार का दावा नही कर सकते जिसे कि जर्मनो को सही रूप से अस्वीकृत किया गया। अणुबम, हाइड्रोजन अथवा वी-बमो को बिना अमर्यादित विनाश तथा अव्यवस्थित हनन किये हुये उपयोग मे नही लाया जा सकता जो युद्ध के सब नियमो के विरुद्ध है। अत हीरोशीमा तथा नागासाकी का प्रमाण पूर्व दृष्टान्त क रूप मे नही दिया जा सकता तथा वे एक पूर्णरूप से अवैध शस्त्र को वैध रूप नही दे सकते।

अणुबम या एन बम का प्रयोग सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर की प्रकृति के प्रतिकूल है। यह नभ युद्ध कौशल के नियम, १६२३, के भी विपरीत है। इस नियम के अन्तर्गत स्पष्टत. उपबन्धित है कि नभ बमवर्षा केवल तभी वैध हो सकती है, जब कि किसी सैनिक प्रयोजन से की गई हो और जिसके विनाश से युद्ध सलग्न राष्ट्र को निश्चित सैनिक अनुलाभ मिले, जैसे सैनिक व्यवस्था, शस्त्र-निर्माण फैक्टरियो, सैनिक प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त सचार के मार्ग, आदि। नि शस्त्रीकरण के सामान्य

सम्मेलन द्वारा भी जुलाई १९३२, मे यह प्रस्ताव स्वीकार किया गया था कि नागरिक जनता पर नभ-आक्रमण निषिद्ध कर दिये जांय। जहाँ तक अणुबमो का प्रश्न है, यदि उन्हें सैनिक प्रयोजनो से ही गिराया गया, तब भी यह नही कहा जा सकता कि उनका फैलाव या प्रभाव केवल उन्ही उद्देश्यो तक सीमित और नियन्त्रित रहेगा।

मृत्यु की वर्षा करने वाले ये विनाशक अस्त्र, यू० एन० चार्टर के प्रतिकूल होने के साथ ही स्वयं हमारी अन्तः चेतना के प्रतिकूल हैं, क्योकि इन अस्त्रो के प्रयोग से सदैव के लिये राष्ट्रो मे एक आतंक सा छा जाता है और उस एक राष्ट्र के साथ और भी ऐसे राष्ट्र प्रतिद्वन्दिता मे खडे होत हैं जो राष्ट्र का अतुल धन उस मृतकारी अस्त्रो के निर्माण मे झोक देते हैं। यह उस समय होता है, जब कि उसी राष्ट्र के बच्चे पौष्टिक आहार के बिना मरते हैं, और जनता आवास, स्वास्थ्य और काम की कमी के कारण त्राहि-त्राहि करती रहती है।

अणुशक्ति आयोग—संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा ने जनवरी २४, सन् १९४६ को एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसके द्वारा एक अणुशक्ति सम्बन्धी आयोग स्थापित किया गया जिसका उद्देश्य शान्ति के प्रयोजनो के लिये अणुशक्ति का नियन्त्रण तथा राज्यो की ओर से उल्लंघन तथा छल-कपट से बचाने के लिये निरीक्षण रूपी प्रभावपूर्ण संरक्षण-स्थापना के लिये सुझाव देना था। सन् १९४८ मे साधारण सभा ने आयोग के प्रतिवेदनो पर विचार किया तथा रूस के इस प्रस्ताव को अस्वीकृत किया कि अणुअस्त्रो के निषेध के लिये तथा अणुशक्ति पर प्रभावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण स्थापित करने के लिये अभिसमयो का मसौदा बनाया जाय। सभा ने आयोग के सामान्य निष्कर्षों को स्वीकृत किया। मुख्य कठिनाई यह है कि संयुक्त राज्य अमेरिका मे जो बम बन चुके हैं उन पर अधिकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की प्रतिभूति न देकर वह उनका बराबर उत्पादन करते रहना छोडने को तैयार नही है। दूसरी ओर रूस अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की योजना स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नही है क्योकि इससे उसके सार्वभौमिकता के सिद्धान्त में बट्टा लगता है।

शत्रु के नागरिक जहाज पर आक्रमण (Attack on Enemy Civil Aircraft)—हवाई युद्ध में इस बात का भय बना रहता है कि शत्रु के नागरिक हवाई जहाजो से आक्रमण न हो जांय। इस भय को दृष्टि म रखते हुये हेग अधिनियम मे यह व्यवस्था दी गई है कि युद्ध-स्थिति असैनिक जहाज यदि शत्रु के क्षेत्राधिकार की सीमा मे उड रहे हो तो उन्हे मार गिराया जा सकता है।

———

अध्याय ४३

युद्ध-अपराध

(War Crimes)

युद्ध-अपराध किस प्रकार से स्थापित होता है :—युद्ध-अपराध की परिभाषा करने में एक कठिन समस्या उपस्थित होती है क्योंकि युद्ध के नियमों का प्रत्येक उल्लंघन युद्ध-अपराध में परिणित नहीं हो जाता। ब्रिटेन के सैनिक ग्रंथ में यह सुझाव दिया गया है कि इस प्रकार के कार्य जैसे आश्रय न देना, युद्ध के बन्दियों के प्रति दुर्व्यवहार, लूट तथा निष्प्रयोजन विनाश युद्ध-अपराध हैं। सन् १८६६ के हेग सम्मेलन ने भी ऐसे ही अपराधों को युद्धापराध माने जाने का सुझाव दिया था। प्रोफेसर लौटरपैट ने भी सन् १९४४ को ब्रिटिश इयर बुक में संकेत किया है कि यह शब्द ऐसे कार्यों के लिये सीमित होना चाहिये जो अपनी निर्दयता, अमानुषता अथवा युक्ति-संगत सैनिक आवश्यकता से असम्बद्ध सम्पत्ति के सम्बन्ध में मर्यादाहीन उपेक्षा के कारण मनुष्यों द्वारा एक स्वर से निन्दित किये जाँय।

प्रोफेसर हिंगिन्स (Prof. Higgins) के अनुसार युद्ध अपराधों के अन्तर्गत सैन्य बलों के सदस्यों द्वारा युद्ध-कौशल के मान्य नियमों का अतिक्रमण (*violation of the recognised rules of warfare by members of the armed forces*), ऐसे व्यक्तियों अवैध जो कि सैन्य बलों के सदस्य नहीं हैं, द्वारा शस्त्रों के सम्बन्ध में कारित किये गये अवैध शत्रुतापूर्ण हो (illegitimate hostilities in arms committed by individuals who are not members of the armed forces), जासूसी (espionage) और युद्ध-अभिद्रोह (*war treason*) और लूट-मार (maranding) सम्मिलित हैं।

हान्स केलसन का कथन है कि

"violations of the rules of warfare are called war crimes General International Law *obligates the States to* punish their own war criminals, and authorizes any belligerent State to punish the prisoners of war in its power for having violated the rules of warfare prior to capture. Hence general International Law imposes upon individuals, as private persons, the *obligation to* refrain from committing war crimes, and establishes individual

criminal responsibility for the commission of such crimes by private persons."

अर्थात् युद्ध-नियमों के अतिक्रमण को युद्धापराध कहते हैं। साधारण अन्तर्राष्ट्रीय कानून राज्यो पर यह भाभार आरोपित करता है कि वे अपने अपराधियो को स्वतः दण्डित करें और किसी भी युद्ध-स्थित राज्य को प्राधिकार देता है कि वे युद्ध के बन्दियो को अपनी शक्ति के भीतर बन्दी होने के पूर्व युद्ध की विधियो का उल्लघन करने के प्रसग मे दण्डित करे। अस्तु सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि व्यक्तियो पर यह भाभार सौंपती है कि वैयक्तिक व्यक्ति रूप मे वे युद्ध-अपराध के कृत्यो से अपने को बचावें और व्यक्तियो द्वारा ऐसे युद्धापराध किये जाने पर वैयक्तिक अपराध का दायित्व प्रवर्तित करता है।

ओपेनहेम (Oppenheim) के अनुसार युद्धापराध ऐसे शत्रुतापूर्ण कार्य हैं, या सैनिको के अन्य कार्य हैं, या अन्य व्यक्तियो के ऐसे कार्य हैं जिनपर कि शत्रु द्वारा अपराधियो को पकडे जाने पर दण्ड दिया जा सकता है। उन कार्यों के अन्तर्गत अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल ऐसे कृत्य आते हैं, जो कि स्वय अपराधी द्वारा अपने ही राज्य मे किये जाने पर अपराध होते जैसे व्यक्तिगत प्रलोभन या लाभ की पूर्ति के लिए कत्ल करना, साथ ही ऐसे आपराधिक कृत्य भी आते हैं जो कि उन युद्ध विधियो के प्रतिकूल हैं जो कि शत्रु-राज्य के आदेश पर या उसकी ओर से कारित किये गये हैं। उपर्युक्त विद्वान् ने युद्धापराधो को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है—

(१) युद्ध-कौशल से सम्बन्धित मान्य नियमो का उल्लघन, जो कि सशस्त्र शक्तियो द्वारा कारित किया जाय,

(२) शस्त्रो द्वारा सपन्न किये गये सभी शत्रुतापूर्ण कार्य, जो कि ऐसे व्यक्तियो द्वारा कारित किये जाँय जो कि शत्रु की सशस्त्र सेना के सदस्य नहीं हैं,

(३) खुफियागिरी और युद्ध के रहस्यों का उद्‌घाटन, और

(४) लूटमार के कृत्य (marauding acts)।

अन्य बातो के साथ ही उपर्युक्त विद्वान् ने निम्नलिखित कृत्यो को युद्ध-कौशल के नियमो का उल्लघन कहा है—विषैली गैस का प्रयोग, घायल अथवा समर्पण किये हुये सैनिको का वध, युद्ध के मैदानो में मृतको के प्रति दुर्व्यवहार, या अपमानजनक-व्यवहार, क्वार्टर के लिये आघातकारी आग्रह, बधन के रूप मे समर्पित व्यक्तियो का वध, युद्धबंदियो के प्रति दुर्व्यवहार, हानिरहित व्यक्तिगत शत्रु व्यक्तियों पर आक्रमण या वध, सग्रहालयो, अस्पतालो, उपासना के स्थानो और स्कूलो पर, अथवा अरक्षित खुले नगरो या ऐतिहासिक स्मारको पर बमवर्षा, अस्पताली पोतो पर आक्रमण, शान्ति के ध्वज के साथ चलने वालो पर आक्रमण, आदि।

नूरम्बर्ग परीक्षण—इसकी उत्पत्ति :—सन् १६४३ मे मास्को सम्मेलन मे तीनो बडी शक्तियो ने सयुक्त राष्ट्र के सदस्यो के नाम बोलते हुए यह घोषणा की कि नाजी दल के वे जर्मन पदाधिकारी तथा मनुष्य और सदस्य जो अत्याचारो, मनुष्यो के हत्याकाड तथा उनको प्राणदण्ड देने के लिये उत्तरदायी हो उन देशो को जिनमे उनके घृणित कार्य किये गये परीक्षण तथा दण्डित करने के लिये वापस भेजे जायेंगे। सन् १६४५ के याल्टा सम्मेलन मे, जिसमे इङ्गलैण्ड, अमेरिका तथा रूस पक्षकार थे, युद्धापराधियो को न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत करने के दृढ निश्चय को और भी सुदृढ किया गया। इसके उपरान्त युद्धापराधियो की सूची तैयार करने के लिये लॉर्डराइट की अध्यक्षता मे सयुक्तराष्ट्र युद्धापराध आयोग स्थापित किया गया तथा उसको यह अधिकार प्रदान किया गया कि उन अपराधियो को विश्व के अधिकाश देशो मे बन्दी कर ले। चारो राष्ट्रो के अभियोजका द्वारा एक चार्टर तैयार किया गया। अगस्त ८ सन् १६४५ को सयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस के प्रतिनिधियो के मध्य लन्दन मे एक स्वीकारपत्र हस्ताक्षरित किया गया जिसके द्वारा यह व्यवस्था की गई कि यूरोपीय अक्ष के बडे-बडे अपराधियो का परीक्षण किया जाय जिनके अपराध करने का कोई विशिष्ट भौगोलिक स्थान नियत न था। इस स्वीकारपत्र के साथ यह अधिपत्र सलग्न था जिसके द्वारा युद्धापराधियो के परीक्षण के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक-न्यायाधिकरण स्थापित किया गया। इसके परिणामस्वरूप नाजी नेताओ का नूरम्बर्ग मे परीक्षण हुआ।

नूरम्बर्ग परीक्षण का औचित्य—नूरम्बर्ग परीक्षण के औचित्य को इस आधार पर स्थापित करने का प्रयत्न किया गया कि सितम्बर २४, सन् १६२७ को लीग आफ नेशन्स ने, जिसमे जर्मनी सम्मिलित था यह घोषणा की थी कि युद्ध जिसमे अग्रघर्षण (यकाएक आक्रमण) किया जाय एक अपराध है। इसके उपरान्त केलोग ब्रिआन्ड पैक्ट अथवा पेरिस पैक्ट द्वारा जो सन् १६२८ मे सयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन वैदेशिक सचिव फ्रेक बी केलॉग तथा फ्रास के वैदेशिक सचिव ब्रिआन्ड द्वारा परस्पर सहयोग करके हस्ताक्षरित किया गया था, युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को तय करने के लिये उपाय की दृष्टि से निन्दा की गई थी, तथा यह प्रतिज्ञा की गई थी कि ऐसे झगडे शान्तिपूर्ण रीतियो से तय किये जायेगे। हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्र प्रायः ससार के सभी राष्ट्र थे जिनमे जर्मनी, जापान तथा इटली भी सम्मिलित हैं। उन्होने अपने को बाध्य कर लिया था कि वे युद्ध के उपाय का आश्रय लेना अपनी राष्ट्रीय नीति नही रखेंगे।

अभूतपूर्व अत्याचारो के कारण जो सब मित्र-देशो में सयुक्त दृढ निश्चय उत्पन्न हुआ कि बदला लिया जाय और जर्मनी के दखल द्वारा मित्र देशो की सेनाओ की

अपराध की श्रेणियाँ (Categories of Crime) :—चार्टर के अनुच्छेद ६ में न्यायाधिकरण को निम्नलिखित तीन श्रेणियों के अपराधों के सम्बन्ध में परीक्षण करने का अधिकार दिया गया :—

(१) शान्ति के विरुद्ध अपराध (Crimes against Peace) :—इन अपराधों में आक्रमक युद्ध के निमित्त योजना बनाना, उसके लिये तैयारी करना, प्रेरणा देना अथवा ऐसी लड़ाई लड़ना, अन्तर्राष्ट्रीय संधियों, स्वीकारपत्रों अथवा आश्वासनों का उल्लंघन करके युद्ध लड़ना, अथवा उपर्युक्त विषयों में से किसी एक को भी करने के लिए षड्यन्त्र करना सम्मिलित है।

(२) युद्ध-अपराध (War Crimes) :—इसके अन्तर्गत युद्ध की विधियों अथवा रूढ़ियों का उल्लंघन आता है जिसमें हत्या, दखल किये हुए क्षेत्र में नागरिक जनता से दुर्व्यवहार, युद्धबन्दियों की हत्या अथवा उनसे दुर्व्यवहार, बन्धक के रूप में समर्पित बन्दियों की हत्या, सार्वजनिक अथवा व्यक्तिगत सम्पत्ति की लूट, नगरों का मर्यादाहीन विनाश सम्मिलित है जिसका औचित्य सैनिक आवश्यकता से नहीं ठहराया जा सकता।

(३) मानवता के विरुद्ध अपराध (Crimes against Humanity) :—इस श्रेणी के अन्दर पड़ने वाले अपराधों में हत्या, समूल विनाश, दासत्व तथा अन्य अमानुषिक कार्य जो युद्ध के पूर्व अथवा मध्य किये गये हों, राजनीतिक, जातीय अथवा धार्मिक आधार पर उत्पीड़न सम्मिलित हैं जो न्यायाधिकरण के क्षेत्राधिकार के भीतर पड़ने वाले किसी अपराध के निष्पादन में किये गये हों चाहे वह किये जाने वाले देश की घरेलू विधि के उल्लंघन में हों अथवा नहीं।

अभियोग के शब्दों में प्रतिवादियों ने अपनी समान योजना से अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों को स्वीकार-पत्रों अथवा आश्वासनों का उल्लंघन करके आक्रमक युद्ध

योजना की ओर युद्ध किया। प्रतिवादियो के मध्य परस्पर उनके षड्यन्त्र के उद्देश्यों तथा प्रयोजनो को पूरा करने के लिये नाजीदल ने एक सहयोगकारी साधन का कार्य किया। इसके उद्देश्य थे, (अ) वार्सलीज की सधि तथा उसके सैनिक पुनः शस्त्रीकरण के निरोधो का निराकरण तथा उसको मिटा देना, (आ) प्रथम महायुद्ध मे जर्मनी द्वारा खोये हुए प्रदेशो की प्राप्ति, (इ) यूरोपीय प्रदेश मे जर्मन जाति द्वारा अपनी बढती हुई जनसख्या के लिये पडोसी तथा अन्य देशो को हानि करके और अधिक प्रदेश प्राप्त करना (Lebensraum)।

प्रतिरक्षा (Defence) :—प्रतिवादियो की ओर से यह कहा गया कि सभी विधियो का, चाहे वे अन्तर्राष्ट्रीय हो अथवा घरेलू हो, मूलभूत सिद्धान्त यह है, कि बिना पूर्वस्थित विधि के किसी अपराध के लिये दण्ड नही दिया जा सकता—(Nullum crimen sine lege, nulla poena sine lege)। यह प्रार्थना की गई कि घटनोत्तर (ex post facto) दंड सब सभ्य राष्ट्रो की विधि के लिए घृणित है, यह कि किसी भी सार्वभौमिक सत्ता ने अग्रधर्षक युद्ध को उस समय एक अपराध नही माना है जिस समय कि कथित अपराध के कार्य किये गये थे, यह कि किसी भी व्यवस्था ने अग्रधर्षण की परिभाषा नही की है, यह कि इसके करने के लिये कोई दड नियत नही किया गया है तथा यह कि अपराधियो को दडित करने के लिए कोई न्यायालय नही बनाया गया है।

न्यायाधिकरण के निष्कर्ष (Observations of the Tribunal) :—प्रतिरक्षा द्वारा उठाये गये विवाद का खडन करते हुये न्यायाधिकरण ने यह निरूपण किया कि पूर्वस्थित विधि वाले सिद्धान्त (maxim nullum crimen sine lege) से सार्वभौमिकता सीमित नही होती लेकिन यह सामान्य रूप मे न्याय का एक सिद्धान्त है। इस बात को दृढतापूर्वक कहना कि उनको दण्ड देना अन्याय है जिन्होने सन्धियो तथा आश्वासन दिलाने के पश्चात् भी उनका उल्लघन करके पडोसी राष्ट्रो पर बिना चेतावनी दिए हुए आक्रमण किया था, यह स्पष्ट रूप से असत्य है क्योकि ऐसी परिस्थितियो मे आक्रमणकारी को यह जानना चाहिये कि उसका कार्य उचित नही है, अतः उसको दड देना तो नही वरन् यदि उसके दोष बिना दडित किये हुए छोड दिया जाय तो यह अन्याय होगा। जर्मनी की सरकार मे जिन पदो पर वे आसीन थे, उन पदो से प्रतिवादियो को अथवा कम से कम उनमें से कुछ को जर्मनी द्वारा हस्ताक्षरित उन सन्धियो का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को निपटाने के लिये युद्ध का आश्रय लेना न्याय-विरुद्ध ठहराया गया था। जब उन्होने पूर्ण तर्क-वितर्क के उपरान्त अपने आक्रमण तथा अग्रधर्षण के लक्ष्यो को कार्यान्वित किया, तो उन्हे यह अवश्य ज्ञात रहा होगा कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्पूर्ण नियमो के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। प्रश्न को

केवल इस दृष्टिकोण से देखने के उपरान्त यह प्रकट होगा कि मामले के तथ्यो में सिद्धान्त लागू नही है ।

सन् १६३६ मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि की स्थिति पर जहाँ तक अग्रधर्षक युद्ध का सम्बन्ध है, विचार करने पर इस दृष्टिकोण ने और भी अधिक दृढता पकड ली। युद्ध छिडने के समय सन् १६३६ में युद्ध-त्याग सम्बन्धी अगस्त २७ सन् १६२८ की सामान्य सन्धि जो सामान्यतः पेरिस पैक्ट अथवा केलोग-ब्रिआड पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है, ६३ राष्ट्रो पर बन्धनकारी था जिनमे जर्मनी, इटली तथा जापान भी सम्मिलित थे ।

इस पैक्ट का वैध प्रभाव यह हुआ कि वे राज्य जिन्होने इस पर हस्ताक्षर किये थे, तथा जो इस पर स्थिर रहे उनका भविष्य मे अपनी नीति के साधन के रूप मे युद्ध का आश्रय लेने का कार्य अप्रतिबन्धित रूप से निन्दित किया गया, तथा उन्होने प्रत्यक्ष रूप से इसको त्याग दिया। पैक्ट पर हस्ताक्षर करने के उपरान्त, जिस किसी राज्य ने अपनी राष्ट्रीय नीति के रूप मे युद्ध का आश्रय लिया उसने पैक्ट का उल्लघन किया। न्यायाधिकरण को यह ज्ञात हुआ कि युद्ध के राष्ट्रीय नीति के रूप मे पवित्र भावना से त्याग में यह साध्य अवश्य ही सम्मिलित था, कि इस प्रकार का युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे अवैध है, तथा वे लोग जिन्होंने ऐसे युद्ध की योजना की तथा ऐसा युद्ध लडा जिसके इस प्रकार अवश्यम्भावी तथा भयकर परिणाम हुये, इस प्रकार करने मे एक अपराध कर रहे थे ।

प्रतिवादियो ने यह निवदन किया कि उन्होंने जो कुछ भी किया हिटलर के आदेशानुसार किया, अतः उन आदेशो के पालन करने के परिणामस्वरूप वे अपने कार्यों के लिये उत्तरदायी नही ठहराये जा सकते। चार्टर के अनुच्छेद ८ मे यह विशेष रूप से प्रतिबन्धित था कि "यह तथ्य कि प्रतिवादी ने अपनी सरकार अथवा एक सर्वोच्च के आदेशानुसार कार्य किया, उसको उत्तरदायित्व से मुक्त नही करेगा, लेकिन इसका विचार उसके दड के अल्पीकरण मे किया जायगा।"

यह कि किसी सैनिक को युद्ध सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को उल्लघन करके वध अथवा उत्पीडन का आदेश दिया गया, ऐसे क्रूर कार्य के लिये कभी प्रतिरक्षा के रूप मे नही स्वीकृत किया जा सकता, यद्यपि जैसा कि यहाँ चार्टर मे अनुबन्धित है यह आदेश दण्ड के न्यूनीकरण के लिये निवेदित किया जा सकता है। परीक्षा की रीति जो दण्डविधि मे भिन्न-भिन्न परिमाण मे पाई जाती है, वह आदेश की विद्यमानता नही, वरन् यह है कि नैतिक चुनाव अथवा विकल्प वास्तव में सम्भव था ।

न्यायाधिकरण की सम्मति मे साक्ष्य से यह स्थापित हो गया कि कुछ प्रतिवादियो द्वारा युद्ध की तैयारी तथा युद्ध करने के लिए सामान्य योजना बनाई गई। न्यायाधिकरण द्वारा यह तर्क अविवेकपूर्ण माना गया कि उस स्थान में जहाँ पूर्ण तानाशाही हो सामान्य योजना नही रह सकती। कोई योजना जिसके निष्पादन मे बहुत से व्यक्तियो ने भाग लिया हो, फिर भी एक योजना ही है, चाहे वह उनमे से किसी एक ही द्वारा सुझाई गयी हो, तथा वे जिन्होने योजना का निष्पादन किया यह दिखाकर उत्तरदायित्व से मुक्त नही हो सकते कि उन्हाने उस व्यक्ति के निदेश पर कार्य किया जिसने उन्हे सुझाया। हिटलर स्वय ही एक अग्रधर्षक युद्ध नही कर सकता था। उसे राजनीतिज्ञो, सेनानायको, कूटनीतिज्ञो तथा व्यापारियो का सहयोग प्राप्त करना पडा था। जब उन्होने उसके लक्ष्यो का ज्ञान रहते हुये उसे अपना सहयोग प्रदान किया तो उन्होने अपने को उसके द्वारा प्रारम्भ की हुई योजना मे पक्षकार बना लिया। जब उन्हे इस बात का ज्ञान था कि वे क्या कर रहे हैं अतः इस आधार पर कि हिटलर ने उनका उपयोग किया वे निर्दोष नही ठहराये जा सकत।

परीक्षण की आलोचना (Criticism of the Trial).—सन् १९२८ के पेरिस के पैक्ट अथवा केलोग-ब्रिआड पैक्ट पर बहुत ही विश्वास किया गया। यह तो भी प्रकट है कि पराजित नेताओ तथा जनरलो के विरुद्ध अभियोजन चलाने के लिए इस प्रकार का शकारहित विश्वास इस पर नही रखा जा सकता था। प्रथमत पेरिस के पैक्ट मे सन् १८९९ हेग अभिसमय मे उनमे दिये गये अनुबन्धो को प्रवृत्त करने के लिये कोई आज्ञाएँ नही दी गई हैं। यह कथन ठीक है कि "पैक्ट की शब्दावली एक दड-व्यवसाय की शब्दावली नही है। यह भाषा अध्यात्म-विषयक गई है न कि विधि-विषयक"। द्वितीय यह कि यद्यपि केलोग-ब्रिआड पैक्ट ने अग्रधर्षक युद्धो को अवैध घोषित किया तथापि इस प्रकार की अवैधता किसी प्रकार की खीचातानी के उपरान्त एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय अपराध मे परिवर्तित नही की जा सकती थी जिसमे भाग लेने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसके लिए उत्तरदायी ठहराया जाय। अन्त मे पेरिस के पैक्ट का इसके आरम्भ होने के साथ ही उल्लघन होना आरम्भ हो गया था जबकि एक दिन सुप्रभात में मित्र-राष्ट्रो ने यह निर्णय किया कि पराजित नेताओ तथा जनरलो का अभियोजन इस पर आधारित किया जाय। सन् १९३१ मे जापान ने चीन पर मचूरिया में आक्रमण किया लेकिन पेरिस पेक्ट की पुष्टि मे जापानी नेताओ पर अभियोजन चलाने के लिए एक अँगुली भी नही उठाई गई। इस कार्य की निन्दा किये जाने पर परिणाम यह हुआ कि जापान लीग आफ नेशन्स से हट गया और यही पर बात समाप्त हो गई। सन् १९३५ मे इटली ने

अबीसीनिया पर आक्रमण किया और यद्यपि उस वर्ष सितम्बर मे लीग की प्रतिज्ञा के अनुच्छेद १० के अन्तर्गत अबीसीनिया ने अपील भी की तथापि पेरिस पैक्ट के उल्लघन पर कोई विशेष प्रतिक्रिया नही हुई। जर्मनी द्वारा सन् १६३६ मे आस्ट्रिया तथा जेकोस्लोवेकिया के सयोजन का भी लीग द्वारा विरोध नही किया गया, यद्यपि उस समय वही विश्वसघ वर्तमान था, परन्तु पेरिस पैक्ट उस समय भी विस्मृत किया गया। यह जैसे कूडे की कोठरी से तभी ढूंढ कर निकाला गया जब विजयी शक्तियो के लिये यह सुविधाजनक समझा गया कि वे नाजी नेताओ के परीक्षण के लिए अग्रसर हो जाँय। शिक (Schick) अपनी पुस्तक 'नूरम्बर्ग परीक्षण' मे मित्र राष्ट्रो के इस दृढ कथन की शुद्धता पर गम्भीर सन्देह रखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण का चार्टर ऐतिहासिक वैध पूर्व दृष्टान्त पर आधारित है। यह भी सकेत किया गया है कि विजेताओ का न्यायालय एक समुचित न्यायाधिकरण नही था तथा उसमे तटस्थ और जर्मन न्यायाधीशो का भी प्रतिनिधित्व होना चाहिये था। कितनी ही खींचातानी की जाय इसको अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नही कहा जा सकता। प्रोफेसर स्मिथ का तर्क है कि परीक्षण ने निष्पक्षता के आधारभूत सिद्धान्त का ही उल्लघन किया—निष्पक्षता जिसका प्रतीक न्याय की वह मूर्ति है जो अन्धी है तथा जिसके हाथ मे एक तराजू है जिसके दोनो पलडे बराबर हैं। "The trial has violated the fundamental principle of impartiality—the ideal symbolised by the traditional figure of Justice blindfolded and holding a balanced scale" (H A Smith—The Crisis in the Law of Nations, p. 47)। नौजितमाल न्यायालयो तथा सैनिक न्यायालयों की स्थापना जिनमे न्यायाधीश सर्वदा अभिग्रहण करने वाले राज्य के व्यक्ति होते हैं नूरम्बर्ग परीक्षण से कोई समानता नही रखता। नौजितमाल न्यायालय कोई अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार से युक्त नही है, फिर भी ऐसे एकपक्षीय परीक्षणो में [illegible] बिना पक्षपात किये हुए हो जाता है उसके भय को दूर करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय नौजितमाल न्यायालय स्थापना करने की बातचीत जारी है।

का उल्लघन होता है। "The Charter applied with retrospective effect, which was a rule contrary to Municipal Law of civilized nations, and was, therefore, in violation of International Law"

प्रोफेसर स्मिथ ने आगे यह विचार प्रकट किया है कि सन् १९४२ तक ब्रिटेन की सैनिक विधि की पुस्तिका मे एक अनुच्छेद (अध्याय १४ अनुच्छेद ४४३) ऐसा था कि सप्रभु के आदेश युद्धापराधो के आरोपो के लिये एक उपयुक्त प्रतिरक्षा का कार्य करते थे। अप्रेल सन् १९४२ मे युद्ध कार्यालय ने एक सशोधन द्वारा सप्रभु आदेशो की प्रतिरक्षा समाप्त कर दी। प्रोफेसर स्मिथ का कथन है कि यह घटनोत्तर (ex post facto) विधान के चरमसीमा पर पहुँचे हुये होने का एक सबल उदाहरण है।

परीक्षण के विरुद्ध मुख्य आपत्ति यह थी कि किसी सरकार के सदस्यो तथा सेवको पर अपने देश को अग्रघर्षक युद्ध मे ले जाने का अभियोग चलाने का अर्थ एक पूवकालिक प्रभावकारी दण्डविधान बनाना है। इससे दण्डविधि के उस कल्याणकारी सिद्धान्त का उल्लघन होता है जिसके अनुसार किसी कार्य के लिये दण्ड नही दिया जा सकता था, जो कि उस समय प्रवर्तित विधि द्वारा परिभाषित न किया गया हो तथा जिसके लिये दण्ड नियत न किया गया हो। यह स्पष्ट है कि नूरम्बर्ग परीक्षण एकपक्षीय था। युद्धापराधियो को सम्पूर्ण रूप से दण्ड देने का कोई प्रयत्न नही किया गया जिनमे मित्र राष्ट्रो के भी अपराधी सम्मिलित हैं। अत जर्मनो द्वारा किये गये अत्याचारो का प्रश्न केवल एक परिमाण मात्र का है। रूस ने सन् १९३९ मे फिनलैण्ड पर आक्रमण करने मे पेरिस पैक्ट का घोर उल्लघन किया था कि तु इसमे सन्देह नही कि उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही करने का निश्चय कभी नही किया गया।

कौरवेट अपने परिणामो को इस कथन के साथ समाप्त करते हैं कि न्यायाधिकरण की "कार्यवाहियाँ, चाहे उनकी वर्णनशैली कितनी ही सु दर रही हो, चाहे उनका पथ प्रदर्शन इस निष्कपट प्रयास द्वारा हुआ हो कि निर्दोष छूट जाँय तथा जिनके विरुद्ध अपराध सिद्ध हो जाय उन पर दण्ड समान रूप से पडे, उचित रूप से तथा कथित न्याय के पद पर नही पहुँचता। न्यायाधिकरण का निर्माण, इसके निर्देश की शर्तें तथा परिस्थितियाँ जिनमे कि यह बैठा, इन सब से निष्पक्षता की बाह्य विषयक प्रतिमूर्तियाँ अलग हो जाती हैं, जिनसे कि कठोर न्याय उपलक्षित है। इसके द्वारा आवाहन किये गये सिद्धान्तो के बीच वैध स्वरूप के सम्बन्ध म गम्भीर सन्देह निरन्तर जारी है।" उनके शब्द इस प्रकार हैं —"that the proceedings, admirable as they were in tone and guided as they were by a genuine-

effort to spare the innocent and to equate punishment with the proved offence, did not amount to adjudication properly so-called. The structure of the tribunal, its terms of reference, and the circumstances in which it sat, excluded the objective guarantees of impartiality that characterize strict adjudication There continues to be grave doubt as to the legal character of the principles which it invoked." P. E. Corbett: Law and Society in the Relations of States, p. 235).

टोकियो परीक्षण (The Tokyo Trial) :—जापान के बड़े युद्ध अपराधियों का परीक्षण भी उन्हीं सामान्य सिद्धान्तों पर हुआ जिन पर कि जर्मनी के युद्ध अपराधियों का हुआ था। यह कथन किया गया कि २० जुलाई सन् १९४५ की पोट्सडम घोषणा, २ सितम्बर सन् १९४५ के प्रत्यर्पण के सलेख तथा सुदूर पूर्व के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण के चार्टर के जो सर्वोच्च सेनानायक जनरल मैक आर्थर द्वारा १९ जनवरी सन् १९४६ को स्वीकृत किया गया, इसी का अभियोजन परिणाम है। परीक्षण जून ४, सन् १९४६ को सुदूरपूर्व के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण के अध्यक्ष सर विलियम वेब की अध्यक्षता में आरम्भ हुआ। न्यायाधिकरण ग्यारह न्यायाधीशों का बना, जिनमें उन राष्ट्रों के प्रतिनिधि थे जिनका जापान से युद्ध हो रहा था तथा जिनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, ग्रेट ब्रिटेन, रूस, आस्ट्रेलिया, कैनाडा, फ्रांस तथा भारत सम्मिलित थे। अभियोजन चलाने वाले ११ राष्ट्रों द्वारा २८ अभियुक्तों के विरुद्ध अभियोग प्रस्तुत किया गया जिनमें से दो तो परीक्षणों के आलम्बित रहने की दशा में ही मर गये, तथा एक कार्यवाहियों से उन्मुक्त कर दिया गया, क्योंकि उसकी मानसिक दशा ने उसे अक्षम स्थिर कर दिया था।

अभियुक्त व्यक्तियों के विरुद्ध निम्न तीन श्रेणियों में वर्गीकृत पचपन सूत्र के आरोप लगाये गये थे—

१. शान्ति के विरुद्ध अपराध (Crimes against Peace):—इस वर्ग में पूर्वी एशिया के राज्य प्राप्त करने के षड्यन्त्र भी सम्मिलित हैं, साथ ही पैसिफिक और हिन्द महासागर, मन्चूरिया और चीन के राज्य हड़पने का षड्यन्त्र भी था, क्योंकि १६ विशिष्ट देशों के विरुद्ध अवैध युद्ध छेड़कर जर्मनी और इटली से मिलकर विश्व का राज्य हड़पने की भी बात थी, क्योंकि इसके विरुद्ध जो भी देश खड़ा होता, उसी से युद्ध होता।

२. हत्या (Murder) :—इसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता की हत्या करने का षड्यन्त्र भी था। इसके साथ ही जापान की सैन्य-शक्ति को यहाँ तक कि शान्ति के समय में अमेरिका, ब्रिटिश कामनवेल्थ, नीदरलैण्ड्स, और थाईलैण्ड (स्याम) की जनता के वध का षड्यन्त्र भी था जो कि हेग अभिसमय (तृतीय) तथा

अनेक संधियो का अतिक्रमण था। यह आक्रमण जापान की सैन्यशक्ति द्वारा दिसम्बर ७ और ८, १९४१, को पर्ल-हार्बर, हांगकांग तथा शंघाई पर किया गया था।

३ अन्य अभिसमयात्मक युद्धापराध और मानवता के विरुद्ध अपराध (Other Conventional War Crimes and Crimes against Humanity) —इनके अन्तर्गत ऐसे अपराध थे जो कि ऐसे व्यक्तियो पर थे जिन्हाने जापानी सैन्य शक्ति एव युद्ध मिनिस्टरी अफसरो को षड्यन्त्र करके प्राधिकृत किया था कि वे सधियो तथा अन्य कानूनो का उल्लघन सहस्रों युद्ध बन्दियो पर नाना प्रकार के अत्याचार द्वारा करे, इसमे सयुक्त राज्य, ब्रिटिश कामनवेल्थ, फ्रास, नीदर लैण्ड्स चीन, रूस आदि की नागरिक जनता भी सम्मिलित थी।

अभियुक्तो ने अवसर मिलने पर शीघ्रातिशीघ्र यह प्रकट किया कि तथाकथित न्यायाधिकरण के हाथो उनको इस कारण न्याय न पाने का भय है कि न्यायाधिकरण के सदस्य उन राज्यो के प्रतिनिधि हैं, जिन्होंने जापान को हराया है और जो इस मामले मे अभियोगी हैं, अत वे उनके हाथो न्याययुक्त तथा निष्पक्ष परीक्षण की आशा नही कर सकते। न्यायाधिकरण ने इस तर्क का खडन इस आधार पर कर दिया कि इसमे सदेह नही कि न्यायाधीश भिन्न-भिन्न विजेता राष्ट्रो मे से थे, किन्तु वे वहाँ अपनी व्यक्तिगत क्षमता मे उपस्थित हैं।

न्यायाधिकरण ने मृत्युदण्ड का आदेश केवल उन्ही व्यक्तियो को दिया जो अन्य अपराधो के अतिरिक्त सामान्य युद्ध अपराधो को करने का आदेश देने अथवा अनुमति देने अथवा युद्ध बंदियो तथा नागरिक नजरबन्दियो के सम्बन्ध मे युद्ध की रूढियो तथा विधियो को रोकने के विषय मे पर्याप्त प्रबन्ध करने मे असफल रहने के दोषी पाये गये। अभियुक्तो में से अधिकाशो को केवल शान्ति के विरुद्ध अपराधो के लिये ही भिन्न-भिन्न अवधि का कारावास दिया गया।

न्यायाधिकरण का निर्णय ४ नवम्बर, सन् १९४८ को दिया गया।

मतभेद प्रकट करने वाला निर्णय (Dissenting Judgment) – भारत के, डाक्टर राधा विनोद पाल का निर्णय जिसमे मतभेद प्रकट किया गया है, अप्रवर्ग्य युद्ध सम्बन्धी उद्वेगजनक प्रश्न पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

विभिन्न प्रमाणो के पुनरीक्षण के उपरान्त वे इस परिणाम पर पहुँचे कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे यथापूर्व विधि के क्षेत्र के बाहर है, केवल इसका सचालन विधि के क्षत्र के भीतर लाया जा सका है। पेरिस का पैक्ट विधि की श्रणी के भीतर तनिक नही आता, अत यह युद्धस्थित राज्य की वैध स्थित मे अथवा युद्ध सलग्नता के न्यायिक क्रम में कोई नया परिवर्तन करने मे असफल रहा है। कोई ऐसी रूढ़

विधि विकसित नही हुई जिससे युद्ध एक अपराध हो जाय। अन्तर्राष्ट्रीय समाज स्वत ऐसी नीव पर नही खड़ा है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन मे अपराध के विचार का प्रवृत्त करना समुचित हो सके। उनका कथन है कि यह जाँच करना आवश्यक नही है कि क्या इस सम्बन्ध मे द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे कोई विकास हुआ है कि नही, क्योकि चाहे विधि मे उस समय विकास भी हो गया हो जिससे अब इस प्रकार का युद्ध एक अपराध हो गया हो, फिर भी उससे वर्तमान अभियुक्तो पर कोई प्रभाव नही पड़ता। ("International community itself is not based on a footing which would justify its introduction of the conception of criminality in international life It is not necessary to examine whether there had been any development of International Law in this respect since the second World War, for even if the law has since developed so as now to make such a war a crime this will not affect the present accused)

डाक्टर पाल का कथन है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाज की वर्तमान स्थिति मे शब्द आक्रामक (aggressor) वास्तव मे "रगपरिवर्तनशील' (chameleonic) है तथा इसका अर्थ 'हारने वाले पक्षकार के नेतागण" से ही हो सकता है।

सम्पूर्ण साक्ष्य के, जो कि न्यायाधिकरण के समक्ष उपस्थित किया गया, सामूहिक प्रभाव से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जो कुछ टोजो तथा उनके समुदाय ने किया वह उन्होंने शुद्ध देशभक्ति से प्रेरित होकर किया। उनकी तुलना हिटलर समुदाय से नही की जा सकती, जैसा अभियोजन का सुझाव है, क्योकि जापान की जनता उस प्रकार दासत्व से नही जकडी थी जिस प्रकार हिटलर की जर्मनी की, तथा जनता के सदस्यो को अपने धर्म, विश्वास तथा व्यवहार के सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतन्त्रता थी। इसके अनुसार जनवरी १, सन् १९२८ से सितम्बर २, सन् १९४५ तक अथवा किसी अन्य समय मे एक व्याप्त तथा निरतर जारी रहने वाले लक्षण का अथवा किसी भी लक्षण तथा स्वरूप का न कोई षडयन्त्र तो कभी बना अथवा वर्तमान या कार्यशील रहा और न प्रतिवादियो मे से, न कोई भी किसी समय, किसी ऐसे षडयन्त्र का सदस्य रहा।

विद्वान् न्यायाधीश ने यह और भी मन्तव्य प्रकट किया कि अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे षडयन्त्र स्वत अभी कोई अपराध नही है।

अन्त मे विद्वान् न्यायाधीश ने यह मन्तव्य दिया कि प्रत्येक तथा सब अभियुक्त अभियोग मे दिये गये प्रत्येक तथा सब आरोपो के लिए निर्दोष माने जाने चाहिए तथा उनको इन सब आरोपो से विमोचित कर देना चाहिए। ("As a judicial tribunal, we cannot behave in any manner which may

justify the feeling that the setting up of the Tribunal was only for the attainment of an objective which was essentially political though cloaked by a judicial appearance......The name of justice should not be allowed to be evoked only for the prolongation of the pursuit of vindictive retaliation. The world is really in need of generous magnanimity and understanding charity...... When time shall have softened passion and prejudice, when reason shall have stripped the mask from misrepresentation, then justice, holding evenly his scales, will require much of past censure and praise to change places.")

"एक न्यायिक न्यायाधिकरण के रूप में, हम किसी ऐसे ढंग से आचरण नही कर सकते जो इस भावना को न्यायोचित सिद्ध कर सके कि न्यायाधिकरण का गठन केवल ऐसे उद्देश्यो की पूर्ति के लिए किया गया था जो कि अनिवार्य रूप मे राजनीतिक थे, भले ही उसे एक न्यायिक आवरण मे ढँक दिया गया था। न्याय का नाम केवल इस प्रयोजन से लिये जाने की अनुमति नही दी जानी चाहिये कि दडात्मक बदले के अनुगमन को लबित किया जाय। आज के विश्व मे वास्तव मे उदार आशय और सूझ-बूझ की आवश्यकता है। समय जब सवेगो और अपकृति को शान्त कर सकेगा, जब विवेक भ्रामक प्रस्तुतिकरण का स्थान ग्रहण कर सकेगा, तभी न्याय के लिए वांछित होगा कि वह अपने तराजू को समान रखते हुये अतीत की निन्दा कर सके और स्थान-परिवर्तन की सराहना कर सके।

जनवध (Genocide) :—जनवध के अपराध ने कुछ महत्व का रूप धारण कर लिया है तथा वह नाजी युद्ध अपराधियो के विरुद्ध चलाये गये अभियोगो में सम्मिलित था।

जनवध अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए एक नयी धारणा है तथा इसका अर्थ "राष्ट्रीय, जातीय अथवा धार्मिक समूहो का विनाश" है। यह कहा गया है कि नाजियो के समय मे जनवध का अपराध इतनी अधिक मात्रा मे तथा इतने सोमातीत रूप मे फैल गया था कि इस समय युद्ध को उस योजना के केवल एक अग के रूप में देखा जाता है। नाजियो द्वारा यहूदी जाति के उन्मूलन का प्रयत्न स्पष्ट रूप से जनवध का अपराध था।

जनवध पर सयुक्त राष्ट्र सघ के चार्टर ने उन कार्यो को जिनका लक्ष्य राष्ट्रीय, जातीय अथवा कुल समूहो को विनष्ट करने का है, इस रूप मे दण्डनीय बनाया है, चाहे वे राष्ट्र के शासको, सार्वजनिक पदाधिकारियो अथवा असार्वजनिक

व्यक्तियों द्वारा किये गये हैं। प्रतिज्ञा जनवरी १९५९ तक ५६ राष्ट्रों द्वारा सत्यापित की गई है।

अन्तर्राष्ट्रीय दाण्डिक न्यायालय (International Criminal Court) :—अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं को उल्लघन करने के लिए आरोपित व्यक्तियों को अभियोजित करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय दण्ड न्यायालय की स्थापना जो इस प्रकार का सर्वप्रथम न्यायालय होगा, संयुक्त राष्ट्र संघ की सामान्य सभा द्वारा दिसम्बर सन् १९५० में स्वीकृत किया गया। प्रस्तावित न्यायालय के लिये एक सविधि बनाने के उद्देश्य से इसके पाँचवें अधिवेशन में सत्रह राष्ट्रों की एक समिति बनाई गई।

यह सन्देहजनक है कि न्यायालय राष्ट्रों के मध्य कर्त्तव्यों को ग्रहण करने के स्वीकार-पत्र के आधार पर बिना पूर्ण ऐक्य तथा सहयोग के प्रभावशाली रीति से कार्य कर सकता है। केवल एक विश्व सरकार ऐसे न्यायालय के लिये क्षेत्राधिकार प्राप्त कर सकती है तथा उसकी प्रतिभूति दे सकती है। फिर भी, ऐसे न्यायालय के लिए एक सविधि का मसौदा सन् १९५३ की अन्तर्राष्ट्रीय दंड क्षेत्राधिकार समिति द्वारा तैयार किया गया जिसकी बैठक अगस्त २०, सन् १९५३ को समाप्त हुई। पुनरीक्षित सविधि के मसौदे के अन्तर्गत न्यायालय को उन व्यक्तियों के परीक्षण करने का क्षेत्राधिकार होगा जिन पर ऐसे अपराधों का आरोप लगा हो जो सामान्यत अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा स्वीकृत हों। नयी सविधि के मसौदे में अपराधों का स्वरूप प्रदर्शित नहीं किया गया है तथा इनकी परिभाषा भविष्य के अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिज्ञाओं के लिये छोड़ दी गई है जो राष्ट्रों द्वारा व्यक्तिगतरूप में १९४८ के जनवध के अभिसमय की तरह सत्यापित की जाएँगी।

बन्धक-व्यक्तियों का वध एक युद्धापराध (The Killing of Hostages as a War Crime)—ओपेनहेम का कथन है कि प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी ने एक भयावह कार्य आरम्भ किया, और वह कार्य यह था कि वह बंधक व्यक्तियों को अपनी सेना द्वारा दखल किये गये क्षेत्र में ले जाना, और उन्हें उस समय गोली मार देना, जबकि उसे यह आभास हो कि नागरिकों ने जर्मन टुकड़ियों पर गोली चलायी है।[1] ऐसी कार्यवाही द्वितीय विश्व युद्ध में और भी बड़े पैमाने पर की गई। द्वितीय विश्व-युद्ध में बन्धक व्यक्तियों को मार डालने की यह जर्मन नीति, उसके द्वारा विजित क्षेत्रों में वहाँ के आन्दोलनों को दबाने के अभिप्राय से अपनायी जाती थी।

1: Oppenheim's International Law, Vol II, p 591

लॉर्ड राइट (Lord Wright) के अनुसार "Hostage means an innocent member of the population of the occupied country who is seized and held in custody and dealt with and generally shot in order to terrorize and repress the resistance movement. These so-called hostages who are slaughtered in this way are simply innocent non-combatants. The term 'reprisal-prisoner' also does not differ essentially in its meaning from hostage."[1] बन्धक का तात्पर्य उस अधीन किये गये क्षेत्र की जनता के ऐसे निर्दोष व्यक्तियों से है, जो कि गिरफ्तार कर लिये जाते हैं और अभिरक्षा में रखे जाते हैं और क्रान्तिकारी आन्दोलन को दबाने के लिये, आतंक उत्पन्न करने की दृष्टि से मार डाले जाते हैं। ये तथाकथित बन्धक व्यक्ति, जो कि इस रूप में काट डाले जाते हैं वे सीधे-सादे असैनिक व्यक्ति हुआ करते हैं। 'रेप्राइजल प्रिजनर' शब्द के अन्तर्गत जो अभिप्राय होता है, सामान्यतः 'बन्धक व्यक्ति' के अन्तर्गत भी वही है।

न्यूरम्बर्ग परीक्षण में भी बन्धक व्यक्तियों का वधन अपराध माना गया था; और अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक-न्यायाधिकरण का निष्कर्ष था कि बन्धक-व्यक्तियों को रोकने और दण्डित करने की जर्मन कार्यवाही उचित नहीं थी।

ग्रोशस (Grotius) का भी कथन है कि बन्धक-व्यक्तियों का उस समय तक वध नहीं किया जाना चाहिये जब तक कि वे स्वयं कोई ऐसा अपराध करने के भागी न हों।

जेम्स विल्फ्रेड गार्नर (James Wilfred Garner) ने 'इन्टरनेशनल लॉ ऐंड दी वर्ल्ड वार' में अवलोकन किया है कि यद्यपि हेग-अभिसमय में बन्धक व्यक्तियों का विशिष्टतः नाम नहीं लिखा हुआ है, फिर भी, व्यवहारतः आधुनिक सभी विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि बन्धक-व्यक्तियों को युद्ध-बन्दियों के समान व्यवहार मिलना चाहिए। इसलिए वे मृत्यु के भागी नहीं हो सकते, या ऐसी कठोरताओं से अधिक के लिए भी भागी नहीं हैं जिन्हें सामान्यतः सैनिक-बन्दियों को सहन करनी पड़ती हैं। उन्होंने आगे लिखा है कि जर्मनों द्वारा बन्धकों को ले जाने और मार डालने की संपूर्ण नीति मानवता और न्याय की सामान्य सभ्य अवधारणा के सर्वथा प्रतिकूल है, क्योंकि इस नीति से ऐसे व्यक्तियों को दंड मिलता है, जो कि सर्वथा निर्दोष हैं और यह कि जिन पर किसी प्रकार के अपकार का दायित्व नहीं सौंपा जा सकता।

१. Lord Wright's Article in the British Year Book of International Law, 1948, p. 296.

लॉर्ड राइट का निष्कर्ष है कि सिद्धान्त और प्राधिकार दोनों रूपों में बंधकों को मार डालना युद्ध-विधि के प्रतिकूल है और यह कि किसी भी परिस्थिति में यह अनुमत नहीं है। इसे 'हत्या' (Murder) की संज्ञा दी जायेगी।

जेनेवा कन्वेन्शन, १९४९ के अनुच्छेद ३४ में, जिसमें कि युद्ध के समय नागरिक जनता के संरक्षण का उपबन्ध है, बन्धक-व्यक्तियों को ले जाने के लिए स्पष्टतः निषेध किया गया है।

युद्ध-अपराधियों, क्विज़लिंग्स और राज्यद्रोहियों के लिए शरण-स्थान (Asylum for War Criminals, Quislings and Traitors)—द्वितीय विश्व-युद्ध के उपरान्त से अनेक बहुपक्षीय सन्धियों में यह उपबन्ध है कि युद्ध-अपराधियों के निष्कासन (extradition) की कार्यवाही की जाय। युद्ध-विधियों के विरुद्ध किये गये अपराध स्वभावेन राजनीतिक अपराध नहीं हुआ करते और इसलिए उनके द्वारा आत्म-समर्पण किये जाने पर आवश्यक नहीं है कि राजनीतिक अपराधियों की भाँति उन्हें भी परम्परागत आवास में रखा जाय। यह नियम क्विज़लिंग्स (Quislings) और राज्यद्रोहियों (traitors) के प्रति व्यवहृत नहीं होता। उनके अपराध राजनीतिक ढंग के होते हैं, भले ही युद्ध के समय उसे सबसे बड़े अपराध की संज्ञा दी जा सके। यहाँ तक कि दिनांक ३० अक्तूबर १९४३ की मास्को उद्घोषणा और संयुक्त राष्ट्रों की साधारण सभा के प्रस्ताव दिनांक १३, फरवरी १९४६ में भी उपबन्धित है कि समर्पण केवल युद्ध-अपराधियों का किया जाय, क्विज़लिंग्स (Quislings) और राज्यद्रोहियों (traitors) का नहीं।

युद्धापराध परीक्षण और युद्धविधियाँ (The War Crimes Trials and the Laws of War):—द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय अपराध-विधि में क्षेत्र का बहुत ही व्यापक विस्तार हो गया है। बहुत से सैनिक-न्यायाधिकरणों, जो कि युद्ध के बाद बनाये गये, ने केवल उन सिपाहियों को ही दोषी नहीं ठहराया जिन्होंने वस्तुतः शारीरिक रूप से युद्ध कार्य में भाग लिया या नाशक अग्नि बरसाया, बल्कि उच्च वर्ग के अफसरों और चीफ आफ स्टाफ तथा नागरिकों को भी इस अपराध से मुक्त नहीं माना।

जहाँ तक इस तर्क का सम्बन्ध है, नूरम्बर्ग परीक्षण तथा अन्य परीक्षण के प्रसंग में कहा जा चुका है कि वरिष्ठ अधिकारियों के आदेश पर किसी अपराध के कृत्य करने पर, उस व्यक्ति को आभार और दायित्व से मुक्ति नहीं मिल सकती, क्योंकि कृत्य करने वाला इस तथ्य को भली-भाँति जानता था, कि वह जो कुछ भी करने जा रहा है, वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दृष्टि से एक अपराध है। ऐसे प्रसंगों में वास्तविक तथा किसी आदेश की उपस्थिति को नहीं, बल्कि इस तथ्य को आधार माना

जाता है कि क्या कृत्य करने वाले के समक्ष नैतिकता का अपनाया जाना सम्भव था। आदेश की उपस्थिति अपराधी के दण्ड निर्धारण में मात्रा कम करने में भले ही सहायक हो, किन्तु उसे निर्दोष सिद्ध करने में कदापि सहायक नहीं हो सकती।

अध्याय ४४

परावर्तन तथा पुनर्ग्रहण या पुनः बन्दीकरण का सिद्धान्त

(The Doctrine of Postliminium and Recapture)

पृष्ठ भूमि :—परावर्तन (Postliminium) के सिद्धान्त की उत्पत्ति रोमन विधि के नियमों की तुलना से हुई है, जिसके अनुसार जैसा लौरेंस ने बताया है कि व्यक्तियों तथा वस्तुओं को शत्रु के अधिकार से मुक्त करने पर अपनी मूल स्थिति वापस मिल जाती थी। रोमन विधि का परावर्तन नियम जैसा ऊपर कथित है, व्यक्तियों तथा वस्तुओं दोनों से सम्बन्धित था। व्यक्ति के सम्बन्ध में नियम यह था कि उसकी बन्दीगृह से मुक्ति तथा रोमन साम्राज्य में वापस आने पर एक रूमी नागरिक को यह अधिकार था कि अपनी मूल वैध स्थिति में पुन. संस्थापित कर दिया जाय। अभित्यक्त अथवा उनको जो अपने देश में अवैध रूप से वापस आये हों यह अधिकार नहीं दिया जाता था। आधुनिक काल में गुलामी प्रथा के लोप हो जाने से परावर्तन के सिद्धान्त का उपयोग केवल क्षेत्र तथा चल सम्पत्ति के लिये ही सीमित रह गया है। वस्तुओं के सम्बन्ध में रोमन विधि का अभिप्राय यह था कि वे वस्तुएँ जो शत्रु द्वारा ले ली जाती थीं, उस अवधि में जिसमें वे शत्रु के अधिकार में रहती थीं, प्रत्याहृत मानी जाती थीं, किन्तु पुनः प्राप्त होने पर वे रोम-देशवासी पूर्व-स्वामी को लौटा दी जाती थीं।

अभिप्राय तथा प्रयोग :—अन्तर्राष्ट्रीय विधि में परावर्तन (Jus postliminium) युद्ध का ही प्रसंग माना गया है, तथा इसमें यह व्यवस्था की गई है कि यदि कोई राज्य जो अन्य राज्य की अस्थायी अधीनता में हो अपनी स्वतन्त्रता विजय के पूर्ण होने के पूर्व ही प्राप्त कर सके, चाहे युद्ध चलने के बीच हो में अथवा उसकी समाप्ति पर, तो अधीनता अथवा शत्रुतापूर्ण दखल के पूर्व वस्तुओं की जो वैध स्थिति थी, वह पुनः संस्थापित हो जाती है।

प्रोफेसर हॉल ने परावर्तन इन शब्दों में वर्णन किया है—"जब कोई क्षेत्र जो शत्रु के अधिकार में रहा हो, तथा जनता जिस पर उसका नियन्त्रण रहा हो

युद्ध की प्रगति के बीच अपने राज्य के अधिकार मे पुनः वापस आ जाय, अथवा जब कोई राज्य जो पूर्णतः अधीनस्थ कर लिया गया हो विजय के स्पष्ट रूप व्यवस्थित होने के पूर्व ही, अपने को भारोन्मुक्त कर ले, अथवा अन्त में जब कोई राज्य अथवा राज्य का भाग विदेशीय प्रभुत्व से किसी मित्र द्वारा विजय के समेकन के पूर्व ही मुक्त कर दिया जाय तो शत्रुतापूर्ण दखल के पूर्व विद्यमान वस्तुओं की वैध स्थिति पुनः स्थापित हो जाती है।" ("When a territory which has been occupied and a population which has been controlled by an enemy, comes again into the power of its own State, during the progress of a war, or when a State, the whole of which has been subjugated, throws off the yoke which has been placed upon it before a settled conquest has been clearly effected, or finally when a State or a portion of a State is freed from foreign domination by the action of an ally, before a conquest of it has been consolidated, the legal state of things, existing prior to the hostile occupation is re-established.")

तटस्थ देशों में इसके प्रवर्तन की संभावनाएँ (Its Enforceability in Neutral Countries) :—यह अधिकार तटस्थ राज्यों में प्रवृत्त नही किया जा सकता, क्योंकि तटस्थ प्रत्येक युद्धस्थित को मांगो को न्याययुक्त समझने के लिये बाध्य है, तथा यदि उसके अधिकारो का उल्लंघन न हुआ हो, तो दोनों पक्षकारो की प्राप्तियो को समुचित समझते हैं।

चल-सम्पत्ति पर प्रभाव (Effect on Movable Property) :— समस्त चल सम्पति अभिग्रहण करने वाले के अधिकार मे चली जाती है चाहे नौजितमाल युद्ध के बीच समुद्र मे पकडा गया हो अथवा अन्यथा। यदि शत्रु उसे एक तटस्थ का समर्पित कर देता है तो पूर्ववर्ती स्वामी का उसको वापस मांगने का अधिकार चला जाता है। ऐसी व्यक्तिगत चल-सम्पत्ति के सम्बन्ध मे जो युद्ध सामग्री के रूप मे अभिग्रहीत की जाय उसके स्वामी ऐसे अभिग्रहण के लिये क्षतिपूर्ति पाने के अधिकारी हैं। यदि सम्पत्ति अभिज्ञात की जा सकती हो तथा उसका पता लगाया जा सकता हो तो वह अपने स्वामी को वापस चली जायगी। युद्ध सामग्री के रूप में अभिग्रहीत सार्वजनिक चल सम्पत्ति, यदि शत्रु के हट जाने के उपरान्त यह पाया जाय कि वह अप्रयुक्त है, तो पूर्ववर्ती राज्य को वापस चली जाती है।

अचल सम्पत्ति पर प्रभाव (Effect on Immovable Property) :— शत्रु द्वारा युद्ध मे अभिग्रहीत अचल सम्पत्ति पर अधिकार उस समय तक

नही होता है जब तक कि वह प्रदेश जिसमे वह सम्पत्ति स्थित है विजयी द्वारा अधिकृत प्रदेश मे सयुक्त न कर लिया जाय अथवा उसे विजित तथा अधीनस्थ न कर लिया जाय। सार्वजनिक अचल सम्पत्ति शत्रु के हट जाने के उपरान्त उस सरकार के पास चली जाती है जो न्यायानुसार उसकी अधिकारिणी हो। व्यक्तिगत सम्पत्ति युद्धस्थित अधिकारी द्वारा उपभोग नही की जा सकती। वह केवल उसका उपयोग कर सकता है। शत्रु के हट जाने पर वैयक्तिक स्वामी उसको वापस पाने का अधिकार रखता है।

ऋण शोधन (चुकाना) (Payment of Debt) —यदि ऋण विजय के उपरान्त अपनी सरकार स्थापित करने वाले विजयी को दिया गया हो तो उसके सम्बन्ध मे यह समझा जाता है कि वह चुका दिया गया है, तथा नष्ट हो गया है।

इसका प्रभाव (Its Influence) :—परावर्तन के सिद्धान्त ने वर्तमान समय मे अपना अधिकाश महत्व इस कारण खो दिया है कि शान्ति की सधियो में जो बहुत ही प्रवीणता से तैयार की जाती हैं, पूर्व शत्रुओ के बीच का प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म विवरण दिया रहता है। जहाँ शान्ति की सधि मौन हो, और उसमे अधिकारो अथवा सम्पत्ति के सम्बन्ध मे जिनमे युद्ध के उलट फेर के मध्य वस्तुत परिवर्तन हुआ हो, कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष व्यवस्था न दी गई हो, तो सम्पत्ति तथा कर्त्तव्यों तथा वैयक्तिक स्थिति के विषय मे यह सिद्धान्त बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य करता है तथा जैसा फिलिमोर का कहना है ये सम्पत्ति के अधिकार वास्तव में शत्रु के बल के दबाव से उन्मुक्त होकर उन्ही स्रोतो में बहने लगते हैं जिनमे वे उस बल के दबाव से हटाये जाने के पूर्व बहते थे। फिलिमोर आगे कहते हैं कि मूल तत्व जिस पर यह सिद्धान्त आधारित है, यह है कि ऐसे अधिकार जो समुचित रूप से प्राप्त किये गये हो बिना उस राज्य की सम्मति के जिसका कि मूल स्वामी निवासी हैं, स्थायी रूप से न तो किसी व्यक्ति द्वारा न किसी शत्रु राज्य के कार्य द्वारा, छीने नही जा सकते। अत यह एक स्थिर नियम रहा है कि अचल सम्पत्ति की दशा मे विजयी का वास्तविक कब्जा भी अन्तरण का ऐसा अधिकार उस समय तक नही देता जिसका लक्ष्य मूल स्वामी का अधिकार छीन लेना हो जब तक कि ऐसा परिणाम किसी सधि की शर्तों का अग न बनाया गया हो अथवा राष्ट्र के किसी सार्वजनिक कार्य द्वारा सत्यापित न किया गया हो। उन्ही के शब्दो मे :

'The principle upon which the doctrine rests is that rights *duly acquired cannot be permanently taken away*, either by the act of an individual or by the act of an enemy State, without the consent of the State, to which the original owner belongs It has therefore, been the

established rule that, in the case of immovable property even actual possession by the conqueror does not confer a right of alienation which, after the conqueror has departed, will enure to oust the original owner, unless such a result has formed part of the stipulations of a treaty or been ratified by some public act of the State"

—Phillimore.

सिद्धान्त की परिसीमा (Limitations of the Doctrine) :—परावर्तन सिद्धान्त की परिसीमायें निम्नलिखित हैं :—

१ यह सिद्धान्त उस दशा मे लागू नही है जब कि किसी क्षेत्र का विजयी द्वारा कब्जा करने तथा प्रशासन स्थापन करने द्वारा स्वायत्तीकरण हो गया हो, अथवा जब कोई क्षेत्र सधि द्वारा शत्रु को समर्पित कर दिया गया हो। विजय अर्थात् कब्जा तथा प्रशासन की दशा मे विजित राज्य की सार्वभौमिक सत्ता समाप्त हो जाती है। इस प्रकार हेसे-केसल (Hesse Cassel case) वाले मामले मे इस सिद्धान्त का प्रयोग इस आधार पर नही किया गया कि विजयी ने सधियो द्वारा पूर्ण स्वत्व प्राप्त कर लिया था तथा निर्वाहक सपत्ति पर अपना स्वत्व स्थापित नही कर सकता था। इस सिद्धान्त का प्रयोग केवल अस्थायी दखल अथवा अधीनता की दशा मे किया जाता है जब विजय का समेकन न हुआ हो।

२ तटस्थ देशों मे इस सिद्धान्त का प्रवर्तन नही किया जा सकता है।

३ अधिकार करने वाले द्वारा किये गये न्यायोचित कार्य इस सिद्धान्त के विषय नही हो सकते। ओपेनहेम का कथन है कि परावर्तन का सिद्धान्त पूर्ववर्ती सैनिक अधिकारी के अधिकृत क्षेत्र, व्यक्तियो और उस पर स्थित सम्पत्ति से सबधित ऐसे कार्यों पर कोई प्रभाव नही रखता जिनको वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार करने के लिये समर्थ था, उदाहरणार्थ अपराधियो को दड देना ऐसी चल सम्पत्ति का विक्रय जिसको अधिकार करने वाला स्वायत्तीकरण के लिये समर्थ था। वास्तव मे उस राज्य को जिसके अधिकार मे ऐसे क्षेत्र वापस आ गया हो इन न्यायोचित कार्यों को स्वीकृत करना चाहिये।

४ अधिकार करने वाले द्वारा चन्दा लगाना, अधियाचन तथा करो का सग्रह पूर्वस्थिति पर पुन सस्थापन के सिद्धान्त के प्रयोग से उन्मुक्त है।

५. क्षेत्र पर अधिकार करने वाले शत्रु द्वारा अभिग्रहीत राज्य की अथवा व्यक्तिगत अचल सम्पत्ति मूल स्वामी के पास वापस नही जाती यदि शत्रु का स्वत्व विजय अथवा सधि द्वारा पूर्ण कर दिया गया हो।

६ सन् १८६४ के नाविक नौजितमाल अधिनियम मे यह व्यवस्था की गई है कि यदि कोई जहाज अथवा उसमें लदा हुआ सामान उस युद्ध के बीच किसी समय मे

पुनर्ग्रहण किया जाय जिसमे कि अभिग्रहण हुआ था तो उसको पुनर्ग्रहण सपत्ति के मूल्य के कुछ अश दिये जाने पर वास्तविक मालिक को दे देना चाहिये। यह 'दिया जाना' परिभाषानुसार उबार या पुरस्कार (salvage) (जहाज अथवा उस पर की सामग्री को बचाने का पुरस्कार) कहा जाता है तथा एक प्रकार की क्षतिपूर्ति के रूप मे उन बचाने वालो को दिया जाता है जिनकी सहायता से कोई जहाज अथवा उस-पर की सामग्री समुद्र मे भय अथवा नाश से बचाई गई हो। पुरस्कार अथवा उबार का यह दिया जाना भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न है तथा इस विषय मे कोई एकरूपता नही है।

हेसे-कैसल का मामला (Hesse-Cassel Case) —परावर्तन के सिद्धान्त पर प्रमुख विवाद हेसे-कैसल के इलेक्टर के सम्बन्ध मे है। विवाद के तथ्य, निस्सदेह कुछ उलझे हुये हैं, किन्तु सक्षेप मे वे इस प्रकार हैं :—

फ्रास और प्रशा के बीच १८०६ के युद्ध के परिणाम हेसे-कैसल के इलेक्टर तक पहुँचे, जो कि एक तटस्थ राज्य-क्षेत्र था। फ्रान्स की सेना ने उस क्षेत्र को अपने अधीन कर लिया और वहाँ के इलेक्टर को मार भगाया। उनका तर्क यह था कि इलेक्टर की तटस्थता फ्रान्स की सेना की सुरक्षा को खतरे मे डाल सकती है।

हेसे-कैसल फ्रान्स के सैनिक शासन के अन्तर्गत १८०७ मे अन्त तक रहा और उस समय नैपोलियन ने इसके बहुत बडे भाग को नवनिर्मित राज्य वेस्ट-फेलिया मे निगमित कर लिया। यह टिलसिट की शान्ति (Peace of Tilsit) के परिणाम-स्वरूप हुआ था, जिसके द्वारा रूस और प्रशा ने जेराम बोनापार्ट को वेस्टफैलिया का सम्राट स्वीकार कर लिया था। नैपोलियन और जेरोम मे २२ अप्रैल १८०८ को बर्लिन मे इस बात पर समझौता हुआ था कि व हेसे-केसल के ध्वस को व्यवस्थित किया जाय।

जेरोम ने घोषित किया कि वह नैपोलियन के क्षेत्र में उन सभी व्यक्तियों को अपनी ओर से ऋणमुक्त करता है जो फ्रास के प्रशासक नैपोलियन का ऋण का भुगतान कर दें। इसी प्रकार की उदारतापूर्ण घोषणाएँ नैपोलियन की ओर वेस्टफेलिया के प्रजाजन के प्रति की गई थी।

१८१३ मे नैपोलियन लिप्सिग (Pelpsic) के युद्ध मे शक्ति-क्षीण हो गया और हसे के इलेक्टर का पुत्र अपने पैतृक राज्य क्षेत्र की ओर लौटा और दिसम्बर १८१३ मे मित्र शक्तियों द्वारा उसके पिता के दखल को स्वीकार किया गया, जिसका सर्मथन पुनः १८१४ मे पेरिस की शान्ति (Peace of Paris) में हुआ।

काउण्ट वॉन हॉन् (Count von Hahn) एक बहुत बडी भूमि सम्पत्ति का स्वामी था। उसने हेसे-कैसल के राजकुमार से ऋण रूप मे धन लिया था।

उसने इस ऋण का केवल एक भाग नैपोलियन को अदा किया, और शेष के लिए उसे नैपोलियन की ओर से उन्मुक्ति मिल गई।

उस काउण्ट की मृत्यु के पश्चात, हेसे-कैसल के राजकुमार ने फिर शक्ति प्राप्त करने के पश्चात् अपने धन की अदायगी की माँग की। उसने नैपोलियन द्वारा प्रदत्त उन्मुक्ति को अवैध ठहराया और यह सिद्ध किया कि उस धन का नैपोलियन द्वारा अभिग्रहण एक डाकू के अभिग्रहण के रूप में था, एक विजेता के रूप में नहीं।

अपील के अन्तिम न्यायालय ने यह निष्कर्ष दिया कि राजकुमार का वापस आना अपनी पूर्व-सरकार के तारतम्य में क्रमिक नहीं माना जा सकता और इसलिए निष्कर्ष यह था कि सभी ऋण, भले ही समूचा धन अदा किया गया अथवा नहीं, जिसके लिए नैपोलियन ने उन्मुक्ति प्रदान कर दी, वैध माना जायगा और तथ्यतः उसे भुगतान किया हुआ समझा जायगा।

परिणाम यह हुआ कि इस विवाद में परावर्तन का सिद्धान्त लागू नहीं हो सका। इसका आधार यह था कि इलेक्टर का विजेता उस पर पूर्ण स्वत्व प्राप्त कर चुका था।

अध्याय ४५

युद्ध का समापन

(The Termination of War)

युद्ध समापन की रीतियाँ (Modes of Termination of War) — हेफ्टर (Heffter) का कथन है (as quoted by Phillimore in his International Law, Vol, III, p 770) कि युद्ध को समाप्त करने तथा शान्ति पुनः संस्थापित करने की तीन रीतियाँ हैं।

१ *दोनों पक्षकारों की ओर से शत्रुतापूर्ण कार्यों को वास्तविक रूप से बन्द* किया जाना तथा शान्ति के सम्बन्धों का वास्तविक रूप से नवीनीकरण।

२ एक युद्धस्थित का बिना किसी शर्त के दूसरे की अधीनता स्वीकार करना अथवा जैसा पिट कोबेट का कथन है कि विजय तथा एक युद्धस्थित राज्य का दूसरे द्वारा अपने में पूर्ण रूप से समावेश किया जाना।

३ युद्धस्थित के बीच नियमानुसार शान्ति की संधि का किया जाना।

युद्ध-समाप्ति की प्रथम रीति की ओर ध्यान आकर्षित करने पर शान्ति पुनः स्थापित करने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि नियमानुसार युद्ध समाप्ति की एक

घोषणा की जाय। राज्यों द्वारा साधारणतया वर्ती जाने वाली रीति यह है कि ऐसी घोषणा की जाती है किन्तु इस प्रकार के भी उदाहरण हैं जहाँ युद्धकार्य मौन रूप से बन्द हो गये तथा वास्तविक रूप में शान्ति हो गई। स्वीडन तथा पोलैंड का युद्ध सन् १७१६ में परस्पर शत्रुतापूर्ण कार्यों के बन्द कर देने से समाप्त हो गया, लेकिन शान्ति न्यायानुसार दस वर्ष बीतने के उपरान्त घोषित की गई। फ्रांस तथा स्पेन के युद्ध (१७२०) और रूस तथा प्रशा के युद्ध (१८०१) की समाप्ति इस रीति के दूसरे अधिक उदाहरण हैं। यह रीति असंतोषप्रद है, क्योंकि इससे तब तक के युद्धस्थित तथा तटस्थों के सम्बन्धों मे संदिग्धता तथा अनिश्चितता बनी रह जाती है।

तीसरी रीति अर्थात् युद्ध समाप्ति के लिये शान्ति-संधियों का किया जाना सबसे अधिक सामान्य रूप है। वार्साई की संधियों से युद्ध समाप्ति की इस रीति के उदाहरण प्राप्त होते हैं। यह सब से अधिक संतोषपूर्ण रीति है क्योंकि यह प्रादेशिक संमजनों तथा युद्ध सम्बन्धी क्षतिपूर्ति की व्यवस्था करके भविष्य के सभी वाद-विवाद को समाप्त कर देती है।

शान्ति-संधि का प्रभाव (Effect of Treaty of Peace) :—संधि का तात्कालिक प्रभाव शत्रुतापूर्ण कार्यों का बन्द करना तथा पूर्वस्थिति पर पुनः संस्थापन करना है। इससे सामान्य व्यापारिक सम्बन्ध आरम्भ हो जाते हैं। युद्धबन्दी मुक्त कर दिये जाते हैं। सन् १९४९ के युद्धबन्दियों से व्यवहार सम्बन्धी जेनेवा अभिसमय के अनुच्छेद ११८ मे यह विशेष रूप से अनुबन्धित है कि क्रियाशील शत्रुतापूर्ण कार्यों के बन्द होने के उपरान्त युद्धबन्दी बिना विलम्ब के मुक्त तथा अपने देश को वापस कर दिये जायेगे। इस अनुच्छेद का अक्षरशः प्रतिपालन कोरिया युद्ध में विराम-संधि के लिये मुख्य बाधक रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के मध्यस्थों ने अनिच्छुक बन्दियों को बलपूर्वक कम्युनिस्टो को वापस करने में इस आधार आपत्ति पर की कि यदि बन्दियों को उन्मोचन के उपरान्त उत्पीडन दिया गया तो अभिसमय का प्रयोजन ही असफल हो जावेगा, किन्तु कम्युनिस्टो ने अनुच्छेद की शर्तों के अनुसार जो स्पष्ट हैं उत्तरी कोरिया निवासी तथा चीनी युद्धबन्दियों को समग्र रूप से कम्युनिष्ट प्रदेश को वापस किये जाने की माँग की। अनुच्छेद ११९ में वापस करने की प्रक्रिया विस्तृत रूप से दी गई है। मूल्यवान् वस्तुएँ जो युद्ध बन्दियों से छीन ली गई हों उनको वापस कर देनी चाहिये। उनको अपने साथ अपने निजी असबाब को ले जाने की अनुमति है।

शत्रुता के कार्यों को बन्द होने के परिणामस्वरूप कूटनीतिक सम्पर्क पुनः आरम्भ हो जाता है। संधियों में जैसा कहा गया है क्षेत्रों के संयोजन के सम्बन्ध मे स्पष्ट शर्तें रहती हैं, लेकिन किसी प्रकार की व्यवस्था न होने की दशा मे व्यक्तिगत

सम्पत्ति वापस कर दी जाती है। किन्हीं नये जहाजों का अभिग्रहण तथा क्षेत्रों का दखल समुचित नहीं होता। शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर होने के उपरान्त पुनः अधियाचन नहीं किये जा सकते, तथा चंदा नहीं लगाया जा सकता।

शान्ति की संधि यदि संधि में कोई विशिष्ट अनुबन्ध इसके विरुद्ध न हुआ हो तो युद्ध से पूर्व लिये गये ऋणों अथवा की गई क्षतियों पर आधारित दावों को पुनर्जीवित कर देती है।

यथाधृत (Uti Possidetis) —लॉरेंस का कथन है कि "युद्धस्थित शक्तियों के मध्य स्वत. यह माना गया है कि शान्ति-स्थापना तत्काल विद्यमान अधिकार की स्थिति को उस समय तक वैधकर देती है जब तक इसके विरुद्ध विशिष्ट उपबन्ध संधि में न दिये गये हो। यह 'यथाधृत का सिद्धान्त' (Uti Possidetis) कहलाता है। ऐसे नगर, जिले तथा सूबे जो शत्रु द्वारा युद्धस्थित दखल में हों विजय रूपी स्वत्व द्वारा उनके हो जाते हैं जब तक यह स्पष्ट रूप से न कहा गया हो कि उनका परित्याग कर दिया जाय। समुद्र में शत्रु से किये गये अभिग्रहण जो तब तक नौजितमाल न्यायालय द्वारा दोषयुक्त न ठहराये गये हो अभिग्रहण करने वाले की वैध सम्पत्ति हो जाती है, तथा भूमि पर ऐसी वस्तुओं का अभिग्रहण जिनका कि युद्धस्थित द्वारा विनियोग किया जाना युद्ध के नियमों के अनुसार स्वीकृत है, युक्तरूप से उसी की स्वत्व हो जाती है। (Lawrence : The Principles of International Law, p. 562)। यदि संधि में कोई विरुद्ध अनुबन्ध न हो तो विजित क्षेत्र अधिकारी के कब्जे में रह जाता है और उसे यह अधिकार रहता है कि उसे संयोजित कर ले। युद्धस्थित द्वारा अभिग्रहीत राज्य की सब चल-सम्पत्ति से लाभ उसी अधिकार में रह जाते हैं।

युद्ध-विराम सन्धि तथा युद्ध-विश्रान्ति सन्धि (Armistice and Truce) :—

शान्ति संधियों के पहले सामान्यतः युद्ध विराम संधियाँ होती हैं जो युद्धमानों के मध्य शत्रुतापूर्ण कार्यों के अस्थायी निलम्बन के लिए स्वीकारोक्तियाँ हैं। लॉरेंस के अनुसार किसी सीमित क्षेत्र के भीतर अल्प काल के लिये तथा एक निश्चित प्रयोजन पूरा करने के उद्देश्य से क्रियाशीलता बन्द कर देना यथा मुर्दों को गाड़ने के लिए सामान्यत. शस्त्र प्रयोग स्थगन कहलाता है, लेकिन इसको युद्ध विराम संधि कहना भी उसी के समान शुद्ध है तथा यही प्रयोग इसका आंग्लभाषा में है। इसी प्रकार की स्वीकारोक्ति जो एक लम्बी अवधि तक विस्तृत हो तथा युद्ध के सम्पूर्ण क्षेत्र पर लागू हो प्रायः युद्ध-विश्रान्ति संधि या ट्रूस के नाम से प्रचलित है।

सन् १९०७ के चतुर्थ हेग सम्मेलन से संलग्न भूमियुद्ध सम्बन्धी विधियाँ तथा रूढ़ियों के विनियमों का अनुच्छेद ३७ सामान्य तथा स्थानीय विराम संधियों का भेद बतलाता है। सामान्य विराम संधियाँ युद्धस्थित राज्यों की सम्पूर्ण सैनिक क्रिया-

शीलता को प्रत्येक स्थान मे स्थगित कर देती है, किन्तु स्थानीय विराम सधियाँ उनकी सैनिक क्रियाशीलता को केवल युद्धस्थित सेनाओ के कुछ भागो के बीच तथा एक नियत परिधि के भीतर ही स्थापित करती है।

युद्ध-विराम सधि से युद्ध की वैध स्थिति अप्रभावित रहती है। हेग विनियमो मे यह व्यवस्था दी गई है कि पक्षकारो मे से किसी एक के द्वारा युद्ध विराम सधि का गम्भीर उल्लघन पीडित पक्षकार को उसे भग करने का तथा आवश्यकता की दशा मे शत्रुतापूर्ण कार्यों को तत्काल पुन आरम्भ करने का अधिकार देता है। यदि युद्ध विराम सधि की अवधि निश्चित न की गई हो, तो युद्धमानो मे से कोई भी किसी क्षण क्रियाशीलता पुन आरम्भ कर सकता है, लेकिन उपबन्ध यह है कि वह अपने शत्रु को स्पष्ट तथा पर्याप्त सूचना दे।

सामान्य युद्ध-विराम सधि प्रधान सेनानायको अथवा राजनयिक प्रतिनिधियो द्वारा की जाती है, तथा इसमे राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा सत्यापन अपेक्षित है। आशिक अथवा स्थानीय युद्ध-विराम सधि किसी सेनानायक द्वारा की जा सकती है क्योकि इसमे केवल वे ही सेना बल तथा स्थान सम्मिलित रहते हैं, जो उसके तात्कालिक समादेश के अधीन हैं। इस प्रसग मे सत्याकन आवश्यक नही है।

प्रथम विश्व युद्ध —प्रथम विश्व युद्ध मित्र राष्ट्रो तथा जर्मनी के मध्य समझौता होने पर नवम्बर ११, सन् १९१८ को समाप्त हुआ। इस समझौते का नाम 'युद्ध विराम सधि' (Armistice) रखा गया। इस समझौते का नाम युद्ध-विराम सधि रखना शब्द का अशुद्ध प्रयोग था क्योकि यह एक प्रकार का आत्मसमर्पण था, तथा 'युद्ध समाप्ति' शीर्षक के अन्तर्गत पडता था।

द्वितीय विश्व युद्ध —द्वितीय विश्व युद्ध पराजित सेनाओ द्वारा अपने आपको बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण करने से समाप्त हुआ। इसके उपरान्त सधियाँ जिनसे युद्ध की समाप्ति हुई वे पराजित शक्तियो के साथ नही की गई वरन् उनपर बलपूर्वक लादी गई। जर्मनी के अनुयायी राज्यो के साथ पेरिस मे फरवरी १०, सन् १९४७ को सधियाँ हस्ताक्षरित की गई। जर्मनी तथा आस्ट्रिया के साथ की गई सधियाँ एक ओर इङ्गलैण्ड और अमेरिका तथा दूसरी ओर रूस के मध्य मनमुटाव के प्रभावशाली कारण बनी हैं। जापान की शान्ति सधि जिसके प्रवर्तक अमेरिका तथा ब्रिटेन थे सेनफ्रासिसको मे हुये सम्मेलन मे सितम्बर ८, सन् १९५१ को हस्ताक्षरित की गई। रूस ने इस बात पर जापानी शान्ति-सधि की तीव्र आलोचना की कि इससे जापान को युद्धबन्दी के लिए पूर्णरूप से प्रोत्साहित करने की नीति प्रकट होती थी और इसे नए युद्ध का मसौदा नाम दिया गया। भारत ने जापान के साथ ९ जून, १९५२ को एक अलग शान्ति-सधि पर हस्ताक्षर किए जिसे २७ अगस्त, १९५२ को अनुसमर्थित किया गया।

भाग ४
तटस्थता को विधि

अध्याय ४६
तटस्थता
(Neutrality)

परिभाषा —लौरेंस तटस्थता की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि यह वह स्थिति उन राज्यो की है जो युद्ध के समय मुठभेड मे कोई भाग नही लेते किन्तु युद्धस्थित के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध जारी रखते हैं। तटस्थता एक अर्थ में पूर्वकालिक स्थिति को जारी रखने का नाम है। युद्ध मे प्रविष्ट होने से युद्धस्थित पारस्परिक सम्बन्धो को परिवर्तित कर देते हैं लेकिन वे शक्तियाँ जो तटस्थ रहना पसन्द करती हैं योधियो में किसी से भी अपने सम्बन्धो मे कोई परिवर्तन नही होने देती तथा दोनो पक्षकारो के समान रूप म मित्र बनी रहती हैं। तटस्थता एक स्थिति है जो केवल उसी दशा मे विद्यमान रहती है जब युद्ध हो रहा है।

श्रोपेनहम की तटस्थता की परिभाषा के अनुसार निष्पक्षता वह प्रवृत्ति है जो एक तीसरे राज्य द्वारा योधियों की श्रोर ग्रहण की जाय श्रौर योधियो द्वारा स्वीकृत की गयी हो तथा जिस (ढग) से निष्पक्ष राज्यो तथा योधियो के बीच अधिकार तथा कर्तव्य उत्पन्न होवे। (Neutrality is the attitude of impartiality adopted by third States towards belligerents and recognised by belligerents, such attitude creating rights and duties between the impartial States and the belligerents —Oppenheim)

अत तटस्थता शब्द से यह व्यक्त होता है कि यह राज्य की वह वैध स्थिति है, जिससे वह दो या अधिक योधियो के मध्य युद्ध से अपने को अलग रखता है तथा निष्पक्षता का ढग धारण करता है। इस निष्पक्षता की अवस्था से निष्क्रिय निष्पक्षता अथवा अकर्मण्यता उपलक्षित नहीं होती वरन् इससे एक तटस्थ राज्य को उसके अधिकारो के उल्लघन किये जाने की अवस्था मे अपनी सीमाओ के सरक्षण करने तथा अपनी प्रतिरक्षा करने का अधिकार प्राप्त होता है। तटस्थता से यह भी सम्बद्ध नही है कि योधियो मे से किसी से भी सम्बन्ध तोड दिये जाँय। दूसरी श्रोर यह विधि तटस्थ राज्य को योधियो के विरुद्ध कुछ अधिकारो को प्रदान करती है तथा उसको रूढ विधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय से निर्धारित कुछ कर्तव्यो के पालन करने के लिये बाध्य करती है।

ग्रत विकरशोक उन राज्यो को तटस्थ कहते हैं जो युद्धमान राज्यों में से किसी के साथ भी भाग न लें तथा जो उनमे से किसी से भी मैत्री की सधि से सम्बद्ध न हों। ("Those States are neutrals who take part with neither of the belliger ent powers, and who are not bound to either by any alliance') यदि वे इस प्रकार से सम्बद्ध हो तो वे फिर तटस्थ नही वरन् मित्र हैं।

तटस्थता के भेद (Kinds of Neutrality) .—अन्तर्राष्ट्रीय विधि में भिन्न भिन्न प्रकार की तटस्थता मान्य है। तटस्थता पूर्ण अथवा अपूर्ण (Perfect or Imperfect) हो सकती है। प्रत्येक सार्वभौम राज्य को यह अधिकार है कि उन युद्धो के सम्बन्ध मे जिनमें अन्य राज्य सलग्न हो, पूर्ण तटस्थता रखें। पूर्ण तटस्थता को निरपेक्ष अथवा नैसर्गिक (Absolute or Natural) तटस्थता भी कहा जाता है। अपूर्ण तटस्थता उस दशा मे पायी जाती है जब कोई राज्य भले ही तटस्थ हो, फिर भी युद्ध से पूर्व की गई हुई किसी सधि के परिणामस्वरूप योधियो मे से किसी एक को प्रत्यक्षत अथवा अप्रत्यक्षत कुछ सहायता देने को बाध्य हो। इसको सप्रतिबध तटस्थता (Qualified Neutrality) भी कहा जाता है। इसके उपरान्त चिर-कालिक अथवा स्थायी (Perpetual or Permanent) तटस्थता होती है, जिसका उदाहरण स्विटजरलैण्ड है। तटस्थता के अन्य विभाजन इस प्रकार हैं—सामान्य तथा आंशिक तटस्थता (General and Partial Neutrality), स्वेच्छापूर्वक तथा अभिसमयात्मक तटस्थता (Voluntary and Conventional), सशस्त्र तटस्थता (जिसका अर्थ है सेना के स्थायी सज्जीकरण की दशा) (Armed Neutrality) तथा हितैषी तटस्थता (Benevolent Neutrality) जिससे यह प्रकट होता है कि राज्य यद्यपि तटस्थता का बहाना कर रहा है, तथापि उसका ढग पक्षपात युक्त है।

सन् १६०७ के हेग अभिसमय के अनुच्छेद २ मे यह व्यवस्था दी गई है कि युद्ध की स्थिति की विद्यमानता तटस्थो को बिना विलम्ब के अधिसूचित कर दी जानी चाहिये तथा इसका प्रवर्तन उनके सम्बन्ध में उस समय तक न होगा जब तक कि अधिसूचना प्राप्त न हो जाय।

किसी युद्धस्थित द्वारा तटस्थता का केवल उल्लंघन तटस्थता को समाप्त नही करता वरन् यह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लघन का एक कार्य है। तटस्थता का अन्त युद्ध की समाप्ति पर अथवा युद्धस्थित तथा तटस्थ राज्य के मध्य युद्ध छिड़ जाने से होता है।

तटस्थता तथा तटस्थीकरण (Neutrality and Neutralization) — यह विषय पूर्व प्रसग मे वर्णित किया जा चुका है।

तटस्थता सम्बन्धी आधुनिक धारणा :—अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओ मे तटस्थता की आधुनिक धारणा अज्ञात थी। उन दिनो युद्ध उचित अथवा अनुचित माने जाते थे। ग्रोशस का कथन है कि तटस्थो का कर्तव्य है कि वे ऐसा कोई कार्य न कर जिससे अन्यायपूर्ण कारण के लिये कार्य करन वालो को बल प्राप्त हो अथवा जिससे उसकी प्रगति मे बाधा पडे जो कि एक न्यायोचित युद्ध लड रहा हो। किन्तु यदि कारण सदेहपूर्ण हो तो उन्हें दोनो पक्षकारो की ओर, उनको अपने देश के भीतर से जाने देने से, उनकी सेनाओ के लिये भोजन-सामग्री देने मे तथा घिरे हुए को सहायता न पहुँचाने से अपनी निष्पक्षता प्रकट करनी चाहिये।

व्यापार के विकास तथा यातायात साधनो के उन्नत हो जाने से तटस्थता के विचार का महत्व और भी बढा है तथा तटस्थ वाणिज्य और व्यापार के बिना अड़चन के चालू रहने के लिये युद्ध को रोकना आवश्यक हो गया है।

उन्नीसवी शताब्दी में विशिष्ट बातें जो तटस्थता विषयक हुईं, ये हैं — स्विटजरलैंड तथा बेलजियम का स्थायी तटस्थीकरण हुआ तथा पेरिस की घोषणा (१८५६) हुई जिसमे इस बात पर महत्व दिया गया कि शत्रु के जहाजो पर के माल का स्वायत्तीकरण न होना चाहिये।

हेग का द्वितीय सम्मेलन १६०७ (The Second Hague Conference 1907) :—हेग के द्वितीय शान्ति सम्मेलन मे जो कि १६०७ मे हुआ तटस्थता से सम्बन्धित दो अभिसमय थे। अभिसमय पाँच मे तटस्थ शक्तियो के अधिकारो और कर्तव्यो का आरोपण किया गया था, तथा भूमि के उन निवासियों के अधिकारो एव कर्तव्यो का निरूपण था जो कि युद्ध के बीच पड गये हो। अभिसमय १३ मे नव युद्ध के समय तटस्थ राज्यो के अधिकार एव कर्तव्य दिये गये थे।

अभिसमय पाँच अनुच्छेद एक में तटस्थ शक्तियो के राज्य क्षेत्र की अकाट्यता के सम्बन्ध मे निरूपण किया गया है। इसी प्रकार उसके अनुच्छेदो १४ और १६ में तथा अनुच्छेद एक के तेरहवें अभिसमय मे तटस्थ राज्यो के व्यापक अधिकारो की विवेचना की गई है।

कॉन्वेंशन १३ के अनुच्छेद १ में प्रवर्तित है कि युद्ध सलग्न राष्ट्र तटस्थ शक्तियो के सप्रभु अधिकार का सम्मान करने के लिए बाध्य हैं और उन्हे तटस्थ क्षेत्र और तटस्थ जल सीमा मे प्रवेश करने से अपने-आप को रोकना चाहिए, और ऐसे किसी भी कृत्य स अपने को रोकना चाहिए, जिसे कि यदि जान-बूझ कर किया जाय तो तटस्थता के उल्लघन की सजा दी जा सकती है। अनुच्छेद २ मे उपबधित है कि शत्रुतापूर्ण किया गया कोई काम, जिसमे कि बदीकरण और तलाशी का अधिकार

भी सम्मिलित है, जो कि युद्ध-संलग्न सैनिक पोतो द्वारा किसी तटस्थ शक्ति के क्षेत्रीय जल मे किया जाता है, तो उसे तटस्थता के उल्लंघन की सज्ञा दी जायेगी और कडाई के साथ ऐसे कृत्य निषेधित हैं। अनुच्छेद ३ मे उपबंधित है कि जबकि कोई पोत किसी तटस्थ शक्ति के क्षेत्रीय जल मे पकड लिया जाता है और यदि लाभ की वस्तु अब भी उसके क्षेत्र मे है तो उस तटस्थ शक्ति को अवश्य ही अपने हर-सभव साधनो का प्रयोग करके 'प्राइज', 'आफिसरो' और 'क्रू' सभी को मुक्त कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। अनुच्छेद ७ के अन्तर्गत एक तटस्थ शक्ति इस बात के लिए बाध्य नही है कि दोनो मे से किसी युद्ध-सलग्न शक्ति द्वारा शस्त्रो या सामान्यतः किसी भी ऐसी वस्तु के यातायात को अवश्य हो रोके जिनका कि उपयोग युद्ध में किया जाता है। अनुच्छेद ८ के अन्तर्गत एक तटस्थ राष्ट्र को यथासंभव अपने साधनो का अवश्य ही इस आशय से प्रयोग करना चाहिये कि वह अपने क्षेत्राधिकार मे ऐसे सैनिक पोत की 'फिटिंग' और सैनिक साधनो आदि के लादने के काम को रोके, जिसके लिए उसके पास यह विश्वास करने का आधार है कि उसका उपयोग किसी मैत्रीपूर्ण राष्ट्र के विरुद्ध शत्रुता की कार्यवाही मे प्रयोग किया जायेगा। अनुच्छेद १२ के अन्तर्गत, जब तक कि स्थानीय विधि मे कोई प्रतिकूल विशिष्ट उपबन्ध न किया गया हो, युद्ध सलग्न सैनिक पोतो या युद्ध के अन्य अभिकरणो को एक तटस्थ राष्ट्र के बदरगाहो, राजमार्गों या क्षेत्रीय जल मे २४ घटे से अधिक ठहरने की अनुमति नही है। कॉन्वेंशन मे उल्लिखित विशिष्ट उपबध यहाँ अपवाद माने जायेंगे। युद्ध सलग्न सैनिक पोतो को तटस्थ बदरगाहो मे केवल उतनी ही मरम्मत की अनुमति दी जा सकती है, जितने मे कि वे समुद्र मे चलने-योग्य हो सके। कौन-सी मरम्मत आवश्यक हो गई है, इसका निर्णय तटस्थ शक्ति को ही करना है। (अनु० १७)। अनुच्छेद २१ के अन्तर्गत युद्ध मे प्राप्त लाभ की सामग्रियो से युक्त पोत तटस्थ शक्ति की सीमा मे केवल समुद्र के प्रकोप, मौसम की प्रतिकूलता या ईंधन की कमी आदि के आधार पर ही प्रवेश कर सकते हैं और ज्योंही ये परिस्थितियाँ अनुकूल हो, उन्हे वह सीमा छोड देनी होगी। कॉन्वेन्शन की व्यवहृति केवल सविदात्मक पक्षकारो के बीच होगी और तभी जबकि सभी युद्ध-सलग्न शक्तियाँ कॉन्वेन्शन की सदस्यता से युक्त हो।

लन्दन की घोषणा (The London Declaration) :—तटस्थता की विधि के सहिताकरण के प्रयत्न लन्दन नौसेना कान्फ्रेंस मे १९०८-९ में किया गया था। लदन की यह घोषणा सत्यांकित न हो सकी। इसमे नाकाबन्दी से सम्बन्धित नियमो का तटस्थो के अधिकार के सम्बन्ध मे प्रवर्तन का उल्लेख था। इसमे युद्ध के विनिषिद्ध (Contraband of War) को दो भागो, निर्पेक्ष विनिषिद्ध (absolute (Contraband) और सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध (conditional contraband), मे विभाजित कर दिया गया था।

अनुच्छेद ४८ में तटस्थ पोत जो कि बन्दी कर लिया गया है के सम्बन्ध में व्यवस्था दी गई है कि उसे नष्ट नही किया जाना चाहिये, बल्कि समुचित बन्दरगाह तक ले जाकर उसके बन्दीकरण के प्रश्न की वैधता का निर्धारण किया जाना चाहिये। यदि नौजितमाल को बन्दरगाह तक ले जाने में बन्दी करने वाले को अपनी सुरक्षा खतरे में दिखाई पड़े तो नौजितमाल को नष्ट भी किया जा सकता है। यदि तटस्थ पोत का बन्दीकरण अवैध पाया गया तो बन्दी करने वाला समुचित पक्षकार को मुआवजा देगा भले ही पोत के विनाश का कारण न्यायोचित रहा हो। इसी प्रकार से अनुच्छेद ५६ व ५७ में भी तटस्थ पोत के झंडे, नाकाबन्दी, आदि के सम्बन्ध में विस्तृत उपबंध किये गये है।

अनुच्छेद ५६ के अन्तर्गत किसी युद्ध-संलग्न शक्ति द्वारा अपने किसी भी पोत का किसी तटस्थ ध्वज मे हस्तान्तरण उस समय प्रभावशून्य होगा, यदि वह हस्तान्तरण किसी समुद्री यात्रा या किसी संरोधित (Blockaded) बन्दरगाह में किया जाता है, या उस पोत को फिर से खरीद लेने या प्राप्त कर लेने का अधिकार हस्तान्तरकर्ता द्वारा आरक्षित कर दिया गया है, या नागरिक विधि की वांछनीयता, जो कि जिस ध्वज के साथ वह पोत जा रहा था, उसके अधिकार को नियंत्रण करने के संबंध में है, पूरी नही हुई है।

घोषणा के अनुच्छेद ५७ में कहा गया है कि किसी पोत की तटस्थता या शत्रुता का निर्धारण उस ध्वज से होगा, जिसके साथ वह जाने के लिए प्राधिकृत है, जब कि किसी शत्रु-पोत मे पाये गये माल का निर्धारण उस पोत के स्वामी की तटस्थता या शत्रुता की प्रकृति से किया जायेगा।

१६वी शताब्दी में तटस्थता संयुक्त राज्य की तटस्थ प्रकृति से, जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रभावित थी। साथ ही इस पर स्विटजरलैंड और बेल्जियम के स्थायी तटस्थीकरण, और १८५६ की पेरिस-घोषणा का भी तटस्थता पर विशेष महत्वपूर्ण प्रभाव रहा है।

प्रथम विश्वयुद्ध :—प्रथम विश्वयुद्ध में यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह घोषित किया था कि उसके सम्बन्ध युद्ध मे संलग्न शक्तियो के साथ मैत्री तथा सौहार्द्र के हैं तथापि युद्ध के विनाशकारी शस्त्रो विशेषतः पनडुब्बियो और नाकेबन्दियों तथा प्रतिषिद्ध वस्तुओं के अभिग्रहण सम्बन्धी योधियों के बढ़े हुए अधिकारों के कारण समुद्र की स्वतन्त्रता बनाये रखना और तटस्थ व्यापार का संरक्षण असंभव प्रतीत हुआ। जर्मनी की इस घोषणा के उपरान्त कि सब जहाज राष्ट्रीयता की अपेक्षा बिना जो एक निर्धारित क्षेत्र के भीतर पाये जायेंगे उसके द्वारा डुबा दिये जायेंगे, अमेरिका ने ६ अप्रेल सन् १६१६ को युद्ध घोषित कर दिया।

भी सम्मिलित है, जो कि युद्ध-संलग्न सैनिक पोतों द्वारा किसी तटस्थ शक्ति के क्षेत्रीय जल में किया जाता है, तो उसे तटस्थता के उल्लंघन की संज्ञा दी जायेगी और कड़ाई के साथ ऐसे कृत्य निषेधित हैं। अनुच्छेद ३ में उपबंधित है कि जबकि कोई पोत किसी तटस्थ शक्ति के क्षेत्रीय जल में पकड़ लिया जाता है और यदि लाभ की वस्तु अब भी उसके क्षेत्र में है तो उस तटस्थ शक्ति को अवश्य ही अपने हर-संभव साधना का प्रयोग करके 'प्राइज', 'ऑफिसर्स' और 'क्रू' सभी को मुक्त कर देने का प्रयत्न करना चाहिए। अनुच्छेद ७ के अन्तर्गत एक तटस्थ शक्ति इस बात के लिए बाध्य नहीं है कि दोनों में से किसी युद्ध-संलग्न शक्ति द्वारा शस्त्रों या सामान्यतः किसी भी ऐसी वस्तु के यातायात को अवश्य ही रोके जिसका कि उपयोग युद्ध में किया जाता है। अनुच्छेद ८ के अन्तर्गत एक तटस्थ राष्ट्र को यथासंभव अपने साधना का अवश्य ही इस आशय से प्रयोग करना चाहिये कि वह अपने क्षेत्राधिकार में ऐसे सैनिक पोत की 'फिटिंग' और सैनिक साधना आदि के लादने के काम को रोके, जिसके लिए उसके पास यह विश्वास करने का आधार है कि उसका उपयोग किसी मैत्रीपूर्ण राष्ट्र के विरुद्ध शत्रुता की कार्यवाही में प्रयोग किया जायेगा। अनुच्छेद १२ के अन्तर्गत, जब तक कि स्थानीय विधि में कोई प्रतिकूल विशिष्ट उपबन्ध न किया गया हो, युद्ध संलग्न सैनिक पोतों या युद्ध के अन्य अभिकरणों को एक तटस्थ राष्ट्र के बंदरगाहों, राजमार्गों या क्षेत्रीय जल में २४ घंटे से अधिक ठहरने की अनुमति नहीं है। कॉन्वेंशन में उल्लिखित विशिष्ट उपबंध यहाँ अपवाद माने जायेंगे। युद्ध संलग्न सैनिक पोतों को तटस्थ बंदरगाहों में केवल उतनी ही मरम्मत की अनुमति दी जा सकती है, जितने में कि वे समुद्र में चलने योग्य हो सकें। कौन-सी मरम्मत आवश्यक हो गई है, इसका निर्णय तटस्थ शक्ति को ही करना है। (अनु० १७)। अनुच्छेद २१ के अन्तर्गत युद्ध में प्राप्त लाभ की सामग्रियों से युक्त पोत तटस्थ शक्ति की सीमा में केवल समुद्र के प्रकोप, मौसम की प्रतिकूलता या ईंधन की कमी आदि के आधार पर ही प्रवेश कर सकते हैं और ज्योंही ये परिस्थितियाँ अनुकूल हों, उन्हें वह सीमा छोड़ देनी होगी। कॉन्वेन्शन की व्यवहृति केवल संविदात्मक पक्षकारों के बीच होगी और तभी जबकि सभी युद्ध संलग्न शक्तियाँ कॉन्वेंशन की सदस्यता से युक्त हों।

लन्दन की घोषणा (The London Declaration) —तटस्थता की विधि के संहितावरण के प्रयत्न लन्दन नौसेना कान्फ्रेंस में १९०८-९ में किया गया था। लंदन की यह घोषणा सत्यांकित न हो सकी। इसमें नाकाबंदी से सम्बन्धित नियमों का तटस्थों के अधिकार के सम्बन्ध में प्रवर्त्तन का उल्लेख था। इसमें युद्ध के विनिषिद्ध (Contraband of War) को दो भागों, निरपेक्ष विनिषिद्ध (absolute (Contraband) और सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध (conditional contraband), में विभाजित कर दिया गया था।

को प्रवर्तित न करने के उपायों की व्यवस्था नहीं की गई। यह प्रश्न उठा कि क्या किसी हस्ताक्षर करने वाले द्वारा पैक्ट के अनुबन्धों का उल्लघन किये जाने पर अन्य राज्य उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने को बाध्य हैं ? इस सन्धि के बहुमुखी होने के कारण यह अनुमान किया जा सकता था कि प्रत्येक संविदाकार पक्षकार सन्धि के अधीन अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने को बाध्य है। इस प्रकार किसी हस्ताक्षर करने वाले राज्य द्वारा सन्धि के उल्लघन किये जाने की दशा में उसे प्रतिकार करना पड़ता था। ऐसे उपायों के होने पर उनका विरोध परम्परागत निष्पक्षता की अवस्था से उत्पन्न होता था। केल्सन तटस्थता पर पैक्ट के प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहते हैं . "इस प्रकार तटस्थ राज्य अर्थात् उस राज्य का जो कि अन्य राज्यों के बीच के युद्ध में सम्मिलित नहीं हैं, यह कर्त्तव्य कि योधियों के सम्बन्ध में कठोर निष्पक्षता का दृष्टिकोण ग्रहण करे, उस दशा में जब युद्ध राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप में लड़ा जाय, पैक्ट के पक्षकारों के बीच के सम्बन्ध के विषय में वैध नहीं है।"
"Thus the obligation of a neutral State, that is, a State not involved in the war between other States, to adopt an attitude of strict impartiality toward the belligerents is not valid in the relationship among the parties to the pact in case of war waged as an instrument of national policy"—Kelsen

स्पेन का गृह युद्ध (Spanish Civil War) —स्पेन के गृह-युद्ध (१९३६-३९) में यद्यपि जर्मनी तथा इटली तटस्थता बनाये रहे फिर भी उन्होंने जनरल फ्रैंको के कार्य का समर्थन खुले रूप में किया तथा उसे युद्ध सामग्री प्रदान की। फ्रांस तथा रूस ने भी हस्तक्षेप न करने की आड़ में गणतन्त्रवादियों को अधिकाधिक परिमाण में युद्ध-सामग्री प्रदान की।

पनामा की घोषणा (Declaration of Panama) .—पनामा में एक सम्मेलन सितम्बर २३ और अक्तूबर ३, १९३९ को किया गया जिसमें २१ अमेरिकी गणराज्यों ने जिसमें कि संयुक्त राज्य भी था एक साधारण घोषणा की जिसने इस आवश्यकता को स्वीकार किया कि एकता की एक सामान्य प्रवृत्ति अपनायी जाय, जो कि Buenous Aires Treaty १९३६ और Declaration of Lima of 1938 में निहित है। उन सबका अनुशीलन उस समय किया जाय जबकि अमेरिकी सुरक्षा को योरोपीय संघर्षों के कारण खतरा होने की सम्भावना हो। घोषणा में यह कहा गया कि व्यवहार के कुछ ऐसे नियम बनाये जाँय जो कि अमेरिकी गणराज्य प्रस्तावित करें और जो तटस्थ राज्य की स्थिति के लिये आवश्यक हों तथा तटस्थ के कर्त्तव्यों को पूरा करें।

लीग श्राफ नेशन्स के अधीन तटस्थता:—लीग श्राफ नेशन्स के अभिसमय ने दो प्रकार के युद्ध सामने रक्खे अर्थात् प्रथम वे युद्ध जिनसे अभिसमय के कर्तव्यो की उपेक्षा नही होती थी अर्थात् जिनका अवलम्बन झगडो के शान्तिपूर्ण समझौते के उपायो को करने के उपरान्त किया जाता था तथा द्वितीय वे युद्ध जिनसे अभिसमय के कर्त्तव्यो की उपेक्षा होती थी। प्रथम दशा मे अभिसमय ने लीग के अन्य सदस्यो के ऊपर कोई कर्त्तव्य नही आरोपित किया तथा उनको 'तटस्थता' शब्द के परम्परागत अर्थ मे बनाये रखने को स्वतन्त्र छोड दिया।

दूसरी दशा मे जहाँ कि युद्ध का अवलम्बन झगडो को तय करने के सम्पूर्ण शान्तिपूर्ण साधनो को बिना अन्त किये हुए ही किया जाय, अभिसमय का बडा ही प्रभाव पडा। अनुच्छेद १६ मे यह व्यवस्था की गई है कि "यदि लीग का कोई सदस्य अनुच्छेद १२, १३ अथवा १५ के अन्तर्गत अपनी प्रतिज्ञाओ की उपेक्षा करके युद्ध का आश्रय ग्रहण करे तो उसके द्वारा लीग के सब सदस्यो के विरुद्ध वास्तव मे एक युद्ध का कार्य किया हुआ समझा जायगा और वे इसके द्वारा प्रतिज्ञा करते हैं कि वे तत्काल उसमे सब व्यापारिक तथा आर्थिक सम्बन्ध तोड देगे, अपने राष्ट्रीय-जनो तथा प्रतिज्ञा भग करने वाले राज्य के राष्ट्रीयजनो के मध्य सब सम्पर्क भग कर दगे तथा प्रतिज्ञा भग करने वाले राज्य के राष्ट्रीयजनो तथा किसी भी अन्य राज्य के राष्ट्रीयजनो के मध्य चाहे वह लीग का सदस्य हो अथवा नही सब आर्थिक, व्यापारिक अथवा वैयक्तिक सम्पर्क रोक दगे।" सदस्यो से यह भी अपेक्षा की गई थी कि वे ससद के अभिस्ताव के अनुसार लीग की प्रतिज्ञाओ के सरक्षण के लिए उपयोग मे लाये जाने वाले सशस्त्र बलो के लिए अपना अशभाग अलग-अलग प्रदान करेगे। इसके अनन्तर सदस्यो से यह अपेक्षा की गई थी कि वे प्रतिज्ञा भग करने वाले राज्य द्वारा उन सदस्यो मे से किसी के विरुद्ध प्रयोग मे लाये गये किन्ही विशिष्ट उपायो के प्रतिकार करने मे परस्पर एक दूसरे की सहायता करेंगे तथा लीग के किसी सदस्य के सैनिक दलो को अपने क्षेत्र मे से आने-जाने देगे जो लीग की प्रतिज्ञाओ के सरक्षण के लिये कार्य कर रहे थे। प्रतिज्ञा में ऐसे उपायो के समावेश किये जाने का परिणाम स्पष्ट रूप से "पूर्ण निष्पक्षता की अवस्था का परित्याग तथा तटस्थता का उल्लघन करना था।",

तटस्थता तथा केलोग-ब्रिआड पैक्ट (Neutrality and the Kellogg-Briand Pact):—सन् १९२८ के केलोग-ब्रिआड पैक्ट के अन्तर्गत जो एक बहुमुखी सन्धि थी हस्ताक्षर करने वाले राज्यो ने जो ससार के प्राय. सभी राष्ट्र थे युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय झगडो को निपटाने के साधन रूप मे निन्दा की, तथा यह प्रतिज्ञा की कि ऐसे झगडों को शान्तिपूर्ण उपायो से निपटायेंगे। पैक्ट मे इन कर्त्तव्यो

को प्रवर्तित न करने के उपायों की व्यवस्था नहीं की गई। यह प्रश्न उठा कि क्या किसी हस्ताक्षर करने वाले द्वारा पैक्ट के अनुबन्धों का उल्लंघन किये जाने पर अन्य राज्य उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने को बाध्य हैं ? इस सन्धि के बहुमुखी होने के कारण यह अनुमान किया जा सकता था कि प्रत्येक संविदाकार पक्षकार सन्धि के अधीन अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने को बाध्य है। इस प्रकार किसी हस्ताक्षर करने वाले राज्य द्वारा सन्धि के उल्लंघन किये जाने की दशा मे उसे प्रतिकार करना पडता था। ऐसे उपायों के होने पर उनका विरोध परम्परागत निष्पक्षता की अवस्था से उत्पन्न होता था। केलसन तटस्थता पर पैक्ट के प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहते हैं : "इस प्रकार तटस्थ राज्य अर्थात् उस राज्य का जो कि अन्य राज्यों के बीच के युद्ध मे सम्मिलित नहीं हैं, यह कर्त्तव्य कि योधियों के सम्बन्ध मे कठोर निष्पक्षता का दृष्टिकोण ग्रहण करे, उस दशा मे जब युद्ध राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप मे लडा जाय, पैक्ट के पक्षकारों के बीच के सम्बन्ध के विषय मे वैध नहीं है।" "Thus the obligation of a neutral State, that is, a State not involved in the war between other States, to adopt an attitude of strict impartiality toward the belligerents is not valid in the relationship among the parties to the pact in case of war waged as an instrument of national policy."—Kelsen.

स्पेन का गृह युद्ध (Spanish Civil War) :—स्पेन के गृह-युद्ध (१९३६-३९) मे यद्यपि जर्मनी तथा इटली तटस्थता बनाये रहे फिर भी उन्होंने जनरल फ्रैंको के कार्य का समर्थन खुले रूप मे किया तथा उसे युद्ध सामग्री प्रदान की। फ्रांस तथा रूस ने भी हस्तक्षेप न करने की आड मे गणतन्त्रवादियों को अधिकाधिक परिमाण मे युद्ध-सामग्री प्रदान की।

पनामा की घोषणा (Declaration of Panama) :—पनामा मे एक सम्मेलन सितम्बर २३ और अक्तूबर ३, १९३९ को किया गया जिसमे २१ अमेरिकी गणराज्यों ने जिसमे कि संयुक्त राज्य भी था एक साधारण घोषणा की जिसने इस आवश्यकता को स्वीकार किया कि एकता की एक सामान्य प्रवृत्ति अपनायी जाय, जो कि Buenos Aires Treaty १९३६ और Declaration of Lima of 1938 मे निहित है। उन सबका अनुशीलन उस समय किया जाय जबकि अमेरिकी सुरक्षा को योरोपीय संघर्षों के कारण खतरा होने की सम्भावना हो। घोषणा में यह कहा गया कि व्यवहार के कुछ ऐसे नियम बनाये जाँय जो कि अमेरिकी गणराज्य प्रस्तावित करें और जो तटस्थ राज्य की स्थिति के लिये आवश्यक हों तथा तटस्थ के कर्त्तव्यों को पूरा करें।

पनामा की घोषणा का महत्व :—पनामा की यह घोषणा मुनरो सिद्धांत का ही एक विस्तार था क्योंकि अब इसे एक महाद्वीपी नीति के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। अभी तक यह संयुक्त राज्य की ओर से एकपक्षीय नीति थी। मुनरो का सिद्धान्त राष्ट्रपति मुनरो द्वारा २ दिसम्बर १८२३ को कांग्रेस मे दिया गया एक सन्देश था जिसमे अमेरिका की नीति का एक सिद्धान्त था जो कि योरोप की ओर से अमेरिकी महाद्वीप के राजनीतिक मामलो मे किसी भी हस्तक्षेप का बहिष्कार करता था। पनामा की घोषणा ने इस सिद्धान्त को २१ अमेरिकी गणराज्यो के एक सामूहिक दायित्व के रूप मे परिणित कर दिया जिससे यदि किसी बाहरी शक्ति द्वारा उनके किसी भीतरी मामलो मे हस्तक्षेप हो तो वे अपनी सुरक्षा कर सकें।

घोषणा ने तटस्थ सुरक्षा के एक नये नियम का प्रतिपादन किया जैसे अमेरिकी गणराज्यों का सुरक्षा-क्षेत्र तक दावा। एक आत्म-सुरक्षा के अधिकार के रूप मे यह भी घोषणा की गई कि युद्धस्थित राज्यो के हितो को तटस्थ राज्य क्षेत्रो के अधिकार पर हावी नही होने दिया जायेगा।

इससे तटस्थ गणराज्यो को एक नया अधिकार मिला क्योंकि हस्ताक्षर करने वाली शक्तियो के लिये यह मार्ग खुल गया कि वे आपातिक परिस्थितियों में इस बात का परामर्श करें कि वे व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से घोषणा की व्यवस्थाओ के अनुसार कौन-सा कदम उठावे।

घोषणा में आगे यह व्यवस्था दी गई थी कि—"अगर शान्ति और सुरक्षा को स्थापित करने के लिये क्षेत्रीय जलभाग में सामूहिक शक्ति का प्रयोग करना हो तो अमेरिकी गणराज्यो को यह अधिकार है कि वे ऐसे युद्ध स्थित पक्षकारों के लिये जो उनके दावो का सम्मान न करे, अपने बन्दरगाहो को बन्द कर सकते हैं और इससे किसी प्रकार की शिकायत का आधार नही उपस्थित होता। घोषणा मे शत्रुता के कार्य में लगे हुये योधियो के विरुद्ध संयुक्त प्रतिवेदन का अधिकार दिया गया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध (Second World War) :—सन् १९३९ तथा १९४० में जब रूस ने फिनलैंड पर आक्रमण किया तो यह अतटस्थता-व्यवहार भिन्न-भिन्न राज्यो की ओर से पाया गया, क्योंकि उन्होने स्पष्ट रूप से फिनलैंड को सहायता प्रदान की। द्वितीय विश्वयुद्ध मे अमेरिका ने तटस्थता बनाये हुये जर्मनी द्वारा आक्रान्त तटस्थ देशो के परिसम्पत्ति (assets) को निश्चालन करने (freeze) के उपायों का अवलम्बन किया। उसने ग्रेट ब्रिटेन को धन तथा युद्ध-सामग्री देकर क्रियात्मक रूप मे सहायता की। "नगद तथा ले जाओ" योजना जो अमेरिकी

तटस्थ अधिनियम सन् १९३९ के अधीन बनाई गई थी तथा उधार पट्टा अधिनियम सन् १९४१ के पारित करने के माध्यम से उसने ग्रेट ब्रिटेन को विशाल परिमाण में बमवर्षक तथा विध्वंसक दिये। संयुक्त राज्य अमेरिका ने आत्म-संरक्षण के आधार पर तटस्थता की परम्परागत नीति से इस विचलन का औचित्य स्थापित किया। लेकिन उसके आचरण का पूर्णतः विचार करने पर उससे अप्रतिबन्ध तटस्थता का उदाहरण मिलता है जिसमे एक युद्धस्थित के विरुद्ध भेदभाव प्रकट किया गया है जिसने युद्ध का आश्रय लेकर अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन किया था।

चार्टर के अन्तर्गत तटस्थता (Neutrality under the Charter):— संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का अनुच्छेद २ (५) सब सदस्यो पर यह कर्तव्य आरोपित करता है कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ को किसी कार्यवाही मे जो यह चार्टर के अनुसार करे, प्रत्येक सहायता देंगे तथा किसी ऐसे राज्य को सहायता देने से अपने को रोक रखेगे जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ निवारक अथवा प्रवृत्तिकारक कार्यवाही कर रहा हो। अनुच्छेद २५ के अन्तर्गत सदस्यों ने सुरक्षा परिषद् के निर्णयो को मानना तथा उनका पालन करना स्वीकार कर लिया है। अनुच्छेद ४१, ४२ तथा ४३ ने अपने भिन्न-भिन्न उपबन्धो से तटस्थता का विचार एक वैध पद्धति के रूप मे ही समाप्त कर दिया। अनुच्छेद ४१ सदस्यो को बाधित करता है कि यदि सुरक्षा-परिषद् अपेक्षित करे तो वे ऐसे उपायो को प्रयोग मे लाये जैसे कि "आर्थिक सबंधो तथा रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो तथा अन्य यातायात साधनो का पूर्ण अथवा आंशिक अवरोध और राजनयिक सम्बन्धो का विच्छेद।" यदि सुरक्षा-परिषद् के विचार मे उपर्युक्त उपाय अपर्याप्त हो तो वह अनुच्छेद ४२ के अन्तर्गत वायु, समुद्र अथवा भूमि सेना से ऐसी कार्यवाही कर सकती है, जैसी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को बनाये रखने अथवा उसके पुनः स्थापित करने के लिये आवश्यक हो। इसमे संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यो की वायु, समुद्र अथवा भूमि बलो की क्रियाशीलता भी सम्मिलित है। अन्त में अनुच्छेद ४३ मे यह व्यवस्था की गई है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के समस्त सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित रखने मे अपना भाग देने के लिये यह प्रतिज्ञा करते हैं कि वे सुरक्षा परिषद् के माँगने पर अथवा किसी विशेष स्वीकारोक्ति अथवा स्वीकारोक्तियो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना के लिये सैनिक बल, सहायता तथा सुविधायें प्रदान करेंगे।" ("All members of the United Nations, in order to contribute to the maintenance of international peace and security, undertake to make available to the Security Council, on its call and in accordance with a special agreement or agreements, armed forces, assistance and facilities, including rights of

passage, necessary for the purpose of maintaining international peace and security")

चार्टर के अनुच्छेद ४८ मे यह और व्यवस्था की गई है कि "अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा सस्थापना के सम्बन्ध मे सुरक्षा परिषद् के निर्णयों के निष्पादन के लिये जो कार्यवाही अपेक्षित है वह सुरक्षा परिषद् के समस्त सदस्यो अथवा उनमे से कुछ ही के द्वारा की जावेगी जैसा सुरक्षा परिषद् निश्चय करे।" ("The action required to carry out the decisions of the Security Council for the maintenance of international peace and security shall be taken by all the members of the United Nations or by some of them, as the Security Council may determine") इस अनुबन्ध का यह प्रभाव है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के कुछ सदस्य तो अग्रधर्षक के साथ प्रत्यक्ष सघर्ष मे आ जाते हैं तथा अन्य सदस्यो की जिन्हे सुरक्षा परिषद् अपने निर्णयो को पालन करने के लिये सहायता देने के लिये नही बुलाती, युद्धस्थित के साथ शान्ति अथवा कम से कम अयुध्यमानता रहती है।

अन्त मे अनुच्छेद ५१ में तटस्था को भी यह अनुमति दी गई है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के किसी सदस्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण की दशा मे वे भी वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्मसरक्षण मे भाग ले सकते है। इस अनुच्छेद का लक्ष्य सशस्त्र आक्रमण से पीडित व्यक्ति को सहायता पहुँचाना है। अनुच्छेद मे उल्लिखित है कि "इस चार्टर मे दी गई कोई भी बात सयुक्त राष्ट्र सघ के किसी सदस्य के विरुद्ध किए गए आक्रमण की दशा मे वैयक्तिक अथवा सामूहिक आत्मसरक्षण के अधिकार को उस समय तक क्षीण न करेगी जब तक कि सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की सस्थापना के लिये आवश्यक उपाय न कर ले।" केलसन का कथन है कि "इस उपबन्ध की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि सयुक्त राष्ट्र सघ के तटस्थ सदस्यों को चार्टर द्वारा यह अधिकार दिया गया है कि वे उस राज्य के विरुद्ध जो सशस्त्र आक्रमण करने का दोषी हो केवल युद्ध ही नही, वरन् ऐसे प्रवृति-विषयक कार्य कर सकते हैं, जिनमे सशस्त्र बलो का प्रयोग न करना पडे लेकिन वे सशस्त्र आक्रमण से उत्पीडित ऐसे राज्य के विरुद्ध जो प्रतियुद्ध (counter-war) लड रहा हो, प्रवृतिविषयक कार्य नही करा सकते चाहे उनमे सशस्त्र बल का प्रयोग करना पडे अथवा नही। यदि यह व्याख्या ठीक मान ली जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय विधि का वह सामान्य नियम रद्द हो जाता है जिसके द्वारा तटस्थ राज्यो पर निष्पक्षता का कर्तव्य डाला गया है।" (Principles of International Law, p 87).

संक्षेप में जैसा ओपेनहेम ने कहा है "यद्यपि चार्टर ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के तटस्थ रहने के अधिकार को निश्चित रीति में प्रभावित किया है तथापि इसने संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के मध्य के अथवा असदस्यों के मध्य के अथवा सदस्यों तथा असदस्यों के मध्य के युद्धों म तटस्थता के उनके अधिकार को वस्तुतः समाप्त नहीं कर दिया है। सिद्धान्त में संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई भी सदस्य किसी ऐसे युद्ध में अपनी स्वेच्छा से तटस्थ रहने का अधिकार नहीं रखता जिसमें सुरक्षा परिषद् ने किसी विशिष्ट राज्य को शान्ति भंग करने अथवा किसी अप्रघर्षक कार्य के लिये दोषी ठहराया हो, तथा जिसमें इसने संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्बन्धित सदस्य को उस राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने अथवा युद्ध से अभिन्न सैनिक कार्यवाही करने के लिए आहूत किया हो।" (International Law, Vol 2, 7th Ed , p 647)

जून २७, सन् १९५० को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसके द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से यह अभिस्ताव किया गया कि वे उस क्षेत्र में जो प्रकट म चार्टर के अनुच्छेद ५१ के उपबन्धों के अन्तर्गत था कोरिया के गणतन्त्र को ऐसी सहायता प्रदान करें जैसी सशस्त्र आक्रमण को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा के पुन संस्थापित करने के लिए आवश्यक हो लेकिन इसके सदस्यों से जो प्रत्युत्तर मिला उसे हम बहुत उत्साहवर्धक नहीं कह सकते जिससे यह अनुमान किया जा सके कि जब कभी सुरक्षा परिषद् चार्टर के अनुच्छेद ४१ अथवा ४२ के अन्तर्गत प्रवृत्तिविषयक उपाय करे तो उसके अनुसरण में उपर्युक्त वर्णित वैध परिणाम अवश्य ही होंगे।

तटस्थता और आवश्यकता का सिद्धान्त (Neutrality and the Doctrine of Necessity) —तटस्थता का दृढ रूप में पालन करना सैनिक आवश्यकताओं के कारण प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध में भंग होता रहा है। 'जमोरा' में यह स्पष्ट रूप से कहा गया था कि कुछ प्रतिबन्धों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत युद्धस्थित को अधिकार है कि वह पोत और पण्य-सामग्री को नौजितमाल न्यायालय के निर्णय के पूर्व कि इसे दण्डित किया जाय अथवा मुक्ति प्रदान की जाय, अभिग्रहण कर ले।

तटस्थों के अधिकार तथा कर्तव्य (Rights and Duties of Neutrals) —ओपेनहेम बतलाते हैं कि युद्धकाल में तटस्थ राज्यों के अधिकारों तथा कर्तव्यों दोनों का तटस्थ अथवा युद्धस्थित के दृष्टिकोण से यथाक्रम विचार करने पर उनको निष्पक्षता तथा सहर्ष स्वीकृति म संक्षिप्त किया जा सकता है। तटस्था के अधिकार युद्धस्थित द्वारा उनके साथ व्यवहार म किए जाने वाले कर्तव्यों से परस्पर

सम्बद्ध हैं। तटस्थ राज्यो का यह अधिकार है कि प्रत्येक योधी से निष्पक्षता के ढग से व्यवहार करने की मांग करे। इसी प्रकार तटस्थो का योधियो के प्रति यह कर्तव्य है कि वे युद्ध स्थित को तटस्थ क्षेत्रो तथा द्रव्यसाधनो का उपयोग उनके सैनिक तथा नाविक प्रयोजनो के लिए न करने देने से निष्पक्ष बने रहें। इसी प्रकार तटस्थ राज्यो का यह अधिकार है कि युद्धस्थित से यह मांग करें कि उसका (तटस्थ) शत्रु से बिना किसी हस्तक्षेप के सम्पर्क विशेषतः व्यापार का बना रहे। दूसरी ओर तटस्थ राज्यो को युद्धस्थित की ओर से बहुत सी कार्यवाहियो को शान्त रूप से सहन करना पड़ेगा जो वे शान्ति के समय मे न करते। तटस्थ जहाजो को युद्धस्थित के उनको देखने तथा ढूंढने के अधिकारो को विनम्र भाव से स्वीकृत करना पड़ता है चाहे यह कितना ही दु खद तथा उद्वेगपूर्ण क्यो न हो। प्रत्येक योधी को यह भी अधिकार रहता है कि तटस्थ राज्य के प्रजाजनो को नाकाबन्दी तोड़ने, विनिषिद्ध वस्तुओ को ले जाने तथा अतटस्थ सेवा के लिए दड दे।

प्रोफेसर लॉरेंस ने तटस्थो के अधिकारो तथा कर्तव्यो को विस्तृत रूप से यथाक्रम गणना की है जिस पर नीचे विचार किया जा रहा है :—

तटस्थ राज्य के अधिकार अथवा युद्धस्थित राज्य का तटस्थ राज्य के प्रति कर्तव्य (Rights of a Neutral State or the Duties of a Belligerent towards a Neutral State) —लारेंस के मतानुसार ये पांच हैं :—

१. अपने राज्य क्षेत्र को शत्रुतापूर्ण कार्यों से मुक्त रखना—शत्रुतापूर्ण कार्य युद्धस्थित मे से किसी के क्षेत्र मे, खुले समुद्रो मे तथा ऐसे क्षेत्रो मे जो किसी के भी अधिकार मे न हो किये जा सकते हैं। तटस्थ क्षेत्र की भूमि तथा तटस्थ क्षेत्र के क्षेत्रीय जलभाग अस्पृश्य माने जाते हैं। सन् १६०७ के हेग अभिसमय मे भूमियुद्ध में तटस्थता के सम्बन्ध मे घोषित किया गया है कि "तटस्थ शक्तियो का प्रदेश अनुल्लघनीय है" (अनुच्छेद २) तथा समुद्रीय युद्ध सम्बन्धी तदनुरूप अभिसमय मे यह घोषित किया गया है कि "कोई शत्रुतापूर्ण कार्य जिसमें युद्धस्थित के युद्धपोत द्वारा तटस्थ क्षेत्र के क्षेत्रीय जलभागों मे अभिग्रहण तथा ढूंढने के अधिकार का प्रयोग भी सम्मिलित है, तटस्थता का उल्लघन करता है तथा सर्वदा निषिद्ध है।" (अनुच्छेद २)। केवल अत्यधिक आवश्यकता ही इस हितकर सिद्धान्त के अस्थायी उल्लघन का औचित्य सिद्ध कर सकती है लेकिन ऐसी आवश्यकता बहुत ही बड़ी होनी चाहिए जो आत्मसंरक्षण की सीमा तक पहुँच जाय, तथा स्पष्टीकरण और क्षतिपूर्ति यदि कोई हो, उसके सहित व्यथित तटस्थ को तत्काल समर्पित करनी चाहिये।

२ अपने समुद्र के गर्भ में स्थित समुद्र तार (cables) के साथ जहाँ तक सम्भव हो उपद्रव न होने देना—जहाँ कोई केबिल किसी युद्धस्थित क्षेत्र के किसी तटस्थ के क्षेत्र से जोड़ता हो वहाँ उसे युद्धस्थित द्वारा अभिग्रहीत अथवा विनष्ट नहीं करना चाहिए, जब तक यह न पाया जाय कि वह युद्धकारी के आत्मसंरक्षण के लिए परम आवश्यक है, अथवा जब युद्धकारी को वास्तविक भय इस बात का हो कि वह उसके विरुद्ध हानिकारक रूप में उपयोग किया जायेगा। सन् १९०७ में यथा रूप-भेदित भूमि युद्ध सम्बन्धी हेग संहिता के अनुच्छेद ५४ में यह उपबन्धित है कि समुद्र के गर्भ में स्थित केबिल जो युद्धस्थित के अधिकार में स्थित क्षेत्र को तथा तटस्थ क्षेत्र को जोड़े, अत्यधिक आवश्यकता के कारण बाध्यता को छोड़कर अन्य किसी दशा में अभिग्रहीत अथवा विनिष्ट नहीं करना चाहिए। यदि वे काट दिए जाँय तो उनको वापस कर देना चाहिए तथा शान्ति स्थापित होने पर क्षतिपूर्ति का प्रबन्ध करना चाहिये।

३. शत्रुतापूर्ण कार्यों की प्रत्यक्ष तैयारी से अपने प्रदेश को उन्मुक्त रखना—सन् १९०७ के पंचम तथा त्रयोदश हेग अभिसमय के भिन्न-भिन्न अनुच्छेदों में यह व्यवस्था की गई है कि युद्ध सदृश अभियानों की तटस्थ सीमाओं के भीतर सुसज्जित नहीं होना चाहिये, और न तटस्थ भूमि अथवा जलभाग शत्रु के विरुद्ध क्रियाशीलता के अड्डे बनाना चाहिए। तटस्थ क्षेत्र में योद्धादलों की संख्या न तो बढ़ाई जानी चाहिए, न उनकी भर्ती की जानी चाहिए तथा न वहाँ पर युद्धस्थित के युद्धपोतों द्वारा शस्त्रों तथा युद्ध-सदृश सामग्रियों अथवा अन्य सामग्रियों का संचय करना चाहिए जो युद्ध के लिए प्रत्यक्ष रूप से उपयोगी हों। अतः युद्धस्थित का यह कर्तव्य है कि तटस्थ क्षेत्र को क्रियाशीलता के लिए अड्डे के रूप में अथवा युद्ध सदृश अभियान के संगठन के लिए सुविधाजनक स्थान के रूप में प्रयोग न करें।

४. तटस्थता के लिए बनाये गए विनियमों का युद्धस्थित द्वारा पालन कराना—स्थल युद्ध सम्बन्धी तटस्थता पर सन् १९०७ के हेग अभिसमय में यह व्यवस्था की गई है कि संघर्ष करने वालों के स्थलीय सैन्यदल तटस्थ सीमाओं को पार नहीं कर सकते, उस दशा को छोड़ कर जब वे युद्धस्थित के सेनाओं के अस्वस्थ तथा घायलों को ले जा रहे हों, अथवा जब मृतसैनिकों के समूह शत्रु द्वारा ले जाय जा रहे हों। इन दो दशाओं को छोड़ कर अन्य किसी भी दशा में जो सैन्यदल तटस्थ क्षेत्र में प्रवेश करते हैं एक नियत स्थान में रहने को बाध्य (नजरबन्द) किए जाते हैं। समुद्रीय युद्ध में जब तक कोई तटस्थ स्पष्टरूप से युद्धस्थित के युद्धपोतों का प्रवेश निषिद्ध न करे वे उसके बन्दरगाहों तथा जलभागों के आतिथ्य का उपभोग स्वतन्त्र रूप से कर

सकते हैं। युद्धस्थित के सेनानायक यह माँग कर सकते हैं कि तटस्थो द्वारा बनाये गए नियमो को दोनो पक्षो पर निष्पक्षतापूर्वक प्रवर्तन कराया जाय।

५. जिसने अपनी तटस्थता का उल्लघन किया हो ऐसे युद्धस्थित राज्य से क्षतिपूर्ति करवाना—क्षतिपूर्ति के मूल्य निरूपण के लिये कोई नियत सिद्धान्त नही है। कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अनुशासित करने वाले नियम इस विषय मे स्पष्ट हैं कि अवैध रूप से पकडी गई सम्पत्ति अथवा तटस्थ क्षेत्राधिकार के भीतर अभिग्रहीत जहाज अथवा माल वापस किए जाने चाहिए। लेकिन नियम इससे अधिक नही जाते जिससे कि क्षतिपूर्ति की गणना का क्रम अथवा क्षमा याचना के शब्द निर्धारित किए जाँय। तथापि क्षतिपूर्ति पर्याप्त तथा अपराध की गम्भीरता के अनुरूप होनी चाहिये।

तटस्थ राज्यों के युद्ध-स्थित राज्यों के प्रति कर्तव्य अथवा युद्धस्थित राज्यों के अधिकार (Duties of Neutral States towards Belligerent States or the Rirghts of Belligerents) :—युद्ध-स्थित के प्रति तटस्थो के कर्तव्यो को परहेज (अलग रहने के कर्तव्य), रोकने के कर्तव्य, सहर्ष स्वीकृति (उपमति) के कर्तव्य, वापसी के कर्तव्य तथा क्षतिपूर्ति के कर्तव्यो मे सक्षिप्त में वर्गीकृत किया जा सकता है। इन सब कर्तव्यो के ऊपर एक तटस्थ से यह आशा की जाती है कि वह अत्यन्त निष्पक्ष रहे। निष्पक्षता से तटस्थ राज्य की ओर से वे सक्रिय उपाय व्यक्त होते हैं जिनसे वह युद्धस्थित राज्यो को तटस्थ क्षेत्र तथा तटस्थ साधनो को अपने सैनिक तथा नाविक प्रयोजनो के लिए उपयोग करने से रोकता है। तटस्थ राज्य को किसी प्रकार का अधिक सम्मान अथवा भेदभाव दिखाने से बचा रहना चाहिए क्योकि यही निर्लेपभाव तटस्थता का मुख्य तत्व है।

परहेज (अलग रहने के कर्तव्य) (Duties of Abstention) :—तटस्थ शक्ति को किसी पक्ष को सैनिक सहायता न देनी चाहिए। इसे युद्धस्थिति मे से किसी को भी रुपया उधार देने अथवा युद्ध के उपकरण या गोला बारूद देने अथवा बेचने से अपने आप को अलग रखना चाहिये। इससे अधिक तटस्थ राज्य को शत्रुतापूर्ण कार्यों से सम्बन्धित विषयो मे एक पक्ष को ऐसे विशेषाधिकार देने से अपने को वर्जित करना चाहिये जैसा कि यह दूसरो को नही देता। लेकिन तटस्थ पर यह कर्तव्य भार नही लादा गया है कि वह ऐसे सामान की व्यक्तिगत विक्रय पर रोक लगावे। जैसा लोरेंस ने सकेत किया है कि बहुत से अन्य विषयों के समान इस विषय मे भी व्यक्तिगण वह कर सकते हैं जो कि उनकी सरकार न करे। इसी आधार पर पेकिंग की सरकार ने कोरिया के युद्ध की प्रारम्भिक अवस्था मे, जब यह विषय सयुक्त राष्ट्र सघ के समक्ष उठाया गया, उन लाल चीन असैनिक व्यक्तियो का

उत्तरदायित्व लेने से अस्वीकार कर दिया, जिन्होने उत्तरी कोरिया वालो को सहायता देने के लिये सीमा को पार कर दिया था। सन् १६०७ के हेग अभिसमय ५ के अनुच्छेद ६ मे यह व्यवस्था की गई है, कि केवल इसी बात से कि व्यक्तिगण सीमा को अलग-अलग योधियो मे से किसी एक को अपनी सेवाये प्रदान करने के लिये पार करते हैं तटस्थ शक्ति का उत्तरदायित्व लपेट मे नही आता।

तटस्थ राज्य से यह आशा नही की जा सकती कि वह युद्धस्थित मे से किसी की ओर से भी ऋण की प्रतिभूति करे। लेकिन यदि उसके प्रजाजन युद्धकारियो मे से किसी एक को शुद्ध व्यापारिक व्यवहार के रूप मे ऋण दे तो इसमे तटस्थ की ओर से कर्त्तव्यो का उल्लघन नही कहा जा सकता।

रोकने का कर्त्तव्य (Duties of Prevention) :—सक्षिप्त रूप मे कहे जाने पर रोकने के कर्त्तव्यो मे तटस्थ द्वारा अपने क्षेत्राधिकार के भीतर उन बातो का रोकना आता है जिनको युद्धस्थित वहाँ न करने के लिये बाध्य हैं। सन् १६०७ के हेग अभिसमय के भिन्न-भिन्न अनुच्छेदो मे यह व्यवस्था की गई है, कि योधियो के हितो मे तटस्थ शक्ति के प्रदेश मे लडने वालो की पलटन नही बनाई जानी चाहिये, न वहाँ भर्ती के कार्यालय खोले जाने चाहिये तथा तटस्थ शक्तियो को वह उपाय करना चाहिये जिससे उनके भूमि-क्षेत्र में युद्धस्थित राज्यो मे से किसी एक को भी सेनाओ के लिये मनुष्यो की भर्ती रोकी जा सके। तटस्थ राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने क्षेत्र के किसी भाग का भी युद्धस्थित के नाविक अथवा सैनिक क्रियाशीलता मे प्रयोग किया जाना अथवा वहाँ से उनके हितो मे संगठित युद्ध सदृश अभियानो का सुसज्जित किया जाना अथवा पृथक् होना रोके...... तटस्थ अपने क्षेत्र मे योधियो द्वारा नौजितमाल न्यायालय की स्थापना तथा अपनी भूमि के किसी भाग के ऊपर से भूमि सेना का आवागमन रोकने को बाध्य है।"—(Lawrence : The Principles of International Law, p. 634)

युद्धपोतों का ठहरना तथा उनकी मरम्मत (Stay and Repairs of Warships) :—तटस्थ राज्य को युद्धस्थित के युद्धपोतो का तथा उनके नौजितमाल का अपने बन्दरगाहो तथा जलभागो मे अनुचित ठहरना रोकना चाहिये।

सन् १६०७ के द्वितीय हेग सम्मेलन ने तेरहवें अभिसमय मे यह नियत किया गया कि युद्धस्थित के युद्धपोतो की अधिक से अधिक सख्या जो किसी तटस्थ के एक बन्दरगाह मे अथवा उसके यातायात मार्गों मे एक साथ किसी समय मे रह सकती है, वह तीन होनी चाहिये, लेकिन इसने तटस्थ देश को यह अधिकार दिया कि इसके विरुद्ध विशेष उपबन्ध बना सकती है। सन् १६०७ के द्वितीय हेग सम्मेलन मे यह भी नियत किया गया कि तटस्थ शक्ति के विधियो मे इसके विरुद्ध कोई विशेष

उपबन्धो के न होने की दशा में, किसी युद्धकारी का युद्धपोत उसके किसी एक बन्दरगाह मे केवल २४ घंटो के लिये ही ठहर सकता है। जहाज को क्षति अथवा प्रतिकूल मौसम के कारण और अधिक काल के लिये ठहरने की अनुमति दी जा सकती थी। ऐसी दशा मे उसे विलम्ब का कारण समाप्त होते ही विदा हो जाना चाहिये और इसमे चूक होने पर उसे नियन्त्रित स्थान में किया रहने के लिये बाध्य किया जाना चाहिये। 'ट्रेक' वाले मामले मे यह निर्धारित किया गया, कि युद्धस्थित के जहाजो को गम्भीर आवश्यकता अथवा तीव्र वायु की दशाओ को छोड कर अन्य किसी दशा में चौबीस घन्टो से अधिक ठहरना वर्जित हैं। उन्हें यह भी वर्जित किया गया कि अपने देश के सब से निकटवर्ती बन्दरगाह में पहुँचाने के लिये जितनी खाद्य सामग्री आवश्यक हो उससे अधिक वे अपने साथ न ले जांय। 'मन्चूर' वाने मामल मे भी इस बात पर महत्व दिया गया कि तटस्थ क्षेत्रो को युद्ध मे लगे हुये राज्यो के जहाजो का आश्रय न बनाना चाहिये तथा कोई युद्धस्थित जहाज २४ घन्टो से अधिक नही ठहर सकता। 'लीना' वाले मामले मे यह भी सम्मति प्रकट की गई कि तटस्थ क्षेत्र मे केवल असैनिक मरम्मत की जा सकती थी तथा यदि सैनिक मरम्मत की जाय तो जहाज तटस्थ बन्दरगाह मे रखना चाहिये तथा उसके नौचालको को पैरोल पर छोड देना चाहिये और उनको राज्य के क्षत्र से भागने न दिया जाना चाहिये। अन्य शब्दो मे उन मरम्मतो का कठोर निषेध था जिनसे जहाज की युद्ध करने की क्षमता तथा कार्यक्षमता बढती थी।

सन् १९०७ के तेरहवें हेग सम्मेलन के अनुच्छेद २३ मे यह व्यवस्था की गई है कि तटस्थ राज्य नौजितमाल न्यायालय के निर्णय के आलम्बित रहने तक नौजितमाल को अपने बन्दरगाहों मे जमा रहने दे सकता है किन्तु तटस्थ बन्दरगाह युद्धस्थित नौजितमाल के लिये आश्रय अथवा स्थायी अड्डे न बनने चाहिये।

सन् १९२३ के वायु युद्ध सम्बन्धी नियमो की प्रक्रिया के मसौदे मे यह व्यवस्था की गई है कि तटस्थ सरकार को युद्ध मे लगे हुये राज्य के सैनिक हवाई जहाजो को अपने क्षेत्राधिकार के भीतर प्रवेश करने से रोकने के लिये उन साधनो का उपयोग करना चाहिये जो उसके अधिकार मे हो तथा यदि वे ऐसे क्षेत्राधिकार के भीतर प्रवेश कर जांय तो उन्हे उतरने को बाध्य करें। एक तटस्थ सरकार से यह अपेक्षा की गई है कि किसी के युद्ध मे लगे हुए सैनिक हवाई जहाज को जो इसके क्षेत्राधिकार के भीतर हो, तथा जो किसी भी कारण से उतरा हो, नजरबन्द करने के लिये उन साधनो का उपयोग करे जो उसके अधिकार मे हो।

तटस्थ राज्य का यह कर्त्तव्य है कि अपने क्षेत्र के किसी भाग को युद्धस्थित द्वारा सूचना स्थान के रूप मे उपयोग न करने दे। द्वितीय हेग सम्मेलन नें युद्ध मे

लगे हुए राज्यों को यह निषिद्ध किया कि तटस्थ क्षेत्र में कोई ऐसा बेतार का गृह अथवा यन्त्र न स्थापित करें जो उनकी भूमि तथा समुद्रीय सेना को सूचना भेजने के साधन के रूप में काम में लाया जा सके।

उपमति के कर्त्तव्य (Duties of Acquiescence) :—तटस्थ राज्य को समुचित युद्ध सदृश क्रियाशीलता के बीच में पहुँचाई हुई प्रासगिक क्षति को मौन रूप में ही स्वीकार करना चाहिये। इसे उपमति का कर्त्तव्य कहते हैं। युद्धस्थित के समुद्र में ढूंढने तथा अभिग्रहण करने के सम्बन्ध में यह अपनी उपमति के कर्त्तव्यों का पालन करने के लिये बाध्य हैं, चाहे वे कितनी ही दुःखद क्यों न हों।

पुनःस्थापन या वापसी के कर्त्तव्य (Duties of Restoration) :—लौरेंस यह बतलाते हैं कि ऐसे कर्त्तव्य "तब उत्पन्न होते हैं जब कि युद्धस्थित राज्य विधि को भंग कर देता है तथा तटस्थ सार्वभौमिकता का अपने शत्रु को हानि पहुँचाने में तिरस्कार करता है। उदाहरणार्थ यदि वह तटस्थ जलाशयों के भीतर नौजितमाल अभिग्रहण करे तो द्विगुणित अपकार हो जाता है। वह शक्ति जिसके अधिकार का तिरस्कार किया गया, तथा वह जिसने अपना जहाज गँवाया, दोनों उसके इस दुष्कार्य के कारण हानि उठाते हैं। हानि उठाने वाले युद्धस्थित को क्षतिपूर्ति के लिये उस तटस्थ से प्रार्थना करनी चाहिये, जिसके क्षेत्राधिकार के भीतर अवैध कार्य किया गया तथा तटस्थ को हानि पहुँचाने वाले युद्धस्थित के विरुद्ध उसके सार्वभौमिक अधिकारों का तिरस्कार करके शान्ति भङ्ग करने के लिये दावा करने का अधिकार है।" (Lawrence : The Principles of International Law, p. 652)। इसी प्रकार जब कोई नौजितमाल किसी तटस्थ बन्दरगाह में समुद्रयात्रा के लिये अयोग्यता, तीव्र हवा, ईंधन अथवा खाद्य-सामग्री का अभाव इत्यादि के अतिरिक्त अन्य किसी नियमविरुद्ध रीति से लाया जाय तो प्रतिदान या वापसी का कर्त्तव्य उत्पन्न होता है। तटस्थ शक्ति का यह कर्त्तव्य है कि जहाज को उसके पदाधिकारियों तथा चालकों सहित उन्मुक्त किये जाने के लिये प्रयत्नशील होवें। तटस्थ राज्य के ऊपर यह कर्त्तव्य भार है कि नौजितमाल को उस युद्धस्थित को वापस कर दे जिसकी हानि हुई हो।

क्षतिपूर्ति के कर्त्तव्य (Duties of Reparation) :—"जब कोई युद्ध में लगा हुआ राज्य किसी तटस्थ पर अन्तर्राष्ट्रीय विधि द्वारा लगाये गये कर्त्तव्यों के उसके (तटस्थ के) द्वारा अपनी कुभावना अथवा शिथिलता के कारण पालन किये जाने में असमर्थ रहने के कारण हानि उठावे, तो उस हानि तथा क्षति की पूर्ति के लिये एक वैध अधिकार उत्पन्न हो जाता है।" (Lawrence : The Principles

of International Law, p. 654)। लेकिन यदि निवारण के उपाय किये जाँय तथा असफल रहे तो तटस्थ राज्य पर कोई दायित्व नही रहता।

निर्णय विधि (Case Law) :—तटस्थता का स्पष्ट विचार रखने के लिये इस विषय पर मामलो से निर्धारित निम्नलिखित निर्णय-विधि उल्लेखनीय हैं :—

Twee Grebroeders [(1800) 3 C. Rob. 162] मे लार्ड स्टोवेल द्वारा यह निरूपण किया गया कि "शत्रुता का कार्य तटस्थ भूमि पर प्रारम्भ न होना चाहिये। इतना कहना पर्याप्त नही है कि यह वहाँ पूर्ण नही हुआ—आपको वहाँ कोई ऐसा उपाय नही करना चाहिये जिससे तत्काल हिंसात्मक कार्य उत्पन्न हो, आपको किसी स्थान का ऐसा लाभ न उठाना चाहिये जिससे यह प्रतीत हो कि आप उस तटस्थ क्षेत्र को सुविधाजनक स्थान के रूप मे उपयोग कर रहे हैं, जिसे दोनो युद्धस्थित राज्यो के मध्य पूर्ण समानता के साथ व्यवहार करना है जिससे उनमे से किसी एक को कोई विशेष लाभ न पहुँचे।"

Alabama Claims [(1872) I Moore, International Arbitration, p. 653] मे न्यायाधिकरण द्वारा यह निर्णय किया गया कि तटस्थ सरकार अपने क्षेत्राधिकार के भीतर किसी जहाज का सुसज्जित किया जाना अथवा उसके शस्त्रीकरण अथवा साधनयुक्त किया जाना उचित उद्योग के साथ रोकने के लिये बाध्य है, जिसके (जहाज के) लिये उसके पास यह विश्वास करने के लिये युक्तियुक्त आधार हो कि उसका (जहाज का) अभिप्राय उस शक्ति के विरुद्ध समुद्र मे इधर उधर चक्कर लगाना अथवा युद्ध करना है जिसके साथ उसकी सन्धि हो।

General Armstrong (Pitt Cobbett's Leading Cases, Vol. II, Ed. V, p. 351) वाले मामले में यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि यदि कोई युद्धस्थित राज्य आक्रमण किये जाने पर तटस्थ का सरक्षण ढूंढे बिना ही अपनी प्रतिरक्षा करना पसन्द करता है तो वह तटस्थ राज्य को किसी और उत्तरदायित्व से मुक्त कर देता है।

Appam वाले मामले मे एक जर्मन जंगी जहाज ने Appam नामक एक ब्रिटिश व्यापारिक जहाज को एमडन से १६०० मील दूरी पर बन्दी बना लिया तथा फरवरी १, सन् १६१६ को उसे नारफोक बन्दरगाह (सयुक्त राज्य अमेरिका) पर लाया, यद्यपि सयुक्त राज्य अमेरिका उस समय तटस्थ था। जहाज के विरुद्ध मानहानि की कार्यवाही इस आधार पर आरम्भ की गई कि बन्दरगाह मे उसकी उपस्थिति सयुक्त राज्य अमेरिका की तटस्थता के उल्लघन स्वरूप था। सर्वोच्च

न्यायालय ने यह निर्णय किया कि एक अमेरिकन बन्दरगाह को बन्दी किये गये जहाजो को वहाँ अनिश्चित काल के लिये रखने के लिये सग्रहस्थान के रूप मे उपयोग किये जाने का प्रयत्न करना संयुक्त राज्य अमेरिका की परम्परागत नीति तथा जल-युद्ध मे तटस्थ शक्तियो के अधिकार तथा कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे हेग प्रतिज्ञा के अनुबन्धो के अधीन तटस्थता का भग करना है ।

जमोरा [(1916) 2 A. C. 77] वाले मामले मे निर्णय के लिये नौजितमाल न्यायालय की अभिरक्षा मे स्थित अपने जहाजो तथा माल के सम्बन्ध मे तटस्थो के अधिकारो की विवेचना करते हुये लार्ड पार्कर ने यह कथन किया कि युद्धस्थित शक्ति को अपने जहाजो अथवा माल को जो नौजितमाल के न्यायालयो की अभिरक्षा मे इस प्रश्न के निर्णय के आलम्बित रहने तक पड़े हो कि उनको दोषी ठहराया जाय अथवा उन्मुक्त किया जाय, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार अधियाचना करने का अधिकार है किन्तु ऐसा अधिकार कुछ सीमितियो के अधीन है । प्रथम यह कि विवादग्रस्त जहाज अथवा माल राज्य की प्रतिरक्षा, युद्ध के चलाने अथवा राज्य की सुरक्षा सम्बन्धी अन्य विषयो के लिए अत्यन्त आवश्यक रूप से अपेक्षित होना चाहिये । द्वितीय, परीक्षण के लिये प्रश्न वास्तविक रूप का होना चाहिये जिससे तत्काल उन्मोचित किये जाने का आदेश देना अनुचित हो । तृतीय, यह कि अधिकार नौजितमाल न्यायालय को प्रार्थना पत्र देकर प्रवृत्त कराया जाना चाहिये, जो इस बात का न्यायिक रूप से निर्णय करेगा कि क्या मामले की उन विशिष्ट परिस्थितियो मे अधिकार का उपयोग किया जा सकता है अथवा नही ।

अध्याय ४७
संकटाधिकार
(Right of Angary)

संकटाधिकार (Right of Angary) से युद्ध मे स्थित राज्य की युद्ध अथवा अन्य सार्वजनिक भय उत्पन्न होने पर तटस्थ राज्य की ऐसी सम्पत्ति को उपयोग करने अथवा यदि आवश्यकता आ जाय तो उसको विनष्ट करने का भी अधिकार होता है जैसा उसके क्षेत्रिक अधिकार क्षेत्र के भीतर किसी विशेष समय मे हो । यह युद्धस्थित राज्य को सार्वजनिक आवश्यकता के समय जहाजो, रेल के डिब्बों, वायुयानो तथा यातायात के अन्य साधनो का जो तटस्थ शक्तियो के

राष्ट्रीयजनों के अधिकार मे हो, किन्तु जो उस समय उसके अपने क्षेत्रीय अधिकार क्षेत्र के भीतर आते हो, अधियाचन अथवा उपयोग करने का अधिकार देता है। यह इस सिद्धान्त पर आधारित होता है कि राज्य का सर्वोच्च हित विधि का अतिक्रमण कर जाता है। यह इस सामान्य सिद्धान्त पर भी आधारित है कि युद्धस्थित राज्य के क्षेत्र में स्थित तटस्थ राज्य की सम्पत्ति को वैसे ही सकटो का सामना करना पड़ता है जैसा कि युद्ध में लगे हुए राज्य के राष्ट्रीयजनो की सम्पत्ति को तथा वह युद्ध एव अन्य राष्ट्रीय सकट के समय अधियाचन करने अथवा अंशभाग प्रदान करने के लिये उसी प्रकार के उत्तरदायित्व के अधीन है। इसी अधिकार को droit d'angarie अथवा पीतवर्षण (jus angariae) भी कहते हैं तथा इसी का रूपान्तर अंग्रेजी में angary है जिसे सकटाधिकार के नाम से पुकारते हैं।

इसकी उत्पत्ति :—सकटाधिकार (Angary) शब्द की व्युत्पत्ति फारसी शब्द से है जिसका अर्थ सम्राट् के दूत सेवा मे लगे हुये 'दूत' से है। इस शब्द ने तदन्तर ग्रीस तथा रोम मे स्थान प्राप्त किया। ओपेनहेम का कथन है कि शब्द angaria की व्युत्पत्ति जिसका अर्थ मध्यकालीन लैटिन मे post-station ग्रीक भाषा के उस शब्द से हुई है जिसका अर्थ दूत है। अतः jus angariae का अर्थ अक्षरश ढुलाई का अधिकार होगा। रोमन विधि मे इससे गाडियो, घोडो, इत्यादि का अधियाचन प्रकट होता था तथा यह केवल भूमि-सम्बन्धी ढुलाई तक ही सीमित था। मध्ययुग में सकटाधिकार (angary) से यह व्यक्त होता था कि युद्धस्थित राज्य के बन्दरगाह मे स्थित तटस्थ जहाज पकड लिये जाँय तथा सैन्य दलो और रसद ले जाने को बाध्य किये जाँय। आधुनिक युग में यह अधिकार, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, युद्धस्थित को युद्ध अथवा अन्य सार्वजनिक भय के समय में इस अधिकार से युक्त करता है कि वह आक्रमण अथवा प्रतिरक्षा के लिये क्षतिपूर्ति देने पर विदेशी जहाजो, हवाई जहाजो तथा यातायात के अन्य साधनो का अधियाचन करे जो उसके क्षेत्रीय अधिकार क्षेत्र के भीतर हो।

ओपेनहेम (Oppenheim) का मत :—मूल angary के अधिकार के विपरीत मे आधुनिक angary का अधिकार युद्धस्थित राज्य का वह अधिकार है कि आवश्यकता पडने पर आक्रमण अथवा प्रतिरक्षा के लिये अपने क्षेत्र मे अथवा शत्रु के क्षेत्र मे अथवा खुले समुद्र मे स्थित तटस्थ राज्य की सम्पत्ति को विनाश करे अथवा उनका उपयोग करे। उनके अनुसार यह अधिकार ऐसा अधिकार है जो युद्ध के विधि से व्युत्पन्न है, तथा इनका भ्रम उस अधिकार से नही करना चाहिये जो प्रत्येक राज्य अत्यन्त आवश्यकता को दशा मे क्षतिपूर्ति देने के अधीन अपने क्षेत्र में

स्थित किसी विदेशी सम्पत्ति को अभिग्रहण करने का रखता है। अतः किसी को इस प्रकार की उक्ति न करनी चाहिये कि तटस्थों तथा युद्धस्थित के सम्बन्धित नष्ट का अधिकार है अथवा शान्ति तथा युद्ध में नष्ट का अधिकार है। (International Law, Vol. 2, 7th Ed. 765).

पिट कोबेट (Pitt Cobbet) का मत —पिट कोबेट नष्टाधिकार (angary) को सार्वभौमिक अधिकार मानते हैं।

फिलिमोर का मत —डा० फिलिमोर का कथन है कि "अभी एक अन्य उपाय है जिसमें युद्धस्थित के लक्षण का भी अंश है और यद्यपि यहाँ बात कही जाय तो उसका प्रयोग शान्ति के समय में भी किया जाता है जिसे फ्रान्स में नाया में le droit d'angarie कहते हैं। यह राज्य का एक कार्य है जिसके द्वारा विदेशीय तथा निजी घरेलू जहाज भी जो उनके क्षेत्राधिकार के भीतर पाये जाये पकड़ लिये जाते हैं, तथा सैनिकों, गोलाबारूद अथवा युद्ध के अन्य उपकरणों का वहन करने के लिये बाध्य किये जाते हैं। अन्य शब्दों में एक व्यक्ति के विरुद्ध जिसकी उनकी सन्धि है अपनी इच्छा के प्रतिकूल प्रत्यक्ष दासता के कार्य करने में सहकार बनने के लिये बाध्य किये जाते हैं।"

सन् १९०७ के द्वितीय हेग सम्मेलन के अभिसमय ५ के अनुच्छेद १९ में नष्टाधिकार विशेष रूप से स्वीकृत किया गया है जिसके द्वारा अति आवश्यक दशा में क्षतिपूर्ति दिये जाने के अधीन युद्ध में लगे हुए पक्ष को तटस्थ की रेलवे सामग्री उपयोग करने की अनुमति दी गई है। अन्य तटस्थ सम्पत्ति भी यदि सैनिक आवश्यकता ऐसा निर्दिष्ट करे तो उपयोग में लाई अथवा विनष्ट की जा सकती है। फिलिमोर का यह मत है कि इस अधिकार का प्रयोग केवल तभी हो सकता है जब भाड़ा पेशगी दिया जाय तथा उसके साथ यह और भी शर्त है कि माल अथवा जहाजों के स्वामियों को वह हानि पूर्ति की जाय जो उनको अपने बेड़ा लाने में विघ्न पड़ने तथा जिस माल को वे ले जा रहे हैं उसके सम्भाव्य विनाश के कारण उत्पन्न हो।

सन् १८७० का फ्रांस तथा जर्मनी का युद्ध (Franco-German War of 1870) :—सन् १८७० के फ्रांस तथा जर्मनी के बीच समादेशक जर्मनी के जनरल ने ब्रिटेन के छः जहाजों को सान नदी में डक्वेनेर नगर के समीप पकड़ा तथा उनको सान नदी में डुबा दिया जिससे नदी का मार्ग रुक जाय तथा फ्रांस की तोपों से सुसज्जित नावें नदी के ऊपर जाकर जर्मनी की सैनिक क्रियाकलाप में विघ्न न डाल सकें। इङ्गलैंड युद्ध में तटस्थ था। प्रिंस बिस्मार्क ने उनके दावा पूरा स्वीकार किया तथा न्यायोचित आकलन के अनुसार मूल्य देने का प्रस्ताव किया।

उन्होने यह तर्क किया कि विवादपूर्ण उपाय चाहे उसका स्वरूप कितना ही अलौकिक हो अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध सदृश आचरण की सीमा का उल्लघन नही करता। एक उत्कट सकट सन्निकट था तथा उसको टालने का कोई भी अन्य उपाय उपलब्ध नही था। अत. यह मामला एक आवश्यक विषय था जिसमे शान्ति के समय मे भी विदेशी सम्पत्ति का उपयोग अथवा विनाश को क्षतिपूर्ति किये जाने की शर्त के अधीन ग्राह्य होता। इसके उपरान्त जर्मन चान्सलर ने सर आर० फिलिमार के ग्रथ से उस अनुच्छेद का उद्धरण प्रस्तुत किया जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। तत्पश्चात् अंग्रेजी जहाज मालिको को उनकी हानि के लिये क्षतिपूर्ति की धनराशि दी गई।

परिसीमन (Limitations) :—सकटाधिकार (Angary) सार्वभौमिक अधिकार है तथा किसी सार्वभौम राज्य द्वारा राष्ट्रीय सकट मे इसका प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन उपबन्ध यह है कि अधियाचित माल तथा यातायात के साधन उनके अधियाचन करने वाले राज्य के क्षेत्रीय क्षेत्राधिकार के भीतर पड़े हो। यह अधिकार अधियाचन करने वाले राज्य के क्षेत्रीय जलभागो तक ही सीमित है तथा इसकी क्षेत्रीय सीमाओ को उल्लघन नही करता। भारी राष्ट्रीय सकट उपस्थित होने पर यह अधिकार का प्रयोग तटस्थ राज्य द्वारा भी किया जा सकता है। ऐसे अधियाचन क्षतिपूर्ति की पूर्ण धनराशि देन की शर्त के अन्तर्गत ही किये जा सकते हैं। इस अधिकार का प्रयोग उस युद्धस्थित राज्य द्वारा नही किया जा सकता जिसके अधिकार मे शत्रु का क्षेत्र हो। जहाजो अथवा हवाई जहाजों के विदेशी चालकगणो की सेवाओ के सम्बन्ध में सकटाधिकार (angary) लागू नही होता।

जमोरा (The Zamora) :—जमोरा वाले मामले मे [(1916) 2 A. C. 77] लकडी तथा तांबा अधियाचित हुए जो युद्ध को सफलतापूर्वक चालू रखने के लिए आवश्यक थे। लार्ड पार्कर द्वारा यह निरूपण हुआ कि युद्धस्थित को समुचित दशा मे तटस्थ के जहाजो तथा माल को अधियाचन का अधिकार है, जो नौजित-माल न्यायालय की अभिरक्षा मे निर्णयार्थ रखे हो। इसमे सन्देह नही कि सम्पत्ति पर वैध अधिकार अथवा आधिपत्य तटस्थ का ही है। अधियाचन का अधिकार एक परिपूर्ण अधिकार नही है, किन्तु यह एक अधिकार है जिसका केवल निश्चित परिस्थितियो मे तथा निश्चित प्रयोजनो के लिये ही प्रयोग किया जा सकता है। अतः यह निर्णय किया गया कि जहाज अथवा उस पर लदे हुये तांबे का अधियाचन करने का अधिकार मान्य है जो नौजितमाल न्यायालय के निर्णय की प्रतीक्षा में पड़े

हुए हों किन्तु इस अनुच्छेद के साथ कि (अ) विवादग्रस्त जहाज अथवा माल राज्य की प्रतिरक्षा, युद्ध के संचालन, अथवा राष्ट्रीय सुरक्षा सम्बन्धी अन्य विषयों के लिये अत्यन्त आवश्यक रहे हों ऐसे घोषित हों, (आ) परीक्षण के लिये एक वास्तविक प्रश्न होना चाहिए, और (इ) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्वाभाविक रूप से इस बात का निर्णय करेगा कि क्या मामले के उन विशिष्ट परिस्थितियों में अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है।

अध्याय ४८

संरोध या नाकाबंदी

(Blockade)

परिभाषा :—ओपेनहेम के मतानुसार "नाकाबन्दी युद्धपोतों द्वारा शत्रु के समुद्रतट अथवा उसके किसी भाग पर सब राज्यों के जहाजों अथवा हवाई जहाजों का प्रवेश तथा निर्गम रोकने के प्रयोजन से प्रतिबन्ध अथवा अवरोध लगाना है।" ("Blockade is the blocking by men of war of the approach to the enemy coast, or a part of it, for the purpose of preventing ingress and egress of vessels or aircraft of all nations."—Oppenheim) हाल के अनुसार नाकाबन्दी युद्धस्थित राज्य द्वारा युद्ध के समय में शत्रु के अधिकार में स्थित किसी क्षेत्र अथवा स्थान में प्रवेश अथवा पहुँच को रोकना है। यह युद्ध का एक कार्य है जो युद्धस्थित के युद्धपोतों द्वारा किया जाता है जिसका उद्देश्य शत्रु के तटस्थ किसी सीमांकित बन्दरगाह में प्रवेश अथवा उससे प्रस्थान को रोकना है।

<u>संरोध या नाकाबन्दी के लक्षण</u> :—उपर्युक्त परिभाषाएँ नाकाबन्दी के निम्नलिखित लक्षणों को प्रकट करती हैं। <u>प्रथम</u> तो नाकाबन्दी युद्धपोतों द्वारा होनी चाहिये चाहे वह अन्य साधनों द्वारा अधिक प्रबल की जाय। <u>द्वितीय</u>, केवल शत्रु का समुद्रतट अथवा उसका भाग अथवा शत्रु के बन्दरगाह ही नाकाबन्दी के लक्ष्य होने चाहिये। <u>तृतीय</u>, नाकाबन्दी से प्रवेश अथवा निर्गमन दोनों रोके जा सकते हैं। <u>चतुर्थ</u>, नाकाबन्दी ग्राह्य मानने के लिये सब राज्यों के जहाजों अथवा हवाई जहाजों के विरुद्ध निष्पक्षता से लगानी चाहिये। <u>अन्त</u> में नाकाबन्दी एक युद्ध सदृश क्रियाशीलता है।

नाकाबन्दी का भ्रमात्मक अर्थ घेरा डालने से नहीं लगाना चाहिए जिसका लक्ष्य घिरे हुए स्थान का अभिग्रहण करने का होता है। नाकाबन्दी समुद्र द्वारा प्रत्येक पारस्परिक ससर्ग को रोकती है।

पेरिस की घोषणा १८५६ (Declaration of Paris, 1856).—१८५६ की पेरिस की घोषणा के चौथे अनुच्छेद मे यह निर्धारित किया गया है कि नाकाबन्दी बाध्यकारी होने के लिये प्रभावपूर्ण होनी चाहिय अर्थात् ऐसे बल से स्थापित की जानी चाहिये जो शत्रु के समुद्रतट मे पहुँच को रोकने के लिये वस्तुत पर्याप्त हो। इस नियम ने राष्ट्रों की विधि के एक सिद्धान्त को लेखबद्ध कर दिया किन्तु इस विवादपूर्ण प्रश्न को कि "पर्याप्त बल" (Sufficient Force) क्या है विचारणीय छोड रक्खा है। लार्ड चीफ जस्टिस कौकबर्न ने Geipal v Smith वाले मामले मे [(1872) L R 7 Q B. 404, p. 410] यह कथन किया कि "विधि की दृष्टि मे नाकाबन्दी तभी प्रभावपूर्ण समझी जाती है जब शत्रु के जहाजो की सख्या तथा स्थिति ऐसी हो कि नाकाबन्दी को तोडकर भाग निकलना अपने को सकट मे डालना हो चाहे कुछ जहाज भाग निकलने मे समर्थ हो जायँ।" (In the eye of the law a blockade is effective if the enemy's ships are in such numbers and positions as to render running the blockade a matter of danger, although some vessels may succeed in getting through) नाकाबन्दी करने वाले दल का स्वरूप तथा उसकी नाकाबन्दी किये गये समुद्रतट से दूरी प्रमुख नही मानी जाती। पेरिस की घोषणा ने केवल इस बात पर महत्व दिया कि इसके पूर्व कि नाकाबन्दी पूर्ण मानी जाय यह आवश्यक है कि उसके बीच से होकर निकलने मे वास्तव मे भारी सकट का सामना करना पडे।

क्रीमिया के युद्ध (१८५४) मे यह माना गया कि ब्रिटेन के समुद्र मे इधर-उधर चक्कर लगाने वाले केवल एक युद्धपोत ने १२० मील की दूरी छापकर नाकाबन्दी सगठित किया। दूसरी ओर फारमोसा की नाकाबन्दी अपूर्ण समझी गयी जो फ्रास द्वारा १८८४ मे अधिसूचित की गई थी जब ब्रिटेन ने उसके विरुद्ध यह आपत्ति की कि फ्रासीसी नौसेना नायक के अधिकार मे जो सैनिक बल था वह अपर्याप्त था। इसके परिणामस्वरूप नाकाबन्दी उस समय त्याग दी गई जब तक उसको पुष्ट करने के लिये और अधिक बल नही पहुँचा।

ह्वीटन (Wheaton) का कथन है कि नाकाबन्दी इस प्रकार तटस्थ के अधिकारों का अतिलघन होने के कारण उसका प्रभाव मामले की परिस्थितियो म जितना आवश्यक है उसम अधिक नही बढाना चाहिये।

लन्दन की घोषणा १६०६ (Declaration of London, 1909) :— लन्दन की असत्यापित घोषणा ने पेरिस की घोषणा (१८५६) द्वारा स्थापित इस नियम की पुष्टि की कि बन्धनकारी होने के लिये नाकाबन्दी प्रभावपूर्ण होनी चाहिये। इसमे आगे यह भी कहा गया कि नाकाबन्दी घोषित तथा अधिसूचित होनी चाहिये। लन्दन की घोषणा के अनुसार नाकाबन्दी की घोषणा या तो युद्ध-स्थित सरकार द्वारा अथवा उसके राज्य की ओर से कार्य करने वाले नौसेना दल के समादेशक द्वारा नाकाबन्दी आरम्भ होने वाले दिनांक नाकाबन्दी के अधीन समुद्र तट की सीमाएँ तथा अवधि जिसके भीतर तटस्थ जहाज निकल जा सके उनका विशेष रूप से निर्देश करते हुए की जानी चाहिए। यह नियम तटस्थों के इस हित पर आधारित है कि उनको अपने दायित्व की सीमा सम्यक रूप से विदित होनी चाहिये। लन्दन की घोषणा के अनुच्छेद ११ में यह व्यवस्था की गई है कि नाकाबन्दी की अधिसूचना उसे स्थापित करने वाले राज्य द्वारा तटस्थ राज्यों को उनकी सरकारों के नाम पत्र-व्यवहार करके की जानी चाहिये। लन्दन की घोषणा मे यह भी व्यवस्था की गई है कि नाकाबन्दी शत्रु के अधिकार मे अथवा उसके द्वारा अधिकार किये हुये बन्दरगाहों अथवा समुद्र तट से बाहर विस्तृत न होनी चाहिए, तथा नाकाबन्दी करने वाले सैन्यदलों को तटस्थ बन्दरगाहों अथवा समुद्रतटों मे पहुँच को नहीं रोकना चाहिये।

यदि नाकाबन्दी प्रभावपूर्ण हो तथा उसका उल्लंघन हुआ हो तो उसका वास्तविक ज्ञान, जहाज को पकड़े जाने तथा अपराधी प्रमाणित किये जाने का उत्तरदायी ठहरा देता है। लन्दन की घोषणा के अनुच्छेद १५ के अनुसार यदि जहाज ने तटस्थ बन्दरगाह को, क्षेत्रीय शक्ति को नाकाबन्दी की सूचना देने तथा स्थानीय अधिकारियों को उसे प्रकाशन के लिये पर्याप्त समय मिल जाने के उपरान्त, छोड़ा हो तो उसे इसका ज्ञान मान लिया जाता है। अनुच्छेद १७ में यह व्यवस्था दी गई है कि तटस्थ जहाजों को नाकाबन्दी को प्रभावपूर्ण बनाने के लिये नियम किये गए जंगी जहाजों की क्रियाशीलता के क्षेत्र को छोड़कर और कहीं न पकड़ना चाहिये। अनुच्छेद १९ मे यह व्यवस्था की गई है कि जहाज का अथवा उसके माल का चाहे उसका आगे का लक्ष्य क्षेत्र कोई भी हो, यदि उस समय वह एक ऐसे बन्दरगाह को जा रहा हो जिसमे नाकाबन्दी नहीं है तो उसे नाकाबन्दी तोड़ने के लिये नहीं पकड़ना चाहिये। अनुच्छेद २१ में नाकाबन्दी भंग करने पर दण्ड की व्यवस्था की गई है। इसमें यह नियम किया गया है कि जहाज जो नाकाबन्दी भंग करने का अपराधी पाया जाय, उसे दण्डित किया जायगा। उसमे लदा हुआ माल भी अपराधी समझा जाता है जब तक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि माल लादते

समय व्यापारी को नाकाबन्दी भग किये जाने का न तो ज्ञान था, और न उसका ज्ञान हो सकना सम्भव था।

नाकाबन्दी के प्रकार (Forms of Blockade) —नाकाबन्दी के कई ढग हो सकते हैं जैसे प्रभावकारी नाकाबन्दी (Effective Blockade), तथ्यत नाकाबन्दी (Blockade de facto), विज्ञप्ति द्वारा नाकाबन्दी (Blockade by Notification), कागजी नाकाबन्दी (Paper Blockade), सैनिक नाकाबन्दी (Strategic Blockade), व्यापारिक नाकाबन्दी या पैसफिक नाकाबन्दी (Commercial Blockade or Pacific Blockade) साधारण और सार्वजनिक नाकाबन्दी (Simple and Public Blockades), आदि।

वास्तविक तथा बन्धनकारी नाकाबन्दी के आवश्यक अग (Essentials of a Real and Binding Blockade) —वास्तविक तथा बन्धनकारी नाकाबन्दी के आवश्यक अग निम्नलिखित हैं —

१. उचित सस्थापन (Proper Establishment) —इसलिये कि नाकाबन्दी वैध मानी जाय यह युद्धस्थित सरकार के प्राधिकार अथवा किसी विशिष्ट नाकाबन्दी को घोषित करने के लिये विशेष रूप से प्राधिकृत नौसेना के समादेशक के अधीन सस्थापित करना चाहिये।

२ प्रभावकारिता (Effectiveness) —नाकाबन्दी सम्यक्‌रूप से प्रभावशालिनी होनी चाहिये। यह काल्पनिक अथवा कागजी नाकाबन्दी न होनी चाहिये वरन् शत्रु के समुद्रतटो मे पहुँच को रोकने के लिये पर्याप्त सैन्यबल से स्थापित करना चाहिये। नाकाबन्दी के इस रूप पर पेरिस की घोषणा (१८५६) तथा लदन की घोषणा (१६०६) दोनो के द्वारा महत्व दिया गया। जहाजो को उसके बीच से निकलकर जाने के किसी प्रकार के यत्न करने मे वास्तविक तथा प्रबल भय होना चाहिये।

प्रभावशाली नाकाबन्दी के लिये क्या क्या आवश्यक बातें अपेक्षित हैं इसके सम्बन्ध मे कोई मतैक्य नही है। राइट आनरेबुल डाक्टर लुशिगटन ने Franciska [(1855) Spinks, 217] मे नौसेना के उच्च न्यायालय मे यह व्यक्त किया कि नाकाबन्दी किये गए स्थान की चौकसी ऐसे सैन्य बल से की जानी चाहिये जो निर्यात तथा आयात को पर्याप्त रूप से सकटपूर्ण बना दे अथवा अन्य शब्दो मे कुछ विशिष्ट परिस्थितियो जैसे कुहरा, प्रबल हवा, तथा कुछ आवश्यक अनुपस्थितियो को छोड कर भीतर प्रवेश करने अथवा बाहर निकलने के प्रयत्न करने वाले जहाजो का अभिग्रहण अत्यधिक सभव बना द।

लार्ड चीफ जस्टिस कौकबर्न ने Geipal v. Smith [(1872) L. R. 7 Q B 404] में यह कथन किया कि नाकाबन्दी तभी प्रभावशाली है यदि शत्रुओ के जहाजो की संख्या तथा स्थिति ऐसी हो जिससे नाकाबन्दी तोडकर निकल भागना एक संकट का विषय हो जाय यद्यपि कुछ जहाज ऐसा करने मे सफल भी हो जाँय।

सन् १७८० के प्रथम सैनिक तटस्थता मे यह उद्घोषणा करके कुछ कठोरतम विचार प्रकट किये गये कि "नाकाबन्दी केवल उस समय प्रभावशाली है, जब समुद्रतट पर पहुँच, युद्धपोतो की एक पंक्ति से रोक दी गई हो जो उस स्थान पर लंगर डाले हों तथा एक दूसरे के इतने समीप हो कि निकलने वाला जहाज प्रकट रूप से बिना संकट का सामना किए हुए निकल नही सकता हो (Cf Oppenheim: International Law, Vol. II 7th Ed. p. 779)। फिलिमोर भी इसी प्रकार का विचार इस कथन से व्यक्त करते हैं कि "एक वास्तविक नाकाबन्दी कई जहाजो को खड़ा करने से की जाती है जो निषिद्ध बन्दरगाह के मुख के चारो ओर घेरे का एक मंडल बना दे जिसमे कि यदि मंडल किसी एक भाग मे असफल रहे तो नाकाबन्दी पूर्णतया असफल हो जाती है।" (III, S 263).

यह प्रश्न कि क्या कोई नाकाबंदी प्रभावशाली है अथवा नही, एक तथ्य का प्रश्न है [Cf Art 3, Declaration of London 1909, and Oriental Navigation Company (1928) A. J I. L 23 (1929), P. 435 at P 442)।

३. निरन्तर बनाये रखना (Continuously Maintained) — नाकाबन्दी निरन्तर बनाई रखनी चाहिये। उस दशा मे जब नाकाबन्दी करने वाला दल शत्रु के सर्वोच्च दल द्वारा भगा दिया जाय यह माना गया है कि नाकाबन्दी आरम्भ से ही निष्फल तथा दोषपूर्ण है लेकिन यदि नाकाबन्दी करने वाला दल दुर्दिन के कारण अस्थायी रूप से हटा लिया जाय तो नाकाबन्दी मे कोई कमी नहीं समझी जायगी।

४ अधिसूचना (Notification) :—लन्दन की घोषणा मे यह निर्धारित किया गया कि नाकाबंदी स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि यह घोषित की जाय। अधिसूचना या तो विज्ञप्ति या युद्धस्थित सरकार द्वारा अथवा उस राज्य की ओर से कार्य करने वाले नौसेनादल के समादेशक द्वारा होनी चाहिये तथा उसमे नाकाबन्दी प्रारम्भ होने का दिनांक, नाकाबन्दी के अधीन समुद्रतट की भौगोलिक सीमायें, तथा वह अवधि जिसके भीतर तटस्थ जहाज बाहर निकल आ सकें, विशिष्ट प्रकार से वर्णित की जानी चाहिये। नाकाबन्दी की सूचना वास्तविक तथ्यों के अनुरूप होनी चाहिये अन्यथा नाकाबन्दी निष्प्रभाव हो जायगी।

५ निष्पक्षता (Impartiality) —नाकाबन्दी करने वाले सैन्यदल को नाकाबन्दी निष्पक्षता से सब जहाजो के विरुद्ध प्रवृत्त करानी चाहिये । तटस्थो को बहिष्कृत करके किसी एक युद्ध मे लगे हुये राज्य के पक्ष मे शिथिलता नाकाबन्दी को निरर्थक कर देती है। नाकाबन्दी केवल तभी ग्राह्य है जब वह सर्वव्यापी हो। Franciska वाले मामले मे [(1855) Spinks 287] रूस के विरुद्ध क्रीमिया के युद्ध मे ब्रिटेन द्वारा सीमा की नाकाबन्दी प्रिवी कौन्सिल द्वारा अवैध घोषित की गई क्योकि तटस्थो को बहिष्कृत करके युद्धस्थित के व्यापारिक जहाजो के सम्बन्ध मे शिथिलता दिखलाई गई थी।

६ नाकाबदी करने वाले सैन्य दल को तटस्थ बन्दरगाहो अथवा समुद्रतट तक पहुँचने मे नही रोकना चाहिये।

७ नाकाबंदी उसको स्थापित करने वाले सैन्यदल की क्रियाशीलता से व्याप्त क्षेत्र के बाहर विस्तृत नही हो सकती।

नाकाबन्दी का भङ्ग (Breach of Blockade) —सर विलियम स्काट का कहना है कि नाकाबन्दी का उल्लघन स्थापित करने के लिये तीन बाते प्रमाणित होनी चाहिये — प्रथम वास्तविक नाकाबन्दी का अस्तित्व, द्वितीय, ज्ञान उस पक्षकार को भार से जिसके सम्बन्ध मे यह माना गया है कि उसका अपराध हुआ है, तथा तृतीय, कुछ उल्लघन का कार्य—नाकाबन्दी आरम्भ होने के उपरान्त लदा हुआ माल लेकर या तो भीतर जाना या बाहर आना। इस बात को प्रकट करने के लिये कि नाकाबन्दी का उल्लघन हुआ है उसका अस्तित्व ही नहीं वरन् उसके अस्तित्व का ज्ञान भी पक्षकार को हो जाना चाहिये।

इस सम्बन्ध मे कि किस बात से नाकाबदी का भग स्थापित होता है राज्यो की रीति मे भेद रहा है। इगलैंड तथा अमेरिका यह मत रखते हैं कि इस बात का सभावित रूप से स्थापित करना पर्याप्त है कि तटस्थ जहाज के कार्यभार साधकों को यह ज्ञान था कि नाकाबदी स्थापित की गई है। ग्रेट ब्रिटेन ने सर्वदा यह मत रखा है कि नाकाबदियो की प्रसिद्धि ही उनके अस्तित्व की सूचना दिये जाने के बराबर है। फ्रासवालो के मतानुसार तटस्थ जहाज नाकाबदी के प्रवृत्त रहने अथवा उसके समाप्त होने के अनुमानो से प्रभावित नही होता तथा तटस्थ जहाज का समादेशक नाकाबदी किये गये क्षेत्र मे पहुँचने पर नाकाबदी करने वाले नौसेना दल द्वारा नाकाबदी के अस्तित्व को चेतावनी दिये जाने का अधिकारी है। फिर भी यह बात स्थिर है कि विज्ञप्ति द्वारा नाकाबन्दी के सम्बन्ध मे सूचना का अनुमान कर लिया जाता है यदि सूचना सम्यक् रूप से जारी की गई हो, तथा उस समय से तटस्थ सरकारो को उसे प्राप्त करने के लिये पर्याप्त समय व्यतीत हो गया हो।

नाकाबन्दी की समाप्ति (Cessation of Blockade) :—निम्नलिखित घटनाओं में से किसी एक के होने पर नाकाबन्दी का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

(१) युद्ध की समाप्ति पर;

(२) नाकाबदी स्थापित करने वाली सरकार के उसे हटा देने पर;

(३) उसकी प्रभाविकता की समाप्ति पर;

(४) जब नाकाबन्दी करने वाला नौसैन्य दल शत्रु दल द्वारा पराजित कर दिया जाय तथा भगा दिया जाय;

(५) जब यह अनुसरण अथवा युद्ध के लिये हटा लिया जाय,

(६) जब नाकाबदी के अधीन स्थान अथवा बन्दरगाह विजयी युद्धस्थित द्वारा अधिकार मे ले लिया जाय।

नाकाबन्दी भंग करने के लिए दंड (Penalty for Breach of Blockade) :—नाकाबदी को उल्लघन करने का केवल विचारमात्र ही अपराधी प्रमाणित किये जाने के लिये पर्याप्त आधार नहीं है। विचार के साथ ही साथ कोई कार्य भी होना चाहिये जिससे यह प्रकट हो कि बन्दरगाह मे प्रवेश करने का यत्न किया गया है। सामान्य नियम यह है कि जहाज नाकाबन्दी भग करने के लिये अपराधी प्रमाणित किया जाता है, तथा साथ ही साथ उनमे लदे हुए माल की भी यही गति होती है। माल के स्वामीगणों के सम्बन्ध मे यह अनुमान कर लिया जाता है कि उनके माल लादते समय उन्हें नाकाबन्दी के अस्तित्व का ज्ञान था, तथा वे नाकाबन्दी उल्लघन करने मे गुप्तरूप से भागी समझे जाते हैं।

लन्दन की घोषणा के अनुच्छेद २१ मे इस नियम को यह कह कर स्पष्ट किया गया है कि जो जहाज नाकाबन्दी भंग करने का अपराधी पाया जाय वह दण्डित किया जायगा। उस पर लदा हुआ माल भी अपराधी प्रमाणित किया जायगा जब तक यह प्रमाणित न हो जाय कि माल लादते समय व्यापारी को नाकाबन्दी भंग करने के विचार का न तो ज्ञान रहा और न ज्ञान रहना सम्भव ही था।

पकडे जाने के बाद नाकाबन्दी करने वाला जहाज नौजितमाल द्वारा उसके सम्बन्ध मे निर्णय के लिये एक बन्दरगाह को भेजा जाता है। चालकगणों को बन्दी करने की आवश्यकता नही है जिन्हे किसी भी दशा में नौजितमाल न्यायालय के निर्णय के उपरान्त छोड़ देना चाहिये। यदि जहाज तथा उस पर लदे हुये माल के स्वामी एक ही हुये तो जहाज तथा उस पर लदा हुआ माल दोनों जब्त कर लिये जाते हैं। यदि वे भिन्न-भिन्न हुए तो माल केवल उसी दशा में जब्त किया जाता है जब वह युद्ध मे प्रतिषिद्ध हो अथवा स्वामियों को माल लादने समय नाकाबन्दी का ज्ञान रहा हो।

निर्णीत वाद (Case Law)—कुछ महत्वपूर्ण वादो का यहाँ उल्लेख आवश्यक है। फ्रान्सिसका (Franciska) के वाद मे, जिसका कि सन्दर्भ पहले ही दिया जाचुका है, स्मरणीय है कि फ्रान्सिका एक डेनिश पोत था, जो कि एक ब्रिटिश क्रूजर द्वारा उस समय पकडा गया जब कि वह रीगा के लिये जा रहा था और जब कि रीगा नामक बन्दरगाह ब्रिटेन के द्वारा रूस के विरुद्ध किये गये क्रीमिया युद्ध के समय सरोधित कर दिया गया था। पोत के मालिको द्वारा यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि नाकाबन्दी को तोडने का कोई आशय नही था और फ्रान्सिसका को तभी रीगा के लिये आगे बढने का आदेश दिया गया था जब कि नाकाबन्दी या सरोध न हो। यह कहा गया कि सरोधित स्थान के प्रति अज्ञान का तर्क इस विशिष्ट वाद मे इस कारण से अवैध है कि जहाज के कप्तान को नाकाबन्दी की सूचना उसी समय से हो गई थी जब कि जहाज पिछले बन्दरगाह से आगे को बढा। प्रीवी कौंसिल के न्यायाधीशो का निष्कर्ष था कि नाकाबन्दी, भले ही अन्यथा परिस्थितियो मे वैध हो, किन्तु यहाँ पर अवैध मानी जायगी क्योंकि कुछ ऐसी छूट युद्ध सलग्न व्यापारी पोतो को दी गई हैं। जिससे तटस्थ शक्तियाँ वंचित थी।

फ्रेडेरिक मोल्क (Frederic Molke)[1] के वाद मे एक डेनिश पोत एक ब्रिटिश पोत द्वारा उस समय बन्दी बना लिया गया जब कि वह हैवर (Havre) नामक बन्दरगाह से बाहर आ रहा था। यह बन्दरगाह फ्रास से युद्ध के समय ब्रिटेन द्वारा सरोधित कर दिया गया था। डेनिश पोत एक तटस्थ पोत था और वास्तविक उसका गन्तव्य हैवर ही था किन्तु प्रकट रूप से वह कोपेनहेगेन के लिये बुक किया गया था। लार्ड स्टोवेल (Lord Stowell) ने उस पोत और बेडे की भर्त्सना की क्योंकि पोत को नाकाबन्दी की अस्तित्व के जानकारी करा दी गई थी। यह अवलोकन किया गया कि एक ऐसा पोत जो कि किसी सरोधित बन्दरगाह से बेडे सहित बाहर आ रहा है, प्रथम दृष्टया बन्दी बना लिये जाने के योग्य है।

वांछित साक्ष्य (Proof Required)—बेट्सी (Betsey)[2] के वाद मे, जिसका कि सदर्भ ऊपर दिया जा चुका है, सर विलियम स्कॉट (Sir William Scott) ने लिखा था कि नाकाबन्दी के प्रश्न पर तीन बातो को अवश्य ही प्रमाणित हो जाना चाहिये पहली बात यह कि एक वास्तविक नाकाबन्दी अस्तित्व मे है (The existence of an actual blockade), दूसरी बात यह कि पक्षकार को उसका ज्ञान हो (The knowledge of the party), और तीसरी बात यह कि उसके

1. (1798) I C Rob 85.
2. (1793) I. C Rob, 93

प्रतिलंघन मे कोई कार्य किया गया हो (Some act of violation), जैसे नाकाबन्दी के लागू होने के बाद लदे हुए कार्गो का भीतर ले जाना या बाहर ले आना ।

प्राइज केसेज इन रे० हिवाथा (Prize cases in re Hiwatha)[1] के वाद मे संयुक्त राज्य सुप्रीम कोर्ट द्वारा यह अवलोकन किया गया था कि पोत चूँकि संरोधित बन्दरगाह मे है तो यह प्रकल्पना की जा सकती है कि वहाँ पहुँचते ही उसे नाकाबन्दी की सूचना मिल गई होगी। राष्ट्रो की विधि मे यह निर्णीत नियम है। अतः कार्गो और पोत दोनो को एक परिणाम का भागी होना चाहिये ।

जमोरा (Zamora)[2] मे लार्ड पार्कर (Lord Parker) का अवलोकन था कि किसी नाकाबन्दी की घोषणा करने वाला आदेश प्रथम दृष्टया रूप में संरोधित बन्दरगाहो मे प्रवेश करने वाले पोतो को पकड़ लेने को न्यायोचित घोषित करेगा ।

लियोनोरा (Leonora)[3] के वाद मे एक स्वीडिश कम्पनी द्वारा एक डच पोत पकडने वाला ब्रिटिश क्रूज़र था। इस प्रसग मे यह अवलोकन किया गया कि वह परिषदीय आदेश जिसने कि पोत को पकडे जाने को प्राधिकृत किया तटस्थ बन्दरगाहो की नाकाबन्दी की घोषणा के लिये उपयुक्त नही है और यह कि उस आदेश में तटस्थो द्वारा सामानो को ले आने ले जाने का पूर्ण निषेध नही था ।

लम्बी दूरी की नाकाबन्दी

प्रथम विश्वयुद्ध (First World War) :—प्रथम विश्वयुद्ध (१६१४-१८ में ब्रिटेन की नौ सेना ने सुरंगो तथा पनडुब्बियो का भय सामने आने पर अपने जहाजो द्वारा जर्मनी की अत्यधिक दूरी की नाकाबन्दी प्रवृत्त की जो जर्मन बन्दरगाहो से एक हजार मील से भी अधिक दूरी छाये हुये थी। नागरिक जनता को बहुत अधिक कष्ट उठाना पड़ा तथा जर्मनी ने नाकाबन्दी को अवैध कहकर उसकी निन्दा की। इगलैंड द्वारा प्रवृत्त यह अत्यधिक दूरी की नाकाबन्दी जर्मनी के उस निर्णय के प्रतिकार स्वरूप थी जिसके द्वारा उसने ब्रिटिश आइल्स के चारो ओर के जलभागो मे स्थित ब्रिटेन तथा मित्रो के व्यापारिक जहाजो पर उनके यात्रियो अथवा चालकगणो की रक्षा का ध्यान दिये बिना आक्रमण करने को कहा था। Stigstad वाले मामले (1919) A. C. 279] मे लार्ड समर द्वारा यह निर्णय किया गया कि एक युद्धमान को अन्य युध्यमान की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय विधि के भंग किये जाने पर प्रतिकारक उपायो के करने का अधिकार है तथा यह कि प्रतिषिद्ध वस्तुओं या

1. (1862) 2 Black, 635.
2. (1916) 2 A. C. 77.
3. (1919) A C. 974.

यातायात, अतटस्थ सेवा तथा नाकाबंदी के नियमों के उपयोग को ध्यान में रखते हुए तटस्थ व्यापार को बिना हस्तक्षेप अथवा निरोध के निरंकुश रूप से जारी रहने का अधिकार नहीं है।

द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९-४५) (Second World War) :—द्वितीय विश्वयुद्ध (१९३९-४५) में ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक युद्ध के अभिकथन पर लम्बी दूरी की नाकाबन्दी का पुनः अवलम्बन किया गया किन्तु पूर्व में भी युद्ध छिड़ जाने के कारण इससे अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। जर्मनी ने भी सुरंग बिछाना तथा पनडुब्बियों द्वारा युद्ध आरम्भ किया। ग्रेट ब्रिटेन ने प्रतिकार के उपाय स्वरूप नवम्बर २७ सन् १९३९ को एक आर्डर-इन-कौंसिल जारी किया जिसके द्वारा जर्मन बन्दरगाहों अथवा जर्मन उत्पत्ति अथवा स्वामित्व के माल का अभिग्रहण प्राधिकृत किया गया। जुलाई ३१ सन् १९४० के आर्डर-इन-कौंसिल ने यह निर्देश दिया कि उनकी बचत के लिये नैवीसर्ट प्रमाणपत्र (प्रमाण पत्र जो तटस्थ देश के कूटनीतिक प्रतिनिधि द्वारा दिया जाय जिसके द्वारा यह प्रमाणित किया जाय कि तटस्थ जहाज में लदा हुआ माल पकड़े जाने योग्य नहीं है) की अनुपस्थिति में माल पकड़ लिया जा सकता है तथा यह व्यवस्था की गई कि यह अनुमान कर लिया जायगा कि माल जिनके लिये नैवीसर्ट प्रमाणपत्र न हो शत्रु के प्रदेश को जा रहे हैं। नैवीसर्ट, मेलसर्ट इत्यादि की पद्धति ने नाकाबन्दी को सरल कर दिया तथा इसका प्रभाव वास्तव में तटस्थ व्यापार को तटस्थ देश के राजनयिक तथा कॉन्सल प्रतिनिधियों द्वारा जारी किये गये प्रमाणपत्रों तथा प्रवेशपत्रों द्वारा नियन्त्रण करने का था। ये उपाय कठोरता से नाकाबन्दी के सामान्यतः स्वीकृत नियमों की आवश्यकताओं के अन्तर्गत नहीं लाये जा सकते थे किन्तु नौसेना युद्ध की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण आवश्यक हो गये थे।

उपर्युक्त से यह स्पष्ट हो जायगा कि पुरानी पद्धति जिसके अन्तर्गत नौशक्तियाँ को सरोधित कर दिया जाता था, आधुनिक परिस्थितियों में प्रवर्तनीय नहीं है, विशेष रूप से उस समय जब कि टारपीडो नौकायें और सबमेरीन्स का ऐसा युग आ गया है जिसमें कि सरोधित किनारों पर की जाने वाली कार्यवाहियाँ आँखों से दिखाई तक नहीं पड़ती। नौसेना स्क्वॉड्रन की नाकाबन्दी भी नभ आक्रमण के चंगुल से नहीं बच सकती। ऐसी परिस्थितियों में, जैसा कि हिगिन्स (Higgins) और कोलम्बस (Colombos) द्वारा कहा गया है, वास्तविक नाकाबन्दी आज एक अव्यवहारिक हो चुकी है। अब नाकाबन्दी सम्बन्धित प्रतिबन्ध ऐसे ही द्वीपीय देशों के बीच पोतों के आवागमन के प्रसंग में लागू हो सकती है जैसे ग्रेट ब्रिटेन और जापान।[1]

1. Higgins & Colombos The International Law of the Sea, 2nd Ed, p 559

निकट नाकाबन्दी (Close Blockades) अब असम्भव हो जाने के कारण दूरवर्ती नाकाबन्दी की वैधता को उस समय चुनौती नही दी जा सकती यदि युद्ध सलग्न शक्ति का यह अधिकार मान्य कर लिया है कि वह व्यापारिक पोतो का भी सम्बन्ध विच्छेद कर दे।

अत यहाँ हिजिन्स और कोलम्बस के शब्दो मे कहा जा सकता है कि 'blockades conducted in strict accordance with the old rules are of little strategic value and that in the circumstances of modern naval warfare long range blockades are valid provided that they effectively prevent the ingress to or egress of all vessels and goods from, the blockaded area by sea and provided also that they are properly announced and maintained"

अर्थात् प्राचीन नियमो के अक्षरश पालन म किया गया सरोध आज के युग म किसी भी सैनिक महत्व का नही है और यह कि आधुनिक नौयुद्ध कौशल की परिस्थितियो म ऐसे दूरवर्ती सरोध वैध हैं शर्त यह कि वे प्रभावकारी रूप मे सरोधित क्षेत्र स पोत और सामान आने या जाने पर पूर्ण प्रतिब ध लगा सकें और शर्त यह भी है कि उन्ह समुचित रूप से घोषित कर दिया जाय और बनाये रखा जाय।

अध्याय ४९

विनिषिद्ध

(Contraband)

परिभाषा —आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे "युद्ध मे विनिषिद्ध एसी वस्तुओ का नाम है जो युद्धस्थितो मे से किसी एक के द्वारा शत्रु के पास ले जाय जाने को इस आधार पर निषिद्ध की जाती हैं कि उनसे वह लड़ाई अधिक प्रबलता के साथ लड़ने मे समर्थ हो जाता है।" ("Contraband of war is the designation of such goods as are forbidden by either belligerent to be carried to the enemy on the ground that they enable him to carry on the war with greater vigour ' Oppenheim International Law, Vol II, p, 799)। केलसन के अनुसार "युद्ध म विनिषिद्ध वे वस्तुएँ हैं जिनका शत्रु क पास परिवहन युध्यमानो मे से किसी एक क द्वारा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि क अनुसार निषिद्ध है" (Contraband of war are goods the transport of

which to the enemy is forbidden by either belligerent in conformity with general International Law. : Hans Kelsen : Principles of International Law, p. 79) । युद्ध मे विनिषिद्ध ऐसी वस्तुओ का द्योतक है जिनका तटस्थ द्वारा युद्धस्थित के पास ले जाना आपत्तिजनक समझा जाता है क्योंकि वे युद्ध को जारी रखने मे प्रत्यक्षरूप से उपयोगी समझी जाती हैं अथवा अन्य प्रकार से युद्धस्थितो मे से एक को युद्ध सचालन मे सहायता प्रदान करती हैं ।

जैकसन (Jackson) का कथन है कि विनिषिद्ध वह सम्पत्ति है जो शत्रु के क्षेत्र को जा रही हो और इस प्रकार की हो कि शत्रु को युद्ध मे सहायता दे सके ।

इसका आधार (Its Basis) :—पिटकोबेट के अनुसार विनिषिद्ध की विधि का आधार युद्धस्थित का वह अधिकार है जिससे वह उस तटस्थ सम्पत्ति को अपराधी प्रमाणित कर सकता है जो उसके शत्रु के सैनिक उपयोग के लिये जा रही हो ।

पण्य का विभाजन (Division of Commodities) :—ग्रोशस (Grotius) ने पण्य को तीन वर्गों मे विभाजित किया है :—(१) वे वस्तुएँ जो केवल युद्ध के लिये उपयोगी हैं, उदाहरणार्थ शस्त्र, प्रक्षेपण, बारूद इत्यादि (२) वे वस्तुएँ जो युद्ध-सदृश प्रयोजनो के लिये निरर्थक हैं, उदाहरणार्थ फैशन की तथा फैन्सी वस्तुएँ, घड़ियाँ, जेबघड़ियाँ तथा साबुन इत्यादि तथा (३) वे वस्तुएँ जो युद्ध तथा शान्ति की बिना अपेक्षा किये हुए उपयोगी हैं यथा द्रव्य, खाद्य पदार्थ, जहाज, नौसेना सामग्री, इत्यादि । उनके अनुसार प्रथम तो जब वे शत्रु के क्षेत्र को जा रही हो मार्ग मे अभिग्रहीत की जा सकती हैं, दूसरी अभिग्रहीत किये जाने से सर्वदा उन्मुक्त हैं तथा तीसरी प्रत्येक मामले की परिस्थितियो पर निर्भर हैं ।

वत्तल (Vattel) कुछ अंशो मे इसी प्रकार का भेद करते हैं लेकिन वह लकड़ी तथा नाविक सामग्री को उन वस्तुओ मे सम्मिलित करते हैं जो युद्ध के प्रयोजन के लिए उपयोगी हैं तथा ऐसी परिस्थिति मे तटस्थो को उन्हे शत्रु के पास ले जाने का निषेध करते हैं ।

इस सम्बन्ध मे कि कौन सी वस्तुएँ विनिषिद्ध कही जाँय मतभेद है । ब्रिटेन का मत विनिषिद्ध वस्तुओ की एक लम्बी सूची बनाने के पक्ष मे है तथा उसके अनुसार वस्तुओ के पूर्णतः विनिषिद्ध, सप्रतिबन्ध प्रासगिक अथवा सापेक्षिक विनिषिद्ध पदार्थों मे विभाजित करता है । पूर्णतः विनिषिद्ध पदार्थों मे ऐसी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जैसे शस्त्र, उनको बनाने के यंत्र, गोला, बारूद, सैनिक प्रकार का कपड़ा इत्यादि; लेकिन सप्रतिबन्ध, प्रासगिक अथवा सापेक्षिक विनिषिद्ध वस्तुओं में ऐसे पदार्थ आते हैं जैसे खाद्यसामग्री, कोयला, सोना इत्यादि जो परिस्थितियो के अनुसार विनिषिद्ध

होते है अथवा नही। फ्रास वालो के मतानुसार जिसका अनुकरण यूरोप की अन्य शक्तियो द्वारा किया गया इसकी तुलना मे बहुत कम वस्तुओ को विनिषिद्ध माना गया तथा यह माना गया कि सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध वस्तुएँ नही हो सकती हैं। वही वस्तु विनिषिद्ध थी अथवा नही थी, तथा वह दोनो नही हो सकती थी अर्थात् एक प्रकार की परिस्थितियो मे विनिषिद्ध तथा अन्य प्रकार की परिस्थितियो मे निर्दोष।

सन् १६०६ की असत्यापित लन्दन की घोषणा ने दो परस्पर विरोधी मतो के इस दीर्घकालीन झगडे को तय करने का प्रयत्न किया। इसने वस्तुओ को तीन वर्गों मे विभाजित कर दिया अर्थात् निरपेक्ष विनिषिद्ध, सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध तथा अनिषिद्ध।

निरपेक्ष विनिषिद्ध (Absolute Contraband) :—निरपेक्ष विनिषिद्ध माल वे वस्तुएँ हैं जो विशेष रूप से युद्ध के प्रयोजनो के लिए उपयोग मे लाये जाने के निमित्त हैं अर्थात् सब प्रकार के शस्त्र, उनको उत्पादन करने के यंत्र, प्रक्षेपण, बारूद, तोपो के आरोपण, कपडा तथा सामान जो स्पष्ट रूप से सैनिक लक्षणो से युक्त हो, विशेष रूप से सैनिक लक्षण की जीन तथा लगाम, कवच, युद्धपोत इत्यादि। ऐसी वस्तुएं ऐसे रूप तथा लक्षणो से ही दोषयुक्त हैं। वे ऐसी वस्तुएं हैं जो शत्रु को ऐसा सैनिक लाभ प्रदान करने वाली हैं कि युध्यमान को उनके अभिग्रहण का अधिकार प्राप्त हो जाता है। अत. ग्रोशस का यह विचार उपयुक्त ही है कि तटस्थ जो इस प्रकार से पूर्णतः विनिषिद्ध वस्तुओ को युध्यमान को प्राप्त करवाये "शत्रु के पक्ष का" हो जाता है। ऐसा माल अपराधी प्रमाणित तथा जब्त कर लिया जा सकता है चाहे माल सीधा जा रहा हो अथवा उसे दूसर जहाज मे लादना हो या अनन्तर स्थल से परिवहन करना हो।

सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध (Conditional Contraband) :—सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध माल मे वे वस्तुएँ आती हैं जो युद्ध तथा शान्ति दोनो प्रयोजनों के लिये उपयोग मे लाई जा सके। वे इस प्रकार की वस्तुएँ हैं जैसे खाद्य पदार्थ, चारा तथा अनाज, कपडे, वस्त्र, सोना, तथा चांदी सिक्को तथा चाँदी या सोने की ठोस ईंटो के रूप मे वाहन, नावे, रेलवे सामान, जलाने की लकडी तथा जीन और लगाम, इत्यादि। ऐसी वस्तुएँ यदि वे युध्यमान के सैनिक दलो के लिये जा रही हों अथवा किसी जहाज पर लदी हुई पाई जाँय जो ऐसे क्षेत्र को जा रहा हो जो शत्रु के अधिकार अथवा दखल मे हो तथा जब वे मध्यवर्ती तटस्थ बन्दरगाह मे उतारी जाने को न हो तो अभिग्रहीत की जा सकती हैं।

अनिषिद्ध (Non Contraband) :—अनिषिद्ध अथवा प्रतिबन्धरहित वस्तुओ मे कच्ची रूई, ऊन, रेशम, जूट, तिलहन, रबर, कच्चा चमडा, चीनी मिट्टी

के पात्र, घड़ियाँ, तथा जेब घड़ियाँ, फैशन तथा फैन्सी का माल, कार्यालय का सामान इत्यादि आते हैं। ऐसी वस्तुयें किसी भी दशा में विनिषिद्ध घोषित नहीं की जा सकती।

पीटरहौफ वाला मामला (The Peterhoff Case) :—विनिषिद्ध के विषय ने अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय का ध्यान पीटरहौफ वाले मामले [(1866) 5 Wallace 58)] में आकर्षित किया जिसमें गृहयुद्ध के मध्य इंगलैण्ड से विनिषिद्ध माल मैटामोरास को भेजा गया था जो रायो डे ग्रेनेड में मेक्सिको की ओर स्थित एक तटस्थ बन्दरगाह था। यह कहा गया कि जहाज का आशय दक्षिणी राज्य के समुद्रतट की नाकाबन्दी को उल्लंघन करने का था यद्यपि वह प्रत्यक्षतः एक तटस्थ बन्दरगाह को जा रहा था। न्यायालय ने व्यक्त किया कि "माल को विनिषिद्ध अथवा अविनिषिद्ध वस्तुओं में वर्गीकरण ने मूलग्रंथ लेखकों तथा विधि विशारदों को बहुत उद्विग्न किया है। पूर्णरूप से शुद्ध तथा संतोषपूर्ण वर्गीकरण कदाचित् असाध्य है लेकिन यह कहा जा सकता है कि अमेरिका तथा इंगलैण्ड के निर्णयों से जो कुछ सबसे अधिक पुष्ट किया गया है उसके अनुसार व्यापारी माल को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है अर्थात् (१) वे वस्तुएँ जिनका उत्पादन तथा मुख्यतः अथवा सामान्यतः उपयोग युद्ध के समय में सैनिक प्रयोजनों के लिये किया जाय, (२) वे वस्तुएँ जो परिस्थितियों के अनुसार युद्ध अथवा शान्ति के प्रयोजनों के लिये उपयोग में लाई जायें। तथा (३) वे वस्तुएँ जो केवल शान्ति के प्रयोजनों के लिये उपयोग की जायँ। प्रथम वर्ग का व्यापारिक माल जो एक युद्धस्थित देश को अथवा युद्धस्थित की सेना अथवा नौसेना द्वारा अधिकृत स्थानों को ले जाया जा रहा हो सर्वदा विनिषिद्ध है, दूसरे वर्ग का व्यापारिक माल केवल उसी दशा में विनिषिद्ध है जब वह वास्तव में युद्धस्थित की सेना अथवा नौसेना के उपयोग के लिये ले जाया जा रहा हो और तीसरे वर्ग का व्यापारिक माल किसी प्रकार से भी विनिषिद्ध नहीं है तथापि वह नाकाबंदी अथवा घेरे के उल्लंघन करने के लिये अभिग्रहण अथवा अपराधी प्रमाणित किये जाने के अधीन है।"

लन्दन की असरयापित घोषणा के अनुच्छेद ३० में यह निर्धारित किया गया है कि पूर्णतः विनिषिद्ध माल यदि वह शत्रु के अधीन अथवा शत्रु द्वारा अधिकृत क्षेत्र को अथवा शत्रु के सैनिक दलों को ले जाया जा रहा हो तो वह अभिग्रहीत किया जा सकता है। निरपेक्ष विनिषिद्ध वस्तुओं के लिये केवल जो बात अपेक्षित है वह यह है कि वह किसी भी प्रकार के शत्रु के क्षेत्र को ले जाया जा रहा है। जब जहाज के कागजपत्रों से यह प्रकट हो कि माल शत्रु के किसी बन्दरगाह में उतारा जाने वाला है अथवा उसकी सेनाओं या जंगी जहाजों को दिया जाने वाला है तो शत्रु के क्षेत्र का अनुमान किया जा सकता है।

अनुच्छेद ३३ मे यह व्यवस्था की गई है कि सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध माल केवल उसी दशा मे अभिग्रहीत किया जा सकता है जब वह या तो शत्रुराज्य के सैनिक दलो अथवा सरकारी विभाग तक ले जाया जा रहा हो। सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध वस्तुओ के प्रसग मे अभिग्रहण किये जाने के लिये यह आवश्यक है कि वे शत्रुराज्य के सैनिक दलो अथवा उसके किसी सरकारी विभाग के लिए जाये जा रहे हो। यदि सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध माल शत्रु द्वारा अधिकृत किसी सुरक्षित स्थान के लिए अथवा उसकी क्रियाशीलता के आस्थान तक, अथवा उसके प्राधिकारियो अथवा शत्रु देश के किसी ठेकेदार तक जो शत्रु की सरकार को विवादग्रस्त प्रकार की वस्तुएं को पहुँचाता हो, भेजा जा रहा हो तो माल का लक्ष्य शत्रु का क्षेत्र होना अनुमानित किया जा सकता है। लौरेंस उचित रीति से यह व्यक्त करते हैं कि "यह बात कि माल किस उपयोग मे लाया जायगा उसके दोषी होने अथवा निर्दोष होने को प्रमाणित करती है। उपयोग का प्रमाण माल का लक्ष्य स्थान है तथा कागज पत्रादि लक्ष्य स्थान के प्रमाण हैं।"

(iii) **अपराध के आवश्यक अंग (Essentials of Guilt)**—लौरेंस विनिषिद्ध वस्तुओ के सम्बन्ध मे अपराधी होने के अगो को निम्नलिखित शब्दो मे सक्षिप्त करते हैं :—सर्वप्रथम यह कि विनिषेध की विधि का लक्ष्य परिवहन है न कि सौदा या विक्रय। तटस्थ व्यापारीगण तटस्थ क्षेत्र के भीतर शस्त्र तथा अन्य विनिषिद्धमाल युद्धस्थित शक्तियो के अभिकर्ताओ को बेचने के लिए स्वतन्त्र हैं। केवल उस दशा में जब वे ऐसी वस्तुयें युद्धस्थितो मे से किसी एक को निर्यात करते हैं उनके शत्रु को अभिग्रहण करने का अधिकार प्राप्त होता है।

द्वितीय यह कि युद्धस्थित लक्ष्यक्षेत्र आवश्यक है।

तृतीय यह कि अपराध उसी क्षण पूर्ण हो जाता है जब कोई विनिषिद्ध वस्तुओ से लदा हुआ जहाज तटस्थ जलभाग को युद्धस्थित लक्ष्य क्षेत्र के लिए छोड़ता है। जैसा कि लार्ड स्टावेल ने इमिना (Imina) वाले मामले मे (C Robinson, Admiralty Reports, Vol. III, p. 164) मे कहा है "वस्तुओ को शत्रु के किसी बन्दरगाह की यात्रा वास्तविक रूप से कराये जाने मे ही दोषी मान लेना चाहिये।"

सन् १९०९ की लन्दन की घोषणा के अनुसार वस्तुएँ जो केवल अस्वस्थ तथा घायलो के उपयोग के लिए अथवा यात्रा के मध्य वहन करने वाले जहाज और उसके चालकगणो तथा यात्रियो के उपयोग के लिए हो, अभिग्रहण किए जाने से उन्मुक्त हैं चाहे उनका लक्ष्य क्षेत्र शत्रु का स्थान ही क्यो न हो क्योंकि ऐसी वस्तुये विनिषिद्ध नही मानी जाती।

विनिषिद्ध का वहन करने के लिए दंड (Penalty for Carrying Contraband) :—लन्दन की घोषणा के अनुच्छेद ३६ तथा ४० मे यह व्यवस्था की गई है कि केवल विनिषिद्ध वस्तुएँ ही नही वरन् वह जहाज भी जो उनको ले जा रहा हो, यदि विनिषिद्ध माल की गणना उसके मूल्य, भार, राशि अथवा भाडे से किये जाने पर वह कुल लदे हुए माल के आधे से अधिक हो जब्त किया जा सकता है। उस दशा मे जब माल अपराधी प्रमाणित किया जाय तथा जहाज छुडा लिया जाय तो उसे अभिग्रहण करने वाले को राष्ट्रीय नौजितमाल न्यायालय की कार्यवाहियो तथा उनके बीच जहाज तथा उस पर लदे हुए माल की अभिरक्षा के सम्बन्ध मे लगे हुए कीमत तथा व्यय देने का उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। इससे विनिषिद्ध माल का स्वामी अपने ऐसे निर्दोष माल की भी हानि उठाने का उत्तरदायी हो जाता है जो कि उसी जहाज पर लदा पाया जाय, किन्तु निर्दोष माल जो अन्य स्वामियो की सम्पत्ति है ऐसे दायित्व से उन्मुक्त हो जाता है। यदि जहाज मे लदे हुए माल मे से आधे से कम विनिषिद्ध वस्तु हो तो वह अपराधी प्रमाणित नही किया जा सकता तथा उसका मालिक विनिषिद्ध वस्तु को उसे हस्तगत कर सकता है।

व्यावहारिक रूप मे ब्रिटेन के तथा यूरोपीय महाद्वीप के देश अभिग्रहीत विनिषिद्ध माल अथवा उनको ले जाने वाले जहाज को युद्धस्थित राज्य द्वारा सस्थापित नौजितमाल न्यायालय के पास निर्णय के लिये भेजते हैं। यदि नौजितमाल न्यायालय अभिग्रहण को पुष्ट कर देता है तो माल अथवा जहाज उपयुक्त नौजितमाल समझा जाता है तथा अभिग्रहण करने वाले राज्य द्वारा जब्त कर लिया जाता है।

सर विलियम स्कॉट द्वारा न्यूट्रेलिटेट (The Neutralitet : 6 C. Rob. 30) मे यह व्यक्त किया गया कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियम निश्चित रूप से यह है कि जहाज विनिषिद्ध माल ले जाने के लिये अपराधी प्रमाणित किये जाने के अधीन न होगा। किन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं। जब जहाज माल के स्वामी की सम्पत्ति हो अथवा जब जहाज मिथ्या-क्षेत्र को लक्ष्य दिखा कर अथवा मिथ्या कागज-पत्र लेकर जा रहा हो तो ये परिस्थितियाँ अपराध को बढा देती हैं तथा ऐसे मामले आधुनिक नियम के अपवादस्वरूप हो जाते हैं।

वैध अभिग्रहण के लिये मुआवजा (Compensation for Lawful Seizure) :—तीन दशाओ मे जब कि माल वैध रूप से अभिग्रहण किया जाय मुआवजा देना पडता है। वे निम्नलिखित हैं :—

१. जब जहाज से समुद्र मे मुठभेड हो तथा उसका मालिक युद्ध छिडने अथवा वस्तुओ के विनिषिद्ध घोषित किये जाने से अनभिज्ञ हो।

२. जब मालिक को यह ज्ञात हो जाय कि युद्ध छिड़ गया है किन्तु उसे विनिषिद्ध वस्तुओं को उतारने का अवसर न प्राप्त हुआ हो।

३ जब अत्यन्त आवश्यकता के दबाव में चिकित्सा-सम्बन्धी सामग्री अभिग्रहीत कर ली जाय।

लन्दन की घोषणा (१९०९) सत्यापित न किये जाने के कारण प्रवृत न हो सकी। प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य ग्रेट ब्रिटेन ने असरूप वस्तुओं को लन्दन की घोषणा की पूर्णत विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची में जोड़ दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के सघात ने विनिषिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में लन्दन की घोषणा को पूर्णत. हवा म उड़ा दिया। विनिषिद्ध सम्बन्धी पुराने नियमों की निर्भीकता से उपेक्षा की गई। सितम्बर सन् १९३९ मे ग्रेट ब्रिटेन द्वारा विनिषिद्ध पदार्थों की एक नयी सूची घोषित की गई जिसम प्रत्येक वस्तु जो इस कोटि में आ सकती थी, समावेशित थी।

अलवाकी (The Alwaki) के वाद मे, अलवाकी और तीन अन्य डच पोत नार्वे पोत के साथ थे जो कि दक्षिणी अमेरिकी बन्दरगाहों की ओर शत्रुता आरम्भ होने के पूर्व ही चल पड़े थे, और उनमें ऐसी सामग्रियाँ थी जो कि कुछ तो आशिक रूप से निर्पेक्षत विनिषिद्ध थी और कुछ अशत सशर्त पर विनिषिद्ध थी। युद्ध आरम्भ होने के बाद यह पोत पकड़ लिये गये। इस प्रसग मे न्यायालय का अभिमत था कि युद्ध के लाभ की सामग्रियो के सम्बन्ध मे दावेदार के ऊपर आभार है कि वह अपने दावे को सिद्ध कर सके और यह क्राउन का काम नहीं है कि वे एक अस्तित्वाची वाद को विशिष्ट बनाने का तर्क उपस्थित करें। अत यह बन्दीकरण उस समय तक समुचित प्रतीत होता है जब तक कि उसका कोई दावेदार सामने आकर अपने दावे को प्रस्थापित नहीं कर देता। न्यायालय ने पोतों मे निहित माल को विनिषिद्ध करार दिया।

विनिषिद्ध और नाकाबदी से सम्बन्ध (Relationship between Contraband and Blockade)—विनिषिद्ध शब्द के अन्तर्गत दो मुख्य बातें आती हैं, पहली यह है कि माल किस प्रकार का है और दूसरी यह कि माल शत्रु के गन्तव्य तक जा रहा है। अत केवल ऐसे ही माल को पकड़ा जा सकता है जो कि विनिषिद्ध सूची में है और जिसका कि निर्यात शत्रु के क्षेत्र तक होना है। नाकाबन्दी के अन्तर्गत शत्रु के सभी आवागमन को किनारे या बन्दरगाहों तक रोक देने की क्रिया आती है जिससे कि उसका समुद्री यातायात विशृंखलित हो जाय। विनिषिद्ध और नाकाबन्दी मे मुख्य अन्तर यह है कि विनिषिद्ध के अन्तर्गत जहाँ केवल निषेधित वस्तुओं के ले आने या ले जाने पर रोक लगाई जाती है वहाँ नाकाबन्दी मे शत्रु के सभी प्रकार के पोतों और मालों को रोक दिया जाता है।

विनिषिद्ध का वहन करने के लिए दंड (Penalty for Carrying Contraband) :—लन्दन की घोषणा के अनुच्छेद ३९ तथा ४० मे यह व्यवस्था की गई है कि केवल विनिषिद्ध वस्तुएँ ही नही वरन् वह जहाज भी जो उनको ले जा रहा हो, यदि विनिषिद्ध माल की गणना उसके मूल्य, भार, राशि अथवा भाडे से किये जाने पर वह कुल लदे हुए माल के आधे से अधिक हो जब्त किया जा सकता है। उस दशा मे जब माल अपराधी प्रमाणित किया जाय तथा जहाज छुडा लिया जाय तो उसे अभिग्रहण करने वाले को राष्ट्रीय नौजितमाल न्यायालय की कार्यवाहियो तथा उनके बीच जहाज तथा उस पर लदे हुए माल की अभिरक्षा के सम्बन्ध मे लगे हुए कीमत तथा व्यय देने का उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। इससे विनिषिद्ध माल का स्वामी अपने ऐसे निर्दोष माल की भी हानि उठाने का उत्तरदायी हो जाता है जो कि उसी जहाज पर लदा पाया जाय, किन्तु निर्दोष माल जो अन्य स्वामियो की सम्पत्ति है ऐसे दायित्व से उन्मुक्त हो जाता है। यदि जहाज मे लदे हुए माल मे से आधे से कम विनिषिद्ध वस्तु हो तो वह अपराधी प्रमाणित नही किया जा सकता तथा उसका मालिक विनिषिद्ध वस्तु को उसे हस्तगत कर सकता है।

व्यावहारिक रूप मे ब्रिटेन के तथा यूरोपीय महाद्वीप के देश अभिग्रहीत विनिषिद्ध माल अथवा उनको ले जाने वाले जहाज को युद्धस्थित राज्य द्वारा सस्थापित नौजितमाल न्यायालय के पास निर्णय के लिये भेजते हैं। यदि नौजितमाल न्यायालय अभिग्रहण को पुष्ट कर देता है तो माल अथवा जहाज उपयुक्त नौजितमाल समझा जाता है तथा अभिग्रहण करने वाले राज्य द्वारा जब्त कर लिया जाता है।

सर विलियम स्कॉट द्वारा न्यूट्रेलिटेट (The Neutralitet . 6 C. Rob. 30) मे यह व्यक्त किया गया कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि का नियम निश्चित रूप से यह है कि जहाज विनिषिद्ध माल ले जाने के लिये अपराधी प्रमाणित किये जाने के अधीन न होगा। किन्तु इस नियम के कुछ अपवाद हैं। जब जहाज माल के स्वामी की सम्पत्ति हो अथवा जब जहाज मिथ्या-क्षेत्र को लक्ष्य दिखा कर अथवा मिथ्या कागज-पत्र लेकर जा रहा हो तो ये परिस्थितियाँ अपराध को बढ़ा देती हैं तथा ऐसे मामले आधुनिक नियम के अपवादस्वरूप हो जाते हैं।

वैध अभिग्रहण के लिये मुआवजा (Compensation for Lawful Seizure) .—तीन दशाओ मे जब कि माल वैध रूप से अभिग्रहण किया जाय मुआवजा देना पडता है। वे निम्नलिखित हैं .—

१. जब जहाज से समुद्र मे मुठभेड हो तथा उसका मालिक युद्ध छिड़ने अथवा वस्तुओं के विनिषिद्ध घोषित किये जाने से अनभिज्ञ हो।

२. जब मालिक को यह ज्ञान हो जाय कि युद्ध छिड़ गया है किन्तु उसे विनिषिद्ध वस्तुओं को उतारने का अवसर न प्राप्त हुआ हो।

३. जब अत्यन्त आवश्यकता के दबाव में चिकित्सा-सम्बन्धी सामग्री अभिग्रहीत कर ली जाय।

लन्दन की घोषणा (१६०६) सत्यापित न किये जाने के कारण प्रवृत न हो सकी। प्रथम विश्वयुद्ध के मध्य ग्रेट ब्रिटेन ने असख्य वस्तुओं को लन्दन की घोषणा की पूर्णतः विनिषिद्ध वस्तुओं की सूची में जोड़ दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध के सघात ने विनिषिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में लन्दन की घोषणा को पूर्णत. हवा में उड़ा दिया। विनिषिद्ध सम्बन्धी पुराने नियमों की निर्भीकता से उपेक्षा की गई। सितम्बर सन् १६३६ में ग्रेट ब्रिटेन द्वारा विनिषिद्ध पदार्थों की एक नयी सूची घोषित की गई जिसमें प्रत्येक वस्तु जो इस कोटि में आ सकती थी, समावेशित थी।

अलवाकी (The Alwaki) के वाद में, अलवाकी और तीन अन्य डच पोत नार्वे पोत के साथ थे जो कि दक्षिणी अमेरिकी बन्दरगाहों की ओर शत्रुता आरम्भ होने के पूर्व ही चल पड़े थे, और उनमें ऐसी सामग्रियाँ थी जो कि कुछ तो आंशिक रूप से निर्पेक्षत. विनिषिद्ध थी और कुछ अशत सशर्त पर विनिषिद्ध थीं। युद्ध आरम्भ होने के बाद यह पोत पकड़ लिये गये। इस प्रसग में न्यायालय का अभिमत था कि युद्ध के लाभ की सामग्रियों के सम्बन्ध में दावेदार के ऊपर भाभार है कि वह अपने दावे को सिद्ध कर सके और यह क्राउन का काम नहीं है कि वे एक अस्तित्ववाची बाद को विशिष्ट बनाने का तर्क उपस्थित करें। अत यह बन्दीकरण उस समय तक समुचित प्रतीत होता है जब तक कि उसका कोई दावेदार सामने आकर अपने दावे को प्रस्थापित नहीं कर देता। न्यायालय ने पोतों में निहित माल को विनिषिद्ध करार दिया।

विनिषिद्ध और नाकाबंदी से सम्बन्ध (Relationship between Contraband and Blockade)—विनिषिद्ध शब्द के अन्तर्गत दो मुख्य बातें आती हैं, पहली यह है कि माल किस प्रकार का है और दूसरी यह कि माल शत्रु के गन्तव्य तक जा रहा है। अत केवल ऐसे ही माल को पकड़ा जा सकता है जो कि विनिषिद्ध सूची में है और जिसका कि निर्यात शत्रु के क्षेत्र तक होना है। नाकाबन्दी के अन्तर्गत शत्रु के सभी आवागमन को किनारे या बन्दरगाहों तक रोक देने की क्रिया आती है जिससे कि उसका समुद्री यातायात विशृंखलित हो जाय। विनिषिद्ध और नाकाबन्दी में मुख्य अन्तर यह है कि विनिषिद्ध के अन्तर्गत जहाँ केवल निषेधित वस्तुओं के ले आने या ले जाने पर रोक लगाई जाती है वहाँ नाकाबन्दी में शत्रु के सभी प्रकार के पोतों और मालों को रोक दिया जाता है।

नाकाबन्दी के अन्तर्गत किसी पोत की भर्त्सना करने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि वह संरोधित क्षेत्र मे घुस रहा था, या घुसने का प्रयत्न कर रहा था।

पिछले दो विश्व युद्धो ने नाकाबदी और विनिषिद्ध के अन्तर को बहुत कुछ मिटा दिया है और आज की समुद्री युद्ध विधि मे विनिषिद्ध और नाकाबन्दी दोनो का प्रयोग एक ही अर्थो मे किया जाने लगा है।

निरंतर यात्रा का सिद्धान्त (Doctrine of Continuous Voyage):— "निरतर यात्रा के सिद्धान्त मे वह साहसिक कार्य निहित है जिसमे माल प्रथम तो किसी तटस्थ बन्दरगाह को और वहाँ से आगे किसी शत्रु के प्रदेश को ले जाया जाय, जो कुछ प्रयोजनो के लिये केवल एक ही परिवहन हो तथा जिसमे वे सब परिणाम होते यदि तटस्थ बन्दरगाह बीच में न पड़ता।" (पिट कोबेट)।

तटस्थ जहाज अपनी यात्रा दो भागो मे विभक्त करके विनिषिद्ध वस्तुओं का अभिग्रहण बचाने का प्रयत्न करते थे। जब वे युद्ध मे विनिषिद्ध पदार्थों को शत्रु के देश मे ले जाते तो वे प्रकट रूप मे अपने कागज पत्रो के अनुसार किसी तटस्थ प्रदेश को रवाना होते, उस प्रकट रूप से लक्ष्य प्रदेश मे अर्थात् तटस्थ बन्दरगाह मे अपना माल उतारते, यदि आवश्यकता हुई तो कर देते और तब अपने वास्तविक लक्ष्य प्रदेश अर्थात् युध्यस्थित बन्दरगाह मे पहुँचने का प्रयास करते। इसी प्रकार नाकाबदी तोड़ने के लिये वे किसी तटस्थ बन्दरगाह को जो नाकाबदी किये गये समुद्र तट के समीप मे स्थित हो अपना प्रकट लक्ष्य प्रदेश मानेंगे तथा तटस्थ बन्दरगाह से माल को नाकाबंदी किये गये बन्दरगाह मे पुनः जहाज से ले जायेंगे। लेकिन निरतर यात्रा अथवा निरतर परिवहन का सिद्धान्त लागू किये जाने से तटस्थो का युद्ध मे विनिषिद्ध अथवा नाकाबदी सम्बन्धी नियम को बचाने का प्रयत्न विफल हो गया। सिद्धान्त मे यह निर्धारित किया गया कि उस माल को जो यदि शत्रु के बन्दरगाह को ले जाया जाता तो विनिषिद्ध होता बीच मे ही विनिषिद्ध के रूप मे रोका जा सकता है, चाहे वह प्रकट रूप मे किसी तटस्थ बन्दरगाह को ही क्यो न ले जाया जा रहा हो यदि वास्तव मे अभिप्राय यह हो कि वह उस तटस्थ बन्दरगाह से भूमि अथवा समुद्र द्वारा किसी शत्रु क्षेत्र को ले जाया जाय।

निरंतर यात्रा के सिद्धान्त की नाकाबन्दी, विनिषेध तथा अतटस्थ सेवा में उपयोगिता :— हाइड का कथन है कि "निरतर यात्रा का सिद्धान्त नौजितमाल न्यायालयो के हाथो मे तटस्थ व्यापारियो द्वारा युद्ध-स्थित के निषेधो को बचाने के प्रयत्नो के विफल करने के उपयोग मे लाये जाने का एक साधन प्रदान करता है। वे निषेध इस प्रकार के होते हैं जैसे शत्रु के उपनिवेशो से व्यापार अथवा विनिषिद्ध पदार्थों को उसके क्षेत्र मे ले जाना अथवा उसके तटो की नाकाबन्दी तोड़ने का प्रयत्न करना।"

"यात्राओं के निरंतर बनी रहने का परीक्षण नाकाबन्दी, शत्रुओं से व्यापार, अतटस्थ सेवा, विनिषिद्ध पदार्थों का ले जाना तथा वास्तव में उन सब मामलों में आवश्यक है अथवा हो सकता है जिसमें जहाज का लक्ष्य क्षेत्र अथवा माल महत्व रखता हो। अटूट यात्रा का परीक्षण मुख्यत. तब होता है जब यह समझा जाय कि अभिग्रहण करने वाली शक्ति का कोई प्रजाजन शत्रु से व्यापार कर रहा है अथवा कोई तटस्थ विनिषिद्ध वस्तुओं को शत्रु के पास अथवा उस नियम के अधीन जिसे "सन् १७५६ का नियम" कहते भेज रहा है। यह उस मामले में भी महत्व ग्रहण कर लेता है जब कि नाकाबन्दी तोड़ने के आशय का सदेह हो। यदि कोई माल नाकाबन्दी के भीतर से ले जाये जाने के लिए निर्देशित हो तो वह यात्रा के किसी भी स्थिति में पकड़ा जा सकता है। ऐसी दशा में कोई तटस्थ क्षेत्र बीच में डाल दिया जायगा और उतारने, दूसरे जहाज में लादने तथा बिक्री इत्यादि की सब रीतियाँ वैसी ही व्यवहार की जायेंगी जैसी विनिषिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में, और दोनों के विषय में वही जाँच तथा तर्क के सिद्धान्त उपयोगी हैं।" (Cf. Wheaton . Elements of International Law, 1936 pp 558-560)

अत. इस सिद्धान्त का उपयोग निषिद्ध व्यापार, नाकाबन्दी तथा विनिषिद्ध वस्तुओं के मामलों में किया गया है। सन् १७५६ के युद्ध के नियम ने जिसकी विवेचना थोड़े ही आगे की गई है युध्यमानों को इस योग्य बनाया कि वे तटस्थों को ऐसा व्यापार करने से वर्जित करें जो उनके लिये शान्तिकाल में बन्द रहा हो। सिद्धान्त के नाकाबन्दी के विषय में उपयोग किये जाने के सम्बन्ध में इसने यह अनुमति दी कि माल यात्रा के किसी भी स्थिति में पकड़ा जा सकता है यदि उसका उद्देश्य नाकाबन्दी के भीतर से ले जाए जाने का हो।

विनिषिद्ध वस्तुओं के सम्बन्ध में लन्दन की घोषणा के अनुच्छेद ३६ में यह व्यवस्था की गई है कि पूर्णत विनिषिद्ध माल यदि वह शत्रु के अधिकार वाले अथवा उसके द्वारा अधिकृत क्षेत्र को अथवा उसके सशस्त्र दलों को जा रहा हो तो वह अभिग्रहीत किया जा सकता है। इसके लिये इस बात का विचार आवश्यक है कि माल सीधा जा रहा था अथवा उसे दूसरे जहाज में लादना पड़ता था या कि उसे अनन्तर पुन. स्थल से परिवहन करना पड़ता था।

निरन्तर की समुद्री यात्रा के महत्वपूर्ण वाद (Leading Cases on Continuous Voyage)—'लॉर्ड स्टोवेल' ने निरन्तर समुद्री यात्रा के सिद्धान्त का तात्पर्य मैरिया (Maria)[1] के वाद में निम्नलिखित ढग से स्पष्ट किया है—

---

१. (१७९९) ५ सी० रॉब० ३६८।

"यह एक अन्तर्निहित सुनिश्चित सिद्धान्त है कि केवल किसी बन्दरगाह को स्पर्श कर देना ही समुद्री यात्रा की प्रकृति को बदल देने के लिए पर्याप्त नही है, निरन्तर समुद्री यात्रा प्रत्येक रूप मे वहाँ तक तथैव मानी जायेगी जिस देश के लिए बेडा लक्ष्य मानकर अन्तिम बन्दरगाह तक पहुँचने के लिये चला है।"

पॉली (Polly)[1] के वाद मे सर विलियम स्कॉट (Sir William Scott) का अवलोकन था कि "यदि कोई अमेरिकी व्यक्ति (*प्रसग के अन्तर्गत तटस्थ*) इस व्यापार सचार के लिए सीधे ढग से (directly) अनुमति नही प्राप्त कर पाता है, तो उसे चक्करदार (circuitous) ढग से भी नही प्राप्त कर सकता।"

'बरमूडा' (*Bermuda*)[2] *के प्रसग मे, जो कि इङ्गलैण्ड से नसाऊ तक की* समुद्री यात्रा के बीच बन्दी किया गया था, न्यायालय का निष्कर्ष था कि "इससे कोई अन्तर नही उत्पन्न होता है कि विद्रोही पोत का गन्तव्य गूढ (ulterior) था, या सीधा (direct)। *न तो गन्तव्य का प्रश्न पोत के परिवर्तन से ही प्रभावित हो* सकता है, क्योकि यदि जहाज का आदान-प्रदान ही आशयित है, तो वह कार्गो के यातायात की निरन्तरता को नही भग कर देता। किसी तटस्थ बन्दरगाह से चलकर किसी युद्ध सलग्न गन्तव्य तक *पहुँचने में किसी तटस्थ बन्दरगाह का अन्तरास्थापन* (interposition) सदैव से ही विनिषिद्ध और सरोध-गमन के लिए कारण रहा है। एक परिवहन जो कि एक स्थान से आरम्भ होकर कि दूसरे स्थान तक के लिए आशयित है, *उस समय तक निरन्तर माना जायेगा, जब तक कि* वह आशय ही परिवर्तित नही हो जाता। बीच मे रुकने के कितने स्थान आये, या पोत मे परिवर्तन किया गया, इस बात का उस यात्रा की निरन्तता मे बाधक नही है।

'स्प्रिगबॉक' (Springbok)[3] के वाद मे सयुक्त राज्य अमेरिका के 'सुप्रीम कोर्ट' ने एक ब्रिटिश पोत की प्रतारणा की थी, जो कि नसाऊ नामक बन्दरगाह तक पहुँचने के मार्ग मे था। कारण *यह था* कि बेडे की प्रकृति को देखते हुये इस बात मे सदेह नही रह गया था कि उसका वास्तविक गन्तव्य एक सरोधित बन्दरगाह तक पहुँचने का था।

'पीटर हॉफ' (Peter Hoff)[4] के वाद मे इस सिद्धान्त को *अत्यधिक* विस्तार दिया गया, जब कि विनिषिद्ध कार्गो का अंतिम उद्देश्य भूमि परिवहन पर भी सचारित किया गया।

---

१. (१८००) २ सी० आर० ३६२।
२. ३ वैलेस ५५१।
३. (१८५६) ५ वैलेस, १।
४. (१८६६) ५ वैलेस, ५६।

सयुक्त राज्य अमेरिका ने निरन्तर समुद्री यात्रा के सिद्धान्त का प्रयोग, यहाँ तक कि एक ऐसे सरोधित बन्दरगाह तक के लिये किया है, जहाँ कि एक आशय यह था कि कार्गो तटस्थ बन्दरगाह पर विराम करने के बाद आगे सरोधित बन्दरगाह तक भेजा जाये।

यद्यपि निरतर की यात्रा के सिद्धान्त मुख्यत राष्ट्रो द्वारा स्वीकृत कर लिए गये किन्तु उन प्रतिबन्धो के सम्बन्ध मे मतभेद रहा जिनके अधीन विनिषिद्ध वस्तुयें अभिग्रहीत की जा सकती थी। सयुक्त राज्य अमेरिका मे तटस्थ बन्दरगाह मे उतारे गए विनिषिद्ध पदार्थ यदि युद्धस्थिति के उपयोग के लिये शत्रु के बन्दरगाह मे भेजे जाने को हो तो वे बिना किसी प्रतिबन्ध के उसी प्रकार से अभिग्रहीत किये जा सकते थे जैसे मानो वे एक अटूट यात्रा द्वारा सीधे शत्रु के बन्दरगाह को जा रहे हो। यह सिद्धान्त फ्रास के नौजितमाल न्यायालयो द्वारा क्रीमिया के युद्ध के मध्य, अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा अमेरिका के गृहयुद्ध के मध्य तथा ग्रेट ब्रिटेन द्वारा दक्षिणी अफ्रीका के युद्ध के मध्य स्वीकृत किया गया। यूरोपीय महाद्वीप ने फिर भी इस सिद्धात को नही माना तथा इस बात पर हठ किया कि केवल पूर्णत तथा सप्रतिबन्ध विनिषिद्ध पदार्थों की सूची ही स्वीकृत की जाँय। इसके अनुसार सन् १९०९ की लन्दन की असत्यापित घोषणा ने एक समझौता निकाला जिसके अनुसार निरतर यात्रा का सिद्धान्त पूर्णत विनिषिद्ध पदार्थों के सम्बन्ध मे यथापूर्व बना रहने दिया गया तथा यह घोषित किया गया कि इस बात का विचार अनावश्यक है कि क्या माल का वहन सीधा है अथवा उसे दूसरे जहाज मे लादना पडता है या अनन्तर पुन स्थल से वहन करना पडता है, लेकिन इसका उपयोग सप्रतिब ध विनिषिद्ध पदार्थों के सम्बन्ध मे नही किया जाता था नवल उन विरल दशाओ को छोड कर जब अन्तिम लक्ष्य प्रदेश ऐसा युध्यमान देश हो जिसमे कोई समुद्र-तट या तट न हो। सन् १९०९ की लन्दन की घोषणा मे यह निर्धारित किया गया कि किसी जहाज अथवा उसके माल का आगे का लक्ष्य-प्रदेश चाहे कुछ भी क्यो न हो यदि वह उस समय ऐसे बन्दरगाह का जा रहा हो जिसमे नाकाबन्दी न हो तो उसे नाकाबन्दी भग करने के निमित्त पकडा नही जा सकता। लेकिन यह घोषणा असत्यापित रही तथा दो विश्वयुद्धो क मध्य उपर्युक्त नियम का प्रज्जवलत रूप से उल्लघन किया गया क्योकि अटूट यात्रा का सिद्धान्त सप्रतिबन्ध तथा पूर्णत विनिषिद्ध दोनो पदार्थों के सम्बन्ध मे लगाया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध मे ब्रिटिश न्यायालयो न निरन्तर समुद्री यात्रा क सिद्धान्त को लन्दन डिक्लेयरेशन मे प्रस्थापित नियमो से बाहर तक विस्तार दिया। किम् (Kim)[1] क वाद मे प्रसग यह था कि किम् नामक पोत नार्वे क अन्य तीन पोतो

१. (१९१५) प्रोवेट डिवीजन, पृ० २१५।

और स्वीडेन के एक पोत सहित न्यूयार्क से कोपेनहेगेन के लिए अधिक मात्रा मे खाद्य-सामग्रियाँ लादकर आगे को बढ रहा था। किम् मे कुछ अन्य साधारण सामग्रियाँ और कुछ रबर लदा था। ये सभी पोत नवम्बर १९१४ मे बन्दी बना लिये गए और कार्गो को शर्तयुक्त विनिषिद्ध रूप मे जब्त कर लिया गया। किम् मे भरे हुये रबर को निरपेक्षत. विनिषिद्ध के रूप मे माना गया। सर सैमुअल इवान्स (Sir Samual Evans) ने निर्णय देते हुये कहा था कि "निरन्तर समुद्री यात्रा, या आयात, दोनो के सिद्धान्त का जहाँ तक समुद्रो और स्थलीय परिवहन से सम्बन्ध है, वर्तमान युद्ध के आरम्भ होने के समय यह राष्ट्रो की विधि का एक अंश बन चुका है, और मान्य वैध निर्णयो के सिद्धान्त के अनुरूप है, और आधुनिक विधिशास्त्रियो की अत्यधिक बडी सख्या द्वारा और वर्तमान मैरीटाइम युद्ध कौशल के व्यवहारो के रूप मे राष्ट्रो द्वारा मान्य है।" जहाँ तक कि शर्तयुक्त विनिषिद्ध वस्तुओ के सम्बन्ध मे 'लन्दन डिक्लेयरेशन' के अनुसार आंशिक छूट स्वीकृत करने का प्रश्न था, विद्वान् न्यायाधीश ने अवलोकन किया था कि "जहाँ तक समझौते का सम्बन्ध है, यहाँ अपवाद स्थिर करने के लिये तर्कसंगत कारणो का अभाव प्रतीत होता है यदि यह उचित है कि एक युद्ध सलग्न शक्ति को अनुमति दी जानी चाहिए कि वह विभिन्न समुद्री यात्राओ द्वारा ले जाए जाने वाले निरपेक्षत विनिषिद्ध वस्तुओ को पकड ले, या ऐसे यातायात को रोक दे जिसका कि अन्तिम गन्तव्य शत्रु के क्षेत्र तक पहुँचना है, तो उसे भी क्यो न अनुमति दी जानी चाहिये कि वह साधारण सभी माल को पकड ले, भले ही वह माल निरपेक्षतः विनिषिद्ध हो, क्योकि वह सभी माल शत्रु की सरकार या उसकी सशस्त्र सेनाओ तक पहुँचकर विनिषिद्धता का रूप ले लेगा। यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि आज के सहज सुलभ यातायात के युग मे यदि निरन्तर समुद्री यात्रा के सिद्धान्त, या निरन्तर परिवहन के सिद्धान्त का प्रवर्तन किया जाना है, तो इसके अन्तर्गत समुद्र के एक बन्दरगाह से दूसरे बन्दरगाह तक की यात्रा ही नहीं, अपितु स्थलीय परिवहन का भी उसमे समावेशन किया जाना चाहिये, जब तक कि माल पहुँचने का गन्तव्य स्थान न मिल जाय।

विद्वान् न्यायाधीश ने निष्कर्ष दिया था कि कार्गो का अन्तिम लक्ष्य डेनमार्क मे उपभोग करने का अथवा वहाँ के स्टॉक मे माल बढाने का न था और कोपेनहेगेन डेलिवरी का अन्तिम स्थान भी न था, वह तो जर्मन क्षेत्र को लक्ष्य बनाकर आगे को बढ़ रहा था। यह भी अवलोकन किया गया कि पोत मे किसी विशिष्ट माल के होने की जानकारी का होना जब्त किए जाने या अपरायण से छूट के लिए पर्याप्त आधार नहीं है।

सन् १७५६ का युद्धका नियम:—निरतर यात्रा का सिद्धान्त "सन् १७५६ के युद्ध के नियम" से सम्बन्धित माना जाता है जिसके अनुसार युद्ध में लगे हुए राज्य

तटस्थो को ऐसा व्यापार करने से निषिद्ध कर सकते थे जो उनके लिए शान्ति के समय बन्द रहा हो। इङ्गलैण्ड के साथ सप्तवर्षीय युद्ध मे फ्रास ने यह ज्ञात करके कि इङ्गलैण्ड की बड़ी नौसेना के कारण वह अपना औपनिवेशिक व्यापार नही कर सकता, नीदरलैण्ड को जो तटस्थ था, यह अनुमति दी कि आज्ञापत्र द्वारा व्यापार करे। ब्रिटिश सरकार ने डेनमार्क के जहाजो को उनमे लदे हुए माल सहित अभिग्रहण किए जाने की आज्ञा इस आधार पर दी कि उन्होने अपने को शत्रु के व्यापारिक जहाजो से सयुक्त कर लिया है तथा ऐसी स्थिति मे वे अभिग्रहीत किये जा सकते हैं। संक्षेप मे सन् १७५६ का नियम उस रीति को प्रकट करता था, जो वास्तव मे सन् १७५६ से भी अधिक पुरानी थी, कि युद्धस्थित के एक बन्दरगाह तथा अन्य बन्दरगाह के बीच को मातृभूमि और उसके उपनिवेश के बीच का व्यापार, जो सामान्यतः शान्ति के समय बन्द रहा हो, अन्य युद्धकारी द्वारा तटस्थ जहाजो के माध्यम से नही करने दिया जाता था। लार्ड स्टावेल ने इमैनुअल (Immanuel) वाले मामले [(1799) 2 C Rob. 186] मे कहा कि जहाँ तटीय तथा औपनिवेशिक व्यापार तटस्थो के लिए शान्ति के समय बन्द रहा हो और युद्ध के बीच खोल दिया जाय तो तटस्थ जो ऐसे व्यापार मे लगते हैं अपने को शत्रु के व्यापारिक जहाजो मे समुक्त कर लेते हैं तथा शत्रुओ मे से प्रत्येक के लिए उत्तरदायी होते हैं। सन् १७५६ का नियम बाद में अमेरिका तथा जापान द्वारा अगीकृत किया गया। लन्दन की असत्यापित घोषणा मे सन् १७५६ के नियम पर कोई मत नही प्रकट किया गया और इसे अनिश्चित ही छोड दिया गया (अनुच्छेद ५७)।

अध्याय ५०

अतटस्थ सेवा

(Unneutral Service)

इसका अर्थ—"अतटस्थ सेवा" से "उन कार्यों का द्योतन होता है जो कभी तटस्थो द्वारा किए जाँय जिसमे कुछ समय के लिए युद्धस्थिति की सेवा मे प्रवेश तथा उसके लिए ऐसे कार्य करना भी सम्मिलित है जो युद्ध मे उसके लिए प्रत्यक्षरूप से लाभदायक हो" (लौरेंस)। ऐसी अतटस्थ सेवा तटस्थ जहाजो द्वारा युद्धस्थित को वास्तविक सहायता देकर की जाती है। अन्य युद्धस्थित राज्य को यह अधिकार है कि वह उनको अतटस्थ कार्य की गम्भीरता के अनुरूप कम व अधिक दण्ड दे। उदा-

हरण के लिये यदि किसी तटस्थ राज्य का कोई व्यक्तिगत जहाज किसी युद्धस्थित के सैनिक दलो को ले जावे अथवा रेडियो द्वारा सैनिक समाचार उसके उपयोग के लिए भेजे तो यह अतटस्थ सेवा कर रहा है तथा दृष्टिपात होते ही विनष्ट किए जाने योग्य है। इसी प्रकार यदि कोई तटस्थ जहाज सुरग बिछाये अथवा किसी युद्धस्थित के हित मे व्यापारिक माल को एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाय तो वह प्रथम दशा मे दृष्टिपात होते ही डुबाये जाने की अथवा दूसरी दशा मे नौजितमाल के रूप मे अभिग्रहीत तथा अपराधी प्रमाणित किये जाने का दायित्व रखता है।

लदन की घोषणा (Declaration of London) —लन्दन की घोषणा (१६०६) मे जो सत्यापन के अभाव में प्रवृत्त नही हो सकी अतटस्थ सेवा पर एक सम्बद्ध विधि को सर्वप्रथम घोषित किया गया। अनुच्छेद ४५ मे यह व्यवस्था की गई कि यदि कोई तटस्थ जहाज ऐसी यात्रा कर रहा हो जो विशिष्ट रूप से या तो (अ) व्यक्तिगत यात्रियो के वहन करने की दृष्टि से जो शत्रु के सैनिक दलो मे समावेशित हो या (आ) शत्रु के हित मे समाचार भेजने की दृष्टि से की जा रही हो तो जहाज दण्डित किया जा सकता है यदि सेवा जान-बूझ कर की गई हो, यद्यपि यह आवश्यक नही कि यह सेवा अवश्यमेव अनन्य (केवल उसी प्रयोजन के लिये) रही हो। जहाज तथा उस पर लदा हुआ माल जो एक ही स्वामी की सम्पत्ति हो दण्डित किये जा सकते है यदि स्वामी, चार्टर देने वाले अथवा मालिक के ज्ञान मे जहाज शत्रु की सेना के किसी अश को अथवा एक या अधिक व्यक्तियो को वहन कर रहा हो जो यात्रा के बीच शत्रु की क्रियाशीलता को प्रत्यक्ष रूप से सहायता देते हो। लेकिन यदि युद्ध छिडने की अनभिज्ञता मे अथवा ज्ञान होने के उपरान्त यात्रियो को उतारने का अवसर न मिलने पर जहाज दण्डित किया जा सकता है। अनु ४७ मे यह व्यवस्था की गई कि युद्धस्थित का गश्ती जहाज यदि शत्रु के सैन्यदल मे समावेशित किसी व्यक्ति को तटस्थ व्यापारिक जहाज मे प्राप्त हो तो वह उसके प्रत्यर्पण की मांग कर सकता है, चाहे जहाज को पकडने के लिए कोई आधार न हो, तथा जहाज को अपने मार्ग पर जाने दिया जा सकता है। अनुच्छेद ४६ मे यह व्यवस्था की गई कि अधिक गम्भीर तथा भयकर प्रकार की अतटस्थ सेवाओ के कारण जहाज तथा उसके स्वामी का उस पर लदा हुआ माल उसे शत्रु के अभिग्रहीत व्यापारिक जहाज की स्थिति मे रख कर जब्त किये जा सकते हैं। ऐसे मामले उस समय उत्पन्न होते हैं जब कोई जहाज शत्रुता के कार्यों मे प्रत्यक्ष भाग लेता हो अथवा शत्रु की सरकार द्वारा जहाज पर रखे हुय किसी अभिकर्ता के आदेशो अथवा नियन्त्रण के अधीन हो अथवा जब तटस्थ जहाज शत्रु का सरकार के अनन्य कार्य में लगा हो अथवा जब जहाज अनन्य रूप से शत्रु के हित मे सैनिक दलो को परिवहन करने मे अथवा सूचना देने में लगा हो।

लन्दन की असत्यापित घोषणा के अनुच्छेद ४७ मे यह व्यवस्था की गई है कि तटस्थ जहाज से केवल वे ही व्यक्ति हटाये जाँय जो शत्रु के सैन्य दलो मे समावेशित हो अर्थात् जहाज पर के सिपाही अथवा नाविकगण, किन्तु यह नियम प्रथम तथा द्वितीय दोनो विश्वयुद्धो मे नही स्वीकार किया गया। नवम्बर सन् १९१४ मे ब्रिटिश सरकार ने प्रतिकार के उपाय के रूप मे यह आदेश किया कि तटस्थ जहाजो पर के शत्रु के प्रारक्षितक (reservists) युद्धबन्दी बना लिए जाँय जिसका प्रभाव शत्रु के सेना मे भर्ती होने योग्य अवस्था प्राप्त सब प्रजाजनो पर पडा। पुनः जनवरी सन् १९४० मे ब्रिटेन के एक गश्ती जहाज ने सेना के लिये वयस्क जर्मन नागरिको को जापानी जहाज 'आसमा मारू' से उतार लिया।

अटस्थ सेवा तथा विनिषेध .—अतटस्थ सेवा वास्तव मे विनिषेध से निम्नलिखित प्रकार से भिन्न है। प्रथम तो जैसा लौरेंस ने व्यक्त किया है "कार्यों के लक्षणो मे ही स्वय विभेद है। जो कुछ विनिषेध के मामलो मे होता है वह केवल व्यापारिक विषय के रूप मे ही किया जाता है। इसके विषय पदार्थ हैं तथा इसका उद्देश्य लाभ है। अतटस्थ सेवा मे कार्य साधारण व्यापार के कार्य नही होते। उनकी विशिष्ट उपाधियाँ युद्धसदृश हैं न कि व्यापारिक, अर्थात् असैनिक व्यक्तियो को शत्रु की सेवा मे ले जाना, राजनैतिक सन्देशो को भेजना, इत्यादि। अन्य शब्दो मे विनिषेध मे केवल कुछ माल रहता है किन्तु अतटस्थ सेवा मे व्यक्तियो को ले जाना तथा शत्रु के लिए सन्देश भेजना भी सम्मिलित है। दूसरे यह कि विनिषिद्ध व्यापारिक माल को वैधरूप से जब्त करने के लिये शत्रु लक्ष्य क्षेत्र आवश्यक है, किन्तु अतटस्थ सेवा मे लक्ष्य क्षेत्र अनावश्यक है। अतटस्थ सेवा मे नियोग (mission) का स्वरूप महत्व रखता है। हाइड का भी कथन है कि शत्रु लक्ष्य की विद्यमानता जिसका प्रमाणित होना विनिषेध के सम्बन्ध मे विचार करने मे इतना महत्व रखती है शत्रु के सैनिक जनो को ले जाने का औचित्य दर्शाने के लिए सर्वदा ही आवश्यक नही है क्योंकि उनको बीच मे ही रोकने का अधिकार उस विशेष दशा मे उनके नियोग के स्वरूप पर अथवा ले जाये जाने के मध्य मे उनके वास्तविक आचरण पर आश्रित रह सकता है। तीसरे यह कि दण्ड मे भी भेद है। विनिषेध के असदृश अतटस्थ सेवा की दशा मे लदा हुआ माल केवल बिरले ही मामलो मे जब्त किया जाता है। विनिषेध की दशा मे अहितकारी माल आरम्भ मे ही राज्यसात् कर लिया जाता है तथा आगे बढे हुए मामलो में जहाज भी दंडित कर दिया जाता है। अतटस्थ सेवा की दशा में जहाज को उन अवैध वस्तुओ सहित जो वह ले जा रहा हो प्रारम्भ मे ही जब्त कर लिया जाता है किन्तु सामान्यतः माल को गम्भीर मामलो को छोडकर और किसी अन्य दशाओ में जब्त नही किया जाता।

अन्त मे ओपेनहेम भेद को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि विनिषिद्ध वस्तुओ का परिवहन अवश्य तथा बहुत सी दशाओ मे व्यवहार मे भी शत्रु की प्रत्यक्ष सेवा मे नही होता किन्तु अतटस्थ सेवा मे शत्रु के लिये व्यक्तियो का परिवहन तथा सन्देशो का ले जाना सामान्यतः शत्रु की प्रत्यक्ष सेवा मे होता है। अतः यह विनिषिद्ध वस्तुओ को वहन करने से कही अधिक सहायता का द्योतक है।

अतटस्थ सेवा तथा शत्रुतापूर्ण सेवा :—अतटस्थ सेवा को शत्रुतापूर्ण सेवा से भी पृथक किया जा सकता है। जिस दशा मे सेवा केवल आंशिक हो वह अतटस्थ सेवा होगी, उदाहरणार्थ यदि कोई जहाज आंशिक रूप से निर्दोष सेवा में लगे रहने के साथ ही साथ सैनिक व्यक्तियो अथवा सन्देशो को ले जाने मे लगा हो। लन्दन की असत्यापित घोषणा (१९०९) के अनुच्छेद ४६ में शत्रुतापूर्ण सेवा के चार उदाहरण परिगणित किये गए हैं जिनमे तटस्थ जहाज शत्रु के लक्षण प्राप्त कर लेता है तथा उससे वैसा ही व्यवहार किया जा सकता है। वे हैं (१) जब कोई तटस्थ जहाज लडाई में प्रत्यक्ष भाग ले, (२) जब वह शत्रु की सरकार द्वारा जहाज पर रक्खे गए किसी अभिकर्ता के आदेशो अथवा नियन्त्रण के अन्तर्गत हो, (३) जब वह अनन्य रूप से शत्रु के सरकार के अधीन कार्य कर रहा हो तथा (४) जब वह शत्रु के सैन्यदलो को परिवहन करने में अथवा उसके हित मे सन्देश भेजने में लगा हो। प्रत्येक दशा मे भार अनन्य रूप से लगने मे है। ऐसी अतटस्थ सेवाये अधिक गम्भीर तथा भयंकर प्रकार की हैं तथा जहाज और उस पर लदे हुये उसके स्वामी के माल को जब्त किए जाने योग्य बना देती हैं और उसको शत्रु के पकडे गए व्यापारिक जहाज की स्थिति मे रख देती हैं।

'अटलाण्टा' (Atlanta)[1] का वाद एक दृष्टान्त सामने प्रस्तुत करता है कि आसूचना (intelligence) को शत्रुपक्ष की ओर दे दिया जाय। यह (ब्रेमन का पोत) एक तटस्थ पोत था। आइल-डी-फ्रान्स (Isle de France) की सरकार से गुप्त रखकर इस पोत की सैनिक सामग्रियाँ पेरिस स्थित समुद्री-मन्त्री के पास जा रही थी। तटस्थ पोत के कप्तान को इस तथ्य की जानकारी थी। पोत ब्रिटिश-सरकार द्वारा बन्दी कर लिया गया। ब्रिटिश 'प्राइज-न्यायालय' द्वारा पोत और कार्गो दोनो की भर्त्सना की गई। यह कहा गया कि पोत द्वारा सैनिक महत्व के सामानो को इस प्रकार ले जाना अत्यधिक शत्रुतापूर्ण काम था अत। वह यान, जिसमे कि सामान ले जाया जा रहा था, भी जब्त कर लिया जाना चाहिए।

'ट्रेण्ट' (Trent) के मामले में, घटना यह थी कि १८६१ में अमेरिकी क्रूज़र 'सैन-फासिण्टो' (San Fancinto) ने ब्रिटिश मेल स्टीमर 'ट्रेण्ट' को उ

1 (1808) E C. Rob 440.

समय रोक दिया, जबकि वह हवाना से सेएट टॉमस की ओर जा रहा था। वह समय अमेरिकी गृह-युद्ध का समय था। उसके दो यात्री मैसन और स्लीडेल, जो कि दक्षिणी-कॉनफेडरेसी की ओर से ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के लिए राजदूतो के रूप मे जा रहे थे, पोत से अपने सचिवो सहित बलात् निकाल दिये गए। संयुक्त राज्य अमेरिका की अवधारणा थी कि, चूँकि पोत में स्पष्ट विनिषिद्ध सामग्रियों का प्रेषण किया जा रहा था, उन्हे ले जाने वाले भी उसी वर्ग में आते हैं। दूसरी ओर, ग्रेट ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमेरिका की इस अवधारणा का यह कहकर खंडन किया कि जो व्यक्ति पकड़े गये, उनका शील और उनके पद उन्हें विनिषिद्ध नही बनाता क्योंकि वे तटस्थ राष्ट्रों को राजदूतो के रूप मे भेजे जा रहे थे। अतः ग्रेट ब्रिटेन ने तर्क दिया कि इस प्रकार का जब्त किया जाना सर्वथा न्याय-प्रतिकूल था, क्योंकि एक तटस्थ राष्ट्र को निरपेक्ष अधिकार है कि वह युद्ध-संलग्न राष्ट्र से राजनयिक संबंध बनाए रखे। ग्रेट ब्रिटेन ने तर्क दिया कि अमेरिकी कृत्य ब्रिटिश ध्वज एवं अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्मान के प्रतिकूल था। निरन्तर की मध्यस्थताओं के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका ने बन्दियो को मुक्त कर दिया और इस वाद मे विनिषिद्धता की विधि की व्यवहृति न हो सकी।

एस० एस० चीना (S. S. China), जो कि अमेरिकी मेल और यात्रियो का जहाज था और जो शंघाई से अमेरिकी बन्दरगाहो तक आता-जाता था, के प्रसिद्ध वाद मे प्रसंग यह था कि १९१६ मे जहाज पर अनेक जर्मनवासी, आस्ट्रिया-वासी, और तुर्क यात्री थे और जो कि मनीला जा रहे थे। एक ब्रिटिश-क्रूजर 'लॉरेंटिक' (Laurentic) ने निरीक्षण के समय इन यात्रियो को जहाज से बाहर निकाल दिया। वाशिंगटन की सरकार ने इस कृत्य का सबल प्रतिरोध इस आधार पर किया कि ये व्यक्ति लन्दन-डिक्लेयरेशन के अनुच्छेद ४७ के अन्तर्गत नही आते, जो कि यह अनुमति देता है कि केवल सेना और नौसेना के व्यक्तियो को बन्दी बनाया जा सकता है। ब्रिटिश-सरकार ने उन व्यक्तियो पर शस्त्रो की चोर-बाजारी का आरोप लगाया। यह मत-भिन्नता का निर्धारण होने के पूर्व ही संयुक्त राज्य अमेरिका युद्ध मे प्रवेश कर गया और बन्दी छोड दिए गए।

आसमा-मारू (Asama Maru), जो कि एक जापानी पोत था, और अमेरिकी बन्दरगाह होनुलूलू से चलकर योकोहामा नामक जापानी बन्दरगाह तक की समुद्री यात्रा कर रहा था उसमे कुछ जर्मन नागरिक भी थे। घटना द्वितीय विश्व-युद्ध के समय १९४० मे उस समय घटी, जबकि जापान एक तटस्थ राष्ट्र था। जब कि आसमा-मारू जापानी क्षेत्रीय जल मे प्रवेश करने जा रहा था, एक ब्रिटिश क्रूजर द्वारा पकड़ लिया गया। उस क्रूजर ने २१ जर्मन-नागरिको को उस पर से उतार

दिया। नागरिकों के परिरोधण पर जापान द्वारा विरोध किए जाने पर ब्रिटिश सरकार ने तर्क दिया कि 'जर्मन-सेना सहिता' (German Army Code) के अन्तर्गत प्रत्येक जर्मन पुरुष के लिए १८ वर्ष से ४५ वर्ष तक की आयु तक शस्त्र धारण करना आवश्यक है, और इसलिए ये २१ जर्मन-नागरिक, जो कि अधिकाश सैनिक-उम्र के हैं, विनिषिद्ध की स्थिति मे थे, क्योंकि यदि वे जर्मनी को पहुँच जाते हैं, तो उन्हे जर्मन-सेना मे सेवा करनी पड़ेगी। चैम्बरलेन-सरकार ने परिणामत २१ जर्मन बन्दियों मे से ६ को इस आधार पर मुक्त कर दिया कि वे अपेक्षाकृत सैनिक उम्र के नही थे, अतः उनसे सैनिक-सेवा की आशा नहीं की जाती थी।

अध्याय ५१
निरीक्षण तथा तलाशी लेने का अधिकार
(The Right of Visit and Search)

इसका तात्पर्य —निरीक्षण का अधिकार युद्धस्थितो का तटस्थ व्यापारिक जहाजो को यह निश्चित रूप से ज्ञात करने के प्रयोजन से निरीक्षण करने तथा यदि आवश्यक हो तो तलाशी लेने का अधिकार है कि क्या ये जहाज वास्तव मे तटस्थो के व्यापारिक जहाजो के बेड़े के हैं तथा यदि ऐसी दशा हो तो क्या वे नाकाबन्दी तोड़ने का प्रयत्न कर रहे हैं अथवा विनिषिद्ध वस्तुओं को ले जा रहे हैं अथवा शत्रु की अतटस्थ सेवाये कर रहे हैं। इस विषय का हेतु इतना स्पष्ट है कि यह चिरकाल से व्यवहार मे सार्वभौमिक रूप से माना जा रहा है। वास्तव मे यह ही केवल एक रीति है जिसके द्वारा युद्धस्थित यह निश्चित रूप से ज्ञात करने मे समर्थ होते हैं कि क्या तटस्थ व्यापारिक जहाजो का आशय शत्रु को सहायता पहुँचाना तथा उसकी अतटस्थ सेवा करना है। (ओपेनहेम)।

उद्देश्य —हाइड का कथन है कि सिद्धान्त मे "निरीक्षण तथा तलाशी लेने का उद्देश्य यह है कि युद्धस्थित को सूचना मुख्यत. तटस्थ जहाजो के सम्बन्ध में जिसके (युध्यमान के) युद्धपोतों से उसकी मुठभेड़ हो मिलती रहे जिससे कि वह इस प्रकार पता लगाई गई सूचना की सहायता से अपने अधिकारो का युद्धस्थित के रूप मे पूर्ण रूप से प्रयोग करें।"

युद्धस्थित के अधिकार (Rights of Belligerents) —"समुद्र मे तटस्थ जहाजो का निरीक्षण करने तथा तलाशी लेने का अधिकार युद्धस्थित का एक अधिकार है जो शत्रु की सम्पत्ति, युद्ध विनिषिद्ध वस्तुओ तथा नाकाबन्दी भङ्ग करने वाले जहाजो के अभिग्रहण के अधिकार को प्रयोग करने के लिये आवश्यक है।" यह अधिकार व्यक्तिगत जहाजो पर केवल या तो खुले समुद्र मे अथवा युद्धस्थित के जलमार्गो मे किया जा सकता है किन्तु तटस्थ जलमार्गो मे कभी नही। यह अधिकार युद्ध छिड़ने के उपरान्त तथा युद्ध समाप्त होने के पूर्व युद्धस्थित के सब युद्धपोतो तथा सैनिक वायुयानो द्वारा प्रत्येक युद्धस्थित के समुद्रीय अथवा क्षत्रीय पेटी मे प्रयोग किया जा सकता है। ह्वीटन का कथन है कि यदि कभी शत्रु की सम्पत्ति को अभिग्रहण करने का अधिकार कठोरता से सीमित कर दिया जाय तथा स्वतन्त्र जहाज स्वतन्त्र माल' का नियम अगीकृत कर लिया जाय उस समय भी निरीक्षण तथा तलाशी का अधिकार इस बात को निश्चित करने के लिये आवश्यक है कि क्या राज्य की विधि तथा सन्धियो के अनुसार जहाज स्वय तटस्थ हैं तथा प्रलेखो से ऐसे सिद्ध होते हैं क्योकि जैसा विकरशोक का कथन है 'इस बात के केवल झडे ही से नही जो धोखे से भी लगा दिया जा सकता है वरन् जहाज पर के लेखो से भी निश्चित रूप से ज्ञात करने के लिये कि क्या वह वास्तव मे तटस्थ है, तटस्थ जहाज को रोक लेना वैध है।"

निरीक्षण—रोके जाने के उपरान्त जहाज युद्धस्थित युद्धपोत के एक या दो पदाधिकारियो द्वारा निरीक्षण किया जाता है। इस निरीक्षण का प्रयोजन जहाज की राष्ट्रीयता, उस पर लदे हुये माल तथा यात्रियो का लक्षण अथवा चरित्र तथा वह बन्दरगाह जिससे तथा वह लक्ष्य क्षेत्र जिसको वह जा रहा हो निश्चित रूप से ज्ञात करना होता है। यह सामान्यत जहाज के कागजो अर्थात् पासपोर्ट, मस्टर रोल, लागबुकबिल आफ लेडिंग इत्यादि जो कि या तो जहाज पर पाये जाय अथवा व्यापारिक जहाज के स्वामी को अपने कागज पत्रो सहित युद्धस्थित युद्धपोत पर बुलाकर परीक्षण करके किया जाता है।

तलाशी—यदि जहाज के कागज पत्रो को देखकर यह प्रकट हो कि जहाज विनिषिद्ध वस्तु ले जा रहा है अथवा अतटस्थ सेवा कर रहा है तो वह तत्काल पकड लिया जाता है। लेकिन यदि केवल सदेह ही उत्पन्न होता हो तो युद्धस्थित जहाज के एक या दो पदाधिकारियो द्वारा जहाज के स्वामी की उपस्थिति मे तलाशी ली जाती है। जहाज अथवा उस पर लदे हुये माल को कोई क्षति नही पहुँचानी चाहिये। यदि तलाशी से सदेह दूर हो जाय तो उसे अपनी यात्रा जारी

रखने दिया जाता है। लेकिन यदि उससे जहाज मे विनिषिद्ध वस्तुओ की उपस्थिति अथवा जहाज का अतटस्थ सेवा मे लगा रहना पुष्ट हो जाता है तो जहाज को पकड लिया जाता है। यदि जहाज बन्दरगाह पर तलाशी के लिये लाया जाय और अन्त मे वह निर्दोष प्रमाणित हो तो समय की हानि इत्यादि के लिये पूर्ण क्षतिपूर्ति दी जानी चाहिये।

तलाशी करने मे तलाशी किये जाने वाले जहाज के लिये कोई अनुचित विलम्ब अथवा असुविधा नही उत्पन्न करनी चाहिये तथा उसके साथ हर प्रकार का विनम्रता तथा सम्मान का व्यवहार करना चाहिये।

तलाशी मे बाधा —सन् १९०९ की लन्दन की घोषणा क अनुच्छेद ६३ मे यह व्यवस्था की गई है कि युद्धस्थिति को रोकने, तलाशी लेने तथा पकडने के अधिकार का प्रबल विरोध सब दशाओ मे जहाज को दण्ड का भागी बना देती है।

पथरक्षक जहाज :— पथरक्षक जहाज वे युद्धपोत हैं जो व्यापारिक जहाजो की रक्षा के लिये उनके साथ जाते हैं। ग्रेट ब्रिटेन को छोडकर प्राय और सब स्थानो मे मतैक्य है कि रक्षित जहाजों की तटस्थो की सद्भावना में विश्वास रखकर तलाशी नही लेनी चाहिये क्योकि वे उन जहाजो को अपने सार्वजनिक जहाजो की सुरक्षा मे रख कर एक अर्थ मे इस बात की प्रतिभूति देते हैं कि वे किसी अवैध व्यापार मे नही लगे हैं जो उनकी तटस्थता से असगत हो। यह मत लन्दन की घोषणा (१९०९) के अनुच्छेद ६१ द्वारा और पुष्ट किया गया है जिसमे यह निर्धारित हुआ है कि तटस्थ जहाज तलाशी से उन्मुक्त हैं जो अपने राज्य के युद्धपोतो की सुरक्षा के अधीन हो। किन्तु शर्त यह है कि सुरक्षित जहाजो का समादेशक, युद्ध स्थित युद्धपोत के समादेशक द्वारा मागे जान पर जहाज तथा उस पर लदे हुये माल के लक्षण क सम्बन्ध मे लिखित सूचना उपलब्ध करे। यदि पथरक्षक जहाज के समादेश द्वारा दी गई सूचना से युद्धस्थित युद्धपोत का समादेशक सतुष्ट न हो तथा उसके विचार मे यह आवे कि तटस्थ युद्धपोत पर किये गये विश्वास का दुरुपयोग किया जा रहा है तो वह अपना सदेह तटस्थ समादेशक को प्रकट कर सकता है जिसे उस विषय का स्वय अनुसधान करना चाहिये तथा अपने तथ्यो को युद्धस्थित समादेशक को प्रतिवेदित करना चाहिये। यदि पथरक्षक जहाज का समादेशक अनुसधान के उपरान्त इस परिणाम पर पहुँचे कि जहाज कुछ विनिषिद्ध वस्तुयें ले जा रहा है अथवा अनुसधान से जहाज का अभिग्रहण किसी अन्य प्रकार से उपयुक्त जान पडे तो पथरक्षक जहाज को अपना संरक्षण हटा लेना चाहिये तथा उसे अभिग्रहीत करने दना चाहिये। यदि पथरक्षक समादेशक द्वारा किये गये अनुसधान का परिणाम युद्ध-

स्थित युद्धपोत के समादेशक को संतोषपूर्ण न प्रतीत हो तो उस विषय का केवल राजनयिक सम्पर्क से ही निर्णय हो सकता है।

केवल राष्ट्रीय पथरक्षक युद्धपोत ही अपने व्यापारिक जहाजो को उन्मुक्ति प्रदान कर सकता है तथा अन्य तटस्थ राज्य का पथसरक्षक युद्धपोत व्यापारिक जहाज को तलाशी से उन्मुक्ति नही प्रदान करता। जब कोई तटस्थ व्यापारिक जहाज किसी युद्धस्थित के पथसंरक्षक को स्वीकृत करे तो वह शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध तथा उससे उपलक्षित निरीक्षण तथा तलाशी का विरोध करने के आशय के आधार पर दण्ड का भागी हो जाता है।

सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जहाज (Public and Private Vessels) :—निरीक्षण तथा तलाशी के विषय में भी सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत जहाजो मे भेद है। सार्वजनिक जहाजो के सम्बन्ध मे इस बात को सभी स्वीकार करते हैं कि ऐसे जहाज के ऊपर खुले समुद्र मे न तो निरीक्षण अथवा तलाशी के अधिकार न कोई अन्य युद्धस्थित के अधिकार का प्रयोग किया जा सकता है। कोई सार्वजनिक जहाज जो किसी स्वतंत्र सार्वभौम सत्ता का हो अन्य राज्य के क्षेत्रिक अधिकार क्षेत्र के भीतर निरीक्षण तथा तलाशी से उन्मुक्त है। अतः निरीक्षण तथा तलाशी के अधिकार का उपयोग केवल व्यक्तिगत जहाजों के सम्बन्ध मे ही किया जाता है जो तटस्थ व्यापारिक जहाज हो किन्तु सार्वजनिक जहाजो के सम्बन्ध मे इस अधिकार का प्रयोग नही होता है।

लौरेंस निरीक्षण तथा तलाशी के नियम के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण करते हुए यह व्यक्त करते है कि सब न्याय विशारद इस बात पर सहमत हैं कि तलाशी का अधिकार युद्धस्थित को तथा केवल युद्धस्थित को ही है तथा जैसा न्यायाधीश स्टोरी ने Marianna Flora (Wheaton : Reports of the Supreme Court, Vol. XI, p. 1) में कहा है कि यह अधिकार राज्यो की सामान्य सहमति से युद्ध के समय मे ही दिया जाता है तथा उन्ही अवसरो के लिये सीमित है; इस अधिकार का प्रयोग केवल व्यापारिक जहाजो पर ही किया जा सकता है जो युद्धस्थित के वैधरूप से आयुक्त गश्ती जहाज को अपनी तलाशी लेने के लिये प्रत्यपर्ण करने को बाध्य हैं, यद्यपि तटस्थ व्यापारिक जहाजो को तलाशी के लिये युद्धस्थित को अपने को प्रत्यपर्ण करना आवश्यक है तथापि तटस्थ युद्धपोत इससे उन्मुक्त हैं; तथा यह कि युद्ध मे लगे हुए जहाज झूठा झंडा लगा कर अथवा बिना किसी प्रकार के झंडा लगाये अनुसरण कर सकता है किन्तु निरीक्षण तथा त[illegible]

के कार्य को वास्तविक रूप से आरम्भ करने के पूर्व इसे अपने देश का झंडा फहरा लना चाहिये।

विवाचन क स्थायी न्यायालय द्वारा कैर्थेज (Carthage) वाले मामले (1913, XIII, p 216) मे निरीक्षण तथा तलाशी का अधिकार स्वीकृत किया गया जिसमे यह कहा गया कि "सार्वजनिक रूप से स्वीकृत सिद्धान्तो के अनुसार युद्धस्थित युद्धपोत को विशेष परिस्थितियो का छोड कर तटस्थ व्यापारिक जहाज का खुले समुद्र मे रोकन तथा इस बात को पता लगाने के लिये कि क्या वह तटस्थता के नियमो का विशेषत प्रतिषिद्ध वस्तुओ क सम्बन्ध मे पालन कर रहा है कि नही उसकी तलाशी लेन का अधिकार है।"

इस विषय मे प्रमुख मामला मैरिया (Maria) [(1799) 1 C. Rob. 340] का है जिसमें निरीक्षण तथा तलाशी के अधिकार के विरोध का प्रतिरोध स्वीडन के युद्धपोतो के पथरक्षक दल के अन्तरास्थापन (interposition) द्वारा किया गया। मेरिया स्वीडन का एक व्यापारिक जहाज था जा स्वीडन के युद्धपोत के सरक्षण म जा रहा था। ब्रिटेन की फ्रास से लडाई हो रही थी। अत: ब्रिटेन के नौ सेना विभाग के एक स्क्वॉड्रन ने निरीक्षण तथा तलाशी के अधिकार का प्रयोग करना चाहा जिसका पथरक्षक जहाज द्वारा बलपूर्वक विरोध किया गया। उसे ब्रिटेन के नौजितमाल न्यायालय ने इस आधार पर दडित किया कि उसने उपलक्षित रीति से शक्तिशाली युद्धपोत द्वारा किये गये विरोध मे भाग लिया है। नौसेना विभाग के उच्च न्यायालय का निर्णय देन मे लार्ड स्टोवेल ने विधि के निम्नलिखित तीन सिद्धान्तो को निर्धारित किया :—

१. यह कि खुले समुद्र मे व्यापारिक जहाजो का निरीक्षण तथा उनकी तलाशी लेने का अधिकार चाहे जहाज, उन पर लदा हुआ माल और उनका लक्ष्य-क्षेत्र कुछ भी हो युद्धस्थित राज्य के वैधरूप से अधिकृत (कमीशन दिये गये) युद्धपोतो का एक निर्विवाद अधिकार है। "जहाज, उन पर लदा हुआ माल तथा लक्ष्य-क्षेत्र चाहे जो कुछ हो, मैं इसलिये कहता हूँ कि जब तक उनका निरीक्षण तथा उनकी तलाशी न ली जाय यह प्रकट नही होता कि जहाज तथा उनका लक्ष्य-क्षेत्र क्या है तथा इन्ही विषयो को निश्चित रूप से ज्ञात करने के प्रयोजनो से ही निरीक्षण तथा तलाशी के अधिकार की आवश्यकता विद्यमान रहती है।"

२. यह कि तटस्थ सार्वभौम सत्ता का प्राधिकार बीच मे आता है, यह बात वैध रूप से आयुक्त युद्धस्थित युद्धपोत के अधिकारों को वैधरूप से परिवर्तित नही कर सकती।

३. इस अधिकार के बलपूर्वक विरोध किये जाने के लिये दड, निरीक्षण तथा तलाशी से रोकी गई सम्पत्ति का जब्त किया जाना है ।

इस मामले मे दिये गये दंड के निर्णय के अनुसरण मे सन् १८०० मे बाल्टिक शक्तियो के बीच सशस्त्र तटस्थता की सधि हुई तथा विवादपूर्ण विषयों की व्यवस्था ५ जून सन् १८०१ की प्रतिज्ञा द्वारा की गई जिसके अनुसार तटस्थ सरक्षण मे यात्रा करने वाले व्यापारिक जहाजो की तलाशी सम्बन्धी अधिकार का उसे युध्यमान पक्षकार के सार्वजनिक युद्धपोतो तक सीमित कर दिया गया तथा व्यक्तिगत सशस्त्र जहाजो को अलग कर दिया गया। एक सौ वर्ष के थोडे ही अधिक उपरान्त यह विचार-विमर्श सन् १६०६ की लन्दन की घोषणा द्वारा समाप्त कर दिया गया जिसमे ब्रिटेन के दावे के विरुद्ध निर्णय दिया गया। लन्दन की घोषणा मे यह निर्धारित किया गया कि तटस्थ जहाज अपने राष्ट्रीय पथसरक्षक के सरक्षण मे तलाशी से उन्मुक्त है ।

सर विलियम स्कॉट ने The Catharina Elizabeth (1 C. Rob. 232) मे यह कथन किया कि "यदि कोई तटस्थ कप्तान छुडाने अथवा अपने को तलाशी से हटा लेने का प्रयत्न करे तो वह एक कर्त्तव्य का उल्लघन करता है जो उस पर राष्ट्रो की विधि द्वारा डाला गया है अर्थात् अपने का तलाशी के लिये प्रस्तुत करना तथा जहाज अथवा उस पर लदे हुए माल की सम्पत्ति के सम्बन्ध मे जाँच कराने के लिये आना तथा यदि वह इस कर्त्तव्य का बलप्रयोग द्वारा उल्लघन करे तो इसमे सदेह नही कि परिणाम उसके स्वामी की सम्पत्ति पर पहुँचेगा मेरे विचार मे वे परिणाम उसकी रक्षा मे सौंपी गई सम्पूर्ण सम्पत्ति पर पडेगे जिसका इस प्रकार धोखा देकर युद्ध के अधिकारो के प्रभाव म हटाये जाने का प्रयत्न किया जा रहा है। यदि स्वामी शत्रु हो तो मामला पूर्णरूप से ही भिन्न होता है क्योंकि ऐसे कार्य से उसकी ओर से किसी कार्य का उल्लघन नही होता तथा यदि वह अपने को हटा सके तो उसे ऐसा करने का अधिकार है।"

जहाज तथा उस पर लदा हुआ माल कब दड के भागी होते हैं:—यदि तटस्थ शक्ति का जहाज निरीक्षण तथा तलाशी का विरोध करे अथवा यदि निरीक्षण तथा तलाशी से यह प्रकट हो कि तटस्थ जहाज शत्रु को सहायता देने के अवैध कार्य में लगा है अथवा यदि कागज-पत्रों की अनुपस्थिति में जहाज का असली लक्षण ज्ञान न हो सके तो तटस्थ जहाज उस पर लदे हुए माल सहित नौजितमाल न्यायालय द्वारा निर्णय किये जाने पर अभिग्रहीत करने तथा दंडित करने के योग्य हो जाता है। तटस्थ नौजितमाल को जब तक असाधारण परिस्थितियाँ न हो, विनष्ट नहीं करना

चाहिये तथा यदि उन्हे विनष्ट किया जाय तो पीडित व्यक्ति को क्षतिपूर्ति दी जानी चाहिये। विनष्ट करने की स्वीकृत होने पर भी उन शत्रु व्यक्तियों को जो जहाज पर हों सुरक्षित स्थान मे रख देना चाहिये।

विश्व-युद्धों के मध्य व्यवहार की गई रीति:—प्रारम्भ में निरीक्षण तथा तलाशी के अधिकार को बडे अवरोध लगा कर घेर दिया गया जिससे तटस्था को बहुत कम असुविधा हो लेकिन दो विश्वयुद्धों ने इन कल्याणकर शर्तों को उडा दिया। विश्वव्यापी युद्ध की आवश्यकताओं के कारण युध्यस्थित, तटस्थ जहाजों का खुले समुद्र में आत्महानि के बिना रोक सक, तथा जहाज के कागज पत्रों के प्रारम्भिक परीक्षण के बिना भी पूर्ण परीक्षण के लिये बन्दरगाह को भेज दिये जाते थे जिससे तटस्थ जहाजों को अत्यधिक विलम्ब तथा असुविधा होती थी। तटस्थ जहाजों का खुले समुद्र के स्थान पर बन्दरगाह मे तलाशी लेने की ब्रिटिश रीति के विरुद्ध न्याय विशारदो तथा इस विषय पर अन्य स्वतंत्र लेखको ने कडी आलोचना की किन्तु ब्रिटेन ने उसे जारी रखने का औचित्य इस आधार पर संस्थापित किया कि तलाशी के बीच पनडुब्बियों का भय रहता है तथा माल ले जाने वाले जहाजों की संख्या मे वृद्धि हो गई है और यह कि निरंतर ही आशातीत ढंग से यह वृद्धि होती ही जा रही है।
